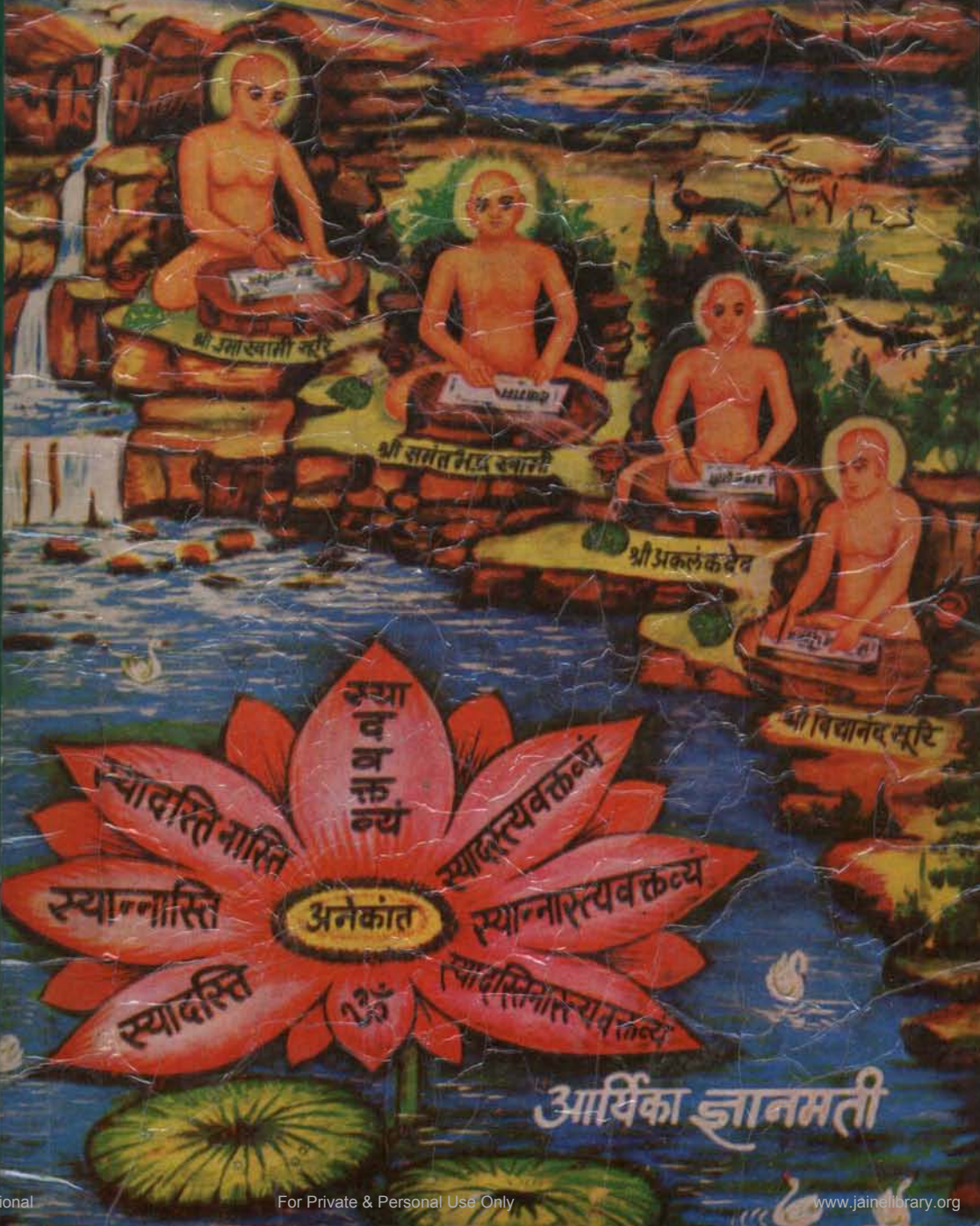


अष्टसहस्री

भारतीय
साहित्य



आर्थिका ज्ञानमती

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं० १००

श्रीमद्भगवद्विद्यानंदाचार्य विरचित

अष्टसहस्री

[तृतीय भाग]

[द्वितीय परिच्छेद से दशम परिच्छेद तक पूर्ण—कारिका २४ से ११४ तक]

स्याद्वादचितामणि—भाषा टीका सहित

टीकाकर्त्री

चारित्र्यचक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम पट्टाधीश
आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की शिष्या, सिद्धांतवारिधि, विद्यान-वाचस्पति,
न्यायप्रभाकर, जम्बूद्वीप रचना की पावन प्रेरिका

गणित्नी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी



प्रकाशक :

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

प्रथम संस्करण
११०० प्रति

वैशाख कृष्णा २
वीर नि० सं० २५१६

मूल्य
१००-००

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी,
संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, मराठी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के न्याय,
सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल, खगोल, व्याकरण आदि विषयों
पर लघु एवं बृहद् ग्रन्थों का मूल एवं अनुवाद सहित
प्रकाशन होता है। समय-समय पर
धार्मिक लोकोपयोगी लघु
पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित
होती रहती हैं।

संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :
परमपूज्य गणिनी १०५ आर्यिकारत्न
श्री ज्ञानमती माताजी

समायोजन :
आर्यिका
चन्दनामती माताजी

निदेशक :
स्वस्ति श्री पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर जी

सम्पादक :
बाल ब्र० रवीन्द्र कुमार जैन
बी० ए० शास्त्री

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रक—सुमन प्रिन्टर्स, कनोहरलाल मार्केट, शारदा रोड, मेरठ २५० ००२। फोन : २४३१६

❀ विषय दर्पण ❀

द्वितीय परिच्छेद

पृष्ठ संख्या

मंगलाचरण

१

अद्वैतवादी अपना पूर्व पक्ष स्थापित करते हैं ।

२

क्रियाकारक आदि भेद न स्वतः से होते हैं न पर से, किन्तु होते अवश्य हैं ऐसा कहने पर आचार्य दोष दिखलाते हैं ।

७

एक निरंश आत्मा आकाशादि में जिस प्रकार से अनेक कारकादि का आलंबन है उसी प्रकार से ब्रह्मा में भी अनेक कारकादिकों का आलंबन हो जावे तो क्या बाधा है ? ऐसी शंका के होने पर आचार्य उत्तर देते हैं ।

८

ब्रह्माद्वैतवादी सभी चेतन-अचेतन पदार्थों को ब्रह्मा के अन्तः प्रविष्ट ही मानता है, उसका पूर्व पक्ष ।

१२

आगे की कारिका में आचार्य उसका खण्डन करेंगे ।

१५

आगम से अद्वैत को सिद्ध करने में भी जैनाचार्य दोषारोपण करते हैं ।

१७

आम्नायवाक्य-आगमवाक्य द्वैत को ही सिद्ध करते हैं, अद्वैत को नहीं ।

१६

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से परमब्रह्म की सिद्धि होती है इस पर विचार ।

२०

यह ब्रह्म स्वतः ही सिद्ध है ऐसा मानने पर जैनाचार्य खण्डन करते हैं ।

२१

अद्वैत शब्द नञ् समास वाला है अतः अपने विरोधी वास्तविक द्वैत की अपेक्षा रखता है, ऐसा जैनाचार्य समर्थन करते हैं ।

२३

पुरुषाद्वैत में वास्तव में प्रतिषेध का व्यवहार असंभव है इत्यादि रूप से ब्रह्मावादी अपना पूर्व पक्ष रखते हैं ।

२३

अब जैनाचार्य ब्रह्मावादियों के पक्ष का निराकरण करते हैं।

२५

योगाभिमत पृथक्त्वगुण का खण्डन ।

३४

वैशेषिक और नैयायिक के भेदपक्ष का जैनाचार्य खण्डन करते हैं ।

३५

बौद्धाभिमत-संतान की मान्यता का पूर्व पक्ष

४३

बौद्धाभिमत संतान की मान्यता का जैनाचार्य खण्डन करते हैं ।

४५

बौद्ध की जिज्ञासा होने पर स्वाभिमत संतान के लक्षण को जैनाचार्य स्पष्ट करते हैं ।

४७

प्रत्यासत्ति से एकत्व की कल्पना हांती है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर जैनाचार्य उस प्रत्यासत्ति पर विचार करते हैं ।

४८

विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान को ज्ञेय से सत् रूप से भी भिन्न मानते हैं उस पर विचार ।	५२
यदि शब्द वस्तु को नहीं कह सकते हैं तब उनका उच्चारण व्यर्थ ही है ।	५८
निर्विकल्प ज्ञान अवश्य ही अर्थ सन्निधान की अपेक्षा रखता है इसका खण्डन	६०
त्रिरूप हेतु को कहने वाले बचन सत्य हैं अन्य नहीं, इस मान्यता का जैनाचार्य निराकरण करते हैं ।	६३
विभ्रमैकांतवादी का कहना है कि ज्ञान अपने स्वरूप या पररूप किसी का निश्चय नहीं करता है, इस पर जैनाचार्य विचार करते हैं ।	६७
जीवादि वस्तु में परस्पर सापेक्ष ही एकत्व, पृथक्त्व है इस बात को जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।	७५
सभी पदार्थों में सदृश परिणाम होने पर भी एकत्व कैसे है ?	८०
इस प्रकार से बौद्धों के पूर्व पक्ष का जैनाचार्य खण्डन करते हैं ।	८१
स्वभाव विच्छेद के अभाव से नील स्वलक्षण और ज्ञान में ऐक्य निमित्त हो जावे किन्तु भिन्न पदार्थों में नहीं है, कारण कि उनमें विच्छेद पाया जाता है ऐसी शंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं ।	८१
विवक्षा का विषय असत् ही है ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ।	८७
अविवक्षा का विषय असत् है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर आचार्य समाधान करते हैं ।	८८
प्रमाण का क्या लक्षण है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य बतलाते हैं ।	९३
प्रत्यक्ष ज्ञान में परमाणु ही झलकते हैं स्कन्ध नहीं, बौद्ध की ऐसी मान्यता को आचार्य निराकरण करते हैं ।	९४
परमाणु ही सत् रूप है, स्कन्ध असत् रूप है ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ।	९६
तृतीय परिच्छेद	
सांख्य आत्म को अकर्ता, अपरिणामी मानते हैं, किन्तु जैनाचार्य कर्ता और परिणामी सिद्ध कर रहे हैं ।	१०३
सांख्य आत्मा के चेतना क्रिया सिद्ध करते हुए पूर्व पक्ष रखता है ।	१०३
कूटस्थ नित्य में अर्थ क्रिया होती है या नहीं ? इस पर विचार ।	१०६
परिणाम और स्वभाव में भेद है ऐसा सांख्य के कहने पर आचार्य समाधान करते हैं ।	१०७
उत्पाद व्यय ही आविर्भाव तिरोभाव नाम वाले हैं ।	१०९
प्रमाण और कारक नित्य ही हैं इस सांख्य की मान्यता का जैनाचार्य निराकरण करते हैं ।	११२
सांख्य प्रधान की पर्याय ही मानता है उसका निराकरण ।	११६

विनष्ट हुआ कारण कैसे कार्य को कर सकेगा कि जिससे वह "कारण" इस नाम को प्राप्त कर सके ?	१२३
कारण के निरन्वय नष्ट हो जाने पर ही यदि कार्य होता है तो वह कार्य निहंतुक हो जावेगा, ऐसा आचार्य कहते हैं ।	१२६
क्षणिक में अनेक स्वभाव नहीं अतः समान ही प्रश्न कैसे होगा ऐसी शंका होने पर पुनः जैनाचार्य उत्तर देते हैं ।	१२७
शक्तिमान पदार्थ से शक्तियां भिन्न हैं या अभिन्न ? इन दोनों पक्षों में दोषारोपण करने पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं ।	१२८
कारण में स्वभाव भेद माने बिना कार्यों में नानापना असंभव है इस बात को जैनाचार्य अच्छी तरह सिद्ध कर रहे हैं ।	१३२
एक क्षण के अन्तर वस्तु का न ठहरना ही क्षणिक का स्वभाव है इत्यादि रूप से बौद्ध अपना पक्ष स्थापित करते हैं ।	१३४
जैनाचार्य बौद्धों के मन्तव्य का खण्डन करते हुए स्थिति को निहंतुक सिद्ध कर रहे हैं ।	१३८
यहां जैनाचार्य, वस्तु से स्थिति सर्वथा भिन्न है या अभिन्न ? इन दोनों पक्षों में दूषण दिखा रहे हैं ।	१३८
वस्तु की स्थिति के उपादान के समान अन्त में भी उसकी स्थिति स्वीकार करना चाहिए ।	१४१
संवेदनाद्वैत का निराकरण	१४४
यह संवेदनाद्वैत भेद की भ्रांति का बाधक है या अबाधक ? उभय पक्ष में दोष दिखाते हैं ।	१४५
कार्य कारण में सर्वथा भेद है ऐसा बौद्ध के मानने पर जैनाचार्य दोषों को दिखाते हैं ।	१४५
व्यतिरेक ज्ञान भाव स्वभाव निमित्तक कैसे होगा ?	१५१
सर्वथा असत् को कार्यरूप होना मानने में क्या हानि है ? सो बताते हैं ।	१५२
यदि असत् कार्य में उत्पादादि तीनों नहीं घटते हैं तब तो प्रभाव लक्षण के होने पर भी उत्पादादि तीनों कैसे घटेंगे ? इस पर जैनाचार्य कहते हैं ।	१५३
बौद्ध के मत में यदि एक संतान में कार्य-कारण भाव है तो भिन्न संतानों में भी होगा क्योंकि दोनों में अन्वय का न होना समान है ।	१५५
तन्तु सामान्य और आतान कितानादि रूप तन्तु विशेष ये दोनों परस्पर निरपेक्ष होकर वस्त्र कार्य नहीं कर सकते हैं	१५६
स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न संततियां कर्म और उसके फल आदि के सम्बन्ध में कारण हैं ऐसा मानने पर जैनाचार्य समझाते हैं ।	१६२

संतान नित्य है या अनित्य है ? इस प्रकार से दोनों विकल्पों में दूषण दिखाते हैं ।	१६५
पृथक् को अपृथक् कहना यह संवृत्ति है उसी का नाम संतान है ऐसा कहने पर आचार्य उस संतान का निराकरण करते हैं ।	१६६
प्रत्येक वस्तु में चार प्रकार का विकल्प करना शक्य नहीं है इस प्रकार बौद्ध अपने पक्ष का समर्थन करता है ।	१७०
सर्वथा अवक्तव्य वस्तु “अवक्तव्य” इस शब्द से भी नहीं कही जा सकेगी ।	१७२
सत् वस्तु में ही विधि और निषेध घटते हैं, असत् वस्तु में नहीं ।	१७४
एक ही वस्तु में भाव और अभाव दोनों धर्म रहते हैं किन्तु किस तरह से उनकी मान्यता उचित है ? इसका स्पष्टीकरण ।	१७६
एक वस्तु में एकत्व, द्वित्व आदि संख्यायें बिना बाधा के सम्भव हैं इसी का स्पष्टीकरण करते हैं	१८०
संवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ?	१८३
तत्त्व अवाच्य क्यों है ?	१८६
तत्त्वों का अभाव होने से ही अवाच्यता है तब तो शून्यवाद सिद्ध हो जावेगा ।	१८७
विनाश स्वभाव से ही होता है ऐसा मानने पर जैनाचार्य विनाश और उत्पाद दोनों को सहेतुक सिद्ध करते हैं ।	१९६
विनाश और उत्पाद घट से भिन्न हैं या अभिन्न ? इस पर विचार किया जाता है ।	२०५
बौद्धाभिमत पांच स्कंध अवास्तविक हैं ।	२०८
अवास्तविक स्कंधों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य घटित नहीं हो सकते ।	२०९
बौद्ध एकत्व प्रत्यभिज्ञान को नहीं मानता है किन्तु जैनाचार्य उसको सत्य सिद्ध करते हैं ।	२१७
बौद्ध प्रत्यभिज्ञान को पृथक् प्रमाण नहीं मानता है किन्तु जैनाचार्य उसे पृथक् प्रमाण सिद्ध करते हैं ।	२२१
सांख्य सर्वथा नित्य में प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार करता है किन्तु जैनाचार्य कथंचित् क्षणिक में प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार करते हैं ।	२२४
स्थिति को न मानने पर प्रत्यभिज्ञान सम्भव नहीं है ।	२२७
सर्वथा नित्यैकांत में भी प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है ।	२२९
एक वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से स्वभाव भेद होने पर भी नानात्व, विरोध आदि दोष सम्भव नहीं हैं ।	२३१
प्रत्येक वस्तुएं चल और अचल रूप हैं, इसका समर्थन ।	२३७

योग भी उत्पाद व्यय को एक हेतुक नहीं मानता है उसका निराकरण	२४२
उत्पाद और विनाश में सर्वथा अभेद नहीं है ।	२४७
उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य में भेद न होने से वस्तु त्रयात्मक कैसे है ?	२४६
वस्तु त्रयात्मक है पुनः अनंत धर्मात्मक कैसे कही जावेगी ?	२५४

चतुर्थ परिच्छेद

कोई जैनादि तटस्थ जन शंका कर रहे हैं और वैशेषिक अपने पक्ष को पुष्ट करते हुए समाधान दे रहे हैं ।	२६२
वैशेषिक समवाय सम्बन्ध से एक अवयवी अनेक अवयवों में रहना मानते हैं उसका खंडन ।	२६७
वैशेषिक भी हमारे कथंचित् तादात्म्य में दोषारोपण नहीं कर सकते हैं ।	२७५
योगाभिमत सामान्य और समवाय का निराकरण ।	२८४
सामान्य और समवाय की चर्चा के प्रसंग में प्रागभाव आदि का विचार किया जा रहा है ।	२८७
सामान्य, समवाय और पदार्थ वैशेषिक मत में ये तीनों ही सिद्ध नहीं होते हैं ।	२६२
सत्ता सामान्य सत् रूप समवाय से असम्बद्ध है और समवाय असत् रूप भिन्न समवाय से असम्बद्ध है अतः दोनों में भेद है । इस प्रकार योग के कहने पर जैनाचार्य कह रहे हैं ।	२६५
परमाणु पररूप परिणमन नहीं करते हैं, ऐसा मानने में दोषारोपण करते हैं ।	३०१
कार्य को भ्रान्त कहने पर परमाणु रूप कारण भी भ्रान्त ही है ।	३०५
सांख्य कारण और कार्य में सर्वथा तादात्म्य मानता है, जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।	३०८
द्रव्य और पर्यायों में कथंचित् भेद और अभेद दोनों सिद्ध हैं	३१६
द्रव्य और पर्यायों को योग सर्वथा भिन्न मानता है, किन्तु जैनाचार्य द्रव्य पर्याय में अभेद सिद्ध कर रहे हैं ।	३१७
जैनाचार्य द्रव्य और पर्यायों में कथंचित् भेद को भी सिद्ध कर रहे हैं ।	३२३
वस्तु का लक्षण असाधारण रूप है, ऐसा जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।	३२५
द्रव्य और पर्याय इन दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं । इस बात को जैनाचार्य स्पष्ट करते हैं ।	३२८

पंचम परिच्छेद

बौद्ध धर्म और धर्मी को अपेक्षाकृत ही मानते हैं, उनका पूर्व पक्ष	३३७
---	-----

जैनाचार्य बौद्ध के आपेक्षिक एकांत का निराकरण करते हैं ।	३३८
योग धर्म और धर्मी को सर्वथा अनपेक्ष ही मानता है, किन्तु जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।	३४२
धर्म और धर्मी कथंचित् स्वतः सिद्ध हैं, कथंचित् अपेक्षा से सिद्ध हैं ।	३४४

षष्ठम परिच्छेद

कोई बौद्ध हेतुमात्र से ही सभी तत्त्वों की सिद्धि मानते हैं किन्तु जैनाचार्य इस एकांत का परिहार करते हैं ।	३५२
वेदान्ती सभी तत्त्वों की सिद्धि आगम से ही मानते हैं किन्तु जैनाचार्य इस एकांत का निराकरण करते हैं ।	३५३
कोई वैशेषिक और सौगत प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो से ही तत्त्व सिद्धि मानते हैं किन्तु आगम से नहीं मानते हैं जैनाचार्य इनका भी निराकरण करते हैं ।	३५६
आप्त और अनाप्त का लक्षण	३५८
मीमांसक श्रुति के द्वारा वास्तविक ज्ञान होना मानते हैं, जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।	३६०
वेद के अपौरुषेयपने का निराकरण	३६२
दुर्भणनत्वादिलक्षण अतिशय वेदों में विद्यमान है अतएव दोनों में समानता नहीं है, ऐसा कहने पर आचार्य उत्तर देते हैं ।	३६५
मंत्रों की उत्पत्ति जिनेन्द्र भगवान के वचनों से ही होती है अन्य वचनों से नहीं ।	३६६

सप्तम परिच्छेद

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध विज्ञान मात्र तत्त्व मानता है, उसका निराकरण ।	३७६
यदि विज्ञान मात्र तत्त्व माना जावे तब तो साध्य और हेतु दोनों सम्भव नहीं होंगे ।	३८३
इस पर बौद्ध कहता है कि अभाव हेतु से अभाव साध्य को सिद्ध करना असिद्ध नहीं है जैसे कि अग्नि के अभाव से घुएं के अभाव को सिद्ध करना । इस शंका के होने पर जैन कहते हैं कि	३८६
बहिरंग अर्थ मात्र ही है ऐसी एकांत मान्यता में जैनाचार्य दोष दिखाते हैं ।	३९२
अप्रत्यक्ष ज्ञानवादी मीमांसक का खण्डन	३९७
मीमांसक कहता है कि अर्थ स्वतः प्रत्यक्ष नहीं है तो न सही किन्तु अपने परोक्षज्ञान में प्रतिभासमान पदार्थ प्रत्यक्ष हो जावेंगे । इस पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं ।	३९९

इन्द्रियादि का ज्ञान भी परोक्ष सिद्ध नहीं होता है ।	४०३
चार्वाक शरीर को ही भोवता आत्मा मानता है, किंतु जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।	४०६
बौद्ध कहता है कि “संज्ञात्वात्” हेतु विरुद्ध है, जैनाचार्य उसका समाधान करते हैं ।	४११
सांख्यादि के द्वारा परिकल्पित निरतिशय स्वभाव वाला एवं बौद्धाभिमत प्रतिक्षण भिन्न स्वभाव वाला जीव शब्द बाह्यादि कर सहित हो सकता है ऐसी शंका करने पर आचार्य कहते हैं ।	४१५
मायादि भ्रांत शब्दों से सत्य अर्थ नहीं कहा जाता है अतः जीव शब्द भी बाह्यार्थ सहित नहीं है ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ।	४१६
भीमांसक “संज्ञात्वात्” हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करना चाहता है किन्तु जैनाचार्य उसे निर्दोष सिद्ध कर रहे हैं ।	४१७
विज्ञानाद्वैतवाद का निराकरण	४२०
विज्ञानाद्वैतवादी के प्रति जैनाचार्य बाह्य पदार्थ की सिद्धि कर रहे हैं ।	४२३
ज्ञान में ग्राह्य-ग्राह्यकाकार भेद वासना के भेद से ही है किन्तु बाह्य अर्थ के सद्भाव से नहीं है । ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं ।	४३०
अष्टम परिच्छेद	
भाग्य से ही एकान्त से सभी कार्य होते हैं इस एकान्त मान्यता का जैनाचार्य परिहार करते हैं ।	४३८
यदि पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्धि होती है तब तो सभी प्राणियों में पुरुषार्थ है पुनः सभी के कार्यों की सिद्धि क्यों नहीं होती ?	४४१
भाग्य और पुरुषार्थ के अनेकान्त को जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।	४४४
नवम परिच्छेद	
यदि एकान्त से दूसरों में दुःख उत्पन्न करने से पाप और सुख उत्पन्न करने से पुण्य होता है तो क्या दोष आते हैं सो दिखाते हैं ।	४५०
यदि एकान्त से स्वतः में दुःख उत्पन्न करने से पुण्य और सुख उत्पन्न करने से पाप होता है तो क्या दोष आते हैं सो बताते हैं ।	४५१
विशुद्धि और संक्लेश परिणाम ही पुण्य-पाप बंध में कारण है ।	४५४
विशुद्धि और संक्लेश का क्या लक्षण है ? ऐसा प्रश्न होने पर जैनाचार्य स्पष्ट करते हैं ।	४५४

दशम परिच्छेद

ज्ञान के अभाव लक्षण से बन्ध एवं ज्ञान से मोक्ष होता है इस एकान्त पक्ष का जैनाचार्य निराकरण करते हैं ।	४६१
सांख्य के एकांत पक्ष का निराकरण	४६१
मिथ्याज्ञान से बन्ध एवं सम्यग्ज्ञान से मोक्ष होता है इस एकान्त का निराकरण ।	४६५
नैयायिक तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानता है उसका निराकरण ।	४६७
बौद्ध अविद्या से बन्ध और विद्या से मोक्ष मानते हैं, आचार्य उनका भी निराकरण करते हैं ।	४६८
वृद्ध बौद्धों की मान्यता का भी जैनाचार्य निराकरण करते हैं ।	४७०
केवली के भी प्रकृति, प्रदेशबंध होते हैं ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि वे बंध संसार के कारण न होने से अकार्यकारी हैं ।	४७५
नैयायिक कर्म को आत्मा का गुण कहते हैं, किन्तु जैनाचार्य उनका निराकरण करके कर्म को पौद्गलिक सिद्ध करते हैं ।	४७७
ईश्वर सृष्टि का कर्ता है इस नैयायिक की मान्यता का निराकरण करके जैनाचार्य सृष्टि को अनादि सिद्ध करते हैं ।	४८६
ईश्वर के साथ सृष्टि का अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध है ऐसा नैयायिक के द्वारा कथन होने पर जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।	४९६
योग ईश्वर को अनादिकाल से लक्ष्मीरी सिद्ध करना चाहता है, किन्तु जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।	५०१
आपका ईश्वर बुद्धिमान है पुनः निघ्न सृष्टि क्यों बनाता है ? इस प्रकार से जैनाचार्य यहाँ दोषारोपण करते हैं ।	५०३
भव्यत्व और अभव्यत्व का लक्षण	५११
स्वभाव तर्क का मोक्ष नहीं है आचार्य इसका समर्थन करते हैं ।	५१३
“तत्त्वज्ञान प्रमाण है” यह प्रमाण का लक्षण निर्दिष्ट है ।	५१८
तत्त्वज्ञान को सर्वथा प्रमाण मानने पर अनेकान्त में विरोध आता है ऐसा कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ।	५२१
सौगत स्मृति को प्रमाण नहीं मानता है किन्तु जैनाचार्य उसको प्रमाण सिद्ध कर रहे हैं ।	५३१
प्रत्यभिज्ञान भी एक पृथक् प्रमाण ही है ऐसा जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।	५३३
तर्कज्ञान भी पृथक् प्रमाण ही है ऐसा जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।	५३४

ज्ञान के विशेष लक्षण और विषय को आचार्य स्पष्ट करते हैं ।	५३८
बौद्ध भगवान में कष्टना बुद्धि मानता है किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि कष्टना मोह की पर्याय है अतः केवली भगवान के ज्ञान का फल उपेक्षा है यह बात स्पष्ट करते हैं ।	५४५
ज्ञान का फल अज्ञान निवृत्ति है ऐसा आचार्य स्पष्ट करते हैं ।	५४८
करण और क्रिया में कथंचित् एकत्व है और कथंचित् भेद भी है जैनाचार्य इस बात को स्पष्ट करते हैं ।	५४९
अन्य जनों द्वारा कल्पित दस प्रकार के वाक्य के लक्षणों का निराकरण करके जैनाचार्य स्वयं निर्दोष वाक्य का लक्षण करते हैं ।	५५५
द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के भेद प्रभेदों का आचार्य वर्णन करते हैं ।	५६३
स्याद्वाद और केवलज्ञान में क्या अन्तर है ? इस बात को जैनाचार्य स्पष्ट करते हैं ।	५६७
नय का लक्षण करके “बह नय हेतु है” ऐसा समर्थन करते हैं ।	५७१
प्रमाण नय और दुर्नयों का आचार्य लक्षण करते हैं ।	५७५
पुनः वस्तु क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं ।	५७६
वस्तु का लक्षण क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—	५७६
सुनय और कुनय का लक्षण	५७८
अनेकान्तात्मक अर्थ विधि वाक्य अथवा प्रतिषेध वाक्य के द्वारा निश्चित किया जाता है, अन्यथा नहीं	५८०
वाक्य विधि रूप से ही वस्तु का कथन नहीं कर सकते हैं ।	५८३
वाक्य निषेध मुख से ही वस्तुत्व का कथन नहीं कर सकते हैं ।	५८५
स्यात्कार ही सत्य लांछन सिद्ध होता है ।	५८६
जैनाचार्य स्याद्वाद की सम्यक व्यवस्था को स्पष्ट करते हैं	५८८
जैनाचार्य इस ग्रन्थ के फल को बतलाते हैं ।	५९१
देवागमस्तोत्र	६०२
उद्धृतश्लोक	६०७



सारांशों का विषय दर्पण

पृष्ठ संख्या

१. अद्वैतवाद खण्डन का सारांश	३२
२. योगाभिमत पृथक्त्वैकांत खण्डन का सारांश	४०
३. बौद्धाभिमत पृथक्त्वैकांत खण्डन का सारांश	५४
४. बौद्धाभिमत सामान्य खण्डन का सारांश	७०
५. पृथक्त्वैकांत रूप अनेकांत की सिद्धि का सारांश	८५
६. विवक्षा एवं अविवक्षा के विषय का सारांश	९१
७. भेदाभेद वस्तु प्रमाण का विषय है	९९
८. नित्य एकान्त के खण्डन का सारांश	११६
९. बौद्धाभिमत क्षणिकैकान्त खण्डन का सारांश	१६८
१०. बौद्धाभिमत अववतव्य के खण्डन का सारांश	१९४
११. बौद्धाभिमत निर्हेतुक नाश एवं विसदृश कायोत्पाद हेतु के खण्डन का सारांश	२१२
१२. नित्य एवं क्षणिक में स्याद्वाद सिद्धि का सारांश	२५६
१३. योगाभिमत कार्य-कारणादिक के भिन्नत्व का खण्डन	२६७
१४. परमाणु के अभिन्नैकान्त खण्डन का सारांश	३०७
१५. सांख्याभिमत कार्य-कारण के एकत्व का निरास	३११
१६. योग के उभयैकान्त एवं बौद्ध के अवाच्यत्व का खण्डन	३१४
१७. कथंचित् अन्यत्व अनन्यत्व की सिद्धि का सारांश	३३२
१८. एकान्तरूप अपेक्षा अनपेक्षा का खण्डन व स्याद्वादसिद्धि का सारांश	३४७
१९. ऐकांतिक हेतुवाद अथवा आगमवाद का खण्डन, स्याद्वादसिद्धि	३७१
२०. अपौरुषेय वेद का खण्डन	३७२
२१. अन्तरंगार्थ एवं बहिरंगार्थ के एकांत का खण्डन एवं स्याद्वादसिद्धि	४०५
२२. प्रत्यक्ष एवं बहिरंगार्थ के एकांत का खण्डन एवं स्याद्वादसिद्धि	४०६
२३. जीव के अस्तित्व की सिद्धि का सारांश	४३३
२४. देव एवं पुरुषार्थ के एकान्त निरसन का सारांश	४४६
२५. पुण्य पापवाद का सारांश	४५७
२६. अज्ञान से बन्ध एवं ज्ञान से मोक्ष के खण्डन का सारांश	४८१
२७. ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व के खण्डन का सारांश	५१४
२८. प्रमाण का लक्षण और फल स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क की पृथक् सिद्धि	५५१
२९. स्याद्वाद लक्षण का सारांश	५६९
३०. नयों के लक्षण का सारांश	५९३
३१. हिन्दी टीकाकर्त्री की प्रशस्ति	५९६

✽ सम्पादकीय ✽

—डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन

देवागमनभोयान चामरादि विभूतयः ।

मायाविष्वधि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

अष्टसहस्रों की विषय वस्तु—

संस्कृत भाषा एवं सूत्रात्मक शैली में निबद्ध जैन धर्म की सर्वाधिक प्राचीन कृति तत्त्वार्थ सूत्र के आदि में आ० श्री उमास्वामी द्वारा रचित मंगलाचरण को आधार बनाकर आ० श्री समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) की रचना की थी। इसी आप्त मीमांसा शीर्षक स्तोत्र पर आ० श्री अकलंकदेव ने अष्टशती (भाष्य) की रचना की। न्याय के प्रकांड विद्वान् आचार्य श्री अकलंकदेव का यह भाष्य आचार्यश्री की ताकिक एवं नैयायिक दृष्टि तथा ग्रन्थ में गुम्फित षड् दर्शनों की सामग्री के कारण यह ग्रन्थ भाष्य होने के बावजूद अत्यन्त क्लिष्ट रहा। ग्रन्थ की जटिलता का अनुमान कर आ० श्री अकलंकदेव की परम्परा में ही आ० श्री विद्यानन्द जी ने अष्टसहस्री नामक टीका की रचना की थी।

जैन दर्शन के अद्यतन उपलब्ध न्याय विषयक ग्रन्थों में यह ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। किन्तु विषय की गम्भीरता के कारण यह टीका ग्रन्थ भी पाठकों के लिये सहज गन्ध नहीं हो पाया। विद्वत्जनों में चिरकाल से प्रचलित इसका सम्बोधन अष्टसहस्री उपयुक्त ही है।

प्रस्तुत टीका ग्रन्थ—

'स्याद्वाद चिंतामणि' शीर्षक से पूज्य गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित इस टीका में माताजी ने आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी की मूल कारिकाओं, अष्टशती भाष्य एवं अष्टसहस्री टीका को व्यवस्थित करने के साथ ही अष्टसहस्री एवं अष्टशती की हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत कर इस ग्रंथ को सहज एवं बोधगम्य बना दिया है। परिशिष्ट में ग्रंथ में उद्धृत श्लोकों को सूचीबद्ध करने एवं सुविधानुसार शीर्षकों का सृजन करने से ग्रंथ की भाषा एवं शैली में प्रवाह आ गया है, तथा दुरुहता घटी है।

संस्थान का परिचय—

जिस संस्थान द्वारा उपरोक्त ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है, उसकी संक्षिप्त जानकारी पाठकों को देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

संस्थान का जन्म :

पू० गणिनी आर्थिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का जन्म सन् १९७२ में हुआ। इस संस्थान का रजिस्ट्रेशन दिल्ली सोसायटी एक्ट के अन्तर्गत सन् १९७२ में ही करा लिया गया।

संस्थान की कार्यकारिणी :

संस्थान के नियमानुसार प्रत्येक तीन वर्ष में संस्थान की कार्यकारिणी का गठन पू० माताजी की आज्ञा से होता आ रहा है। डा० कैलाशचन्द्र जैन (राजा टायज)—दिल्ली संस्थान के सर्वप्रथम अध्यक्ष मनोनीत किये गये थे। महामन्त्री श्री वैद्यराज शांतिप्रसाद जैन—दिल्ली, कोषाध्यक्ष ब्र० श्री मोतीचन्द्र जैन, मन्त्री श्री कैलाशचन्द्र जैन, करोलबाग—नई दिल्ली, एवं उपमन्त्री ब्र० रवीन्द्र कुमार जैन आदि पदाधिकारी मनोनीत किये गये थे। उसके बाद संस्थान के अध्यक्ष पद पर श्री मदनलाल जी चांदवाड़, रामगंज मंडी (राजस्थान) ६ वर्ष तक रहे, पश्चात् ६ वर्ष तक श्री अमरचन्द्र जी पहाड़िया, कलकत्ता संस्थान के अध्यक्ष पद पर रहे। महामन्त्री स्व० श्री कैलाशचन्द्र जैन, सरधना (उ० प्र०) तथा उनके बाद गणेशीलाल जी रानीवाला (कोटा) को महामन्त्री पद पर मनोनीत किया गया। वर्तमान त्रिवर्षीय कार्यकारिणी में लगभग ६० सदस्य सारे भारतवर्ष से मनोनीत हैं, जिसमें श्री अमरचन्द्र जी पहाड़िया व श्री निर्मलकुमार जी सेठी संरक्षक पद पर, ब्र० श्री रवीन्द्रकुमार जैन, (मैं) हस्तिनापुर अध्यक्ष, श्री जिनेन्द्रप्रसाद जैन ठेकेदार, दिल्ली—कोषाध्यक्ष, श्री गणेशीलाल रानीवाला, कोटा—महामन्त्री एवं मनोज कुमार जैन, हस्तिनापुर—मन्त्री तथा कैलाशचन्द्र जैन, (करोलबाग) नई दिल्ली—कोषाध्यक्ष पद पर मनोनीत हैं।

हिसाब एवं धन की व्यवस्था :

संस्थान का आय-व्यय प्रतिवर्ष आडिटर से आडिट कराया जाता है एवं कार्यकारिणी की बैठक में हिसाब पास किया जाता है। धन के सम्बन्ध में संस्थान की सम्पूर्ण आय रसीद अथवा कूपन से प्राप्त होती है तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, हस्तिनापुर, न्यू बैंक ऑफ इण्डिया, हस्तिनापुर एवं बैंक ऑफ बड़ौदा, दिल्ली में संस्थान के नाम से खाते हैं, जिसका संचालन संस्थान के अध्यक्ष, कार्याध्यक्ष, कोषाध्यक्ष एवं मन्त्री उपरोक्त चार में से किन्हीं दो हस्ताक्षरों से होता है।

निर्माण :

सन् १९७४ में जम्बूद्वीप स्थल पर निर्माण कार्य का शुभारम्भ हुआ था। भगवान् महावीर की सातशय श्रुति की स्थापना, कार्यालय का निर्माण आदि के साथ ही जम्बूद्वीप रचना के निर्माण की श्रृंखला में सर्वप्रथम ८४ फुट ऊंचे सुमेरु का निर्माण प्रारम्भ किया गया। सन् १९७६ में सुमेरु की रचना पूर्ण होने के उपरान्त जम्बूद्वीप के ६ पर्वतों, ६ खण्डों, कुलाचलों, नदियों, देवभक्तों, जिनमन्दिरों, जम्बू एवं शात्मलि के अष्टत्रिम वृक्षों की रचना की गई। लवण समुद्र में सतत् प्रवाह मान जलराशि, विद्युत् उपकरणों द्वारा की गई अद्वितीय प्रकाश व्यवस्था तथा ४०—५० फुट ऊंचे फौव्हारों के मध्य जम्बूद्वीप की रचना सजीव ही उठती है।

जम्बूद्वीप स्थल पर ही यात्रियों, शोधार्थियों, पर्यटकों के लिये २०० से अधिक कमरों व फ्लेटों का निर्माण हो चुका है। तीन मूर्ति मन्दिर का निर्माण हुआ है, जिसमें तीन वेदियाँ हैं। मुख्य वेदी में भगवान् आदिनाथ, भरत व बाहुबली की मूर्ति विराजमान है तथा अगल-बगल की वेदी में भगवान् पार्ष्वनाथ एवं भगवान् नेमीनाथ की प्रतिमा विराजमान हैं, भगवान् महावीर स्वामी का नया कमल मन्दिर बन रहा है, जिसका कलशारोहण व वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव मई १९६० में होने जा रहा है, इसके अलावा साधुओं के रहने के लिये रत्नत्रय निम्नय, कार्य संचालन के लिये कार्यालय एवं पानी की सुविधा के लिये टंकी भी बनाई जा चुकी है। अन्य निर्माण कार्य भी योजनानुसार चल रहे हैं, जिनका वर्णन भविष्य में समाज के समक्ष प्रस्तुत होगा।

शैक्षणिक गतिविधियाँ—

निर्माण के अतिरिक्त संस्थान के द्वारा शिक्षा एवं धर्म प्रचार का कार्य भी समय-समय पर होता रहा है। शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर, सेमिनार, अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार आदि के आयोजन भी कई बार किये जा चुके हैं।

सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का प्रकाशन—

पू० गणिनी आधिकारत श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित चारों अनुयोगों से युक्त एवं धर्म प्रभावना के समाचारों से सहित सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का प्रकाशन जुलाई १९७४ से इसी संस्थान के अन्तर्गत प्रारम्भ किया गया था, जिसका विमोचन पू० आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज के कर-कमलों से ऐतिहासिक दिगम्बर जैत लाल मन्दिर दिल्ली में १ जुलाई १९७४ को किया गया था। भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में लगभग सभी नगरों में इस पत्रिका के सदस्य हैं तथा पिछले १६ वर्षों से मासिक पत्रिका का प्रकाशन निर्बाध रूप चल रहा है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला—

संस्थान के अन्तर्गत वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला की स्थापना सन् १९७४ में गई, जिसमें प्रथम पुष्प के रूप में अष्टसहस्री के एक भाग का प्रकाशन १९७४ में हुआ था। उसके बाद पू० ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित लगभग १०० से अधिक ग्रन्थों का प्रकाशन अब तक हो चुका है। बच्चों के लिये बाल विकास (चार भाग) एवं इन्द्रध्वज मण्डल, कल्पद्रुम मण्डल विधान आदि अनेक प्रकाशन अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। इसी ग्रन्थमाला से यह ग्रन्थ भी प्रकाशित करने का हमें गौरव प्राप्त हुआ है।

विद्यापीठ—

सन् १९७६ में पू० माताजी की प्रेरणा से जम्बूद्वीप स्थल पर आचार्यश्री वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ का शुभारम्भ हुआ, जिसके अन्तर्गत धार्मिक अध्ययन के साथ-साथ लौकिक अध्ययन की सुविधा भी प्रदान की गई है। अब तक इस विद्यापीठ से पढ़कर कई विद्वान् समाज सेवा में संलग्न हो चुके हैं।

जम्बूद्वीप पारमार्थिक औषधालय—

नवम्बर १९८५ से जम्बूद्वीप स्थल पर निःशुल्क आयुर्वेदिक औषधालय भी प्रारम्भ किया गया है, जिसमें राजवैद्य शीतलप्रसाद एण्ड सन्स दिल्ली के सौजन्य से औषधि प्राप्त होती रहती है।

जम्बूद्वीप पुस्तकालय—

संस्थान के अन्तर्गत एक विशाल पुस्तकालय की योजना थी। इसकी पूर्ति हेतु १९८७ में जम्बूद्वीप पुस्तकालय की स्थापना की गई। जिसका शुभारम्भ आ० श्री विमलसागर जी महाराज के कर-कर्मलों एवं उनके आशीर्वाद से सम्पन्न हुआ। इस पुस्तकालय में विश्वविद्यालयी पुस्तकालयों की पद्धति के अनुरूप इन्डिस्क कार्डों के माध्यम से अकारादि क्रम से पुस्तकों को व्यवस्थित किया गया है। सम्प्रति पुस्तकालय में ५००० पुस्तकें एवं पत्रिकायें संग्रहीत हैं।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें—

प्रथम पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सन् १९७५ में भगवान् महावीर स्वामी की सवा नौ फुट ऊंची प्रतिमा की हुई थी। इसके लिये उस समय कम समय होने से एक छोटे से कमरे का ही निर्माण हो सका था। इसी कमरे को हटाकर वर्तमान में भव्य कमल मन्दिर का निर्माण कार्य सम्पन्न हो रहा है। इस पंचकल्याणक में चारित्र्य चक्रवर्ती १०८ आचार्यश्री शातिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज विशाल संघ सहित एवं एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी व गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का सानिध्य प्राप्त हुआ। प्रतिष्ठाचार्य पं० श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोनापुर निवासी थे।

द्वितीय पंचकल्याणक ८४ फुट ऊंचे सुमेरु पर्वत के १६ जिनबिम्बों का २९ अप्रैल से ३ मई १९७९ तक आयोजन किया गया। इस पंचकल्याणक महोत्सव में आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज के शिष्य आचार्यकल्प श्री श्रेयांससागर जी महाराज का सानिध्य एवं गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का सानिध्य प्राप्त हुआ था। इस आयोजन के प्रतिष्ठाचार्य ब्र० सूरजमल जी निवासी थे।

तृतीय पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २८ अप्रैल १९८५ से २ मई १९८५ तक सम्पन्न हुई। यह आयोजन जम्बूद्वीप के समस्त जिनबिम्बों के पंचकल्याण का आयोजन था। यह समारोह राष्ट्रीय स्तर पर सम्पन्न हुआ। इसमें सानिध्य प्राप्त हुआ आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज के संघस्थ साधुगणों का एवं आचार्यश्री सुबाहुसागर जी तथा गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के संघ का। प्रतिष्ठाचार्य ब्र० सूरजमल जी थे। समारोह में भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त से धर्मानुरागी बन्धुओं ने भाग लिया तथा उ० प्र० सरकार का भी शासन की ओर से अच्छा सहयोग रहा। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री नारायण दत्त जी तिवारी ने जम्बूद्वीप का उद्घाटन किया था। अन्य केन्द्रीय व उत्तर प्रदेश के मंत्रीगण व सांसद भी समारोह में उपस्थित हुये थे। रक्षामंत्री श्री पी० वी० नरसिंह राव भी आयोजन में सम्मिलित हुए।

चतुर्थ पंचकल्याणक ६ मार्च से ११ मार्च १९८७ तक सम्पन्न हुआ। इस महोत्सव में भगवान् पार्श्वनाथ व भगवान् नेमीनाथ की दो विशाल पद्मासन प्रतिमाओं का पंचकल्याण महोत्सव हुआ। इस कार्यक्रम में आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज के विशाल संघ का सानिध्य तथा गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के संघ का सानिध्य प्राप्त हुआ। इस प्रतिष्ठा के प्रतिष्ठाचार्य पं० श्री शिखरचन्दजी भिण्ड थे। इसी शुभ अवसर पर सुमेरु पर्वत पर स्वर्ण कलशारोहण भी किया गया। मुख्य अतिथि के रूप में श्री माधवराव सिधिया, केन्द्रीय रेल मंत्री तथा श्री जे० के० जैन भूतपूर्व सांसद भी आये।

ज्ञानज्योति प्रवर्तन —

४ जून १९८२ को लालकिला मैदान दिल्ली से जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का प्रवर्तन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के करकमलों से हुआ था। निरन्तर १०४५ दिनों तक इस ज्ञानज्योति का प्रवर्तन सम्पूर्ण भारतवर्ष के नगर-नगर में हुआ जिससे अहिंसा, चारित्र्य-निर्माण एवं विश्वबन्धुत्व का व्यापक प्रचार-प्रसार किया गया। इस प्रवर्तन में अनेक प्रान्तों के राज्यपाल, मुख्य मंत्री, सांसद, कमिश्नर, डी० एम०, एस० डी० एम आदि अनेक राजकीय अधिकारियों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। दिगम्बर जैन आचार्यों, मुनियों, आर्थिकार्थों और भट्टारकों का भी स्थान स्थान पर आशीर्वाद व सान्निध्य प्राप्त हुआ। प्रवर्तन में तत्कालीन सांसद श्री जे० के० जैन का सराहनीय सहयोग समय-समय पर प्राप्त होता रहा।

ज्ञानज्योति की हस्तिनापुर में अखण्ड स्थापना—

१०४५ दिनों तक सारे भारतवर्ष में प्रवर्तन के बाद ज्ञानज्योति की अखण्ड स्थापना २८ अप्रैल १९८५ को जम्बूद्वीप मेन गेट के ठीक सामने स्थाई तौर पर हस्तिनापुर में कर दी गई है। यह स्थापना श्री जे० के० जैन सांसद की अध्यक्षता में तत्कालीन रक्षामन्त्री भारत सरकार श्री पी० वी० नरसिंह राव के करकमलों से हुई थी।

जम्बूद्वीप स्थल पर भव्य दीक्षार्थे :—

पू० गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के शिष्य एवं शिष्याओं के दीक्षा समारोह भी जम्बूद्वीप स्थल पर समय-समय पर आयोजित किये गये हैं। सर्वप्रथम संवत्स्य ब्र० श्री मोतीचन्द जैन, सनावद (म० प्र०) की क्षुल्लक दीक्षा का कार्यक्रम ८ मार्च १९८७ को सम्पन्न हुआ। यह दीक्षा आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज के कर-कमलों से सम्पन्न हुई थी। दीक्षा के उपरान्त उनका नाम क्षुल्लक मोतीसागर रखा गया।

द्वितीय दीक्षा समारोह कु० माधुरी शास्त्री जो कि पू० ज्ञानमती माताजी की शिष्या एवं गृहस्थावस्था की लघु भगिनी हैं उनकी दीक्षा २३ अगस्त १९८६ को विशाल स्तर पर सम्पन्न हुई। गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के कर-कमलों से दीक्षा प्राप्त करके आर्थिका चन्दनामनी नाम रखा गया।

तृतीय दीक्षा ब्र० श्यामाबाई की १५ अक्टूबर १९८६ को सम्पन्न हुई। पू० गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के कर-कमलों से उन्हें क्षुल्लिका दीक्षा प्रदान करके क्षुल्लिका श्रद्धामती नाम रखा गया।

इस प्रकार दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान में विभिन्न बहुमुखी योजनायें चल रही हैं, जिनमें भारतवर्ष के समस्त दिगम्बर जैन समाज का सहयोग प्राप्त होता रहता है।

हस्तिनापुर का संक्षिप्त परिचय :—

जैन पुराणों के आधार से हस्तिनापुर बहुत प्राचीन एवं ऐतिहासिक नगरी है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का प्रथम आहार इसी भूमि पर हुआ। उसी दिन से एक प्रकार से यह दानतीर्थ प्रवर्तन

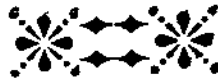
भूमि हो गई है। उसके बाद भगवान् शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ इन तीन तीर्थकरों का गर्भ, जन्म, तप एवं केवलज्ञान ऐसे चार-चार कल्याण इसी भूमि पर सम्पन्न हुये हैं। तीनों महापुरुष तीर्थकर की पदवी के साथ-साथ चक्रवर्ती व कामदेव भी थे। यही हस्तिनापुर कौरव-पांडवों की राजधानी रही है। रक्षा-बन्धन का पर्व इसी हस्तिनापुर से प्रारम्भ हुआ है, जहाँ पर ७०० मुनियों के विशाल संघ पर बलि नामक मन्त्री ने उपसर्ग किया था और विष्णुकुमार महामुनि ने वामन का रूप धारण करके उस उपसर्ग का निवारण किया था। इसके अलावा जैन पुराणों में अनेक कथानक इस हस्तिनापुर भूमि से जुड़े हुए हैं। अतः यह उत्तर भारत का एक प्रसिद्ध और ऐतिहासिक स्थल है, लेकिन प्रचार की कमी से यह तीर्थ बहुत पिछड़ा हुआ था। जम्बूद्वीप निर्माण के बाद इस स्थल का प्रचार देश-विदेश में बराबर हो रहा है, जिससे आने वाले जैन-अजैन यात्रियों की संख्या में विगत वर्षों में दस गुनी वृद्धि हुई है।

संस्थान के परिवयोपरान्त ग्रन्थमाला के समस्त सहयोगियों एवं प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग देने वाले समस्त दाताओं के प्रति आभार ज्ञापित करना मेरा कर्तव्य है।

ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिये श्री सुमन प्रिंटर्स, मेरठ के मालिक श्री हरीशचन्द जैन ने सुन्दर मुद्रण के साथ इसे प्रकाशित करने में हमें जो सहयोग प्रदान किया है। उसके लिये हम उनके हृदय से आभारी हैं।

हस्तिनापुर

१५-३-६०





पुरोवाक्

—गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

“मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूमताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, बंदे तद्गुणलब्धये ॥१॥

महान् आचार्यश्री उमास्वामी ने महान् ग्रन्थराज तत्त्वार्थसूत्र की रचना के प्रारम्भ में “मोक्षमार्गस्य नेतारं” इत्यादि मंगल श्लोक को रचा है। श्री समंतभद्रस्वामी ने इस मंगलाचरण श्लोक का आधार लेकर “आप्तमीमांसा” नाम से एक स्तोत्र रचना की है जिसका अपरनाम “देवागम-स्तोत्र” भी है। श्री भट्टाकलंकदेव ने इसी आप्तमीमांसा स्तुति पर “अष्टशती” नाम से भाष्य बनाया जो कि जैन दर्शन का एक अतीव गूढ़ग्रन्थ बन गया। इसी भाष्य पर आचार्यवर्य श्री विद्यानन्द महोदय ने “अष्टसहस्री” नाम से अलंकार स्वरूप टीका बनाई जो कि जैन दर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ कहलाता है। इसमें दश परिच्छेद में अस्ति-नास्ति, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत आदि एक-एक प्रकरणों के एकांतों का पूर्वपक्ष पूर्वक निरसन करके सर्वत्र स्याद्वाद प्रक्रिया से वस्तुतत्त्व को समझाया गया है। वास्तव में तत्त्व-अतत्त्व को समझने के लिये यह न्याय ग्रन्थ एक कसौटी का पत्थर है और अधिक तो क्या कहा जाये श्री स्वामी समंतभद्राचार्यवर्य ने आप्त और अनाप्त की मीमांसा करते हुये आप्त-अर्हंतदेव को ही न्याय की कसौटी पर कसकर सत्य आप्त सिद्ध किया है।

प्रथम परिच्छेद

देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

अतिशय गुणों से युक्त भगवान् की स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्र स्वामी स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन से ही इस देवागम स्तव में आप्त की मीमांसा करते हुये भगवान् से प्रश्नोत्तर करते हुये के समान ही कहते हैं। अर्थात् मानो भगवान् यहाँ प्रश्न कर रहे हैं कि हे समंतभद्र ! मुझमें देवों का आगमन, चमर, छत्रादि अनेकों विभूतियां हैं फिर भी तुम मुझे नमस्कार क्यों नहीं करते हो ? तब उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि हे भगवन् ! आपके जन्म कल्याणक आदिकों में देव, चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियां देखी जाती हैं किन्तु ये विभूतियां तो मायावी जनों में भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिये महान्-पूज्य नहीं हैं।

इस पर भगवान् मानों पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र ! बाह्य विभूतियों से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही किन्तु मस्करूरी आदि में असंभव ऐसे अन्तरंग में पसीना आदि का न होना एवं बहिरंग में जो गंधोदक वृष्टि आदि महोदय हैं जो कि दिव्य और सत्य हैं वे मुझमें हैं अतः आप मेरी स्तुति करिये। इस पर श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं कि अन्तरंग और बहिरंग शरीरादि के महोदय भी रागादिमान् देवों में

पाये जाते हैं अतः इनसे भी आप महान् नहीं हैं अर्थात् देवों के शरीर में भी पसीना, मल-मूत्रादि नहीं हैं, उनके यहां भी गंधोदक वृष्टि आदि वैभव होते हैं अतः इन महोदय से भी आप हमारे पूज्य नहीं हैं ।

मानों पुनः भगवान् कहते हैं कि हे समंतभद्र ! रागादिमान् देवों में भी असंभवी ऐसे तीर्थकृत् सम्प्रदाय को चलाने वाला “मैं तीर्थंकर हूँ” अतः मैं अवश्य ही तुम्हारे द्वारा स्तुति करने के योग्य हूँ । इस पर श्री समंतभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुये के समान कहते हैं कि हे भगवान् ! आत्मरूप तीर्थ को करने वाले सभी तीर्थंकरों के आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् बुद्ध, कपिल, ईश्वर आदि सभी ने अपने-अपने आगमों को रचकर अपना-अपना तीर्थ चलाकर अपने को तीर्थंकर माना है किन्तु सभी के आगम में परस्पर में विरोध होने से सभी सच्चे आप्त नहीं हो सकते हैं इसलिये इन सभी में कोई एक ही परमात्मा—सच्चा आप्त हो सकता है—ऐसा अर्थ ध्वनित कर देते हैं । इस कारिका की अष्टसहस्री टीका में श्री विद्यानन्द महोदय ने बहुत ही विस्तार से सभी संप्रदायों का परस्पर में विरोध दर्शाया है ।

अन्य सम्प्रदायों में वेदों को प्रमाण मानने वाले वैदिक संप्रदायी हैं । उनमें मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक एवं सांख्य वैदिक कहलाते हैं और चार्वाक, बौद्ध आदि वेद को नहीं मानने वाले अवैदिक कहलाते हैं । अतः चार्वाक और शून्यवादी बौद्ध नास्तिक हैं बाकी सभी आस्तिक की कोटि में आ जाते हैं । अस्तु ! सभी के संप्रदायों के परस्पर विरोध का यहां किञ्चित् दिग्दर्शन कराते हैं ।

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार जड़ तत्त्वों को ही मानता है । उसका कहना है कि इन्हीं भूतचतुष्टयों के मिलने से संसार बना है और इन्हीं भूतचतुष्टयों से आत्मा की उत्पत्ति होती है । यह चार्वाक परलोक गमन, पुण्य पाप का फल आदि नहीं मानता है । वेदांती एक ब्रह्मरूप ही तत्त्व स्वीकार करता है, उसका कहना है कि एक परब्रह्म ही तत्त्व है, संपूर्ण विश्व में जो चेतन अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं, हम और आप सभी उस एक परब्रह्म की ही पर्यायें हैं, यह चर-अचर जगत् मात्र अविद्या का ही विलास है इत्यादि ।

ऐसे ही बौद्ध सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं । उनका कहना है कि एक क्षण के बाद सभी वस्तुयें जड़ मूल से नष्ट हो जाती हैं जो उनका ठहरना द्वितीय आदि क्षणों में दिख रहा है वह सब कल्पनामात्र है वासना से ही ऐसा अनुभव आता है । सांख्य कहता है कि सभी वस्तुयें सर्वथा नित्य ही हैं, कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है किन्तु तिरोभूत हो जाती है एवं किसी वस्तु की उत्पत्ति भी नहीं है वस्तु का आविर्भाव ही होता है ।

इस तृतीय कारिका के विवेचन में आचार्य प्रवर श्री विद्यानंद महोदय ने वेद के मानने वालों में ही परस्पर विरोध को दिखाया है । प्रभाकर वेद के वाक्यों का अर्थ “नियोग” करते हैं । ब्रह्माद्वैतवादी वेद के वाक्यों का अर्थ “विधिरूप” करते हैं और भावनावादी भाट्ट वेद वाक्यों का अर्थ “भावनारूप” ही करते हैं । इन तीनों के आशय का विस्तार से यहां खंडन किया गया है ।

चार्वाक सर्वज्ञ का अभाव कहता है इसका खंडन करते हुये आचार्यदेव ने तत्त्वोपप्लववाद का भी अच्छी तरह से खंडन किया है ।

इस तरह एकांतवादों में परस्पर विरोध दिखाकर उन सबका खंडन करके आचार्यदेव ने चौथी कारिका में कहा है कि—“किसी न किसी में दोष और आवरण का संपूर्णतया अभाव अवश्य ही होगा क्योंकि आज भी हम सभी लोगों में कुछ न कुछ रूप दोष और आवरणों की तरतमता देखी जाती है ।” इसमें संसार और संसार के कारणों का तथा मोक्ष और मोक्ष के कारणों का अच्छा विवेचन है ।

पुनः आचार्यदेव ने पांचवीं कारिका में कहा है कि “सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं चूंकि वे अनुमेय हैं।”

आगे छठी कारिका में स्पष्ट कह दिया है कि “वे निर्दोष आप्त-भगवान् आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं।”

इस कारिका के विवेचन में आचार्यश्री विद्यानन्द महोदय ने अन्य मतावलंबियों द्वारा मान्य मोक्ष का निराकरण करके जैन सिद्धांत के अनुसार मोक्ष तत्त्व का अच्छा विवेचन किया है।

इस तरह अष्टसहस्री के प्रकाशित प्रथम भाग में मात्र इन ६ कारिकाओं का ही विवेचन है।

आगे अष्टसहस्री द्वितीय भाग में प्रथम परिच्छेद की श्लोक ७ से २३ तक कारिकाओं का विवेचन है।

अष्टसहस्री द्वितीय भाग—

द्वितीय भाग में श्री समंतभद्र स्वामी ने जिनेन्द्रदेव के मत को “अमृतस्वरूप” कहा है। आगे इसी भाग में प्रागभाव, प्रद्युम्नाभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार प्रकार के अभावों का अच्छा विवेचन है। पुनः—

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत् । तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥

इस कारिका १४ के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि—हे भगवन् ! आपके शासन में प्रत्येक वस्तु कथंचित् स्वरूप ही है, कथंचित् असत्स्वरूप ही है, कथंचित् उभयरूप ही है, कथंचित् अवक्तव्य ही है। चकार शब्द से वही वस्तु कथंचित् सत् और अवक्तव्यरूप ही है, कथंचित् असत् और अवक्तव्यरूप ही है, कथंचित् सत् असत् और अवक्तव्यरूप ही है। यह सब नयों की अपेक्षा से ही होता है सर्वथा नहीं।

आगे कहा है कि “वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत्स्वरूप ही है और परचतुष्टय की अपेक्षा से असत्स्वरूप ही है इत्यादि।

अन्त में स्याद्वाद की प्रक्रिया को घटित किया है। इस तरह प्रथम परिच्छेद में १ से २३ तक २३ कारिकाएँ हैं। इस प्रथम परिच्छेद का विवेचन विस्तृत होने से यहां तक ग्रन्थ का “पूर्वार्ध” होता है।

आगे तृतीय भाग में द्वितीय परिच्छेद से लेकर दसवें परिच्छेद तक ग्रन्थ पूर्ण हुआ है। यह ग्रन्थ का “उत्तरार्ध” है।

द्वितीय परिच्छेद

अद्वैत एकांत का निराकरण—

एक ब्रह्माद्वैतवादी जनों का सम्प्रदाय है। ये लोग कहते हैं कि ‘सर्वं वै खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति कश्चन।’ यह सारा जगत् एक ब्रह्मस्वरूप है, यहां भिन्न वस्तुयें कुछ नहीं हैं। ये चेतन-अचेतन जितने भी पदार्थ दिख रहे हैं वे सब एक ब्रह्म की ही पर्यायें हैं। ऐसे ही शब्दाद्वैतवादी सारे जगत् को एक शब्दब्रह्मस्वरूप ही मानते हैं। विज्ञानद्वैतवादी सारे जगत् को एक ज्ञानमात्र ही मानते हैं, चित्राद्वैतवादी सारे जगत् को चित्रज्ञान-रूप कहते हैं और शून्याद्वैतवादी सब कुछ शून्यरूप ही मानते हैं। ऐसे ये पांच अद्वैतवादी हैं, ये लोग एक अद्वैत

के सिवाय द्वैतरूप (दो रूप) कोई चीज नहीं मानते हैं, इनका कहना है कि जो भी द्वैतरूप संसार दिख रहा है वह सब अविद्या या कल्पना से ही है, वास्तविक नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष, सुख-दुःख, विद्या-अविद्या आदि रूप से सर्वत्र दो चीजें ही उपलब्ध होती हैं। इसमें एक को काल्पनिक कहने पर दूसरी भी काल्पनिक होने से कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। तथा आपने आगम से ब्रह्म तत्त्व को सिद्ध किया तो आगम और ब्रह्म दो ही गये। यदि आगम को ब्रह्मा का स्वभाव कहो तो भी स्वभाव और स्वभाव वाले की अपेक्षा दो ही गये। दूसरी बात यह है कि जैसे जैन के बिना अजैन नहीं बनता वैसे ही द्वैत के बिना अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है। तथा जिस अविद्या से ये भेद दिख रहे हैं वह अविद्या परमब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न कहो तो द्वैत ही गया और यदि अभिन्न कहो तो तुम्हारा ब्रह्म अविद्या से अभिन्न होने से अविद्या रूप हो गया। इसलिये आपका ब्रह्म अविद्या-रूप हो जाने से हमारा विद्या रूप द्वैत तत्त्व ही सिद्ध हो गया।

द्वैत एकांत का निराकरण—

योग के दो भेद हैं—नैयायिक और वैशेषिक, ये लोग द्रव्य से गुण को सर्वथा भिन्न मानते हैं। उनके मत से अग्नि से उष्णता सर्वथा भिन्न है, किन्तु जैनाचार्य पूछते हैं कि उष्णता के सम्बन्ध से पहले अग्नि उष्ण थी या ठण्डी? यदि उष्ण थी तो उष्णता के सम्बन्ध ने क्या किया, यदि अग्नि ठण्डी थी और उष्णता ने, उष्ण किया तो वह पूर्व में उष्ण गुण और ठण्डी अग्नि उपलब्ध नहीं होते हैं। वास्तव में उष्णता के बिना अग्नि का अस्तित्व ही असम्भव है। इसलिये जैनमत में द्रव्य से गुण को अभिन्न माना है और संज्ञा आदि के भेद से ही भिन्न माना है।

बौद्ध ने कार्य-कारण को परस्पर में सर्वथा भिन्न माना है, उसका कहना है, कि मिट्टी का सर्वथा नाश होकर घड़ा बना है परन्तु यह बात किसी के गले नहीं उतरती है। इन्होंने कार्य (घड़े) के अणु-अणु को भी सर्वथा भिन्न-भिन्न माना है, किन्तु ऐसा मानने से तो घड़े में पानी कैसे भरा जा सकेगा? अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्माद्वैतवादी चेतन-अचेतन, संसारी-मुक्त, कार्य-कारण आदि सभी में अद्वैत—एकरूपता सिद्ध करते हैं। योग और नैयायिक सभी द्रव्य-गुण आदि में और कार्यकारण आदि में द्वैत यानी पृथक्-पृथक्पना सिद्ध करते हैं। मीमांसक सर्वथा अद्वैत और पृथक्पन उभय का एकांत मानता है। बौद्ध भेद-भेद को सर्वथा अवाच्य-अवक्तव्य कहते हैं। इन चारों की मान्यतायें कथमपि संभव नहीं हैं।

स्याद्वाद की सिद्धि—

जैन सिद्धांत के अनुसार सभी चेतन-अचेतन वस्तुरूप जगत् अद्वैत—एकरूप है, क्योंकि सभी वस्तुएं सत् सामान्य की अपेक्षा अस्तिरूप हैं।

सभी वस्तुयें पृथक्त्वरूप हैं क्योंकि संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि से सभी में भेद है।

सभी वस्तुएं उभयरूप हैं क्योंकि क्रम से अद्वैत और भेदरूप द्वैत की अपेक्षा है।

सभी वस्तुयें अवक्तव्य हैं क्योंकि एक साथ अद्वैत और द्वैत दोनों धर्म को कह नहीं सकते।

सभी वस्तुयें अद्वैत अवक्तव्य रूप हैं क्योंकि क्रम से अद्वैत की और युगपत् उभय की विवक्षा है।

सभी वस्तुयें द्वैत अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से द्वैत की और युगपत् दोनों धर्मों की विवक्षा है।

इस प्रकार सभी वस्तुयें कथंचित् भेदाभेदात्मक होकर ही प्रमाण का विषय हैं। क्योंकि मुख्य और गौण की विवक्षा पाई जाती है। जब वस्तुओं में अभेद धर्म विवक्षित होता है तब वह प्रधान हो जाता है और द्वैत धर्म गौण हो जाता है। जब द्वैत प्रधान होता है तब अद्वैत गौण हो जाता है। यही स्याद्वाद प्रक्रिया है।

इस द्वितीय परिच्छेद में २४ से ३६ तक १३ कारिकाएँ हैं।

तृतीय परिच्छेद

नित्य एकांत का निराकरण—

सांख्य सभी पदार्थों को सर्वथा कूटस्थ नित्य मानते हैं, उनका कहना है कि आत्मा जानने रूप क्रिया का भी कर्ता नहीं है। ज्ञान और सुख प्रकृति (जड़) के धर्म हैं, केवल आत्मा इनका भोक्ता अवश्य है। ये लोग कारण में कार्य को सदा विद्यमान रूप ही मानते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि सभी पदार्थों में परिणमन दिख रहा है अतः वे सर्वथा नित्य नहीं हैं। ज्ञान और सुख ये आत्मा के ही स्वभाव हैं आत्मा से भिन्न नहीं हैं। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि रूप से जो स्वसंवेदन होता है वह ज्ञान के द्वारा ही होता है और वह अनुभव सर्वथा नित्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु पूर्वाकार को छोड़कर उत्तराकार को ग्रहण करती है और उन दोनों अवस्थाओं में अन्वय सम्बन्ध पाया जाता है, इस अन्वय स्वभाव से वस्तु नित्य है तथा पूर्वाकार के त्याग और उत्तराकार के ग्रहण रूप से व्यय और उत्पाद स्वरूप भी है अतः अनित्य भी है। जीव ने मनुष्य पर्याय को छोड़कर देव पर्याय ग्रहण की तथा दोनों अवस्थाओं में अन्वय रूप जीवात्मा विद्यमान है ऐसा स्पष्ट है। तथा मिट्टी से कुंभकार घट बनाता है, घट उसमें विद्यमान था, कुंभकार ने प्रकट कर दिया यह कल्पना गलत है। हाँ ! मिट्टी में घट, शक्ति रूप से अवश्य है अर्थात् मिट्टी में घट बनने की शक्ति अवश्य है कारक निमित्तों से प्रकट हो जाती है। अतः आत्मा आदि पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य हैं पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं।

अनित्य एकांत का निराकरण—

बौद्ध का कहना है कि सभी पदार्थ सर्वथा क्षण-क्षण में तष्ट हो रहे हैं। उनमें जो कहीं स्थायित्व दिख रहा है, वह सब वासना मात्र है, ये लोग कारण का जड़मूल से विनाश मानकर ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि सभी पदार्थों को सर्वथा क्षणिक मानने पर तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि सिद्ध नहीं होंगे, प्रातः अपने घर से निकल कर कोई भी व्यक्ति पुनः 'यह वही घर है जिसमें मैं रहता हूँ' ऐसा स्मृति-पूर्वक प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकने से वापस नहीं आ सकेगा। पुनः सारे लोकध्ववहार समाप्त हो जावेंगे। तथा मृत्पिण्ड के सभी परमाणुओं का सर्वथा नाश हो गया। पुनः घट किससे बना ? यह प्रश्न होता ही रहेगा, कारण कि विनाश के बाद कार्य की उत्पत्ति मानने से तो मिट्टी से ही घट क्यों बने ? तन्तु से घट और मृत्पिण्ड से वस्त्र भी बन जायेंगे, जो के अंकुरों से चने पैदा होने लवेंगे, कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः कारण का कार्य रूप परिणत हो जाना ही कार्य है। तन्तु ही वस्त्र रूप परिणत होते हैं यही सिद्धान्त सत्य है।

बौद्ध कहता है कि 'वस्तु सत् है, असत् है, उभय रूप है, अनुभय रूप है' ये चार विकल्प ही सकते हैं और ये चारों ही विकल्प अवाच्य हैं—कहे नहीं जा सकते अतः 'वस्तु अवाच्य है।' जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! 'वस्तु अवाच्य है' इस वाक्य से भी पुनः तुमने कैसे कहा ? इस वाक्य से वाच्य कर देने से वह अवाच्य कहां रही ? यह तो ऐसा है कि कोई मुंह से कहे कि 'मैं मौनव्रती हूँ'। बौद्ध की एक और मान्यता बहुत ही विचित्र है वह कहता है कि विनाश अहेतुक है। घड़े पर मुद्गर का प्रहार हुआ वह फूट गया, तो उसका कहना है कि मुद्गर के निमित्त से घड़ा नहीं फूटा है प्रत्युत स्वभाव से ही फूटा है। हां, मुद्गर से निमित्त से कपाल—टुकड़े अवश्य उत्पन्न हुए हैं। जैनाचार्य तो घड़े के फूटने में और कपाल के उत्पन्न होने में, दोनों में एक मुद्गर को ही हेतु मानते हैं, क्योंकि इन्होंने पूर्वाकार घट का विनाश और उत्तराकार—कपाल का उत्पाद इन दोनों को एक हेतुक और एक समय में ही माना है। घट का फूटना ही तो कपाल का उत्पाद है।

इस बेचारे बौद्ध ने तो कार्य को ही अहेतुक माना है किन्तु आजकल कुछ ऐसे भी लोग हैं जो विनाश और उत्पाद दोनों को ही अहेतुक कह देते हैं, उनका कहना है कि कार्य का उत्पाद होना था तब निमित्त उपस्थित हो गया वह सर्वथा अकिञ्चित्कर है उस बेचारे ने क्या किया है ? ऐसा कहने वालों की दशा तो बौद्धों से भी अधिक शोचनीय है।

बौद्ध के सर्वथा क्षणिक मत में अपने किये हुये को नहीं भोगना और दूसरे के किये हुए का फल पाना ये दोष भी आ जाते हैं। जैसे किसी व्यक्ति—आत्मा ने हिंसा का भाव किया वह उसी क्षण नष्ट हो गया, दूसरे आत्मा ने आकर हिंसा कर दी वह भी नष्ट हो गया, तीसरे आत्मा को पाप का बंध हो गया, उसी क्षण वह भी नष्ट हो गया, चौथे आत्मा ने आकर उसका फल दुःख भोगा। अहो ! यह सिद्धांत बहुत ही हास्यास्पद है।

सप्तभंगी प्रक्रिया—

जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सभी पदार्थ कथञ्चित् नित्य हैं क्योंकि द्रव्याधिक नय से वे कभी नष्ट नहीं होते हैं।

सभी पदार्थ कथञ्चित् अनित्य हैं क्योंकि पर्यायों का विनाश और उत्पाद देखा जाता है।

सभी पदार्थ कथञ्चित् नित्य और अनित्य उभय रूप हैं क्योंकि क्रम से द्रव्याधिक और पर्यायधिक दोनों नयों की अपेक्षा है।

सभी पदार्थ कथञ्चित् अवक्तव्य हैं क्योंकि एक साथ दोनों नयों की विवक्षा होने से दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते हैं।

सभी पदार्थ कथञ्चित् नित्य और अवक्तव्य हैं, क्योंकि क्रम से द्रव्याधिक नय और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

सभी पदार्थ कथञ्चित् अनित्य और अवक्तव्य इस छठे भंग रूप हैं क्योंकि क्रम से पर्यायाधिक नय और युगपत् दोनों नयों की विवक्षा है।

सभी पदार्थ कथञ्चित् नित्यानित्य और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से दोनों नय और युगपत् दोनों नयों की अपेक्षा है।

इस प्रकार सप्तभंगी प्रक्रिया से सभी बातें व्यवस्थित हैं।

इस तृतीय परिच्छेद में ३७ से ६० तक २४ कारिकाएं हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

भेद एकांत का खंडन—

योग कहता है कि कार्य-कारण, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि सभी परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। वह समवाय नाम का एक सम्बन्ध मानता है जिसका अर्थ है “अद्युतसिद्ध में सम्बन्ध होना” उस समवाय से ही सबके सम्बन्ध मानता है। जैसे जीव से ज्ञान भिन्न है, वह समवाय से ईश्वर में सम्बन्धित हुआ है। किन्तु जीव में ज्ञान के सम्बन्ध के पहले जीव का तथा ज्ञान का पृथक्-पृथक् अस्तित्व दिख नहीं रहा है जैसे दंड के सम्बन्ध के पहले मनुष्य और दंड दोनों अलग-रलग दिख रहे हैं, पीछे उनका सम्बन्ध हो जाने से “दंडी” यह संज्ञा हो जाती है वैसे ही यहाँ गुण-गुणी पृथक् रूप से दिखते नहीं हैं। कार्य-कारण में भी सर्वथा भिन्नता नहीं है कथञ्चित् ही है। इनका समवाय भी सिद्ध नहीं होता है। जिसे हम जैन तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं उसे समवाय भले ही कह दो किन्तु अलग से यह कोई समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं है।

अभेद एकांत का खण्डन—

सांख्य का कहना है कि महान् अहंकार आदि कार्य हैं और प्रधान कारण है, इन दोनों में परस्पर में एकत्व ही है। आचार्य कहते हैं कि कार्य-कारण में सर्वथा एकत्व मानने से तो दोनों में से कोई एक ही रहेगा और दूसरे का अभाव हो जावेगा। पुनः एक के अभाव में दूसरा भी नहीं रह सकेगा। अतः कार्य-कारण आदि को सर्वथा एकरूप नहीं मानना चाहिये।

सर्वथा भेदाभेद एकांत एवं सर्वथा अवयवत्व का निराकरण—

योग परस्पर निरपेक्ष भिन्नता और अभिन्नता दोनों ही मान लेते हैं। बौद्ध कहता है कि वस्तु सर्वथा अवाच्य ही है। किन्तु जैनाचार्य परस्पर सापेक्ष रूप से सत्त्व को भिन्नाभिन्न-उभयात्मक मानते हैं। और एक साथ दोनों धर्मों को न कह सकने से चतुर्थ भंग रूप से कथञ्चित् ‘अवाच्य’ भी मान लेते हैं सर्वथा नहीं। सभी वस्तुयें व्यंजन पर्याय की अपेक्षा वाच्य हैं और अर्थ पर्याय की अपेक्षा से अवाच्य हैं।

अद्वैतवादी का कहना है कि द्रव्य एक है वही वास्तविक है, पर्यायों अनेक हैं वे अवास्तविक हैं। द्रव्य उन पर्यायों से भिन्न है।

सौगत का कहना है कि वर्णादिरूप अनेक पर्यायों हैं वे ही वास्तविक हैं, किन्तु द्रव्य नाम की तो कोई चीज ही नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि द्रव्य और पर्यायों में कथञ्चित् एकत्व है क्योंकि उन दोनों को पृथक्-पृथक् करना अशक्य है।

तथैव द्रव्य और पर्यायों में कथञ्चित् भिन्नपणा भी है क्योंकि दोनों का लक्षण भिन्न है, प्रयोजन आदि से भी भिन्नता है। द्रव्य का लक्षण सत् है तो पर्याय का लक्षण है उस-उस प्रतिविशिष्ट रूप से होना। सहभावी गुण होते हैं और क्रमभावी पर्यायों होती हैं। द्रव्य अनादि, अनन्त, एक स्वभाव है, पर्यायों सादि, सांत अनेक स्वभाव वाली हैं। फिर भी द्रव्य से निरपेक्ष केवल पर्यायों रह नहीं सकतीं और पर्याय निरपेक्ष द्रव्य का अस्तित्व भी असंभव है। गुण और पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन त्रयात्मक ही द्रव्य है।

सप्तभंगी प्रक्रिया—

द्रव्य और पर्यायों का पृथक्-पृथक् विवेचन करना अशक्य होने से दोनों में कथंचित् एकत्व है ।

असाधारण रूप स्वस्वलक्षण के भेद से कथंचित् दोनों में नानापना सिद्ध है ।

क्रम से दोनों नयों की अर्पणा करने से द्रव्य और पर्यायों कथंचित् एकत्व भिन्नस्वरूप उभयात्मक है ।

युगपत् दोनों नयों की अर्पणा करने से कहना ही अशक्य है अतः कथंचित् द्रव्य और पर्यायों दोनों अवक्तव्य हैं ।

भिन्न-भिन्न लक्षण और एक साथ दोनों नयों की अर्पणा करने से कथंचित् नानात्व अवक्तव्य है ।

दोनों का पृथक्-पृथक् अशक्य विवेचन होने से और एक साथ दोनों नयों की अर्पणा करने से द्रव्य-पर्यायों में कथंचित् एकत्व अवक्तव्य है ।

क्रम से तथा अक्रम से अपित दोनों नयों से द्रव्य पर्याय कथंचित् नाना, एकत्व और अवक्तव्य रूप है ।

इस प्रकार से द्रव्य और पर्यायों में प्रमाण तथा नय से अविरुद्ध सप्तभंगी सुघटित है ।

इस चतुर्थ परिच्छेद में ६१ से ७२ तक १२ कारिकाएं हैं ।

पंचम परिच्छेद**एकांतरूप अपेक्षावाद और अनापेक्षावाद का खंडन—**

बौद्ध का कहना है कि धर्म और धर्मों परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा से ही सिद्ध होते हैं । जैसे कि मद्यपमा और अनामिका अंगुली, अतः ये धर्म धर्मों कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं क्योंकि ये निर्विकल्प ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होते हैं । ये तो निर्विकल्प के अनन्तर होने वाले विकल्प ज्ञान से कल्पित किये गये हैं ।

योग का कहना है कि धर्म और धर्मों सर्वथा अनापेक्षिक ही हैं—कदाचित् भी एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हैं ।

इस पर जैनाचार्यों का कथन है कि धर्म और धर्मों का स्वरूप स्वतः सिद्ध है वह स्वरूप तो एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है किन्तु धर्म और धर्मों का अविनाभाव परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा से ही सिद्ध होता है । जैसे कारक के अंग कर्ता और कर्म स्वतः सिद्ध हैं । कर्ता का स्वरूप कर्म की अपेक्षा नहीं रखता है अन्यथा कर्ता के स्वरूप का अभाव हो जाने से कर्म के स्वरूप का भी अभाव हो जायेगा । अतः कथंचित् ये दोनों आपेक्षिक सिद्ध नहीं हैं ।

उसी प्रकार योग इन दोनों को सर्वथा अनापेक्षिक ही मानता है सो भी ठीक नहीं है । कर्ता का व्यवहार कर्म के व्यवहार की अपेक्षा अवश्य रखता है क्योंकि कर्म के निश्चय पूर्वक ही कर्ता जाना जाता है । जैसे ज्ञानादि गुण धर्म हैं और जीवधर्मों है ये धर्म और धर्मों अपने-अपने स्वरूप से स्वतः सिद्ध हैं अतः परस्पर आपेक्षिक नहीं हैं । जीव का स्वरूप चैतन्य है और ज्ञान का स्वरूप जानना है । ये अपने-अपने स्वरूप में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हैं । किन्तु धर्मों के बिना धर्म अथवा धर्मों के बिना धर्मों नहीं रह सकते हैं अतः कथंचित् एक दूसरे की अपेक्षा से भी सिद्ध होते हैं ।

स्याद्वाद प्रक्रिया—कथंचित् धर्म और धर्मी आपेक्षिक सिद्ध हैं क्योंकि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं ।

कथंचित् ये दोनों अनापेक्षिक सिद्ध हैं क्योंकि इन दोनों का स्वरूप स्वतः सिद्ध है ।

कथंचित् ये दोनों आपेक्षिक और अनापेक्षिक दोनों रूप हैं । एक साथ दोनों अपेक्षाओं का कथन न हो सकने से कथंचित् ये अवक्तव्य हैं ।

क्रम से आपेक्षिक और युगपत् दोनों की विवक्षा होने से कथंचित् आपेक्षिक अवक्तव्य हैं । क्रम से अनापेक्षिक और युगपत् दोनों की विवक्षा से कथंचित् अनापेक्षिक अवक्तव्य हैं ।

क्रम से और युगपत् दोनों की विवक्षा होने से कथंचित् आपेक्षिक, अनापेक्षिक अवक्तव्य हैं ।

इस प्रकार स्याद्वाद के द्वारा ही वस्तुतत्त्व की सिद्धि होती है । इस पंचम परिच्छेद में ७३ से ७५ तक तीन कारिकाएं हैं ।

षष्ठ परिच्छेद

एकांतिक हेतुवाद और आगमवाद का खंडन—

बौद्ध हेतु से ही तत्त्व की सिद्धि मानते हैं, ब्रह्माद्वैतवादी आगम से ही परम ब्रह्म को सिद्ध करते हैं । वैशेषिक तथा बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों से ही तत्त्वों की सिद्धि मानते हैं । आचार्य इन सबका क्रम से खंडन करते हैं ।

बौद्ध—सभी उपेय तत्त्व हेतु से ही सिद्ध हैं प्रत्यक्ष से नहीं, क्योंकि जो युक्ति से घटित नहीं होता उसे हम देखकर भी श्रद्धा नहीं करते हैं ।

जैन—आपके यहां हेतु को ही प्रमाण मानने से तो प्रत्यक्ष, आगम आदि सभी अप्रमाण हो जावेंगे । पुनः अनुमान ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा तथा शास्त्र के उपदेश से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा और तब तो आपके बुद्ध भगवान भी अप्रमाण हो जावेंगे क्योंकि बुद्ध भगवान का ज्ञान हेतु से नहीं हो सकता है ।

ब्रह्माद्वैतवादी—सभी तत्त्व आगम से ही सिद्ध हैं क्योंकि अनुमान से सिद्ध भी वाक्य यदि आगम से बाधित है तो वह अप्राप्त्य है । जैसे “ब्राह्मण को मदिरा पीना चाहिये, क्योंकि वह द्रव द्रव्य है दूध के समान ।” यह कथन अनुमान से तो सिद्ध है किन्तु “ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्” इत्यादि आगम से बाधित है और हमारे यहां परम ब्रह्म भी तो आगम से ही सिद्ध है ।

जैन—इस प्रकार आगम को ही प्रमाण मानने पर तो आपके यहां अन्य लोगों द्वारा विरुद्ध अर्थ को कहने वाले आगम भी प्रमाण हो जावेंगे क्योंकि आगम-आगम रूप से तो सभी समान हैं । यदि आप अपने आगम को ही समीचीन कहो तो उसकी समीचीनता का निर्णय भी तो युक्ति-हेतु से ही किया जायेगा । तब आपका आगम भी तो हेतु सापेक्ष ही रहा अतः एकांत मान्यता ठीक नहीं है ।

वैशेषिक-सौगत—प्रत्यक्ष और अनुमान से ही तत्त्वों की सिद्धि होती है आगम से नहीं ।

जैन— यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि ग्रहों के संचार एवं चन्द्रग्रहण आदि ज्योतिष शास्त्र से ही सिद्ध हैं। अतः हेतु, आगम, प्रत्यक्ष और अनुमान इन सभी से ही उपेय तत्त्व सिद्ध होते हैं।

इन दोनों का निरपेक्ष उभयैकात्म्य भी श्रेयस्कर नहीं है। तथा स्याद्वाद के अभाव में अवाच्य तत्त्व कहना भी असंभव है।

स्याद्वाद सिद्धि— वक्ता के आप्त न होने पर जो हेतु से सिद्ध होता है वह हेतु साधित है। एवं वक्ता जब आप्त होता है तब उसके वाक्य से जो सिद्ध होता है वह आगम साधित है। “यो यत्र अवंचकः स तत्राप्तः” जो जिस विषय में अवंचक-अविसंवादक है वह आप्त है, इससे भिन्न अनाप्त है।

कथंचित् सभी वस्तुयें हेतु से सिद्ध हैं क्योंकि उनमें इंद्रिय और आप्त वचन की जपेक्षा नहीं है।

कथंचित् सभी आगम से सिद्ध हैं क्योंकि इंद्रिय और हेतु की अपेक्षा है।

कथंचित् उभय रूप हैं क्योंकि क्रम से दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् अवक्तव्य हैं क्योंकि युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् हेतु से सिद्ध और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से हेतु की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् आगम से सिद्ध और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से आगम की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् उभय रूप और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

जैन सिद्धांत में ‘प्रमाणनयैरधिगमः’ इस सूत्र के द्वारा प्रमाण और नयों से वस्तु तत्त्व को समझने का उपदेश दिया गया है। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा दो भेद हैं। इंद्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को कहीं (श्याय ग्रन्थों में) सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण हैं। इन सभी के द्वारा वस्तु तत्त्व को ठीक से समझना चाहिये। इस छोटे परिच्छेद में ७६ ७८ तक तीन कारिकायें हैं।

सप्तम परिच्छेद

अंतरंगार्थ एवं बहिरंगार्थ के एकांत का खंडन एवं स्याद्वाद सिद्धि

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध कहता है कि अंतरंगार्थ विज्ञानमात्र ही एक तत्त्व है। दिखने वाले बहिरंग पदार्थ कुछ भी नहीं हैं ये तो कल्पनामात्र हैं। ये सब बाह्य पदार्थ इंद्रजालिया खेल के समान हैं अथवा स्वप्न के राज्य के समान हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि आपकी इस एकांत मान्यता से तो हेतु और आगम से सिद्ध मोक्ष तत्त्व एवं अनुमान, आगम आदि सभी प्रमाण आदि मिथ्या हो जायेंगे। बाह्य पदार्थ भी जो प्रत्यक्ष में दिख रहे हैं वे सर्वथा काल्पनिक नहीं हैं अन्यथा नर, नारकादि पर्यायों और उनके निमित्त से होने वाले सुख-दुःख भी काल्पनिक ही कहे जायेंगे और तब संसार भी काल्पनिक ही सिद्ध होगा तथा संसारपूर्वक होने वाला मोक्ष भी काल्पनिक ही रहेगा। इस व्यवस्था से तो आपके बुद्ध भगवान को काल्पनिक कहने पर तो मोक्ष भी काल्पनिक एवं आपका मत भी काल्पनिक ही हो जायेगा।

कोई बाह्य पदार्थवादी कहते हैं कि—

जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे सब ज्ञान से सम्बन्धित हैं क्योंकि ज्ञान विषयाकार होता है अतः बाह्य पदार्थ ही वास्तविक हैं ज्ञान स्वतन्त्र कोई चीज नहीं है ।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि यदि आप सभी पदार्थों को ज्ञान से सम्बन्धित मानेंगे तब तो प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही समाप्त हो जायेंगे । तृण के अग्र भाग पर सौ हाथी बैठे हैं । इत्यादि ऊटपटांग वाक्यों का ज्ञान एवं स्वप्न का ज्ञान अपने-अपने पदार्थ से सम्बन्धित नहीं है । क्योंकि इन ज्ञानों में विसंवाद देखा जाता है ।

इन अंतरंग—ज्ञानतत्त्व और बहिरंग—बाह्य पदार्थ को परस्पर निरपेक्ष मानने वाले उभयैकात्म्य वादी का सिद्धान्त भी विरुद्ध ही है । उसी प्रकार से दोनों तत्त्वों को एकांत से अवाच्य मानना भी अघटित ही है ।

स्याद्वाद की अपेक्षा अंतरंग और बहिरंग दोनों ही तत्त्व वास्तविक हैं । सभी ज्ञान, स्वरूपसंवेदन की अपेक्षा से एवं सत्त्व, प्रमेयत्ववादि की अपेक्षा से प्रमाण रूप ही है । अतएव अंतःप्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणाभास कुछ भी नहीं है किन्तु जब बहिःप्रमेय—बाह्य पदार्थों को प्रमेय करते हैं तब ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं । इसलिये अंतस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व दोनों ही सिद्ध हैं ।

जीव के अस्तित्व की सिद्धि—

चार्वाक—जीव अपने स्वरूप से रहित है, वह शरीर इंद्रिय आदि के समूहरूप ही है । जन्म के पूर्व और मरण के अनंतर चैतन्य नामक कोई तत्त्व नहीं है अतः अनादिनिधन कोई आत्मा नहीं है । चैतन्य भी सत् है और भूतचतुष्टय भी सत् है । सत् रूप से दोनों समन्वित हैं अतः जीव भूतचतुष्टय से उत्पन्न होता है किन्तु भूत-चतुष्टय तो परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं । उन चारों में एक विकारी समन्वय नहीं है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों तत्त्व भिन्न-भिन्न ही हैं ।

जैनाचार्य—यह आपका कथन सर्वथा असत् है । जीव गया, जीव विद्यमान है, इत्यादि रूप से यह जीव शब्द लोक व्यवहार का आश्रय लेता है । यह व्यवहार शरीर इंद्रिय आदि में नहीं हो सकता है । वैसे ही जन्म से पहले और मरण के अनंतर भी चैतन्य का अस्तित्व सिद्ध है, किसी को जातिस्मरण होता हुआ देखा जाता है, बालक माता का स्तनपान करता है इत्यादि बातें भी संस्कार से मानी जाती हैं । आपने जो भूत-चतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानी है वह भी सर्वथा गलत है क्योंकि अचेतन से चेतन की उत्पत्ति होना असंभव है तथा ये चारों भूत चतुष्टय परस्पर में सजातीय होने से एक दूसरे रूप भी परिणत हो सकते हैं इसलिये ये सर्वथा भिन्न-भिन्न भी नहीं हैं । चन्द्रकांतमणि रूप पृथ्वीकायिक से जल की उत्पत्ति, सूर्यकांत से अग्नि की उत्पत्ति आदि तथा जल बिन्दु से सीप में मोती की उत्पत्ति आदि देखी जाती हैं अतः अनादिनिधन जीव तत्त्व सिद्ध है वह ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वभाव वाला है ।

ऐसे ही सांख्य जीव को कूटस्थ नित्य अपरिणामी ज्ञानशून्य मानते हैं । वे ज्ञान को प्रकृति (जड़) का धर्म मानते हैं । योग जीव को स्व-संवेदन ज्ञान के द्वारा नहीं जानने योग्य—अस्वसंविदित मानते हैं । ब्रह्मवादी कहते हैं कि सभी शरीरों में एक अभिन्न रूप (परमब्रह्म) जीवात्मा है । बौद्ध आत्मा को प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न ही मानते हैं । इन सबके द्वारा जीव शब्द बाह्यार्थ सहित नहीं है क्योंकि यह सब मान्यता केवल कपोलकल्पित ही है ।

इस प्रकार जीव तत्त्व की सिद्धि हो जाने से अंतरंग तत्त्व सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार से बाह्य पदार्थ भी परमार्थ सत्य हैं क्योंकि साधन और दूषण का प्रयोग देखा जाता है। बाह्य पदार्थ के होने पर ही ज्ञान एवं शब्द प्रमाणरूप हैं, बाह्य पदार्थ के अभाव में प्रमाणभूत नहीं हैं। इस तरह से अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से ही सत्य और असत्य की व्यवस्था हो जाती है।

सार यह है कि जीव तत्त्व वास्तविक है अन्यथा 'न जीवः अजीवः' इस नियम से अजीव का अस्तित्व भी समाप्त हो जावेगा। तथा जीव के बिना बाह्य पदार्थों को बतलाने वाला भी कोई नहीं रहेगा अतः जीव तत्त्व की निर्बाध सिद्धि हो जाने से बाह्य पदार्थ भी निर्बाध रूप से सिद्ध हो जाते हैं।

इस सप्तम परिच्छेद में ७९ से ८७ तक ९ कारिकाएँ हैं।

अष्टम परिच्छेद

देव के एकांत का खंडन—

कोई मीमांसक भाग्य से ही सभी कार्यों की सिद्धि मानते हैं। चार्वाक पुरुषार्थ से ही सभी कार्यों की सिद्धि कहते हैं। कोई विशेष मीमांसक स्वर्गादि को भाग्य से एवं कृषि आदि को पुरुषार्थ से मानते हैं और कोई शीघ्र लोग कार्यों की सिद्धि में इन दोनों को भी न मानकर अवक्तव्य से ही सिद्धि मानते हैं।

यहाँ सबसे प्रथम भाग्यैकांत पक्ष का निराकरण करते हैं—

मीमांसक—सभी कार्य भाग्य से ही सिद्ध होते हैं पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता है।

जैन—तब तो पुण्य और पापरूप आचरण के द्वारा भाग्य का निर्माण कैसे होता है ?

मीमांसक—पूर्व-पूर्व के भाग्य से ही आगे-आगे के भाग्य का निर्माण होता है, न कि पुण्य-पाप आदि आचरणों से।

जैन—तब तो इस प्रक्रिया से पूर्व-पूर्व के भाग्य से आगे-आगे के भाग्य का निर्माण होते रहने से भाग्य का अभाव कभी भी नहीं हो सकेगा और तब तो मोक्ष कभी नहीं हो सकेगी। तथा मोक्ष के लिये किये गये पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जावेगे।

मीमांसक—पुरुषार्थ से भाग्य का निर्मूल नाश हो जाता है इसलिये मोक्ष की सिद्धि और उसके पुरुषार्थ सफल हैं।

जैन—तब तो आपने भी पुरुषार्थ को तो मान ही लिया, पुनः भाग्य का एकांत कहाँ रहा ?

पुरुषार्थ के एकांतवाद का निराकरण

चार्वाक—सभी कार्य पुरुषार्थ से ही सिद्ध होते हैं।

जैन—यह भी एकांत ठीक नहीं है क्योंकि एक साथ अनेकों जन खेती करते हैं किन्तु किसी को विशेष लाभ और किसी को हानि भी होती हुई देखी जाती है किन्तु पुरुषार्थ तो सभी के समान हैं पुनः ऐसा अन्तर क्यों है ?

इसलिये एकांत से पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि मानना गलत है ।

कोई-कोई दैव और पुरुषार्थ दोनों को मान करके भी दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है ।

एकांत से अवक्तव्य मानने पर भी स्ववचन विरोध आता है । अतएव स्याद्वाद की पद्धति से वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है—

“अबुद्धिपूर्वपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।

बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्” ॥६१॥

बिना विचारे अनायास ही जब अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य सिद्ध हो जाते हैं तब उनमें भाग्य की प्रधानता है और जब बुद्धिपूर्वक अनुकूल या प्रतिकूल कार्यों की सिद्धि होती है तब उनमें पुरुषार्थ की प्रधानता है । ये भाग्य और पुरुषार्थ एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले होने से ही सम्यक् कहलाते हैं अन्यथा परस्पर निरपेक्ष होने से मिथ्या एकांतरूप हो जाते हैं अतः ये दोनों सापेक्ष ही कार्यों की सिद्धि में समर्थ होते हैं ऐसा समझना ।

सप्तभंगी प्रक्रिया—

१. कथंचित् सभी कार्य दैवकृत होते हैं क्योंकि अनायास ही सिद्ध हुये हैं ।
२. कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थकृत होते हैं क्योंकि बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से सिद्ध हुये हैं ।
३. कथंचित् सभी कार्य भाग्य और पुरुषार्थ दोनों कृत हैं क्योंकि दोनों की विवक्षा है ।
४. कथंचित् सभी कार्य अवक्तव्य हैं क्योंकि इन दोनों को एक साथ कह नहीं सकते हैं ।
५. कथंचित् दैवकृत और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से दैव की और युगपत् दोनों की विवक्षा है ।
६. कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थकृत और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से पुरुषार्थ और युगपत् दोनों की विवक्षा है ।
७. कथंचित् सभी कार्य दैव और पुरुषार्थकृत तथा अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से दोनों की और युगपत् दोनों की विवक्षा है ।

इस प्रकार स्याद्वाद की अपेक्षा से भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही सापेक्ष होकर कार्य साधक होते हैं अन्यथा नहीं, ऐसा समझना चाहिये ।

इस परिच्छेद में ८८ से ९१ तक चार कारिकाएं हैं ।

नवम परिच्छेद

पुण्य और पाप के एकांत का निराकरण —

भाग्य दो प्रकार का है । एक पुण्य और दूसरा पाप । वही प्राणियों के सुख और दुःख का कारण है ।

“सद्देव्य शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं, इतरत्पापं” सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र ये पुण्यरूप हैं और इनसे विपरीत असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच गोत्र तथा चारों चातिया कर्म ये पापरूप हैं ।

कोई एकांत से कहता है कि पर जीवों में दुःख उत्पन्न करने से पाप एवं पर में सुख उत्पन्न करने से पुण्य ही होता है। तो आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की मान्यता से तो अचेतन दूध, घी आदि पदार्थ अन्य जीवों को सुख उत्पन्न करते हैं इसलिए उनके पुण्यबन्ध मानना पड़ेगा और विष, कंटक आदि पदार्थ दुःख उत्पन्न करते हैं उनके पाप बन्ध मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि चेतन ही बन्ध के योग्य है अचेतन नहीं, तो भी वीतरागी मुनिराज के पर के सुख-दुःख के निमित्त से कर्मों का बन्ध होने लगेगा अर्थात् कोई महामुनि ध्यान में लीन हैं उन्हें देखकर भक्तजन प्रसन्न हो जाते हैं और अज्ञानीजन निन्दा करते हैं उनसे दुःख अनुभव करते हैं। इस तरह ये परजीवों के सुख-दुःख में निमित्त तो हो रहे हैं किन्तु स्वयं वीतरागी हैं इनके भी कर्मबन्ध मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि उन मुनिराज का वैसा सुख-दुःख देने का मनो अभिप्राय नहीं है तब तो पर में सुख-दुःख करने से ही पुण्य-बंध और पाप-बंध होता है ऐसा आपका एकांत कहाँ रहा ?

इससे विपरीत कोई कहता है कि अपने में दुःख को उत्पन्न करने से पुण्य एवं सुख को उत्पन्न करने से पाप बन्ध ही होता है। इस पर भी आचार्य कहते हैं कि ऐसा एकांत भी श्रेयस्कर नहीं है। देखो ! यदि ऐसा ही एकांत मानोगे तो वीतरागी मुनिराज त्रिकाल योग के अनुष्ठान से और उपवास आदि से अपने में दुःख उत्पन्न करते हैं तो इन्हें पुण्य बन्ध हो जावेगा और विद्वान् मुनिजन तत्त्वज्ञान से उत्पन्न संतोष लक्षण सुख को अपने में प्राप्त करते हैं तो उन्हें पाप का बंध मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि आसक्ति नहीं है अतएव ये वीतरागी और विद्वान् मुनिराज पुण्य-पाप से नहीं बन्धते हैं तब तो तुम्हारा एकान्त समाप्त हो जाता है और यदि एकान्त लेते हो तब तो कषाय रहित वीतराग छन्नस्थ महामुनि को भी बंध होने लगेगा, पुनः कदाचित् भी पुण्य-पाप का अभाव न होने से किसी को भी मुक्ति नहीं मिल सकेगी।

कोई-कोई लोग एकांत से परस्पर निरपेक्ष उपर्युक्त दोनों बातों को मानते हैं, इस पर भी आचार्यश्री का कहना है कि यह उभयैकात्म्य भी परस्पर में विरुद्ध होने से ठीक नहीं है। उसी प्रकार से कोई लोग इन पुण्यपाप के बन्ध की व्यवस्था को एकांत से अवाच्य कह देते हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि एकान्त से अवाच्य के मानने पर पुनः उसे 'अवाच्य' इस शब्द से वाच्य कर देने पर तो स्ववचन बाधित दोष आता है अतः यह अवाच्य एकांत पक्ष भी गलत ही है।

अब आचार्य इन पुण्य-पाप के विषय में सही मान्यता को स्पष्ट करते हैं—

विशुद्धि के कारण, कार्य और स्वभाव ये विशुद्धि के अंग कहलाते हैं और संक्लेश के कारण, कार्य तथा स्वभाव संक्लेश के अंग कहे जाते हैं। इस विशुद्धि के निमित्त से होने वाला सुख अथवा दुःख चाहे निज में हो, चाहे पर में हो अथवा चाहे उभय में हो, वही पुण्याश्रय का हेतु है। उसी प्रकार संक्लेश के निमित्त से होने वाला सुख अथवा दुःख चाहे अपने में हो, चाहे पर में हो या उभय में हो वही पापाश्रय का हेतु है।

प्रश्न—संक्लेश क्या है ? एवं विशुद्धि क्या है ?

उत्तर—आर्त और रौद्र ध्यान को संक्लेश कहते हैं। एवं धर्म तथा शुक्ल ध्यान को विशुद्धि कहते हैं। उनमें भी आर्तध्यान के इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज, वेदनाजन्य और निदान ऐसे चार भेद हैं और रौद्र ध्यान के भी हिंसानदी, मृषानदी, चौरानदी और परिग्रहानदी ऐसे चार भेद हैं। तथा मिथ्यादर्शन^१,

१. तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ८ सूत्र १।

अवरति, प्रमाद, कषाय और योग, —ये बंध के हेतु कहे गये हैं। ये पाँचों ही संक्लेश परिणाम कहलाते हैं। संक्लेश के अभाव में सम्यग्दर्शन आदि के निमित्त से विशुद्ध होती है। उन धर्म शुक्ल ध्यान रूप विशुद्धि के द्वारा आत्मा में स्थिरता का होना सम्भव है।

“विवाद की कोटि को प्राप्त काय आदि की क्रियाएं स्वपर में सुख अथवा दुःख हेतुक संक्लेश की कारण हैं या कार्य हैं या स्वभाव हैं, तो वे प्राणियों में अशुभ फलादायी पुद्गलपरमाणुओं के सम्बन्ध में हेतु हैं क्योंकि वे संक्लेश की कारण हैं, जैसे विषभक्षण आदि।” वैसे ही “विवाद की कोटि को प्राप्त कायादि क्रियाएं स्वपर में सुख या दुःख हेतुक भले ही हों, यदि वे विशुद्धि की कारण है या कार्य हैं या स्वभाव हैं तो वे प्राणियों को शुभफलदायी पुद्गलवर्णनाओं का सम्बन्ध कराने में हेतुक हैं, क्योंकि वे विशुद्धि का अंग हैं, जैसे पच्य आहार आदि।”

स्याद्वाद सिद्धि—अब आचार्य सप्त भंगी प्रक्रिया के द्वारा स्याद्वाद को सिद्ध करते हैं —

कथंचित् स्वपर में स्थित सुख या दुःख पुण्यास्रव के हेतु हैं, क्योंकि वे विशुद्धि के अंग हैं।

कथंचित् स्वपर में स्थित सुख या दुःख पास्रव के हेतु हैं, क्योंकि वे संक्लेश के अंग स्वरूप हैं।

कथंचित् स्वपर में स्थित सुख और दुःख पुण्यास्रव और पापास्रव दोनों में हेतु हैं, क्योंकि क्रम से दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् अवक्तव्यरूप है, क्योंकि युगपत् दोनों को कह नहीं सकते हैं।

कथंचित् पुण्यास्रव हेतुक और अवक्तव्य रूप है, क्योंकि क्रम से विशुद्धि की और एक साथ दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् पापास्रव हेतुक और अवक्तव्य रूप है, क्योंकि क्रम से संक्लेश की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् उभय रूप और अवक्तव्य रूप है, क्योंकि क्रम से दोनों की और युगपत् दोनों की अपेक्षा है।

यहाँ निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि धर्म ध्यान आदि रूप विशुद्ध परिणामों से किसी को या अपने को दुःख भी हो जाता है जैसे उपवास आदि कराने में या शिष्यों को हित के लिये फटकारने में दुःख भी है फिर भी पुण्यास्रव ही होगा और यदि आतंरीय ध्यान के निमित्त से परिणामों में संक्लेश हो रहा है तो चाहे अपने में, चाहे पर को सुख भी क्यों न हो परन्तु उससे पाप का आस्रव ही होता है। इसलिये परिणामों को विशुद्ध बनाना चाहिये।

इस नवम् परिच्छेद में ६२ से ६५ तक ४ कारिकाएँ हैं।

दशम् परिच्छेद

अज्ञान से बंध और ज्ञान से मोक्ष के एकांत का विचार—

साध्य का कहना है कि अज्ञान से ही बंध होता है और ज्ञान से ही मोक्ष होता है। इस पर जैनाचार्य का कहना है कि यदि आप अज्ञान से बंध अवश्यंभावी मानोगे तो ज्ञेयपदार्थ तो अनन्त हैं। पुनः उनको जानने वाला कोई नहीं हो सकेगा और यदि अल्पज्ञान से ही मोक्ष मानो तो बचे हुए अवशिष्ट अज्ञान से मोक्ष हो जावेगा। अथवा सभी प्राणियों में कुछ न कुछ ज्ञान सम्भव ही है, अतः सभी जीव मुक्त हो जावेंगे।

नैयायिक का कहना है कि दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान का उत्तरोत्तर अभाव हो जाने से मोक्ष हो जाती है, क्योंकि दुःखादिकों का अभाव तत्त्वज्ञान पूर्वक ही होता है। मिथ्याज्ञान से दोषों की उद्भूति अवश्य होती है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि मिथ्याज्ञान का सम्पूर्णतया अभाव कैसे होगा? पुनः मिथ्याज्ञान से दोष आदि परम्परा चलती ही रहेगी।

स्याद्वाद का आश्रय लेने वाले जैनाचार्यों का कहना है कि जो एकांत से यह कहा जाता है कि अज्ञान से बन्ध और ज्ञान से मोक्ष होता है, सो असम्भव है क्योंकि सभी को किसी न किसी विषय में अज्ञान तो है ही; पुनः किसी को मोक्ष हो ही नहीं सकेगा। इसलिये वास्तविक बात तो यह है कि मोह सहित अज्ञान से बन्ध होता है और मोह रहित-रागद्वेषादि कषायों से रहित अज्ञान अर्थात् अल्पज्ञान से मोक्ष होता है। क्योंकि मोहकर्म रहित उपशांत कषाय और क्षीणकषाय वाले ऐसे ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में यद्यपि अज्ञान है, फिर भी उनके बन्ध नहीं होता है, इन दोनों गुणस्थानों में केवलज्ञान न होने से अज्ञान ही है। वस्तुतः केवलज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प ही हैं। वह अल्पज्ञान मोह रहित छद्मस्थ वीतरागी के चरम समय में विद्यमान है, उसी से ही उत्तर क्षण में तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है जिसे कि आर्हत्य लक्षण अपरमोक्ष कहते हैं। किन्तु मिथ्यादृष्टि से लेकर दशवें गुणस्थान तक मोह सहित ज्ञान कर्म बन्ध का ही कारण है।

स्याद्वादसिद्धि—अतः स्याद्वाद प्रक्रिया से समझना चाहिये—

१. कथंचित् अज्ञान से बन्ध होता है, क्योंकि वह मिथ्यात्व, कषायादि से सहित है।
२. कथंचित् अज्ञान से बन्ध नहीं होता है, क्योंकि वह मिथ्यात्व, कषायादि से रहित है।
३. कथंचित् अज्ञान से बन्ध होता है और नहीं होता है, क्योंकि क्रम से मिथ्यात्वादि सहित और रहित दोनों की विवक्षा है।
४. कथंचित् अवक्तव्य है क्योंकि दोनों अपेक्षाओं को एक साथ कह नहीं सकते हैं।
५. कथंचित् अज्ञान से बन्ध और अवक्तव्य है, क्योंकि क्रम से मोह सहित की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।
६. कथंचित् अज्ञान से अबन्ध और अवक्तव्य है, क्योंकि क्रम से मोह रहित और युगपत् दोनों की अपेक्षा है।
७. कथंचित् अज्ञान से बन्ध और अबन्ध तथा अवक्तव्य है, क्योंकि क्रम से मोहसहित और मोहरहित की तथा युगपत् दोनों की अपेक्षा है।

इसी प्रकार से मोहसहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं होता है। तथा मोहरहित अल्पज्ञान से भी मोक्ष होता है इसमें भी सप्तभंगी प्रक्रिया घटित करना चाहिये।

प्रमाण और नय

हे भगवन् ! आपके सिद्धान्त में तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है। उसमें युगपत् सभी पदार्थों का अवभासन-प्रकाशन करने वाला केवलज्ञान है और स्याद्वाद नय से संस्कृत मति, श्रुत आदि शेष ज्ञान क्रमभावी हैं। यहाँ पर

तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहने से अज्ञान, निराकार दर्शन और संशय आदि ज्ञान, इन सबका निराकरण हो जाता है। इस प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐसे दो भेद होने से परोक्ष के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम, ये ज्ञान भी प्रमाण रूप हैं।

केवलज्ञान का फल तो उपेक्षा है। शेष ज्ञानों का फल ग्रहण करना, त्याग करना तथा उपेक्षा करना इन तीनों रूप है अथवा अपने-अपने विषय में अज्ञान का अभाव होना ही ज्ञान का फल है।

हे भगवन् ! आपके यहां 'स्यात्' यह पद निपात से सिद्ध है। वाक्यों में अनेकांत को उद्योतित करने वाला है एवं अपने अर्थ से सहित होने से अर्थ के प्रति समर्थ विशेषण है। यह अनेकांत सत्, असत्, नित्य, अनित्य आदि रूप सर्वथा एकांत का निराकरण करने वाला है। जैसे 'स्याज्जीवः' ऐसा कहने से उसका प्रतिपक्षी अजीव भी जान लिया जाता है। सर्वथा एकांत के त्याग से ही स्याद्वाद होता है। 'कथंचित्' आदि शब्द इसी के पर्यायवाची हैं, यह सप्तभंगों की अपेक्षा करके स्वभाव और परभाव के द्वारा वस्तु के सत्-असत् आदि धर्मों की व्यवस्था करता है।

विरोध रहित स्याद्वादरूप आगम प्रमाण के द्वारा विषय किये गये पदार्थ विशेष का जो व्यंजक है, वह नय कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा जानने योग्य अर्थ का ज्ञान होता है, वह नय है।

अनेक रूप अर्थ को विषय करने वाला अनेकांत रूप ज्ञान प्रमाण है। अन्य धर्मों की अपेक्षा करते हुए वस्तु के एक अंश का ज्ञान नय है और अन्य धर्मों का निराकरण करके वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला दुर्नय है, क्योंकि यह विपक्ष का विरोध होने से केवल स्वपक्ष मात्र का दृष्टाग्रही है। यदि कोई कहे कि मिथ्या-एकांत का समुदाय मिथ्यारूप ही है, तो हमने ऐसा नहीं माना है, हमारे यहाँ निरपेक्ष नय मिथ्या है और उनका समूह भी मिथ्या ही है। यदि वे ही नय सापेक्ष हैं तो सम्यक् हैं, वास्तविक हैं।

नय के मूल में दो भेद हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक। इन दो के ही सात भेद हो जाते हैं—नैगम, संप्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। जो द्रव्य को ही विषय करे, जिसकी दृष्टि में पर्यायें गीण हो, वह द्रव्याधिक नय है तथा जो पर्याय मात्र को विषय करे, वह पर्यायाधिक नय है। जैसे द्रव्याधिक नय से जीव नित्य है जन्ममरण से रहित है तथा पर्यायाधिक नय से जीव अनित्य है। उसकी पर्यायों का उत्पाद विनाश होने से वह जीव से भिन्न नहीं है।

स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा रखने वाला है, हेय और उपादेय के भेद को करने वाला है तथा सभी तत्त्वों को केवलज्ञान के समान प्रकाशित करता है।

“स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने । भेदः साक्षादसाक्षाच्च द्रव्यस्त्वन्यतमो भवेत् ॥१०५॥

अर्थ— स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि केवलज्ञान साक्षात् सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करता है और स्याद्वाद असाक्षात्-परोक्षरूप से प्रकाशित करता है—स्याद्वाद आगम परोक्षरूप से सभी पदार्थों का ज्ञान करा देता है। यहाँ पर 'सर्व' इस पद से उनकी सम्पूर्ण गुण पर्यायों को नहीं लेना चाहिये। क्योंकि 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का विषय सभी द्रव्य और उनकी कुछ-कुछ पर्यायें हैं, ऐसा सूत्रकार का वचन है, अतः प्रमाण का विषय धर्मों-तरों को ग्रहण करना है, नयों का विषय धर्मों-तरों का त्याग करना है, क्योंकि प्रमाण से सत्-असत् स्वभाव का ज्ञान होता है, नय से तत्-एक अंश का ज्ञान होता है तथा दुर्नय से अन्य का निराकरण करके निरपेक्ष एक अंश का ज्ञान होता है। इसलिये—

हे भगवन् ! जिन्हें हमने निर्दोष रूप से निश्चित किया है वे निर्दोष आप्त आप ही हैं क्योंकि आपके वचन, मुक्ति और शास्त्र से अविरोधी हैं। आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता कर्मभूमत् के भेत्ता एवं विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सिद्ध हैं, इस कारण से आप ही भगवान् अर्हत, सर्वज्ञ सिद्ध हैं, स्याद्वाद के नायक हैं, यह बात सिद्ध हो गई।

इस प्रकार से हित की इच्छा करने वालों के लिये मैंने यह आप्त की मीमांसा कही है जो कि सम्यक् मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष को समझने के लिये है।

यहाँ पर अष्टसहस्री ग्रन्थराज के कुछ सरल और मधुर प्रकरणों को साररूप में समझाने का प्रयास किया गया है। जो विशेष जिज्ञासु हैं, उन्हें हिन्दी अनुवाद सहित इस अष्टसहस्री ग्रन्थ का स्वाध्याय करना चाहिये। स्याद्वाद के रहस्य को समझने के लिये यह एक अनूठा ग्रन्थ है।

इस दशम् परिच्छेद में ६६ से ११४ तक २० कारिकाएँ हैं।

हिन्दी अनुवाद—

मूल अष्टसहस्री जो कि “निर्णयसागर” प्रेस बम्बई से सन् १९१५ में छपी थी, उसी ग्रन्थ के आधार से मैंने सन् १९६६ में हिन्दी अनुवाद करना प्रारम्भ किया था। इस मुद्रित प्रति में संस्कृत टिप्पण बहुत से हैं। अनुवाद के समय मैंने इन टिप्पणियों का अच्छा उपयोग किया है।

अनुवाद पूर्ण होने के बाद सन् १९७२ में मुझे ब्यावर के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन से अष्टसहस्री ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई। इस प्रति से भी मैंने कुछ पाठांतर व टिप्पण निकाले। पुनः दिल्ली आकर सन् १९७३ में मुझे ‘नया मन्दिर’ दिल्ली के ग्रन्थ भण्डार से अष्टसहस्री ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति और उपलब्ध हुई। इसमें से भी कुछ विशेष टिप्पण लेकर अष्टसहस्री के प्रथम भाग में जोड़ दिये थे। पुनः प्रोफेसर श्रेयांसकुमार से मैंने इस हस्तलिखित प्रति से प्रायः सारी टिप्पणियाँ निकलवायीं थीं।

द्वितीय भाग में लगभग १०० पेजों तक तो मुद्रित और हस्तलिखित दोनों प्रतियों की टिप्पणियाँ छपाई गईं। आगे टिप्पणियों की विशेष ही बहुलता देखकर यह निर्णय लिया गया कि मुद्रित प्रति की टिप्पणियों को छोड़ दिया जाये और हस्तलिखित ब्यावर, दिल्ली से प्राप्त दो प्रतियों की टिप्पणियाँ ही दी जावें, इनमें से भी दिल्ली प्रति से प्राप्त टिप्पणियाँ कुछ बहुत ही बड़ी-बड़ी थीं, उन्हें भी छोड़ दिया गया है। इस तृतीय भाग में तो मात्र ब्यावर और दिल्ली से उपलब्ध प्रतियों के ही पाठांतर व खास-खास टिप्पण दिये गये हैं।

दिल्ली प्रति में टिप्पण के अन्त में दो श्लोक आये हैं, उनके बाद जो समाप्ति सूचक वाक्य हैं, उससे ऐसा निश्चित होता है कि “श्री समंतभद्र” नाम से कोई अन्य मुनि और हुए हैं जिन्होंने अपने को “लघु समंतभद्र” कहा है। उन्हीं के द्वारा ये टिप्पणियाँ बनाई गई हैं। यथा—

विद्यानंदकृते प्रवादमखिलं निर्मूलयन्त्या भृशं, विद्यानंदकृतेः पदस्य विवृत्ति गूढस्य संक्षेपतः ।

विद्यानंदकृते व्यरोरचमलं बिद्वज्जनालंकृते, शक्त्याहं हि समंतभद्रमुनयो देवागमालंकृते ॥१॥

शिष्टीकृतदुर्दृष्टिसहस्री, दृष्टिकृतपरदृष्टिसहस्री ।

स्पष्टीकृतादिष्टसहस्रीमरमाविष्टपमष्टसहस्री ॥२॥

अनुवाद की पूर्ति—

इस ग्रन्थ का अनुवाद मैंने जयपुर के ईस्वी सन् १९६६ के चातुर्मास में प्रारम्भ किया था जबकि मैं आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के संघस्थ कई एक मुनियों को, आर्यिकाओं को तथा ब्रह्मचारी आदि को अष्टसहस्री ग्रंथ पढ़ा रही थी। इसके हिन्दी अनुवाद के समय संघस्थ मोतीचन्द जैन की विशेष प्रार्थना रही है और साथ ही विद्वान श्री भंवरलाल जी न्यायतीर्थ पं० इन्द्रलालजी शास्त्री आदि की भी विशेष प्रेरणा रही है। ईस्वी सन् १९७० के टोंक (राजस्थान) के चातुर्मास के बाद पौष शुक्ला १२ के दिन टौडारार्यसिंह (राजस्थान) में भगवान् पार्श्वनाथ के मन्दिर में बैठकर मैंने इस महान् ग्रन्थ का अनुवाद पूर्ण किया था। उस समय श्रावकों ने भक्ति से प्रेरित हो मूलग्रंथ और अनुवादित कावियों को चौकी पर विराजमान कर श्रुतस्कंध विद्यान की पूजा सम्पन्न की।

अनंतर पौष शुक्ला १५ के दिन आचार्य श्री धर्मसागर जी के जयंती समारोह के उपलक्ष्य में रथयात्रा के साथ पालकी में इस ग्रन्थ को व कावियों को विराजमान कर उनकी शोभा यात्रा सम्पन्न हुई थी। इसके बाद ईस्वी सन् १९७४ में इस अष्टसहस्री ग्रंथ के प्रथम भाग का प्रकाशन होकर दिल्ली में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज और आचार्य प्रवर श्री धर्म सागर जी महाराज, इन दोनों के विशाल संघों के सानिध्य में तथा मुनिश्री विद्यानन्द जी महाराज व मेरे संघ सानिध्य में इसका विमोचन समारोह सम्पन्न हुआ था।

शेष भागों का प्रकाशन—

ईस्वी सन् १९८७ में अष्टसहस्री के द्वितीय आदि भागों के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। द्वितीय भाग के छपते ही प्रथम भाग जो कि पहले छप चुका था, उसकी कुछ ही प्रतियां शेष रही थीं। अतः प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण भी छपाया गया और साथ ही शेष बचे तृतीय भाग को भी प्रेस में दे दिया गया। इस महान् ग्रन्थराज का अनुवाद कार्य सन् १९७० में पूर्ण हुआ था और आज सन् १९९० में यह पूर्ण ग्रन्थ तीन भागों में छप चुका है बीस वर्ष के बाद इसके तीन भागों के छपने का योग आया। इस बीच सन्मार्ग दिवाकर तीर्थोद्धारक शिरोमणि आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज ने तथा अन्य अनेक साधुओं ने व पं० कैलाशचन्द सिद्धान्त शास्त्री, डा० दरबारीलाल कोठ्या, डा० लाल बहादुर जी शास्त्री, डा० पन्नालाल जी साहिस्थाचार्य आदि अनेक विद्वानों ने बहुत बार कहा था कि “माताजी ! इस अष्टसहस्री ग्रन्थ को जल्दी ही पूरा प्रकाशित कराइये।”

आज प्रसन्नता की बात है कि अष्टसहस्री का प्रथम भाग “वीरज्ञानोदय ग्रंथमाला” का प्रथम पुष्प था और यह तृतीय भाग इस ग्रंथमाला का सोवां (१००वां) पुष्प जो कि कली के रूप में रखा था, वह विकसित हो रहा है।

ग्रन्थ की विशेषता—

इस ग्रंथ में चार आचार्यों की रचनाएँ हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् रूप में टाइप बदलकर दिखाया गया है। श्री समंतभद्र स्वामी की कारिकाओं को २४ नं० काला (ब्लैक) टाइप में लिया गया है। अष्टशती को १६ नं० काला (ब्लैक) में लिया है और अष्टसहस्री को १६ नं० सफेद (व्हाइट) में लिया है तथा ‘टिप्पण’ और ‘शीर्षक’ को १२ नं० सफेद में दिया गया है।

इसकी हिन्दी सर्वत्र ४ नं० सफेद है और अष्टशती की हिन्दी को पृथक् दिखलाने के लिये ४ नं० काले (ब्लैक) में अक्षर लिये हैं ।

इस ग्रंथ में जितने भी शीर्षक हैं, वे सब मेरे द्वारा बनाये गये हैं इसीलिये इन्हें कोष्ठक में (ब्रैकेट) में दिया गया है ।

ग्रन्थ में आये हुए जितने भी उद्धृत श्लोक हैं, उनकी टाइप बदली है, पुनः उन श्लोकों को संकलित करके परिशिष्ट में दिया है ।

इस ग्रन्थ के अनुवाद में शब्दशः अर्थ करके यथा स्थान भावार्थ और विशेषार्थ देकर विषय को स्पष्ट करने प्रयास किया गया है तथा प्रायः प्रकरणों के पूर्ण होने पर उन-उन विषयों के सारांश दिये गये हैं । इसीलिये मैंने इस हिन्दी टीका का "स्याद्वादचित्तमणि" यह नाम दिया है ।

ग्रन्थ की दुरूहता —

यह ग्रन्थ कितना दुरूह है, कितना क्लिष्ट है और इसका विषय भी कितना कठिन है ? इसके लिये इस ग्रन्थ के अन्त में लिखा हुआ है कि—

कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्री यमत्र मे पुष्यात् ।

शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवद्धं मानार्था ॥

अर्थात् यह अष्टसहस्री कष्टसहस्री है—हजारों कष्टों के द्वारा समझ में आने वाली है और हजारों मनोरथों को सफल करने वाली है ।

शुभाशीर्वाद—

पीठाधीश्वर क्षुल्लक मोतीसागर जी ने तीनों भागों के मूल संस्कृत, टिप्पण आदि के प्रूफ संशोधन में बहुत ही श्रम किया है, क्योंकि इतने महान् और दार्शनिक ग्रन्थ के संशोधन की क्षमता हर किसी में आना सहज नहीं था । क्षुल्लकजी की यह सरस्वती भक्ति ही रही है । टिप्पणियों का प्रूफ व्याकरण की शुद्धि की दृष्टि से प्रायः मुझे ही देखना पड़ा है । ब० रवींद्र कुमार ने भी इन ग्रन्थों के प्रकाशन में बहुत ही रूचि ली है । इन दोनों के लिये मेरा यही मंगल आशीर्वाद है कि ये इसी तरह सतत जिनवाणी की उपासना करते रहें ।

प्रो० श्रेयांसकुमार ने हस्तलिखित प्रति से टिप्पणियाँ निकाली थीं । मुद्रक हरीशचन्द्र जैन, सुमन प्रिंटर्स मेरठ ने इस महान् ग्रन्थ को बड़ी लगन के साथ मुद्रित करके पुण्य लाभ लिया है । इस ग्रन्थ प्रकाशन के शुभ अवसर पर इन दोनों के लिये भी मेरा यही आशीर्वाद है कि आगे भी ये महानुभाव इसी तरह जिनवाणी की सेवा, भक्ति करते रहें ।

लघुता प्रदर्शन—

इस ग्रन्थ के अनुवाद में जहाँ कहीं भी कुछ कमी रह गई हो, कहीं अर्थ प्रस्फुटित नहीं हुआ हो या कहीं अर्थसंगत नहीं हुआ हो । तो विशेष विद्वान् मूल संस्कृत से उसके अर्थ को समझने का प्रयास करें । यह ग्रन्थ महान् है और मेरा ज्ञान अतीव अल्प है, कहां इस ग्रन्थ की गरिमा और कहां मेरी तुच्छ बुद्धि ! फिर भी मैंने अपने

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिये और अपने से अध्ययन करने वालों को न्याय ग्रंथों का रसास्वादन कराने के लिये ही इसका अनुवाद किया है। अतएव इसमें किसी प्रकार की त्रुटियों के लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं, व्यंजनसंधिविर्वाजितरेफं ।

साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥

मंगल कामना—इस ग्रंथ का स्वाध्याय करके तथा शिष्यों को पढ़ा करके, इसके अर्थ, भावार्थ, विशेषार्थ, सारांश आदि का चिंतन, मनन करके भव्य महापुरुष और भव्य महिलाएं सच्चे आस्त के प्रति अपनी श्रद्धा को दृढ़ करके अपने मोक्षमार्ग को प्रशस्त करें, यही मेरी मंगल कामना है।

卐 卐 卐

आचार्य चतुष्टय

श्री उमास्वामी आचार्य

गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के रचयिता आचार्यश्री उमास्वामी हैं। इनको उमास्वाति भी कहते हैं। इनका अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य है। धवलाकार ने इनका नामोस्लेख करते हुए कहा है कि—

“तह गिद्धपिच्छाइरियवपयासिदतचत्थमुस्तेवि”^१ ।

उसी प्रकार से गृद्धपिच्छाचार्य के द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है।

इनके इस नाम का समर्थन श्री विद्यानन्द आचार्य ने भी किया है। यथा—

“एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यंतमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता”^२ ।

इस कथन से गृद्धपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियों के सूत्रों से व्यभिचार दोष का निराकरण हो जाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के किसी टीकाकार ने भी निम्न पद्य में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् । वंदे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥

‘‘गृद्धपिच्छ’’ इस नाम से उपलक्षित, तत्त्वार्थसूत्र के कर्तागण के साथ उमास्वामी मुनीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ ।

१. षट्खंडागम, धवलाटीका, जीवस्थान, काल अनुयोग द्वार पृ० ३१६ ।

२. तत्त्वार्थवलोक वार्तिक पृ० ६ ।

श्री वादिराज ने भी इनके गृद्धपिच्छ नाम का उल्लेख किया है—

आकाश में उड़ने की इच्छा करने वाले पक्षी जिस प्रकार अपने पंखों का सहारा लेते हैं, उसी प्रकार मोक्ष नगर को जाने के लिये भव्य लोग जिस मुनिश्वर का सहारा लेते हैं, उस महामना अगणित गुणों के भंडार स्वरूप गृद्धपिच्छ नामक मुनिमहाराज के लिये मेरा सविनय नमस्कार हो ।^१

श्रवण बेलगोला के एक अभिलेख में गृद्धपिच्छ नाम की सार्थकता और कुन्द कुन्द के वंश में उनकी उत्पत्ति बतलाते हुए उनका “उमास्वाति” नाम भी दिया है । यथा—

“आचार्य कुन्द कुन्द के पवित्र वंश में सकलार्थ के ज्ञाता उमास्वाति मुनिश्वर हुए, जिन्होंने जिन प्रणीत द्वादशांगवाणी के सूत्रों में निबद्ध किया । इन आचार्य ने प्राणि रक्षा के हेतु गृद्धपिच्छों को धारण किया । इसी कारण वे गृद्धपिच्छाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए । इस प्रमाण में गृद्धपिच्छाचार्य को “सकलार्थवेदी” कहकर “श्रुतकेवली सद्दर्श” भी कहा है । इससे उनका आगम सम्बन्धी सातिशय ज्ञान प्रकट होता है ।”^२

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य और अभिलेखों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य, अपरनाम उमास्वामि या उमास्वाति हैं ।

समय निर्धारण और गुरु-शिष्य परम्परा—

नदिसंघ की पट्टावली और श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि ये गृद्धपिच्छाचार्य कुन्द कुन्द के अन्वय में हुए हैं । नदिसंघ की पट्टावली विक्रम के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होती है । वह निम्न प्रकार है—

१. भद्रबाहु द्वितीय (४), २. गुप्तगुप्त (२६), ३. माघनंदि (३६), ४. जिनचन्द्र (४०), ५. कुन्दकुन्दा-चार्य (४६), ६. उमास्वामी (१०१), ७. लोहाचार्य (१४२) ।

अर्थात् “नदिसंघ की पट्टावली में बताया है कि उमास्वामी वि० सं० १०१ में आचार्य पद पर आसीन हुए, वे ४० वर्ष आठ महीने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे । उनकी आयु ८४ वर्ष की थी और विक्रम सं० १४२ में उनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुए । प्रो० हार्नले, डा० पिटर्सन और डा० सतीशचन्द्र ने इस पट्टावली के आधार पर उमास्वाति को ईसा की प्रथम शताब्दी का विद्वान माना है ।”^३

“किन्तु स्वयं नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने इन्हें ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी का अनुमानित किया है ।”

कुछ भी हो, ये आचार्य श्री कुन्द कुन्द के शिष्य थे, यह बात अनेक प्रशस्तियों से स्पष्ट है । यथा—

तस्मादभूद्योगिकुलप्रदीपो, बलाकपिच्छः स तपोमहर्द्धिः ।

यदंगसंस्पर्शनमात्रतोऽपि, वायुविषादोनमृतीचकार^४ ॥३॥

१. पार्ष्वनाथ चरित १, १६

२. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं० १०८, पृ० २१०—११

३. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० १५२

४. वही पुस्तक, पृ० ४११

इन योगी महाराज की परम्परा में प्रदीपस्वरूप महद्धिशाली तपस्वी बलाकपिच्छ हुए। इनके शरीर के स्पर्श मात्र से पवित्र हुई वायु भी उस समय लोगों के विष आदि को अमृत कर देती थी।

विरुदावल में भी कुन्दकुन्द के पट्ट पर उमास्वाति को माना है।

“दशाध्यायसमाक्षिप्तजैनागमतत्त्वार्थसूत्रसमूहश्रीमदुमास्वातिदेवानाम्” ॥३॥

इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री कुन्दकुन्द के पट्ट पर ही ये उमास्वामी आचार्य हुये हैं और इन्होंने अपना आचार्य पद बलाकपिच्छ या लौहाचार्य की सौपा है।

तत्त्वार्थसूत्र रचना—

इन आचार्य महोदय की “तत्त्वार्थसूत्र” अपूर्व रचना है। यह ग्रन्थ जैन धर्म का सार ग्रन्थ होने से इसके मात्र पाठ करने का या सुनने का फल एक उपवास बतलाया गया है। यथा—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति । फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥

दशाध्याय से परिमित इस तत्त्वार्थशास्त्र के पढ़ने से एक उपवास का फल होता है, ऐसा मुनिपुंगवों ने कहा है। वर्तमान में इस ग्रन्थ को जैन परम्परा में वही स्थान प्राप्त है, जो कि हिन्दू धर्म में जो हिन्दू धर्म में “भगवद्गीता” को, इस्लाम में “कुरान” को और ईसाई धर्म में “बाइबिल” को प्राप्त है। इससे पूर्व प्राकृत में ही जैन ग्रन्थों की रचना की जाती थी।

इस ग्रन्थ को दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में समान रूप से ही महानता प्राप्त है। अनेक आचार्यों ने इस पर टीका ग्रन्थ रचे हैं। श्री देवनन्दि अपरनाम पूज्यपाद आचार्य ने इस पर “सर्वार्थ सिद्धि” नाम से टीका रची है जिसका अपरनाम “तत्त्वार्थ वृत्ति” भी है। श्री भट्टकलंक देव ने तत्त्वार्थराजवातिक नाम से तथा विद्यानन्द महोदय ने “तत्त्वार्थ श्लोक वातिक” नाम से दार्शनिक शैली में टीका ग्रन्थों का निर्माण करके इस ग्रन्थ के अतिशय महत्व को सूचित किया है। श्रुतसागर सूरि ने “तत्त्वार्थ वृत्ति” नाम से टीका रची है और अन्य-अन्य कई टीकाएँ उपलब्ध हैं। श्री समन्तभद्र स्वामी ने इसी ग्रन्थ पर “ग्रन्थ हस्तिमहाभाष्य” नाम से “महाभाष्य” रचा है जो कि आज उपलब्ध नहीं हो रहा है।

दशाध्यायपूर्ण इस ग्रन्थ का एक मंगलाचरण ही इतना महत्वशाली है कि आचार्य श्री समन्तभद्र ने उस पर “आप्तमीमांसा” नाम से आप्त की मीमांसा-विचारणा करते हुए एक स्तोत्र ग्रन्थ रचा है, उस पर श्री भट्टकलंकदेव ने “अष्टशती” भाष्य रचा है। पुनः उसी पर श्री विद्यानन्द आचार्यवर्य ने “अष्टसहस्री” नाम से महान् उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ रचा है।

कुछ विद्वान “मोक्ष मार्गस्य नेतारं” इत्यादि मंगलाचरण को श्री उमा स्वामी आचार्य द्वारा रचित न मानकर किन्हीं टीकाकारों का कह रहे थे। परन्तु “श्लोकवातिक” और “अष्टसहस्री” ग्रन्थ में उपलब्ध हुए अनेक प्रमाणों से अब यह अच्छी तरह निर्णीत किया जा चुका है कि यह मंगलश्लोक श्री सूत्रकार आचार्य द्वारा ही विरचित है।

१. वही पुस्तक, पृ० ४३१ ।

इस महान् आचार्य के द्वारा रचा हुआ एक श्रावकचार भी है जो कि “उमास्वामी श्रावकाचार” नाम से प्रकाशित हो चुका है। यह बात उसी श्रावकाचार के निम्न पद्यों से स्पष्ट है। यथा—

सूत्रे तु सप्तमेऽप्युक्ताः पृथग्नोक्तास्तदर्थतः । अवशिष्टः समाचारः सोऽत्रैव कथितो ध्रुवम् ॥४६४॥

अर्थात्— इस श्रावकाचार में श्रावकों की षट्आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करते हुए उनके अणुव्रत आदिकों का भी वर्णन किया है। पुनः यह संकेत दिया है कि मैंने “तत्त्वार्थसूत्र” के सप्तम अध्याय में श्रावक के १२ व्रतों का और उनके अतीचारों का विस्तार से कथन किया है, अतः यहाँ उनका कथन नहीं किया है। बाकी जो आवश्यक क्रियाएँ “देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान का वर्णन वहाँ नहीं किया है, उन्हीं को यहाँ पर कहा गया है।

पुनरपि अन्तिम श्लोक में कहते हैं कि—

इतिवृत्तमयेष्टं संश्रये षष्ठमकेऽखिलम् । चान्यन्मया कृते ग्रन्थेऽन्यस्मिन् दृष्टव्यमेव च ॥४७६॥

इस प्रकार से मैंने इस श्रावकाचार की छठी अध्याय में श्रावक के लिये इष्ट चारित्र का वर्णन किया है। अन्य जो कुछ और भी श्रावकाचार है, वह सब मेरे द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र) से देख लेना चाहिये।

इस प्रकार के उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि यह श्रावकाचार भी पूज्य उमास्वामी आचार्य की ही रचना है।

ऐसे श्री उमास्वामी आचार्यदेव ही अष्टसहस्री के ग्रन्थ के लिये मूल आधार हैं। उनको मेरा शत-शत वंदन।

श्री समंतभद्र स्वामी

जिस प्रकार शृङ्गपिच्छाचार्य संस्कृत के प्रथम सूत्रकार हैं, उसी प्रकार जैनवाङ्मय में स्वामी श्री समंतभद्र प्रथम संस्कृत कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं। ये कवि होने के साथ-साथ प्रकाण्ड दार्शनिक और गम्भीर चिन्तक भी हैं। स्तोत्रकाव्य का सूत्रपात आचार्य समंतभद्र से ही होता है। इनकी स्तुति रूप दार्शनिक रचनाओं पर अकलंक और विद्यानन्द जैसे उद्भट आचार्यों ने टीका और विवृतियाँ लिखकर मौलिक ग्रन्थ रचयिता का यश प्राप्त किया है। वीतरागी तीर्थंकर की स्तुतियों में दार्शनिक मान्यताओं का समावेश करना असाधारण प्रतिभा का द्योतक है।

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन इन्हें कवियों के विधाता कहते हैं और उन्हें गमक आदि चार विशेषणों से विशिष्ट बतलाते हैं। यथा—

नमः समंतभद्राय महते कविवेधसे । यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्ना कुमताद्रयः ॥

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि । यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते^१ ॥

स्वतंत्र कविता करने वाले “कवि” कहलाते हैं, शिष्यों को मर्म तक पहुँचा देने वाले “गमक”, शास्त्रार्थ करने वाले “वादी” और मनोहर व्याख्यान देने वाले “वाग्मी” कहलाते हैं।

श्री शुभचन्द्र आचार्य, श्री वर्द्धमान सूरि, श्री जिनसेनाचार्य और श्रीवादीभसूरि आदि ने अपने-अपने ग्रन्थ जानार्णव, वरांगचरित, अलंकार चिन्तामणि और गद्यचिन्तामणि आदि में श्री समंतभद्र स्वामी की सुन्दर-सुन्दर श्लोकों में स्तुति की है ।

ये जैन धर्म और जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान होने के साथ-साथ तर्क व्याकरण, छन्द अलंकार एवं काव्य, कोष आदि विषयों में पूर्णतया अधिकार रखते थे । सो ही इनके ग्रन्थों से स्पष्ट झलक जाता है । इन्होंने जैन विद्या के क्षेत्र में एक नया आलोक विकीर्ण किया है । श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में तो इन्हें जिनशासन के प्रणेता और भद्रमूर्ति कहा गया है ।

इनका जीवन परिचय, मुनिपद, गुरु-शिष्य परम्परा, समय और इनके रचित ग्रन्थ इन पांच बातों पर यहां संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा ।

जीवन परिचय—

इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था । चोल राजवंश का राजकुमार अनुमित किया जाता है । इनके पिता उरगपुर (उरपुर) के क्षत्रिय राजा थे । यह स्थान कावेरी नदी के तट पर फणिमंडल के अन्तर्गत अत्यन्त समृद्धशाली माना गया है । श्रवणबेलगोला के दोरवली जिनदास शास्त्री के भंडार में पाई जाने वाली आप्तमीमांसा की प्रति के अन्त में लिखा है—“इति फणिमंडलालंकारस्योरमपुराधियसूनोः श्रीस्वामीसमंतभद्रमुनेः कृतौ आप्त-मीमांसायाम्”—इस प्रशस्तिवाक्य से स्पष्ट है कि समंतभद्र स्वामी का जन्म क्षत्रियवंश में हुआ था और उनका जन्मस्थान उरगपुर है ।

इनका जन्म नाम शांतिवर्मा बताया जाता है । “स्तुतिविद्या अपरनाम” “जिनस्तुतिशतक” में पद्य ११६वे में कवि और काव्य का नाम चित्रवद्ध रूप में अंकित है । इस काव्य के छह आरे और नव वाली चित्ररचना पर से “शांतिवर्मकृतम्” और “जिनस्तुतिशतम्” ये दो पद निकलते हैं । सम्भव है यह नाम माता पिता के द्वारा रखा गया हो और “समंतभद्र” मुनि अवस्था का हो ।

मुनिदीक्षा और भस्मकव्याधि—

मुनिदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब वे मणुवक हल्ली स्थान में विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मक व्याधि नामक भयानक रोग हो गया, जिससे दिग्म्बर मुनिचर्या का निर्वाह उन्हें अशक्य प्रतीत हुआ । तब उन्होंने गुरु से समाधिभरण धारण करने की इच्छा व्यक्त की । गुरु ने भावी होनहार शिष्य को आदेश देते हुए कहा—

“आपसे धर्म प्रभावना की बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं अतः आप दीक्षा छोड़ कर रोग क्षमन का उपाय करें । रोग दूर होने पर पुनः मुनिदीक्षा ग्रहण करके स्वपर कल्याण करें ।” गुरु की आज्ञानुसार समंतभद्र रोगोपचार हेतु जितमुद्रा छोड़कर संन्यासी बन गये और इधर-उधर विचरण करने लगे । एक समय वाराणसी में शिवकोटि राजा के शिवालय में जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और शिवजी को ही मैं खिला सकता हूँ ।” ऐसी घोषणा की । राजा की अनुमति प्राप्त कर समंतभद्र शिवालय के किवाड़ बन्द कर उस नैवेद्य को स्वयं ही भक्षण कर रोग को शान्त करने लगे । शनैः शनैः उनकी व्याधि का उपशम होने लगा अतः भोग को सामग्री बचने लगी, तब राजा

को संदेह हो गया। अतः गुप्त रूप से उसने इस रहस्य का पता लगा लिया। तब समंतभद्र से उन्होंने शिवजी को नमस्कार के लिये प्रेरित किया। समंतभद्र ने इसे उपसर्ग समझकर चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति प्रारम्भ की। जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति कर रहे थे कि शिव की पिंडी से भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रकट हो गई। समंतभद्र के इस महात्म्य को देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित उनके शिष्य बन गये। यह कथानक "राजाबलिकथे" में उपलब्ध है।

श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में लिखा है—

वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता—वत्सोदात्तपदस्वमंत्रवचनव्याहृतचन्द्रप्रभः।

आचार्यस्स समंतभद्र गणभृद्येनेह काले कलौ। जैनं धर्मं समंतभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः^१ ॥

अर्थात् जो अपने भस्मक रोग को भस्मसात् करने में चतुर हैं, पद्मावती नामक देवी को दिव्य शक्ति के द्वारा जिन्हें उदात्त पद की प्राप्ति होने से मंत्रवचनों द्वारा जिन्होंने चन्द्रप्रभ को प्रकट किया है और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग इस कलिकाल में सब ओर से भद्ररूप हुआ, वे गणनायक आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी बार-बार हम सभी के द्वारा वंद्य हैं।

आराधना कथाकोष में मूर्ति प्रकट होने के अनंतर ऐसा प्रकरण आया है कि चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट होने के इस चमत्कार को देखकर उनकी स्तोत्र रचना पूरी होने के बाद राजा शिवकोटि ने उनसे उनका परिचय पूछा। तब समंतभद्र ने उत्तर देते हुए कहा—

"मैं कांची में नग्न दिगम्बर यति के रूप में रहा, शरीर में रोग होने पर पुण्ड नगरी में बौद्ध भिक्षु बनकर मैंने निवास किया। पश्चात् दशपुर नगर में मिष्ठान्न भोजी परिव्राजक बनकर रहा। अनंतर वाराणसी में आकर शिव तपस्वी बना। हे राजन् ! मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ। यहाँ जिसकी शक्ति वाद करने की हो वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे।" पुनश्च—

पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।

पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।

प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,

आदार्यो विचराम्यहं नरपते। शादूर्लविक्रीडितम् ॥

मैंने पहले पटना नगर में वाद की भेरी बजाई, पुनः मालवा सिन्धु-देश ठक्क टाका (बंगाल), कांचीपुर और वैदिश-विदिशा-भेलसा के आसपास के प्रदेशों में भेरी बजाई। अब बड़े-बड़े वीरों से युक्त इस करहाटक नगर को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार हे राजन ! मैं वाद करने के लिये सिंह के समान इतस्ततः क्रीड़ा करता हुआ विचरण कर रहा हूँ।

राजा शिवकोटि समंतभद्र के इस आख्यान को सुनकर भोगों से विरक्त हो वीक्षित हो गये। ऐसा वर्णन है।

१. जैन शिखालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ५४, पृ० १०२।

गुरुशिष्य परम्परा—

यद्यपि समंतभद्र की गुरु-शिष्य परम्परा के विषय में बहुत कुछ अनिर्णीत ही है, फिर भी इन्हें किन्हीं प्रशस्तियों में उमास्वामी के शिष्य बलाकपिच्छ के पट्टाचार्य माना है। श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में भी आया है—

श्री गृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः । शिष्यो जनिष्टः । एवं महाचार्यं परंपरायां, समंतभद्रोऽजनि
वादिंसिंहः ।^१

अर्थात् भद्रबाहुश्रुतकेवली के शिष्य चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त के वंशज पद्मनन्दि अपरनाम श्री कुन्दकुन्दाचार्य, उनके वंशज गृद्धपिच्छाचार्य, उनके शिष्य बलाकपिच्छ और उनके पट्टाचार्य श्री समंतभद्र हुए हैं।

“श्रुतमुनि-पट्टावलिः” में भी कहा है—

तस्माद्भूद्योगिकुलप्रदीपो बलाकपिच्छः स तपोमहर्षिः ।

यद्गंगसंस्पर्शनमात्रतोऽपि वायुद्विषादीनमृतीचकार ॥१३॥

समंतभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।

यदीयवाग्धञ्जकठोरपातश्चूणीचकार प्रतिवादिशैलान् ॥१४॥^२

चन्नदायपट्टण ताल्लुके के अभिलेख नं० १४६ में इन्हें श्रुतकेवलि के श्रद्धि मानी है और वर्धमान जिनके शासन की सहस्रगुणी वृद्धि करने वाला कहा है।

समय निर्धारण—

आचार्य समंतभद्र के समय के सम्बन्ध में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। मि० लेविस राईस का अनुमान है कि ये आचार्य ई० की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुए हैं। डा० ज्योतिप्रसाद जी आदि ने भी सन् १२० में राजकुमार के रूप में सन् १३८ में, मुनिपद में सन् १८५ के लगभग स्वर्गस्थ हुए ऐसे ईस्वी सन् की द्वितीयशती को ही स्वीकार किया है। अतएव संक्षेप से समंतभद्र का समय ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी ही प्रतीत होता है।

समन्तभद्र की रचनायें—

१. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २. स्तुतिविद्या-जिनशातक, ३. देवागमस्तोत्र-आप्तमीमांसा, ४. युक्त्यनुशासन, ५. रत्नकरण्डभावकाचार, ६. जीवसिद्धि, ७. तत्त्वानुशासन, ८. प्राकृतव्याकरण, ९. प्रमाण पदार्थ, १०. कर्मप्राभूत-टीका, ११. गंधहस्ति महाभाष्य।

१. स्वयंभुवा “भूतहितेन भूतले” आदि रूप से स्वयंभूस्तोत्र धर्मध्यान दीपक आदि पुस्तकों में प्रकाशित हो चुका है।

२. “स्तुतिविद्या” इसमें भी चौबीस तीर्थकरों की स्तुति है।

१. जैन शिलालेख संग्रह. प्रथम भाग, लेख सं० ४०, पद्य ८-६; पृ० २५।

२. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृ० ४११।

३. इस देवागमस्तोत्र में सर्वज्ञदेव को तर्क की कसौटी पर कसकर सच्चा आप्त सिद्ध किया गया है। तत्कालीन, नैरात्म्यवाद, अणिकवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, पुरुष-प्रकृतिवाद आदि की समीक्षा करते हुए स्याद्वाद सिद्धांत की प्रतिष्ठा जैसी इस ग्रन्थ में उपलब्ध है, वैसी सप्तभंगी की सुन्दर व्यवस्था अन्यत्र जैनवाङ्मय में आपको नहीं मिलेगा। यह स्तोत्र ग्रन्थ केवल तत्त्वार्थ सूत्र के "मोक्षमार्गस्य, मंगलाचरण को आधार करके बना है।

४. युक्त्यनुशासन में भी परमत का खण्डन करते हुए आचार्यदेव ने वीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ घोषित किया है।

५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार में तो १५० श्लोकों में ही आचार्यदेव ने श्रावकों के सम्पूर्ण व्रतों का वर्णन कर दिया है।

आगे की ७ रचनाएं आज उपलब्ध नहीं हैं।

इस प्रकार से श्री समंतभद्राचार्य अपने समय में एक महान् आचार्य हुए हैं। इनकी गौरव गाथा गाने के लिये हम और आप जैसे साधारण लोग समर्थ नहीं हो सकते हैं। कहीं-कहीं इन्हें भावी तीर्थकर माना गया है।

इन्हीं के द्वारा रचित देवागमस्तोत्र—आप्तमीमांसा पर यह अष्टसहस्री ग्रन्थ बना है। इन स्वामी श्रीसमंतभद्राचार्य को मेरा शत-शत नमन।

श्री अलंकदेव आचार्य

जैन दर्शन में अकलंक देव एक प्रखर ताकिक और महान् दार्शनिक हुए हैं। बौद्ध दर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति को प्राप्त है, जैन दर्शन में वही स्थान अकलंकदेव का है। इनके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैन दर्शन और जैन :याय विषयक हैं। श्री अकलंक देव के सम्बन्ध में श्वण्वेलगोला के अभिलेखों में अनेक स्थान पर स्मरण आया है। अभिलेख संख्या ४७ में लिखा है—

षट्कर्कवकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले^१ ।

अर्थात् अकलंकदेव षट्दर्शन और तर्कशस्त्र में इस पृथ्वी पर साक्षात् वृहस्पति देव थे।

अभिलेख नं० १०८ में पूज्यपाद के पश्चात् अकलंकदेव का स्मरण किया गया है—

"ततः परं शास्त्रत्रिदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः ।

मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः^२ ॥"

इनके बाद शास्त्र ज्ञानी महामुनियों के अग्रणी श्री अकलंकदेव हुए जिनकी वचनरूपी किरणों के द्वारा मिथ्यान्धकार से ढके हुए अखिल पदार्थ प्रकाशित हुए हैं।

इनका जीवन परिचय, समय, गुरुपरम्परा और इनके द्वारा रचित ग्रन्थ इन चार बातों को संक्षेप से यहाँ दिखाया जायेगा।

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, अभिलेख ४७।

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, अभिलेख १०८।

जीवन परिचय—

तत्त्वार्थवातिक के प्रथम अध्याय के अन्त में प्रशस्ति है, उसके आधार से ये “लघुहृव्वनृपति” के पुत्र प्रतीत होते हैं। यथा—

“जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहृव्वनृपतिवरतनयः ।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥”

लघुहृव्वनृपति के श्रेष्ठ पुत्र श्री अकलंकब्रह्मा चिरकाल तक जयशील हों, जिनको हमेशा सभी जन नमस्कार करते थे और जो प्रशस्तजनों के हृदय के अतिशय प्रिय थे ।

ये राजा कौन थे, किस देश के थे, यह कुछ पता नहीं चल पाया है। हो सकता है ये दक्षिण देश के राजा रहे हों। श्री नेमिचन्द्रकृत आराधना कथाकोष में इन्हें मंत्रीपुत्र कहा है। यथा—

मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मन्त्री का नाम पुरुषोत्तम था, उनकी पत्नी पद्मावती थीं। इनके दो पुत्र थे—अकलंक और निकलंक। एक दिन आष्टान्किक पर्व में पुरुषोत्तम मंत्री ने विप्रगुप्त मुनिराज के समीप आठ दिन ब्रह्मचर्य ग्रहण किया और उसी समय विनोद में दोनों पुत्रों को भी व्रत दिला दिया।

जब दोनों पुत्र युवा हुए तब पिता के द्वारा विवाह की चर्चा आने पर विवाह करने से इन्कार कर दिया। यद्यपि पिता ने बहुत समझाया कि तुम दोनों को व्रत विनोद में दिलाया था तथा वह आठ दिन के लिये ही था, किन्तु इन युवकों ने यही उत्तर दिया कि—“पिता जी ! व्रत ग्रहण में विनोद कैसा ? और हमारे लिये आठ दिन की मर्यादा नहीं की थी।”

पुनः ये दोनों बाल ब्रह्मचर्य के पालन में दृढ़ प्रतिज्ञ हो गये और धर्मांराधना में तथा विद्याध्ययन में तत्पर हो गये। ये बौद्ध शास्त्रों के अध्ययन हेतु “महाबोधि” स्थान में बौद्ध धर्मचार्य के पास पढ़ने लगे। एक दिन बौद्ध गुरु पढ़ाते-पढ़ाते कुछ विषय को नहीं समझा सके तो वे चिन्तित हो बाहर चले गये। वह प्रकरण सप्त भंगी का था, अकलंक ने समय पाकर उसे देखा, वहाँ कुछ अशुद्ध पाठ समझकर उसे शुद्ध कर दिया। वापस आने पर गुरु को शंका हो गई कि यहाँ कोई विद्यार्थी जैन धर्म अवश्य है। उसकी परीक्षा की जाने पर ये अकलंक निकलंक पकड़े गये। इन्हें जेल में डाल दिया गया। उस समय रात्रि में धर्म की शरण लेकर ये दोनों वहाँ से भाग निकले। प्रातः इनकी खोज शुरु हुई। नंगी तलवार हाथ में लिये घुड़सवार दौड़ाये गये।

जब भागते हुए इन्हें आहट मिली तब निकलंक ने भाई से कहा—भाई ! आप एकपाठी हैं—अतः आपके द्वारा जैन शासन की विशेष प्रभावना हो सकती है अतः आप इस तालाब के कमल पत्र में छिपकर अपनी रक्षा कीजिये। इतना कहकर वे अत्यधिक वेग से भागने लगे। इधर अकलंक ने कोई उपाय न देख अपनी रक्षा कमल-पत्र में छिपकर की और निकलंक के साथ एक घोड़ी भी भागा। तब ये दोनों मारे गये।

कुछ दिन बाद एक घटना हुई, वह ऐसी है कि—

रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी ने फाल्गुन की आष्टान्किका में रथ यात्रा महोत्सव कराना चाहा। उस समय बौद्धों के प्रधान आचार्य संघश्री ने राजा के पास आकर कहा कि जब कोई जैन मेरे से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर सकेगा, तभी यह जैन रथ निकल सकेगा, अन्यथा नहीं। महाराज ने यह बात रानी से कह दी। रानी अत्यधिक चिन्तित हो जिनमन्दिर में गई और वहाँ मुनियों को नमस्कार कर बोली—“प्रभो ! आप में से कोई भी इस बौद्ध गुरु से शास्त्रार्थ करके उसे पराजित कर मेरा रथ निकलवाइये” मुनि बोले—“रानी ! हम लोगों में एक भी ऐसा विद्वान नहीं है। हां, मान्यखेटपुर में ऐसे विद्वान मिल सकते हैं।” रानी बोली—“गुरुवर ! अब मान्यखेटपुर से विद्वान आने का समय कहाँ है ?” वह चिन्तित हो जिनेन्द्रदेव के समक्ष पहुँची और प्रार्थना करते हुए बोली—“भगवन् ! यदि इस समय जैन शासन की रक्षा नहीं होती तो मेरा जीना

किस काम का ? अतः अब मैं चतुराहार का त्याग कर आपकी ही शरण लेती हूँ ।” ऐसा कहकर उसने कार्योत्सर्ग धारण कर लिया ।

उसके निश्चल ध्यान के प्रभाव से पद्मावती देवी का आसन कंपित हुआ । उसने जाकर “कहा देवि ! तुम चिन्ता छोड़ो, उठो ! कल ही अकलंक देव आयेंगे जो कि तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करने के लिये कल्पवृक्ष होंगे ।” रानी ने धर आकर यत्र-तत्र किकर दीड़ाये । अकलंकदेव बगीचे में अशोकवृक्ष के नीचे ठहरे हैं, सुनकर वहाँ पहुँची । भक्तिभाव से उनकी पूजा की और अश्रु गिराते हुए अपनी विपदा कह सुनाई । अकलंकदेव ने उसे आशवासन दिया और वहाँ आये । राजसभा में शास्त्रार्थ शुरू हुआ । प्रथम दिन ही संघश्री-बौद्धगुरु घबड़ा गया और उसने अपने इष्टदेव की आराधना करके तारादेवी को शास्त्रार्थ करने के लिये घट में उतारा ।

छह महीने तक शास्त्रार्थ चलता रहा किन्तु तारादेवी भी अकलंकदेव को पराजित नहीं कर सकी । अन्त में अकलंक को चिंतातुर देख चक्रेश्वरी देवी ने उन्हें उपाय बतलाया । प्रातः अकलंकदेव ने देवी से समुचित प्रत्युत्तर न मिलने से परदे के अन्दर घुसकर घड़े को लात मारी जिससे वह देवी पराजित हो भाग गई और अकलंकदेव के साथ-साथ जैन शासन की विजय हो गई । रानी के द्वारा कराई जाने वाली रथ यात्रा बड़े धूमधाम से निकली और जैन धर्म की महती प्रभावना हुई । श्री मल्लिषेणप्रश्नस्तोत्र में इनके विषय में विशेष श्लोक पाये जाते हैं । यथा—

तारा येन विनिजिता घटकुटीगूढावतारा समं ।
 बौद्धैर्यो धृतपीठपीडितकुदृग्देवात्तसेवांजलिः ॥
 प्रायश्चित्तभिर्वाग्निवारिजरजत्नानं च यस्याचरत् ।
 दोषाणां सुगतस्स कस्य विषयो देवाकलंकः कृती ॥२०॥

सूत्रिण “यस्येवमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्याविद्या विभवोपवर्णनमाकर्ण्यते ।”

भाग २३वें श्लोक में कहते हैं—

नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं,
 नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्धया मया ।
 राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो,
 बौद्धोघान् सकलान् विजिस्य सुगतः पादेन विस्फोटितः ॥१

अर्थात् महाराज हिमशीतल की सभा में मैंने सर्व बौद्ध विद्वानों को पराजित कर सुगत की पैर से ठुकराया । यह न तो मैंने अभिमान के वश होकर किया है न किसी प्रकार के द्वेष भाव से, किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुए जनों पर मुझे बड़ी दया आई, इसलिये मुझे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा है ।

इस प्रकार से संक्षेप में इनका जीवन परिचय दिया गया है ।

समय—

डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने इनका समय ईस्वी सन् की ८वीं शती सिद्ध किया है । पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने ईस्वी सन् ६२०—६८० तक निश्चित किया है, किन्तु महेन्द्र कुमार जी न्या० के अनुसार यह समय ई० सन् ७२०—९८० आता है ।

१. अकलंकस्तोत्र ।

गुरुपरम्परा—

देवकीर्ति की पट्टावली में श्री कुन्दकुन्ददेव के पट्ट पर उमा स्वामी अपर नाम गृद्धपिच्छ आचार्य हुए । उनके पट्ट पर बलाक पिच्छ आरूढ़ हुए । इनके पट्टाधीश श्री समंतभद्र स्वामी हुए । उनके पट्ट पर श्री पूज्यपाद हुए । पुनः उनके पट्ट पर श्री अकलंकदेव हुए ।

“जनिष्ठाकलंक यज्जिनशासनमादितः । अकलंक बभौ येन सोऽकलंको महामातिः” ॥१०॥

इनके द्वारा रचित ग्रन्थ—

इनके द्वारा रचित स्वतंत्र ग्रन्थ चार हैं और टीका ग्रन्थ दो हैं ।

१. लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञ विवृति सहित), २. न्यायविनिश्चय (सवृत्ति), ३. सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति); ४. प्रमाण संग्रह (सवृत्ति) ।

टीका ग्रन्थ—

१. तत्त्वार्थ वार्तिक (सभाष्य), २. अष्टशती (देवागम विवृति) ।

लघीयस्त्रय—

इस ग्रन्थ में प्रमाण, प्रवेश नय प्रवेश और निक्षेप प्रवेश—ये तीन प्रकरण हैं । ७८ कारिकाएँ हैं, मुद्रित प्रति में ७७ ही हैं । श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने इसी ग्रन्थ पर “न्याय कुमुदचन्द्र” नाम से व्याख्या रची है, जो कि न्याय का एक अनूठा ग्रन्थ है ।

न्यायविनिश्चय—

इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष अनुमान और प्रवचन—ये तीन प्रस्ताव हैं । कारिकाएँ ४८० हैं । इसकी विस्तृत टीका श्री वादिराजसूरि ने की है । यह ग्रन्थ ज्ञानपीठ काशी (भारतीय ज्ञानपीठ) द्वारा प्रकाशित हो चुका है ।

सिद्धि विनिश्चय—

इस ग्रन्थ में १२ प्रस्ताव हैं । इसकी टीका श्री अन्तर्धीर्यसूरि ने की है । यह भी ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हो चुका है ।

प्रमाण संग्रह—

इसमें ६ प्रस्ताव हैं और ८७-५ कारिकाएँ हैं । यह ग्रन्थ “अकलंक ग्रन्थत्रय” में सिन्धी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है । इस ग्रन्थ की प्रशंसा में धनंजय कवि ने नाममाला में एक पद्य लिखा है—

प्रमाणमकलंकस्य, पूज्यपादस्य लक्षणम् । धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।

अकलंकदेव का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनंजय कवि का काव्य—ये अपश्चिम-सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रय—तीन रत्न हैं ।

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४,

वास्तव में जैन न्याय को अकलंक की सबसे बड़ी देन है। इनके द्वारा की गई प्रमाण व्यवस्था दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों को मान्य रही है।

तत्त्वार्थवार्तिक—

यह ग्रन्थ श्री उमास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थ सूत्र की टीका रूप है।

अष्टशती—

श्री स्वामी समंतभद्र द्वारा रचित आप्तमीमांसा की यह भाष्य रूप टीका है। इस वृत्ति का प्रमाण ८०० श्लोक प्रमाण है, अतः इसका “अष्टशती” यह नाम सार्थक है।

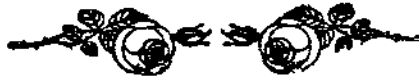
इस प्रकार से श्रीमद् भट्टाकलंक देव के बारे में मैंने संक्षिप्त वर्णन किया है। वर्तमान में “निकलंक का बलिदान” नाम से इनका नाटक खेला जाता है, जो कि प्रत्येक मानव के मानसपटल पर जैन शासन की रक्षा और प्रभावना की भावना को अंकित किये बिना नहीं रहता है।

बाल्यकाल में “अकलंक निकलंक” नाटक देखकर ही मेरे हृदय में एक पंक्ति अंकित हो गई थी कि—

“प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्”

कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पैर न रखना ही अच्छा है। उसी प्रकार से गृहस्थावस्था में फंस कर पुनः निकलकर दीक्षा लेने की अपेक्षा गृहस्थी में न फंसना ही अच्छा है। इस पंक्ति ने ही मेरे हृदय में वैराग्य का अंकुर प्रगट किया था जिसके फलस्वरूप आज मैं आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर उनके विषय में कुछ लिखने के लिये सक्षम हुई हूँ।

इस अष्टसहस्री ग्रन्थ के मध्य-मध्य में आये हुए अष्टशती के वाक्य इन्हीं आचार्यदेव के हैं। इन्हें मेरा कोटि-कोटि वंदन।



श्री विद्यानन्द आचार्य

आचार्य विद्यानन्द ऐसे महान् तार्किक हुए हैं कि जिन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना करके श्रुत परम्परा को महत्त्वशील बनाया है। इनकी रचनाओं के अवलोकन से यह अवगत होता है कि ये दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इसी प्रदेश को इनकी साधना और कार्य भूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है। किंवदन्तियों के आधार से यह माना जाता है कि इनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने वैशेषिक न्याय, मीमांसा, वेदांत आदि दर्शनों का अध्ययन कर लिया था। इन आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त ये दिग्नाग धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि बौद्ध ग्रन्थों के तलस्पर्शी विद्वान् थे।

ये कब हुए हैं? इनकी गुरुपरम्परा क्या थी? इनका जीवन-वृत्त क्या है? इत्यादि बातें अनिर्णीत ही हैं। फिर भी विद्वानों ने इनका समय निश्चित करने के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया है।

शक सम्वत् १३२० के एक अभिलेख^१ में कहे गये नन्दिसंघ के मुनियों की नामावलि में विद्यानन्द का नाम आता है, जिससे यह अनुमान होता है कि इन्होंने नन्दिसंघ के किसी आचार्य से दीक्षा ग्रहण की है और महान् आचार्य पद को सुशोभित किया है। श्री वादिराज ने ई० सन् १०५५) अपने “पार्श्वनाथ चरित” नामक काव्य में इनका स्मरण करते हुए लिखा है—

“ऋजुसूत्रं स्थुरद्रतनं विद्यानन्दस्य विस्मयः। शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगति^२ ॥”

आश्चर्य है कि विद्यानन्द के तत्त्वार्थ श्लोकवातिक और अष्टसहस्री जैसे दीप्तिमान् अलंकारों को सुनने वालों के भी अंगों में दीप्ति आ जाती है, तो उन्हें धारण करने वालों की बात ही क्या है?

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी कीर्ति ई० सन् की १०वीं शताब्दी में चारों तरफ फैल रही थी।

पं० दरबारीलाल जी कोठिया ने विद्यानन्द के जीवन और समय पर विशेष विचार किया है—

“विद्यानन्द गंगनरेश शिवमार द्वितीय (ई० सन् ८१०) और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० सन् ८१६) के समकालीन हैं और इन्होंने अपनी कृतियाँ प्रायः इन्हीं के राज्य समय में बनाई हैं। विद्यानन्द और तत्त्वार्थ श्लोकवातिक को शिवकार द्वितीय के और आप्तपरीक्षा, प्रमाण परीक्षा तथा युक्त्यनुशासनालंक्रुति ये तीन कृतियाँ राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६-८३०) के राज्यकाल में बनी जान पड़ती हैं। अष्टसहस्री श्लोकवातिक के बाद की और आप्तपरीक्षा आदि के पूर्व की रचना है—करीब ई० ८१०-८१५ में रची गयी प्रतीत होती है। तथा पत्र-परीक्षा, श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र और सत्यशासन परीक्षा ये तीन रचनाएं ई० सन् ८३०-८४० में रची जात होती हैं। इससे भी आचार्य विद्यानन्द का समय ई० सन् ७७५-८४० प्रमाणित होता है।”

अतएव आचार्य विद्यानन्द का समय ई० सन् की नवम शती है^३।

इनके गृहस्थ जीवन का तथा दीक्षा गुरु का कोई विशेष परिचय और नाम उपलब्ध नहीं है।

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेखांक १०५।

२. पार्श्वनाथ चरित, १/१८।

३. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० ३५२।

इनकी रचनाओं को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—

१. स्वतन्त्र ग्रन्थ और, २. टीका ग्रन्थ ।

१. स्वतन्त्र ग्रन्थ—

१. आप्त परीक्षा (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित) ।
२. प्रमाण परीक्षा ।
३. पत्र परीक्षा ।
४. सत्य शासन परीक्षा ।
५. श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र ।
६. विद्यानंद महोदय ।

२. टीका ग्रन्थ—

१. अष्टसहस्री ।
२. श्लोकवार्तिक ।
३. युक्त्यनुशासनालंकार ।

१. आप्तपरीक्षा ग्रन्थ में १२४ कारिकाएँ हैं और इन्हीं ग्रन्थकर्ता द्वारा रचित वृत्ति है। इस ग्रन्थ में अर्हंत को मोक्षमार्ग का नेता सिद्ध करते हुए मोक्ष, आत्मा, संवर, निर्जरा आदि के स्वरूप और भेदों का प्रतिपादन किया है। इसमें ईश्वर परीक्षा, कपिल परीक्षा, सुगत परीक्षा, ब्रह्माद्वैत परीक्षा करके अर्हंत के सर्वज्ञत्व की सिद्धि की है।

२. प्रमाणपरीक्षा में प्रमाण का स्वरूप, प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं जप्ति, प्रमाण की संख्या, विषय एवं उसके फल पर विचार किया गया है।

३. पत्रपरीक्षा नामक लघुकाय ग्रन्थ में विभिन्न दर्शनों की अपेक्षा “पत्र” के लक्षणों को उद्धृत कर जैन दृष्टिकोण से पत्र का लक्षण दिया गया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु—इन दो अवयवों को ही अनुमान का अंग बताया है।

४. सत्य शासन परीक्षा की महत्ता के सम्बन्ध में पंडित महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य ने लिखा है—
“उनकी यह सत्यशासन परीक्षा ऐसा एक तेजोमय रत्न है, जिससे जैन न्याय का आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आये हुए पदार्थ फुटकर रूप से उनके अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में खोजे जा सकते हैं, पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नये प्रमेयों का सुरुचिपूर्ण संकलन, जिसे स्वयं विद्यानंद ने ही किया, अन्यत्र मिलना असम्भव है।”

५. विद्यानंद महोदय नाम का यह ग्रन्थ आचार्य विद्यानंद की सर्वप्रथम रचना है। इसके पश्चात् ही इन्होंने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है पर उसका नामोल्लेख श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में मिलता है।

१. अनेकांत, वर्ष ६, किरण ११ ।

६. श्रीपुर या अन्तरिक्ष के पार्श्वनाथ की स्तुति में कुल ३० पद्य हैं। इस स्तोत्र में दर्शन और काव्य का गंगा-यमुनी संगम है। डा० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य कहते हैं कि — “इस स्तोत्र में सर्वज्ञ सिद्धि, अनेकान्तसिद्धि, भाषा भावात्मक वस्तु निरूपण, सप्तभंगीनय, सुनय, निक्षेप, जीवादि पदार्थ, मोक्षमार्ग, वेद की अपौरुषेयता का निरावरण आदि दार्शनिक विषयों का समावेश किया गया है। भगवान् पार्श्वनाथ को रागद्वेष का विजेता सिद्ध करते हुए, उनकी दिव्यवाणी का जयघोष किया है।”^१

७. अष्टसहस्री—जैन न्याय का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अध्ययन की महत्ता बतलाते हुए स्वयं श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं—

“श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतेः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः । विज्ञायेत ययैव, स्वसमय-परसमयसद्भावः^२ ॥

हजारों ग्रन्थों के सुनने से क्या प्रयोजन है ? मात्र एक अष्टसहस्री ही सुनना चाहिये क्योंकि इस अष्टसहस्री के द्वारा ही स्व-सिद्धांत और पर—सिद्धान्त का सद्भाव (स्वरूप) जाना जाता है।

८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नाम का ग्रन्थ टीका ग्रन्थों में एक महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र पर भाष्य रूप से रचा गया है। पद्यात्मक शैली में है, साथ ही पद्यवार्तिकों पर उन्होंने स्वयं भाष्य अथवा गद्य में व्याख्यान लिखा है।

९. युक्त्यनुशासनालंकार यह—भी एक टीकाग्रंथ है। श्री स्वामी समंतभद्र ने ६४ कारिकाओं में “युक्त्यनुशासन” नाम से यह एक स्तुति रचना की है। इसमें स्वामी ने श्री भगवान् महावीर के शासन को “सर्वोदय” शासन सिद्ध किया है।

वास्तव में जैसे इन आचार्य की अष्टसहस्री ग्रंथ के प्रश्नोत्तर की शैली अनूठी है, अनुपम है और सभी के लिए पठनीय है, मननीय है। वैसे ही इनके सभी ग्रंथ न्याय और सिद्धांत का सूक्ष्मज्ञान कराने में सर्वथा सक्षम हैं। इन आचार्यदेव को मेरा शत-शत नमन।

卐 वर्द्धतां जिनशासनम् 卐



२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २, पृ० ३६१।

१. अष्टसहस्री सूत्र, पृ० १५७।

अष्टसहस्री की महिमा

आयिका चन्दनामती

उमास्वामिकृतं पूत-महत्संस्तवमंगलं । महेश्वरश्रियं दद्यात्, महादेवपदस्थितं ॥

प्रस्तुत अष्टसहस्री ग्रन्थ में हिन्दी टीकाकर्त्री पूज्य गणिनी आयिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने प्रारम्भ में २४ तीर्थकरों के सूचक २४ इस शुभ अंक में स्वरचित संस्कृत भाषा में 'मंगलस्तव' स्वरूप श्लोक उद्धृत किए हैं। जिनमें उपर्युक्त १८वें श्लोक में महादेव—अर्हंत भगवान् का स्मरण करते हुए कहा है—

“उमास्वामी के द्वारा कृत, पवित्र अर्हंतदेव का स्वरूप मंगलाचरण महादेव पद में स्थित ऐसी महेश्वर की लक्ष्मी मुझे प्रदान करें।”

व्याकरण, छंद और अलंकार में मिष्णात परमविदुषी आयिकाश्री ने इस श्लोक में श्लेषालंकार का प्रयोग करते हुए भावार्थ में विषय खोला है—

“उमा-पावती के पति महादेव पक्ष में उमा-लक्ष्मी-तपोलक्ष्मी के स्वामी आचार्यश्री उमास्वामी के द्वारा रचित “मोक्षमार्गस्य नेतारं...” आदि मंगलाचरण मुझे महादेव की लक्ष्मी—“महाश्चातो देवश्च महादेवः” के अनुसार महान् देव-देवों के भी देव श्री अर्हंतदेव की लक्ष्मी प्रदान करें।

यह तो सर्वविदित ही है कि अष्टसहस्री ग्रन्थ जैन दर्शन में न्याय का सर्वोच्च ग्रन्थ माना जाता है। न्याय की मांग आज उच्चस्वरो में सारी जनता कर रही है क्योंकि बड़े-बड़े न्यायालयों में भी अन्याय का बोलबाला चल रहा है। उसका मुख्य कारण यही समझ में आता है कि स्वयं अपनी आत्मा के साथ अन्याय करने वाले रागी-द्वेषी मानव भला दूसरों के साथ समुचित न्याय कैसे कर सकते हैं ?

आचार्यश्री समंतभद्र और विद्यानंदि स्वामी जैसे वीतरागी (संसार शरीर भोगों से वीतरागी और सराग चारित्र्य का पालन करने वाले) मशामुनियों ने आगम और तर्कसंगत युक्तियों के बल पर जैसा न्याय अपने ग्रन्थों में प्रदर्शित किया है, वह सर्वथा अकाद्य है। भाषा की कठिनता और दुरुह विषय होने के कारण इस ग्रन्थ का पठन-पाठन लुप्तप्रायः हो गया था, किन्तु मानो माता सरस्वती ने ही ज्ञानमती माताजी के रूप में जन्म लेकर प्राचीन न्याय शैली का अवबोध कराने का संकल्प लिया हो, जिसके फलस्वरूप अष्टसहस्री ग्रन्थ सुगमरीत्या प्राप्त होने की शुभघड़ी आई है।

जैसे सुयोग्य संतान के द्वारा ही माता-पिता का नाम और वंश युगयुगांतर तक कीर्ति प्राप्त करता है, उसी प्रकार सुयोग्य शिष्य परम्परा ही गुरु की कृतियों का मूल्यांकन और उनकी यशवृद्धि को करने में सहायक होती है। कौन जानता था कि हजारों वर्ष प्राचीन कृति का जीर्णोद्धार ज्ञानमती माताजी द्वारा होगा किन्तु मूलसंध के कुन्दकुन्दात्मनाय सरस्वती गच्छ बलात्कार गण के सुप्रसिद्ध चारित्र्य चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी के प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की शिष्या गणिनी आयिका श्री ज्ञानमती माताजी इस युग की महान् लेखिका बन गईं जिनके द्वारा वंशावली की कीर्ति में चार चाँद लगे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस अष्टसहस्री का हिन्दी अनुवाद तो सन् १९७० में ही सम्पन्न हो चुका था, किन्तु पूर्ण रूपेण प्रकाशन अब सम्भव हो सका। फलस्वरूप तृतीय भाग (अंतिम भाग) भी पाठकों के समक्ष है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को आचार्यश्री विद्यानंदि स्वामी ने दस परिच्छेदों में विभक्त किया है जिसमें प्रथम परिच्छेद में २३ कारिकाओं की टीका है उसको पू० माताजी ने दो भागों में प्रकाशित कराया है। द्वितीय से लेकर दसवें परिच्छेद तक शेष ६१ कारिकाओं की टीका है, जिसे इस तृतीय भाग में प्रकाशित किया गया है।

इन समस्त परिच्छेदों के शुभारम्भ में श्री विद्यानन्दि महोदय ने स्वरचित १-१ श्लोक मंगलाचरण के रूप में दिये हैं। जैसे—द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में ही देखें—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः । विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥

अर्थात् जिसके द्वारा ही स्वसमय और परसमय का सद्भाव जाना जाता है, ऐसी अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिए, अन्य हजारों शास्त्रों को सुनने से क्या प्रयोजन ?

देखिए ! स्वयं ग्रन्थकर्ता ने अपने ग्रन्थ को कितना महत्त्वपूर्ण बतलाया है। क्या उनके इस प्रकार के शब्दों में अभिमान की झलक नहीं है ? आज का अल्पज्ञ एवं रागी मानव तो स्पष्ट कहने को बाध्य हो जाएगा कि आचार्यश्री को अपनी कृति निर्माण का कितना अभिमान था; किन्तु वह अभिमान नहीं स्वाभिमान था जिससे उन्होंने असली वस्तुस्थिति के परिज्ञान हेतु श्रोताओं के लिए ऐसे वचन कहे थे। यह गर्वोक्ति नहीं, स्वभावोक्ति है।

यदि पूर्वाचार्यों की देशनुसार हम भी स्याद्वादमयी लेखनी से अपना ग्रन्थ प्रसवित करते हैं तो गौरवपूर्ण वचनों द्वारा ऐसा ही कहने का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु करने के साथ-साथ हमें जिनवचनों में पूर्ण श्रद्धा और गुणज्ञता होनी ही चाहिए।

इसी प्रकार तृतीय परिच्छेद के प्रारम्भ में उन्होंने कहा है—

अष्टशती प्रथितार्थं साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ।

विलसदकलंकधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥

अर्थात् श्री अकलंकदेव द्वारा रचित अष्टशती अपने प्रसिद्ध अर्थ सहित है, उसी के ऊपर मैंने अष्टसहस्री टीका हजार श्लोकों में की है, जो संक्षिप्त ही है। उत्तम बुद्धि के धारक पुरुष को उसका अर्थ विस्तृत रूप में समझना चाहिए।

ज्ञान की अगाध गंगा जिनके हृदय में समाहित है, ऐसे गुरुवर्य इतने विशाल ग्रन्थ को भी संक्षिप्त कह रहे हैं, भला इससे अधिक विस्तार अर्थ का बोध आज का मानव कैसे कर सकता है ? सरस्वती माता की कृपा प्रसाद से यदि इतने अर्थ को समझने की क्षमता मुझमें आ जावे तो मेरा जीवन धन्य हो जावेगा।

चतुर्थ परिच्छेद के मंगलाचरण में आचार्यश्री के भाव देखिए—

जीयादष्टसहस्री देवागमसंगतार्थमकलंकम् । गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्नगम्भीरपदपदवी ॥

इस श्लोक में अष्टसहस्री ग्रन्थ के चिरकाल तक जयशील रहने की मंगल कामना की है ताकि भव्यजन न्यायदर्शन का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर सकें।

इसी प्रकार से पंचम से लेकर दसवें परिच्छेद तक निम्न मंगलाचरण श्लोकों में विद्यानंदि महोदय ने अपने विभिन्न अभिप्राय व्यक्त किए हैं।

स्फुट सकलंकदं या प्रकटयति पट्टिचैतसामसमम् ।
 दशितसमन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु ॥१॥ (पंचम् परिच्छेद पृ० ३३६)
 पुष्यदकलंकवृत्ति समन्तभद्रप्रणीततत्त्वार्थम् ।
 निजितदुर्णयवादामष्टसहस्रीमवैति सद्दृष्टिः ॥१॥ (षष्ठम् परिच्छेद पृ० ३५०)
 निर्दिष्टो यः शास्त्रे हेत्वागमनिर्णयः प्रपञ्चेन ।
 गमयत्यष्टसहस्री संक्षेपात्तमिह सामर्थ्यात् ॥१॥ (सप्तम् परिच्छेद पृ० ३७५)
 ज्ञापकमुपायतत्त्वं समन्तभद्राकलंकनिर्णीतम् ।
 सकलैकांतासंभवमष्टसहस्री निवेदयति ॥१॥ (अष्टम् परिच्छेद पृ० ४३७)
 सम्यगवबोधपूर्वं पौरुषमपसारिताखिलानर्थम् ।
 देवोपेतमभीष्टं सर्वं संपादयत्याशु ॥१॥ (नवम् परिच्छेद पृ० ४४६)
 श्रीमदकलंकविवृतां समन्तभद्रोक्तिमत्र संक्षेपात् ।
 परमागमार्थविषयामष्टसहस्री प्रकाशयति ॥१॥ (दशम् परिच्छेद पृ० ४६०)

इन समस्त श्लोकों के द्वारा विद्यान्दि स्वामी ने पूर्ववर्ती आचार्य और उनकी कृतियों पर विशेष आस्था व्यक्त करते हुए अपनी इस टीका का श्रेय उन्हीं को प्रदान किया है। अतः दशम् परिच्छेद वाले अन्तिम मंगलाचरण में उन्होंने कहा है—

श्री स्वामी समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र रूप वचन हैं अथवा समन्तात् सभी तरफ से भद्र-कल्याण को करने वाले वचन हैं उनकी श्री भद्राकलंक देव ने अष्टशती नाम से टीका की है अथवा जो श्री-अन्तरंग, बहिरंग लक्ष्मी से सहित, कलंकरहित निर्दोष हैं एवं परमागम के अर्थ को विषय करने वाले हैं, जन्हीं को संक्षेप में अष्टसहस्री नाम की टीका प्रकाशित करती है।

इसी प्रकार से इस महान् ग्रन्थराज की टीकाकर्त्री गणिनी आधिकारत्न श्री जानमती माताजी ने भी प्रत्येक परिच्छेद के प्रारम्भ में मंगलाचरण स्वरूप १-१ श्लोकों की रचना की है, जिन्हें इस ग्रंथ में प्रकाशित किया गया है।

जैसे चतुर्थ परिच्छेद के प्रारम्भ में उनका निम्न श्लोक है जो कि इसमें पृ० २६० पर छपने में छूट गया है, किन्तु उसका हिन्दी अनुवाद यथा स्थान छाया हुआ है—

भेदाभेदविनिर्मुक्तं योगिगम्यमगोचरम् । निर्भेदमप्यनंतं तं शुद्धात्मानं नमाम्यहम् ॥

अर्थात् जो भेद-अभेद से रहित है, योगियों के ज्ञान गोचर होकर भी अगोचर है, भेदों से रहित एक होकर भी गुणों की अपेक्षा अनंत है, ऐसी शुद्धात्मा को हम नमस्कार करते हैं।

इसी शुद्धात्मा को प्राप्त परमात्मा-आप्त की परीक्षा करते हुए श्रीसमन्तभद्राचार्य ने अलंकारमयी स्तुति की है।

पृष्ठ ३५० पर भी एक मंगलाचरण श्लोक में टीकाकर्त्री ने अपने भाव खोले हैं—

जैनेन्द्रकत्रांबुजनिगंता या, भव्यस्य माता हितदेशनायां ।

अनंतदोषान् क्षपितुं क्षमापि, तन्नोतु सा मे वरबोधिलब्धिम् ॥

इसका अर्थ है—जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से निकली हुई जो वाणी है, वह भव्यजीवों को हितकर उपदेश देने में माता के समान ही है। वह भव्यों के अनन्त दोषों को भी नष्ट करने में समर्थ है, ऐसी वह जिनवाणी मुझे उत्तम बोधि-रत्नत्रय का लाभ प्रदान करे।

जिनेन्द्र वाणी के प्रति महान् श्रद्धा का द्योतक उपर्युक्त श्लोक टीकाकर्त्तों के पवित्र भावों का परिज्ञान कराता है। वास्तव में ऐसी श्रद्धायुक्त महान् आत्माएं ही अनेकान्तमयी कृतियों का विधिपूर्वक अनुवाद कार्य कर सकती हैं।

अष्टसहस्री ग्रन्थ तो स्वयं रत्नाकर-समुद्र के सदृश है, जिसमें अनेक बहुमूल्य रत्न भरे हुए हैं। श्रीविद्यानंदिस्वामी ने इसमें यह भी बतलाया है कि “मंत्रों की उत्पत्ति जिनेन्द्र भगवान् के वचनों से ही होती है, अन्य वचनों से नहीं।”

इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३६६ पर इस विषय का खुलासा है। यथा—

“वैदिका एव मन्त्राः परत्रोपयुक्ताः शक्तिमन्त इत्यप्ययुक्तं, प्रावचनिका एव वेदेऽपि प्रयुक्ता इत्युपपत्तस्तत्र भूयसामुपलम्भात् समुद्राद्याकरेषु रत्नवत् । ...

यहाँ पर मीमांसक मतानुयायी किसी व्यक्ति की शंका है—

मीमांसक—वैदिक मंत्र ही अन्यत्र प्रयोग में लाने पर शक्तिमान् देखे जाते हैं ?

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि वे मंत्र प्रावचनिक—जिनागम में ही कहे गए हैं और वे ही वेद में भी प्रयुक्त हैं, यह बात व्यवस्थित है। क्योंकि हमारे यहाँ जिनप्रवचन में अनेक प्रकार से वे मंत्र उपलब्ध हो रहे हैं, जैसे कि समुद्रादि खानों में ही रत्नों की उपलब्धि होती है। कितने ही रत्न राजकुल आदि में उपलब्ध होते हैं, वे वहीं के नहीं हैं, किन्तु वे समुद्र आदि से ही लाए जाते हैं। समुद्रादि में ही उनकी उत्पत्ति सिद्ध है, क्योंकि बहुलता से वहाँ पर उनकी उत्पत्ति देखी जाती है। उसी प्रकार से जिन प्रवचन के एकदेश—अंशरूप विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व से ही सम्पूर्ण मंत्रों की उत्पत्ति होती है किन्तु उसके लवमात्र वेद से उन मंत्रों की उत्पत्ति नहीं है। इस प्रकार से हम युक्तियुक्त समझते हैं।

इस विषयक विशेष प्रकरण पृ० ३६७ से दृष्टव्य है।

“मन्त्रि” धातु गुप्त भाषण अर्थ में है, जिसे गुरुमुख से ही प्राप्त करने की आज्ञा है। इसी ‘मन्त्रि’ धातु से मन्त्री शब्द बना है। मन्त्री ही राजा को गुप्त सलाह प्रदान कर राजगद्दी का सन्मान बढ़ाता है। जिस राजा का मन्त्री सुयोग्य नहीं होता, उस राज्य की कीर्ति धूमिल हो जाती है तथा राजा को ऐसे मन्त्रियों से सदैव खतरा बना रहता है। उसी प्रकार से मन्त्रों का ज्ञाता भी यदि सदाचारी सुयोग्य मानव होता है, तभी उसे मंत्रों की सिद्धि ही सकती है, अन्यथा वे मन्त्र उसे हानिकारक भी हो सकते हैं।

मन्त्रशास्त्रों को मिथ्या कहने वाला प्राणी कभी भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है, क्योंकि द्वादशांग रूप जिनवाणी से बहिर्भूत संसार का कोई भी विषय नहीं है। कहा भी है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते । आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥

अर्थात् अदृष्ट पदार्थों पर भी श्रद्धा करना आज्ञा सम्यक्त्व है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् कभी भी अन्यथावादी नहीं हो सकते।

११४वीं कारिका में आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने इस ग्रन्थ के फल को बतलाया है। इस ग्रन्थ में इन समस्त कारिकाओं का हिन्दी पद्यानुवाद मात्र नमूने के तौर पर यहाँ मैं उद्धृत कर रही हूँ।

हित के इच्छुक भव्यजनों को, सत्य असत्य बताने को।
सम्यक्मिथ्या उपदेशों के, अर्थ विशेष समझाने को ॥
इस प्रकार से रची गई यह, आप्त समीक्षा को करती।
कुशल “आप्तमीमांसा” स्तुति यह ‘सम्यक्ज्ञानमती’ करती ॥११४॥

इसकी टीका में श्री अकलंकदेव की अष्टशती भी उपर्युक्त भावों की पृष्टि करती हुई बताती है। यथा—

“अभव्यानां तदनुपयोगात् । तत्त्वेतरपरीक्षां प्रति भव्यानामेव नियताधिकृतिः ।”

इसका अर्थ यह है कि “उस मोक्ष एवं मोक्ष के कारणों की इच्छा करने वाले भव्य जीवों के लिए ही यह है न कि मोक्ष की इच्छा न करने वाले अभव्यों के लिए है। क्योंकि उन अभव्यों के लिये वह कुछ भी उपयोगी नहीं है कारण कि तत्त्व और अतत्त्व की परीक्षा के प्रति भव्यों को ही निश्चित अधिकार है।

श्री विद्यानन्दि स्वामी ने अष्टसहस्री की टीका समापन करते हुए स्वयं इसे “कष्टसहस्री” संज्ञा से सम्बोधित किया है—

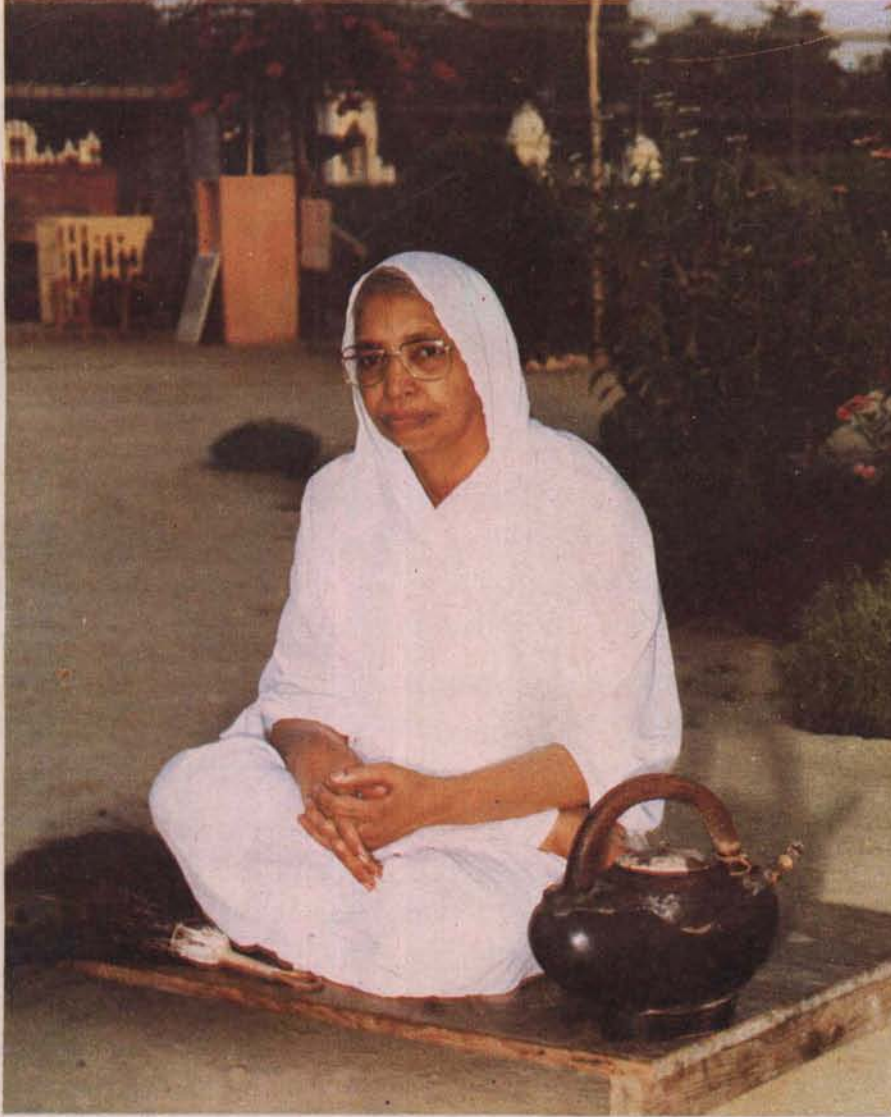
कष्टसहस्रीसिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात् । शश्वदभोष्टसहस्रीं कुमारसेनोक्ति वर्धमानार्था ॥

जो कष्टसहस्री रूप से सिद्ध है अर्थात् सहस्रों कष्ट झेलकर जिसका कार्य हुआ है एवं कुमारसेन मुनि की सूक्तियों से वर्धमान-वृद्धिगत अर्थवाली है अथवा जो श्रेष्ठ है, वह अष्टसहस्री जिनवाणी भारती हमेशा ही हमारे अभीष्ट सहस्री-सहस्रों मनोरथों को पुष्ट करे—सफल करे।

इन शब्दों से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि श्री विद्यानन्दि आचार्य को इस ग्रन्थ की रचना में अनेक संघर्ष एवं कष्ट झेलने पड़े हों। वे कष्ट चाहे शारीरिक रहे हों या वाद-विवाद स्वरूप मानसिक एवं आगन्तुक हों; उन सभी को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए ग्रन्थरचना को पूर्ण किया, यह उनके महान् पौरुष की एक मात्र अमिट निशानी है। जीवन में कष्टों का आना एक सहज बात है, किन्तु उन्हें सहन कर कार्य को पूर्ण करना महापुरुषों का कार्य है।

हम सभी का यह परम सौभाग्य है कि बिना किसी परिश्रम के ऐसे दुरुह ग्रन्थों के स्वाध्याय का लाभ हमें प्राप्त हुआ है, अतः माँ जिनवाणी की वंदनापूर्वक पूर्वाचार्यों को नमन करते हुए पू० ज्ञानमती माताजी की इस “स्याद्वादवितामणि” नामक हिन्दी टीका समन्वित “अष्टसहस्री” ग्रन्थ का अध्ययन और अनुचिन्तन करते हुए अपनी आत्मा के साथ उचित न्याय का प्रबन्ध करें।

सिद्धान्त वाचस्पति, न्यायप्रभाकर गणिनी आर्यिकारत्न
श्री ज्ञानमती माताजी



जन्म

टिकैतनगर (बाराबंकी उ.प्र.)
सन् १९३४ वि. सं १९६१
असोज शु. १५ (शरद पू०)

क्षुल्लिका दीक्षा

आ० श्री देशभूषण जी से
श्री महावीरजी में
वि.सं. २००६ चैत्र कृ. १

आर्यिका दीक्षा

आ० श्री वीरसागर जी से
माधोराजपुरा (राज०) में
सं. २०१३ वैशाख कृ. २

टीकाकर्त्री पूज्य गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का परिचय

लेखिका—आर्यिका चन्दनामती

अवध प्रान्त के टिकेतनगर ग्राम में सन् १९३४ में शरदपूर्णिमा की रात्रि में धरती पर एक चाँद भवतीर्ण हुआ। श्रेष्ठी धनकुमार जी के सुपुत्र श्री छोटेलाल जी की बगिया खिल उठी और श्रीमती मोहिनी देवी का प्रथम मातृत्व धन्य हो गया। कन्या के रूप में मानो कोई देवी ही वरदान बनकर आई थी। कन्या का नाम रखा गया। —“मैना”।

वैसे कन्या का जन्म साधारणतया घर में कुछ समय के लिये क्षोभ उत्पन्न कर देता है, किन्तु विश्व में अनादिकाल से पुरुषों के समान नारियों ने भी महान् कार्य कर धरा को गौरवान्वित किया है। बल्कि यों भी कह सकते हैं कि सतियों के सतीत्व के बल पर ही धर्म की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है।

संस्कारों का प्रभाव जीवन में बहुत महत्व रखता है। ११ वर्ष की उम्र में कुमारी मैना के जीवन पर अमिट छाप पड़ी—अकलंक निकलंक नाटक के एक दृश्य की। विवाह की चर्चा के समय जो बात अकलंक ने अपने माता-पिता से कही थी कि “कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा नहीं रखना ही श्रेयस्कर है।” तदनुसार मैना ने भी उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत रखने का मन में संकल्प कर लिया था।

सन् १९५२ की शरदपूर्णिमा के दिन बाराबंकी में मैना ने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से सप्तम प्रतिमा रूप आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। बहुतों ने रोका, समझाया, संघर्ष किया लेकिन स्वातन्त्र्य प्रिय कु० मैना को रोकने में सफलता नहीं मिली। वि० सं० २००६ चैत्र कृ० १ के दिन आचार्य श्री से ही श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर क्षुल्लिका दीक्षा प्राप्त की। आपकी दृढ़ता देखकर गुरु ने नाम रखा—“वीरमती”।

जिस समय चारित्र्य चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की कुंथलगिरि में सल्लेखना हो रही थी, उस समय आप भी क्षुल्लिका विशालमती माताजी के साथ कुंथलगिरि आईं और आचार्यश्री की विधिवत् सल्लेखना का दृश्य साक्षात् दृष्टि से देखा। आचार्यश्री ने अपने प्रथम शिष्य मुनि श्री वीरसागर जी को आचार्य पट्ट प्रदान किया था। श्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार “वीरमती” ने आचार्य श्री वीरसागर जी के संघ में प्रवेश कर वि० सं० २०१३ वैशाख कृष्णाद्वय को माधोराजपुरा (राज०) में आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली। आचार्यश्री वीरसागर महाराज ने दीक्षोपरान्त वीरमती का नाम परिवर्तित कर नामकरण कर दिया—आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी।

आर्यिका ज्ञानमती जी ने अपनी छोटी सी अवस्था में ही गुरु के आशीर्वाद से महान् ज्ञानार्जन कर लिया। आचार्यश्री इन्हें हमेशा यही सम्बोधन दिया करते थे—माताजी! मैंने जो आपका नाम रखा है, उसका ध्यान रखना। २ वर्ष पश्चात् गुरुदेव भी जयपुर खानिया में समाधिस्थ हो गये। आचार्यश्री की समाधि के पश्चात् लगभग ६ वर्ष तक आपने आ० शिवसागर महाराज के संघ में ही रहकर ध्यानाध्ययन किया। अनंतर आचार्यश्री

की आज्ञानुसार अपने आर्थिक संघ सहित सम्मेलनखर, कलकत्ता तथा सम्पूर्ण दक्षिण भारत की यात्रा हेतु अलग विहार किया ।

दीपक जिस प्रकार स्वयं जलकर भी दूसरों को प्रकाश प्रदान करता है, चन्दन विषधरों द्वारा उसे जाने पर सुगन्धि ही बिखराता है । उसी प्रकार पू० ज्ञानमती माताजी ने सदैव परोपकार में ही अपने जीवन की सार्थकता मानी है ।

जहाँ आपने कुमारी कन्याओं, सौभाग्यवती महिलाओं एवं विधवा महिलाओं को गृहस्थरूपी कीचड़ से निकालकर मोक्षमार्ग में लगाया है वहीं कई नवयुवक एवं प्रौढ़ पुरुषों को भी शिक्षा देकर त्याग के चरम शिखर पर पहुँचाया है । चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के चतुर्थ पट्ट पर विराजमान आचार्यश्री अजितसागर महाराज वर्तमान में इसके जीते-जागते उदाहरण हैं । बाल ब्र० श्री राजमल जी को सन् १९५८-५९ में राजवार्तिक, गोम्मतसार कर्मकाण्ड, पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराया और दीक्षा की प्रेरणा देती रहीं । उषी के फलस्वरूप अपने अथक प्रयासों के बल पर आखिर एक दिन मुनि दीक्षा के लिये ज्ञानमती माताजी ने तैयार कर ही दिया और सन् १९६१ में सोकर (राज०) में आचार्यश्री शिवसागर महाराज ने उन्हें दीक्षा देकर मुनि अजितसागर बना दिया ।

देखिए ! त्याग की विशेषता और मातृ हृदय की उदारता, आर्थिका श्री ज्ञानमती माताजी ने तत्क्षण ही उन्हें नमोस्तु करना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि जैनधर्म में जिनलिङ्ग—मुनिवेष सर्वाधिक पूज्य माना गया है ।

परमपूज्य आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज हमेशा कहा करते थे—

“पारसमणि तो लोहे को सोना बनाता है, पारस रूप नहीं बनाता, किन्तु ज्ञानमती माताजी वह पारस हैं जो लोहे को सोना ही नहीं, किन्तु पारस बना देती हैं । प्रत्युत “निजसम की बात तो जाने दो निज से महान कर देती हैं ।” वास्तव में मैंने भी यह अनुभव किया कि पू० माताजी अपने शिष्यों की तथा दूसरों की उन्नति देख सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होती हैं । जिस समय उदयपुर (राज०) में जून १९८७ में मुनि श्री अजितसागर महाराज को आचार्य पट्ट प्रदान किया गया, उस समय ज्ञानमती माताजी हस्तिनापुर में बैठकर भी कितनी प्रसन्न होकर उनके दीर्घ जीवन एवं उज्ज्वल परम्परा की अखण्डता हेतु मंगल कामना कर रही थीं ।

इसी प्रकार से आपकी शिष्याओं में से आर्थिका श्री जिनमती माताजी, आदिमती माताजी ने आपके मुखारविन्द से ही धर्माध्ययन करके प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं गोम्मतसार कर्मकण्ड जैसे ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद उपस्थित किया है । कई आर्थिकाएं एवं ब्रह्मचारिणी शिष्याएं अपनी-अपनी योग्यतानुसार यत्र-तत्र धर्म प्रचार में संलग्न हैं ।

साहित्यिक क्षेत्र—

दृढ़ संकल्पी आत्मा का प्रत्येक कार्य अवश्यमेव सफल होता है । जिस प्रकार ज्ञानमती माताजी ने शिष्य निर्माण में अच्छी सफलता प्राप्त की है, उसी प्रकार साहित्य निर्माण के क्षेत्र में इस युग में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है ।

वर्तमान शताब्दी में जैन समाज की किसी महिला ने भी साहित्यसृजन का कार्य नहीं किया था, किन्तु ज्ञानमती माताजी ने जब से अपनी लेखनी प्रारम्भ की, तब से लेकर आज तक उन्होंने लगभग १५० ग्रन्थों की

रचना की एवं सैकड़ों संस्कृत स्तुतियाँ आदि बनाईं। जहाँ अष्टसहस्री जैसे क्लिष्टतम ग्रन्थ का "स्याद्वादचितामणि" टीका नाम से हिन्दी अनुवाद किया, अध्यात्मग्रंथ नियमसारपर 'स्याद्वादचन्द्रिका' नामक संस्कृत टीका समयसार ग्रंथ में आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति इन दोनों संस्कृत टीकाओं की हिन्दी टीका लिखी है, वहीं बालोपयोगी बालविकास के चार भाग तथा उपन्यास शैली में अनेक कथानक भी लिखे हैं। जिनमें से लगभग १०० ग्रन्थों का लाखों की संख्या में प्रकाशन भी हो चुका है।

निवृत्ति मार्ग में रहते हुए भक्तिमार्ग भी आपसे अछूता नहीं रहा। उसी का प्रतिफल आज हम देख रहे हैं कि सारे हिन्दुस्तान में इन्द्रध्वज और कल्पद्रुम विधानों की धूम मची हुई है। इसी प्रकार से सर्वतोभद्र महा-विधान, तीनलोक विधान, त्रैलोक्य विधान, तीसचौबीसी तथा पंचमेरु आदि विधान पू० माताजी की कलम से लिखे गये हैं। उनका भी हस्तिनापुर से शुभारम्भ हो चुका है। भक्ति में आदर नहीं रखने वाले कितने ही व्यक्ति इन विधानों को सुनकर भावितक बन जाते हैं तथा भक्तिरस में डूबकर प्रत्येक प्राणी कुछ क्षणों के लिये तो परमात्मा में निमग्न हो ही जाते हैं। धर्म का गूढ़ से गूढ़ रहस्य इन विधानों की जयमालाओं में भरा हुआ है। आत्मारसिक भावक के लिये किसी भी विधान की एक पुस्तक ही पर्याप्त होती है जिसके द्वारा वे चारों अनुयोगों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार से ज्ञानमती माताजी ने अपने जीवन में साहित्यसृजन का नवीन कार्य किया है। उनके मार्ग का अनुसरण करते हुए आज तो कई आर्थिकाओं ने ग्रन्थ निर्माण की ओर अपने कदम बढ़ाये हैं जो नारी जाति के लिये गौरव का विषय है। एक कवि ने कहा भी है—

जो बतलाते नारी जीवन लगता मधुरस की लाली है।
वह त्याग तपस्या क्या जाने कोमल फूलों की डाली है।
जो कहते योगों में नारी नर के समान कब होती है।
ऐसे लोगों को ज्ञानमती का जीवन एक चुनौती है।।

जम्बूद्वीप निर्माण एवं ज्ञानज्योति प्रवर्तन—

सन् १९६५ में आर्थिका श्री ज्ञानमती माताजी ने ५ आर्थिकाओं सहित आर्थिका संघ का चानुर्मास कर्नाटक प्रान्त के श्रणबेलगोला में किया। भगवान् बाहुबली की अमरकृति से वहाँ का इतिहास सर्वप्रसिद्ध है। उस वीतराग छवि को हृदयान्तरित करने हेतु पू० माताजी ने एक बार १५ दिन तक मौनपूर्वक विध्यगिरि पर्वत पर ध्यान करने का संकल्प किया। उसी ध्यान की शृंखला में एक दिन सम्पूर्ण अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना हुई, वित्त की यात्रा ने जम्बूद्वीप को प्रधानता दी। ध्यान की क्रिया सम्पन्न होने के पश्चात् जैनागम का अवलोकन होने लगा। मन में प्रश्न उभरता कि क्या ऐसा अतिशय सम्पन्न स्थान कहीं है? हाँ, प्रश्नवाचक चिन्ह उत्तर रूप में परिवर्तित हुआ, खोज करते-करते करणानुयोग के तिलोयपण्णति एवं त्रिलोकसार में सारा ज्यों का त्यों वर्णन देखने को मिला। माताजी की प्रसन्नता का पार नहीं रहा क्योंकि उनका ध्यान आज सार्थक साकार रूप ले चुका था।

इसे तो भगवान् बाहुबली की देन, ध्यान की एकाग्रता और पूर्वभव के संस्कार ही मानना पड़ेगा, क्योंकि इससे पूर्व माताजी को कोई ऐसा विकल्प नहीं था। पू० माताजी के मुखारविन्द से इस रचना का विवरण सुनकर सर्वप्रथम तो श्रवण बेलगोला के पीठाधीश भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की। पुनः कई

स्थानों पर इस निर्माण की चर्चा आई किन्तु होनी कोई को टाल नहीं सकता, माताजी ने उत्तर प्रान्त में आकर स्थान चयन किया—पावन तीर्थक्षेत्र हस्तिनापुर का ।

सन् १९७५ में दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान ने हस्तिनापुर में संस्था के नाम से एक भूमि खरीदकर निर्माण कार्य प्रारम्भ किया जिसमें प्रथम चरण के रूप में बीचोबीच का ८४ फुट ऊंचा सुमेरुपर्वत सन् १९७६ में बनकर तैयार हो गया उसके १६ जिनमन्दिरों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २६ अप्रैल से ३ मई १९७६ तक सम्पन्न हुई । अर्जुन बन्धु भी इस पर्वत पर मनोरंजन की भावना से चढ़ते हैं किन्तु अनायास ही भगवान के सामने उन सबका भी मस्तक नत हो जाता है । सुमेरु पर्वत एवं ज्ञानमती माताजी का प्रभाव था कि निर्माण कार्य आगे बढ़ता गया और ६ वर्ष की अल्प अवधि में पूरा जम्बूद्वीप बनकर तैयार हो गया ।

इसी बीच ४ जून १९८२ को पू० माताजी की प्रेरणा से प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने दिल्ली के लाल किला मैदान से जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का प्रवर्तन किया जिसके द्वारा १०४५ दिनों तक सम्पूर्ण भारत में जम्बूद्वीप एवं भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ तथा अन्त में २८ अप्रैल १९८५ को हस्तिनापुर में समापन समारोह के साथ रक्षामन्त्री श्री पी० वी० नरसिंहराव एवं सांसद श्री जे० के० जैन ने यहीं पर उस ज्ञानज्योति की अखंड स्थापना की जो प्रत्येक आगंतुक नरनारियों को अहिंसा ज्ञान का संदेश प्रदान करती है ।

यही अवसर था जम्बूद्वीप में विराजमान समस्त जिनबिम्बों की प्राण प्रतिष्ठा का । अतः २८ अप्रैल से २ मई १९८५ तक जम्बूद्वीप की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई ।

अब तो हस्तिनापुर नगरी सचमुच में भगवान् शांतिनाथ का युग दरशा रही है जिसे कभी राजधानी के रूप में माना जाता था । किन्तु मध्यकाल में इसकी गरिमा मात्र पुराणों तक सीमित हो गई थी, वर्तमान दशक में इसकी उन्नति देखकर कविर ध्यानतरंग्य की ये पंक्तियाँ स्मृत हो आती हैं—

गुरु की महिमा बरणी न जाय, गुरु नाम जपो मनवचनकाय ॥

पू० ज्ञानमती माताजी के चरण पड़ते ही यहाँ की रज पुनः चन्दन बन गई और वीणा के मूक तार पुनः शंकृत होकर पूर्व इतिहास की गाथा गाने लगे—

अरे ! यह तो वही भूमि है जहाँ आदि तीर्थंकर वृषभदेव को प्रथम बार इक्षुरस का आहार राजा श्रेबांस ने दिया था और स्वप्न में सुमेरु पर्वत देखा था । शायद इसीलिए ऊँचे सुमेरु पर्वत का निर्माण यहाँ की पवित्र स्थली पर हुआ है । एक ही नहीं न जाने कितने इतिहास इस भूमि से जुड़े हैं । देखिए न ! रक्षाबन्धन पर्व महाभारत की कथा, मनोवती की दर्शन प्रतिज्ञा का इतिहास, द्रौपदी के शील महत्त्व, राजा अशोक और रोहिणी सम्बन्ध, अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनियों का उपसर्ग, गजकुमार मुनि का उपसर्ग तथा भगवान् शांतिनाथ, कुन्धुनाथ, अरहनाथ के चार-चार कल्याणक का लोभाग्य यहाँ की ही माटी को प्राप्त हुआ था । उसी का पुनरुद्धार किया परमतपस्विनी गणिनी आधिकाररत्न ज्ञानमती माताजी ने ।

अपनी निन्दा प्रशंसा से दूर, आत्महित और जनहित की भावना से ओतप्रोत, रत्नत्रय की इस साधिका के पास न जाने कितने लोग आकर प्रतिदिन उनसे अपना कष्ट कहकर शांति प्राप्त करते हैं ।

पूज्य माताजी की दैनिक चर्चा—

कर्मभूमि में दिन और रात का विभाजन सूर्य और चाँद के इशारों पर होता है क्योंकि यहाँ की प्रकृति ने इसे ही स्वीकार किया है । मनुष्य सुबह से शाम तक अपनी समस्याओं से जूझता है पुनः थककर निद्रा की गोद

में स्थान प्राप्त कर लेता है। प्रातःकाल उठकर अपने धन्धे में लग जाता है। यही क्रम सौ पचास वर्ष की प्राप्त अल्गायु में चलता है, पुनः कालकवलित हो जाता है।

इस क्षणिक विनश्वर जीवन में भी महापुरुष जीवन के प्रत्येक क्षणों का उपयोग करके उसे महान् बना लेते हैं।

आयिका श्री ज्ञानमती माताजी का जीवन भी उन महापुरुषों में एक है, जिन्होंने सन् १९५२ से गृह-परिस्थाय करके आज ३८ वर्षों में अपने को एक महान् साधक को कोटि में पहुंचा दिया है। सुबह से शाम तक उनका प्रत्येक क्षण अमूल्य होता है।

प्रातः ४ बजे उठकर प्रभु का स्मरण, अपररात्रिक स्वाध्याय, प्रतिक्रमण के पश्चात् ६ बजे तक सामायिक करती है। लेखन चूंकि उनके जीवन का मुख्य अंग ही है, अतः स्वास्थ्य की अनुकलतानुसार थोड़ी देर लेखन कार्य करती है। उसके पश्चात् त्रिमूर्ति मन्दिर, कमल मन्दिर और जम्बूद्वीप के दर्शन करके अभिषेक देखती है।

प्रातः ७-३० बजे से पू० माताजी समस्त शिष्यों को समयसार आदि ग्रन्थों का संस्कृत टीकाओं से स्वाध्याय कराती हैं। बाहर से आये हुए यात्रियों को धर्मोपदेश भी सुनाती हैं और १० बजे आहारचर्चा के लिए निकलती हैं।

अनंतर मध्याह्न में सामायिक करती हैं। पुनः २-३० बजे से विभिन्न प्रान्तों से आये हुए यात्रीगण उनके दर्शन करते हैं तथा अपनी-अपनी समस्याओं के आधार पर पू० माताजी से समाधान भी प्राप्त करते हैं। यह समय २-३० बजे से ५ बजे तक रहता है। फिर सामूहिक प्रतिक्रमण होता है। पुनः माताजी अपने शिष्य-शिष्याओं सहित मन्दिरों के दर्शन करती हैं एवं जम्बूद्वीप की ५-७ प्रदक्षिणा लगाती हैं। कभी कभी सुमेरु पर्वत के ऊपर तक जाकर वंदना भी करती हैं।

पुनः सायंकालीन सामायिक प्रारम्भ हो जाती है। इसके पश्चात् पूर्वरात्रिक स्वाध्याय सुनती हैं। अनंतर स्वयं का चिन्तन करके १० बजे से रात्रि विश्राम करती हैं। यह तो मैंने स्वयं देखा है कि जब माताजी का स्वास्थ्य अनुकूल था तो उनका ४-५ घण्टे का समय साधुवर्गों को अध्ययन कराने में एवं ३-४ घण्टे लेखन में व्यतीत होता था।

इस प्रकार पू० गणिनी आयिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की संक्षिप्त जीवन ज्ञांकी मैंने प्रस्तुत की है। आशा है कि हमारे पाठकगण उनके जीवनवृत्त से लाभ उठायेंगे तथा हस्तिनापुर पधार कर साक्षात् पू० माताजी के एवं उनकी अमरकृतियों के दर्शन कर धर्मलाभ प्राप्त करेंगे।

श्री वीर के समवसृति में चंदना थीं। गणिनी बनीं जितचरण जगवन्दना थीं।

गणिनी वही पदबिभूषित को नमूँ मैं। श्रीमात ज्ञानमति को नित ही नमूँ मैं ॥

“इत्यलम्”



दानतीर्थ हस्तिनापुर

लेखक—स्वस्ति श्री पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर महाराज

भगवान् आदिनाथ का प्रथम आहार—

हस्तिनापुर तीर्थ तीर्थों का राजा है। यह धर्म प्रचार का आद्य केन्द्र रहा है। यहीं से धर्म की परम्परा का शुभारम्भ हुआ। यह वह महातीर्थ है जहाँ से दान की प्रेरणा संसार ने प्राप्त की।

भगवान् आदिनाथ ने जब दीक्षा धारण की उस समय उनके देखा-देखी चार हजार राजाओं ने भी दीक्षा धारण की। भगवान् ने केशलोच किये उन सबने भी केशलोच किये, भगवान् ने वस्त्रों का त्याग किया उसी प्रकार से उन राजाओं ने भी नग्न दिग्म्बर अवस्था धारण कर ली। भगवान् हाथ लटकाकर ध्यान मुद्रा में खड़े हो गये, वे सभी राजा गण भी उसी प्रकार से ध्यान करने लगे किन्तु तीन दिन के बाद उन सभी को भूख प्यास की बाधा सताने लगी। वे बार-बार भगवान् की तरफ देखते किन्तु भगवान् तो मौन धारण करके नासाग्रदृष्टि किये हुए अचल खड़े थे, एक दो दिन के लिए नहीं पूरे छह माह के लिए। अतः उन राजाओं ने बेचैन होकर जंगल के फल खाना एवं झरनों का पानी पीना प्रारम्भ कर दिया।

उसी समय वन देवता ने प्रगट होकर उन्हें रोका कि—“मुनिवेश में इस प्रकार से अनर्गल प्रवृत्ति मत करो।” यदि भूख प्यास का कष्ट सहन नहीं हो पाता है तो इस जगतपूज्य मुनिवेश को छोड़ दो। तब सभी राजाओं ने मुनि पद को छोड़कर अन्य वेश धारण कर लिये। किसी ने जटा बढ़ा ली, किसी ने बल्कल धारण कर ली, किसी ने भस्म लपेट ली। कुटी बनाकर रहने लगे।

भगवान् ऋषभदेव का छह माह के पश्चात् ध्यान विसर्जित हुआ। वैसे तो भगवान् का बिना आहार किये भी काम चल सकता था किन्तु भविष्य में भी मुनि बनते रहें, मोक्षमार्ग चलता रहे इसके लिए आहार के लिए निकले। किन्तु उनको कहीं पर भी विधिपूर्वक एवं शुद्ध प्रासुक आहार नहीं मिल पा रहा था। सभी प्रदेशों में भ्रमण हो रहा था किन्तु कहीं पर भी दातार नहीं मिल रहे थे। कारण यह था उनसे पूर्व में भोग भूमि की व्यवस्था थी। लोगों को जीवन यापन की सामग्री भोजन, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सब कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाते थे। जब भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त हुई तब कर्मभूमि में कर्म करके जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त करने की कला भगवान् के पिता नाभिराय ने एवं स्वयं भगवान् ऋषभदेव ने सिखाई।

असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प एवं वाणिज्य करके जीवन जीने का मार्ग बतलाया। सब कुछ बतलाया किन्तु दिग्म्बर मुनियों को किस विधि से आहार दिया जावे इस विधि को नहीं बतलाया। जिस इन्द्र ने भगवान् ऋषभदेव के गर्भ में आने से छह माह पहले से रत्नवृष्टि प्रारम्भ कर दी थी, पाँचों कल्याणकों में स्वयं इन्द्र प्रतिक्षण उपस्थित रहता था किन्तु जब भगवान् प्रासुक आहार प्राप्त करने के लिए भ्रमण कर रहे थे तब वह भी नहीं आ पाया।

सम्पूर्ण प्रदेशों में भ्रमण करने के पश्चात् हस्तिनापुर आगमन से पूर्व रात्रि के पिछले प्रहर में यहाँ राजा श्रेयांस को सात स्वप्न दिखाई दिये जिसमें प्रथम स्वप्न में सुदर्शनमेरु पर्वत दिखाई दिया। प्रातःकाल में ज्योतिषी को बुलाकर उन स्वप्नों का फल पूछा। तब बताया कि जिनका मेरुपर्वत पर अभिषेक हुआ है जो सुमेरु के समान महान् हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान् के दर्शन का लाभ प्राप्त होगा।

कुछ ही देर बाद भगवान् ऋषभदेव का हस्तिनापुर नगरी में मंगल पदार्पण हुआ। भगवान् का दर्शन करते ही राजा श्रेयांस को जातिस्मरण हो गया। उन्हें आठ भव पूर्व का स्मरण हो आया। जब भगवान् ऋषभदेव राजा वज्रजंघ की अवस्था में व स्वयं राजा श्रेयांस राजा वज्रसंघ की पत्नी रानी श्रीमती की अवस्था में थे और उन्होंने चारण ऋद्धिधारी मुनियों को नवधा भक्ति पूर्वक आहारदान दिया था। तभी राजा श्रेयांस समझ गये कि भगवान् आहार के लिए निकले हैं।

यह ज्ञान होते ही वे अपने राजमहल के दरवाजे पर खड़े होकर मंगल वस्तुओं को हाथ में लेकर भगवान् का पङ्गाहन करने लगे—

हे स्वामी ! नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु, अत्र तिष्ठ तिष्ठ.....। विधि मिलते ही भगवान् राजा श्रेयांस के आगे खड़े हो गये। राजा श्रेयांस ने पुनः निवेदन किया—मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार-जल शुद्ध है, भोजनशाला में प्रवेश कीजिये। चौके में ले जाकर पाद प्रक्षाल करके पूजन की एवं इक्षुरस का आहार दिया। आहार होते ही देवों ने पंचाश्चर्य की वृष्टि की। चार प्रकार के दानों में से केवल आहार दान के अवसर पर ही पंचाश्चर्य वृष्टि होती है। भगवान् जैसे पात्र का लाभ मिलने पर उन राजा श्रेयांस की भोजनशाला में उस दिन भोजन अक्षय हो गया। शहर के सारे नर नारी भोजन कर गये तब भी भोजन जितना था उतना ही बना रहा।

एक वर्ष के उपवास के बाद हस्तिनापुर में जब भगवान् का प्रथम आहार हुआ तो समस्त पृथ्वीमंडल पर हस्तिनापुर के नाम की धूम मच गई, सर्वत्र राजा श्रेयांस की प्रशंसा होने लगी। अयोध्या से भरत चक्रवर्ती ने आकर राजा श्रेयांस का भव्य समारोह पूर्वक सन्मान किया। तथा प्रथम आहार की स्मृति में यहाँ एक विशाल स्तूप का निर्माण कराया।

जिस समय राजा श्रेयांस भगवान् को आहार दे रहे थे उस समय राजा का हाथ ऊपर था एवं भगवान् का हाथ नीचे था। दानी दातार का हाथ सदा ऊँचा रहता है। बरसने वाले बादल ऊँचे आसमान में रहते हैं और जल ग्रहण करने वाला समुद्र नीचे रहता है। जब तक बादल जल सहित होते हैं तब तक तो काले रहते हैं, जब जल का दान कर देते हैं तब श्वेत हो जाते हैं। दान के कारण ही भगवान् आदिनाथ के साथ राजा श्रेयांस को भी याद करते हैं।

जिस दिन यहाँ प्रथम आहार दान हुआ वह दिन बैसाख सुदी तीज का था। तबसे आज तक वह दिन प्रतिवर्ष पर्व के रूप में माना जाता है। अब उसे आखा तीज या अक्षय तृतीया कहते हैं।

इस प्रकार दान की परम्परा हस्तिनापुर से प्रारम्भ हुई। दान के कारण ही धर्म की परम्परा भी तबसे अब तक बराबर चली आ रही है। क्योंकि मन्दिरों का निर्माण, मूर्तियों का निर्माण,

शास्त्रों का प्रकाशन, मुनिसंघों का विहार दान से ही सम्भव है। और यह दान श्रावकों के द्वारा ही होता है। श्रवणबेलगोल में एक हजार साल से खड़ी भगवान् बाहुबली की विशाल प्रतिमा भी चामुण्डराय के दान का ही प्रतिफल है जो कि असंख्य भव्य जीवों को दिगम्बरत्व का, आत्मशान्ति का पावन संदेश बिना बोले ही दे रही है।

यहाँ बनी यह जम्बूद्वीप की रचना भी सम्पूर्ण भारतवर्ष के लाखों नर-नारियों के द्वारा उदार भावों से प्रदत्त दान के कारण ही मात्र दस वर्ष में बनकर तैयार हो गई जो कि सम्पूर्ण संसार के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गई है। जम्बूद्वीप की रचना सारी दुनिया में अभी केवल यहाँ हस्तिनापुर में ही देखने को मिल सकती है। नंदीश्वर द्वीप की रचना, समवसरण की रचना तो अनेक स्थलों पर बनी है और बन रही है। यह हमारा व आप सबका परम सौभाग्य है कि हमारे जीवन काल में ऐसी भव्य रचना बनकर तैयार हो गई और उसके दर्शनों का लाभ सभी को प्राप्त हो रहा है।

भगवान् आदिनाथ के प्रथम आहार के उपलक्ष में वह तिथि पर्व के रूप में मनाई जाने लगी। वह दिन इतना महान् हो गया कि कोई भी शुभ कार्य उस दिन बिना किसी ज्योतिषी से पूछे कर लिया जाता है। जितने विवाह अक्षय तृतीया के दिन होते हैं उतने शायद ही अन्य किसी दिन होते हों।

और तो और ! जबसे भगवान् का प्रथम आहार इक्षुरस का हुआ तबसे इस क्षेत्र में गन्ना भी अक्षय हो गया। जिधर देखो उधर गन्ना ही गन्ना नजर आता है, सड़क पर गाड़ी में आते-जाते बिना खाये मुंह मीठा हो जाता है, कदम-कदम पर गुड़-शक्कर बनता दिखाई देता है। हस्तिनापुर में आने वाले प्रत्येक यात्री को जम्बूद्वीप प्रवेश द्वार पर भगवान् के आहार के प्रसाद रूप में यहाँ लगभग बारह महीने इक्षुरस पीने को मिलता है।

भगवान् शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ के चार-चार कल्याणक —

भगवान् आदिनाथ के पश्चात् अनेक महापुरुषों का इस पुण्य धरा पर आगमन होता रहा। भगवान् शान्तिनाथ, कुंथुनाथ एवं अरहनाथ के चार-चार कल्याणक यहाँ हुए हैं। तीनों तीर्थकर चक्रवर्ती एवं कामदेव पद के धारी थे। तीनों तीर्थकरों ने यहाँ से समस्त छह खण्ड पृथ्वी पर राज्य किया किन्तु उन्हें शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई। छियानवे हजार रानियां भी उन्हें सुख प्रदान नहीं कर सकीं अतएव उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्यागकर नग्न दिगम्बर अवस्था धारण की, मुनि बन गये।

बारह भावनाओं में पढ़ते हैं—

कोटि अठारह घोड़े छोड़े चौरासी लख हाथी।

इत्यादिक सम्पत्ति बहुतेरी जोरण तृण सम त्यागी ॥

छियानवे हजार रानियों को एवं अपार सम्पदा को क्षण भर में जीर्ण तृण के समान त्याग दिया।

भगवान् शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ ने महान् तपश्चर्या करके दिव्य केवलज्ञान की प्राप्ति की। उनकी ज्ञानज्योति के प्रकाश से अनेकों भव्य जीवों का मोक्षमार्ग प्रशस्त हुआ। अन्त में उन्होंने सम्भेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया। आज हजारों लोग उन तीर्थंकरों की चरणरज से पवित्र इस पुण्य धरा की वन्दना करने आते हैं। उस पुनीत माटी को मस्तक पर चढ़ाने के लिए आते हैं।

कौरव पांडव की राजधानी—

महाभारत की विश्वविख्यात घटना भगवान् नेमोनाथ के समय में यहाँ घटित हुई। यह वही हस्तिनापुर है जहाँ कौरव पांडव ने राज्य किया। सौ कौरव भी पांच पांडवों को हरा नहीं सके। क्या कारण था? कौरव अनीतिवान् थे, अन्यायी थे, अत्याचारी थे, ईर्ष्यालु थे, द्वेषी थे। उनमें अभिमान बाल्यकाल से कूट-कूट कर भरा हुआ था। पांडव प्रारंभ से धीर-वीर-गंभीर थे, सत्य आचरण करने वाले थे, न्यायनीति से चलते थे, सहिष्णु थे। इसीलिये पांडवों ने विजय प्राप्त की। यहां तक कि पांडव भी सती सीता की तरह अग्नि परीक्षा में सफल हुए। कौरवों के द्वारा बताये गये जलते हुये लाक्षागृह से भी णमोकार महामंत्र का स्मरण करते हुए एक सुरंग के रास्ते से बच निकले।

वे एक बार पुनः अग्नि परीक्षा में सफल हुए। जब गजपंथा में नग्न दिगम्बर मुनि अवस्था में ध्यान में लीन थे उस समय दुर्योधन के भानजे कुर्युधर ने लोहे के आभूषण बनवाकर गरम करके पहना दिये। जिसके फलस्वरूप बाहर से उनका शरीर जल रहा था और भीतर से कर्म जल रहे थे। उसी समय सम्पूर्ण कर्म जलकर भस्म हो गये और अंतकृत केवली बनकर तीन पांडवों ने निर्वाण प्राप्त किया और नकुल, सहदेव उपशम श्रेणी का आरोहण करके ग्यारवें गुणस्थान में मरण को प्राप्त करके स्वर्ग गये।

कौरव पांडव तो आज भी घर-घर में देखने को मिलते हैं। यदि विजय प्राप्त करना है तो पांडवों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। सदैव न्याय-नीति से चलना चाहिये। तभी पांडवों की तरह यज्ञ की प्राप्ति होगी। धर्म की सदा जय होती है।

रक्षाबंधन पर्व—एक समय हस्तिनापुर में अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का संघ आया हुआ था। उस समय यहाँ महापद्म चक्रवर्ती के पुत्र राजा पद्म राज्य करते थे। कारणवश बली मंत्री ने वरदान के रूप में सात दिन का राज्य मांग लिया। राज्य लेकर बलि ने अपने पूर्व अपमान का बदला लेने के लिये जहाँ सात सौ मुनि विराजमान थे वहाँ उनके चारों ओर यज्ञ के बहाने अग्नि प्रज्वलित कर दी। उपसर्ग समझकर सभी मुनिराज शांत परिणाम से ध्यान में लीन हो गये।

दूसरी तरफ उज्जयनी में विराजमान विष्णुकुमार मुनिराज को मिथिला नगरी में चातुर्मास कर रहे मुनि श्री श्रुतसागर जी के द्वारा भेजे गये क्षुल्लक श्री पुष्पदंत से सूचना प्राप्त हुई कि हस्तिनापुर में मुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा है और उसे आप ही दूर कर सकते हैं।

यह समाचार सुनकर परम करुणामूर्ति विष्णुकुमार मुनिराज के मन में साधर्मि मुनियों के प्रति तीव्र वात्सल्य की भावना जागृत हुई। तपस्या से उन्हें विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गई थी। वे वात्सल्य भावना से ओतप्रोत होकर उज्जयनी से चातुर्मास काल में हस्तिनापुर आते हैं। अपनी पूर्व अवस्था के भाई—यहां के राजा पद्म को डांटते हैं। राजा उनसे निवेदन करते हैं—हे मुनिराज ! आप ही इस उपसर्ग को दूर करने में समर्थ हैं। तब मुनि विष्णुकुमार ने वामन का वेष बनाकर बलि से अढ़ाई पैर जमीन दान में मांगी। बलि ने देने का संकल्प किया। मुनिराज ने विक्रिया ऋद्धि से विशाल शरीर बनाकर दो कदम में सारा अढ़ाईद्वीप नाप लिया, तीसरा पैर रखने की जगह नहीं मिली। चारों तरफ त्राहित्राहि होने लगी। रक्षा करो, क्षमा करो कि ध्वनि गूंजने लगी। बलि ने भी क्षमा मांगी। मुनिराज तो क्षमा के भंडार ही होते हैं। उन्होंने बलि को क्षमा प्रदान की। उपसर्ग दूर होने पर विष्णुकुमार ने पुनः दीक्षा धारण की। सभी श्रावकों ने मिलकर विष्णुकुमार की बहुत भारी पूजा की।

अगले दिन श्रावकों ने भक्ति से मुनियों को खीर-सिबई का आहार दिया और आपस में एक दूसरे को रक्षा सूत्र बांधे। यह निश्चय किया कि विष्णुकुमार मुनिराज की तरह वात्सल्य भावना पूर्वक धर्म एवं धर्मायतनों की रक्षा करेंगे। तभी से वह दिन प्रतिवर्ष रक्षा बंधन पर्व के रूप में श्रावण सुदी पूर्णिमा को मनाया जाने लगा। इस दिन बहनें भाइयों के हाथ में राखी बांधती हैं।

दर्शन प्रतिज्ञा में प्रसिद्ध मनोवती —

गजमोती चढ़ाकर भगवान के दर्शन कर भोजन करने का अटल नियम निभानेवाली इतिहास प्रसिद्ध महिला मनोवती भी इसी हस्तिनापुर की थी। यह नियम उसने विवाह के पूर्व लिया था। विवाह के पश्चात जब समुराल गई तो वहाँ सकोच वश कह नहीं पाई। तीन दिन तक उपवास हो गया। जब उसके पीहर में सूचना पहुँची तो भाई आया, उसे एकांत में मनोवती ने सब बात बता दी। उसके भाई ने मनोवती के स्वसुर को बताया। तो उसके स्वसुर ने कहा कि हमारे यहाँ तो गजमोती का कोठार भरा है। तभी मनोवती ने गजमोती चढ़ाकर भगवान के दर्शन करके भोजन किया।

इसके बाद मनोवती को तो उसका भाई अपने घर लिवा ले गया। इधर उन मोतियों को चढ़ाने से इस परिवार पर राजकीय आपत्ति आ गई जिसके कारण मनोवती के पति बुधसेन के छोड़ों भाइयों ने मिलकर उन दोनों को घर से निकाल दिया। घर से निकलने के बाद मनोवती ने तब तक भोजन नहीं किया जब तक गजमोती चढ़ाकर भगवान के दर्शनों का लाभ नहीं मिला। जब चलते चलते थक गये तो रास्ते में सो गये। पिछली रात्रि में उन्हें स्वप्न होता है कि तुम्हारे निकट

ही मन्दिर है शिला हटाकर दर्शन करो। उठकर संकेत के अनुसार शिला हटाते ही भगवान के दर्शन हुए। वहीं पर चढ़ाने के लिये गजमोती मिल गये।

दर्शन करके भोजन किया। आगे चलकर पुण्य योग से बुधसेन राजा के जमाई बन गये।

इधर वे छहों भाई अत्यंत दरिद्र अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। गाँव छोड़कर कार्य की तलाश में घूमते-घूमते छहों भाई, उनकी पत्नियां व माता पिता सभी वहाँ पहुँचते हैं जहाँ बुधसेन जिन मंदिर का निर्माण करा रहे थे। लोगों ने उन्हें बताया कि आप बुधसेन के वहाँ जाओ, आपको वे काम पर लगा लेंगे। वे सभी वहाँ पहुँचे, उनको काम पर लगाया, बुधसेन मनोवती उन्हें पहिचान गये, अन्त में सबका मिलन हुआ। सभी भाइयों, भौजाइयों तथा माता-पिता ने क्षमा याचना की। धर्म की जय हुई।

इस घटना से यही शिक्षा मिलती है कि आपस में सबको मिलाकर रहना चाहिये। न मालूम किसके पुण्य योग से घर में सुख शांति समृद्धि होती है।

सुलोचना जयकुमार—

यहाँ के राजा श्रेयांस के भाई महाराजा सोम के पुत्र जयकुमार भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति हुए। उनकी धर्म परायणा शीलशिरोमणी पत्नी सुलोचना की भक्ति के कारण गंगा नदी के मध्य आया हुआ उपसर्गर दूर हुआ।

रोहिणी व्रत की कथा का घटना स्थल भी यही हस्तिनापुर तीर्थ है।

अनेक घटनाओं की शृंखला के क्रम में एक और मजबूत कड़ी के रूप में जुड़ गई जम्बूद्वीप की रचना। इस रचना ने विस्मृत हस्तिनापुर को पुनः संसार के स्मृति पटल पर अंकित कर दिया। न केवल भारत के कोने कोने में अपितु विश्व भर में जम्बूद्वीप रचना के दर्शन की चर्चा रहती है। जैन जगत में ही नहीं प्रत्युत वर्तमान दुनियां में पहली बार हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना का विशाल खुले मैदान पर भव्य निर्माण हुआ है जो कि पूज्य गणिनी आर्थिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के ज्ञान व उनकी प्रेरणा का प्रतिफल है।

जम्बूद्वीप की रचना—

सन् १९६५ में श्रवणबेलगोल स्थित भगवान बाहुवली के चरणों में ध्यान करते हुए पू० ज्ञानमती माताजी को जिस रचना के दिव्य दर्शन हुये थे। बीस वर्ष के पश्चात् यहाँ हस्तिनापुर में आकर उसे साकार रूप प्राप्त हुआ। वर्तमान में जम्बूद्वीप रचना दर्शन के निमित्त से ही सन् १९७६ से अब तक लाखों जैन जेनेतर दर्शनाथियों को हस्तिनापुर आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रतिदिन आने वाले दर्शनाथियों में अधिकतम ऐसे होते हैं जो कि यहाँ पहली बार आने वाले होते हैं।

सभी दर्शनार्थियों के मुख से एक स्वर से यही कहते हुए सुनने में आता है कि हमें तो कल्पना भी नहीं थी कि इतनी आकर्षक जम्बूद्वीप की रचना बनी होगी ।

हस्तिनापुर आने वाले दर्शकों को जम्बूद्वीप रचना के साथ ही उसकी प्रेरिका पूज्य गणिनी आर्थिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के दर्शनों का एवं उनका आशीर्वाद प्राप्त करने का भी स्वर्णिम अवसर सहज में प्राप्त हो जाता है । पूज्य माताजी ने जम्बूद्वीप रचना की प्रेरणा तो दी ही साहित्य निर्माण के क्षेत्र में भी अद्भुत कीर्तिमान स्थापित किया ।

अढ़ाई हजार वर्ष में ज्ञानमती माताजी पहली महिला हैं जिन्होंने ग्रंथों की रचना की । अब से पहले से लिखे जितने भी ग्रंथ उपलब्ध होते हैं वे सब पुरुष वर्ग के द्वारा लिखे गये हैं— आचार्यों ने लिखे, मुनियों ने लिखे या पंडितों ने लिखे । किसी श्राविका अथवा आर्थिका द्वारा लिखा एक भी ग्रंथ कहीं के भी ग्रन्थ भण्डार में देखने में नहीं आया ।

पू० ज्ञानमती माताजी ने त्याग और संयम को धारण करते हुए एक दो नहीं डेढ़ सौ छोटे बड़े ग्रन्थों का निर्माण किया । न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त, अध्यात्म आदि विविध विषयों के ग्रन्थों की टीका आदि की । भक्तिपरक पूजाओं के निर्माण में उल्लेखनीय कार्य किया है । इन्द्रध्वज विधान, कल्पद्रुम विधान, सर्वतोभद्र विधान, जम्बूद्वीप विधान जैसी अनुपम कृतियों का सृजन किया । सभी वर्ग के व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर माताजी ने विभिन्न रुचि के साहित्य की रचनाएँ की । प्राचीन धार्मिक कथाओं को उपन्यास की शैली में लिखा । अब तक माताजी की एक सौ दस कृतियों का प्रकाशन विभिन्न भाषाओं में पन्द्रह लाख से अधिक मात्रा में हो चुका है ।

पूज्य माताजी की लेखनी अभी भी अद्विरल गति से चल रही है । आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि महोत्सव के इस पावन प्रसंग पर अभी-अभी समयसार की आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन कृत टीकाओं का हिन्दी अनुवाद किया जो कि छपकर जन-जन के हाथों में पहुँच रहा है । औरभी प्रकाशन कार्य भी सतत चल रहा है ।

माताजी द्वारा लिखा हुआ साहित्य ऐसा लोकप्रिय है कि प्रकाशित होने के कुछ ही समय पश्चात् ही अप्राप्य हो जाता है ।

ऐसे दान तीर्थ हस्तिनापुर क्षेत्र का दर्शन महान पुण्य फल को देने वाला है यह तीर्थ क्षेत्र युगों-युगों तक पृथ्वी तल पर धर्म की वर्षा करता रहे यही मंगल भावना है ।

पूज्य माताजी शतायु होकर जिनधर्म की महान् प्रभावता करती रहें यही भगवान् जिनेन्द्र से प्रार्थना है ।



अष्टसहस्री एवं पूज्य माताजी का श्रम मेरी दृष्टि में

— पीठाधीश क्षु० मोतीसागर

समय बीतते देर नहीं लगती । ऐसा लगता है कि अभी कल की ही बात है जबकि अब से २३ वर्ष पूर्व इन्हीं दिनों में पू० पू० ज्ञानमती माताजी अपने आर्यिका संघ सहित म० प्र० के उस महान् सिद्ध क्षेत्र पर विराजमान थीं, जहाँ से इन्द्रजीत एवं कुम्भकरण आदि महामुनियों ने निर्वाणपद की प्राप्ति की है ऐसे बड़वानी नगर के दक्षिण में चूलगिरि पर्वत की तलहटी में जहाँ पर एक ही शिलाखण्ड में उत्कीर्ण संसार भर में सर्वोच्च ८४ फुट ऊँची भगवान् आदिनाथ की खड्गासन नग्न दिग्म्बर प्रतिमा विराजमान है । वहाँ से सिद्धक्षेत्र प वागिरी ऊन तथा सिद्धवरकूट के दर्शन हेतु विहार किया । महावीर जयन्ति के दो दिन पश्चात् पू० निमाड़ जिले के सुप्रसिद्ध नगर सनावद में शुभागमन हुआ । तभी मैंने सर्वप्रथम माताजी के दर्शन किए और परिचय हुआ ।

मैंने अपने जीवन में केवल एक काम अपने मन से किया वह था आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का । उसके बाद जो भी काम किए उन सबकी प्रेरणास्त्रोत पू० माताजी ही रहीं । घर छोड़कर संघ में रहने की, पुनः धार्मिक अध्ययन करने की, जम्बूद्वीप रचना निर्माण की, साहित्य प्रकाशन, सभ्यज्ञान भासिक पत्रिका का प्रकाशन, जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति प्रवर्तन आदि की प्रेरणा पू० ज्ञानमती माताजी से ही प्राप्त हुई ।

माताजी के साथ रहते हुए मैंने अपने मन से कोई भी योजना नहीं बनाई । हाँ, माताजी के मन में जो भी कार्य करने की भावना उत्पन्न हुई उसे मैंने अपनी शक्ति के अनुसार करने और करवाने का अथक प्रयास किया । उन्हीं में से एक कार्य इस महान् ग्रन्थ अष्टसहस्री के प्रकाशन का है ।

दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत “वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला” का शुभारम्भ तो सन् १९७२ में दिल्ली में हुआ किन्तु उससे पहले अष्टसहस्री के प्रथम भाग के प्रकाशन का कार्य अजनेर-ब्यावर से ही प्रारम्भ हो गया था । इस ग्रन्थ का अनुवाद तो दुरूह था ही तभी तो क्षु० गणेशप्रसादजी बर्णी इस अवसर की प्रतीक्षा करते हुए चले गये किन्तु उनके रहते हुए उन्हें इसका अनुवाद करने वाला कोई सक्षम विद्वान नहीं मिला । इस ग्रन्थ की महानता के विषय में श्री जुगलकिशोर मुख्तार वीर सेवा मन्दिर वालों ने अपनी पुस्तक “देवागम अरनाम आप्तमीमांसा” की अनुवादकीय में लिखा है—एकबार खुर्जा के सेठ पू० मेवाराम जी ने बतलाया था कि जर्मनी के एक विद्वान ने उनसे कहा है कि जिसने अष्टसहस्री नहीं पढ़ी, वह जैनी नहीं, और अष्टसहस्री को पढ़कर जैनी नहीं हुआ, उसने अष्टसहस्री को समझा नहीं । इसी प्रसंग में मुख्तारजी ने लिखा है, कि—“खेद है कि आज तक ऐसी महत्त्व की कृति का कोई हिन्दी अनुवाद ग्रन्थगौरव के अनुरूप होकर प्रकाशित नहीं हो सका ।”

काश, यदि आज उपरोक्त सभी महानुभाव होते तो वे इन अनुवादित कृतियों को देखकर कितने प्रसन्न होते यह कल्पना से परे है । पू० माताजी ने अनुवाद में जितना परिश्रम किया है, वह मुझ जैसा प्रत्यक्षदर्शी ही जानता है । रात-दिन एक करके कार्य को पूर्ण किया । माताजी का जैसा स्वास्थ्य है उसमें तो उनकी जगह कोई दूसरा होता, तो एक पंक्ति लिखना भी दुष्कर होता किन्तु माताजी ने सम्पूर्ण लेखन अपने आत्मबल के आधार पर किया । अनुवाद के समय आवश्यक व्यवस्थाएँ भी अपर्याप्त थीं । राजस्थान की तीव्र गर्मी-सर्दी से बचाव के साधन न कुछ थे, यहाँ तक कि बिजली के अभाव में लालटेन रखकर भी माताजी ने अपने कार्य को गति दी ।

माताजी प्रारम्भ से ही धुन की पक्की रहीं। सहसा किसी काम को हाथ में लिया नहीं और जिस काम को हाथ में ले लिया उसे बीच में अधूरा छोड़ा नहीं। वैसे इसके अनुवाद कार्य में अनेक विघ्न बाधाएँ भी आईं, किन्तु माताजी ने किसी की भी परवाह नहीं की। माताजी ने इस ग्रन्थ को सर्वजन सुलभ बनाने के लिए भावार्थ, विशेषार्थ एवं सारांश लिखे। यदि यह सब नहीं किया जाता तो हिन्दी अनुवाद हो जाने के बाद भी अष्टसहस्री कण्टसहस्री ही बनी रहती।

जितना श्रम अनुवाद करने में माताजी ने किया उससे भी अधिक श्रम उन्हें प्रकाशन के समय करना पड़ा। हम लोगों ने तो प्रूफ रीडिंग किया ही, किन्तु फिर भी जब फर्मा फाइनल प्रूफ पढ़कर जाने लगता तो एक नजर माताजी को डालने के लिए निवेदन किया जाता तब दस पाँच अशुद्धियाँ विशेषकर टिप्पणियों में निकल ही आतीं। माताजी का यह श्रम भी अकथनीय रहा। सहस्रों कण्ट उठाकर भी जब कार्य की सिद्धि हो जाती है तब उन कण्टों का स्मरण करना व्यर्थ रहता है। कार्यसिद्धि के बाद तो आनन्दानुभूति होती है। बीस वर्ष से सका हुआ यह कार्य आज पूर्ण होते देखकर भला किसकी प्रसन्नता नहीं होगी।

संसार भर के मनीषियों के लिए जैनधर्म को जानने के लिए जैन न्यायदर्शन में यह अष्टसहस्री ही सर्वोपरि ग्रन्थ है। इसका मूलस्वरूप आचार्यश्री समंतभद्रकृत आप्तमीमांसा की ११४ कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओं में आचार्यदेव ने भगवान् जिनेंद्र की मानों-परीक्षा करते हुए ही भक्ति की है। इन्हीं कारिकाओं को लेकर आचार्य अकलंकदेव ने अष्टशती नाम से टीका लिखी। इन कारिकाओं एवं अष्टशती टीका को लेकर आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने अष्टसहस्री नाम से वृहद टीका रची जो आपके हाथ में है।

भगवान् जिनेंद्र एवं उनके द्वारा प्रतिपादित जिनधर्म में आस्था को दृढ़ करने के लिए अष्टसहस्री ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है। भले ही प्रारम्भ में इसका स्वाध्याय/अध्ययन कठिन प्रतीत होगा किन्तु बार-बार इसका पठन-पाठन करने से निश्चित ही जिनधर्म में श्रद्धा दृढ़ होगी। मुझे इन पंक्तियों को लिखते हुए अत्यन्त गौरव का अनुभव हो रहा है कि इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका करने का मूल निमित्त मैं ही हूँ। न्यायतीर्थ की परीक्षा देने के लिए जब पूज्य माताजी ने मुझे अष्टसहस्री पढ़ाना प्रारम्भ किया तो मैंने माताजी से निवेदन किया—“मुझे कुछ भी समझ में नहीं आता” तब माताजी ने अष्टसहस्री का अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया और देखते ही देखते वह पूर्ण भी हो गया। जब पूरी अष्टसहस्री का मंथन माताजी ने कर लिया, तो सुगमता से समझने के लिये एक-एक विषय के लगभग ५६ सारांश बना दिए।

अनुवाद पूर्ण करने में तो माताजी को मात्र सवा साल का समय लगा जबकि उसे छपाने में पूरे बीस साल बीत गये। आज वह महान् अनुवादित कृति प्रकाशित होकर सबके स्वाध्याय अध्ययन के लिए उपलब्ध है।

अम्बूद्वीप हस्तिनापुर

चैत्र शुक्ला १ वि० सं० २०४७



पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी कृत हिन्दी टीका
का एक पृष्ठ नमूनार्थ

मापी नं. ६

अ. पृ. २७५

२७१

जैन - ऐसा नहीं कहना, अनुमानादि से भी जानी गई वस्तु में 'पदार्थ का ऐसा ही स्वभाव है' ऐसा उठा देना विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष के समान अनुमानादि को भी हमने प्रमाणभूत मान्य है। इसलिये प्रमाणसिद्ध परमाणु से भव्य एवं अभव्यरूप प्रकृत में आये हुये जीव के स्वभाव, प्रतीति का अनुसर्ण करते हुये तर्क के विषय नहीं है कि जिसने उनमें प्रश्न उठाया जा सके अर्थात् स्वभाव में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। अन्यथा तर्क के विषयभूत पदार्थों में भी आगम के विषयरूप से प्रश्न उठाने का प्रसंग आ जायेगा और उसी प्रकार से प्रत्यक्ष के विषय-भूत पदार्थों में भी प्रश्न उठते ही रहेंगे अर्थात् यह आगम उष्ण क्यों है ? तो यह जल ठंडा क्यों है ? इत्यादि। पुनः उस प्रकार से तो प्रत्यक्ष और आगम स्वतंत्र सिद्ध नहीं हो सकेंगे, तर्क के समान।

पाँच मंगलाचरण

* अष्टसहस्री ग्रन्थ का मूलस्रोत *

श्री उमास्वामिविरचित-तत्त्वार्थसूत्रमहाशास्त्र का मंगलाचरण ।

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेतारं कर्मभूभृताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥१॥

卐

卐

卐

श्रीमत्समंतभद्रस्वामि विरचित देवागमस्तोत्र का मंगलाचरण ।

देवागमनभोयान — चामरादिविभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

卐

卐

卐

श्रीमद्भट्टाकलंकलदेव विरचित अष्टशती भाष्य का मंगलाचरण ।

उद्दीपोकृतघर्मतीर्यमचलज्योतिर्ज्वलत्केवला-

लोकालोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वदितम् ॥

वदित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभंगीविधि ।

स्याद्वादादामृतगर्भिणीं प्रतिहर्तृकांतान्धकारोदयाम् ॥१॥

卐

卐

卐

श्रीमद्विद्यानन्द आचार्य विरचित अष्टसहस्री का मंगलाचरण ।

श्रीवर्द्धमानमभिवंद्य समंतभद्र-मुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।

शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त-सीमांसितं कृतिरलंकियते मयास्य ॥१॥

卐

卐

卐

“स्याद्वादचितामणि” नामा हिन्दी टीकाकर्त्री आर्यिका ज्ञानमती रचित मंगलाचरण ।

सिद्धान्तत्वार्हत्तश्चाप्तान्, आविब्रह्मा स वंदते ।

युगादौ सृष्टिकर्ता यः, ज्ञानज्योतिः स मे दिश ॥१॥



आभार

सम्पादक—डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन
अध्यक्ष—दि० जैन त्रि० शोध संस्थान

हैदराबाद [आन्ध्र प्रदेश] के निवासी श्रेष्ठी श्री मांगीलाल बाबूलाल जी पहाड़े एक धर्मात्मा एवं गुरु भक्त श्रावक हैं। आपका समस्त परिवार धर्म वात्सल्य से ओत-प्रोत है। सन् १९६४ में पूज्य गणिनी १०५ आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने अपने आर्यिका संघ सहित हैदराबाद में चातुर्मास किया था तब से यह परिवार माताजी की भक्ति में सदैव संगलन हैं। वर्ष में कम से कम एक बार मांगी लाल जी पू० माताजी कहीं भी हों उनके दर्शनार्थ अवश्य आते हैं और त्रिलोक शोध संस्थान के प्रत्येक कार्य में रुचिपूर्वक भाग भी लेते रहते हैं।

इन्हीं धर्म भावनाओं से प्रेरित होकर श्री मांगीलाल जी, बाबूलाल जी एवं विजय कुमार इन तीनों भाइयों के शुभ भाव हस्तिनापुर में आकर पूज्य गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के संघ सानिध्य में “श्री कल्पद्रुम महामण्डल विधान” कराने हुए अतः सन् १९८८ अक्टूबर में पू० माताजी की ५५वीं जन्म जयन्ती के शुभ अवसर पर जम्बूद्वीप स्थल पर उक्त महाविधान का भव्य कार्यक्रम आयोजित हुआ था।

मण्डल विधान के समापन पर श्री बाबूलाल जी पहाड़े द्वारा ज्ञानदान में एक बृहद् राशि घोषित की गई थी। अष्टसहस्री ग्रन्थ के तृतीय भाग के प्रकाशन में उक्त राशि में से कुछ भाग का सदुपयोग किया गया है।

पहाड़े परिवार सदैव इसी प्रकार देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति में अपनी श्रद्धा रखते हुए पुण्योपार्जन करते रहें यही मंगल कामना है। दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान पहाड़े परिवार के प्रति आभार प्रकट करता है।

२१-४-१९९०
जम्बूद्वीप हस्तिनापुर



दिल्ली ग्रंथ भण्डार से हस्तलिखित प्राचीन अष्टसहस्री के एक पृष्ठ का नमूना
(जिससे इस ग्रंथ में टिप्पण व पाठांतर संग्रहीत किये गये हैं)

१. पावापपयथियापेदाजा = १. इत्तरुपतया = १. आत्मशक्तिमुनकत्रमेनविशेषात्मनएकात्म
नश्चेति योजना कर्तव्या = २. विज्ञा द्वैतवादी = २. तौगतः = ३. व्रतानप्रसात्तकमेव = ३. आनन्दस्वभावः
४. शेषः = अपरिचितः = अस्मत्पक्षः

यतेचित्रज्ञानतवकषचिदसंकीर्णं विज्ञोपेकात्मनः सुखादिविततपस्य
वर्षसंस्थानाद्यात्मनः स्कंधस्यवपेक्षणात् स्यात्ततं सुखादिविततपस्य
कीर्णंविज्ञोषात्मकंभवनभुतरेकात्मकंसुखं चेतन्याद्यज्ञादनाका
गन्मैवबोधताकास्यविज्ञानस्यात्यत्रादिरुद्धमीध्यासस्यात्यत्र
साधतद्यादत्यघाविश्वस्येकत्रप्रसंगादितितदसंखित्रज्ञानस्याप्यका
त्मकत्वात्तावप्रसात्पीताकास्सावदतस्यतीलाद्याकासंभवदतादत्य
त्रात्रोद्धिरुद्धमीध्यासात् यदियुनत्राक्यविवचनत्वात्पीताद्याका
रसंभेदनामकात्मकमुररीक्रियते तदासुखादिविततपस्यकापरार्धः ३
तन्तस्याप्यज्ञाकीविवेचनत्वादेकात्मकत्वात्पेक्षेः पीताद्याकाराणामि
वसुखाद्याकाराणांविततयातरंनेत्रमत्राक्यविवेचनत्वस्यसंभवात्तद्वै

१. अत्रोपसंभवेऽप्योकाराणाद्यज्ञेत्तरमनप्रतिशयव्यक्ति २. यच्छुद्धमेकात्मत्वात् = १. योगिनः

२०२

परि रू ध धर्मवैषम्यनिच
लोमतिः

असुरवचैतन्यादिज्ञानस्य
अत्र नात्मविवे

रसुखादिवैतनसः

ध श्रुतिनास्वरुवादिः

१०८



श्रीमद्विद्यानंदिस्वामिविरचिता

अष्टसहस्री

(तृतीय भाग)

स्याद्वादचिन्तामणि-हिन्दी टीका सहित

टीकाकर्त्री-आर्यिका ज्ञानमती)

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

मंगलाचरणम्

अद्वैतद्वैतनिर्मुक्तं, शुद्धात्मनि प्रतिष्ठितम् । ज्ञानैकत्वं परं प्राप्त्यै, नुमः स्याद्वादनायकम्^१ ॥

^२श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः^३ किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।

विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥१॥

अर्थ—अद्वैत और द्वैत से रहित, शुद्धात्मा में प्रतिष्ठित, उत्कृष्ट जो ज्ञान का एकत्व है—
एकरूपता है उसकी प्राप्ति के लिये हम स्याद्वाद के नायक श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करते हैं ।
(यह मंगलाचरण हिन्दी टीका कर्त्री द्वारा किया गया है ।)

श्लोकार्थ—जिसके द्वारा ही स्वसमय और परसमय का सद्भाव जाना जाता है ऐसी अष्ट-
सहस्री को ही सुनना चाहिये अन्य हजारों शास्त्रों के सुनने का क्या प्रयोजन ? अर्थात् इस अष्ट-
सहस्री के पठन श्रवण से ही स्वमत और परमत का ज्ञान हो जाता है इसलिये इसे अवश्य पढ़ना
चाहिये ॥१॥

१ भाषाटीकाकर्त्र्या कृतोऽयं श्लोकोऽस्ति । २ श्रवणविषयीकर्तुमर्ह । दि० प्र० । ३ श्रवणविषयीकृतैः । दि० प्र० ।

^१अद्वैतैकान्तपक्षेपि^२ दृष्टो^३ भेदो विरुध्यते ।

^४कारकाणां^५ क्रियायाश्च^६ नैकं स्वस्मात्प्रजायते^७ ॥२४॥

सदाद्येकान्तेषु^८ ^९दोषोद्भावनमभिहितमाचार्यैः । केवलमद्वैतैकान्ताभ्युपगमान्न ^{१०}ताव-
तानेकान्त^{११}सिद्धिरिति^{१२} चेन्न, प्रत्यक्षादिविरोधात् । न हि ^{१३}कस्यचिदभ्युपगममात्रं प्रमाण-
सिद्धं ^{१४}क्रियाकारकभेदं प्रतिरुणद्धि^{१५} क्षणिकाभ्युपगमवत् ।

यदि अद्वैतरूप है सब जग, यह एकांत लिया जावे ।
तब तो कारक और क्रिया का, भेद दिखे वह नहिं पावे ॥
दिखता है साक्षात् भेद जो, वह भी है विरुद्ध होगा ।
क्योंकि एक ही-ब्रह्मा ही, निज से उत्पन्न नहीं होता ॥२४॥

कारिकार्थ—ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, ज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत आदि अद्वैत एकांत पक्ष में भी कारक और क्रियाओं का देखा गया भेद विरोध को प्राप्त होता है क्योंकि कोई भी एक (ब्रह्म) अपने से ही आप उत्पन्न नहीं होता है ॥२४॥

अद्वैतवादी—“आप जैनाचार्यों ने सदादि एकांत पक्षों में दोषों का उद्भावन किया है और हम केवल अद्वैत एकांत को स्वीकार करते हैं अतः सत् आदि एकांतों के निराकरण मात्र से ही आपके अनेकान्त की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि आपके अद्वैत एकांत पक्ष में तो प्रत्यक्ष आदि से ही विरोध आता है । आप अद्वैतवादियों के द्वारा स्वीकृत किया गया मात्र अद्वैत एकांत पक्ष प्रमाण से सिद्ध क्रिया और कारक के भेद का प्रतिरोध नहीं कर सकता है । जैसे कि बौद्धों द्वारा स्वीकृत क्षणिक एकांत वस्तु के नित्यत्व को रोक नहीं सकता है ।”

- 1 सदाद्येकान्तनिराकरणेपि कथमनेकान्तसिद्धिर्भवेत् प्रत्ययितोऽद्वैतस्य विद्यमानत्वादित्याशंकायामाह । दि० प्र० ।
- 2 न केवलं सदाद्येकान्तेषु दृष्टो भेदो विरुध्यते । अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि लण्णां कारकाणां क्रियायाश्च साक्षात्कृतो-
मितश्च भेदो विरुध्यते इत्यपि शब्दार्थः । न केवलं द्वैतपक्षः । दि० प्र० । 3 अनुमानेन प्रत्यक्षेणानुमितः साक्षात्कृतश्च ।
दि प्र० । 4 चेतनेतररूपाणाम् । व्या० प्र० । 5 कर्त् साध्यायाः कर्त् कर्मस्थायाः स्थानागमनादिरूपायाः स्थिरचल-
स्वभावायाः षोढा समीक्षितायाः । अस्ति । जायते । विवर्द्धते । परिणमते । अपक्षीयते । विनश्यतीत्येवंशीलायावर्त्तमा-
नादिभेदभिन्नायाः । दि० प्र० । 6 एतेषां मध्य एकमपि नोत्पद्यते । दि० प्र० । 7 अविद्याविलसितमिदं विश्व-
मभ्युपगम्यत इति चेदास्तां तावदेतत्पुण्यपापक्रिया न स्यादित्यादिनानिषेत्स्यमानत्वात् । व्या० प्र० । 8 ननु च
भावान्तेकान्तेषु उक्तदूषणस्य परिहारत्वात्तत्पक्षोमास्मसिद्धत् तथास्यानेकान्तवादिनां नानेकान्तसिद्धरद्वैतैकान्तस्याभ्यु-
पगमादिति वदतो द्वैतवादिनः वचनमनूष्य परिहरन्नाह । दि० प्र० । 9 सप्तभंगी प्रतिपादनावसरे । व्या० प्र० ।
10 दोषोद्भावनमात्रेणैव । व्या० प्र० । 11 तावताऽद्वैतैकान्ताभ्युपगममात्रेण तस्याद्वैतस्येकान्तस्तदेकान्तसिद्धिर्न ।
दि० प्र० । 12 इति न शंकीयं तावतादेकान्तसिद्धिर्भवति । दि० प्र० । 13 अद्वैतवादिनः । दि० प्र० । 14 वादिनः
प्रतिवादिनश्च प्रमाणरहितमंगीकरणमात्रम् । दि० प्र० । 15 निराकरोति । दि० प्र० ।

[अद्वैतवादी स्वस्य पूर्वपक्षं स्थापयति]

नन्विदमयुक्तमेव संलक्ष्यते ।—‘अद्वैतं ह्यैकात्म्यं, ¹द्वाभ्यामितं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतमिति व्याख्यानात् । तस्यैकान्तस्तदेवेत्यभिनिवेशः² । तस्य पक्षः प्रतिज्ञाभ्युपगममात्रम् । तस्मिन्नपि दृष्टः साक्षात्कृतोनुमितश्च कारकाणां कर्त्रादीनां क्रियायाश्च स्थानगमनादिरूपाया निष्परिस्पन्दस्वभावायाः परिस्पन्दरूपायाश्च भेदः प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुध्यते, तदभ्युपगममात्रस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धक्रियाकारकभेदप्रतिरोधित्वासंभवात् क्षणिकत्वाभ्युपगमवदिति ³तात्पर्यव्याख्यानमकलङ्कदेवानाम्’ । न हि कारकभेदः प्रत्यक्षादिनाऽद्वैतेपि विरुध्यते, पादपस्यैकस्य युगपत्क्रमेण वा कर्त्राद्यनेककारकात्मकत्वप्रतीतिः? क्रियानानात्वमध्येकस्य तथैव न प्रतिषिध्यते, देशाद्यपेक्षया ⁴गमनागमनयोः ⁵स्थानशयनयोर्वा ⁶सकृदपि निश्चयात् ।

[अद्वैतवादी अपना पूर्व पक्ष स्थापित करते हैं ।]

अद्वैतवादी—यह कथन अयुक्त ही मालूम होता है अर्थात् जो आपका कहना है कि—एकात्म्य को अद्वैत कहते हैं । “द्वाभ्यामितं द्वीतं” जो प्रमाण और प्रमेयरूप दो के द्वारा प्राप्त—निश्चित हो उसे द्वीत कहते हैं । द्वीत में ही अण् प्रत्यय होकर द्वैत शब्द बनता है । “न द्वैतं अद्वैतं” इस प्रकार से नञ् समास में जो द्वैत नहीं है वह अद्वैत है ऐसा व्याख्यान हुआ । उसका एकांत—“ऐसा ही है” इस प्रकार का अभिप्राय एकांत कहलाता है । उस एकांत का पक्ष करना—उसको स्वीकार करना “अभ्युपगममात्र” कहलाता है ।

उस अद्वैतैकांत पक्ष में भी देखा गया—साक्षात् किया गया और अनुमति किया गया कारक कर्ता आदि का भेद एवं क्रिया (स्थान आदिरूप निष्परिस्पन्द स्वभाव क्रिया तथा गमनागमन आदि रूप परिस्पन्द स्वभाव क्रिया) का भेद भी प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विरोध को प्राप्त होता है । जैसे कि क्षणिकत्व की मान्यता में प्रत्यक्षादि से सिद्ध हो रहा अन्वयरूप अभेद विरोध को प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार से “श्री भट्टाकलंकदेव” का तात्पर्य व्याख्यान है ।

यह सब जैनाचार्यों का कथन अयुक्त ही है । हमारे यहाँ अद्वैत में भी प्रत्यक्ष आदि से कारक

1 बुद्धाभ्यां विधिप्रतिषेधाभ्यां सामान्यविशेषसदसत्विशेषणविशेष्यादीनामितं समवस्थितं द्वीतं द्वैतमेव द्वैतं न द्वैतमद्वैतमित्यत्र स्वाधिकोण् । दि० प्र० । 2 आग्रहः । अद्वैतैकान्तम् । दि० प्र० । 3 एवंविधवृत्तिवाक्यस्य । व्या० प्र० । 4 देशकालापेक्षया एकः पुरुषो युगपद्गमनागमनरूपक्रियां करोति । यथा कश्चिद्गृहाद्वनं गतः । गृहस्यापेक्षया गतः । वनस्यापेक्षया आगतः । दि० प्र० । 5 गतिनिवृत्तिमात्रम् । व्या० प्र० । 6 युगपत् । व्या० प्र० ।

तद्वदेकमपि परब्रह्म सकलक्रियाकारकभेदात्मकतया न विरोधमध्यास्ते^१ तथा ^२प्रतिभास-
वैचित्र्येकत्वाव्याघाताच्चित्रज्ञानवदित्यपरः^३ ।

[जैनाचार्य अद्वैतपक्षं निराकुर्वन्ति ।]

सोप्येवं^४ प्रष्टव्यः ।—क्रियाकारकभेदप्रपञ्चः किमजन्मा^५ जन्मवान्वा ? न तावदजन्मा,
कादाचित्कत्वात्, यस्त्वजन्मा स न कादाचित्को यथात्मा, कादाचित्कश्चायं, तस्मान्नाजन्मेति
बाधकसद्भावात् । जन्मवांश्चेत्कुतो जायते इति वक्तव्यम् ? परमपुरुषादेवेति चेत्कथमद्वैतसिद्धिः ?
कारणकार्ययोर्द्वैतप्रसिद्धेः । क्रियादिकार्यस्य ^६ब्रह्माणोनन्यत्वादद्वैतमेवेति चेत्कथं स्वस्मादेव

भेद विरुद्ध नहीं है, एक ही वृक्ष में युगपत् अथवा क्रम से कर्ता आदि अनेक कारकों की प्रतीति हो
रही है । यथा—

वृक्षस्तिष्ठति कानने कुसुमिते वृक्षं लताः संश्रिताः ।
वृक्षेणाभिहतो गजो निपतितो वृक्षाय देयं जलं ॥
वृक्षादानय मंजरीं कुसुमितां वृक्षस्य शाखोन्नता ।
वृक्षे नीडमिदं कृतं शकुनिना हे वृक्ष ! किं कपसे ॥

अर्थ—फूले हुए वन में “वृक्ष” है । लताओं ने वृक्ष का आश्रय लिया है । वृक्ष के द्वारा गिरा
हुआ हाथी मर गया । वृक्ष को जल देना चाहिये । वृक्ष से फूली हुई मंजरी को लावो । वृक्ष की ऊंची-
ऊंची शाखायें हैं । वृक्ष में पक्षियों ने घोंसला बना लिया है । हे वृक्ष ! तुम क्यों कांपते हो ? इत्यादि-
रूप से एक वृक्ष में सभी कारक पाये जाते हैं ।

उसी प्रकार से क्रिया का भिन्नपना भी एक में ही विरुद्ध नहीं है । देशादि की अपेक्षा से
गमनागमन अथवा स्थान शयन एक साथ भी देखे जाते हैं ।

तथैव एक भी परब्रह्म सकल क्रिया और कारकों के भेदात्मकरूप से विरोध को प्राप्त नहीं
होता है, प्रतिभासों की विचित्रता होने पर भी उस परम ब्रह्म के एकत्व का व्याघात नहीं होता है ।
जैसे कि प्रतिभास की विचित्रता होने पर भी चित्रज्ञान का एकत्व विरुद्ध नहीं है । इस प्रकार से हम
(जैनाचार्य) अद्वैतपक्ष का निराकरण करते हैं ।

जैन—आप अद्वैतवादियों से भी हम ऐसा प्रश्न करते हैं कि यह क्रिया कारक भेद का प्रपञ्च
अद्वैतैकांत के विषय में क्या अजन्मा है या जन्मवान् ? “अजन्मा तो हो नहीं सकता क्योंकि वह

१ प्राप्नोति । दि० प्र० । २ ब्रह्मणः क्रियाकारकभेदेन नानात्वेपि ऐक्यव्याघातो नास्ति । यथा चित्रज्ञाने वर्णं न
नानात्वमपि ज्ञानापेक्षया एकत्वम् । दि० प्र० । ३ तन्निवदमित्यारभ्यावादीत्परोद्वैती । व्या० प्र० । ४ सोप्यद्वैतवादी
इत्थं पर्यनुयोक्तव्यः । दि० प्र० । ५ क्रियाकारकभेदप्रपञ्चः पक्षोऽजन्मा न भवतीति साध्यो धर्मः कादाचित्कत्वात् ।
यस्त्वजन्मा स न कादाचित्कः । यथा पुरुषः कादाचित्कश्चायं । तस्मान्नाजन्मा । दि० प्र० । ६ अपृथक्त्वात् ।
दि० प्र० ।

तस्य¹ जन्म युज्यते ? कथं च कार्यादभिन्नस्य ब्रह्माणोऽकार्यत्वम् ? ²यतो नित्यत्वं स्यात् । परस्माज्जायते इति चेद्द्वैतसिद्धिः, ³पुरुषात्परस्य ⁴क्रियाकारकभेदहेतोरभ्युपगमात् । परत्यानाद्यविद्यारूपत्वादकिञ्चिद्रूपस्य द्वितीयत्वायोगाच्च द्वैतसिद्धिरिति ⁵चेत्कथमकिञ्चिद्रूपस्य कारणत्वम् ? ⁶कार्यस्याप्यकिञ्चिद्रूपत्वाददोष इति चेत्किमिदानीं⁷ खरविषाणादश्वविषाणस्य जन्मास्ति ? नेति ⁸चेत्कथमविद्यात्मनः कारणादविद्यात्मककार्यस्योत्पत्तिः ? माहेन्द्रादिषु मायामयादेव ⁹पावकादेस्तथाविधधूमादिजन्मदर्शनाददोष इति चेन्न, ¹⁰तत्रापि पावकधूमाद्योः

क्रिया कारक भेद का प्रपंच कादाचित्क है । और जो अजन्मा है वह कादाचित्क—कभी-कभी नहीं होता है जैसे आत्मा और ये क्रियाकारक भेद कादाचित्क हैं, इसीलिये इनमें अजन्मा का सद्भाव नहीं पाया जाता है । यदि आप उस अद्वैतैकांत के विषय में इस क्रिया-कारक भेद के प्रपंच को जन्मवान् कहें, तब तो फिर किससे जन्म हुआ यह कहना चाहिये ।

अद्वैतवादी—परम पुरुष से ही उन भेदों का जन्म हुआ है ।

जैन—तब तो अद्वैत की सिद्धि कैसे हुई ? क्योंकि कारण और कार्य दो होने से इनमें द्वैत प्रसिद्ध ही है ।

ब्रह्माद्वैतवादी—जो क्रिया आदि कार्य हैं वे ब्रह्मा से अभिन्न ही हैं इसलिये अद्वैत ही है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो अपने से ही उस ब्रह्म का जन्म कैसे युक्त हो सकेगा ? एवं कार्य से अभिन्न वह ब्रह्म अकार्यरूप भी कैसे हो सकेगा ? जिससे कि आप उसे नित्य सिद्ध कर सकें ।

अद्वैतवादी—वे क्रियादि कार्य पर उत्पन्न होते हैं ।

जैन—तब तो द्वैत की सिद्धि हो गई, क्योंकि परम पुरुष से भिन्न ही अन्य को क्रिया कारक का भेद उत्पन्न करने वाला आपने स्वीकार कर लिया ।

अद्वैतवादी—पर तो अनादि अविद्यारूप है और उस अकिञ्चित्-रूप-निःस्वरूप में द्वितीयपने का अभाव है । अतः द्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

जैन—तब तो जो निःस्वरूप है वह कारण भी किसी को उत्पन्न करने का कैसे सिद्ध होगा ?

अद्वैतवादी—हमारे यहाँ क्रियाकारक भेदरूप कार्य भी तो निःस्वरूप ही हैं अतः कोई दोष नहीं है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो क्या इस समय गधे के सोंग से घोड़े के सोंगों का जन्म होता है ?

1 ब्रह्मणः । दि० प्र० । 2 यतः कुतो नित्यत्वं स्यात् । अपितु अनित्यमेव । ब्रह्मणः कार्यत्वम् च । दि० प्र० । 3 ब्रह्मणः । व्या० प्र० । 4 ता । कारणस्य । दि० प्र० । 5 अकिञ्चिद्रूपकारणाज्जातं यत्कार्यं तदपि अकिञ्चिद्रूपं भवतु को दोषोत्र न कोपि । दि० प्र० । 6 परस्यानाद्यविद्यारूपस्य । दि० प्र० । 7 तर्हि । दि० प्र० । 8 तर्हि । व्या० प्र० । 9 मायामय । दि० प्र० । 10 मा इन्द्रादिषु । दि० प्र० ।

सर्वथा मायामयत्वासिद्धेः । न हि ¹तत्प्रतिभासयोर्मयारूपत्वं, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । नापि बहिः सद्द्रव्यादिरूपयोर्मयास्वभावत्व², व्यभिचारित्वाभावात् । ³तद्विशेषाकारयोर्मयारूपत्वमिति चेन्न, ⁴तद्विविक्तवस्तुव्यतिरेकेण⁵ मायायाः ⁶संभवाभावात् । तथा क्रियाकारकभेदप्रपञ्चाकार-विविक्तपरब्रह्मव्यतिरेकेणाविद्यायाः संभवाभावे कथं वेदान्तवादिनामविद्यातः कार्यस्याविद्यात्मनो जनने स्वस्मादेव स्वस्य जन्म न भवेत् ? तच्च प्रमाणविरुद्धं न शक्यं व्यवस्थापयितुं नैरात्म्यवत् ।

अद्वैतवादी—ऐसा नहीं हो सकता है ।

जैन—तब तो अविद्यात्मक कारण से अविद्यात्मक कार्य की उत्पत्ति भी कैसे हो सकती है ? अर्थात् अविद्या भी असत् रूप है और उससे उत्पन्न हुये कार्य भी असत् रूप हैं और असत् से असत् की उत्पत्ति मानना हास्यास्पद ही है ।

ब्रह्मवादी—इंद्रजालिया आदि खेलों में मायामय-असत्यरूप अग्नि आदि से मायामय ही धूमादि उत्पन्न होते हुये देखे जाते हैं अतः कोई दोष नहीं है ।

जैन—नहीं, वहाँ भी अग्नि और धूमादि में सर्वथा मायामयत्व (असत्यता) असिद्ध है क्योंकि उन दोनों का प्रतिभास असत्यरूप नहीं है क्योंकि वह स्वसंवेदन से सिद्ध है एवं बाह्य सद्द्रव्यादि रूप में भी असत्यपना नहीं है क्योंकि उसमें व्यभिचारोपने का अभाव है अर्थात् सभी वस्तुओं को "सत् रूप" तो आप वेदांतियों ने भी माना है अतः सत् रूप से व्यभिचार दोष किसी में भी नहीं आयेगा ।

अद्वैतवादी—उस विशेषाकाररूप अग्नि और धूम में मायारूपता है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । उससे भिन्न वस्तु को छोड़कर माया ही असंभव है । अर्थात् विशेषाकार से भिन्न—रहित वस्तु को छोड़कर माया नाम को और कोई चोज नहीं है क्योंकि विशेषरहित केवल सामान्य रह ही नहीं सकता है अतएव वह मायारूप—असत्य ही है । उसी प्रकार से क्रिया कारक भेद के प्रपञ्चाकार से रहित आपका परमब्रह्म है और उस परमब्रह्म को छोड़कर अविद्या ही संभव नहीं है अर्थात् वह आपका परमब्रह्म ही अविद्यारूप सिद्ध हो जाता है और जो आपने पर को अविद्या कहा है वह अविद्या स्वरूप परमब्रह्म ही "पर" सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार से आप वेदांतवादियों के यहाँ अविद्यारूप परमब्रह्म से क्रियाकारक आदि अविद्यात्मक कार्य का जन्म होने पर स्वयं से स्वयं का जन्म कैसे नहीं होगा ? अर्थात् होगा ही होगा । जो कि प्रमाण से विरुद्ध है । नैरात्म्यवाद के समान उसकी व्यवस्था करना शक्य नहीं है ।

1 पावकः धूमजानयोः । दि० प्र० । 2 पावकधूमयोः । दि० प्र० । 3 स चात्तो पावकधूमरूपविशेषस्तदाकारतया । व्या० प्र० । 4 विशेषाकारापृथक्वस्तुरहितत्वेन मायायाः संभवो नास्ति, किन्तु विशेषविविक्तवस्तु एव माया । दि० प्र० । 5 पावकधूम । व्या० प्र० । 6 वस्तुव्यतिरिक्ततुच्छस्वरूपमायाया वेदान्तिनापि बहुधानिराकरणात् । दि० प्र० ।

[क्रियाकारकभेदो न स्वतो जायते न परतः, किन्तु जायत एवेति मन्यमाने दोषान् प्रदर्शयन्त्याचार्याः ।]

क्रियाकारकभेदोयं न स्वतो जायते परतो वा । अपि तु जायते एवेति सुषुप्तायते, प्रति-
पत्युपायाभावात्¹, दृष्टेष्टविरोधप्रसङ्गात् । न हि किञ्चित्स्वस्मात्² परस्माच्चाजायमानं
जन्मवदेव दृष्टमिष्टं वा, येन³ तथा प्रतिपत्युपायरहितं ब्रुवाणः सुषुप्तमिवात्मानं नाचरेत् ।
⁴तस्माद्यदृष्टविरुद्धं⁵ तन्न समञ्जसं यथा नैरात्म्यम् । विरुध्यते च तथैवाद्वैतं क्रियाकारक-
भेदप्रत्यक्षादिभिः । ⁶एकस्मिन्नपि क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादेः⁷ संभवात् स्वप्नसंवेदनवत् कथम-
द्वैतं विरुद्धमिति चेन्न, स्वप्नसंवेदनस्याप्येकत्वे तद्विरोधस्य तदवस्थत्वात् । तत्रान्यदेव हि
क्रियाविशेषसंवेदनं स्ववासनोत्थमन्यदेव⁸ च कारकविशेषसंवेदनं प्रत्यक्षमनुमानादि⁹ वा न

[क्रियाकारक आदि भेद न स्वतः से होते हैं न पर से, किन्तु होते अवश्य हैं ऐसा कहने पर
आचार्य दोष दिखलाते हैं ।]

अद्वैतवादी—यह क्रियाकारक भेद “न स्वतः उत्पन्न होता है । अपितु उत्पन्न, अवश्य
होता है ।”

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो ऐसा मालूम होता है कि आप अद्वैतवादी प्रगाढ़ निद्रा में सो
रहे हैं क्योंकि आपके पास जानने के उपायों का ही अभाव है ।

इस मान्यता में तो प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध का प्रसंग आता है । क्योंकि कोई भी
स्वतः से और पर से उत्पन्न न होते हुये भी जन्मवान् ही हो ऐसा तो न किसी ने प्रत्यक्ष से देखा
ही है अथवा न किसी ने अनुमान ज्ञान से ही जाना है । अर्थात् ऐसा कोई प्रत्यक्ष या अनुमान
से सिद्ध नहीं है जिससे कि “अपितु—उत्पन्न होता ही है” इस प्रकार से प्रतिपत्ति जानने के उपाय से
रहित को कहते हुये अपनी आत्मा को सोते हुये के समान न आचरण करावें न सिद्ध करें अर्थात्
आप सोते हुये के समान ही मालूम पड़ते हैं ।

“इसलिये जो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है वह समंजस नहीं है । जैसे नैरात्म्यवाद और उसी प्रकार
से क्रियाकारक आदि में भेद को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा आपका अद्वैत विरुद्ध
ही है ।”

1 प्रतिपादनस्य निश्चयस्य वा उपायासंभवात् अद्वैतवादी अतिमुप्तमिवात्मानमाचरति । दि० प्र० । 2 लोके
स्वस्मात्स्वस्थोत्पत्तिर्नास्ति । परस्मादुत्पत्तिश्चेद् द्वैतापत्तिः । व्या० प्र० । 3 कुतः । दि० प्र० । 4 क्रिया-
कारकभेदो द्वैते न घटते यस्मात् । व्या० प्र० । 5 अद्वैतं पक्षः समंजसं न भवतीति साध्यो धर्मः क्रियाकारकभेद-
प्रत्यक्षादिभिः विरुद्धत्वात् यत्क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादिभिविरुद्धं तन्नसमञ्जसं यथा नैरात्म्यं दृष्टविरुद्धं चेदं तस्मान्न
समंजसम् । दि० प्र० । 6 अद्वैते । व्या० प्र० । 7 भेदस्य ग्राहको यस्तस्य । व्या० प्र० । 8 पूर्वसंस्कारजातम् । दि०
प्र० । 9 अन्यदेव । दि. प्र. ।

¹पुनरेकमेव, तद्धेतुवासनाभेदाभावप्रसङ्गात्, जाग्रद्दशायामिव ²स्वप्नादिदशायामपि पुंसोनेक-
शक्त्यात्मकस्य क्रियाकारकविशेषप्रतिभासवैचित्र्यव्यवस्थितेः ।

[एकनिरंशात्मादौ कारकाद्यालंबनं यथा तथैव एकस्मिन् ब्रह्मणि कारकाद्यालम्बने
भवेत् का बाधा ? इति प्रश्ने सति प्रत्युत्तरं ।]

कस्यचिदेकरूपस्यात्मगगनादेरप्यनेकान्तवादिनामनेकक्रियाकारकविशेषप्रतिभासालम्बन-
त्वसिद्धेर्विरुद्धमेतत्प्रत्यक्षादिभिरद्वैतम्³ । न हि करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते

अद्वैतवादी—एक ही परमब्रह्म में क्रियाकारक आदि भेद प्रत्यक्षादि से संभव है स्वप्न संवेदन के समान । पुनः अद्वैतवाद विरुद्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात्—जैसे एक ही स्वप्न ज्ञान में गज, तुरग आदि अनेक वस्तुयें प्रतिभासित होती हैं, उसी प्रकार से एक ही परमब्रह्म में घट पटादि अनेकों का प्रतिभास होने पर भी अद्वैत में कुछ भी विरोध नहीं है ।

जैन—नहीं, स्वप्न संवेदन को एकरूप स्वीकार करने पर भी अद्वैत पक्ष में कहे गये विरोध-रूप दोष तदवस्थ—ज्यों की त्यों ही हैं । उस स्वप्न संवेदन में भी अपनी वासना से उत्पन्न हुआ क्रिया विशेष का संवेदन अन्य ही है एवं कारक विशेष संवेदन अन्य ही है जो कि एक नहीं है । अथवा प्रत्यक्ष अनुमानादि भी एक ही नहीं हैं । अन्यथा—यदि एक ही मानो तब तो उन-उन हेतुक वासना के भेद के अभाव का प्रसंग आ जायेगा, जो कि आप वेदांतियों को भी इष्ट नहीं है । अर्थात् आपने भी वासना के निमित्त से भेद माना ही है । जाग्रत दशा के समान ही स्वप्न दशा में भी अनेक शक्त्यात्मक पुरुष-ब्रह्म में क्रियाकारक विशेष के प्रतिभास की विचित्रता-भेद व्यवस्थित ही है ।

[एक निरंश आत्मा आकाशादि में जिस प्रकार से अनेक कारकादि का आलंबन है उसी प्रकार से ब्रह्मा में भी अनेक कारकादिकों का आलंबन हो जावे क्या बाधा है ? ऐसी प्रश्ना के होने पर आचार्य उत्तर देते हैं ।]

अनेकान्तवादियों के यहाँ किसी एकरूप (निरंश) आत्मा, आकाश आदि में भी क्रियाकारक विशेषप्रतिभास का आलंबन सिद्ध है । अतः यह अद्वैत प्रत्यक्षादि से विरुद्ध है । उसी का स्पष्टीकरण—

कुम्भकार दण्ड, चक्र आदि से कुम्भ को बनाता है, हाथ से भात को खाता है इत्यादिरूप से प्रत्यक्षज्ञान भ्रान्त नहीं है । जिससे कि वह प्रत्यक्ष अद्वैत का विरोध करने वाला न हो सके अर्थात् वह प्रत्यक्ष अद्वैत का विरोधी ही है । सर्वत्र-बाह्य और अन्तरंग वस्तु में क्रिया कारकादिरूप कथंचित् भिन्न हैं क्योंकि उनके भिन्न प्रतिभासित्व की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् कथंचित् भेद के बिना भिन्न प्रतिभास ज्ञान नहीं पाया जाता है । इस प्रकार का अनुमान वाक्य भी पाया जाता है । अथवा 'नाना जीवाः' इत्यादि आगम वाक्य भी पाया जाता है ।

यह सब प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि विभ्रमाक्रांत नहीं हैं कि जिससे वे अद्वैत को विरुद्ध

1 संवेदनम् । व्या० प्र० । 2 मूर्च्छित । दि० प्र० । 3 निमित्तत्व । निरंशत्वादेव । दि० प्र० ।

पाणिनौदनमित्यादि प्रत्यक्षं भ्रान्तं येनाद्वैतस्य विरोधकं न ¹स्यात् । सर्वत्र क्रियाकारकादिरूपं कथञ्चिद्भिन्नं, भिन्नप्रतिभासित्वान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानं वा नानाजीवा इत्यादिप्रवचनं² वा न विभ्रमाक्रान्तं ³येनाद्वैतं न विरुद्ध्यात्⁴ । स्यादाकूतं 'विवादापन्नं ⁵प्रत्यक्षादि मिथ्याव, भेदप्रतिभासित्वात् स्वप्नप्रत्यक्षादिवत्' इति तदसत्⁶, प्रकृतानुमाने पक्षहेतुदृष्टान्तभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे तेनैव⁷ हेतोर्व्यभिचारात् तन्मिथ्यात्वे⁸ तस्मादनुमानात्साध्याप्रसिद्धेः⁹ । ¹⁰पराभ्युपगमात्पक्षादिभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे न दोष इति चेन्न, ¹¹स्वपराभ्युपगमभेदप्रतिभासेन व्यभिचारात् । तस्यापि पराभ्युपगमान्तरादमिथ्यात्वाद्दोषाभावे स एव तद्भेद¹²-

न सिद्ध कर सकें अर्थात् ये अद्वैतको विरुद्ध ही सिद्ध करते हैं । देखिये ! प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के द्वारा क्रियाकारकादि भेद अद्वैत में सिद्ध है अतः ये प्रमाण उस अद्वैत को बाधित करके द्वैत को स्थापित कर देते हैं ।

अद्वैतवादी—“विवादापन्न प्रत्यक्षादि मिथ्या ही हैं क्योंकि वे भेदरूप प्रतिभासित होते हैं, स्वप्न के प्रत्यक्षादि के समान ।”

जैन—यह कथन भी असत् है । हम आपसे यह प्रश्न करते हैं कि इस प्रकृत अनुमान में पक्ष, हेतु, दृष्टान्त रूप जो भेद का प्रतिभास है वह सम्यक् है या मिथ्या है ? यदि सम्यक् मानों तब तो उसी से ही हेतु में व्यभिचार आ जाता है । अर्थात् आपने जिस अनुमान वाक्य के प्रत्यक्ष अनुमान आदि को ही मिथ्या कहा है और अपने इस अनुमान को सम्यक् समझकर प्रयोग कर रहे हैं अतः अनैकान्तिक दोष आता ही है । यदि प्रकृत अनुमान के इन पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि भेद को मिथ्या कहें तब तो उस मिथ्या अनुमान से साध्य की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी ।

अद्वैतवादी—दूसरों के स्वीकार करने से पक्षादि भेद के प्रतिभास को हम सच्चा मान लेते हैं अतः दोष नहीं आता है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अपने और पर की स्वीकृति के भेद प्रतिभास से व्यभिचार आता है अर्थात् स्व-पर के भेद से प्रतिभास के दो भेद हो जाते हैं ।

1 प्रत्यक्षम् । दि० प्र० । 2 जैनागमः । दि० प्र० । 3 कुतः । दि० प्र० । 4 विरुद्धयते । इति पाठान्तरम् । दि० प्र० । 5 कारकादि । व्या० प्र० । 6 स्याद्वादी आह तत्ते वचोऽसत्यम् । दि० प्र० । 7 पक्षादिनासत्यभूतेन । पक्षहेतुभेदप्रतिभासेनैव । दि० प्र०) । 8 पक्षादीनामसत्यभूतत्वे । दि० प्र० । 9 पक्षाद्यसत्यभूतात्तस्मादनुमानान्मिथ्या भवति इति साध्यस्य सिद्धिर्न स्यात् । दि० प्र० । 10 हे अद्वैतवादिन् ! सत्यत्वमनुमानस्य स्वाभ्युपगमात्पराभ्युपगमाद्वा इति स्याद्वादिना पृष्टे पर आह । दि० प्र० । 11 यसः । व्या० प्र० । 12 अमिथ्यात्वरूपेण । व्या० प्र० । स्याद्वादी आह । हे—अद्वैतवादिन् तावकः पराभ्युपगमः स्वतः सत्यभूतः परतो वेति विचारः । स्वतः सिद्धश्चेत्-द्वैतप्रसंगः पर आह अन्यस्मात्पराभ्युपगमात्सत्यत्वे दोषाभाव एव तर्हि तत्पराभ्युपगमान्तरमन्यदपेक्षते तदन्यत्तदन्यदपेक्षते एवं सति क्वचिन्न व्यवतिष्ठेत् । तथा सति तयोः स्वपराभ्युपगमयोः भेदप्रतिभासेन व्यभिचारो घटते । दि० प्र० ।

प्रतिभासेन^१ व्यभिचार इति न क्वचिद्वचवतिष्ठेत' । कश्चिदाह 'ब्रह्माद्वैतस्य संविन्मात्रस्य^२ स्वतःसिद्धस्य^३ क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनां बाधकस्य भावात्तेषां भ्रान्तत्वम् । ततो न तद्विरोधकत्वम्' इति तदपि^४ न साधीयः, तथा सति बाध्यबाधकयोर्भेदात्, ^५द्वैतसिद्धिप्रसङ्गात् । न च परोपगममात्रात्तयोर्बाध्यबाधकभावः^६, परमार्थतस्तदभावापत्तेः ^७प्रतिभासमात्रवत्प्रतिभासमात्रविशेषस्यापि सत्यत्वसिद्धेरनेकान्तव्यवस्थानात् । तदेकान्ततः पुरुषाद्वैतं^८ प्रत्यक्षादिविरुद्धमेव । ^९तथास्मिन्नद्वैतैकान्ते दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः ।—

अद्वैतवादी—उस स्वपर की स्वीकृतिरूप भेद प्रतिभास को भी पर की—स्वीकृति से ही मानते हैं अतः वह सच्चा है, इसीलिये दोष का अभाव है ।

जैन—तब तो वह भी उनके भेद प्रतिभास से व्यभिचरित हो जायेगा, पुनः इस प्रकार से भेद प्रतिभास में पक्षादि के मिथ्यात्व एवं सत्यत्व की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी ।

अद्वैतवादी—स्वतः सिद्ध, संविन्मात्र ब्रह्माद्वैत ही क्रियाकारक भेद और प्रत्यक्षादिकों का बाधक है अतः वे क्रियाकारकादि भेद भ्रान्त हैं इसलिये वे अद्वैत के विरोधक नहीं हैं ।

जैन—ऐसा भी सिद्ध करना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर भी बाध्य और बाधक ये दो होने से भेद सिद्ध है अर्थात् क्रिया कारकादि भेद बाधित होने योग्य होने से बाध्य हैं एवं परमब्रह्म उनका बाधक है । बाध्य-बाधकरूप से द्वैत सिद्ध ही है अतः द्वैत सिद्धि का ही प्रसंग आता है । परोपगममात्र—अन्य की स्वीकृति मात्र से उन दोनों में बाध्य-बाधक भाव नहीं है । अन्यथा परमार्थ से उन बाध्य-बाधक भाव का ही अभाव हो जायेगा अर्थात् बाध्य-क्रियाकारकादि भेद और बाधक—परम ब्रह्म ये दोनों यदि वास्तविक नहीं हैं तब तो प्रतिभासमात्र सामान्य परमब्रह्म के समान प्रतिभास मात्र विशेषरूप क्रियाकारकादि भी सत्य—वास्तविकरूप सिद्ध हो जायेंगे पुनः अनेकांत की ही व्यवस्था हो जायेगी ।

इसलिये एकांत से पुरुषाद्वैत प्रत्यक्षादि से विरुद्ध ही है, यह सिद्ध हुआ ।

१ तयोः स्वपराभ्युपगमान्तरयोर्भेदः कथं पराभ्युपगमान्तरमेकमभ्युपगमश्च द्वितीयो भेद इति । दि० प्र० । २ ज्ञानमात्रस्य । दि० प्र० । ३ ज्ञातस्य । व्या० प्र० । ४ हे अद्वैतवादिन् तद्विरोधकं न । तदीदृशं तव वचः साधुर्नास्ति । तथा सति संविन्मात्रे स्वतः सिद्धे । ब्रह्माद्वैते क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनां बाधके सतीदं बाधकं एते बाध्या इति भेदात् द्वैतसिद्धिः प्रसजतीति । दि० प्र० । ५ द्वैतसिद्धिर्भयादेव संशयविपर्ययादिषु ज्ञानापहारो वा विषयापहारो वा इत्यादिना बाध्यबाधकभाव्ये निराक्रियतेऽद्वैतिनातोयुक्तमेवेदं विशेषणम् । दि० प्र० । ६ तर्हि । तयोः परोपगममात्राद्बाध्यबाधकभावो न किन्तु परमार्थतो बाध्यबाधकभावापत्तेः । दि० प्र० । ७ यथा प्रतिभासमात्रात्तयोरद्वैतक्रियाकारकभेदयोः बाध्यबाधकभावो न घटते = प्रतिभासमात्रविशेषस्य सत्यत्वं सिद्धयति तदा किम् । अनेकान्तव्यवस्थापनं स्वयमेव घटते । ज्ञानमात्र । दि० प्र० । ८ भा । व्या० प्र० । ९ प्रत्यक्षादिविरोधलक्षणं दूषणं यथा । व्या० प्र० ।

कर्मद्वैत^१ ^२फलद्वैतं ^३लोकद्वैतं च नो भवेत्^४ ।

विद्याऽविद्याद्वयं^५ न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं^६ तथा^७ ॥२५॥

लौकिकं वैदिकं च कर्मेति वा ^८कुशलमकुशलं च कर्मानुष्ठानमिति वा पुण्यं पापं च कर्मेति वा कर्मद्वैतं न स्यात् । ^९तदभावादिहामुत्र च श्रेयःप्रत्यवायलक्षणं फलद्वैतं न स्यात्, कारणाभावे^{१०} कार्यस्यानुत्पत्तेः । तत एवेहलोकपरलोकलक्षणं लोकद्वैतं न स्यात् । कर्मादिद्वैतस्यानाद्यविद्योपदर्शितत्वाददोष इति चेन्न, धर्माधर्मद्वैतस्याभावे विद्याविद्याद्वयस्यासंभवाद्बन्ध^{११}मोक्षद्वयवत्^{१२} । पूर्वाविद्योदयादेव विद्याविद्याद्वयं बन्धमोक्षद्वयं च, परमार्थतस्तदसंभवात् 'न बन्धोस्ति न वै मोक्ष इत्येषां'^{१३} परमार्थता' इति प्रवचनात् प्रतिभासमात्रस्य परब्रह्मण

उत्थानिका—उसी प्रकार से अद्वैतैकांत में अन्य और दूषणों को दिखलाते हुये श्री समंतभद्राचार्यवर्य कहते हैं—

पुण्य-पाप द्वय, सुख-दुःख फल द्वय, इह-परलोक द्वैत जग में ।

विद्या और अविद्या द्वय अरु, बंध-मोक्ष द्वय नहिं होंगे ॥

इन द्वैतों में एक द्वैत भी, यदि मानों अद्वैत नहीं ।

अतः ब्रह्म या शब्द, ज्ञानमय, जगत् एकमय घटे नहीं । २५॥

कारिकार्थ—इस अद्वैत एकांत पक्ष में दो कर्म, दो फल, दो लोक नहीं बन सकते हैं उसी प्रकार से विद्या और अविद्या, बंध और मोक्ष भी घटित नहीं हो सकते हैं ॥२५॥

लोक में और वेद में "कर्म" इस शब्द से दो का ग्रहण किया गया है । अथवा कुशल, अकुशल कर्म के अनुष्ठान से भी कर्म के दो भेद हैं । अथवा पुण्य और पाप के भेद से भी कर्म के दो भेद हैं । ये दो भेद अद्वैत में नहीं हो सकते हैं । उन कर्म द्वैत का अभाव ही जाने से इहलोक और अमुत्र—परलोक में श्रेय—प्रत्यवाय सुख और दुःख लक्षण फलद्वैत भी नहीं हो सकता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । इसी हेतु से इहलोक परलोक लक्षण वाला लोकद्वैत भी नहीं हो सकेगा ।

अद्वैतवादी—ये कर्मादिद्वैत अनादि अविद्या से ही होते हैं अतः हमारे यहाँ कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । धर्म अधर्म रूप द्वैत का अभाव होने पर विद्या और अविद्या ये दोनों असंभव हैं । जैसे कि बंध और मोक्ष दोनों असंभव हैं ।

१ लौकिकं कृष्यादि वैदिकं नित्यनैमित्तिकम् । पुण्यपापं वा । दि० प्र० । २ सुखं दुःखम् । दि० प्र० । ३ इहलोक परलोक । दि० प्र० । ४ अद्वैते । दि० प्र० । ५ सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं वा । दि० प्र० । ६ पापकार्यं धर्मकार्यं वा । दि० प्र० । ७ तस्मात् । दि० प्र० । ८ प्रशस्ताप्रशस्तम् । दि० प्र० । ९ कर्मद्वैतम् । दि० प्र० । १० पुण्यपाप । दि० प्र० । ११ पापकार्यम् । दि० प्र० । १२ धर्मकार्यम् । दि० प्र० । १३ इत्येषां परमेति वा पाठः । दि० प्र० ।

एव तात्त्विकत्वादिति चेन्न, नैरात्म्यस्यापि^१ तात्त्विकत्वापत्तेस्तत्कल्पनाया नैष्फल्याविशेषात् । सर्वो हि प्रमाणप्रत्यनीकं^२ स्वमनीषिकाभिरद्वैतमन्यद्वा किञ्चित्फलमुद्दिश्यारचयेत्, अन्यथा तत्प्रति प्रवर्तनायोगात्प्रेक्षावृत्तेः । तथाहि ।^३ पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविद्येतरबन्धमोक्ष-विशेषरहितं^४ प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम् । यथा नैरात्म्यदर्शनम् । तथा च प्रस्तुतम् । तस्मात्प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम् । इति न तज्जिज्ञासापि^६ श्रेयसी ।

[ब्रह्माद्वैतवादी सर्वचेतनाचेतनपदार्थान् ब्रह्मणोऽतःप्रविष्टमेव मन्यते तस्य पूर्वपक्षः ।]

स्यान्मतं “न ब्रह्माद्वैतं प्रमाणप्रत्यनीकत्वात्^७ स्वमनीषिकाभिरारचितं, तस्यानुमानादाग-
माद्वा प्रमाणात्प्रसिद्धेः । तथा हि ।^८ यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव ।

अद्वैतवादी—पूर्व—अनादिकालीन अविद्या के उदय के निमित्त से ही विद्या और अविद्या तथा बंध और मोक्ष द्वैत होते हैं । वास्तव में वे द्वैत असंभव ही हैं । हमारे यहाँ प्रवचन में कहा भी है—

“न बंधोऽस्ति न वै मोक्ष इत्येषा परमार्थता ।” न बंध है न मोक्ष है इस प्रकार का कथन परमार्थभूत है । अतः प्रतिभासमात्र परम ब्रह्म ही तात्त्विक है ।

जैन—ऐसा भी नहीं कह सकते अन्यथा नैरात्म्य दर्शन भी तात्त्विक हो जायेगा । क्योंकि परब्रह्म और नैरात्म्य की कल्पना में निष्फलता समान ही है । सभी जनों को अपनी बुद्धि के द्वारा प्रमाण से विरुद्ध अद्वैत अथवा सर्वथाद्वैत रूप मत की रचना करते समय कुछ न कुछ फल का उद्देश्य करके ही करना चाहिये । अन्यथा—फल के बिना उस मत के प्रति प्रेक्षापूर्वकारीजनों-बुद्धिमानों की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । तथाहि—“पुण्य-पाप, सुख-दुःख, इहलोक-परलोक, विद्या-अविद्या, बंध और मोक्ष विशेष से रहित मत प्रेक्षापूर्वकारी-विद्वानों के द्वारा आश्रयणीय नहीं है जैसे नैरात्म्य-दर्शन । और उसी प्रकार से प्रस्तुत-अद्वैत है अतः विद्वानों के द्वारा आश्रय करने योग्य नहीं है, इसलिये उसके जानने की इच्छा भी श्रेयसी नहीं है ।

[ब्रह्माद्वैतवादी सभी चेतन अचेतन पदार्थों को ब्रह्म के अंतःप्रविष्ट ही मानता है, उसका पूर्वपक्ष]

अद्वैतवादी—अपनी बुद्धि के द्वारा रचित ब्रह्माद्वैत सिद्ध है क्योंकि प्रमाण से प्रत्यनीक-विपरीत नहीं है । वह अनुमान प्रमाण अथवा आगम प्रमाण से प्रसिद्ध है । तथाहि—“जो अन्तर्बहिर्वस्तु प्रतिभास समानाधिकरण है वह प्रतिभास के अंतःप्रविष्ट ही है, जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप और सभी वस्तु

१ तत्त्वोपप्लववादिमतस्य । शून्यस्य । दि० प्र० । २ बुद्धिभिः । दि० प्र० । ३ यत् । व्या० प्र० । ४ रहितत्वादिति हेतुः । व्या० प्र० । ५ अद्वैतं पक्षः प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयं भवतीति साध्यो धर्मः पुण्येत्यादिविशेषरहितत्वात् । व्याप्तिः । यथा नैरात्म्यं पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविद्याविद्याबंधमोक्षरहितञ्चेदं प्रस्तुतं तस्मात्प्रेक्षापूर्वकारिभिर-नाश्रयणीयम् । तत् । दि० प्र० । ६ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इति वेदितव्यासबचनं व्यर्थमित्यर्थः बन्धमोक्षादिफलाभावे न तदज्ञानस्य च तदाश्रयणस्य च वैयर्थ्यादिति भावः । दि० प्र० । ७ विशिष्टत्वात् । दि० प्र० । विरुद्धत्वात् । व्या० प्र० । ८ प्रतिभासेन ज्ञानेन समानमधिकरणमाश्रयो यस्य । दि० प्र० ।

यथा प्रतिभासस्वरूपम् । ^१प्रतिभाससमानाधिकरणं च सर्वम् । इति हेतोः परब्रह्मसिद्धिः । न चायमसिद्धः, ^२सुखं प्रतिभासते ^३रूपं प्रतिभासते इति सर्वत्र^४ ^५प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेरन्यथा सद्भावासिद्धेः । अप्रतिभासमानस्यापि सद्भावे सर्वस्य^६ ^७मनोरथसिद्धिप्रसङ्गान्न किंचिदसत्स्यात् । अथ प्रतिभासव्यतिरिक्तस्य प्रतिभास्यस्यार्थस्यान्तर्बहिर्वोपचारात्प्रतिभाससमानाधिकरणत्वव्यवस्थितेः प्रतिभासस्वरूपस्य मुख्यतोपपत्तेरसिद्धो^८ हेतुरिति मतं ^९तदप्यसम्यक्, प्रतिभास्यप्रतिभासयोस्तद्भावानुपपत्तेः । प्रतिभासस्य ^{१०}हेतुत्वात्प्रतिभा-

प्रतिभास समानाधिकरण है।” इस हेतु से परब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। हमारा यह हेतु असिद्ध भी नहीं है। “सुख प्रतिभासित होता है, वर्ण प्रतिभासित होता है।” इस तरह से सर्वत्र प्रतिभास समानाधिकरण की प्रतीति हो रही है। अन्यथा—यदि ऐसा न मानों तब तो किसी वस्तु का सद्भाव ही सिद्ध नहीं होगा।

यदि अप्रतिभासमान का भी सद्भाव मानोगे तब तो सभी के मनोरथ की सिद्धि का प्रसंग आ जायेगा पुनः असत् रूप से कोई चीज ही नहीं रहेगी।

जैन—प्रतिभास से भिन्न जो प्रतिभास्य-प्रतिभासित होने योग्य अंतरंग अथवा बाह्य पदार्थ हैं उनमें उपचार से ही प्रतिभास समानाधिकरण की व्यवस्था है। तथा प्रतिभास स्वरूप (ज्ञान) में मुख्यरूप से प्रतिभास समानाधिकरण व्यवस्था है अतः आपका यह हेतु असिद्ध है।

अद्वैतवादी—आपका यह मत भी समीचीन नहीं है क्योंकि प्रतिभास्य-अर्थ और प्रतिभास-ज्ञान में तद्भाव-प्रतिभास्य-प्रतिभासकभाव बन सकता है।

जैन—प्रतिभास (ज्ञान) तो हेतु है और प्रतिभास्य पदार्थ है इसलिये द्वैत सिद्ध है।

अद्वैतवादी—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्रतिभास मात्र-सामान्य अहेतुक है अतः कोई भी पदार्थ प्रतिभास में हेतु नहीं बन सकता। वह अहेतुकत्व क्यों है? तो अकादाचित्क नित्य होने से है। अन्यथा यदि उसे अनित्य मानोगे तो कदाचित् उस प्रतिभास के अभाव का प्रसंग आ जायेगा।

१ सर्वं ग्रामारामादि पक्षः प्रतिभासान्तःप्रविष्टं भवतीति साध्यो धर्मः प्रतिभाससमानाधिकरणत्वात् यथा प्रतिभासस्वरूपम् । दि० प्र० । २ अन्तस्तत्त्वम् । दि० प्र० । ३ बहिस्तत्त्वम् । दि० प्र० । ४ सर्वस्य इति पा० । वस्तुनः । दि० प्र० । ५ अर्थे । मा । व्या० प्र० । ६ वादिनः । व्या प्र० । ७ शून्यतादिवादिनः वाञ्छितसिद्धेर्घटनात् । दि० प्र० । ८ स्याद्वादी वदति । हे अद्वैतवादिन् । प्रतिभाससमानाधिकरणत्वादिति हेतुरसिद्धः कस्मात् । यतः प्रमाणभिन्नस्यान्तर्बहिरर्थस्य प्रमेयस्य उपचारात् प्रतिभाससमानाधिकरणत्वं व्यवतिष्ठतेऽन्यच्चप्रमाणस्वरूपमुख्यत्वमुपपद्यतेऽतोपमसिद्धो हेतुः=इदानीमद्वैतवाद्याह हे स्याद्वादिन् । इति मतं तावकं तदप्यसत्यं कस्मात् ज्ञेयज्ञानयोर्द्वयोस्तस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्याभावानुपपत्तेः संभवात् । दि० प्र० । ९ तदभावेति पाठ० । दि० प्र० । १० प्रमेयोऽर्थः प्रमाणस्य कारणं भवतीति चेत् । अतो द्वैतवादी ब्रूते । एवं न कस्माद्यतः प्रतिभासमात्रं निष्कारणत्वं कस्यचित्पदार्थस्य तस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्य कारणत्वाद्यतनात् । दि० प्र० ।

स्योर्थ¹ इति चेन्न, ²प्रतिभासमात्रस्याहेतुकत्वात्कस्यचित्तद्धेतुत्वायोगात्³ । तदहेतुकत्वम्, अकादाचित्कत्वात्, अन्यथा⁴ कदाचित्तदभावप्रसङ्गात्⁵ । ⁶प्रतिभासालम्बनत्वात्प्रतिभास्योर्थो भवतीति चेत्कुतस्तस्य⁷ प्रतिभासालम्बनत्वम् ? प्रतिभास्यत्वादिति चेत्परस्पराश्रयणम् । प्रतिभासालम्बनत्वयोग्यत्वादिति⁸ चेत्तहि प्रतिभासस्वरूपमेव प्रतिभास्यं, तस्यैव प्रतिभासालम्बनत्वोपपत्तेः सर्वत्र ⁹प्रतिभासस्य स्वरूपालम्बनत्वात् । तथा¹⁰ च कथं ¹¹विषयस्योपचरितं प्रतिभाससमानाधिकरणत्वं यतोसिद्धो हेतुः स्यात् । तत एव नानैकान्तिको विरुद्धो वा, प्रतिभासान्तरऽप्रविष्टस्य ¹²कस्यचिदपि प्रतिभाससमानाधिकरणत्वायोगाद्धेतोर्विषयवृत्त्यभावात्¹³ । ¹⁴नाश्रयासिद्धिरपि¹⁵ हेतोः शङ्कनीया, सर्वस्य धर्मिणः परब्रह्मण एवाश्रयत्वात्¹⁶

जैन—प्रतिभास का आलम्बन लेने से अर्थ प्रतिभास्य होते हैं ।

अद्वैतवादी—यदि ऐसी बात है तब तो उस अर्थ में प्रतिभास का आलम्बन कैसे है ?

जैन—प्रतिभास्य-प्रतिभासित होने योग्य होने से वह प्रतिभास-ज्ञान का आलम्बन है ।

अद्वैतवादी—यदि आप ऐसा कहें तब तो परम्पराश्रय दोष आ जाता है अर्थात् प्रतिभास का आलम्बन होने पर अर्थ प्रतिभास्य होगा । अर्थ के प्रतिभास्य होने पर प्रतिभास में प्रतिभास्य का आलम्बन सिद्ध होगा एवं एक दूसरे के आश्रित होने से एक की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

जैन—प्रतिभास आलम्बन योग्य होने से अर्थ प्रतिभास्य है ।

अद्वैतवादी—तब तो प्रतिभास का स्वरूप ही प्रतिभास्य है । उस प्रतिभास स्वरूप को ही प्रतिभास का आलम्बनत्व सिद्ध है क्योंकि सभी जगह प्रतिभास अपने स्वरूप का ही आलम्बन लेता है । पुनः उस प्रकार से विषय में प्रतिभास समानाधिकरण उपचरितरूप कैसे होगा ? कि जिससे यह हेतु असिद्ध हो सके अर्थात् “प्रतिभास समानाधिकरणत्वात्”, यह हेतु असिद्ध नहीं है । “विषय में प्रतिभास समानाधिकरणत्व उपचरित नहीं है” इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक अथवा विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि प्रतिभास के भीतर में अप्रविष्ट किसी भी वस्तु में प्रतिभास समानाधिकरणत्व का अभाव है, अतः यह हेतु विषय में नहीं रहता है । यह हेतु आश्रयासिद्ध है ऐसी भी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि सभी ग्रामारामादि धर्मी उस परमब्रह्म के ही आश्रित हैं ।

1 अस्तीति । दि० प्र० । 2 ब्रह्म । दि० प्र० । 3 प्रतिभासमात्रं निष्कारणमित्यर्थः । दि० प्र० । 4 प्रतिभासमात्रस्य स हेतुकत्वे कस्मिंश्चित्काले तस्य प्रतिभासमात्रस्याभावो घटते । दि० प्र० । 5 स्याद्वादी वदति अर्थः सर्वः प्रमेयो भवति । कस्मात् प्रमाणविषयत्वात् । दि० प्र० । 6 ग्राह्यत्वात् । व्या० प्र० । 7 अर्थस्य । दि० प्र० । 8 विषयः । प्रतिभासस्य । दि० प्र० । 9 सर्वप्रतिभासस्य । इति पा० । दि० प्र० । 10 एवं सति । दि० प्र० । 11 अर्थस्य । दि० प्र० । 12 खरविषाणादेः । व्या० प्र० । 13 प्रतिभाससमानाधिकरणत्वादिति हेतोः विषयेऽप्रतिभासमानेप्रवृत्त्यभावात्प्रवर्तनाघटनात् । दि० प्र० । 14 नान्यथासिद्धिरपि इति पा० । दि० प्र० । 15 सर्वस्य धर्मिणोः ग्राहकप्रमाणसद्भावे धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितो हेतुस्तद्भावेपि हेतोरश्रयासिद्धिः । प्रमाणेनासिद्धे प्रयुक्तो हेतुराश्रयासिद्धिरिति वदन्तं प्रत्याह । दि० प्र० । 16 हेतोः । दि० प्र० ।

‘ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्नं वस्त्वभिधीयते । प्रकृतस्थात्मकात्स्न्यस्य वै—शब्दः स्मृतये मतः’

इति ^१श्रुतिव्याख्यानात् । ततो न वद्याद्वैतोर्भवत्येवाद्वैतसिद्धिः । ^२तथोपनिषद्वचनादपि^३
‘सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म’ इत्यादिश्रुतिसद्भावात्^४, ततस्तद्भ्रान्तिनिराकरणात्^५ इति ।

[इत्थमद्वैतवादिभिः स्वपक्षः समर्थित आचार्या अग्रेतनकारकाभिस्तन्निराकरणं कुर्वन्ति ।]

^६तदेतत्प्रतिविधित्सवः^६ प्राहुः—

^७हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेदद्वैतं ^८स्याद्वैतसाध्ययोः ।

हेतुना चेद्विना^९ सिद्धिर्द्वैतं^{१०} वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

इत्योकार्थ—“ब्रह्म” इस प्रकार इस ब्रह्म शब्द से सम्पूर्ण वस्तु कही जाती है ! प्रकृत और आत्मकात्स्न्य—(आत्मा—ब्रह्म, सभी आत्मा ही हैं अर्थात् सभी ब्रह्म स्वरूप हैं) की स्मृति के लिये शब्द शास्त्र माने गये हैं ऐसा श्रुति में व्याख्यान पाया जाता है। इसलिये इस निर्दोष हेतु से अद्वैत की ही सिद्धि होती है। तथा उपनिषद् के वाक्य से भी सिद्धि होती है—“सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” यह सभी जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है इत्यादि श्रुति का सद्भाव पाया जाता है अतः इस उपनिषद् वाक्य से ही उस अद्वैत की भ्रान्ति का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार से अद्वैतवादी ने अपना पूर्व पक्ष समर्थित किया है।

[आगे की कारिका में आचार्य उसका खण्डन करेंगे ।]

उत्थानिका—अब इस ब्रह्माद्वैतवादी के पक्ष खण्डन करने की इच्छा रखते हुए श्री समंतभद्रा-चार्यवर्य कहते हैं—

यदि अद्वैतसिद्धि हेतु से, तब तो साध्य और साधक ।

द्वैत हुये क्योंकि ब्रह्मा है, साध्य, हेतु उसका ज्ञापक ॥

यदी हेतु के बिना सिद्ध है, यह “अद्वैत” वचन से ही ।

तब तो द्वैतसिद्धि भी क्यों नहि, होवे वचनमात्र से ही ॥२६॥

कारिकार्थ—यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि होती है तब तो हेतु और साध्य ये दो हो गये अतः द्वैत ही सिद्ध हुआ न कि अद्वैत । और यदि हेतु के बिना वचन मात्र से अद्वैत की सिद्धि होती है तब तो वाङ्मात्र से ही द्वैत की सिद्धि क्यों न हो जावे ॥२६॥

1 सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म इत्यादि श्रुतेः । व्या० प्र० । 2 वेद । दि० प्र० । 3 वेदवाक्यमपि नास्तीत्याशंकायामाह । व्या० प्र० । 4 तथापि ब्रह्मसिद्धिः कुतः । व्या० प्र० । 5 निराकर्तुमिच्छा वा इत्यर्थः । व्या० प्र० । 6 सूरयः । व्या० प्र० । 7 का । व्या० प्र० । 8 प्रतिभासमानत्वप्रतिभासन्तप्रविष्टयोः । दि० प्र० । 9 आगमात् । दि० प्र० । 10 अद्वैतस्य । दि० प्र० ।

ननु^१ च प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाद्धेतोः^२ सर्वस्य प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वेन पुरुषा-
द्वैतसिद्धावपि न हेतुसाध्ययोर्द्वैतं भविष्यति, तादात्म्योपगमात् । न च तादात्म्ये साध्यसाधन-
योस्तद्भावविरोधः, सत्त्वानित्यत्वयोरपि तथाभावविरोधानुषङ्गात्^३ । कल्पनाभेदादिह साध्य-
साधनधर्मभेदे^४ प्रकृतानुमानेपि^५ कथमविद्योदयोपकल्पितहेतुसाध्ययोस्तद्भावविघातः, सर्वथा^६
विशेषाभावादिति चेन्न, शब्दादौ सत्त्वानित्यत्वयोरपि कथञ्चित्तादात्म्यात्^७ सर्वथा^८ तादा-
त्म्यासिद्धेः, ^९तत्सिद्धौ साध्यसाधनभावविरोधात् । न ^{१०}चासिद्धमुदाहरणं नाम, अतिप्रसङ्गात् ।
^{११}ततो न ^{१२}हेतोरद्वैतसिद्धिः ।

अद्वैतवादी—“प्रतिभास समानाधिकरणत्व” हेतु से सभी वस्तु को प्रतिभास के अंतःप्रविष्ट रूप मान लेने से पुरुषाद्वैत की सिद्धि के होने पर भी हेतु और साध्य में द्वैत नहीं होगा । क्योंकि इन हेतु और साध्य में तादात्म्य स्वीकार किया है । साध्य साधन में तादात्म्य के मानने पर उनमें साध्य-साधन भावरूप तद्भाव विरोध भी नहीं है । अन्यथा—सत्त्व और अनित्य में भी साध्य-साधनभाव का विरोध आ जायेगा । यथा—“शब्दो नित्यः सत्त्वात्” इन हेतु और साध्य में भी विरोध आ जायेगा । यदि आप ऐसा कहें कि यहाँ कल्पना के भेद से ही साध्य-साधन धर्म में भेद है तब तो प्रकृत अनुमान में भी अविद्या के उदय से उपकल्पित हेतु और साध्य में उस साध्य-साधन भावरूप तद्भाव का व्याघात कैसे होगा ? क्योंकि दोनों में सर्वथा विशेषता का अभाव है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । शब्दादि में सत्त्व और अनित्य इन दोनों का भी कथञ्चित् (एक धर्मी की अपेक्षा से) तादात्म्य संबंध है, सर्वथा तादात्म्य की सिद्धि नहीं है । यदि सर्वथा तादात्म्य की सिद्धि मानों तब तो साध्य-साधनभाव का विरोध हो जायेगा । यहाँ उदाहरण भी असिद्ध नहीं है । यथा “प्रतिभासस्वरूपम्” यह भी कथञ्चित् तादात्म्यरूप से ही है न कि सर्वथा । अन्यथा—अतिप्रसंग दोष आ जायेगा अर्थात् अन्वय दृष्टांत को वाच्य करने पर व्यतिरेक दृष्टांत वाच्य हो जायेगा पुनः अन्वय में व्यतिरेक दृष्टांत उदाहरणरूप हो जायेगा, परन्तु ऐसा नहीं है इसीलिये हेतु से अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

१ अद्वैतानुमाने । दि० प्र० । २ सकाशात् । व्या० प्र० । ३ सौगतमतेपि वस्तुनो निरंशत्वात् सत्त्वानित्यत्वयोस्ता-
दात्म्यमभ्युपगम्यत एव । दि० प्र० । ४ अनुमाने । दि० प्र० । ५ अद्वैतसाधकानुमाने । दि० प्र० । ६ उभयत्र शब्दा-
नित्यत्वसाधने ब्रह्माद्वैतसाधने च सर्वप्रकारेण विशेषो नास्ति । दि० प्र० । ७ साक्षसत्त्वानित्यत्वे कथञ्चित्तादात्म्ये
प्रतीयेते । दि० प्र० । ८ साध्यसाधनयोः सर्वथा तादात्म्यं न सिद्धञ्चि । अन्यथा । दि० प्र० । ९ वास्तव इति
पा० । दि० प्र० । १० शब्दौ सत्त्वानित्यत्वयोरपि कथञ्चित्तादात्म्यादित्युदाहरणमसिद्धं नास्ति । असिद्धमस्ति
चेत्तदातिप्रसंगो जायते । दि० प्र० । ११ हेतुसाध्ययोर्द्वैतं यतः । दि० प्र० । १२ सकाशात् । दि० प्र० ।

[आगमादद्वैतसिद्धिर्भवेदिति मन्यमाने जैनाचार्याः दोषानारोपयन्ति ।]

हेतुना विनैवागममात्रात्तिसिद्धिरिति चेन्न, अद्वैततदागमयोद्वैतप्रसङ्गात् । यदि पुनरागमोप्यद्वयपुरुषस्वभाव एव न ततो व्यतिरिक्तो¹ येन द्वैतमनुषज्यते इति मतम्,

'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि तस्य² पर्वाणि यस्तं वेत्ति³ स वेदवित् ।'

इति वचनात् तदा ब्रह्मवत्तदागमस्याप्यसिद्धत्वं स्यात्, सर्वथाप्यसिद्धस्वभावस्य सिद्धत्वविरोधात्⁴ सिद्धासिद्धयोर्भेदप्रसक्तेः । तदेवं यदसिद्धं तन्न हितेषुभिरहितजिहासुभिर्वा प्रतिपत्तव्यम् । यथा शून्यतर्कान्तः तथा चासिद्धमद्वैतमिति । अत्र⁵ नासिद्धो⁶ हेतुः, पुरुषाद्वैत-

[आगम से अद्वैत को सिद्ध करने में भी जैनाचार्य दोषारोपण करते हैं ।]

अद्वैतवादी—हेतु के बिना ही आगम मात्र से उस अद्वैत की सिद्धि हो जाती है ।

जैन—ऐसा नहीं है, क्योंकि अद्वैत और उसका साधक आगम इन दो से द्वैत का ही प्रसंग आ जाता है ।

अद्वैतवादी—आगम भी अद्वैत पुरुष का स्वभाव ही है उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है जिससे कि द्वैत का प्रसंग भावे अर्थात् नहीं आता है । हमारा ऐसा मत है देखिये—

श्लोकार्थ—ऊर्ध्वमूल—अन्त्य अवस्था—अद्वैत अवस्था ही जिसका मूल स्वरूप है, अधः शाखं—जिसकी पूर्वावस्था है ऐसा अश्वत्थ ब्रह्म अव्ययरूप है और छन्द वेद ही जिसके पर्व हैं ऐसा वेदांती लोग कहते हैं ऐसे ब्रह्म को जो जानता है वही वेदवित् कहलाता है ।

जैन—यदि आपका ऐसा मत है तब तो ब्रह्म के समान वह आगम भी असिद्ध ही रहेगा क्योंकि चाहे आगम हो या ब्रह्म, किसी का भी हो, सर्वथा यदि असिद्ध स्वभाव है तब तो उसकी सिद्धि में विरोध आता है । यदि आगम को सिद्ध और ब्रह्मा को असिद्ध मानों तब तो सिद्ध, असिद्ध के भेद से द्वैत ही सिद्ध होगा न कि अद्वैत, "अतएव जो अनुमान अथवा आगम से असिद्ध है वह हितेच्छुओं के द्वारा अथवा अहित को छोड़ने की इच्छा रखने वालों के द्वारा प्राप्त करने योग्य नहीं है, जैसे शून्यत्वैकान्त मत । उसी प्रकार से यह अद्वैत असिद्ध है । यहाँ पर "अद्वैतमसिद्धं अद्वैतत्वात्" यह हेतु असिद्ध भी नहीं है" क्योंकि आपका पुरुषाद्वैत अनुमान अथवा आगम से सिद्ध नहीं हो सकता है ।

1 भिन्नः । दि० प्र० । 2 यस्य पर्वाणि इति पा० । दि० प्र० । 3 वेद इति पा० । दि० प्र० । 4 यथा ब्रह्माद्वैतमसिद्धं तथा तदागमोप्यसिद्धः सर्वथाप्यसिद्धस्वभावस्य ब्रह्मणः सिद्धत्वं विरुद्धयते इत्युक्तवन्तं स्याद्वादिनमद्वैतवाद्याह तर्हि ब्रह्माग्नेनासिद्धं तदागमांशेन सिद्धं भवतु । जैन आह तर्हि सिद्धासिद्धयोर्भेदे सति स्वयमेव द्वैतप्रसंगः । दि० प्र० । 5 इत्यत्र । पाठान्तरम् । अनुमाने । दि० प्र० । 6 असिद्धत्वादिनि हेतुरसिद्धो न । अद्वैतं पक्षः । हितेषुभिरहितजिहासुभिः प्रतिपत्तव्यं न भवतीति साध्यो धर्मोऽसिद्धत्वात् । यदसिद्धं तन्न हितेषुभिरहितजिहासुभिः प्रतिपत्तव्यम् । यथा शून्यैकान्तः । असिद्धञ्चेदं तस्माद्धितेषुभिरहितजिहासुभिः न प्रतिपत्तव्यम् । दि० प्र० ।

स्यानुमानादागमाद्वा सिद्धत्वायोगात् । प्रतिभाससमानाधिकरणत्वानुमागात्तत्सिद्धिरिति^१ चेन्न, तस्य^२ विरुद्धत्वात्, प्रतिभासतद्विषयाभिमतयोः^३ कथञ्चिद्भेदे सति समानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेः सर्वथा प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वासाधनात् स्वविषयस्य^४ । न हि शुक्लः पट इत्यादावपि सर्वथा गुणद्रव्ययोस्तादात्म्ये सामानाधिकरण्यमस्ति । सर्वथाभेदवत्^५ प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते इत्यत्रापि^७ न प्रतिभासतत्स्वरूपयोर्लक्ष्यलक्षणभूतयोः^८ सर्वथा तादात्म्यमस्ति, प्रतिभासस्यसाधारणासाधारणधर्माधिकरणस्य स्वस्वरूपादसाधारणधर्मात्कथञ्चिद्भेदप्रसिद्धेर-

अद्वैतवादी—“प्रतिभाससमानाधिकरणरूप” अनुमान से उसकी सिद्धि हो जाती है ।

जैन—नहीं, क्योंकि यह हेतु साध्य से विपरीत का साधक होने से विरुद्ध है । प्रतिभास और उसके विषयरूप प्रतिभास्य को स्वीकार करने में कथञ्चित् भेद के होने पर समानाधिकरणत्व की प्रतीति होती है अतः स्वविषयरूप प्रतिभास्य को सर्वथा प्रतिभास के अन्तःप्रविष्टरूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि श्वेत वस्त्र इत्यादि में भी सर्वथा गुण और द्रव्य का तादात्म्य स्वीकार कर लेने पर समानाधिकरण नहीं बन सकता है । जिस प्रकार से सर्वथा भेद पक्ष सिद्ध नहीं होता है, तथैव “प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते” प्रतिभास का स्वरूप प्रतिभासित हो रहा है । इस वाक्य में भी लक्ष्य-लक्षणभूत प्रतिभास और उसके स्वरूप में सर्वथा तादात्म्य-अभेद नहीं हो सकता है क्योंकि साधारण और असाधारण धर्म के आधारभूत प्रतिभास में साधारण धर्मरूप स्वरूप से कथञ्चित् भेद प्रसिद्ध है । अन्यथा उसके समानाधिकरण का अभाव हो जावेगा ।

प्रतिभास का साधारणधर्म प्रतिभास मात्र अथवा सत्त्वादि हैं एवं असाधारण धर्म ज्ञान स्वरूप हैं और अचेतन है इस तरह साधारण और असाधारण धर्म के आधारभूत प्रतिभास में ज्ञान ही स्वरूप है और वह असाधारण धर्म है । जैसे असाधारण ज्ञान स्वरूप प्रतिभासित होता है वैसे ही घट-पटादिसत्त्व भी प्रतिभासित होते हैं क्योंकि सत्त्व भी प्रतिभास का असाधारण धर्म है । उसमें उस असाधारण धर्म से कथञ्चित् भेद प्रसिद्ध है । अन्यथा—यदि प्रतिभास में स्वरूप से कथञ्चित् भेद न मानों तो समानाधिकरण का अभाव हो जायेगा । जैसे सुवर्ण, सुवर्ण इसमें सर्वथा अभेद है अथवा सह्याचल और विद्याचल इसमें सर्वथा भेद सिद्ध है । इसलिये “जो प्रतिभास समानाधिकरण” है वह प्रतिभास से कथञ्चित् भिन्न है । जैसे प्रतिभास का स्वरूप और प्रतिभास समानाधिकरणरूप

- 1 ब्रह्माद्वैतसिद्धिः । दि० प्र० । 2 तस्यानुमानस्य विरुद्धत्वं वर्ततेऽयं हेतुः स्वसाध्यं न साधयति । दि० प्र० ।
- 3 स्याद्वाद्याह । हे अद्वैतवादिन् । प्रतिभास्यप्रतिभास्ययोः साध्यसाधनयोः कथञ्चिद्भेदः सर्वथाऽभेदो वेति प्रश्नः । कथञ्चिद्भेदे सति समानाधिकरणत्वं घटते । सर्वथाऽभेदे सति प्रतिभाससमानाधिकरणत्वमयं हेतुः स्वविषयस्य सस्य ग्रामाराभादेः प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वलक्षणं स्वसाध्यं न साधयति । दि० प्र० । 4 सर्वस्य वस्तुनः । व्या० प्र० ।
- 5 यथा सर्वथाभेदे सामान्याधिकरण्यं नास्ति तथा सर्वथाऽभेदेऽपि किन्तु कथञ्चिद्भेदे घटते । दि० प्र० । घटवत् । आशंक्य । व्या० प्र० । 6 ब्रह्माद्वैतवादिनोभिप्रायमनूच दूषयति । व्या० प्र० । 7 न केवलं रूपं प्रतिभासते । व्या० प्र० । 8 गुणिगुणयोः । दि० प्र० । 9 ज्ञानस्य । व्या० प्र० ।

न्यथा¹ ²तत्सामानाधिकरण्यायोगात् सुवर्णं ³सुवर्णमिति यथा⁴ सद्यविन्ध्यवद्वा⁵ तदेवं । ⁶यत्प्रति-
भाससमानाधिकरणं तत् प्रतिभासात्कथञ्चिदर्थान्तरं यथा प्रतिभासस्वरूपं, प्रतिभाससमाना-
धिकरणं च सुखनीलादि सर्वमिति ⁷साध्यविपरीतसाधनाद्धेतोर्नाद्वैतसिद्धिः⁸ ।

[आम्नायवाक्यं द्वैतमेव साध्ययति नाद्वैतम्]

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्याद्याम्नायादपि⁹ द्वैतसिद्धिरेव स्यात्, ¹⁰सर्वस्य प्रसिद्धस्याप्रसिद्धेन
ब्रह्मत्वेन विधानात्, सर्वथा प्रसिद्धस्य विधानायोगादप्रसिद्धवत् । क्वचिदात्मव्यक्तौ¹¹ प्रसिद्ध-
स्यैकात्म्यरूपस्य ब्रह्मत्वस्य ¹²सर्वात्मस्वऽनात्माभिमतेषु च ¹³विधानाद्द्वैतप्रपञ्चारोपव्यवच्छे-

सभी सुखादि अन्तरंग और नीलादि बहिरंग वस्तुयें हैं । इस प्रकार से आपका यह हेतु अद्वैत रूप साध्य
से विपरीत द्वैत को ही सिद्ध करता है अतः अद्वैत की सिद्धि नहीं हुई ।

[आम्नायवाक्य-आगमवाक्य द्वैत को ही सिद्ध करते हैं, अद्वैत को नहीं]

देखो “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि आम्नायवाक्य से भी द्वैत की ही सिद्धि होती है क्योंकि
चेतनाचेतनात्मकरूप से प्रसिद्ध सभी पदार्थ अप्रसिद्धरूप इस “ब्रह्म” शब्द से कहे गये हैं अर्थात् चेतन
अचेतन सभी पदार्थ प्रसिद्ध हैं और आपका ब्रह्म सर्वथा अप्रसिद्ध है फिर भी आप सभी पदार्थ को
ब्रह्मरूप कह रहे हैं किन्तु यह बात असंभव ही है । यदि इन समस्त चेतनाचेतनात्मक पदार्थों में
ब्रह्मरूपता सर्वथा प्रसिद्ध होती तो उनमें आगम से इसके विधान करने की आवश्यकता ही क्या थी ?
जिस प्रकार से अप्रसिद्ध का विधान नहीं होता है उसी प्रकार से सर्वथारूप से प्रसिद्ध का भी विधान
नहीं होता है ।

अद्वैतवादी—समस्त चेतन पदार्थों में और अनात्मारूप से अभिमत समस्त अचेतन पदार्थों
में किसी एक आत्मा—व्यक्ति में प्रसिद्ध जो एकात्मरूप ब्रह्म है उसका विधान करते हैं क्योंकि उन

1 वस्तुनः सांशक्तप्रसंगादतद्युक्तमेव सौम्यप्रतिवृत्तौविधानं सौम्यं प्रतिभेदसिद्धेः । स्याद्वादिनं प्रत्युदाहरणमसिद्ध-
मित्यभिप्रायः । दि० प्र० । 2 कथञ्चिद्भेदाभावे प्रतिभासतत्स्वरूपयोः समानाधिकरणत्वं न घटते । दि० प्र० ।
3 सुवर्णस्य सर्वथाऽभेदे सामानाधिकरण्यं न भवेद्यथा । व्या० प्र० । 4 सर्वथाऽभेदः । दि० प्र० । 5 सर्वथा भेदः । दि०
प्र० । 6 सर्वं सुखनीलादिपक्षः प्रतिभासात्कथञ्चिदर्थान्तरं भवतीति साध्यो धर्मः प्रतिभाससमानाधिकरणत्वात् यत्प्रति-
भाससमानाधिकरणं तत् प्रतिभासात्कथञ्चिदर्थान्तरं यथा प्रतिभासस्वरूपम् । प्रतिभाससमानाधिकरणञ्चेदं तस्मात्प्रति-
भासात्कथञ्चिदर्थान्तरम् इति जैानुमानम् । दि० प्र० । 7 साध्यविपरीतसाधनाद्धैतसिद्धिः । इति पा० । दि० प्र० ।
8 द्वैत । व्या० प्र० । 9 आगमात् । दि० प्र० । 10 सुखनीलादेः । सर्वमित्युक्ते घटपटादिकं प्रसिद्धं ब्रह्माप्रसिद्ध-
मिति प्रसिद्धासिद्धत्वात् द्वैतसिद्धिः । दि० प्र० । 11 स्याद्वादी वदति क्वचिदेकस्मिन् जीवे एकात्मरूपं ब्रह्मत्वं प्रसिद्धं
वर्तते । तस्य चेतनेषु सर्वेषु अचेतनेषु च कथनात् । कथमद्वैतसिद्धिरपितु न भवति । दि० प्र० । 12 सर्वात्मस्वऽनात्म-
मतेषु । इति पा० । दि० प्र० । 13 अत्राह द्वैतवादी ब्रह्मब्रह्मागमयोर्भेदो नास्ति तर्हि ब्रह्मागमप्रतिपादनं किमर्थम् ।
द्वैतप्रपञ्चे संशयादिव्यवच्छेदार्यम् । अत्राह स्याद्वादी । एवं तर्हि एको द्वैतप्रपञ्चारोपो व्यवच्छेद्यः । अन्यो ब्रह्मागमो
व्यवच्छेदकः । तदप्यव्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकयोः सद्भावात् । अद्वैतसिद्धिः कथमपितु न कथमपि । दि० प्र० ।

देपि तदागमाद्द्वयवच्छेद्यव्यवच्छेदकसद्भावसिद्धेः कथमद्वैतसिद्धिः^१ ? आम्नायस्य परब्रह्मस्वभाव-
त्वेपि न^२ ततस्तदद्वैतसिद्धिः, ^३स्वभावस्वभाववतोस्तादात्म्यैकान्तानुपपत्तेः ।

[स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण ब्रह्मणः सिद्धिर्भविष्यति तस्य विचारः ।]

स्वसंवेदनमेव पुरुषाद्वैतसाधनमिति चेन्नंतदपि सारं, ^४निगदितपक्षदोषोपनिभातात्^५ ।
तथा हि । ^६तत्सिद्धिर्यदि ^७साधनात्साध्यसाधनयोस्तर्हि^८ द्वैतं स्यात् । अन्यथाऽद्वैतसिद्धि-
वद्वैतसिद्धिः कथं न स्यात् ? स्वाभिलापमात्रादर्थसिद्धौ सर्वं सर्वस्य^९ सिध्येत् । न हि

चेतनाचेतनात्मक वस्तुओं में द्वैत के प्रपंच का आरोप चला आ रहा है उस आरोप को दूर करने के
लिये आगम वाक्य से ही उनमें एक अद्वैतरूप ब्रह्मत्व का विधान हम कर देते हैं ।

जैन—तब तो ब्रह्मत्व के साधक आगम से व्यवच्छेद्य और व्यवच्छेदक भाव का सद्भाव सिद्ध
होने से अद्वैत सिद्धि कैसे हुई ? अर्थात् इस तरह से द्वैत प्रपंचारोप तो व्यवच्छेद्य है और आगम
उसका व्यवच्छेदक है पुनः सर्वथा अद्वैत कैसे रहा ?

अद्वैतवादी—हम आगम को परमब्रह्म स्वभाव ही स्वीकार करते हैं ।

जैन—ऐसा मानने पर भी उस आगम से अद्वैत की सिद्धि न होकर द्वैत ही रहा क्योंकि
स्वभाव और स्वभाववान् में एकांत से तादात्म्य—अभेद बन नहीं सकता है अर्थात् जिस स्वभाववान्
का यह स्वभाव होगा उसमें स्वभाव और स्वभाववान् की अपेक्षा कथञ्चित् भेद माना ही जायेगा ।

[स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से परमब्रह्म की सिद्धि होती है इस पर विचार ।]

अद्वैतवादी—स्वसंवेदन ही पुरुषाद्वैत का साधन है अर्थात् पुरुषाद्वैत की सिद्धि करने में स्व-
अद्वैत का संवेदन ही साधन-हेतु है ।

जैन—आपका यह कथन भी सारभूत नहीं है क्योंकि उपर्युक्त पक्ष में दिये गये सभी दोष
इसमें भी आ जाते हैं । तथाहि—“यदि हेतु से उस अद्वैत की सिद्धि होती है तब तो साध्य और हेतु
ये दो होने से द्वैत की ही सिद्धि हुई । अन्यथा—यदि हेतु के बिना ही उस अद्वैत की सिद्धि मानों तब तो
हेतु के बिना ही द्वैत की सिद्धि भी क्यों नहीं हो जायेगी ? यदि स्ववचन मात्र से ही अर्थ—अद्वैत की
सिद्धि कहोगे तब तो सभी वादियों के सभी इष्टमत सिद्ध हो जायेंगे ।”

स्वसंवेदन हेतु भी आत्मा-परमब्रह्मा से अभिन्न ही नहीं है अन्यथा उसमें हेतुत्व का ही विरोध

१ आशङ्क्यम् । दि० प्र० । २ आगमात् । आम्नायात्तस्य परमब्रह्माद्वैतस्य सिद्धिर्न । दि० प्र० । ३ गुणगुणिनोः
आगमपरमब्रह्मणोः सर्वथा ऐक्यं नोत्पद्यते किन्तु कथञ्चिदतादात्म्यमुपपद्यते । दि० प्र० । ४ पूर्वोक्त । दि० प्र० ।
५ अद्वैतस्य । व्या प्र० । ६ ब्रह्मा । दि० प्र० । ७ स्वसंवेदनप्रत्यक्षादान्तरङ्गात् । दि० प्र० । ८ ब्रह्म-
संवेदनयोः । दि० प्र० । ९ आत्मवचनमात्रादर्थसिद्धौ सत्यामात्मवादिनः शून्यवादिनश्च सर्वस्य सर्वमिष्टं सिद्धं
भवेत् । दि० प्र० ।

स्वसंवेदनमपि ¹साधनमात्मनोनन्यदेव साधनत्वविरोधात्² अनुमानागमवत्साध्यस्यैव³ साधन-
त्वापत्तेः प्रकृतानुमानागमयोरिव स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्यापि साधनस्याभावात् । स्वतः सिद्धं
ब्रह्मेत्यभ्युपगमे द्वैतमपि स्वतः सकलसाधनाभावेपि किं न सिध्येत् ? तत्त्वोपप्लवमात्रं⁴ वा ?
नैरात्म्यं वा ? स्वाभिलापमात्राविशेषात् । ⁵सर्वस्य सर्वमनोरथसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात् ।
एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं बृहदारण्यकवार्तिके

“आत्मापि⁶ सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम् ।

ब्रह्मापि⁷ स⁸ तथैवात्मा⁹ सद्वितीयतथेक्ष्यते ॥१॥

हो जायेगा क्योंकि सर्वथा अभेद पक्ष के स्वीकार करने पर अनुमान और आगम के समान साध्य को
ही साधनपने की आपत्ति आ जायेगी अतः “प्रतिभाससमानाधिकरणत्वात्” इस प्रकृत अनुमान और
आगम के समान ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी साधन नहीं हो सकता है क्योंकि पृथक् रूप से उसका
अभाव है ।

[यह ब्रह्म स्वतः ही सिद्ध है ऐसा मानने पर जैनाचार्य खंडन करते हैं ।]

अद्वैतवादी—हमारे यहाँ ब्रह्म स्वतः ही सिद्ध है, तब तो सिद्ध करने की आवश्यकता ही
नहीं है ।

जैन—तब तो सकल साधन के अभाव में हम लोगों का द्वैतवाद भी स्वतः ही क्यों नहीं सिद्ध
हो जावेगा ? अथवा तत्त्वोपप्लव मात्र भी स्वतः ही क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगा ? अथवा नैरात्म्य मात्र
भी क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगा ? क्योंकि स्ववचन मात्र से सिद्धि तो सभी में समान ही है एवं
सभी के सर्व मनोरथों की सिद्धि भी दुर्निवार (बेरोकटोक) ही हो जायेगी, कोई उनका निवारण नहीं
कर सकेगा । इसी कथन से उनका भी खण्डन कर दिया गया है कि जिन्होंने “बृहदारण्यक” वार्तिक में
कहा है कि—

श्लोकार्थ—आत्मा भी सत् है अतः वह भी ब्रह्म ही है किन्तु मोह से परोक्ष से दूषित है अर्थात्
“सत् रूप यह ब्रह्म है और यह आत्मा है” इस प्रकार के भेदरूप से प्रतिभासित होता है । उसी प्रकार
से ब्रह्म भी वह आत्मा ही है किन्तु द्वितीयरूप से सहित दिखता है ॥१॥

1 अनुमानस्य साध्येन एकत्वात्साध्यमेव साधनं स्यात् । दि० प्र० । 2 हे अद्वैतवादिन् । स्वसंवेदनं नाम साधनं
परमब्रह्मणः सकाशादभिन्नं न हि कोर्धः भिन्नमेव इत्यायातम् । भिन्नेन भवति चेत्तदा ब्रह्माद्वैतस्य साधनत्वं
विरुद्धचते कथं एकं ब्रह्म । द्वितीयं स्वसंवेदनं तथापि द्वैतमायातम् । यथानुमानागमी साध्यस्यैव साधनत्वमापद्यते ।
तदेव साध्यं तदेव साधनं स्वसाध्यं कथं साध्यति । दि० प्र० । 3 ब्रह्मणि प्रविष्टत्वात् । दि० प्र० । 4 सकल-
साधनाभावे किं न सिद्धचेदिति संबन्धः कार्यः । दि० प्र० । 5 वादिप्रतिवादिनः । दि० प्र० । 6 आत्माप्रसिद्धः
परमब्रह्माऽसिद्धः । व्या० प्र० । 7 प्राक् ब्रह्मणः प्रधानत्वमत्र तु आत्मनः प्रधानत्वम् । व्या० प्र० । 8 दूषितम् । व्या०
प्र० । 9 द्वितीये न ब्रह्मणा सह वर्तते । दि० प्र० ।

आत्मा ब्रह्म इति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात्^१ ।

पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम् ॥२॥”

इति, मोहस्याविद्यारूपस्याकिञ्चिद्रूपत्वे^२ पारोक्ष्यहेतुत्वाघटनात् सद्वितीयत्वदर्शननिबन्धन-
त्वासंभवात् तस्य वस्तुरूपत्वे^३ द्वैतसिद्धिप्रसक्तेस्तत एव पारोक्ष्यसद्वितीयत्वयोर्बाधनात् पुमर्थे^४
निश्चितं शास्त्रमित्येतस्यापि^५ द्वैतसाधनत्वात्, शास्त्रपुमर्थयोर्भेदाभावे^६ साध्यसाधनभावा-
संभवात्^७ ।

अद्वैतं न विना द्वैताद्हेतुरिव हेतुना ।

संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते^८ क्वचित्^९ ॥२७॥

श्लोकार्थ—परन्तु आत्मा और ब्रह्म इस प्रकार के परोक्ष्य और द्वितीयरूप सहित में बाधा
आने से पुमर्थ-पारोक्ष्य और सद्वितीय के निराकरणरूप पुरुष को सिद्ध करने के लिये ही शास्त्र
निश्चित है अतः ब्रह्मा और आत्मा में ऐक्य को सिद्ध करने वाला हमारा समीहित-मनोरथ सिद्ध हो
जाता है ॥२॥

इस प्रकार से मोह तो अविद्यारूप है और वह “विद्यायाः अभावः अविद्या” रूप से अकि-
ञ्चिद्रूप है अतः उस अविद्या हेतु के द्वारा पारोक्ष्य (यह ब्रह्मा है और यह आत्मा है ऐसा भेद प्रति-
भास) सिद्ध नहीं हो सकेगा । सद्वितीयत्व दर्शन के प्रति मोह का निमित्त असंभव है क्योंकि मोह
स्वयं अविद्यारूप है । यदि उस मोह को वस्तुरूप—वास्तविक मान लेंगे तब तो द्वैत सिद्धि का ही प्रसंग
आ जाता है और उसी द्वैतसिद्धि की प्रसक्ति से पारोक्ष्य और सद्वितीयत्व में बाधा आती है एवं
“पुमर्थ में शास्त्र निश्चित है” यह कथन भी द्वैत को ही सिद्ध करता है । फिर भी शास्त्र और पुमर्थ
में भेद का अभाव है ऐसा कहने पर साध्य-साधन का भाव ही असंभव हो जावेगा ।

द्वैत विना अद्वैत न होगा, नञ् समास से बना सही ।

यथा हेतु के बिना अहेतू, हो सकता है कभी नहीं ॥

वस्तु का निषेध-प्रतिषेध, योग्य वस्तु बिन बने नहीं ।

हे निषिद्ध “आकाशकुसुम” फिर भी वह वृक्षों में नित ही ॥२७॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार से हेतु के बिना अहेतु सिद्ध नहीं है उसी प्रकार से द्वैत के बिना
अद्वैत भी नहीं बन सकता । क्योंकि प्रतिषेध्य—द्वैतादि के बिना संज्ञी—द्वैतरूप का प्रतिषेध भी नहीं
हो सकता है । ॥२७॥

- १ अवस्तुत्वे । दि० प्र० । २ मोहस्यावस्तुत्वे सति अवैशद्यज्ञानकारणत्वं न घटते । दि० प्र० । ३ किञ्चिद्रूपत्वे ।
दि० प्र० । ४ पुरुषद्वैते । अद्वैतसाधनार्थे । दि० प्र० । ५ उपनिषद् । दि० प्र० । ६ उपनिषद्द्वैतयोः । दि० प्र० ।
७ साध्यसाधनयोर्भेदे सति एवं साध्यसाधनभावस्तथा च द्वैतसिद्धिः । दि० प्र० । ८ प्रदेशघटपटादिवत् । दि० प्र० ।
९ अतः । कारिकां व्याख्यातुमाह । व्या० प्र० ।

[अद्वैतशब्दो नञ्समासयुक्तोऽतः स्वविरोधवास्तविकं द्वैतमपेक्षत इति जैनाचार्याः समर्थयन्ति ।]

कथं पुनर्हेतुना विनाऽहेतुरिवाद्वैतं द्वैताद्विना न सिद्ध्यतीति निश्चितमिति चेदुच्यते, अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थपेक्षो¹ नञ्पूर्वाखण्डपदत्वाद्देहत्वविधानवदित्यनुमानात्² अनेकान्तशब्देन³ व्यभिचार इति चेन्न, तस्यापि सम्यगेकान्तेन विनानुपपद्यमानत्वात् । एवममायादिशब्देनापि न⁴ व्यभिचारस्तस्य⁵ मायादिनाऽविनाभावित्वात् । तथा

[अद्वैत शब्द नञ् समास वाला है अतः अपने विरोधी वास्तविक द्वैत की अपेक्षा रखता है, ऐसा जैनाचार्य समर्थन करते हैं ।]

अद्वैतवादी—हेतु के बिना अहेतु के समान ही द्वैत के बिना अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता है । यह बात आपने कैसे निश्चित की है ?

जैन—कहते हैं, “अद्वैत शब्द अपने वाच्य अद्वैत से विरुद्ध द्वैत रूप परमार्थ की अपेक्षा करने वाला है क्योंकि वह नञ् समास पूर्वक अखण्ड पद है जैसे अहेतु शब्द । इस अनुमान से उक्त कथन सिद्ध है ।”

अद्वैतवादी—अनेकांत शब्द से व्यभिचार आता है अर्थात् आपका अनेकांत भी एकांत की अपेक्षा लेकर प्रवृत्त होगा, क्योंकि यह अनेकांत शब्द भी नञ्पूर्वक अखण्ड पद है किन्तु अपने वाच्य से विपरोत किसी वास्तविक वस्तु की अपेक्षा करने वाला नहीं है ।

जैन—आप ऐसा व्यभिचार दोष हमें नहीं दे सकते । क्योंकि हमारा अनेकांत भी सुनय से अर्पित सम्यक् एकांत के बिना हो नहीं सकता है । इसी प्रकार से “अमाया” आदि शब्द से भी व्यभिचार नहीं आता है, वे अमाया आदि शब्द भी माया आदि के साथ अविनाभावी हैं । नञ् को पूर्व में ग्रहण करने से केवल शब्द “द्वैत, माया” इत्यादि से भी व्यभिचार का खण्डन कर दिया गया है एवं “गौ, अश्वः” इत्यादि पद हैं । तथा “गु, अश्” आदि शब्द उन पदों के एक देश होने से पदांश हैं । अनुमान वाक्य में “अखण्ड” पद के ग्रहण करने से उस पदांश के साथ भी व्यभिचार नहीं आता है और अखरविषाणादि शब्द से भी व्यभिचार नहीं आता है अर्थात् “अखर” यह नञ् समास पूर्वक अखण्ड पद है जो कि अपने वाच्य अखर से विरुद्ध “खर” शब्द की वास्तविक रूप से अपेक्षा रखता है किन्तु अखर विषाणादि शब्द नहीं क्योंकि उनमें अखण्ड पद का अभाव है । अखर विषाण में दो पद हैं खर और विषाण । न खरविषाणं=अखर विषाण । ऐसा समास हुआ है अतः इसमें अनेक पद हैं इसलिये “अखण्ड” इस पद से “पदांश” और “अनेकपद समुदाय” इन दोनों की व्यावृत्ति हो जाती

1 स्वस्याद्वैतस्याभिधेयोऽर्थः किमैक्यं तस्य प्रत्यनीकं द्वैतं कीर्धोऽनेकत्वं परमार्थभूतमपेक्षत इति । दि० प्र० । 2 शब्दः । व्या० प्र० । 3 आह परः हे स्माद्वादिन् नञ् पूर्वाखण्डपदत्वादिति हेतोरनेकान्तेन व्यभिचारः । अनेकान्ते एकान्तापेक्षस्तदात्वन्मतहानिः । स्याद्वादिन् । एकांताङ्गीकरणाभावात् । सापेक्षस्तदा हेतोर्व्यभिचारं इति चेत् । न । तस्याप्यनेकान्तशब्दस्यापि सम्यगेकान्तसापेक्षलक्षणं यत् एकान्तं तेन विनोत्पत्तिर्नास्ति । दि० प्र० । 4 हेतोः । दि० प्र० । 5 अमायादिशब्दस्य । दि० प्र० ।

नञ्पूर्वग्रहणात् केवलेन¹ शब्देन² व्यभिचारो निरस्तः³, पदांशेनाखण्डग्रहणात् । अखरविषाणादि-
शब्देन च न । ततो⁴ नात्र किञ्चिदतिप्रसज्यते, तादृशो नञो⁵ वस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वात् । न
‘ह्यखण्डपदविशेषणस्य⁷ नञः⁸ क्वचिदवस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वमुपलब्धं⁹,¹⁰ पदान्तरोपहित-
पदविशेषणस्यैव¹¹ तथा प्रतीतेरखरविषाणमित्यादिवत् । अत एव¹² सर्वत्र प्रतिषेध्यादृते
संज्ञिनः प्रतिषेधाभावः प्रत्येतव्यः । न हि खरविषाणं संज्ञि किञ्चिदस्ति येन¹³ तस्यापि सत
एव कथंचित् प्रतिषेधः प्रसज्यते ।

है अतः अद्वैत अनेकांत, अमाया, अखर आदि अखण्ड एक पद हैं वे अपने प्रतिषेध्य द्वैत, एकांत आदि
के बिना नहीं हो सकते हैं । “यहाँ इस कथन में किंचित् भी अतिप्रसंग दोष नहीं आता है क्योंकि उस
प्रकार से अखण्ड पद विशेषण वाला नञ् समास वस्तु के प्रतिषेध का निमित्तक ही है” एवं वह अखण्ड
पद वाला नञ् समास कहीं पर भी अवस्तु के प्रतिषेध का निबन्धनक नहीं पाया जाता है, किन्तु पदांतर
से संबंधित पद विशेषण वाला ही अवस्तु के प्रतिषेध का निमित्तक पाया जाता है जैसे “अखरविषाणं”
इत्यादि पद, अतएव” “सर्वत्र प्रतिषेध करने योग्य वस्तु के बिना संज्ञी—नामवाली वस्तु के प्रतिषेध
का अभाव जानना चाहिये” अर्थात् प्रतिषेध करने योग्य वस्तु के बिना सत् रूप किसी भी वस्तु में
प्रतिषेध नहीं हो सकता है । खरविषाण नामवाली कोई वस्तु तो है नहीं कि जिससे उसका भी सत् रूप
के सदृश ही कथंचित्—पररूप की अपेक्षा से प्रतिषेध हो सके अर्थात् खर विषाण मूल में ही वास्तविक
संज्ञी पदार्थ नहीं है । तब उसका प्रतिषेधक जो अखरविषाण शब्द है वह भी अवस्तुभूत ही है । किन्तु
अद्वैत शब्द वैसा नहीं है उसमें वस्तुभूत द्वैत का प्रतिषेध करने में आया है अतः द्वैत के नहीं मानने
पर उसका प्रतिषेधक अद्वैत यह शब्द निष्पन्न ही नहीं हो सकता है और न संज्ञी द्वैतरूप प्रतिषेध्य
के बिना उसका प्रतिषेध ही हो सकता है कि जिससे सर्वथा अद्वैतैकांत की सिद्धि हो सके ।

1 ब्रह्मशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकाविनाभावी न भवतीत्यद्वैतवादिना स्वमतानुसारेणैवोद्भावितव्यभिचारो निरस्त
इत्यवगन्तव्यम् । स्याद्वादिनां तु केवलस्यापि शब्दस्य स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमाथपेक्षकत्वसिद्धेः । दि० प्र० । 2 विक-
लपदेनाखरविषाणादि पदेन व्यभिचारो निरस्तः अखण्डपदग्रहणादिति संबन्धः । दि० प्र० । 3 अत्राह परः हे
स्याद्वादिन् । नञ् पूर्वाखण्डपदत्वादितिहेतोः । अखरविषाणादिशब्देन व्यभिचारो घटते । जैनः । एवं न । कस्मा-
त्पदांशेन खण्डग्रहणात् । अत्र नञ्विषाणयोः खरशब्देन खण्डं जातं तनस्वस्मादत्रानुमाने किञ्चिद्वस्तु नास्ति यतः
अतिप्रसंगः क्रियते । दि० प्र० । 4 नञ् पूर्वाखण्डपदत्वादिति हेतोरखरविषाणादावप्रवृत्तेस्तेनव्यभिचारो निरस्तो
यस्मात्तस्मान्नात्र हेतोः किञ्चिदखरविषाणादिकमतिप्रसज्यते विद्यमानं स्यादिति शेषः । व्या० प्र० । 5 पदांशेना-
खण्डलक्षणस्य नञः वस्तुभूतनिषेधकारणत्वं वर्तते । दि० प्र० । 6 वस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वमेव इत्याद्यातम् । दि० प्र० ।
7 अखण्डपदविशेषणस्य । दि० प्र० । 8 ता । दि० प्र० । 9 केन खरविषाणस्यापि विद्यमानस्यैव कथञ्चिन्ननिषेधः ।
प्रसज्यते अपितु न । किन्तु सर्वथा प्रतिषेधः । दि० प्र० । 10 पदान्तरेण खरशब्देनोपहितं युक्तं पदं विषाणशब्दः तस्य
विषाणस्यैव नञः तथा प्रतीतेरवस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वं दृश्यते । यथा अखरविषाणमवन्ध्यासुतः अखकुसुमम् ।
दि० प्र० । 11 नत्वखण्डपदविशेषणीभूतस्य नञः । व्या० प्र० । 12 अवस्तुप्रतिषेधाभावात् । वस्तुप्रतिषेधसद्भावात् ।
देशे । दि० प्र० । 13 केन खरविषाणस्यापि विद्यमानस्यैव कथञ्चिन्ननिषेधः प्रसज्यते अपितु न । किन्तु सर्वथा
प्रतिषेधः । दि० प्र० ।

[पुरुषाद्वैते वास्तवेन प्रतिषेधव्यवहारोऽसंभव एवेत्यादिना ब्रह्मवादी स्वपूर्वपक्षं विधत्ते ।]

ननु पुरुषाद्वैते परमार्थतः ¹प्रतिषेधव्यवहारासंभवात् परोपगतस्य² द्वैतस्य परप्रसिद्ध-
न्यायादेवानुमानादिरूपादभावः साध्यते³ । न च स्वपरविभागोपि ⁴तात्त्विकस्तस्याविद्या-
विलासाश्रयत्वात्⁵ । ततो न कश्चिद्दोष इति चेन्न, अविद्याया⁶ एव व्यवस्थापयितुमशक्तेः ।
'ननु च न वस्तुवृत्तमपेक्ष्याऽविद्या⁷ व्यवस्थाप्यते, ⁸तस्यामवस्तुभूतायां प्रमाणव्यापारायोगात् ।
परब्रह्मण्यविद्यावति अविद्यारहिते च⁹ विद्याया विरोधादानर्थक्याच्च ¹⁰नाविद्याऽस्येत्यप्य-
विद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पनात्, ब्रह्माधारायास्त्वविद्यायाः कथमप्ययोगात् । यतश्चानुभवाद-

[पुरुषाद्वैत में वास्तव में प्रतिषेध का व्यवहार असंभव है इत्यादि रूप से ब्रह्मवादी अपना पूर्वपक्ष रखते हैं ।]

अद्वैतवादी—पुरुषाद्वैत में परमार्थ से प्रतिषेध व्यवहार ही असंभव है । फिर भी अद्वैत की स्थापना में जो द्वैत का निषेध है वह दूसरों के द्वारा स्वीकृत का ही निषेध है । उन्हीं दूसरों के द्वारा स्वीकृत अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा हम उस द्वैत का अभाव सिद्ध करते हैं । इस प्रकार से यद्यपि स्वपर का विभाग हो जाता है फिर भी वह तात्त्विक नहीं है क्योंकि वह स्वपर विभाग अविद्या के विलास का ही आश्रय करने वाला है इसीलिये हमारे यहाँ प्रतिषेध्य-प्रतिषेधक लक्षण में कुछ भी विरोध नहीं आता है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पहले तो अविद्या की व्यवस्था करना ही अशक्य है अर्थात् तुम्हारी तुच्छाभाव रूप अविद्या कुछ है ही नहीं ।

अद्वैतवादी—वस्तुभूत की अपेक्षा करके हम अविद्या की व्यवस्था नहीं करते हैं किन्तु वह अवस्तुभूत है तथा उस अवस्तुभूत में प्रमाण के व्यापार का अभाव है ।

परमब्रह्म को अविद्यावान् और अविद्या से रहित इन दोनों रूप मानने पर तो उसमें श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप विद्या का विरोध भी हो जाता है और अनर्थक दोष भी आता है अर्थात् अविद्या के व्यवच्छेदक ब्रह्म को अविद्यावान् कहने पर महान् दोष आता है । "इसमें अविद्या नहीं है" इस प्रकार की कल्पना भी अविद्या में ही रहकर नहीं हो सकती है अर्थात् कल्पनामात्र से ही यह व्यवस्था करना शक्य नहीं है । जैसे कि अन्धकार में स्थित होकर "अन्धकार नहीं है" यह कहना अशक्य है और

! द्वैत । व्या० प्र० । 2 अन्यैरङ्गीकृतस्य । दि० प्र० । 3 न च स्वप्रसिद्धन्यायादेवानुमानादिरूपादभावः साध्यते । दि० प्र० । 4 स्वपरविभागस्य । दि० प्र० । 5 हे अद्वैतवादिन् ! अयं स्वविभागः अयं परविभागः एवं सति द्वैतमा-
याति । इत्युक्त आह । हे स्याद्वादिन् ! स्वपरविभागः परमार्थभूतो न । कस्मादविद्याविजृम्भणापेक्षात् । दि० प्र० ।
विजृम्भणः । व्या० प्र० । 6 अद्वैतेद्वैतप्रतिषेधव्यवहारो यदि न स्यात्तदा स्वपरविभागस्तात्त्विकः कथं स्यादित्याह ।
दि० प्र० । 7 परमार्थम् । व्या० प्र० । 8 अविद्याया । दि० प्र० । 9 परमब्रह्मण्यविद्यासहिते अविद्यारहिते विद्या
विरोधो घटते । आनर्थक्यञ्च कस्मात् अस्य ब्रह्मणः अविद्या न इत्यप्यविद्यायामेव स्थित्वा कल्पनाघटनात् । दि०
प्र० । 10 कस्यचिन्नुः । दि० प्र० ।

विद्यास्मीति ब्रह्मानुभूतिमत्त एव ^१प्रमाणोत्थविज्ञानबाधिता^२ सा^३ तदबाधने^४ तस्या
अप्यात्मत्वप्रसङ्गात् । तथा ब्रह्मण्यविज्ञाते तदविद्याव्यवस्थानुपपत्तेर्बाधासद्भावात् विज्ञातेपि^५
सुतरां तदबाधनादव्यवस्थानं, अबाधिताया ^६बुद्धेर्मृषात्वायोगात्^७ । न चाविद्यावान्तरः कथं-
चिदविद्यां निरूपयितुमीशश्चन्द्रद्वयादिभ्रान्तिमिव जातितैमिरिकः^८ । तदुक्तं .

“ब्रह्माऽविद्यावदिष्ट चेन्ननु दोषो महानयम् । निरवद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते ॥१॥

“इसके अविद्या है अथवा नहीं है” इस प्रकार से अविद्या में स्थित होकर ही जो यह कल्पना है उस कल्पना से भी अविद्या की व्यवस्था करना शक्य नहीं है, यह भाव है । ब्रह्म की आधारभूत अविद्या का भी कथमपि सद्भाव नहीं हो सकता है अर्थात् ब्रह्म में प्रविष्ट हुये पुरुष में अविद्या की व्यवस्था नहीं घटती है कारण कि उस समय तो अविद्या का विनाश ही हो गया है क्योंकि अनुभव से “मैं ब्रह्म अविद्या हूँ” इस प्रकार ब्रह्मानुभूतिमान्— मैं ब्रह्म का अनुभव करने वाला हूँ जब ऐसा ज्ञान होता है तब उसी अनुभव से ही प्रमाण से उत्पन्न हुये ज्ञान से वह अविद्या बाधित हो जाती है । यदि आप कहें कि उस समय भी वह अविद्या बाधित नहीं हुई है तब तो उस अविद्या को आत्मत्व-ब्रह्मत्व का प्रसंग आ जाता है अर्थात्—जिस समय ही यह “अविद्या है” इस प्रकार की ब्रह्मानुभूति को करने वाला यह मनुष्य हुआ उसी समय ही वह अविद्या नष्ट हो जाती है । जैसे यह रजत नहीं है ऐसा ज्ञान होते ही सीप के चाँदी का ज्ञान रूप जो विपर्यय ज्ञान था वह खतम हो जाता है इसीलिये प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान से वह अविद्या बाधित हो जाती है । उसी प्रकार से ब्रह्मा को नहीं जानने पर उसमें अविद्या की व्यवस्था नहीं बन सकती है क्योंकि उस अविद्या में बाधा का सद्भाव है ।

उस ब्रह्मा को सुतरां जान लेने पर भी वह अविद्या बाधित नहीं होती है तब व्यवस्था नहीं बन सकती । मतलब यदि ब्रह्मा को जान लेने पर भी अविद्या अनुभव में आती है तब तो वह अविद्या न होकर विद्या ही हो जाती है अतः उस अविद्या की व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि जो अबाधित बुद्धि है उसे असत्य नहीं कह सकते हैं अर्थात् ब्रह्म को ब्रह्मरूप से जान लेने पर वह बाधा रहित सत्य ही कहलायेगा पुनः उसे अविद्या कैसे कहेंगे ? एवं अविद्यावान् मनुष्य किसी भी प्रकार से अविद्या को निरूपण करने में समर्थ नहीं है । जैसे जिसको तिमिर रोग हुआ है वह मनुष्य चन्द्रद्वय आदि की भ्रान्ति का वर्णन नहीं कर सकता है । कहा भी है—

इसोकार्थं—यदि ब्रह्मा को अविद्यावान् स्वीकार करो तब तो यह महान् दोष आयेगा और अविद्या से रहित उस ब्रह्मा को मानने पर तो विद्या अनर्थक हो जायेगी ॥१॥

1 सत्यज्ञान । दि० प्र० । 2 परिच्छिन्ति । दि० प्र० । 3 अविद्या । दि० प्र० । 4 तस्या अविद्याया अबाधने सति तस्या अविद्याया अद्यत्मत्वं ब्रह्मत्वं प्रसजति । दि० प्र० । 5 अविद्याज्ञातत्वात् । ब्रह्मणि सति । दि० प्र० । 6 प्रमाणप्रमितायाः बुद्धेरसत्यत्वं न घटते । दि० प्र० । 7 अविद्यात्व । दि० प्र० । 8 यथा दोषदूषितचक्षुः पुमान् चन्द्रद्वयादि भ्रान्तिं निरूपयितुमीशो न । दि० प्र० ।

नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पते । ब्रह्माधारा त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥२॥
यतोऽनुभवतोऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिम् । ^१अतो मानोत्थविज्ञानध्वस्ता ^२साप्यन्यथात्मता ॥३॥
ब्रह्मण्यविदिते बाधान्नाविद्येत्युपपद्यते । नितरां चापि विज्ञाते मृषा धीर्नास्त्यबाधिता ॥४॥
अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः । वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य ^३ 'नाविद्येति निरूप्यते ॥५॥
वस्तुनोन्यत्र मानानां व्यापृतिर्न हि ^५युज्यते । अविद्या च न वस्त्वष्टं ^६ मानाघाताऽसहिष्णुतः ^७ ॥६॥
अविद्याया अविद्यात्वे ^८ इदमेव च लक्षणम् । ^९मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ^{१०} ॥७॥

श्लोकार्थ—“इसमें अविद्या नहीं है” इस प्रकार से अविद्या में ही स्थित होकर कल्पना करते हैं तब तो यह अविद्या ब्रह्म की आधारभूत है यह कथन भी कथमपि युक्त नहीं हो सकता है ॥२॥

श्लोकार्थ—क्योंकि अनुभव से “मैं अविद्यावान् पुरुष ब्रह्म हूँ” इस प्रकार का वह ब्रह्मानुभूति-मान्—विद्यावान् है अतएव वह अविद्या प्रमाण से उत्पन्न विज्ञान से ध्वस्त-नष्ट हो जाती है । अन्यथा—यदि नष्ट हुई नहीं मानों तब तो वह अविद्या ही ब्रह्म रूप को प्राप्त हो जाती है ॥३॥

श्लोकार्थ—एवं ब्रह्मा के नहीं जानने पर बाधा आने से यह अविद्या है ऐसा नहीं कह सकते हैं अर्थात् अविद्या में स्वसंवेदन ज्ञान से बाधा के संभव होने से अविद्या भी विद्या ही है, तथा उस ब्रह्मा को अच्छी तरह से जान लेने पर जो ज्ञान हुआ वह अबाधित है वह ज्ञान असत्य नहीं हो सकता है ॥४॥

श्लोकार्थ—अविद्यावान् मनुष्य उस अविद्या का निरूपण करने में समर्थ नहीं है । इसलिये वस्तुभूत की अपेक्षा करके “अविद्या है” ऐसा निरूपण नहीं किया जाता है अतः अविद्या अवस्तुभूत है ॥५॥

श्लोकार्थ—वस्तुभूत—ब्रह्मा से अन्यत्र—अवस्तु में प्रमाणों का व्यापार युक्त नहीं है एवं अविद्या वस्तुभूत इष्ट नहीं है क्योंकि वह प्रमाण द्वारा विहित परीक्षा को सहन करने में समर्थ नहीं है ॥६॥

श्लोकार्थ—अविद्या को अविद्यारूप से जो विधायक है वही इस अविद्या का लक्षण है, जो कि प्रमाण के द्वारा की गई परीक्षा को सहन न कर सकना है एवं यह असाधारण लक्षण है ॥७॥

1 अनुभवमाश्रित्य । व्या० प्र० । 2 सा अविद्याऽन्यथास्वरूपेण । दि० प्र० । 3 कुतः । व्या० प्र० । 4 ब्रह्मणा विदितत्वाद्बाधासंभवो विद्यायाम् । दि० प्र० । 5 द्वितीयो हेतुः । आशंक्य । दि० प्र० । 6 कुतः । प्रमाणेन । दि० प्र० । 7 प्रमाणेनाघातः प्रमाणेन प्रवृत्तिः तदनपेक्षत्वात् प्रमाणप्रवृत्ति न सहते इति भावः । दि० प्र० । 8 अविद्या-स्वरूपे । ब्रह्मणः । दि० प्र० । 9 मानाघातासहिष्णुतासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते । इति पा० । दि० प्र० । 10 यतः । व्या० प्र० ।

न चैवमप्रामाणिकायामविद्यायां कल्प्यमानायां कश्चिद्दोषः, तस्याः संसारिणः^१ स्वानु-
भवाश्रयत्वादद्वैतवादिन एव दृष्टादृष्टार्थप्रपञ्चस्य^२ प्रमाणबाधितस्य कल्पनायामनेकविद्यायां
बहुविधदोषानुषङ्गात्^३ । तदप्युक्तं

“त्वत्पक्षे^४ बहु कल्प्यं स्यात् सर्वं मानविरोधि च । कल्प्याऽविद्यैव मत्पक्षे सा चानुभवसंश्रया” ॥१॥

इति कश्चित्

[अधुना जैनाचार्या ब्रह्मवादिवक्षं निराकुर्वन्ति ।]

सोपि न प्रेक्षावान्, सर्वप्रमाणातीतस्वभावायाः^५ स्वयमविद्यायाः स्वीकरणात् । न हि
प्रेक्षावान् सकलप्रमाणातिक्रान्तरूपामविद्यां विद्यां वा स्वीकुरुते । न च प्रमाणानामविद्या-

इस प्रकार से अप्रमाणभूत अविद्या की कल्पना करने पर कोई दोष नहीं है क्योंकि वह
अविद्या सभी संसारी जीवों के स्वानुभवाश्रित है अर्थात् सभी जीवों को उसका अनुभव आ रहा है
किंतु द्वैतवादियों के यहाँ ही प्रमाण से बाधित दृष्ट-देश कालादि और अदृष्ट-पुण्य पापादिकों की
अनेक प्रकार की कल्पना के करने पर अनेक प्रकार के दोषों का प्रसंग आता है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—त्वत्पक्ष—द्वैतवाद में अथवा स्याद्वादियों के पक्ष में जो बहुत कल्पित विषय
स्वर्ग आदि हैं वे प्रमाण से विरुद्ध हैं । मुझ अद्वैतवादी के पक्ष में अविद्या ही कल्पित की गई है जो
कि संसारी जीवों के अनुभव में आ रही है अर्थात् उस अविद्या का सभी संसारी जीवों को स्वयं ही
अनुभव आ रहा है ॥१॥ ऐसा हम अद्वैतवादियों का अभिमत है ।

[अब जैनाचार्य ब्रह्मवादियों के पक्ष का निराकरण करते हैं]

जैन—ऐसा कहने वाले आप भी बुद्धिमान् नहीं हैं, क्योंकि आपने स्वयं ही उस अविद्या को
संपूर्ण प्रमाणों से रहित स्वभाववाली स्वीकार की है ।

कोई भी प्रेक्षावान्—विद्वान् पुरुष संपूर्ण प्रमाणों से अतिक्रान्त रूप अविद्या अथवा विद्या को
स्वीकार नहीं कर सकते हैं । प्रमाणों का अविद्या को विषय करना अयुक्त भी नहीं है क्योंकि विद्या
के समान अविद्या भी कश्चित् वस्तु रूप ही है ।

अद्वैतवादी—कश्चित् भेद को स्वग्रहण करने से वह अविद्या यदि वस्तु रूप है तब तो उसमें
विद्यापन का ही प्रसंग आ जाता है ।

जैन—ऐसा मानने में तो हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं है । यथा—स्वग्रहण प्रकार से जहाँ
पर अविसेवा है—विसेवा नहीं है वहीं पर प्रामाण्यता है । ऐसा श्री भट्टकलंक देव ने भी कहा है—

१ संसारी अविद्यां स्वयमेवानुभवति । दि० प्र० । २ प्रतिभासन्तः प्रविष्टत्वसाधकप्रमाणेन । स्वर्गादि । दि० प्र० ।
३ प्रमाणप्रमेयकल्पनाप्रमाणस्येन्द्रियादिपरिकल्पनाप्रमेयस्यापि स्वरूपकल्पना । व्या० प्र० । ४ तत्पक्षे इति पा० ।
व्या० प्र० । ५ ईप् । व्या० प्र० ।

विषयत्वमयुक्तं, विद्यावदविद्याया अपि कथंचिद्वस्तुत्वात् । तथा 'विद्यात्वप्रसङ्ग इति चेन्न किञ्चिदनिष्टं, यथा 'यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात् । बहिःप्रमेया-पेक्षया तु कस्यचित्संवेदनस्याविद्यात्व^३ बाधकप्रमाणावसेयम्^४ । कथमप्रमाणविषयः ? तद्बाधकं पुनरर्थान्यथात्वसाधकमेव^५ प्रमाणमनुभूयते इति वस्तुवृत्तमपेक्ष्यैवाविद्या निरूपणीया । न च कथंचिद्विद्यावतोप्यात्मनः प्रतिपत्तुरविद्यावत्त्वं विरुध्यते, यतोयं महान् दोषः स्यात् । नाप्यविद्याशून्यत्वे कथंचिद्विद्यानर्थक्यं प्रसज्यते, तत्फलस्य सकलविद्यालक्षणस्य भावात्^६ । न चाविद्यायामेव स्थित्वाऽस्येयमविद्येति^७ कल्प्यते, सर्वस्य विद्यावस्थायामेवाविद्येतरविभाग-

क्योंकि बाह्यप्रमेय की अपेक्षा से किसी संवेदन (सीपादि में रजतादि ज्ञान) को अविद्यापना है, वह बाधक प्रमाण से जाना जाता है पुनः वह अविद्या अप्रमाण का विषय कैसे हो सकती है ? अर्थात् केवल अंतःप्रमेय की अपेक्षा से ही वह अविद्या प्रमाण का विषय नहीं है किन्तु बहिःप्रमेय की अपेक्षा से वह प्रमाण का विषय है अतएव वह अविद्या सर्वथा प्रमाण का अविषय नहीं है क्योंकि अंतःप्रमेय की अपेक्षा से कोई अविद्या ही नहीं । मतलब समस्त ज्ञान अपने-अपने विषय में प्रमाण भूत माने गये हैं । बहिःप्रमाण की अपेक्षा से ही विद्या और अविद्या की व्यवस्था मानने में आई है अतएव किसी अपेक्षा से अविद्या ही वस्तुभूत है सर्वथा प्रमाणातिक्रान्त—तुच्छाभावरूप नहीं है ।

अद्वैतवादी—उस अविद्या को बाधित करने वाला प्रमाण कौन है ?

जैन—पदार्थ को अन्यथा विपरीतादिरूप सिद्ध करना ही उसका बाधक प्रमाण है जो कि अनुभव में आता रहता है । अर्थात् पदार्थों का जैसा प्रतिभास हो रहा है उससे भिन्न उसको समझना या उसमें संशय आदि करना ही तो अज्ञान या मिथ्याज्ञान है और उसका गलत प्रतिभास उसके लिये बाधक प्रमाण है इसलिये वस्तुभूत-परमार्थपने की अपेक्षा करके ही अविद्या का निरूपण करना चाहिये ।

कथंचित् विद्यावान् भी प्रतिपत्ता आत्मा का अविद्यावान् होना विरुद्ध नहीं है, जिससे कि पूर्वोक्त महान् दोष आवे एवं अविद्या से शून्य (सम्यग्मति-श्रुतज्ञान से सहित) मनुष्यों में भी कथंचित् विद्या की अनर्थकता का प्रसंग भी नहीं आता है क्योंकि सकल विद्या लक्षण उसका फल मौजूद है अर्थात् सच्चे मति, श्रुतज्ञान का फल पूर्ण मतिज्ञान श्रुतज्ञानरूप है । अविद्या में ही स्थिति होकर

1 अत्राह द्वैतवादी हे द्वैतवादिन् ! अविद्यायाः प्रमाणविषयत्वे सति तस्या विद्यात्वं प्रसजति । दि० प्र० ।

2 अविद्यायाः स्वरूपे । व्या० प्र० । 3 असत्यत्वम् । व्या० प्र० । 4 गुक्तिका शकले रजतज्ञानमविद्या

पश्चाग्निश्चिते सति ममाविद्या उत्पन्ना इति बाधकप्रमाणेन निश्चीयते । दि० प्र० । 5 मरीचिकादी तोयादिज्ञान-

मविद्यात्वं तेन गृहीतोर्थः असत्यभूतस्तस्य अन्यथात्वस्य सत्यभूतस्य साधकम् । अर्थान्यथात्वसाधकमेवज्ञानं तस्यावि-

द्यात्वस्य बाधकं निश्चीयते इति अविद्यावस्तुभूतैव कथनीया इति स्याद्वादिमतम् । दि० प्र० । 6 तस्य अविद्याशू-

न्यत्वस्य फलं सकलविद्यालक्षणं भवति यतः । दि० प्र० । 20 ब्रह्मणः । व्या० प्र० ।

निश्चयात् 'स्वप्नाद्यऽविद्यादशायां तदभावात् । ततश्चात्मद्वारेवाविद्या युक्तिमती । यस्मादनुभवादविद्यावानहमस्मीत्यनुभववानात्मा^२ तत एव कथंचित् प्रमाणोत्थविज्ञानाऽबाधिता तदविद्यापि सैवेत्यात्मताविरोधाभावात् । न चात्मनि कथंचिदविदितेऽप्यविद्येति नोपपद्यते, बाधाऽविरोधात् । कथंचिद्विज्ञातेपि वाऽविद्येति नितरां घटते, विदितात्मन^३ एव तद्बाधकत्व-विनिश्चितेः कथंचिद्बाधिताया बुद्धेर्मृषात्वसिद्धेः । न च कथंचिदविद्यावानेव नरस्तामविद्यां निरूपयितुमक्षमः, सकलप्रेक्षावद्व्यवहारविलोपात्^४ । यदपि प्रमाणाघातासहिष्णुत्वमसाधारण-लक्षणमविद्यायास्तदपि प्रमाणसामर्थ्यादेव निश्चेतव्यम् । इति न प्रमाणातिक्रान्ता काचिद-

“इसकी यह अविद्या है” यह कल्पना भी नहीं हो सकती है क्योंकि सभी जनों को विद्यावस्था में ही अविद्या और विद्या का विभाग निश्चित होता है ।

स्वप्नादिरूप अविद्या की दशा में अविद्या और विद्या का विभाग नहीं बन सकता है अतएव आत्मद्वार (ब्रह्मरूप) के समान ही अविद्या युक्तिमती है । जिस अनुभव से “मैं अविद्यावान् हूँ” इस प्रकार से आत्मा अनुभववान् होता है । उसी हेतु से कथंचित् प्रमाण से उत्पन्न होने वाले विज्ञान से वह अविद्या अबाधित है ।

उस अनुभववान् आत्मा की वह अविद्या भी विद्या ही है क्योंकि अपने पने के विरोध का अभाव है अर्थात् अविद्या में स्वसंवेदन ज्ञान से बाधा असंभव है अतः उस विद्या रूप-आत्मत्व लक्षण में विरोध असंभव है । आत्मा को कथंचित् नहीं जानने पर भी “यह अविद्या है” इस तरह का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है ऐसा नहीं है क्योंकि बाधा का विरोध नहीं है अर्थात् किसी अज्ञान से सहित भी आत्मा में अविद्या की उत्पत्ति के मानने पर कोई दोष नहीं है । कारण रजतज्ञानादि में बाधा का विरोध नहीं है । अथवा कथंचित् चैतन्यादिरूप से आत्मा को जान लेने पर भी “यह अविद्या है”— यह बात नितरां घटित हो जाती है । क्योंकि आत्मा को जानने वाले के ही उस अविद्या में बाधकपना निश्चित होने से कथंचित्—बाह्य प्रमेय की अपेक्षा से बाधित ज्ञान में मृषापना सिद्ध है और ऐसा भी नहीं है कि कथंचित् (बाह्य प्रमेय की अपेक्षा से) अविद्यावान् मनुष्य उस अविद्या का निरूपण करने में असमर्थ हो । अन्यथा सभी बुद्धिमान् जनों के व्यवहार का विलोप हो जायेगा । यद्यपि आपने पहले यह कहा है कि प्रमाण के द्वारा परीक्षा को सहन करने में असमर्थता ही अविद्या का असाधारण लक्षण है फिर भी यह कथन भी तो प्रमाण की सामर्थ्य से ही निश्चित किया जाता है इसलिये प्रमाणा-

१ लक्षण । व्या० प्र० । सुप्तमत्तमुग्धादि अविद्यावस्थायां तस्य विद्येतरविभागनिश्चयस्यासंभवात् । इति पूर्वस्य हेतुसमर्थपदं ज्ञेयम् । दि० प्र० । २ अनुभवतीति संबन्धः कार्यः । दि० प्र० । ३ ब्रह्मणः एव । व्या० प्र० ।

४ इदं सत्यमिदमसत्यमिति । विचारक । आक्षेपे । ता । दि० प्र० ।

विद्या नाम यदभ्युपगमे¹ ब्रह्माद्वैतं न विरुध्येत द्वैतप्रतिषेधो वाद्वैताविनाभावी न भवेत् । तदेतेन² शब्दाद्वैतमपि निरस्तं⁴, विज्ञानाद्यद्वैतवत्तस्यापि⁵ निगदितदोषविषयत्वसिद्धेः⁶ प्रक्रियामात्रभेदात्⁷, तद्भव्यवस्थानुपपत्तेः⁸, स्वपक्षेतरसाधकबाधकप्रमाणाभावाविशेषात्⁹ स्वतः सिद्ध्ययोगाद्गत्यन्तराभावाच्च¹⁰ । इत्यलमतिप्रसङ्गिन्या¹¹ संकथया¹², सर्वथैवाद्वैतस्य¹³ निरा-
करणात् ।

तिक्रांत कोई अविद्या नाम की चीज नहीं है कि जिसको स्वीकार करने पर ब्रह्माद्वैत में विरोध न आ जावे । अथवा अद्वैताविनाभावी द्वैत का प्रतिषेध न हो सके अर्थात् ब्रह्माद्वैत में विरोध भी आता है अथवा द्वैत का भी प्रतिषेध हो ही जाता है । इस कथन से शब्दाद्वैत का भी खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये क्योंकि विज्ञानाद्वैत आदि के समान ही इस शब्दाद्वैत में भी अद्वैतैकांत पक्ष में दिये गये सभी दोष सिद्ध ही हैं, केवल प्रक्रियामात्र का ही भेद है अतएव उस शब्दाद्वैत की व्यवस्था नहीं बन सकती है क्योंकि स्वपक्ष साधक और परपक्ष बाधकरूप प्रमाणों का अभाव सभी अद्वैतपक्षों में समान ही है, तथा स्वतः तो किसी अद्वैत की सिद्धि हो नहीं सकती है एवं प्रमाणों से सिद्धि तथा स्वतः सिद्धि के सिवा अद्वैत को सिद्ध करने के लिये गत्यंतराभाव-अन्य किसी भी प्रकार के उपायों का ही अभाव है इसलिये इस अतिप्रसंगरूप संकथा से बस हो क्योंकि सर्वथा ही अद्वैत का खंडन कर दिया गया है ।



1 यस्याः अविद्यायङ्गीकारे । दि० प्र० । 2 ब्रह्माद्वैतं निराकृतं यतः । व्या० प्र० । 3 अद्वैतैकान्तपक्षेपी-
त्वादिना । ब्रह्माद्वैतनिराकरणद्वारेण । दि० प्र० । 4 निराकृतम् । ज्ञानाद्वैतं त्रिभाद्वैतं यथा । दि० प्र० ।
5 शब्दाद्वैतस्यापि । दि० प्र० । 6 पुरुषान्वितं ज्ञानान्वितं शब्दाद्वैतमत्रः कथं प्रत्येकं भिन्नत्वात्तपक्षभावी । दोषोत्र
शब्दाद्वैते अवकाशं लभते । द्या० प्र० । 7 निः प्रति मात्रनाममात्रभेदाद् वा । व्या० प्र० । 8 चिचरण । तर्हि शब्दा-
द्वैतादयः स्वतः सिद्धा एव वर्तन्ते इति चेत् । दि० प्र० । 9 अद्वैतस्य । दि० प्र० । 10 अभ्यविकल्पासंभवात् ।
दि० प्र० । 11 अद्वैतस्य । दि० प्र० । 12 कुतः । दि० प्र० । 13 ननु कथञ्चिदद्वैतस्य । दि० प्र० ।

अद्वैतवाद खण्डन का सारांश

ब्रह्माद्वैतवादियों का कहना है कि सभी विश्व परमब्रह्म स्वरूप से अद्वैतरूप है एवं अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध है, “जो अंतर्बहिर्वस्तु प्रतिभाससमानाधिकरण है वे प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट हैं जैसे प्रतिभास का स्वरूप।” तथा सर्व वै खत्विदं ब्रह्म इत्यादि आगम से भी सिद्ध है। यदि जैनादि ऐसा कहें कि अद्वैत में प्रत्यक्ष से कारक क्रिया आदि भेद पाये जाते हैं इसलिये द्वैत आ गया सो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि ये क्रिया, कारक आदि भेद, एवं अनुमान वाक्य में पक्ष, हेतु दृष्टांत आदि भेद एवं प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदि सब उस परमब्रह्म से अभिन्न ही हैं—

अविद्या से कल्पित हैं इसलिये पुण्य-पाप, सुख-दुःख, बंध-मोक्ष, विद्या-अविद्या आदि द्वैत अविद्या से ही कहे गये हैं। तथा वह अविद्या तो निःस्वरूप है अतः उससे द्वितीयपने का अभाव है। जैसे इन्द्रजालिया के मायामयी धूमादि। कहा भी है—“न बंधोस्ति न वै मोक्ष इत्येषा परमार्थता” अतएव प्रतिभास रूप परब्रह्म ही तात्त्विक है।

इस पर जैनाचार्यों ने बड़े ही सुन्दर ढंग से समाधान किया है। पहले वे पूछते हैं कि आपके इस अद्वैत में क्रिया कारक आदि भेद हैं वे अजन्मा हैं या जन्मवान्? यदि अजन्मा कहो तो नित्य हो जायेंगे, यदि जन्मवान् कहो तो किससे उत्पन्न हुये? ब्रह्मा से ही कहो तो स्वतः से कोई स्वयं आज तक उत्पन्न नहीं हुआ है यदि पर से कहो तो ब्रह्मा से भिन्न पर होने से द्वैत हो गया तथा यदि कहो कि ये भेद न स्वतः उत्पन्न हुये हैं न पर से, किन्तु उत्पन्न अवश्य हुये हैं तब तो यह बात भी हास्यास्पद ही है इसलिये ये सभी भेद अद्वैत में सिद्ध नहीं होते हैं तथा आपने जो अनुमान में कहा है कि “सभी चेतनाचेतन पदार्थ प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट हैं जैसे प्रतिभास का स्वरूप” यह अनुमान भी अपने अद्वैत से विरुद्ध द्वैत को ही सिद्ध करता है प्रतिभास और उसके स्वरूप से स्वरूप एवं स्वरूपवान् दो हो गये तो द्वैत ही रहा। एवं जो आपने कहा है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आगम आदि अविद्या से प्रतिभासित होते हैं तो यह अनुमान भी अविद्या से ही होने से मिथ्यारूप ही सिद्ध हुआ क्योंकि अविद्या से वस्तु भूत तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है। तथा जो आपने आगम से ब्रह्म को सिद्ध किया सो आगम एवं परमब्रह्म ये दो हो गये। आप कहो कि आगम तो ब्रह्मा का स्वभाव है वह उससे अभिन्न ही है तो भी स्वभाव एवं स्वभाववान् रूप से द्वैत हो ही गया।

दूसरी बात यह है कि “द्वाभ्यां-प्रमाण प्रमेयाभ्यां इतं द्वीतं” द्वीतं इदं द्वैतं, न द्वैतं अद्वैतं “इस प्रकार से अद्वैत की सिद्धि वास्तविक द्वैत को सिद्ध कर देती है क्योंकि इसमें” नञ् समास पूर्वक अखण्डपद है अतः द्वैत के बिना अद्वैत कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है, यथा जैन के बिना अजैन।

यदि आप कहें कि अनेकांत भी नञ् समास वाला पद है किन्तु आप एकांत को वास्तविक नहीं मानते हैं कल्पित ही मानते हैं। सो यह कथन भी आपने बिना हमारे तत्त्व को समझे ही कह दिया है क्योंकि हम जैनों के यहाँ तो सुनय से अर्पित सम्यक एकांत है। एवं अमाया, अखर शब्द आदि भी वास्तविक-भूत माया, एवं खर के बिना नहीं होते हैं। इसलिये अद्वैत शब्द वस्तुभूत द्वैत को मान कर उसका निषेध करता है। जो आपने अविद्या को निःस्वरूप कहा वह भी गलत है क्योंकि विद्या के समान अविद्या भी कथंचित् वस्तु रूप ही है बहिःप्रमेय की अपेक्षा से अपने स्वरूप में (सीपादि में रजत ज्ञान के समय) अविद्या रूप हैं। बाधक प्रमाण से जानी जाती है। केवल अंतःप्रमेय की अपेक्षा से वह अविद्या प्रमाण का विषय नहीं है कारण अंतःप्रमेय की अपेक्षा सभी संशय आदि ज्ञान भी प्रमाणाभूत हैं किन्तु बहिःप्रमेय की अपेक्षा से विद्या और अविद्या दोनों ही हैं क्योंकि अविद्या, भिन्न (गलत) विद्यारूप है, तुच्छाभावरूप नहीं। तथा ऐसा भी प्रश्न हो सकता है कि वह अविद्या परमब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो द्वैत हो गया, यदि अभिन्न है तो आपका ब्रह्मा भी अविद्यारूप हो गया अतः ब्रह्माद्वैत अविद्या, माया, असत्य काल्पनिक हो जाने से सिद्ध नहीं हुआ किन्तु आपके ही शस्त्र से आपका घात हो जाने से हम लोगों को मान्य द्वैत ही सिद्ध हो गया।

सार का सार—ब्रह्माद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादी, विज्ञानाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, शून्याद्वैतवादी ये पांच अद्वैतवादी हैं ये सारे विश्व को एवं चेतन-अचेतन संपूर्ण पदार्थों को एक ब्रह्म या शब्द या ज्ञान मात्र या चित्रज्ञान या शून्यरूप ही मान लेते हैं और सारी व्यवस्था को अविद्या अथवा कल्पना से कहकर खुश हो जाते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने इन सबको सभी चेतन-अचेतन वस्तु का वास्तविक रूप से मानने का उपदेश दिया है।



इष्टमद्वैतैकान्तापवारणं^१, पृथक्त्वेकान्ताङ्गीकरणादिति^२ माऽवदीधरत् । यस्मात्,—

^३पृथक्त्वेकान्तपक्षेपि पृथक्त्वादपृथक्^४ तु तौ^५ ।

पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो^६ ह्यसौ^७ गुणः^८ ॥२८॥

पृथगेव^९ द्रव्यादिपदार्थाः प्रमाणादिपदार्थाश्च, पृथक्प्रत्ययविषयत्वात् सहाविन्ध्यवदित्ये-

[योगाभिमत पृथक्त्वगुण का खण्डन]

अब यहाँ नैयायिक और वैशेषिक कहते हैं कि—

“अद्वैतैकांत का निराकरण करना तो हमें इष्ट ही है” । क्योंकि हमने पृथक्त्वेकांत—सर्वथा भेद को ही स्वीकार किया है । परन्तु जैनाचार्य इस पृथक्त्वेकांत का भी अवधारण नहीं करते हैं । क्योंकि—

इस पृथक्त्वेकांत पक्ष में, द्रव्य गुणों से पृथक्त्व गुण ।
अपृथक् है या पृथक् कहो यदि, अपृथक् है तब पक्ष अवष्ट ॥
यदी कहो यह द्रव्य गुणों से, अलग पड़ा तब सिद्ध नहीं ।
क्योंकि एक अनेकों में यह, रहता अतः असिद्ध सही ॥२८॥

कारिकार्थ—पृथक्त्वेकांत पक्ष में भी पृथक्त्वगुण से पदार्थों को भिन्न मानने पर पृथक्-पृथक् रूप रहे हुये पदार्थ अथवा गुण और गुणी सब अपृथक्—अभिन्न हो जायेंगे । एवं सभी को पृथक्त्व—भिन्न-भिन्न मानने पर पृथक्त्वगुण की सिद्धि नहीं हो सकेगी—क्योंकि यह पृथक्त्व गुण अनेक पदार्थों में रहने वाला माना गया है ॥२८॥

“द्रव्यादि सात पदार्थ एवं प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थ पृथक् ही हैं—क्योंकि वे पृथक्, प्रत्यय—ज्ञान के विषय हैं । जैसे कि सहा और विध्य पर्वत । इस प्रकार का एकांत पृथक्त्वेकांत कहलाता है, तथा बाह्य और अन्तरंग परमाणु सजातीय विजातीय से व्यावृत्त एवं निरन्वय विनश्वर ही है, इस प्रकार का अभिप्राय भी पृथक्त्वेकांत कहलाता है । इन तीनों पक्ष में द्रव्य, गुण, कर्म आदि को पृथक्-पृथक् मानने वाले वैशेषिक हैं । प्रमाण प्रमेय आदि को पृथक्-पृथक् मानने वाले नैयायिक हैं एवं बाह्य परमाणु और ज्ञान परमाणुओं को पृथक्-पृथक् मानने वाले सौगत हैं ।

1 यदाचार्यैः सर्वथैकान्तं निराकृतम् । तदा पृथक्त्वेकान्तवादी योगादिवदति किं इत्युक्ते अद्वैतैकान्तवर्जनमस्माकमिष्टं कस्मात्पृथक्त्वेकान्ताभ्युपगमात् । स्याद्बाह्याह हे पृथक्त्वेकान्तवादिन् ! भवान् इति स्वमनसि मा धरति स्म । दि० प्र० । 2 भिन्नत्व । दि० प्र० । 3 द्रव्यादयः षडेव पदार्थाः परस्परं भिन्ना इति भेदकान्तपक्षे । दि० प्र० । 4 अभिन्नौ । दि० प्र० । 5 द्रव्यगुणौ । व्या० प्र० । 6 गुणः । दि० प्र० । 7 स्वयमेकः सन् । दि० प्र० । 8 यस्मात् । दि० प्र० । 9 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इति सूत्रवचनात् । दि० प्र० ।

कान्तः पृथक्त्वैकान्तः, सजातीयविजातीयव्यावृत्ता निरन्वयविनश्वरा बहिरन्तश्च¹ परमाणवः² इत्यभिनिवेशश्च ।

[वैशेषिकनैयायिकाभ्यां स्वीकृतं भेदपक्षं निराकुर्वन्ति जैनाचार्याः ।]

तत्र येषां पृथक्त्वगुणयोगात् पृथक् पदार्था इत्याग्रहस्ते एवं तावत्प्रष्टव्याः ।—किं पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वं गुणः³ पृथग्भूतोऽपृथग्भूतो⁴ वा ? न तावदुत्तरः⁵ पक्षो गुणगुणिनोर्भेदोपगमात् । नापि प्रथमः पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वस्य पृथग्भावे तेषामपृथक्त्वप्रसङ्गात् ।

[वैशेषिक और नैयायिक के भेद पक्ष का जैनाचार्य खण्डन करते हैं ।]

इन तीनों में से जो वैशेषिक और नैयायिक पृथक्त्वगुण के योग से पदार्थों को पृथक् मानते हैं । उन्हें ही हम इस प्रकार से पूछते हैं कि—पृथग्भूत पदार्थों से यह पृथक्त्वगुण पृथक्भूत है या अपृथग्भूत ?

इनमें द्वितीय पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि गुण और गुणी में आपने सर्वथा भेद ही स्वीकार किया है, तथैव प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है—“क्योंकि पृथक्भूत पदार्थों से पृथक्त्वगुण को पृथक् मानने पर उन द्रव्य, गुण आदि पदार्थों में अपृथक्—अभिन्नपने का प्रसंग आ जायेगा ।”

भावार्थ—वैशेषिक के यहाँ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये ७ पदार्थ हैं । इसमें द्रव्य के ६ भेद, गुण के २४ भेद, कर्म के ५, सामान्य के २ भेद, विशेष के अनन्त भेद एवं समवाय के ६ तथा अभाव के ४ भेद हैं । नैयायिक ने १६ पदार्थ माने हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान ।

वैशेषिक के गुण नामक पदार्थ के २४ भेद हैं उनके नाम—स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, स्नेह, गुरुत्व, द्रव्यत्व और वेग । इनमें संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व आदि गुण माने गये हैं ।

ऊपर के २४ प्रकार के गुणों में पृथक्त्व नाम का एक गुण है जो कि इन समस्त पदार्थों को परस्पर में भिन्न-भिन्न करता है ऐसी उनकी मान्यता है ।

इसी तरह बौद्धों का भी यही कहना है कि जितने घट-पटादिरूप बाह्य पदार्थ एवं ज्ञानादिरूप

1 अचेतनानां चेतनानाम् । दि० प्र० । 2 सौगताभिप्रायेण पृथक्त्वैकान्तसूचनं कथं बहिःपरमाणवः अन्तःपरमाणवश्च सजातीयविजातीयभिन्ना भवन्ति निरन्वयविनश्वरादित्याग्रहः = तत्र तस्मिन्नाग्रहे सति येषां योगादीनां पृथक्त्वगुणसंबन्धात् पदार्थाभिन्नास्त एवंप्रष्टव्याः । दि० प्र० । 3 यौग्याभ्युपगतः । दि० प्र० । 4 इति प्रश्नः । दि० प्र० । 5 अपृथग्भूतः । दि० प्र० ।

पृथक्त्वस्य तद्गुणत्वात् पृथगिति प्रत्ययस्य तदालम्बनत्वान्न तेषामपृथक्त्वप्रसङ्ग इति चेन्न, तस्य कथञ्चित्तादात्म्यापत्तेः पृथक्त्वैकान्तविरोधात् । तद्गुणगुणिनोरतादात्म्ये घटपटवद्व्य-पदेशोपि^१ मा भूत्, संबन्धनिबन्धान्तराभावात्^२ । कथञ्चित्तादात्म्यमेव^३ हि तयोः संबन्ध-निबन्धनं, न 'ततोऽन्यत्संभवति । समवायवृत्तिः संभवतीति चेन्न, समवायस्य कथञ्चिद-विष्वग्भावादपरस्य प्रतिक्रियात्^४ । पृथक्त्वमन्यद्वा पृथग्भूतमनंशमनेकस्थेषु निष्पर्यायं वर्तते इति दुरवगाहम्^६ । न ह्यनेकदेशस्थेषु हिमवद्विन्ध्यादिषु सकृदेकः परमाणुर्वर्तते इति संभवति ।

अन्तस्तत्त्वं है वे सब निरन्वय विनश्वर—मूलतः नाशशील हैं तथा सजातीय और विजातीय ये सर्वथा व्यावृत्त—जुदे-जुदे हैं ।

इस प्रकार इन सभी का भिन्नैकांत पक्ष ही पृथक्त्वैकांत पक्ष है । यहाँ पहले वैशेषिक और नैयायिक का खण्डन किया जा रहा है ।

वैशेषिक—यह पृथक्त्वगुण उन पदार्थों का गुण है इसलिये “पृथक्” इस प्रकार का ज्ञान उस पृथक्त्वगुण के आधीन है अतएव उन पदार्थों में अपृथक्त्व—अभिन्नपने का प्रसंग प्राप्त नहीं होता है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उस पृथक्त्वगुण का द्रव्य के साथ में कथञ्चित् तादात्म्य का प्रसंग हो जाने से पृथक्त्वैकांत पक्ष का विरोध हो जायेगा । “तथा उन गुण और गुणी में तादात्म्य (सर्वथा भेद) के न मानने पर तो घट और पट के समान “यह इसका गुण है” इत्यादि व्यपदेश भी नहीं हो सकेगा क्योंकि उन भिन्न-भिन्न में सम्बन्ध को कराने के लिये अन्य कारणों का अभाव है” अतः कथञ्चित् तादात्म्य ही उन गुण और गुणी में सम्बन्ध का कारण है, उससे भिन्न और कुछ भी संभव नहीं है ।

वैशेषिक—हमारे यहाँ समवाय सम्बन्ध से उनमें वृत्ति संभव है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कथञ्चित् अविष्वग्भाव—तादात्म्यरूप समवाय को छोड़कर अन्य प्रकार से आपके माने हुये समवाय का तो हमने खण्डन ही कर दिया है । “तथा पृथक्त्व-गुण अथवा अन्य संयोगादि गुण पदार्थों से पृथग्भूत हैं । स्वयं अनंश—अंश कल्पना से रहित है । फिर भी अनेक द्रव्यों में निष्पर्यायरूप से रहते हैं यह कथन भी दुर्बोधाह—अति असंभव है ।” अर्थात् यह पृथक्त्वगुण द्रव्यादि से अलग है अंशकल्पना से रहित है फिर भी अनेकों में एक साथ रहता है यह सब कथन परस्पर विरुद्ध है क्योंकि जो अनेकों में रहता है उसके उतने ही भेद होना शक्य है । ऐसा तो कहीं देखने में नहीं आता है कि एक निरंश परमाणु युगपत् अनेक देशस्थ हिमवान् और विन्ध्याचल आदिकों में रहे अर्थात् ऐसा युगपत् संभव नहीं है ।

१ पदार्थानां पृथक्त्वमिति । न केवलं गुणगुणिनोर्भावः । दि० प्र० । २ तादात्म्यात् अपरस्य संबन्धान्तरस्य । दि० प्र० । ३ तयोर्गुणगुणिनोः केवलं कथञ्चित्तादात्म्यं संबन्धकारणं भवति । ततः कथञ्चित्तादात्म्यात्सकाशात् । अन्यत् संबन्धकारणं हि संभवति इति क्वा क्वा व्याख्येयमपितु न संभवति । दि० प्र० । ४ संबन्धनिबन्धनं ततोऽन्यत् संभवतीति पाठ० । दि० प्र० । ५ निराकरणात् । दि० प्र० । ६ पृथग्वादिनो मतं दुर्बोधम् । दुर्बोधम् । दि० प्र० ।

गगनाद्यनंशमपि वर्तते इति चेन्न, ¹तस्यानन्तप्रदेशादितयानंशत्वासिद्धेरनाश्रयतया² क्वचिद्वृ-
त्त्यभावाच्च । सत्तैका युगपदनेकत्र³ वर्तते इत्यप्यसिद्धं, ⁴तदनन्तपर्यायत्वसाधनात्⁵ स्वपर्या-
येभ्योत्यन्तभेदासिद्धेश्च समवायवृत्त्यनुपपत्तेः । ⁶द्रव्यत्वಾದिसामान्यमपि नैकमनंशमनेकस्व-
व्यक्तिवृत्ति⁷ सकृत्प्रसिद्धं, तस्यापि स्वाश्रयात्मकतया कथंचित्सांशत्वानेकत्वप्रतीतेः⁸ ।

वैशेषिक—नैयायिक—गगन, दिशा, कालादि एक निरंश हैं फिर भी अनेक देश में स्थित हिमवन विद्यादिकों में रहते हैं अतः कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, आकाश में अनंत प्रदेशादिरूप से अनंशपना असिद्ध है एवं उस आकाश का अनाश्रितरूप से क्वचित् एक पदार्थ में वृत्ति—समवाय का अभाव है अर्थात् वह आकाश अनंत प्रदेशी होने से स्वयं अंशसहित है तथा किसी के आश्रय नहीं है अतः उसकी समवाय सम्बन्ध से कहीं पर भी वृत्ति मानी नहीं जा सकती है ।

नैयायिक—सत्ता एक है, अनंश है और अपनी पर्यायों से भिन्न है फिर भी समवाय वृत्ति से युगपत् अनेकों में रहती है ।

जैन—यह कथन भी असिद्ध ही है । हमने सत्ता को भी अनंतपर्याय वाली सिद्ध किया है एवं अपनी पर्यायों से उसमें सर्वथा भेद नहीं पाया जाता है अतः समवाय से भी सत्ता की वृत्ति नहीं होती है । इसी तरह अपरसामान्य जो द्रव्यत्वादि हैं वे भी एक और अनंश हों, फिर भी युगपत् अनेकों अपने विशेषों में रहने वाले हों, यह बात प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि ये द्रव्यत्वादि सामान्य अपने आश्रयभूत होने से कथंचित् अंश सहित और अनेक ही अनुभव में आ रहे हैं । संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व गुण भी एक साथ अनेकों में रहने वाले नहीं हैं क्योंकि प्रतियोगी संयोगादि में परिणाम-भेद प्रतीत हो रहा है । मात्र सादृश्य के उपचार से ही एकत्व का व्यवहार होता है ।

भावार्थ—संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व गुणों को नैयायिकों ने एक होते हुये भी युगपत् अनेकानुगत—अनेक में रहने वाले माना है अतः नैयायिक या वैशेषिक यदि इन गुणों को लेकर

1 स्याद्वाद्याह । तस्याकाशादेरनन्तप्रदेशादित्वेनानंशत्वं न सिद्धयति । किन्तु सांशत्वमेव । अनंशस्याश्रयो नास्ति । अनाश्रयात् क्वचिदपि द्रव्यादिषु प्रवृत्तिर्न संभवतीति हेतुद्रव्यात् । दि० प्र० । 2 गगनस्यानाश्रयतायोगमतापेक्षया तथा च तद् ग्रन्थः षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः । दि० प्र० । 3 द्रव्येषु । पदार्थेषु । दि० प्र० । 4 तस्या-
स्तत्ताया अनन्तपर्यायत्वघटनात् स्वपर्यायेभ्यो द्रव्येभ्यः सकाशादात्यन्तभेदो न सिद्धयति अत्यन्तभेदे सति समवायवृत्तेः
संबंधध्यापारस्य उत्पत्तिर्न । वसः । दि० प्र० । 5 अनन्तपर्यायत्वेपि सत्तायाः पर्यायेभ्यो भिन्नत्वात् सैकानंशैव
समवायेन वर्तत एवेत्यत्राह । दि० प्र० । 6 द्रव्यत्वगुणत्वादिसामान्यं कर्तुं अनंशमेकमपि सर्वासु व्यक्तिवृत्तिषु
युगपत्प्रवर्तते इत्युक्तं परवादिना तत् स्याद्वादिना परिह्रियते । एवं न । कुतस्तस्यापि द्रव्यत्वादेरपि द्रव्यत्वादि
आश्रयस्वभावत्वेन कथंचित्सांशत्वानेकत्वं प्रतीयते यतः । दि० प्र० । 7 अपरं । सतः । व्या० प्र० । व्यक्तीनां
पर्यायाणां वृत्तयः व्यक्तिवृत्तयः । व्यक्तीर्व्यक्तीः प्रतिवृत्तिः व्यक्तिवृत्तिः । दि० प्र० । 8 आश्रयस्य सांशत्वादानेक-
त्वाच्च तस्यापि तथात्वम् । व्या० प्र० ।

'संयोगविभागपरत्वापरत्वान्यपि² नानेकवृत्तानि युगपदुपपद्यन्ते प्रतियोग्यादिसंयोगादिपरिणामप्रतीतेः³ सादृश्योपचारादेकत्वव्यवहारात् ।⁴ द्वित्वादिरनेकद्रव्यवृत्तिर्युगपदित्यप्यप्रातीतिक⁵, प्रतिव्यक्ति⁶ सकलसंख्यापरिणामसिद्धेः क्वचिदेकत्र तदसिद्धौ परापेक्षयापि तद्विशेषप्रतीत्ययोगात्⁷ खरविषाणवत् । ततो⁸ न पृथक्त्वमनेकत्र युगपद्वर्तते गुणत्वाद्वृत्तादिवत् । न संयोगादिभिरनेकान्तः⁹, तेषामप्यनेकद्रव्यवृत्तीनां सकृदनशानामसिद्धेः । तदनेन¹⁰ पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्ववतोः¹¹ पृथक्त्वात्पृथक्त्वे¹² तौ¹³ तद्वन्तावपृथगेव¹⁴ स्याताम् ! तथा च न पृथक्त्व

ऐसा कहें, कि जैसे ये गुण एक होने से स्वयं निरंश हैं और युगपत् अनेकानुगत हैं तथैव पृथक्त्व गुण भी एक और निरंश होकर युगपत् अनेकानुगत मान लिया जाये सो ऐसा कहना ठीक नहीं है ये गुण भी प्रत्येक द्रव्यनिष्ठ हैं क्योंकि संयोग, विभाग, परत्व एवं अपरत्वरूप से प्रत्येक द्रव्य का परिणमन होता है । जो गुण जिनका होता है वे उसके प्रतियोगी—जिनका संयोग वे संयोग के प्रतियोगी, जिनका विभाग वे विभाग के प्रतियोगी इत्यादि रूप प्रतियोगियों में संयोग आदि गुणों का परिणमन होगा अर्थात् संयोगादि जिसमें रहते हैं वे परिणामी हैं और संयोग आदि उनके परिणाम हैं अतः यदि परिणामी एक है तो उसका परिणाम भी एक होगा । संयोगी आदि परिणामी अनेक हैं अतः उनके संयोग आदि परिणाम भी अनेक होंगे ।

अतएव संयोग आदि एक होकर अनेक में एक साथ नहीं रह सकते, किंतु वे स्वयं अनेक होते हुये अनेक में एक साथ रहते हैं । संयोग, विभाग, परत्व एवं अपरत्व में जो एकपने का व्यवहार होता है वह औपचारिक है वास्तविक नहीं है और उस उपचार में निमित्त सदृशता है । उस सदृशता से ही वे एक कहे जाते हैं ।

नैयायिक—द्वित्व, त्रित्व आदि गुण एक हैं, निरंश हैं, फिर भी युगपत् अनेक द्रव्यों में रहते हुये पाये जाते हैं ।

जैन—आपका यह कथन भी प्रतीति सिद्ध नहीं है, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति सकल संख्याओं का भेद सिद्ध है । कहीं एक जगह खर विषाणादि में उस संख्या की असिद्धि के होने पर पर की अपेक्षा से—अपर संख्येय की अपेक्षा से भी उन विशेष द्वित्व आदि गुणों की प्रतीति का अभाव है । जैसे कि गधे के सींग का अभाव है अर्थात् जो वस्तु एक है उसमें एकत्व संख्या के अलावा द्वित्वादि

1 स्याद्वाद्याह संयोगादीनि चत्वारियुगपदनेकवृत्तीनि नोत्पद्यते कस्मात् । संयोगिनं संयोगिनं प्रति, प्रतिसंयोगि प्रतिविभागी । आदियेस्य सः प्रतिसंयोग्यादिस्तस्य संयोगविभागादिस्वभावप्रतीतेःसादृश्योपचारादेकत्वव्यवहारो घटते । दि० प्र० । 2 निरंशानि सन्ति । दि० प्र० । 3 संयोगादेः । दि० प्र० । 4 संख्येय । दि० प्र० । 5 परोनुमानं रचयति । पृथक्त्वं पक्षोऽनेकत्र युगपद् वर्तते इति साध्यं गुणत्वात् । यथारूपादिः । स्याद्वाद्याह एवं न । दि० प्र० । 6 पदार्थानाम् । दि० प्र० । 7 खरविषाणादेर्यथा संख्या परिणामसिद्धिस्तथेति संबन्धः । दि० प्र० । 8 गगनादिभिर्व्यभिचारे न भवेद्यतः । दि० प्र० । 9 गुणत्वादिति हेतोर्व्यभिचारः न । दि० प्र० । 10 उक्तसन्दर्भेण । व्या० प्र० । 11 गुणात् । व्या० प्र० । 12 भेदे । व्या० प्र० । 13 पृथक्त्वगुणवन्तौ । दि० प्र० । 14 अभिन्ना एव । दि० प्र० ।

नाम गुणः स्यात्^१, एकत्र^२ तद्वति तदनभ्युपगमात् । अनेकस्थो^३ ह्यसौ गुण^४ इति कारिका-
व्याख्यानं स्थितपक्षदूषणपरं^५ प्रकाशितं प्रतिपत्तव्यम् ।

समस्त संख्यायें भी सिद्ध हैं और जो वस्तु एक नहीं है—अनेक है उसमें द्वित्वादि संख्याओं के सिवाय एकत्व संख्या भी सिद्ध है । तात्पर्य यह है कि द्वित्वादि संख्याओं के आधारभूत व्यक्तियों में प्रत्येक व्यक्ति में वह द्वित्वादि संख्या विद्यमान रहती है । यदि वह एक-एक में न हो तो दो आदि में वह दो आदि की अपेक्षा से भी नहीं रह सकती है, मतलब यह है कि जो जहाँ स्वभावतः नहीं है वह पर की अपेक्षा से भी वहाँ नहीं रह सकता । जैसे कि खरविषाण में स्वाभाविक और आपेक्षिक दोनों ही तरह की संख्या नहीं है ।

इसलिये पृथक्त्वगुण एक साथ अनेकों में नहीं रहता है क्योंकि वह गुण है जो गुण होता है वह एक साथ अनेक जगह नहीं रहता है जैसे रूपादि गुण अर्थात् पर मत की अपेक्षा से सकल गुण निरंश माने हैं अतएव “गुणत्वात्” यह हेतु सामान्य से दिया है । इसी प्रकार से हमारा हेतु संयोगादि के साथ भी अनेकांत रूप नहीं है । क्योंकि वे संयोगादि गुण भी अतंशरूप होते हुये युगपत् अनेक द्रव्यों में रहते हैं यह बात असिद्ध है ।

इसी कथन से पृथक्त्वैकांत पक्ष में भी पृथक्त्वगुण वाले दो पदार्थों की पृथक् है । इस प्रकार से पृथक्त्व सिद्धांत के मान लेने पर वे दोनों पृथक्त्वगुण और पृथक्त्ववान् (दोनों पदार्थ) अपृथक्-अभिन्न ही सिद्ध हो जावेंगे । इस प्रकार से उनमें एकत्व के हो जाने पर पृथक्त्व नाम का कोई गुण सिद्ध नहीं होगा क्योंकि एकत्र तद्वान्-पृथक्त्ववान् में उस पृथक्त्वगुण को न्याय के बल से स्याद्वादियों ने स्वीकार नहीं किया है कारण कि “अनेकस्थो ह्यसौ गुणः” इस कारिका के व्याख्यान को नित्यैकांत पक्ष में दूषण देने वाला स्वीकार करना चाहिये ।

भावार्थ—जब यह पृथक्त्वगुण-पृथक्त्वगुण वाले दो पदार्थों से पृथक् माना जायेगा तब तो यह स्वाभाविक बात है कि उन पृथक्भूत पदार्थों में परस्पर में अपृथक्त्व-अभिन्नता ही सिद्ध हो जाती है और इस स्थिति में अनेकता के अभाव में इस पृथक्त्वगुण की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? क्योंकि यह गुण युगपत् अनेक द्रव्यों में रहने वाला माना गया है और अनेक द्रव्यों के पृथक्त्वगुण से भिन्न होने के कारण अनेकता सिद्ध ही नहीं होती है इसलिये पृथक्त्व नाम का कोई गुण सिद्ध नहीं होता है ।

१ कुतः । दि० प्र० । २ अभिन्नपदार्थे । दि० प्र० । ३ पृथक्त्वगुणः । ब्या० प्र० । ४ यतः । ब्या० प्र० । ५ तथा च नष्टपृथक्त्वं नाम गुणः स्यादितिभावः । ब्या० प्र० ।

यौगाभिमत पृथक्त्वंकांत खण्डन का सारांश—

योग के २ भेद हैं वैशेषिक एवं नैयायिक । वैशेषिक यहाँ द्रव्य, गुण, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये कर्म पदार्थ भिन्न-२ ही हैं । नैयायिक के प्रमाण, प्रमेय आदि १६ पदार्थ सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं । इन दोनों का कहना है कि पृथक्त्वगुण के योग से पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् द्रव्य आदि में समवाय संबन्ध से पृथक्त्वगुण रहता है । यह पृथक्त्वगुण अथवा अन्य संयोगादि गुण सभी पदार्थों से पृथक् हैं एवं स्वयं में निरंश होकर भी अनेक द्रव्यों में निष्पर्यायरूप से रहते हैं जैसे गगन, दिशा, काल आदि अनंश एक हैं फिर भी अनेक देश में रहते हैं अथवा सत्ता एक निरंश है एवं युगपत् अनेक में रहती हैं । तथैव संयोग, विभाग परत्वापरत्व एक होते हुये भी युगपत् अनेकानुगत है एवं संयोग आदि जिसमें रहते हैं वे परिणामी हैं तथा संयोग आदि उनके परिणाम हैं ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं—कि इस पृथक्त्वंकांत पक्ष में पृथक्त्वगुण से पदार्थों को भिन्न-भिन्न मानने पर तो प्रश्न यह होता है कि यह पृथक्त्वगुण पृथक्भूत पदार्थों से पृथक् है या अपृथक्-अपृथक् तो आप कह नहीं सकते क्योंकि आपने गुण और गुणी में सर्वथा भेद ही माना है, पृथक् कहते हैं तब तो पृथक् पदार्थों से पृथक्गुण भिन्न ही रहा पुनः उन द्रव्य, गुण, पदार्थों में अपृथक्पने का प्रसंग आ गया । इस पर यदि आप वैशेषिक यह कहें कि पृथक्गुण उन पदार्थों का है इसलिये “पृथक्” यह ज्ञान उस पृथक्त्वगुण के आधीन है अतः अभिन्नता का दोष नहीं आता है इस कथन से तो वह पृथक्गुण द्रव्य से कथंचित् अपृथक् होकर तादात्म्य बन जाता है क्योंकि भिन्न में अन्य सम्बन्ध संभव नहीं है जो आपने समवाय से सम्बन्ध कहा है वह समवाय भी तो “कथंचित् तादात्म्य” को छोड़कर अन्य कुछ संभव नहीं है । तथा जो आपने गुणों को निरंश एक सिद्ध किया है वह तो सर्वथा ही अघटितरूप है क्या एक निरंश परमाणु एक साथ अनेक देशस्थ हिमवन् विध्याचल आदिकों में रह सकता है ? जो उदाहरण में आपने आकाश, काल कहे हैं वे भी गलत हैं । आकाश एक होकर भी निरंश नहीं है प्रत्युत अनंत प्रदेशी है तथैव कालाणु भी असंख्यात हैं, त्रिकाल समय की अपेक्षा से तो अनंतानंत है तथा आकाश तो किसी के आश्रय न होने से उसका समवाय सम्बन्ध से कहीं पर रहना शक्य नहीं है । सत्ता को भी हम जैनों ने अनंतपर्याय वाली मानी है तथा सत्ता को भी हमने समवाय से कहीं पर

नहीं माना है। असत् रूप खरविषाण में सत्ता का समवाय क्या करेगा ? एवं सत् रूप वस्तु में भी सत्ता का समवाय क्या है ? जब वे पदार्थ स्वयं सत् हैं।

तथा संयोग आदि गुण परिणाम हैं जिसमें रहते हैं वे परिणामी हैं परिणामी अनेक हों एवं गुण एक, निरंश हो यह कथमपि शक्य नहीं है, क्योंकि गुण एक होकर युगपत् अनेक में नहीं रह सकते। अनेक होकर ही अनेकों में रहेंगे जो इनमें एकपने का व्यवहार है वह औपचारिक है। सदृशता के निमित्त से हुआ है। तथैव द्वित्व, त्रित्व आदि संख्यायें भी अनेक हैं, एक वस्तु में एकत्व संख्या द्वित्वादि की अविनाभाविनी है तथैव अनेक वस्तु में अनेक संख्या एकत्व के बिना नहीं है। मतलब यह है कि जहाँ जो स्वभाव से नहीं है वह परापेक्ष भी नहीं हो सकता अतः ये संख्यायें भी कथञ्चित् आपेक्षिक हैं। अतएव यह पृथक्त्वगुण युगपत् एक ही अनेक में नहीं रह सकता है “अनेकस्थो ह्यसौ गुणः” यह सिद्धांत गलत है क्योंकि जब यह पृथक्त्वगुण दो पृथक्त्ववान् पदार्थ से पृथक् है तब वे दोनों पदार्थ (द्रव्य, गुण) अपृथक् हो गये। अतः पृथक्त्व नाम का कोई गुण सिद्ध न होने से यौगाभिमत पृथक्त्वैकांत सिद्ध नहीं होता है।

सार का सार— ये नैयायिक और वैशेषिक द्रव्य से गुण को पृथक् ही मान रहे हैं बड़े आश्चर्य की बात है कि यदि जीव से ज्ञान गुण अलग है तो जीव का अस्तित्व कैसा ? यदि अग्नि से उष्णता अलग ही है तो अग्नि का स्वभाव क्या रहा ? समझ में नहीं आता है कि ये लोग समवाय को भी क्या समझते हैं ? क्या समवाय उष्णता को अलग से लेकर अग्नि में जोड़ता है ? यदि हाँ ! तो अग्नि में ही उष्णता को क्यों जोड़े अन्यत्र क्यों नहीं ? अतः जैनाचार्यों ने तो द्रव्य से गुण का तादात्म्य स्वीकार किया है और तादात्म्य को ही समवाय नाम दे दिया है।



सांप्रतं निरन्वयक्षणिकलक्षणपृथक्त्वपक्षे दूषणभाविर्भावयितुमनसः^१ सूरयः प्राहुः ।—

संतानः^२ समुदायश्च^३ साधर्म्यं^४ च निरंकुशः ।

प्रेत्यभावश्च^५ तत्सर्वं^६ न स्यादेकत्वनिह्नवे^७ ॥२६॥

जीवादिद्रव्यैकत्वस्य^८ निह्नवे संतानो^९ न स्याद्भिन्नसंतानाभिमतक्षणवत्^{१०} । यथैक^{११}-
स्कन्धावयवानामेकत्वपरिणामापलापे समुदायो न स्यान्नानास्कन्धावयववत् तथा सधर्म-
त्वाभिमतानां^{१२} सदृशपरिणामैकत्वापह्नवे^{१३} साधर्म्यं न स्याद्विसदृशार्थवत्^{१४} । मृत्वा पुनर्भवनं
प्रेत्यभावः । सोपि न^{१५} स्यादुभयभवानुभाव्येकात्माऽपाकरणे नानात्मवत् । चशब्दाद्दत्तप्र-

उत्थानिका—संप्रति निरन्वय क्षणिक लक्षण पृथक्त्व पक्ष में दूषण को प्रकट करते हुये श्री
स्वामी समंतभद्राचार्यवर्य कहते हैं—

यदि एकत्व नहीं मानो, संतानरूप अन्वय कैसा ।
नहिं होवे समुदाय, सदृशता, नहिं परलोक गमन होगा ॥
बाल वृद्ध पर्याय अनेकों, नहीं घटेंगी जो निर्बाध ।
क्षणिकैकांत पक्ष में क्षण-क्षण, में होता है सब कुछ नाश ॥२६॥

कारिकार्थ—एकत्व का सर्वथा निह्नव करने पर निरंकुश-सकल बाधक रहित अस्खलित-
रूप से प्रमाण प्रसिद्ध संतान, समुदाय, साधर्म्य, परलोक तथा दिये हुये को लेना आदि ये सब व्यवहार
सिद्ध नहीं हो सकते हैं ॥२६॥

जीवादि द्रव्य के एकत्व—अन्वयरूप अवस्था विशेष का अपलाप करने पर “संतान” सिद्ध
नहीं हो सकेगा जैसे भिन्न संतान के स्वीकार किये गये क्षण सिद्ध नहीं हैं । जिस प्रकार से एक स्कंध
के अवयवों में एकत्व—अन्वय परिणाम का अपलाप करने पर अनेक स्कंधों के अवयवों के समान
समुदाय भी सिद्ध नहीं हो सकेगा । उसी प्रकार से सधर्मत्व—सादृश्यरूप से स्वीकृत पदार्थ में सदृश
परिणामरूप एकत्व का निह्नव करने पर विसदृश पदार्थ के समान साधर्म्य भी सिद्ध नहीं होगा ।
मरकर पुनर्जन्म लेना प्रेत्यभाव है । उभयभव में अन्वयरूप से रहने वाली एक आत्मा का निराकरण
करने पर वह प्रेत्यभाव भी नहीं बन सकेगा जैसे कि नाना जीव परस्पर में परस्वरूप से परिणमन
नहीं कर सकते हैं ।

- १ प्रकटीकर्तृम् । दि० प्र० । २ द्रव्यान्वयः । दि० प्र० । ३ घटाद्येकस्कन्धावयवपरमाणुलक्षणः । दि० प्र० ।
४ इदमनेन सदृशमिति सादृश्यम् । दि० प्र० । ५ एकस्यात्मनो मृत्वा पुनर्भवनं प्रेत्यभावः । दि० प्र० । ६ दत्तग्रहा-
दिसर्वं ग्राह्यं चकारात् । पूर्वोक्तसंतानादिकम् । दि० प्र० । ७ अभावे । दि० प्र० । ८ जीवादिद्रव्यैकत्वस्या-
पलापे । दि० प्र० । ९ एक । व्या० प्र० । सामान्यनिर्देशान्नपुंसकलिङ्गता । दि० प्र० । १० एकसन्तानो न
स्यात्तथा । दि० प्र० । ११ घटादिलक्षण । परमाणूनाम् । दि० प्र० । १२ शब्दादीनाम् । द्रव्याणाम् । दि० प्र० ।
१३ सादृश्यम् । दि० प्र० । १४ विसदृशपदार्थवत् । दि० प्र० । १५ इहलोकपरलोक । ईप् द्विः । दि० प्र० ।

हादि सर्वं न स्यात्तद्वत्¹ । न च तदभावः शक्यः प्रतिपादयितुं, ²सकलबाधकशून्यत्वेन निरंकुशत्वात् ।

[बौद्धाभिमतसन्तानमान्यतायाः पूर्वपक्षः ।]

ननु चापरामृष्टभेदाः कार्यकारणक्षणा एव संतानः । स चैकत्वनिह्वेपि³ घटते एवेत्यपि ये समाचक्षते तेषामपि कार्यकारणयोः पृथक्त्वंकान्ते⁴ कार्यकालमात्मानमनयतः कारणत्वासंभवात्तदनुत्पत्तेः⁵ कुतः संततिः⁶ ? ननु कार्यकाले सतोपि कारणत्वे तत्कारणत्वानभिमतस्य कार्यकालमात्मानं नयतः सर्वस्य ⁷तत्कारणत्वप्रसङ्गः⁸ । कार्याकारेण प्रागसतः

तथैव “च” शब्द से ऐसा समझना कि पहले किसी को कोई वस्तु देना पुनः वापस लेनारूप दत्तग्रह आदि सभी नहीं हो सकेंगे एवं इन सबका अभाव प्रतिपादन करना शक्य नहीं है क्योंकि सकल बाधक से शून्य होने से ये सब सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, दत्तग्रहादि, निरंकुशरूप से देखे जाते हैं ।

[बौद्धाभिमत संतान की मान्यता का पूर्व पक्ष]

बौद्ध—परस्पर में भिन्न कार्यकारण के क्षणों को ही सन्तान कहते हैं और वह संतान एकत्व का निह्वेव करने पर भी घटित हो जाता है ।

जैन—“ऐसी मान्यता में भी आपके यहाँ कार्य और कारण में भिन्न एकांत के मानने पर अपने स्वरूप को कार्य के काल को प्राप्त न कराते हुये कारणों को “कारण” कहना ही असंभव है और तब पुनः कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी । पुनः सन्तान की सिद्धि कैसे होगी ?” अर्थात्—कार्य के काल में तो कारण रहता नहीं है अतः कारण का अभाव ही सिद्ध है पुनः कारण के अभाव में कार्य के न होने से सन्तान का लक्षण बन नहीं सकता है ।

बौद्ध—कार्य के समय में जो मौजूद है ऐसे जिस किसी को भी कारणरूप स्वीकार कर लेने पर उस कार्य के कारणरूप से अनभिमत भी कार्य के समय उपस्थित रहते हैं । उन सबको भी उसके कारणपने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा अर्थात् घट के लिये जैसे मिट्टी दण्डादि कारण स्वीकृत हैं उसी प्रकार से उस धड़े के बनने के काल में गधे, कुंभकार की पत्नी आदि भी मौजूद हैं वे भी कारण बन जायेंगे । यदि आप जैन ऐसा कहें कि उत्पत्ति के पहले वह कार्य कार्य के आकार से असत्रूप है एवं सद्द्रव्य आदिरूप से पहले तथा कार्य के समय भी सत्रूप है इस प्रकार से हम विवक्षित कार्य की

1 सन्तानादिवत् । दि० प्र० । 2 सर्वोऽबाधकप्रमाणरहिततया । दि० प्र० । 3 द्रव्यत्वाभावेपि । दि० प्र० । 4 भेदकान्ते । दि० प्र० । 5 तद्विवक्षितकारणत्वेऽनभिमतस्यायोग्यस्य कार्यकालं यावत्स्वरूपं प्राप्नुवतः सर्वस्य वस्तुनः विवक्षितकारणत्वं प्रसजति—यथा पटकार्ये विवक्षितेऽभिमतकारणं तन्तवोऽनभिमतकारणं तत्समीपस्थो गर्दभादिः । दि० प्र० । 6 तेषां सौगतानां मते कार्यकारणयोरेकान्तेनैव पृथक्त्वे सति कार्यावसरं प्रत्यात्मानं स्वरूपमप्राप्नुवतो वस्तुनः कारणत्वं न संभवति । तत्तयोः कार्यकारणयोरधटनात् । संतति कुतः न कुतोऽपीत्युक्तं स्याद्वादिना । दि० प्र० । 7 विवक्षितकार्यं । व्या० प्र० । 8 कार्यकालसत्त्वाविशेषात् । व्या० प्र० ।

सद्द्रव्यादिरूपेण ¹प्राक्कार्यकाले च सतस्तत्कार्यस्योत्पत्तौ खरादिमस्तके विषाणादेरुत्पत्तिः किन्न स्यात् ? गवादिशिरसीव तत्रापि तस्य विषाणाद्याकारतया प्रागसत्त्वस्य सद्द्रव्यादिरूप-तया सत्त्वस्य चाविशेषात् । ²तदुत्पत्तिकारणस्य दृष्टस्यादृष्टस्य³ चाभावात् तत्र न तस्यो-त्पत्तिरिति वचने परेषामपि ⁴प्रागसत्त्वैकान्ताविशेषेपि कार्यस्य पूर्वं सति कारणे जन्म नास-तीति न किञ्चिदतिप्रसज्यते⁵, तदन्वयव्यतिरेकानुविधाननिबन्धनत्वात् तत्कारणत्वस्य । न च ⁶निरन्वयक्षणिकत्वेपि कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानमसंभाव्यं, स्वकाले सति कारणे कार्यस्योत्पत्तेरसत्यनुत्पत्तेः प्रतीयमानत्वात् ⁷स्वदेशापेक्षान्वयव्यतिरेकवत्⁸ । तदुक्तम्

“अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोऽनुवर्तकः । स्वभावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नान्न संभवः”⁹

उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, तब तो गधे आदि के मस्तक पर सींग आदि कार्यों की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती है ? क्योंकि गौ आदि के शिर पर होने वाले सींग के समान उस गधे आदि के मस्तक पर भी उस मस्तक के अवयव लक्षण जो कारण हैं वे विषाण आदि आकार से असत् रूप हैं फिर भी सद्द्रव्य आदि रूप से सत् रूप हैं । यह बात दोनों जगह एक समान हैं । यदि आप जैन ऐसा कहें कि उस सींग की उत्पत्ति के कारणरूप दृष्टप्रत्यक्ष एवं अदृष्ट—भाग्य आदि कारणों का अभाव है अतः उन गधे आदिकों के मस्तक पर सींग आदि उत्पन्न नहीं हो सकते । तब तो हम सींगों के यहाँ भी प्रागसत्—पहले असत् रूप एकांत के समान होने पर भी कार्य के पहले कारण के होने पर कार्य का जन्म होता है तथा कारण के न होने पर नहीं होता है अतएव अतिप्रसंग दोष नहीं आता है क्योंकि प्रत्येक विवक्षित कार्य अपने कारण के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध रखते हैं । निरन्वय क्षणिक में भी कार्य का कारण के साथ अन्वय व्यतिरेक असंभव है ऐसा भी आप नहीं कह सकते हैं क्योंकि अपने काल में कारण होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है एवं कारण के नहीं होने पर नहीं होती है ऐसा प्रतीति में देखा जाता है । जैसे कि स्वदेश की अपेक्षा कारण और कार्य में अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है । कहा भी है—

इत्योकार्थं—अन्वय और व्यतिरेक से जो कार्य स्वभाव जिस कारण का अनुवर्तक देखा जाता है । वह कारणभूत स्वभाव उस कार्य स्वभाव का हेतु है क्योंकि उस कारण स्वभाव से भिन्न अकारण से कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है ।

1 सतः कार्यस्य । व्या० प्र० । 2 खरमस्तके तस्य शृङ्गस्य । दि० प्र० । 3 दृष्टस्य खरादिशिरसः विषाणो-त्पादकत्वेनादृष्टत्वादेवं तत्कारणं न भवतीति अतएव दृष्टकारणं न भवतीत्यर्थः । दि० प्र० । 4 प्रागभावाका-न्तपक्षेऽपि । दि० प्र० । 5 विवक्षितकारणम् । व्या० प्र० । 6 कारणस्य । दि० प्र० । 7 स्वदेशे सति कारणे कार्यस्योत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् । दि० प्र० । 8 स्वकाल एव कारणं तस्मिन्सति कार्यस्योत्पत्तिर्घटते । असति कार्यस्योत्पत्तिर्न घटते । यथा स्वदेशे घटते अरवदेशे न घटते कार्यस्योत्पत्तिः । दि० प्र० । 9 ऐक्यात्कार्यस्य संभवो न । दि० प्र० ।

इति । ततोऽव्यभिचारेण कार्यकारणभूता एवापरामृष्टभेदाः क्षणाः संतानो युक्तः । इति कश्चित्

[अधुना बौद्धाभिमतसन्तानलक्षणं जैनाचार्या निराकुर्वन्ति ।]

सोपि न प्रतीत्यनुसारी, तथा बुद्धेतरचित्तानामप्येकसंतानत्वप्रसङ्गात् तेषामव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषात् । 'निराश्रवचित्तोत्पादात्पूर्व'² बुद्धचित्तस्यापि 'संतानान्तरचित्त-कारणत्वाभावात्'⁴ तेषामव्यभिचारी कार्यकारणभाव इति चेन्न, यतः⁵ प्रभृति तेषां⁶ कार्य-

इसीलिये अव्यभिचाररूप से अपरामृष्ट भेद वाले (एक दूसरे का स्पर्श न करने वाले) कार्य-कारण क्षण ही सन्तान हैं ऐसी मान्यता युक्तियुक्त सिद्ध हो गई ।

[बौद्धाभिमत सन्तान की मान्यता का जैनाचार्य खण्डन करते हैं ।]

जैन—इस प्रकार से कहने वाले आप बौद्ध भी प्रतीति का अनुसरण करने वाले नहीं हैं क्योंकि उस प्रकार अव्यभिचाररूप से कार्य कारणों में एक सन्तानरूप कथन से तो बुद्ध और बौद्ध के चित्त क्षणों में भी एक संतानत्व का प्रसंग प्राप्त हो जाता है अर्थात् बौद्धों के चित्त क्षण—ज्ञान पर्याय से सुगतचित्त उत्पन्न होता है क्योंकि वह उससे उत्पन्न होने वाला है इसलिये उसमें कार्य कारण भाव ही जावे क्योंकि बौद्धचित्त तो कारण है और बुद्ध चित्त कार्य है क्योंकि उन बुद्ध और बौद्ध के चित्तक्षणों में अव्यभिचाररूप से कार्य कारणपना समान ही है ।

बौद्ध—निराश्रव चित्त के उत्पन्न होने के पहले कार्यरूप बुद्ध चित्त में भी संतानांतर चित्त के कारणपने का अभाव है अर्थात् बौद्धचित्त से उत्पन्न हुआ बुद्ध चित्त यदि बौद्धचित्त को विषय नहीं करता है तब तो भिन्न संतान के चित्त कारण नहीं हो सकते हैं इसलिये उनमें अव्यभिचारित रूप कार्य कारण भाव नहीं पाया जाता है ।

जैन—ऐसा नहीं है, क्योंकि जब से लेकर उनमें कार्य कारण भाव है । तभी से उनमें व्यभिचार नहीं आता है अन्यथा बुद्ध के चित्त को असर्वज्ञपने का प्रसंग आ जायेगा ।

अनुकरण न करने वाले अन्वय और व्यतिरेक कारण नहीं हैं क्योंकि "नाकारणं विषयः" जो कारण नहीं है, वह विषय नहीं हो सकता है ऐसा बौद्धों का कथन है अर्थात् ज्ञान का जो कारण है वही ज्ञान का विषय है ऐसी बौद्धों की मान्यता है ।

बौद्ध—जिन चित्त क्षणों में ग्राह्य-ग्राहक भाव के न होने पर भी तो कार्य-कारण भाव अव्यभिचारी है हमने उन्हीं चित्तक्षणों में एक संतानत्व स्वीकार किया है अतः कोई दोष नहीं आता है ।

1 रागद्वेषरहित । दि० प्र० । 2 आश्रवचित्तोत्पादसमये । दि० प्र० । 3 सन्तानान्तरचित्तं कारणं यस्य बुद्धचित्तस्य । दि० प्र० । 4 तदानीं बुद्धस्यासर्वज्ञत्वात्सन्तानान्तरक्षणाविषया न भवेयुः । व्या० प्र० । 5 निराश्रवचित्तावस्थां प्रारंभ्य । दि० प्र० । 6 बुद्धेतरचित्तानाम् । व्या० प्र० ।

कारणभावस्तत्प्रभृतितस्तस्याव्यभिचारादन्यथा¹ बुद्धचित्तस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्² ।³ नाऽनुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं, नाकारणं विषय इति वचनात्⁴ । स्यान्मतं, ⁵येषामग्राह्यग्राहकत्वे सत्यऽव्यभिचारी कार्यकारणभावस्तेषामेकसंतानत्वोपगमात्त्र दोष इति चेत्तदप्ययुक्तं, समनन्तरप्रत्ययेनापि सह बुद्धचित्तस्यैकसंतानतापायप्रसक्तेः⁶, तस्य⁷ बुद्धचित्तेनाग्राह्यत्वे⁸ तस्यासर्ववेदित्वापत्तेः । समनन्तरप्रत्ययस्य समनन्तरत्वादेव बुद्धचित्तेन सहैकसंतानत्वमिति चेत्

जैन—यह कथन भी अयुक्त ही है । समनन्तरप्रत्यय के साथ भी बुद्ध के चित्त में एक संतानत्व के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है अर्थात् कार्यभूत उत्तर ज्ञान क्षण कारणभूत बुद्ध के चित्तक्षण को ग्रहण करता है क्योंकि वह उससे उत्पन्न हुआ है । इसे समनन्तरप्रत्यय कहते हैं ।

उस समनन्तरप्रत्यय को बुद्ध के चित्त से ग्राह्य न मानने पर उस बुद्ध चित्त को असर्वज्ञपने का प्रसंग आ जाता है । मतलब यह है कि बुद्ध चित्त जिस पूर्वक्षण से उत्पन्न हुआ है उसको नहीं जाना अतः उसके न जानने से “सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः” इस प्रकार से सभी जानने वाला सर्वज्ञ नहीं हो सकेगा ।

बौद्ध—पूर्व के ज्ञानक्षणरूप समनन्तरप्रत्यय में समनन्तरपना होने से ही बुद्ध चित्त के साथ एक संतानत्व सिद्ध है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो ब्रताओ ! उसमें समनन्तरपना कैसे है ?

बौद्ध—वह उत्तरचित्त कार्य के प्रति अव्यभिचारी कारण है अतः उसमें समनन्तरपना संभव है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । अन्यथा सभी पदार्थों को उसके समनन्तरत्व का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा अर्थात् बुद्ध चित्त की उत्पत्ति में सभी पदार्थ सामान्यरूप से कारण हैं अतः सभी पदार्थ अपने पूर्व क्षण के समान समनन्तर रूप ही हो जायेंगे क्योंकि बुद्ध का चित्तक्षण सभी को जानता है अतः पदार्थों से ही उसकी उत्पत्ति मान लेना चाहिये ।

1 कार्यकारणभावस्य व्यभिचारी न । दि० प्र० । 2 बुद्धचित्तस्यापि सन्तान्तरचित्तकारणे सर्वज्ञत्वप्रसंगात् इति पा० । दि० प्र० । 3 अनुगतत्वरहितं यदन्वयव्यतिरेकं तत्कारणं न भवति विषयः कार्यमकारणं नयकारणकमेव कार्यः कारणात्कार्यं जायते । दि० प्र० । 4 उपादानोपादेयक्षणानामेवैकसन्तानत्वं ततो बुद्धेतरचित्तक्षणानां न तदिति चेत् न । सजातीयोत्पादादन्यस्योपादानोपादेयभावस्यानिष्टेस्तस्यचात्रापि भावात्सर्वसाक्षात्कारि तद्विपरीतचित्तक्षणयो-विजातीयत्वादानुपादानोपादेयभाव इति चेन्न निराश्रवचित्तोत्पात प्राक्तन समनन्तरचित्तक्षणेन सह निराश्रवचित्त-स्योपादानोपादेयभावप्रसंगात् । दि० प्र० । 5 ज्ञानोत्पत्ती । व्या० प्र० । 6 येषां जनानां चित्तस्य ग्राह्यग्राहकत्वं नास्ति-ज्ञानाभावात् किन्तु संसारिणाम् । दि० प्र० । 7 तत्र ग्राह्यग्राहकत्वेपि एकसन्तानत्वं वर्तते तन्मास्तु । व्या० प्र० । 8 समनन्तरप्रत्ययस्य । दि० प्र० । 9 बुद्धचित्तं तस्य समनन्तरप्रत्ययस्य ग्राहकं न भवति चेत्तदा बुद्धचित्तस्य सर्वज्ञ-त्वमापद्यते । दि० प्र० ।

कुतस्तस्य¹ समनन्तरत्वम् ? तस्याव्यभिचारिकारणत्वादिति² चेन्न, सर्वार्थानां तत्समनन्तरत्वप्रसङ्गात् ।³ एकसंतानत्वे सति कारणत्वादिति चेतसोयमन्योन्यसंश्रयः । सिद्धे समनन्तरप्रत्ययत्वे तस्यैकसंतानत्वेन⁴ कारणत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ⁵ च समनन्तरप्रत्ययत्वसिद्धिरिति ।

[बौद्धस्य जिज्ञासायां स्वाभिमतसन्तानस्य लक्षणं बुवान्तं जैनाचार्याः ।]

स्याद्वादिनां कस्तर्ह्येकः संतान इति चेत् पूर्वापरकालभाविनोरपि⁶ ⁷हेतुफलव्यपदेश-
⁸भाजोरतिशयात्मनोरन्वयः⁹ संतानः । क्वचित्क्षणान्तरे¹⁰ ¹¹नीललोहितादिनिर्भासचित्रक-

बौद्ध—ऐसा नहीं है, क्योंकि एक संतानत्व के होने पर ही कारणपना संभव है अर्थात् एक संतान के होने पर ही वह समनन्तरप्रत्यय उत्तरचित्त के प्रति कारण है ।

जैन—तब तो अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है । समनन्तर प्रत्यय के सिद्ध होने पर उसको एक संतानरूप से कारणपना सिद्ध होगा और एक संतान को कारणपना सिद्ध होने जाने पर समनन्तर प्रत्यय की सिद्धि हो सकेगी ।

[बौद्ध की जिज्ञासा के होने पर स्वाभिमत संतान के लक्षण को जैनाचार्य स्पष्ट करते हैं]

बौद्ध—तो पुनः आप स्याद्वादियों के यहाँ एक संतान क्या है ?

जैन—हमारे यहाँ तो “हेतु और फल कारण, कार्य व्यपदेश को प्राप्त अतिशयात्मक पूर्व अरु उत्तर कालरूप दोनों कालों में रहने वाले अन्वय को “संतान” कहते हैं—क्योंकि किसी क्षणान्तर—चित्रपटादि के चित्रैक संवेदनरूप भिन्न क्षण में नील, लोहित आदि प्रतिभासरूप चित्र के एक ज्ञान के समान अन्वय द्वारा कथंचित् एकत्वरूप होने योग्य है ।” अर्थात् संतान का लक्षण करके संतान के एकत्व को कहते हैं कि “संतान कथंचित् एक ही है क्योंकि चित्रपट आदि के एक चित्रज्ञान में नीले, लाल आदि प्रतिभासरूप एक चित्रज्ञान ही झलकता है ।” यह चित्रज्ञान का उदाहरण साध्य विकल भी नहीं है क्योंकि उस चित्रज्ञान में एकत्व प्रसिद्ध है ।

“उस चित्र के नील पीतादिरूप अवयवों में भेद की कल्पना के करने पर तो चित्रज्ञान ही नहीं बन सकेगा, जैसे पृथक्-पृथक् वर्णों को विषय करने वाले अनेक संतानों में एक क्षण नहीं बनता

1 समनन्तरप्रत्ययस्य । दि० प्र० । 2 समनन्तरप्रत्ययस्याव्यभिचारे कारणत्वात् समनन्तरत्वं घटते इति चेत् स्याद्वाद्याह एवं न—इतरचित्तानां बुद्धचित्तसमनन्तरत्वं प्रसजति यतः । दि० प्र० । 3 सौमतः । दि० प्र० । 4 समनन्तरप्रत्ययस्य । दि० प्र० । 5 तस्य एकसन्तानत्वे कारणत्वस्य सिद्धौ सत्याम् । दि० प्र० । 6 क्षणायाः । व्या० प्र० । 7 कार्यकारणव्यपदेशभाजोः । व्या० प्र० । 8 क्षणयोर्विशेषणमत्र द्रष्टव्यं यथाक्रमं विशेषणत्रयेणैककालयोर्भिन्नसन्तानयोरेकत्र कार्यसहकारीतश्चित्तक्षणयोः कारणयोश्चनिरासः । व्या० प्र० । 9 द्रव्यरूपतया एकत्वम् । व्या० प्र० । 10 कारणकार्यनामयुक्तयोः भिन्नस्वभावयोः । चित्रज्ञानलक्षणे । दि० प्र० । 11 चित्रपटादी आकार वसः । भा । व्या० प्र० ।

‘संवेदनवत्कथंचिदेकत्वमेव’ भवितुमर्हति । न च साध्यविकल^३ चित्रज्ञानमुदाहरणं तस्यै-
कत्वसिद्धेः । तदवयवपृथक्त्वकल्पनायां चित्रनिर्भासो मा भूत् पृथग्वर्णान्तरविषयानेकसंतानै-
कक्षणवत् । तत्र प्रत्यासत्तिविशेषः^४ कथंचिदैक्यात्कोऽपरः स्यात् ?

[प्रत्यासर्त्येकत्वकल्पना भवति इति मन्यमाने प्रत्यासत्ते विचारः क्रियते ।]

देशप्रत्यासत्तेः^५ शीतातपवातादिभिर्यभिचारात्, कालप्रत्यासत्तेरेकसमयवर्तिभिरशेषा-
र्थैरनेकान्तात्, भावप्रत्यासत्तेरेकार्थोद्भूतानेक^६पुरुषज्ञानैरनैकान्तिकत्वाद्^७ द्रव्यप्रत्यासत्तिरेव

है । उन चित्रज्ञान के अवयवों में कथंचित् ऐषय—तादात्म्य को छोड़कर अन्य और प्रत्यासत्ति विशेष क्या होगा ?” अर्थात् बौद्ध का ऐसा कहना है कि उस चित्रज्ञान के अवयवों में प्रत्यासत्ति विशेष होने से चित्र में एकत्व सिद्ध है तब जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि कथंचित्—तादात्म्य को छोड़कर प्रत्यासत्ति विशेष और है ही क्या ? पुनः आगे देश, काल और भाव प्रत्यासत्ति में दूषण दिखाकर द्रव्य प्रत्यासत्ति को तादात्म्यरूप सिद्ध कर रहे हैं ।

[प्रत्यासत्ति से एकत्व की कल्पना होती है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर जैनाचार्य उस प्रत्यासत्ति पर विचार करते हैं]

यदि आप कहें कि देश प्रत्यासत्ति है तो शीत, आतप, वायु आदि से व्यभिचार आ जाता है अर्थात् शीत, वायु, आतप आदि एक देश में पाये जाते हैं अतः इनमें देश प्रत्यासत्ति तो है फिर भी ये भिन्न-भिन्न हैं अतः इनमें एकत्व का अभाव है । यदि काल प्रत्यासत्ति मानों तब तो एक समयवर्ती अशेष पदार्थों से व्यभिचार आ जायेगा अर्थात् एक काल में एक साथ अनेकों पदार्थ रहते हैं फिर भी वे एक नहीं होते हैं । तथा यदि भाव प्रत्यासत्ति कहें तो भी एक पदार्थ से उत्पन्न हुये अनेक पुरुषों के ज्ञान से अनैकान्त दूषण प्राप्त होता है ।

अतएव पारिशेष न्याय से द्रव्य प्रत्यासत्ति ही संभव है और वह एक द्रव्य में तादात्म्य लक्षण है अतः वही प्रत्यासत्ति विशेष है । चित्रज्ञान में द्रव्य की अपेक्षा से कथंचित् तादात्म्य ही “एकत्व” इस व्यवहार का कारण सिद्ध होता है । “अन्यथा यदि आप कहेंगे कि—चित्रज्ञान में कथंचित् ऐक्य का अभाव होने पर भी एकत्व का व्यवहार घटित हो जाता है । तब तो वेद्य, वेदक आकार में भी पृथक्त्वंकांत का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा अर्थात् भेदकांत को मानने पर चित्रज्ञान नहीं बन सकेगा ।” उन वेद्य वेदकाकार में “स्वभाव भेद के होने पर भी सह उपलब्धि के नियम से आप कथंचित् अभेद स्वीकार करेंगे तब तो चित्रज्ञान लक्षण एक संतान के ज्ञानों में समन्तर उपलब्धि के नियम से

- 1 चित्रैकसंवेदने कथञ्चिदेकत्वं यथा तथा । व्या० प्र० । 2 दृष्टान्ते ज्ञानरूपतया दाष्टान्तिके द्रव्यरूपतया । व्या० प्र० । 3 एकत्वम् । व्या० प्र० । 4 आह सीगतः हे स्याद्वादिन् ! चित्रज्ञाने प्रत्यासत्ति विशेषऐक्यम् । इत्युक्ते आह जैनः तत्र कथञ्चिदैक्यादपरः प्रत्यासत्तिविशेषकः स्यादपितु न कोपि तदेवेत्यर्थः । दि० प्र० । 5 एकत्वव्यवहारकारणः नयादेशप्रत्यासत्तिस्तस्या अपि व्यभिचारात् । दि० प्र० । 6 नर्तकीक्षणादि । दि० प्र० । 7 एकनर्तकीक्षणसंजातनानापुरुषज्ञानैर्व्यभिचारोस्ति । देशादिकं चित्रप्रतिभासनबन्धनं नेत्यर्थः । दि० प्र० ।

परिशेषात्¹ संभाव्यते । सा² चैकद्रव्यतादात्म्यलक्षणत्वात्प्रत्यासत्तिविशेषः³ । इति कथंचि-
द्वैक्यमेवैकत्वव्यवहारनिबन्धनं चित्रज्ञानस्य, अन्यथा वेद्यवेदकाकारयोरपि पृथक्त्वैकान्त-
प्रसङ्गात् । तयोः स्वभावभेदेपि⁴ सहोपलम्भनियमात्कथंचिदभेदाभ्युपगमे कथमेकसंतानसंविदां
समनन्तरोपलम्भनियमात्कथंचिद्वैक्यं⁵ न स्यात् ? कालसमनन्तरोपलम्भनियमादेकसंतानत्व-
मेव स्याद्देशसमनन्तरोपलम्भनियमात्⁶ समुदायवत्, न पुनरेकद्रव्यत्वमिति⁷ चेन्न, भवतां
बुद्धेतरसंविदामेकसंतानत्वापत्तेः⁸, कालसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात् पञ्चानामपि च
स्कन्धानामेकस्कन्धत्वप्रसङ्गात्⁹, प्रदेशसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात् । प्रत्यासत्त्यन्तर-
कल्पनायां तत्र यथा प्रत्यासत्त्या संतानः समुदायश्च, तयैव कथंचिद्वैक्यमस्तु¹⁰ । न हि तादृशां

कथंचित् ऐक्य (तादात्म्य) कैसे नहीं होगा ?” अर्थात् चित्रज्ञान में कथंचित् तादात्म्य माने बिना
“यह चित्रज्ञान एक है” ऐसा एकत्व व्यवहार असंभव है ।

बौद्ध—वर्तमान कालरूप समन्तर की उपलब्धि के नियम से चित्रज्ञान क्षणों में एक संतानत्व
ही है । जैसे कि देश समन्तर की उपलब्धि के नियम से समुदाय में एक संतानत्व सिद्ध है किन्तु उन
चित्रज्ञान क्षणों में एक द्रव्यत्व नहीं है अर्थात् आप जैन चित्रज्ञान में द्रव्यत्व की अपेक्षा एकत्व सिद्ध
करते हैं सो हम मानने को तैयार नहीं हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आप बौद्धों के यहाँ बुद्ध और बौद्धों के ज्ञान क्षणों में
एक संतान की आपत्ति आ जायेगी पुनः काल समन्तर (काल की समीपता) की उपलब्धि का नियम
होने से रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार रूप पांचों ही स्कंधों में एक स्कंधत्व का प्रसंग हो
जायेगा क्योंकि उनमें प्रदेश समन्तर (सामीप्य) की उपलब्धि का नियम पाया जाता है अर्थात् वे
पांचों स्कंध पृथक्-पृथक् लक्षण वाले हैं यथा—रूप, रस, गंध और स्पर्श परमाणु रूपस्कंध हैं जो कि
सजातीय-विजातीय से व्यावृत्त एवं परस्पर में असंबद्धरूप है ।

सुख दुःख आदि वेदना स्कंध हैं । सविकल्प निविकल्पज्ञान विज्ञान स्कंध हैं । नामकरण संज्ञा
स्कंध है । ज्ञान और पुण्य-पाप की वासना संस्कार स्कंध हैं । इन सभी का लक्षण भिन्न होने पर भी
प्रदेश की समीपता पाई जाती है, अतएव ये पांचों ही स्कंध एक स्कंधरूप हो जावेंगे यह दूषण आ
जायेगा । यदि आप भिन्न प्रत्यासत्ति की कल्पना करें तब तो “उन ज्ञान के पूर्वोत्तर क्षणों में और एक
देशवर्ती परमाणु एवं स्कंधों में जिस प्रत्यासत्ति से संतान और समुदाय होते हैं उसी प्रत्यासत्ति से

1 जैनः उद्धरितात् द्रव्यप्रत्यासत्तिरेव चित्रज्ञाने कथंचिद्वैक्यं निश्चीयते । दि० प्र० । 2 पूर्वोत्तरक्षणयोः कथंचिद्वै-
क्यम् । दि० प्र० । 3 एकत्वव्यवहारः । दि० प्र० । 4 युगपत्दर्शनात् । दि० प्र० । 5 कालेन प्रत्यासत्त्यासमनन्तर-
स्थोपलम्भनियमस्तस्मात् । व्या० प्र० । 6 वर्तमानलक्षणात् । दि० प्र० । 7 एकद्रव्यत्वमेकसंतानत्वम् न । दि० प्र० ।
8 सामीप्य । दि० प्र० । 9 एकः । दि० प्र० । कुतः । व्या० प्र० । 10 संतानस्य समुदायश्च च । दि० प्र० ।

साधर्म्यमन्यदन्यत्रात्मसाङ्ग्यति¹; येन² कालसमनन्तरोपलम्भनियमभाजामेकसंतानत्व³ व्यव-
तिष्ठते देशसमनन्तरोपलम्भनियमभृतां⁴ चैकस्कन्धाख्यं समुदायत्वं युज्यते⁵, तादृशः साधर्म्य-
स्यैकत्वनिह्वेऽनुपपत्तेः⁶ 7कथंचिदेकत्वशून्यार्थ⁸साधर्म्यस्य⁹ संतानान्तरेषु नानासमुदायेषु च
दर्शनात्¹⁰ । एतेनैकसंतानत्वात् प्रेत्यभावव्यवहारकल्पनमपास्तं कथंचिदेकत्वापह्नवे¹¹ तदयो-
गात् । कथमिह¹² जन्मनो जन्मान्तरेणैकत्वं, विरोधादिति चेन्न, कथंचिदेकत्वे विरोधाभावात् ।
तथा प्रतिभासादेकज्ञाननिर्भासविशेषवत्¹³ । तथा हि । एकज्ञाननिर्भासविशेषाणां मिथः
स्वभावभेदेपि¹⁴ यथैकत्वपरिणामः स्वभावतोऽनंकुशस्तथा¹⁵ प्रेत्यभावादिषु संतानोन्वयः¹⁶
परमार्थैकत्वमात्मसत्त्वजीवदिव्यपदेशभाजनं¹⁷ स्वभावभेदानाक्रम्य¹⁸ स्वामिवदनन्यत्र वर्त-

कथंचित् तादात्म्य भी हो जावे क्या बाधा है ? क्योंकि तादृश—वैसे एक संतान वाले ज्ञान क्षणों में
और परमाणुओं में आत्मसांकर्य को छोड़कर (कथंचित् तादात्म्य के बिना) अन्य कोई साधर्म्य नाम
की चीज नहीं है” जिससे कि काल समनंतर की उपलब्धिरूप नियम वालों में एक संतान की व्यवस्था
सिद्ध हो सके और देश समनंतर की उपलब्धि के नियम वालों में एक स्कंध नाम का समुदाय बन
सके क्योंकि एकत्व का निह्वेव करने पर एक संतान और समुदाय में कारणभूत उस प्रकार का
साधर्म्य बन ही नहीं सकता है । हां ! कथंचित् एकत्व से शून्य अर्थ साधर्म्य तो भिन्न-भिन्न संतानों
में और नाना समुदायों में देखा जाता है । इसी कथन से “एक संतानपना होने से परलोक के
व्यवहार की कल्पना होती है” इस कल्पना का भी खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये क्योंकि
कथंचित् एकत्व का निह्वेव करने पर परलोक का अभाव ही हो जाता है ।

बौद्ध—इस लोक में वर्तमान जन्म का जन्मान्तर के साथ एकत्व कैसे हो सकता है ? क्योंकि
विरोध आता है ।

जैन—नहीं, कथंचित् एकत्व के मानने पर विरोध का अभाव है क्योंकि कथंचित् एकत्वरूप
से प्रतिभास देखा जाता है एक चित्रज्ञान के प्रतिभास विशेष के समान । तथाहि “एक चित्रज्ञान के
प्रतिभास विशेषों में परस्पर में स्वभाव भेद होने पर भी जिस प्रकार से स्वभाव से एकत्व परिणाम
अनंकुश है । उसी प्रकार से प्रेत्यभाव—परलोक सुख आदिकों में जो अन्वयरूप संतान है वह परमार्थ

- 1 स्वरूप । व्या० प्र० । 2 अनाक्षेपे । व्या० प्र० । 3 ज्ञानक्षणानाम् । व्या० प्र० । 4 परमाणूनाम् । व्या० प्र० ।
5 येन तत्स्वरूपैकत्वं भवितुमर्हति । व्या० प्र० । 6 अनुपपत्तिं दर्शयति । व्या० प्र० । 7 एकत्वनिह्वेपि तादृशस्य ।
व्या० प्र० । 8 यसः । तासः । व्या० प्र० । 9 क्षणिकत्वादिति बंधनस्य । व्या० प्र० । 10 तेषामप्येकसंतान-
त्वमेकसमुदायत्वञ्च भवतु । व्या० प्र० । 11 तस्य प्रेत्यभावस्यासंभवात् । दि० प्र० । 12 इह जन्म विद्यते यस्य स
इह जन्म तस्येह जन्मनः जन्तोः जन्मान्तरेण सहैकत्वं कथं न कथमपि कस्माद्विरोधसंभवात् इत्युक्तं सीगतेन ।
दि० प्र० । 13 पूर्वापरजन्मनोः । व्या० प्र० । 14 स्वरूपभेदेपि । व्या० प्र० । 15 निर्बाधः । व्या० प्र० ।
16 कोर्थः । कर्मपदम् । व्या० प्र० । 17 प्राणि । व्या० प्र० । 18 व्याप्य । स्वीकृत्य । दि० प्र० ।

यति । न पुनरन्यत्र जीवान्तरे ¹तेषामशक्यविवेचनत्वाद्विरोध²वैयधिकरण्यादीनामेकज्ञान-
निर्भासविशेषरपाकरणान्निरंकुशत्वसिद्धेः³—

पृथक्त्वैकान्तपक्षे दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः—

सदात्मना⁴ च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् ⁵द्विधाप्यसत् ।

ज्ञानाभावे⁶ कथं ज्ञेयं ⁷बहिरन्तश्च⁸ ते ⁹द्विषाम् ॥३०॥

सदात्मना सत्सामान्यात्मना भिन्नमेव ज्ञानं ज्ञेयादिति चेद्विधाप्यसदेव प्राप्तं ज्ञानस्यासत्त्वे

से एकत्वरूप आत्मा, सत्त्व, जीव आदि नामों को प्राप्त करने वाला है । वह स्वामी के समान स्वभाव भेदों का उलंघन करके आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता है अर्थात् स्वभाव भेदों को आत्मा में ही कराता है” किन्तु अन्यत्र—भिन्न जीवादिकों में वह अन्वय नहीं बन सकता है क्योंकि उनका विवेचन करना अशक्य है । इसी प्रकार से एक चित्रज्ञान के प्रतिभास विशेषों के द्वारा विरोध, वैयधिकरण्य आदि दोषों का निराकरण कर दिया गया है ।

अतएव पूर्वोक्त संतान, समुदाय, साधर्म्य, प्रेत्यभाव आदि की निरंकुशरूप से सिद्धि देखी जाती है । पुनरपि आचार्य पृथक्त्वैकांत पक्ष में अन्य प्रकार से दूषण को दिखाते हुये कहते हैं—

ज्ञान यदी निज ज्ञेय वस्तु से, सत्स्वरूप से भिन्न कहा ।

तत्र तो ज्ञान-ज्ञेय दोनों का, भी अस्तित्व समाप्त हुआ ॥

प्रभो ! ज्ञान के अभाव होने-से बाह्याभ्यंतर सब ज्ञेय ।

कैसे होंगे सिद्ध ! कहां फिर तवमत विद्वेषी के भेय ॥३०॥

कारिकार्थ—यदि सत् रूप से भी ज्ञान ज्ञेय से भिन्न माना जाये तब तो ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही असत् रूप हो जायेंगे क्योंकि हे भगवन् ! आपके द्वेषो सर्वथैकांतवादियों के यहाँ ज्ञान के अभाव में बहिस्तत्त्वरूप तथा अन्तस्तत्त्वरूप ज्ञेय—पदार्थों की सिद्धि भी कैसे हो सकेगी ? ॥३०॥

सदात्मना—“सर्व सत्” इस प्रकार यदि सत्सामान्य से ज्ञेय से ज्ञान सर्वथा भिन्न ही माना जाये तब तो ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही इस प्रकार से असत् रूप ही प्राप्त होते हैं क्योंकि ज्ञान का असत्त्व मानने पर ज्ञेय के भी असत्त्व का प्रसंग प्राप्त होता है ।

1 तेषां सन्तानादीनां स्वभावभेदानां पृथक्कर्तुमशक्यत्वात् । सन्तानात्सकाशात् । दि० प्र० । 2 दोषाणाम् । दि० प्र० । 3 स्वस्मिन्नेव वत्तत इति कुतः इत्याशंकायामाह । व्या० प्र० । 4 सदात्मना सत् सामान्यात्मना भिन्नमेव ज्ञानं ज्ञेयादिति चेत् । दि० प्र० । 5 तदाज्ञानाभावे सति । दि० प्र० । 6 ज्ञानं सद् ज्ञेयं सदितिस्वरूपेण भिन्नं न भवेत् । ज्ञानज्ञेयप्रकारेण । दि० प्र० । 7 घटादिमुखादि । दि० प्र० । 8 अहंतः । दि० प्र० । 9 जैनमतद्वेषिणाम् । दि० प्र० ।

ज्ञेयस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । ततो^१ बहिरन्तश्च न किञ्चित्कथंचिदपि ज्ञेयं नाम त्वद्द्विषां प्रतीयेत ।

[ज्ञानं ज्ञेयात् सद्रूपेणापि भिन्नमिति विज्ञानाद्वैतवादिना मन्यमाने विचारः प्रवर्तते जैनाचार्याणाम् ।]

ननु^२ सद्विशेषाद् भेदेपि ज्ञानस्य ज्ञेयान्नासत्त्वप्रसक्तिः । सदन्तरत्वं तु न स्यात् पटान्तराद्भेदेपि पटस्य पटान्तरत्वाभाववत् । सत्सामान्यं पुनः सर्वेषु सद्विशेषेष्वसत्त्वव्यावृत्तिमात्रम् । न च तदात्मना कस्यचित्कुतश्चिद्भेदोऽभेदो वा^३ विचार्यते तस्य वस्तुनिष्ठत्वात्^४ सन्मात्रस्य चावस्तुत्वात्^५ । तदात्मना व्यावृत्तस्य ज्ञानस्य ज्ञेयात्परमार्थसत्त्वाविरोधान्न कश्चिदुपालम्भ इति चेन्न, सत्सामान्यस्याभावे सांवृतत्वे वा सद्विशेषाणामभावप्रसङ्गात् सांवृतत्वापत्तेश्च

इसलिये हे भगवन् ! आपके द्वेषी एकांतवादियों के यहाँ बहिस्तत्त्व-अंतस्तत्त्वरूप कोई भी ज्ञेय पदार्थ किसी प्रकार से प्रतीति में नहीं आ सकता है ।

[विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान को ज्ञेय से सत् रूप से भी भिन्न मानते हैं उस पर विचार ।]

योगाचार—सद्विशेष से ज्ञान में ज्ञेय से भेद होने पर भी असत्त्व का प्रसंग नहीं आता है किन्तु सदन्तरत्व भी नहीं होगा जैसे पदांतर से भेद होने पर भी भिन्न पट में पटांतरत्व का अभाव है—अर्थात् एक ज्ञानरूप सत् से भिन्न सत् प्रमेयरूप है वह भिन्न सत् सदंतर कहलाता है उसका भावरूप तत्त्व प्रमेयत्व कहलाता है । वह प्रमेयत्व ज्ञान में नहीं होगा । जैसे कि पटांतर—घटादि से भेद के होने पर भी पट में पटांतरत्व (घट) का अभाव पाया जाता है, पुनः सभी सद्विशेषों में (क्षणिकों में) वह सामान्य असत्त्व की व्यावृत्ति मात्र ही है अर्थात् बौद्ध मत में असत् की व्यावृत्ति मात्र को ही सत् कहते हैं । सत्सामान्यरूप किसी ज्ञान में किसी ज्ञेय से भेद है या अभेद ? ऐसा विचार भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह विचार वस्तुनिष्ठ है और सन्मात्र तो अवस्तुभूत है । सत्सामान्यरूप से व्यावृत्त ज्ञान में ज्ञेय से परमार्थ सत्त्व क्षणिकपने का विरोध नहीं है अतएव ज्ञान ज्ञेय से भिन्न होने से दोनों ही असत् रूप हो जायेंगे, ऐसी उलाहना आप जैनी हमें नहीं दे सकते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार से चैतन्यस्वरूप की अपेक्षा ज्ञान ज्ञेय से सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार वह अपने अस्तित्व को लेकर भी ज्ञेय से भिन्न है । इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों अपने-अपने स्वरूप से परस्पर में सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं अतएव पृथक्त्वेकांत पक्ष ही सिद्ध होता है ।

1 यत एवम् । दि० प्र० । 2 ननु हे स्याद्वादिन् सद्विशेषस्वरूपात् ज्ञेयात् ज्ञानस्य भेदेपि सत्यसत्त्वं नास्ति । तथा ज्ञानस्य सदंतरत्वं ज्ञेयस्वञ्च नास्ति यथा पटस्य पटान्तराद् घटादेर्भेदेपि पटान्तरत्वं घटादित्वं नास्ति = स्याद्वादी आह हे सौगत ! भवन्मते सत्सामान्य किमिति प्रश्ने ब्रूते । सर्वेषु सद्विशेषु असत्त्वव्यावृत्तिलक्षणं सत्सामान्यम् । दि० प्र० । 3 भणति क्रमोपभेदस्यानंगीकरणात् । दि० प्र० । 4 सद्विशेषेष्वसत्त्वव्यावृत्तिमात्रस्य सत्सामान्यस्य वस्तुत्वं घटते । स्याद्वाद्युपगत-यान्वयरूपस्य सन्मात्रस्यावस्तुत्वं घटते । सद्विशेषस्य वस्त्वाश्रयत्वात् । दि० प्र० । 5 सत्सामान्यात्मना । असत्त्वव्यावृत्तिमात्रेण सत्सामान्यात्मना कृत्वा ज्ञेयात् व्यावृत्तस्य भिन्नस्य ज्ञानस्य विशेषसत्त्वं न विरुद्ध्यते । एवमस्माकं सौगतानां कश्चिद्दोषो नास्ति । दि० प्र० ।

तदसत्त्वव्यावृत्तेरपि वस्तुस्वभावत्वादन्यथा खरविषाणादावपि¹ तदनुषङ्गात् । तथा हि । ज्ञानज्ञेययोरसद्व्यावृत्तिर्वास्तवी² सद्विशेषत्वात् । यस्य तु न सा³ वास्तवी स न सद्विशेषो यथा बन्ध्यासुतः । सद्विशेषौ च ज्ञानज्ञेये । इति केवलव्यतिरेकी हेतुः । तथा यत्रासद्व्यावृत्तिर्वास्तवी तत्र सत्सामान्यं वस्तु, सत्सामान्यरहितेषु बन्ध्यासुतादिष्वसद्व्यावृत्तेरवास्तवत्वात्, इति⁴ वास्तवसत्सामान्यात्मना ज्ञानस्य ज्ञेयाद्भेदे सद्विशेषात्मनापि भेदः स्यात् । तथा⁵ च ज्ञानमसत् प्राप्तम् । तदनिच्छतां विषयिणो विषयात्कथंचित्स्वभावभेदेपि सदाद्यात्मना तादात्म्यं⁶ बोधाकारस्येव विषयाकाराद्, विशेषाभावात्⁷ । अन्यथा ज्ञानमवस्त्वेव⁸ खपुष्पवत् । तदभावे बहिरन्तर्था ज्ञेयमेव न स्यात्, तदपेक्षत्वात् तस्य । ततः श्रेयानयमुपलम्भः पृथक्त्वैकान्तवाचां ताथागतानां वैशेषिकवत् ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्सामान्य के अभाव में अथवा उसे संवृतिरूप मानने पर सद्विशेषक्षणिकरूप घटपटादिकों के अभाव का प्रसंग आ जायेगा । अथवा घट, पटादि विशेष पदार्थ भी संवृतिरूप ही हो जायेंगे । उन सद्विशेषों में असत्त्व की व्यावृत्ति के होने पर भी वे वस्तु स्वभाव ही हैं अन्यथा अखरविषाण से व्यावृत्त खरविषाणादि में भी सत्त्व का प्रसंग हो जायेगा । तथाहि—“अज्ञान से व्यावृत्त—ज्ञान और अज्ञेय से व्यावृत्त ज्ञेय में असत् की व्यावृत्ति वास्तविक है क्योंकि सद्विशेष है । जिनमें वह वास्तविक नहीं है वे सद्विशेष भी नहीं हैं जैसे बन्ध्या का पुत्र, और ज्ञान ज्ञेय, सद्विशेष हैं ।” इस प्रकार से यह केवल व्यतिरेकी हेतु है ।

उसी प्रकार से जिस ज्ञान और ज्ञेय में असत् की व्यावृत्ति वास्तविक है उसी में सत्सामान्य वास्तविक है । सत्सामान्य से रहित बन्ध्या सुतादि में असत् व्यावृत्ति अवास्तविक है । इस प्रकार से वास्तविक सत्सामान्यरूप से ज्ञेय से ज्ञान में भेद के स्वीकार करने पर उसमें सत्विशेषरूप से भी भेद हो जायेगा और उस प्रकार से ज्ञान असत् हो जायेगा ।

ज्ञान को असत् रूप स्वीकार न करते हुये “विषयी—ज्ञान में विषय से कथंचित्—“ग्राह्यग्राहकरूप से” स्वभाव भेद होने पर भी सत् आदिरूप से तादात्म्य है, जैसे कि बोधाकार में विषयाकार से भेद होने पर भी सत् आदिरूप से तादात्म्य है क्योंकि दोनों में अंतर का अभाव है । अन्यथा—यदि सत् आदिरूप से भी तादात्म्य नहीं मानों तब तो ज्ञान आकाशकमल के समान अवस्तु ही हो जायेगा । पुनः उस ज्ञान के अभाव में बहिरंग अथवा अंतरंग ज्ञेयरूप पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे क्योंकि वे ज्ञेय ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं ।”

अतएव वैशेषिक के समान पृथक्त्वैकान्तवादी बौद्धों के प्रति “ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही असत् हो जायेंगे” यह उलाहना श्रेयस्कर ही है ।

1 सत्सामान्यखरविषाणयोरविशेषोऽवस्तुत्वात् । व्या० प्र० । 2 वस्तुभूता । दि० प्र० । 3 ज्ञानज्ञेययोरसद्व्यावृत्तिलक्षणं । दि० प्र० । 4 वस्तुभूत । दि० प्र० । 5 तथा सति किमायातं ज्ञानमासज्जातम् । दि० प्र० । 6 एषितव्यम् । व्या० प्र० । 7 दृष्टान्ते तादात्म्यमन्यत्रातादात्म्यं भवतीति यो विशेषः । व्या० प्र० । 8 असदेव । व्या० प्र० ।

बौद्धाभिमत पृथक्त्वकांत के खंडन का सारांश

बौद्ध—हमारे यहाँ बहिरंग एवं अंतरंग परमाणु सजातीय, विजातीय से व्यावृत्त, निरन्वय विनश्वर ही हैं अर्थात् सभी ज्ञानपरमाणु, बाह्यपदार्थ अणु-अणु रूप से पृथक्-पृथक् ही हैं किन्तु उनका भेद दिखता नहीं है। “अपरामृष्ट भेदाः कार्य कारण क्षणा एवं सन्तानः” परस्पर में भिन्न कार्य-कारण के क्षण ही सन्तान हैं। वह एकत्व का लोप करने में भी सुघटित है। यदि कारण को कार्य स्पर्श करता है तब तो घट के लिये मिट्टी दण्डादि कारण इष्ट है तथैव उस समय गधे, कुंभकार की पत्नी आदि भी वहाँ कार्य काल में मौजूद हैं वे भी कारण हो जावें अतः कारण कार्य के समय नहीं हैं निरन्वय नष्ट हो गया फिर भी निरन्वय क्षणिक में भी कार्य का कारण के साथ अन्वय व्यतिरेक मौजूद है।

जनाचार्य—यदि ऐसे भिन्न-भिन्न कार्यकारण क्षण को एक संतान कहोगे तब तो बौद्धों के चित्त क्षण ज्ञान पर्याय से बुद्ध का ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसमें भी कार्यकारण भाव है अतः उन्हें भी एक संतान मानो। यदि आप कहें कि उन बौद्ध और बुद्ध के ज्ञान में कार्यकारण का अन्वय व्यतिरेक नहीं है सो ठीक नहीं क्योंकि “नाकारणं विषयः” जो ज्ञान का कारण है वही ज्ञान का विषय है, जो कारण नहीं वह विषय भी नहीं है। बौद्ध के ज्ञान से उत्पन्न हुआ बुद्ध का ज्ञान यदि उनको विषय न करे तो वह बुद्ध असर्वज्ञ बन जायेगा किन्तु बुद्ध चित्त की उत्पत्ति में सभी पदार्थ सामान्यरूप से कारण हैं अतः सभी पदार्थ अपने पूर्वक्षण के समान समनंतररूप हैं। हम स्याद्वादियों ने तो “कार्यकारणरूप को प्राप्त अतिशयात्मक पूर्व और उत्तर दोनों कालों में रहने वाले अन्वय को संतान कहा है। जैसे कि आप के यहाँ चित्रज्ञान में नील-पीतादि भेद होने पर भी ज्ञानरूप से एक चित्रज्ञान माना गया है।

इस पर यदि चित्राद्वैतवादी कहे कि चित्रज्ञान के अवयवों में प्रत्यासत्ति विशेष होने से चित्र में एकत्व है, तब तो “कथंचित् तादात्म्य को छोड़कर अन्य देश, काल, भाव प्रत्यासत्ति संभव नहीं है अन्यथा एक ही देश, काल में वायु, आतप मौजूद हैं वे भी एक हो जायेंगे और द्रव्य प्रत्यासत्ति से तो कथंचित् तादात्म्य ही कहा जाता है।

यदि आप भिन्न-भिन्न कार्यकारणों को ही संतान कहेंगे तब तो आपके यहाँ मृत के पिंडरूप कारण से घट कार्य सर्वथा भिन्न रहने के सदृश जीव का प्रेत्यभाव—परलोक गमन का ही अभाव हो जायेगा क्योंकि कथंचित् एकत्व के न मानने पर वर्तमान जन्म से जन्मांतर में एकत्व कैसे रहेगा ?

इस प्रकार से तो सर्वथा एकत्व का लोप करने पर प्रमाण से प्रसिद्ध जीव द्रव्य की अन्वय-रूप सन्तान का अभाव हो जायेगा। स्कंधरूप अवयवों में एकत्व न होने से समुदाय नहीं बनेगा। सदृश परिणामरूप एकत्व को न मानने से साधर्म्य भी नहीं बनेगा। उभय जन्म में अन्वयरूप एक आत्मा को न मानने से परलोक गमन नहीं होगा तथैव एकत्व के बिना स्मृति के न होने से दत्त ग्रह—देकर वस्तु वापस लेना ही नहीं सिद्ध होगा, किन्तु ये सब अस्खलितरूप प्रमाण से सिद्ध हैं अतः पृथक्त्वैकांत सिद्ध नहीं होता है।

बौद्ध के यहाँ एक भेदरूप विज्ञानाद्वैतवादी कहता है कि ज्ञान ज्ञेय से सर्वथा भिन्न है अस्तित्व से ही दोनों पृथक्-पृथक् हैं, अतः पृथक्त्वैकांत सिद्ध हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान से ज्ञेय में कथंचित् ग्राह्य-ग्राहकरूप से स्वभाव भेद है, ज्ञान तो ग्राहक है एवं ज्ञेय ग्राह्य है फिर भी अस्तित्व आदिरूप से तादात्म्य है भेद नहीं है। यदि सत् आदिरूप से भी तादात्म्य न मानों तब तो ज्ञान आकाश पुष्प के समान असत् हो जायेगा। पुनः ज्ञान के अभाव में बहिरंग अथवा अन्तरंग ज्ञेय पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे क्योंकि ज्ञेय तो ज्ञान की अपेक्षा से ही ज्ञेय बना है।

सार का सार—बौद्धों ने प्रत्येक कार्य के अणु-अणु को भिन्न माना है एवं कार्य-कारण को भी सर्वथा भिन्न-भिन्न माना है किन्तु यदि प्रत्येक परमाणु हमेशा ही भिन्न है तो घड़े का रूप कैसे दिखेगा ? उसमें पानी कैसे भरा जायेगा ? एवं कारण से कार्य को सर्वथा भिन्न कहने पर मिट्टी के पिंड का सर्वथा नाश होने के बाद घड़ा किससे बना है ? अतः इनकी मान्यता ठीक नहीं है।



किञ्च—

सामान्यार्था गिरोन्येषां^१ विशेषो^२ नाभिलष्यते^३ ।

सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला^४ गिरः^५ ॥३१॥

सामान्यमेवार्थोभिधेयो यासां ताः सामान्यार्था गिरो यतस्ताभिर्विशेषो^६ नाभिलष्यते इत्यन्ये, तेषां मृषैव सकलाः स्वयं सत्यत्वेनाभिमता अपि गिरः स्युः, सामान्यस्य^७ वास्तव-स्याभावात् । कुतः^८ पुनः सामान्यस्यैवाभिधेयत्वमिति चेत्, विशेषाणामशक्यसमयत्वात् । न

हम बौद्धों के यहाँ सामान्य तो है ही परन्तु शब्द से वाच्य होने से वास्तविक नहीं है, ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं—

बौद्धजनों के यहाँ वचन, सामान्य अर्थ को ही कहते ।

है विशेष, वास्तविक स्वलक्षण, वचन उसे नहीं कह सकते ॥

बिना विशेष सामान्य कहाँ है, फिर सामान्य न होने से ।

सारे वचन व्यर्थ अरु झूठे, ही होंगे उनके मत से ॥३१॥

कारिकार्थ—आप बौद्धों के यहाँ वचन सामान्य अर्थ को कहने वाले हैं, उन वचनों के द्वारा विशेष का कथन नहीं किया जा सकता है पुनः आप के यहाँ सामान्य का अभाव होने से संपूर्ण वचन असत्य-मिथ्या ही हैं ॥३१॥

बौद्ध—सामान्य ही है अर्थ—अभिधेय जिनका वे वचन सामान्यार्थक कहलाते हैं क्योंकि वचनों से विशेष का कथन नहीं किया जा सकता है ।

जैन—ऐसी मान्यता में तो आपके यहाँ स्वयं सत्यरूप माने गये भी सभी वचन असत्य ही ठहरते हैं क्योंकि आपने सामान्य को वास्तविक नहीं माना है । फिर भी सामान्य को ही वाच्यत्व कैसे है ?

बौद्ध—“पर्यायरूप विशेषों में समय-संकेत करना अशक्य है” क्योंकि विशेष अनंत हैं अतः उनका संकेत करना शक्य नहीं है अतएव शब्द के द्वारा वे कहे नहीं जा सकते हैं “और जिसमें किसी प्रकार का संकेत नहीं हुआ है, उसका कथन नहीं हो सकता है । विशेष दर्शन के समान उन शब्दों का निर्विकल्प ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है और वह शब्द अर्थ के संनिधान की अपेक्षा नहीं

१ वचनानि । व्या० प्र० । २ स्वलक्षणं रूपं क्षणिकरूपं इत्यर्थः । दि० प्र० । ३ शब्दः । दि० प्र० । ४ असत्याः स्युः । दि० प्र० । ५ सत्यत्वे नास्तित्वा घटपटादिग्राहिकाः । दि० प्र० । ६ गोभिः । दि० प्र० । ७ यतः सीगतमते अन्यापोहलक्षणं सामान्यं वस्तुभूतं न भवति । दि० प्र० । ८ सीगतः पृच्छति हे स्याद्वादिन् ! अस्माकं गिरां सामान्यस्याभिधेयत्वं कुतस्त्वयाजातमित्यभिप्रायेण प्रश्नः । दि० प्र० ।

ह्यनन्ता¹ विशेषाः शक्याः संकेतयितुं² ततो नाभिधीयेरन्, असंकेतितानभिधानात्³ । ⁴विशेष-
दर्शनवत्तद्बुद्धा⁵वप्रतिभासनादर्थसन्निधानानपेक्षणाच्च⁶ । न⁷ हि स्वलक्षणे दर्शने यथा
संकेतनिरपेक्षो विशेषः प्रतिभासते तथा शब्दबुद्धावपि, तस्याः स्वलक्षणसन्निधानानपेक्षत्वात्⁸,
तदपेक्षत्वेऽतीतानुत्पन्नादिषु⁹ ¹⁰शब्दबुद्धेरभावप्रसङ्गात्¹¹ ।

रखता है” अर्थात् जैसे विशेष दर्शन में विशेष का प्रतिभास होता है उसी प्रकार से शब्द ज्ञान में विशेष का प्रतिभास नहीं होता है । ये शब्द निर्विकल्पज्ञान में झलकते नहीं हैं और न अर्थ की अपेक्षा ही रखते हैं । जिस प्रकार से स्वलक्षण दर्शन—निर्विकल्प प्रत्यक्ष में संकेतनिरपेक्ष विशेष प्रतिभासित होता है उस प्रकार से शब्दबुद्धि में भी प्रतिभासित होवे ऐसी बात नहीं है क्योंकि वह शब्दबुद्धि स्वलक्षण के सन्निधान की अपेक्षा नहीं रखती है ।

यदि शब्दज्ञान में भी स्वलक्षण की अपेक्षा मानों तब तो अतीत और अनुत्पन्न—अनागत आदि में शब्दबुद्धि के अभाव का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ।

भावार्थ—जिस प्रकार निर्विकल्प ज्ञान में संकेतनिरपेक्ष विशेष स्वलक्षण का प्रतिभास होता है उस तरह उसका प्रतिभास विकल्प ज्ञान में नहीं हो सकता है । कारण कि विकल्प ज्ञान संकेत सापेक्ष है तथा निर्विकल्प ज्ञान स्वलक्षण—अर्थ सन्निधान की अपेक्षा वाला नहीं है । यदि वह उसकी अपेक्षा वाला माना जाये तो अतीत एवं अनागत आदि पदार्थों में सबिकल्पज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है क्योंकि उस समय अतीत एवं अनुत्पन्न अर्थ का सन्निधान नहीं है पुनः शब्द के द्वारा रावण एवं महापद्म आदि कहे ही नहीं जा सकेंगे क्योंकि वे अतीतानुत्पन्न हैं इसलिये शब्द सामान्य को ही विषय करता है ।

1 सौमताभ्युपगताः स्वलक्षणाविशेष अनन्ता ज्ञातुं शक्या नहि यत एवं ततः गीभिः शब्दैः विशेषा न अभिलप्येरन् कोर्यः शब्दाः विशेषान् न प्रतिपादयन्ति । कस्मात् । अनिश्चितस्याप्रतिपादनात् । किञ्चित् निर्विकल्पकदर्शनवत् इत्येको हेतुः । पुनः कस्मात् शब्दज्ञाने अर्था न प्रतिभासन्ते यतः इति द्वितीयो हेतुः पुनः कस्मात् शब्दाः क्षणक्षयिलक्षणार्थसमीपं नाश्रयन्ते यत इति तृतीयो हेतुः । दि० प्र० । 2 निश्चेतुम् । दि० प्र० । 3 विशेषाणाम् । असंकेतिते वस्तुनि अभिधानाभावात् । दि० प्र० । 4 निर्विकल्प । दि० प्र० । 5 शब्दबुद्धौ । शब्दज्ञाने । विशेषस्य । दि० प्र० । 6 अप्रेतनश्च शब्दो दृष्टव्यः । शब्दबुद्धेः । दि० प्र० । 7 शब्दबुद्धावप्रतिभासनं कुत इत्याह । दि० प्र० । 8 अन्यथा शब्दार्थः । दि० प्र० । 9 शब्दबुद्धेः तस्य स्वलक्षणसन्निधानस्यापेक्षत्वे सत्यतीतानागतादिष्वर्थेषु शब्दबुद्धेरभावः प्रसजित यतः । अर्थसन्निधानापेक्षत्वे । दि० प्र० । 10 स्वलक्षणेषु । दि० प्र० । 11 शब्देन सामान्यस्य वाच्यत्वं यदि स्यात् । दि० प्र० ।

[यदि शब्देन वस्तु नोच्येत तर्हि शब्दोच्चारणं व्यर्थमेव ।]

यद्येवं स्वलक्षणमनभिधेयं सामान्यमवस्तूच्यते¹ इति वस्तु नोच्यते इति स्यात् । ततः किं शब्दोच्चारणेन संकेतेन वा ? गोशब्दोपि गां नाभिधत्ते² यथाश्वशब्दस्य । तथा च वस्तुनोनभिधाने³ मौनं यत्किञ्चिद्वा वचनमाचरेत्⁴, विशेषाभावात् । अथास्ति विशेषः । कथं स्वार्थं नाभिदधीत ? मौनाद्यत्किञ्चनवचनाद्वा⁵ यथार्थाभिधानस्य स्वाभिधानं⁶ मुक्त्वा विशेषस्यासंभवात् । न वै परमार्थैकतानत्वादभिधाननियमः⁷, परमार्थैकतानत्वे⁸ शब्दानामनिबन्धना न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिष्विति⁹ वचनात् । किं तूपादानविशेषादित्यपि

[यदि शब्द वस्तु को नहीं कह सकते हैं तब उनका उच्चारण व्यर्थ ही है]

जैन—यदि इस प्रकार से “स्वलक्षण विशेष—अनभिधेय अर्थात् शब्द द्वारा वाच्य नहीं है और सामान्य अवस्तु है । तब तो वस्तु नहीं कही जाती है, ऐसा हो गया । ऐसी स्थिति में शब्द के उच्चारण से अथवा उसका किसी अर्थ में संकेत करने से क्या लाभ है ? क्योंकि जिस प्रकार से अश्व शब्द गोरूप वस्तु का प्रतिपादक नहीं है तथैव गो शब्द भी अपने गाय अर्थ का कहने वाला नहीं है वह अन्य व्यावृत्तिरूप मात्र सामान्य अर्थ का कहने वाला है । उस प्रकार से वस्तु का कथन नहीं होने पर तो मौन ही ले लेना चाहिये, शब्दोच्चारण से क्या प्रयोजन है ? अथवा यत्किञ्चित् भी जो मन में आवे सो बोलते रहना चाहिये क्योंकि मौन रखना या बोलना दोनों ही समान हैं जबकि शब्द अपने अर्थ का कथन ही नहीं करता है ।

यदि आप बौद्ध कहें कि मौन में और शब्दोच्चारण में कुछ अन्तर है । तब बोले गये गो आदि शब्द अपने अर्थ को क्यों नहीं कहते हैं ? बतलाइये !”

मौन से अथवा यत्किञ्चित् वचन प्रयोग से यथार्थ वचन—सच्चे गो शब्दादि में अपने कथन को

1 हे सौगत यदि क्षणक्षयलक्षणं स्वलक्षणमवाविषयं, तर्हि सामान्यमन्यापोहः वस्तुनो भवति । यत एवं ततः शब्दोच्चारणेन किं विकल्पेन किं न किमपि । गौरित्युक्ते गोशब्दः गां न प्रतिपादयति । यथाश्वशब्दः गां न प्रतिपादयति । तथा सति किमायातम् । वस्तुनोऽनभिधाने मौनमेव करणीयं सौगतस्य । यद्वा यदृच्छं प्रलपतु । गवादेः स्वाभिधाने पराभिधाने च विशेषो नास्ति । एवं सौगताभिप्रायं प्रतिपाद्य स्याद्वादी स्वमतं व्यवस्थापयति । हे सौगत विशेषोऽस्ति स विशेषः स्वार्थं कथं न प्रतिपादयति । यथार्थशब्दस्य स्वार्थकथनं मुक्त्वा अन्यो विशेषो नास्ति । गोः शब्दाः गामेव प्रतिपादयति नत्वश्वम् । अश्वशब्दः अश्वमेव प्रतिपादयति न तु गाम् । दि० प्र० । 2 गोः स्वलक्षणम् । दि० प्र० । 3 शब्देन । दि० प्र० । 4 कुर्यात् ब्रूयात् । व्या० प्र० । 5 मौनाद्यत्किञ्चिद्वचनाद्देति जगन्नाथवादिराजाः । दि० प्र० । 6 स्वार्थाभिधानम् इति पा० । निरूपणम् । दि० प्र० । 7 सौगतः प्रतिपादयति । हे स्याद्वादिन् वै स्फुटं शब्दानां नियमात् स्वार्थप्रतिपादननियमो न । नियमे सति शब्दानां प्रवृत्तिरनिबन्धना संकेतनिरपेक्षा स्यात् । केऽवर्थेषु स्वलक्षणेऽपि ‘किं’ विशिष्टेषु समयान्तरभेदिषु इति वचनात् । इति सौगतसिद्धान्तात् । तर्हि शब्दानां स्वार्थप्रतिपादनं कथं हे सौगत उपादानस्य स्ववासनाया विशेषात् । दि० प्र० । 8 सति । दि० प्र० । 9 संकेत । प्रधानेश्वरादिषु । व्या० प्र० ।

वार्तम्, अविकल्पेपि तथैव प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम् “अविकल्पकप्रत्यक्षस्य न परमार्थैकतानत्वान्नियमो¹, द्विचन्द्रादिदर्शनाभावप्रसङ्गात्² किन्तुपादानस्य स्ववासनाविशेषस्य भेदात्” इति । तदेवमनवधारितात्मकं³ वस्तु स्वलक्षणमापनीपद्येत, विकल्पेनेवाविकल्पेनाप्यवधारयितुमशक्तेः⁴ । निर्विकल्पकस्यार्थसंनिधानापेक्षत्वाद्द्वैशद्याच्च परमार्थैकतानत्वमिति⁵ चेन्न, तदनियमात् । तथा हि ।

छोड़कर अन्य विशेष कथन संभव नहीं है अर्थात् अपने यथार्थ अर्थ का प्रतिपादन करना यही तो सत्य शब्द में असत्य शब्द से विशेषता है ।

बौद्ध—“शब्द परमार्थभूत एक विषय का आश्रय लेकर अर्थ का प्रतिपादक है ऐसा नियम नहीं बन सकता है” क्योंकि परमार्थभूत शब्दों को विषय करने वाला मानने पर समयान्तरभेदी—भिन्न-भिन्न मतों में भेद को करने रूप अर्थों में उन ईश्वर, प्रधान, आदि शब्दों की अकारण प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी ऐसा कथन है अर्थात् ईश्वर और प्रधान आदि अर्थ पारमार्थिक नहीं हैं फिर भी उनमें शब्द की प्रवृत्ति पाई जाती है, “किन्तु उपादान विशेष—वासना विशेष से ही शब्दों में नियम देखा जाता है ।”

भावार्थ—मतांतरों में भेद को करने वाले अर्थों में शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसा बौद्धों का कहना अयुक्त है क्योंकि भिन्न-भिन्न मतों में शब्दों की प्रवृत्ति देखी जाती है । वह शब्दप्रवृत्ति उन मतांतरों में कैसे होती है ? ऐसा प्रश्न करने पर बौद्ध कहता है कि वासनाविशेष के निमित्त से शब्दों से ऐसी व्यवस्था बन जाती है । मतलब बौद्ध हर किसी विषय में वासना को आगे कर देता है ।

जैन—“यह कथन भी सारहीन है, पुनः निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी उसी प्रकार वासना विशेष का प्रसंग आ जायेगा ?” हम ऐसा कह सकते हैं कि—“निर्विकल्प प्रत्यक्ष में परमार्थ को विषय करने का नियम नहीं है अन्यथा द्विचन्द्रादि के दर्शन के अभाव का प्रसंग आ जायेगा किन्तु स्ववासना विशेषरूप उपादान में भेद पाया जाता है अर्थात् इसीलिये निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही अर्थ को प्रकाशित करने वाला है ऐसा नियम है । “अतएव उपर्युक्त प्रकार से अनवधारित वस्तु ही स्वलक्षण कहलाती है ।” अन्यथा विकल्प के समान अविकल्प के द्वारा भी वस्तु का अवधारण करना शक्य नहीं हो सकेगा ।

बौद्ध—निर्विकल्प प्रत्यक्ष अर्थ के संनिधान की अपेक्षा नहीं रखता है और विशद है अतएव परमार्थ को विषय करने वाला है किन्तु शब्द वैसा नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी कोई नियम नहीं है अर्थात् यह निर्विकल्पज्ञान अर्थ की अपेक्षा न रखे और स्पष्ट हो यह कोई नियम नहीं है ।

1 सर्वथा प्रत्यक्ष परमार्थमाश्रित्य प्रवृत्तं चेत् । व्या० प्र० । 2 अन्यथा । व्या० प्र० । 3 अनिश्चितस्वरूपं जातम् । स्वरूपम् । दि० प्र० । 4 स्वलक्षणरूपस्य वस्तुनः । दि० प्र० । 5 अन्यवृत्तित्वम् । दि० प्र० ।

[निर्विकल्पज्ञानमर्थसन्निधानमपेक्षत एवास्य निराकरणम् ।]

नावश्यमिन्द्रियज्ञानमर्थसन्निधानमपेक्षते ¹विप्लवाभावप्रसङ्गात् । नापि² विशदात्मकमेव, दूरेपि तथा प्रतिभासप्रसङ्गाद्यथाऽऽरात्³ । न हि आरादेवार्थे निर्विकल्पकमिन्द्रियज्ञानं, न पुन-
दूरे इति शक्यं वक्तुम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाविशेषात् । ⁴दूरार्थेपीन्द्रियज्ञानं विशदा-
त्मकमेव, तत्रावैशद्यस्याशूत्पन्नानन्तरविकल्पेन सहैकत्वाध्यारोपादेव⁵ प्रतीतेरिति चेन्न,
आसन्नार्थेपि तदवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात् । न हि तत्राविकल्पानन्तरं चिराद्विकल्पस्योत्पत्तिः⁶,

[निर्विकल्पज्ञान अवश्य ही अर्थ सन्निधान की अपेक्षा रखता है इसका खण्डन ।]

तथाहि—“इन्द्रियज्ञान अवश्यमेव अर्थ के सन्निधान की अपेक्षा करे ऐसा नहीं है । अन्यथा विप्लव—विभ्रमादि ज्ञान के अभाव का प्रसंग आ जायेगा अर्थात् जैसे द्विचन्द्रादि दर्शन, केशोंडुक ज्ञान आदि हैं वे अर्थ की अपेक्षा से रहित हैं और वह इन्द्रियज्ञान विशदात्मक ही हो ऐसा भी नियम नहीं है क्योंकि दूर में भी उस प्रकार विशद—स्पष्टरूप से प्रतिभास का प्रसंग आ जायेगा । जैसा कि निकट से विशद—स्पष्ट प्रतिभास देखा जाता है ।”

निकटवर्ती पदार्थ में ही इन्द्रियज्ञान निर्विकल्पक हो किन्तु दूरवर्ती अर्थ में न हो ऐसा तो कहना शक्य नहीं है क्योंकि इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक का विधान दूर और निकट दोनों जगह समान है ।

बौद्ध—दूरवर्ती पदार्थ में भी इन्द्रियज्ञान स्पष्ट ही है किन्तु उस इन्द्रियज्ञान में जो अस्पष्टता है वह आशु—शीघ्र उत्पन्न हुये अनन्तरवर्ती विकल्प ज्ञान के साथ (निर्विकल्पज्ञान के अनन्तर उत्पन्न हुए सविकल्प ज्ञान के साथ) एकत्व का अध्यारोप कर लेती है इसीलिये उस निर्विकल्पज्ञान में भी अस्पष्टपने की प्रतीति आने लगती है अर्थात् दूरवर्ती अर्थ में पहले इन्द्रियज्ञान निर्विकल्प रूप से विशद ही होता है किन्तु अनन्तर क्षण में ही शीघ्र विकल्पज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिसका प्रतिभास अविशद है अतः उसके साथ एकत्व का अध्यारोप हो जाने से ही वह दूरवर्ती पदार्थ अविशद—अस्पष्ट दिखाई देने लगते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । इस प्रकार से तो निकटवर्ती पदार्थ में भी उस एकत्व के अध्यारोप से अविशद—अस्पष्ट प्रतीति का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा क्योंकि उस निकटवर्ती अर्थ में निर्विकल्प के

1 सर्वथा । द्विचन्द्रादि । व्या० प्र० । 2 अन्यथा । व्या० प्र० । 3 सामीप्य । व्या० प्र० । 4 सौगतः । दि० प्र० । 5 सौगतो वदति निर्विकल्पकदर्शनं दूरार्थेपि विशदात्मकमेव । तत्र दूरार्थे इन्द्रियज्ञाने तत् क्षणानन्तर-
मेव सविकल्पकज्ञानेन सहैक्याधारोपादवैशद्यं प्रतीयत इति चेन्न । कस्मादासन्नार्थेपि तस्य निर्विकल्पकदर्शनस्या-
वैशद्यप्रतीतिप्रसंगो घटते यतः=तत्रासन्नार्थे निर्विकल्पकदर्शनानन्तरं किञ्चित्कालं विलम्ब्य विकल्पस्योत्पत्तिर्नहि
किन्तु तत् क्षणानन्तरमेवोत्पत्तिः । अन्यथा निकटवर्तित्ति वस्तुनि सविकल्पकं वैशद्यस्य निर्विकल्पदर्शनात् । आशूत्पत्ति-
निबन्धनस्याभावः प्रसजतीति स्ववचनविरोधः । दि० प्र० । 6 अश्वेवविकल्पोत्पत्तिरितिभावः । अन्यथा । दि० प्र० ।

पुरोवर्तिन्यर्थेऽक्षज्ञानजविकल्पवैशद्यस्य तल्लघुवृत्तिनिबन्धनत्वाभावप्रसङ्गात्¹ “विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैवयं² व्यवस्यति³” इति वचनविरोधात्⁴ । यदि पुनरासन्नार्थे निर्विकल्पकस्य बलीय-स्त्वात्तद्वैशद्येनानन्तरविकल्पावैशद्यस्याभिभवाद्द्वैशद्यप्रतिभासो न पुनर्दूरे, विपर्ययादिति मतं तदा⁵ पुरोवर्तिगोदर्शनवैशद्येनावैशद्यस्याभिभूतिप्रसङ्गात्⁶ तत्र वैशद्यप्रतीतिः किन्त्वा

अनंतर चिरकाल के बाद तो सविकल्प की उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु उसमें भी सविकल्प की उत्पत्ति अतिशीघ्र ही हो जाती है अर्थात् विकल्पज्ञान को कुछ पक्षपात तो है नहीं कि दूरवर्ती पदार्थ के बाद वह शीघ्र ही जावे और निकटवर्ती पदार्थ के निर्विकल्प के बाद शीघ्र ही न होकर देर से होवे ।

पुरोवर्ती पदार्थ में इन्द्रियज्ञान से उत्पन्न हुये विकल्प की विशदपने में निर्विकल्प और उससे उत्पन्न हुये सविकल्प इन दोनों में लघुवृत्तिरूप कारण के अभाव का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् सविकल्प और निर्विकल्प में जो युगपत् वृत्ति है वह लघुवृत्ति कहलाती है । अथवा निर्विकल्प के अनंतर ही जो सविकल्प की उत्पत्ति होती है उसे लघुवृत्ति कहते हैं । इन दोनों में लघुवृत्तिरूप कारण नहीं बन सकेगा । तब तो “मूढमनुष्य लघुवृत्ति से उन सविकल्प, निर्विकल्प दोनों ही ज्ञानों में एकत्व का ही निश्चय कर लेता है” यह आप बौद्धों का कथन विरोध को प्राप्त हो जायेगा ।

बौद्ध—आसन्नवर्ती पदार्थ में निर्विकल्पज्ञान बलवान् है अतएव उस निर्विकल्प की विशदता से अनंतरवर्ती विकल्पज्ञान की अविशदता तिरस्कृत हो जाती है—दब जाती है अतः उस अनंतरवर्ती विकल्पज्ञान में भी अविकल्प संबंधी विशदता का ही प्रतिभास होता है किन्तु दूरवर्ती पदार्थ में इससे विपरीत ही प्रतिभास होता है क्योंकि दूरवर्ती पदार्थ में निर्विकल्पज्ञान अबलीय—निर्बल है अर्थात् दूरवर्ती पदार्थ में निर्विकल्पज्ञान की स्पष्टता को अनंतर उत्पन्न हुआ विकल्पज्ञान दबा देता है क्योंकि वहाँ वह बलवान् है ।

जैन—यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो पुरोवर्ती गो के दर्शन की विशदता से अश्व विकल्प की अविशदता के दब जाने का प्रसंग आ जावेगा पुनः उस अश्व—विकल्प में स्पष्टपने की प्रतीति क्यों नहीं हो जायेगी ? अर्थात् किसी ने सामने गाय को देखा और अनंतर क्षण में ही अश्व का विकल्प किया, गो दर्शन का ज्ञान स्पष्ट था उसने अश्व विकल्प के अस्पष्ट ज्ञान को दबा दिया अतः अश्व का ही स्पष्ट अनुभव आना चाहिये ।

1 मनसो युगपद्वृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोरिदमस्य पूर्वार्द्धम् । दि० प्र० । 2 सौम्यतसिद्धान्तः । दि० प्र० । 3 निश्चिनोति । दि० प्र० । 4 स्याद्वादी वदति हे सौम्य यदि पुनः आसन्नार्थे निर्विकल्पकदर्शनं विशदं प्रतिभासते । कस्मात् । आसन्नार्थे बलत्वात् । पुनः कस्मात् । अनन्तरोत्पन्नविकल्पज्ञानावैशद्यस्य निर्विकल्पकदर्शनवैशद्येन कृत्वा तिरस्करणादिति हेतुद्वयम् । पुनः दूरेथे निर्विकल्पकं विशदं न प्रतिभासते । कस्मात् विपर्ययात् । पूर्वोक्तहेतुद्वयाभावादिति तत्र मतं तदाऽश्वमन्वेषयतः पुनः आसन्नस्वगोदर्शनवैशद्येन कृत्वाऽश्वविकल्पावैशद्यस्य तिरस्कारोभवतु तत्र गोदर्शने वैशद्यं । दि० प्र० । 5 स्वमेष्वः स्वमेष्वइति वदन्तः गोदर्शनम् । व्या० प्र० । 6 एवं चेत्ते दर्शनवैशद्येनावैशद्यदर्शनवैशद्यं न स्यात्तथा च सति अयं गौर्न भवतीति वैशद्यं न स्यात् । दि० प्र० ।

स्यात् ? गोदर्शनभिन्नविषयत्वादश्वविकल्पस्य¹ नैवमिति चेन्न, नीलदर्शनविकल्पयोरपि²
³भिन्नविषयत्वात्तद्वैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्⁴ । न हि तयोरभिन्नविषयत्व⁵, स्वलक्षणसामान्ययोस्-
 तद्विषययोर्भेदात् । तत्र दृश्यविकल्पयोरैकत्वाध्यवसायान्नीलविकल्पे वैशद्यप्रतिभास इति चेन्न,
 तत एव दूरेपि वैशद्यप्रतिभासप्रसङ्गात् । स्यान्मतं, प्रत्यासन्नर्थे विकल्प्ये दृश्यस्याध्यारोपाद्वि-
 कल्पवैशद्यं दूरे तु दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपादर्शनावैशद्यं प्रतीयते, कुतश्चिद्विभ्रमात्, इति तद-

बौद्ध—अरे भाई ! गोदर्शन निविकल्प है और अश्वविकल्प तो उससे भिन्न विषयवाला है अतएव ऐसा होना शक्य नहीं है ।

जैन—नहीं, क्योंकि नील दर्शन और नील विकल्प इन दोनों में भी भिन्न विषयता होने से नील दर्शन के स्पष्टता की अप्रतीति का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् नील दर्शन का विषय स्वलक्षणभूत क्षणिक है और नील विकल्प तो स्थिर, स्थूल, घटादि सामान्य है । इन दोनों का भिन्न-भिन्न विषय होने से नील दर्शन की भी स्पष्ट प्रतीति मत मानिये क्योंकि इन दोनों में अभिन्न विषयपना नहीं है । स्वलक्षण और सामान्यरूप से इन दोनों के विषय में भेद माना गया है ।

बौद्ध—उस निकटवर्ती देश में दृश्य—स्वलक्षण और विकल्प्य—सामान्य में एकत्व का अध्यवसाय होने से नील विकल्प में स्पष्ट प्रतिभास होता है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसी एकत्व के अध्यवसाय से ही दूरवर्ती पदार्थ में भी स्पष्ट प्रतिभास का प्रसंग आ जायेगा ।

बौद्ध—प्रत्यासन्न अर्थ जो कि विकल्प्य—विकल्पज्ञान का विषय है उसमें निविकल्पज्ञान के विषयभूत दृश्य का अध्यारोप होने से वह विकल्प भी स्पष्ट है किन्तु दूरवर्ती निविकल्प के विषयभूत दृश्य में विकल्प्य का अध्यारोप होने से प्रत्यक्ष—दर्शन अस्पष्ट है ऐसा प्रतीति में आता है क्योंकि दृश्य और विकल्प्य में सदृशता को विषय करने वाला कोई एक विभ्रम ही ऐसा है ।

जैन—यह कथन भी असार है । अतिदूर में चन्द्र और सूर्य का निविकल्पज्ञान के द्वारा ग्रहण होने पर उसमें भी विकल्प्य का अध्यारोप होने से अस्पष्ट दिखने की प्रतीति का प्रसंग आ जायेगा और चक्षु से अत्यन्त निकटवर्ती हस्त की रेखा आदिकों को देखने वाले विकल्पज्ञान के विषय में निविकल्पज्ञान के विषय का अध्यारोप होने से उसे स्पष्टरूपता का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा अर्थात् लगभग ३५ लाख मील ऊपर अत्यन्त दूरवर्ती सूर्य, चन्द्र, तारे आदि स्पष्ट दिख रहे हैं । हाथ को बिल्कुल आँख के पास लगा देने से अतिनिकट भी हस्तरेखा आदि अस्पष्ट दिखती है, तुम्हारे सिद्धांत से तो इन ज्ञानों में विपरीतता आनी चाहिये ।

बौद्ध—अदृष्ट—भाग्य विशेष के निमित्त से दृश्य और विकल्प्य में एकत्व का अध्यारोप समान होने पर भी किसी निकटवर्ती अर्थ में स्पष्टता और किसी दूरवर्ती पदार्थ में अस्पष्टता प्रतीति के अनुसार ही कही जाती है ।

1 का । वसः । व्या० प्र० । 2 नीलस्वलक्षणे दर्शनं निविकल्पकप्रत्यक्षं विकल्पश्चतयोः । व्या० प्र० । 3 नील-विकल्पस्य । व्या० प्र० । 4 वैशद्यप्रतीतिरस्तु अस्ति च वैशद्यप्रतीतिः । व्या० प्र० । 5 नीलदर्शनविकल्पयोः । दि० प्र० ।

प्यसारं, चन्द्रार्कादावतिदूरे दृश्ये विकल्प्याध्यारोपादवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्, प्रत्यासन्नतरे^१ च चक्षुषः करतलरेखादौ विकल्प्ये दृश्याध्यारोपाद्वैशद्यप्रसङ्गात्^२ । यदि पुनरदृष्टविशेषवशाद्दृश्य-विकल्पयोरेकत्वाध्यारोपाविशेषेपि क्वचिद्वैशद्यमवैशद्यं च यथाप्रतीत्यभिधीयते^३ तदा तत एवेन्द्रियजत्वाविशेषेपि क्वचिद्विशदप्रतिभासोन्यत्रान्यथेति नैकान्तेन दर्शनस्य विशदात्मकत्व-मर्थसन्निधानापेक्षत्वं वा^४ यतः परमार्थैकतानत्वान्नियमः स्यात्, न पुनः शब्दबुद्धिवदुपादान-नियमादिति ।

[त्रिरूपहेतुसूचकं वचनं सत्यं नान्यदिति मान्यतां निराकुर्वन्ति जैनाचार्याः ।]

न शब्दबुद्धेरवस्तुविषयत्वेप्युपादाननियमाद्विशेषः, परार्थानुमानस्य^५ वक्राभिप्रेतसमये

जैन—यदि आप सौगत ऐसा कहें तब तो उसी प्रकार से दूर और आसन्नवर्ती ज्ञानों में इंद्रिय से उत्पन्न होने की समानता होने पर भी किसी आसन्न अर्थ में विशद प्रतिभास है और अन्यत्र दूरवर्ती अर्थ में अन्यथा—अविशद प्रतिभास है इस प्रकार से सर्वथा एकांत से निविकल्प प्रत्यक्ष में स्पष्टरूपता और अर्थ संनिधान की अपेक्षा है ऐसा नहीं कह सकते हैं कि जिससे 'आपका निविकल्प प्रत्यक्ष परमार्थ को विषय करने वाला है' यह अर्थप्रकाशत्व का नियम बन सके, तथा शब्द बुद्धि में उपादान के नियम से वासना के बल से शब्द का नियम है, परमार्थ को विषय करना नहीं है ऐसा कहा जा सके अर्थात् शब्दज्ञान में भी परमार्थ को विषय का विरोध नहीं है ।

भावार्थ—बौद्धों का कहना है कि निविकल्प प्रत्यक्ष ही पारमार्थिक वस्तु को विषय करने वाला है शब्द नहीं । शब्द तो मात्र पूर्ववासना के नियम से अवास्तविक—सामान्य को विषय करता है इत्यादि । इस पर जैनाचार्यों ने उपर्युक्त प्रकार से खण्डन करते हुये शब्द को भी पारमार्थिक वस्तु को विषय करने वाला सिद्ध किया है ।

[त्रिरूप हेतु को कहने वाले वचन सत्य हैं अन्य नहीं, इस मान्यता का जैनाचार्य निराकरण करते हैं ।]

बौद्ध—शब्दज्ञान अवस्तु को विषय करने वाला है ऐसा मानने पर भी वासना के नियम से उसमें विशेष—अन्तर नहीं है । किन्तु वक्ता के इष्ट संकेत के होने पर परार्थानुमान में त्रिरूप हेतु को

1 अतिशयेन प्रत्यासन्ने । व्या० प्र० । 2 स्थूलत्वात् करतलरेखादीनाम् । व्या० प्र० । 3 स्याद्वादी वदति हे सौगत यदि चादृश्यैष्टविशेषवलात् तदाचरणक्षयोपशमादिवशात् दृश्यविकल्पयोर्द्वयोरपि एकत्वाद्ध्यारोपस्याविशेषेपि क्वचित् दृश्ये विकल्पे वा वैशद्यमवैशद्यञ्च प्रतीतिसनतिक्रम्य कथ्यते—तस्मात्केवलं दृश्यं विकल्पञ्च इन्द्रियजातमिति विशेषाभावेपि क्वचिदेकत्र विशदप्रतिभासोऽन्यस्मिन् अन्यथा विशदप्रतिभास इति न—तथा निविकल्पकैर्दर्शनस्य विशदस्वभावोऽर्थसमीपाश्रयत्वं वा परमार्थैकतानत्वात् । न पुनः यथा शब्दबुद्धेः वासनावशात् विशदात्मकत्वमर्थ-सन्निधानापेक्षत्वं वा वदतीति सौगताभ्युपगमे यतः कुतः नियमः स्यात् न कुतोपि । अथाह सौगत इति न । दि० प्र० । 4 विभ्रमाभावप्रसंगात्तत्र सर्वत्र सत्यज्ञानप्रसंगः । व्या० प्र० । 5 सर्वं पक्षः क्षणिकं भवतीति साध्यो धर्मः सत्त्वात् । इत्यादि सौगतविहितं पर प्रबोधनार्थं यदनुमानं तस्य उक्तहेतुद्वयात् । इतरजनवचनात् । गवाश्व घटपट इत्यादिव्य-वहारलक्षणात् सकाशात् विशेषोस्तीति चेन्न स्याद्वाद्यनुमानं रचयति । यथा सांख्यैरभ्युपगतं प्रधानेश्वरादिसाधनं वचनं सत्यं न । दि० प्र० ।

‘त्रिरूपहेतुसूचित्वादिसंवादादितरवचनाद्विशेष^२ इति चेन्न, तथापि क्षणभङ्गादिसाधनवचन-
मन्यद्वा^३ न किञ्चित् सत्यं स्याद्वक्रऽभिप्रेतमात्रसूचित्वात् प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यवत् । न हि
वक्रभिप्रेतमात्रसूचित्वाविशेषेपि क्षणभङ्गादिसाधनं प्रतिपक्षदूषणं वा सत्यं न पुनः प्रधानेश्वरा-
दिसाधनमिति शक्यव्यवस्थं, यतस्तदेव^४ संवादि स्यात्^५, सर्वथा विशेषाभावात् ।

‘सदर्थप्रतिपादनाद्वा^७ न क्षणभङ्गादिसाधनवचनं विपक्षदूषणवचनं वा सत्यं, प्रसिद्धाली-
कवचनवत् । ननु च व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति न व्यवहर्तारः । ते^८ हि^९ दृश्यविकल्प्या-

सूचित करता है । और अविसंवाद रूप होने से इतर वचन से भिन्न है अतः विशेषता है अर्थात् शब्द-
ज्ञान वासना के नियम से विशेष नहीं है किन्तु त्रिरूप हेतु को सूचित करने वाला होने से ही विशेष है ।

जैन—नहीं । उस प्रकार से भी “सर्वं क्षणिकं—सत्त्वात् विद्युदादिवत्” इत्यादि रूप क्षण
भंगादिक को सिद्ध करने वाले साधन वचन अथवा अन्य कोई वचन सत्य नहीं हो सकेंगे । क्योंकि वे
वक्ता के अभिप्रेत मात्र को सूचित करते हैं वास्तव में अर्थ से शून्य हैं । जैसे कि प्रधान, ईश्वर आदि
को सिद्ध करने वाले अनुमान वाक्य सत्य नहीं हैं ।”

वक्ता के अभिप्रेत इष्ट मात्र को सूचित करने की दोनों जगह समानता होने पर भी क्षण
भंगादि को सिद्ध करने वाले वचन अथवा प्रतिपक्ष को दूषित करने वाले वचन सत्य हैं किन्तु प्रधान
और ईश्वर आदि को सिद्ध करने वाले वचन सत्य नहीं हैं, ऐसी व्यवस्था करना शक्य नहीं है कि
जिससे आपका कथन ही संवादी सत्य रूप हो सके क्योंकि दोनों जगह ही सर्वथा विशेषता का अभाव
है अर्थात् दोनों जगह के ही वचन वक्ता के अभिप्राय को सूचित करने वाले हैं ।

“अथवा सत् अर्थ के प्रतिपादन करने वाले न होने से क्षणिकत्व के साधन-वचन या विपक्ष के
दूषणवचन सत्य नहीं हैं, प्रसिद्ध असत्य वचन के समान” अर्थात् जैसे नदी के किनारे लड्डुओं के ढेर
रखे हैं ये वचन असत्यरूप से प्रसिद्ध हैं तथैव सत् रूप अर्थ का प्रतिपादन न करने से आपके द्वारा
मान्य स्वपक्ष साधक परपक्ष दूषक वचन भी असत्य ही है क्योंकि आपका सिद्धांत है कि वचन
वास्तविक अर्थ को नहीं कहते हैं ।

बौद्ध—व्याख्यानकर्ता धर्मकीर्ति आदि आचार्य ही “क्षणविनश्वर आदि वचन सत्य हैं” इस
प्रकार से विवेचन करते हैं किन्तु व्यवहार कर्ता मनुष्य वैसा व्यवहार नहीं करते हैं प्रत्युत वे लोग
दृश्य और विकल्प्य अर्थ को एकरूप करके इच्छानुसार व्यवहार करते हैं । “क्षणिकत्व आदि के साधक

1 साध्याभिधानात्पक्षोक्तिः पारम्पर्येणाप्यलं शक्तस्यसूचकं हेतुवचो शक्तमपि स्वयमिति सौमतः । दि० प्र० । त्रिरूपा-
द्धेतु सूचित्वादिति वा पाठः । दि० प्र० । 2 सत्यात् । दि० प्र० । 3 विपक्षदूषणवचनम् । दि० प्र० । 4 तदेव
क्षणभङ्गादिसाधनं वचनं संवादि सत्यं भवति यतः कुतः न कुतोपि कस्मात् क्षणभङ्गादिसाधने वचने अन्यत्र क्वाभिप्रेत-
सूचित्वेन कृत्वा विशेषो नास्ति यतः । दि० प्र० । 5 नैवस्यात् । दि० प्र० । 6 सत्यार्थः । दि० प्र० । 7 किञ्च ।
दि० प्र० । 8 व्यवहर्तारः । दि० प्र० । 9 स्वतक्षणस्थूले । दि० प्र० ।

वथविकीकृत्य यथेष्टं व्यवहरन्ति । क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा सत्यं¹, न प्रधानेश्वरादि-साधनवाक्यम् । परमार्थतस्तु न किञ्चिद्वचनमवितथम्² । इत्यभ्युपगमेपि³ 4दृश्यविकल्पार्थाकारयोः कथञ्चिदप्यतादात्म्ये⁵ स्वलक्षणं सर्वथानवधारितलक्षणं 6दानादिचेतोधर्मादिक्षणवत्⁷ कथं संशीतिमतिवर्त्तते ? निर्विकल्पकदर्शनात्तदवधारणासंभवात्⁸ विकल्पानां 9चावधास्तुविषयत्वात्¹⁰ । 11सोयमविकल्पेतरराशोरर्थंतरविषयत्वमन्यद्वा¹² स्वांशमात्रावलम्बिना विकल्पा-

वचन अथवा अन्य कुछ भी वचन सत्य हैं । प्रधान और ईश्वर आदि के साधक वचन सत्य नहीं हैं” किन्तु परमार्थ से तो किञ्चित् भी वचन सत्य हैं ही नहीं ।

जैन—ऐसा स्वीकार करने पर भी “दृश्य और विकल्प्य अर्थ के आकार में कथञ्चित् भी तादात्म्य के स्वीकार न करने पर आपके द्वारा मान्य स्वलक्षण सर्वथा अनवधारित-लक्षण वाला है पुनः वह संशय का उलंघन कैसे कर सकेगा ? जैसे कि दानादि चित्त और धर्मादि क्षण में कथञ्चित् एकत्व का अभाव होने पर वे संशय का उलंघन नहीं कर सकते हैं ।”

भावार्थ—स्वलक्षण अनवधारित इसलिये है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा ही वह ग्राह्य है और निर्विकल्पज्ञान से किसी चीज का निश्चय होता नहीं अतः संशय ही बना रहेगा । दान देने का क्षण उसके अनंतर पुण्य बंध का क्षण इन दोनों में एकत्व का अभाव होने से किस दान का क्या धर्म—पुण्य या फल है इसमें संशय ही बना रहेगा ? क्योंकि निर्विकल्प दर्शन से तो स्वलक्षण का अवधारण करना असंभव है और यदि आप कहें कि प्रत्यक्ष के अनंतरभावी विकल्प से स्वलक्षण का अवधारण हो जायेगा । “तब तो विकल्प ज्ञान तो अवधास्तु को विषय करने वाले हैं अर्थात् निर्विकल्प के द्वारा अवधारित निश्चित की गई वस्तु को ही विषय करते हैं ।”

दूसरी बात यह है कि आप सौगत निर्विकल्प और सविकल्प राशि में अर्थ एवं विकल्प्य विषय को अथवा अन्य—विशदात्मक, अविशदात्मक को स्वांशमात्रावलंबी (स्वरूपमात्रग्राही) विकल्पान्तर से

1 सर्वं वचनं सत्यमित्यङ्गीकृतं सौगतेन । दि० प्र० । 2 इति विवेचयन्ति व्याख्यातारः । व्या० प्र० । 3 स्याद्वादी वदति हे सौगत सर्वं वचः सत्यमित्यङ्गीकारेऽपि दृश्यविकल्पार्थाकारयोः कथञ्चित्तादात्म्याभावे स्वलक्षणं विशेषः सर्वथाऽनिश्चितस्वरूपं सत्कथं संशयमतिवर्त्ततेऽपितु नातिवर्त्तते । कोर्थः । स्वलक्षणं संशयमेव किञ्चित् । दानादानोपकारहिंसानुपकारादयश्चेतसि यस्य पुंसः सदानादि चेताः । तस्य धर्माधर्मपदार्था यथा संशयो । दि० प्र० । 4 स्वरूपयोः । दृश्यविकल्पार्थयोराकारो तयोः । दि० प्र० । 5 न किञ्चिद्वचनमवितथमित्युभ्युपगतत्वादेव दृश्यविकल्पाकारयोरतादात्म्यमभ्युपगतं स्यात्तयोस्तादात्म्ये वचनस्य कथञ्चित् दृश्यविषयत्वेनावितथत्वघटनात् । एवं वचनस्यार्था संस्पष्टित्वे विकल्पस्यापि तदेव स्यात् । तथा च वक्ष्यमाणं दूषणं सर्वयुक्तम् । दि० प्र० । 6 यथा दानादिचेतोनवधारितं तथा स्वलक्षणमपि । दि० प्र० । 7 धर्मादिक्षणो यथा संशीति नातिवर्त्तते सर्वथानवधारितलक्षणत्वात्तथा स्वलक्षणमपि । व्या० प्र० । 8 स्वलक्षणस्य निश्चयासंभवात् । दि० प्र० । 9 अवस्तु इति पा० । दि० प्र० । 10 प्रत्यक्षः । दि० प्र० । 11 स्वलक्षण । स्थूलः । दि० प्र० । 12 सोयं सौगतः निर्विकल्पकसविकल्पकराशयोर्द्वयोरर्थानर्थविषयत्वम् । अन्यद्वा विशदाविशदात्मकत्वनिर्वाधबाधस्वरूपत्वं वा आत्मीयनिरंशक्षणमाश्रयिणा विकल्पान्तरेण कृत्वा जानातीति सुपरिवोधप्रज्ञः किमपितु नः कोर्थो सौगतो देवानांप्रियो मूर्खो भवति । दि० प्र० ।

न्तरेण प्रत्येतीति^१ सुपरिबोधप्रज्ञो देवानांप्रियः । न ह्यविकल्पेतरराशयोरर्थानर्थविषयत्वं विशदेतरात्मत्वं वाऽनुपपन्नवेतररूपत्वं वा येन विकल्पान्तरेण प्रत्येति । तद्वस्तुविषयं^२ युक्तं, तस्य^३ विकल्पराशावनर्थविषयेनुप्रवेशात् । स्वत एव विकल्पसंविदां निर्णये स्वलक्षणविषयोपि विकल्पः स्यात् । परतश्चेदेनवस्थानादप्रतिपत्तिः^४ । अतोर्थविकल्पोपि^५ मा भूदित्यन्धकल्पं जगत् स्यात्, स्वयमनिश्चयात्मनो विकल्पादर्थनिश्चयानुपपत्तेः । न चायं परोक्षबुद्धिवादमतिशेते सर्वथार्थचिन्तनोच्छेदाविशेषात् । 'यथैव ह्यप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति तथा

निश्चित करते हैं । इस प्रकार से आप बौद्ध सुपरिबोध प्रज्ञविद्वान् होकर भी देवानांप्रिय—मूर्ख ही हैं ।”

भावार्थ—निविकल्प तो विशद है और पदार्थ को विषय करता है तथा अनुमान अविशद है और सामान्य को विषय करता है । इन दोनों को बनाने वाला जो विकल्पांतर है वह भी अपने ही स्वरूपमात्र को जानने वाला है ऐसा कहने वाला बौद्ध तो सचमुच में पंडित मूर्ख ही है । निविकल्प-ज्ञान अर्थ को विषय करने वाला हो, अथवा भ्रान्त हो, तथा सविकल्पज्ञान अर्थ को विषय नहीं करने वाला अविशद अथवा भ्रान्त होवे ऐसी बात तो है नहीं कि जिससे विकल्पान्तर से उसका निश्चय किया जावे अर्थात् ऐसा नहीं है ।

वह विकल्पांतर वस्तु को विषय करने वाला है वह बात युक्त है क्योंकि उसका विकल्पज्ञान में स्वलक्षण से भिन्न विषय में अनुप्रवेश हो जाता है । यदि आप सौगत ऐसा कहें कि “विकल्पज्ञानों का स्वतः ही निर्णय होता है तब तो स्वलक्षण विषय भी विकल्प हो जायेगा अर्थात् विकल्प का जो स्वरूप है वह सविकल्पक हो जायेगा । पुनः यह कथन विरुद्ध हो जायेगा कि—“सर्वे बोधाः स्वरूपे निविकल्पकाः” सभी ज्ञान अपने स्वरूप में निविकल्पक है । यदि आप ऐसा कहें कि विकल्पज्ञान का निर्णय

१ उपहासवचनम् । दि० प्र० । २ तद्विकल्पान्तरं वस्तु ग्राहकमिति वक्तुं युक्तं न हि कस्मात्तस्य विकल्पान्तरस्यावस्तुगोचरे विकल्पराशिमध्ये निपतितत्वात् । दि० प्र० । ३ विकल्पान्तरस्य । दि० प्र० । ४ परिज्ञानम् । दि० प्र० । ५ स्याद्वादी वदति हे सौगत ! अतः कारणात्स्वन्मते अर्थस्य वस्तुनः विकल्पमात्रमपि मा भवतु । इति हेतोः सर्वो लोकोष्ठसमो जातः कस्मात् ज्ञानस्याज्ञानस्वस्वरूपस्यार्थनिश्चयो नोपपद्यते यतः अयं सौगतः परोक्षज्ञानवादं भीमांसकाद्यभ्युपगतं नातिक्रामति परोक्षज्ञानवादे सति त इत्यर्थः । कस्मात्सौगताभ्युपगतविकल्पज्ञानमीमांसकाभ्युपगतपरोक्षज्ञानवादयोः उभयत्र सर्वथा पदार्थनिश्चयाभावेन कृत्वा विशेषो नास्ति यतः—मीमांसकमते ज्ञानं स्वं न जानाति परमेव जानाति यथा सुनीक्षणाणि खड्गधारा स्वं न छिनत्ति परमेव छिनत्तीति परोक्षज्ञानवादलक्षणम् । दि० प्र० । ६ यथा परोक्षज्ञानस्यायंनिश्चितिर्न सिद्धयति । तथा स्वमनिश्चितस्वरूपस्य विकल्पज्ञानस्याप्यर्थनिश्चयो नास्ति । हे सौगत ! त्वन्मतरहस्यं सुव्यवस्थितं मया किमिति । इति किं ज्ञानं स्वं न जानाति किल । बहिरर्थनिश्चयायतीत्यायातम् । अत्राह विभ्रर्मकान्तवादी । बुद्धिः पक्षः स्वरूपं पररूपं वा अद्यवस्यतीति साध्यो धर्मः निविषयत्वात् कुतः भ्रान्तिवशात् । यथास्वप्रबुद्धिः । दि० प्र० ।

स्वयमनिश्चितात्मोपलम्भस्यापि¹ । स्वयमनिर्णीतेन नामात्मना² बुद्धिरर्थ³ व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम्⁴ ।

[विभ्रमैकान्तवादी कथयति यत् ज्ञानं स्वरूपं पररूपं वा कञ्चिदप्यर्थं न निश्चिनोतीति तस्य विचारः क्रियते जैनाचार्यैः ।]

न⁵ वै स्वरूपं पररूपं वा बुद्धिरध्यवस्यति निर्विषयत्वाद्धान्तेः स्वप्नबुद्धिवदिति विभ्रमैकान्तवादिवचनम्⁶ । इदमतो भ्रान्तरं, बहिरन्तश्च⁷ सद्भावासिद्धेः । स्वप्नादिभ्रान्त-

पर—विकल्पांतर से होता है तब तो अनवस्था दोष के आ जाने से प्रतिपत्ति—ज्ञान ही नहीं हो सकेगा इसलिये अर्थविकल्प भी नहीं होगा । तब तो यह सारा जगत अंधकल्प—अंधे के सदृश ही हो जायेगा” क्योंकि स्वयं अनिश्चयात्मक विकल्पज्ञान से अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता है ।

“यह विकल्पज्ञान परोक्ष बुद्धिवाद अर्थात् मीमांसकाभिमत ज्ञान स्वयं परोक्ष है उस परोक्ष ज्ञानवाद का उलंघन नहीं करता है क्योंकि सर्वथा अर्थ को ग्रहण करने का उच्छेद दोनों में समान है” अर्थात् जैसे मीमांसक का ज्ञान परोक्ष है तथैव आपके यहाँ किसी भी ज्ञान से पदार्थ का निश्चय नहीं होता है क्योंकि जिस प्रकार से मीमांसकाभिमत अप्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है अर्थात् स्वयं अपने आपको नहीं जानने वाला परोक्ष ज्ञान है । तथैव स्वयं अनिश्चितात्मोपलम्भ—किसी का निश्चय नहीं करने वाला विकल्पज्ञान भी अर्थ का जानने वाला सिद्ध नहीं हो सकता है अतः आपके यहाँ “ज्ञान स्वयं अनिश्चयात्मक होकर ही पदार्थ की व्यवस्था करता है ऐसा कहने से तो आपका तत्त्व व्यवस्थित ही क्या सुव्यवस्थित ही है—यह उपहास वचन है इसका अर्थ यह है कि आपका तत्त्व कथमपि व्यवस्थित नहीं हो सकता है ।

[विभ्रमैकान्तवादी का कहना है कि ज्ञान अपने स्वरूप या पररूप किसी का निश्चय नहीं करता है, इस पर जैनाचार्य विचार करते हैं ।]

विभ्रमवादी—ज्ञान स्वरूप अथवा पररूप का निश्चय नहीं कराता है क्योंकि वह ज्ञान निर्विषयक है । मात्र भ्रान्ति से ही ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान स्वपर का निश्चय कराता है किन्तु यह कथन वास्तविक नहीं है जैसे कि स्वप्नज्ञान वास्तविक नहीं है ।

जैन—आप विभ्रमैकान्तवादियों का यह कथन तो विभ्रम एकांत की मान्यता से भी अधिक भ्रान्तर है क्योंकि इस मान्यता से तो बहिरंग और अंतरंगरूप पदार्थ के सद्भाव की असिद्धि ही हो जाती है” क्योंकि जो स्वप्नादि का भ्रान्तज्ञान है वह बाह्य पदार्थ के असत्त्व होने से ही भ्रान्त है, किन्तु वह स्वप्नज्ञान स्वरूप से असत्त्व होने से भ्रान्त हो ऐसा नहीं है और यह जो विभ्रमैकान्त संवेदन है

1 ज्ञानस्य । वसः । यसः । दि० प्र० । 2 ज्ञानस्य । स्फुटम् । दि० प्र० । 3 स्वरूपेण । दि० प्र० । 4 अध्रान्तं भ्रान्तम् । दि० प्र० । 5 परः । दि० प्र० । 6 इदं विभ्रमैकान्तवादिवचनमतः स्वप्नज्ञानादतिभ्रान्तं कस्मात् । बाह्याभ्यन्तरङ्गपदार्थसत्त्वासिद्धेः । दि० प्र० । 7 नानार्थप्रतिभासन । दि० प्र० ।

ज्ञानं हि बहिरर्थासत्त्वादेव, न पुनः स्वरूपासत्त्वात्, इदं तु विभ्रमैकान्तसंवेदनं बहिरन्तरप्यर्थासत्त्वादिति¹ कथं न² तदतिशेते ? न³ चास्य स्वरूपसत्त्वं, तद्व्यवस्थानस्य विपक्षव्यवच्छेदेन प्रतिपत्तिपथमुपनेतुमशक्तेः⁴ । स्वपरस्वभावप्रतिपत्तिशून्येन⁵ स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थां प्रत्येतीति किमपि महाद्भुतम् । संवृत्त्या प्रत्येतीति⁶ चायुक्तं, कथंचिदपि परमार्थप्रतिपत्त्यभावे संवृत्तिप्रतिपत्त्ययोगात् परमार्थविपर्ययरूपत्वात्संवृतेः । अन्यथा परमार्थस्य संवृत्तिरिति नाम-

वह बहिरंग और अंतरंगरूप पदार्थों को अपेक्षा भी असत् रूप ही है इसलिये वह स्वप्नज्ञान का उलघन करने वाला क्यों नहीं होगा ? अर्थात् स्वप्नज्ञान से अधिक ही भ्रांततर होगा क्योंकि स्वप्नज्ञान में तो मात्र बाह्य पदार्थ वहाँ नहीं हैं, किन्तु अन्तरंग ज्ञान मौजूद है लेकिन यहाँ विभ्रमैकान्त में तो बहिरंग और अन्तरंग कोई भी पदार्थ नहीं हैं ।

इस ज्ञान का तो स्वरूप से भी सत्त्व नहीं है । पुनःविपक्ष—अभ्रान्त स्वरूप के व्यवच्छेद द्वारा उसकी व्यवस्था को प्रतिपत्तिपथ को प्राप्त कराना भी शक्य नहीं है अर्थात् अभ्रांतस्वरूप का व्यवच्छेद करके भी विभ्रमैकान्तरूप ज्ञान की व्यवस्था करना शक्य नहीं है क्योंकि अभ्रांत स्वरूप को माने बिना उसका व्यवच्छेद भी कैसे होगा ? पुनः आप सुगत “इस प्रकार से स्वपर स्वभाव के ज्ञान से शून्य भ्रांत ज्ञान के द्वारा स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण को व्यवस्था का निश्चय करते हैं यह एक महान् आश्चर्य की बात है ?”

अर्थात् आपका कहना है कि भ्रांतज्ञान अपने स्वरूप से रहित है और परस्वरूप से भी रहित है, पुनः आप इसी स्वपर स्वभाव से रहित ज्ञान के द्वारा स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण का निणय भी कैसे कर लेते हैं ? यह समझ में नहीं आता है ।

बौद्ध—हमारा ज्ञान संवृत्ति से निश्चय करता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है । किसी प्रकार से भी परमार्थ से ज्ञान का अभाव मान लेने पर संवृत्ति से भी ज्ञान का अभाव होगा क्योंकि संवृत्ति तो परमार्थ से विपरीत—अवास्तविकरूप ही है ।

1 विभ्रमैकान्तसंवेदनं कर्तुं तत् स्वप्नज्ञानं कथं नातिक्रामति । अपितु अतिक्रामति । दि० प्र० । 2 स्वरूपे । दि० प्र० । 3 स्याद्वादी वदति अस्य विभ्रमैकान्तसंवेदनस्य स्वरूपेण सत्त्वं नास्ति । दि० प्र० । 4 कुतः । दि० प्र० । 5 स्वरूप । दि० प्र० । 6 अत्राह विभ्रमैकान्तवादी मल्लक्षणो जनः स्वपरस्वभावप्रतिपत्तिशून्येन स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थां कल्पनया निश्चिनोति । स्याद्वाद्याह इति चायुक्तम् । कस्मात् । कथञ्चित्परमार्थनिश्चयाभावे संवृत्तेरभावः । पुनः कस्मात् संवृत्तिः परमार्थविरुद्धा यतः । अन्यथा संवृत्तिः परमार्थविपर्यया न भवति चेत्तदा अस्माभिः परमार्थ इति भवता संवृत्तिरिति नाम करणभेदः नत्वर्थभेदः विभ्रमैकान्तवादिनां तदा निर्बाधं भवति । दि० प्र० ।

करणमात्रमबाधाकरमेव परेषामनुषज्येत¹ । सोयं² संवृत्या विभ्रमैकान्तसाधनमविभ्रमदूषणं च प्रत्येतीति परमार्थतो न³ प्रत्येतीति उपेक्षणीयवचन एव । तमन्येऽद्याप्यनुमन्यन्ते⁴ ⁵इत्य-चिन्त्यमनल्पतमतमोनिबन्धनमशक्यपर्यन्तगमनमिहाद्भुतम्⁶ ।

अन्यथा परमार्थ को ही “संवृति” यह नामकरण मात्र अबाधितरूप से हम जैनों के यहाँ हो जायेगा अर्थात् परमार्थ को “संवृति” यह नाम रख देने से किसी प्रकार की बाधा नहीं आयेगी । इस प्रकार से आप बौद्ध संवृति से विभ्रमैकांत साधन को और अविभ्रम के दूषण को अर्थात् सत्यकथन के दूषण को निश्चित कर लेते हैं और परमार्थ से—सत्य रूप से कुछ भी निश्चित नहीं करते हैं । इस प्रकार के आपके वचन उपेक्षा करने योग्य ही हैं । इस तरह इस विभ्रमैकांत को कहने वाले उस बुद्ध भगवान् को आज भी अन्य-धर्मकीर्ति आदि मानते हैं यह अचित्य और अनल्पतम अज्ञान के ही कारण से है और इसका पार पाना अत्यन्त अशक्य—कठिन ही है । यह अतीव आश्चर्य की ही बात है ।



1 ततश्च । दि० प्र० । 2 सोयतः । व्या० प्र० । 3 कोर्थः । व्या० प्र० । 4 अद्यापि श्रीमदकलकदेवाचार्यसूर्य-
वाक्यरश्मिषु सत्स्वध्ये तम्मसानुसारिणः तं विभ्रमैकान्तवादिनमनुसरन्ति । दि० प्र० । 5 एतत् । दि० प्र० ।
6 निर्बाहशून्यम् । व्या० प्र० ।

बौद्धाभिमतसामान्य खण्डन का सारांश

बौद्ध—वचन सामान्य अर्थ को कहने वाले हैं विशेष को नहीं एवं सामान्य वास्तविक नहीं है तथा विशेष अनंत हैं अतः उनका संकेत करना शक्य नहीं है। वह विशेष निर्विकल्प बुद्धि में प्रतिभासित होता है एवं सामान्य शब्दज्ञान में प्रतिभासित होता है अतएव वह मिथ्या है। विकल्पज्ञान संकेत सापेक्ष है, निर्विकल्पज्ञान स्वलक्षण अर्थ की अपेक्षा रखता है यदि स्वलक्षण भी शब्दज्ञान से जाना जाये तब तो शब्द के द्वारा रावण, महापद्म आदि अतीत-अनागत पदार्थ नहीं कहे जा सकेंगे क्योंकि वे नष्ट एवं अनुत्पन्न हैं, वे स्वलक्षणरूप नहीं हैं अतएव स्वलक्षण अवाच्य है।

जैनाचार्य—ऐसी अवस्था में तो आपके यहाँ स्वयं सत्य माने गये सभी वचन मिथ्या ही ठहरेंगे क्योंकि स्वलक्षणरूप विशेष तो अवाच्य है तथा सामान्य अवस्तु है तब तो शब्द के द्वारा वस्तु नहीं कही जा सकेगी पुनः शब्द के उच्चारण से क्या प्रयोजन है ? जब कि अश्व शब्द अपने अर्थ को नहीं कहता है वह तो अन्य व्यावृत्ति मात्र अर्थ को कहने वाला है अतः मौन ले लेना चाहिये अथवा चाहे जो कुछ बोल देना चाहिये सब समान है। अपने यथार्थ अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द सत्य माने हैं किन्तु जब शब्द परमार्थ को विषय ही नहीं करेंगे तो सत्य एवं असत्य शब्द समान हो जाने से आपके पक्ष को सिद्ध करने वाले धर्मकीर्ति आदि के वचन एवं आपका उपर्युक्त सिद्धांत भी सत्य कैसे ठहरेंगा ? या तो शब्द में कोई अन्तर न होने से सभी के मत सिद्ध हो जायेंगे या सर्वथा शून्यवाद हो आ जायेगा।

तथा हम ऐसा भी कह सकेंगे कि निर्विकल्प भी परमार्थ को विषय नहीं करता है यदि आप ऐसा कहें कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष अर्थ के संनिधान की अपेक्षा रखता है एवं विशद है अतः परमार्थ को विषय करता है। यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियज्ञान यदि विशद है तो निकट के समान दूर में भी स्पष्ट प्रतिभास होना चाहिये क्योंकि इन्द्रिय के साथ अन्वयव्यतिरेक तो दोनों जगह समान है।

यदि आप कहें कि निर्विकल्पज्ञान के अनंतर शीघ्र ही विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है उसका प्रतिभास अस्पष्ट है किन्तु दोनों में एकत्व का अध्यारोप होने से दूरवर्ती पदार्थ अविशद दिखते हैं, तो एकत्व के अध्यारोप से विपरीत क्यों नहीं हो जाता है ? अर्थात् निकटवर्ती अस्पष्ट एवं दूरवर्ती पदार्थ स्पष्ट क्यों नहीं दिखते ? यदि कहो आसन्नवर्ती पदार्थ में निर्विकल्पज्ञान बलवान है अतः वह विकल्पज्ञान की अस्पष्टता को दबा देता है। किन्तु दूरवर्ती ज्ञान में निर्विकल्प निर्बल है। तब तो किसी ने सामने गौ देखी और अनंतर क्षण में अश्व का विकल्प किया, गोदर्शन स्पष्ट था उसने अश्व विकल्प के अस्पष्ट ज्ञान को दबा दिया, अतः अश्व का ही स्पष्ट अनुभव आना चाहिये यह उदाहरण भिन्न विषय वाला है अतः ऐसा शक्य नहीं है यह उत्तर भी ठीक नहीं है।

इसलिये शब्द पूर्व की वासना से अवास्तविक सामान्य को विषय करता है यह कथन सर्वथा मिथ्यात्व की वासना से ही होने से मिथ्यारूप ही है।

सार का सार—यदि वचन विशेष—एक क्षणवर्ती स्वलक्षणरूप पर्याय को नहीं कहते हैं और सामान्य को ही कहते हैं तथा सामान्य अवस्तु है। तब सत्य को न कहने वाले वचन सदा असत्य ही रहेंगे पुनः आप बौद्धों का तत्त्व भी उन वचनों से कहा गया होने से असत्य ही रहेगा सत्य नहीं।

‘एवं तर्हि^२ मा भूत् पृथक्त्वैकान्तोऽद्वैतैकान्तवदशक्यव्यवस्थापनत्वात् । तदुभयैकात्म्यं तु श्रेय इति मन्यमानं वादिनं सर्वथा वाऽवाच्यं तत्त्वमातिष्ठमानं प्रत्याहुः—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥३२॥

^३अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्ववत् ^४पृथक्त्वेतरपरस्परप्रत्यनीकस्वभावद्वयसंभवोपि मा भूद्विप्रतिषेधात् । न खलु सर्वात्मना विरुद्धधर्माध्यासोऽस्ति^५ तदन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वाद्बन्ध्यासुतवत् । यथैव हि बन्ध्याया विधिरेव तत्सुतप्रतिषेधः स एव वा बन्ध्याया विधिरिति

उत्थानिका—तब तो इस प्रकार से अद्वैत के समान सर्वथा द्वैतरूप पृथक्त्वैकांत पक्ष मत होवे क्योंकि उसकी व्यवस्था करना अशक्य है किन्तु उभयैकात्म्यवाद ही श्रेयस्कर है क्योंकि इस मान्यता में एक ही वस्तु में गुण और गुणी का पृथक्त्व अथवा अपृथक्त्वरूप एकात्म्य मौजूद है । इस प्रकार से मानने वाले मीमांसक के प्रति अथवा सर्वथा तत्त्व “अवाच्य” ही है ऐसा मानने वाले सौगत के प्रति स्वामी श्रीसमंतभद्राचार्यवर्य कहते हैं—

ये एकत्व, पृथक्त्व, उभय, आपस में नित्य विरोधी हैं ।

स्याद्वाद विद्वेषी के ये, उभय तत्त्व निरपेक्ष रहें ॥

यदि दोनों हैं “अवाच्य” द्वैताद्वैत कथन नहि हो युगपत् ।

तब निरपेक्ष “अवाच्य” यही वच, कैसे होवेगा सुघटित ॥३२॥

कारिकार्थ—स्याद्वाद न्याय से द्वेष रखने वाले एकांतवादियों के यहाँ उभयैकात्म्य भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि पृथक्त्वैकांत एवं अपृथक्त्वैकांत इन दोनों का परस्पर में विरोध है । यदि आप कहें कि हम तत्त्व को एकांत से अवाच्य मानते हैं तब तो “अवाच्य” यह कथन भी नहीं बन सकेगा । ॥३२॥

“जैसे अस्तित्व, नास्तित्व एवं एकत्व, अनेकत्व परस्पर में विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, अतः एकत्र वस्तु में संभव नहीं हैं तथैव पृथक्त्व और अपृथक्त्व भी परस्पर में विरुद्ध द्वय स्वभाव वाले हैं अतः ये भी दोनों एक साथ एक धर्मा में संभव नहीं हैं क्योंकि विरोध देखा जाता है । निश्चय से सर्वरूप से—धर्म और धर्मा की अपेक्षा से विरुद्ध धर्माध्यास नहीं है अर्थात् एक ही वस्तु में कथंचित् पृथक्त्व, अपृथक्त्व-

1 पृथक्त्वैकान्ते पृथक्त्वगुणस्य सन्तानादेशवाभावो यदि स्यात् । व्या० प्र० । 2 अत्राह कश्चिदुभयैकात्म्यवादी हे स्याद्वादिन् अणुमानं शृणु पृथक्त्वैकान्तः पक्षः नास्तीति साध्यो धर्मोऽशक्यव्यवस्थापनत्वात् यथाऽद्वैतैकान्तस्तस्मात्सर्वथा पृथगेक्यात्म्यं श्रेयः निर्दोषम् । इति मन्यमानं प्रतिपादनं सर्वथाऽवाच्यस्वरूपं तत्त्वं ब्रुवन्तं प्रतिवादिनं स्वामिनः प्राहुः । दि० प्र० । 3 अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्वपृथक्त्वेतरपरस्यरेति । पाठात्तरम् । व्या० प्र० । 4 अद्वैतम् । दि० प्र० । 5 एकधर्मिणि । व्या० प्र० ।

वन्ध्यासुतयोरन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वं तथा पृथक्त्वस्वभावविधिरेव सर्वथैकत्वप्रतिषेधः स^१ एव च तद्विधिः । इति कथमिव^२ स्याद्वादमनिच्छतां विरुद्धधर्माध्यासः^३ संभवेद्यतस्तदुभयै-
कात्म्यं तत्त्वमेकान्तवादिनः स्वीकुर्युः ? सर्वथानभिलाष्यतत्त्वाधिगमेपि 'यदेतदनभिलाष्यं
तत्त्वमिति तद्व्याहृत्ये, पूर्ववत्^६ । इत्यलं प्रपञ्चेन ।

^७तदेवमेकत्वाद्येकान्तनिराकृतिसामर्थ्यात्तदनेकान्ततत्त्वप्रसिद्धावपि^८ तत्प्रतिपत्तिदाढ्यार्थ-
मन्यथाशङ्कापाकरणार्थं च तत्सप्तभङ्गी^९ समाविर्भावयितुकामास्तन्मूलभङ्गद्वयात्मकत्वं^{१०} जीवा-
दिवस्तुनः प्राहुः ।—

रूप विरोधी दो धर्मों का रहना विरुद्ध नहीं है क्योंकि वे परस्पर में विधि-प्रतिषेधलक्षण वाले हैं । जैसे कि वन्ध्या और उसका पुत्र ।”

जिस प्रकार से वन्ध्या की विधि ही उसके पुत्र का प्रतिषेध है अथवा वन्ध्या पुत्र का प्रतिषेध ही वन्ध्या की विधि है इस प्रकार से वन्ध्या और उसके पुत्र में परस्पर में विधि प्रतिषेध लक्षण घटित है । तथैव पृथक्त्व स्वभाव की विधि ही सर्वथा एकत्व का प्रतिषेध है और एकत्व का प्रतिषेध ही पृथक्त्व स्वभाव की विधि है ।

जैन—इस तरह से स्याद्वाद सिद्धांत को स्वीकार न करने वालों के यहाँ यह विरुद्ध धर्माध्यास कैसे संभव हो सकेगा ? जिससे कि उस उभयैकात्म्य तत्त्व को एकांतवादी जन स्वीकार कर सकें अर्थात् हम स्याद्वादियों के यहाँ तो परस्पर विरुद्ध धर्माध्यास संभव है किन्तु आप एकांतवादियों के यहाँ कथमपि संभव नहीं हो सकता है क्योंकि आप एकांतवादी जन अपेक्षावाद को नहीं समझते हैं ।

“तत्त्व को सर्वथा अनभिलाष्य—“अवाच्य” रूप स्वीकार करने पर भी जो यह कथन है कि “तत्त्वं अवाच्यं” वह कथन भी नष्ट हो जाता है पहले कहे हुये के समान ।” अर्थात् अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों से “तत्त्व अवाच्य” है जैसे इस अवाच्य कथन के प्रकरण में दोषारोपण किया है वे सभी दोष यहाँ भी घटित कर लेना चाहिये ।

उत्थानिका—इस प्रकार से एकत्व, पृथक्त्वादि पक्षरूप एकांत के निराकरण का सामर्थ्यय अनेकांत तत्त्व की प्रसिद्धि के हो जाने पर भी उसकी प्रतिपत्ति को और अधिक दृढ़ करने के लिये एवं अन्यथा—“एकत्वादि धर्मों का निराकरण करने से अनेकांत सकलधर्मों से शून्य है” इस प्रकार की अन्यथा शंका को दूर करने के लिये भेदाभेदादिरूप सप्तभङ्गी को बतलाने की इच्छा रखते हुये स्वामी श्रीसमंतभद्राचार्यवर्य जीवादि वस्तु के मूलभूत दो भंगों को कहते हैं—

1 स एव सर्वथैकत्वप्रतिषेधस्तस्य पृथक्त्वस्वभावस्य विधिः । दि० प्र० । 2 वाक्यालंकारे । व्या० प्र० । 3 परस्पर-
विरुद्धधर्माणामेकधर्मिणि संबन्धत्वम् । व्या० प्र० । 4 वचनम् । दि० प्र० । 5 तदेतत्त्वमनभिलाष्यमिति कथने
सति । तदनभिलाष्यत्वं—विरुद्धचते । यथा मे माता बन्ध्या इत्यादिवचः । दि० प्र० । 6 स्वलक्षणप्रनिर्देश्यमित्यादिवत् ।
व्या० प्र० । 7 तस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण । दि० प्र० । 8 अनेकान्तः । दि० प्र० । 9 श्रीसमन्तभद्राचार्यः । दि०
प्र० । 10 प्रथम । दि० प्र० ।

अनपेक्षे^१ पृथक्त्वैक्ये^२ ह्यवस्तु^३ द्वयहेतुतः^४ ।

तदेवैक्यं^५ पृथक्त्वं^६ च स्वभेदेः साधनं यथा ॥३३॥

हि यस्मादवस्त्वेवानपेक्षे^७ पृथक्त्वैक्ये^८ ऐक्यपृथक्त्वनिरपेक्षत्वहेतुद्वयात् प्रतिपादिते प्राक्,
^९तस्मात्तदेवैक्यं^{१०} पृथक्त्वं च जीवादिवस्तु कथंचिदेकत्वपृथक्त्वप्रत्ययहेतुद्वयादवसीयते । यथा
 साधनं सत्त्वादि^{११} ^{१२}पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणैर्भेदैर्विशिष्टमेक^{१३} प्रसिद्धमुभयोः ।

यदि एकत्व पृथक्त्व परस्पर, में निरपेक्ष रहें तब तो ।

हेतुद्वय से उभय न होंगे, वस्तुभूत किंचित् भी तो ॥

यदि अपृथक् पृथक्त्वापेक्षी, पृथक्-अपृथक् अपेक्षी है ।

तब तो वस्तुभूत अविरोधी, भेदापेक्ष हेतुवत् हैं ॥३३॥

कारिकार्थ—यदि पृथक्त्व और एकत्व ये दोनों धर्म परस्पर निरपेक्ष हैं तो वे अवस्तरूप हैं किन्तु दो प्रकार के हेतुओं से परस्पर सापेक्ष वे ही पृथक्त्व और एकत्व धर्म वस्तुभूत हैं जैसे पक्षधर्मत्व आदि अपने भेदों से निरपेक्ष हेतु अवस्तरूप है और वही हेतु अपने भेदों से सापेक्ष होकर वस्तरूप है । ॥३३॥

क्योंकि परस्पर निरपेक्ष एकत्व और पृथक्त्व अवस्तु ही हैं ऐसा पहले कारिकाओं द्वारा एकत्व, पृथक्त्व निरपेक्ष दो हेतुओं से प्रतिपादित किया गया है । अतएव वे ही एकत्व और पृथक्त्वरूप जीवादि वस्तु कथंचित् एकत्व और पृथक्त्व प्रत्ययरूप दो हेतुओं से निश्चित की जाती हैं अर्थात् जीवादि वस्तु, सापेक्ष सत् एकरूप हैं क्योंकि कथंचित् एकत्वरूप से अनुभव आ रहा है जैसे सत्त्वादि

१ परस्परनिरपेक्षे । दि० प्र० । २ अनेकैकरूपतत्त्वे । दि० प्र० । ३ यस्मात् । दि० प्र० । ४ स्याताम् । दि० प्र० । ५ स्याद्वादी अनुमानं रचयति । अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये पक्षः । अवस्तु भवतः साध्यो धर्मः । ऐक्यपृथक्त्वनिरपेक्षहेतुद्वयम् तद्वस्तु न भवति । यथा व्योमकुसुमादिकर्मक्यं पृथक्त्वनिरपेक्षहेतुद्वये पृथक्त्वैक्ये च तस्मादवस्तु भवतः । इति प्रतिपादाद्यभ्युपगतस्य तदुभयैकात्म्यस्य खण्डनार्थमनुमानं विधायेदानीं सापेक्षे पृथक्त्वैक्ये वस्तु इति स्थापनार्थं स्याद्वाद्याह । यत् एवं तत्तस्मात् । ऐक्यं पृथक्त्वैक्यं च जीवादपक्षः । वस्तुभवतीति साध्यो धर्मः कथंचिदेकत्वपृथक्त्वप्रत्ययहेतुद्वयात् । यथा स्वभेदैर्विशिष्टं साधनम् । दि० प्र० । ६ परस्परसापेक्षं सद्वस्तुपरमार्थरूपं भवति यथा पक्षधर्मादिभिर्भेदैर्विशिष्टं साधनं तन्निरपेक्षमवस्तु । तत्सापेक्षं वस्तु । दि० प्र० । ७ भवतः = जीवादिवस्तु धर्मि । दि० प्र० । ८ अनपेक्षं पृथक्त्वमवस्त्वेव । कुत एकत्वनिरपेक्षत्वात् । व्योमकुसुमवत् । अनपेक्षमेक्यमवस्त्वेव कुतः पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात् व्योमकुसुमवदित्यैक्यं पृथक्त्वनिरपेक्षत्वहेतुद्वयाद् भवतः । दि० प्र० । ९ परस्परनिरपेक्षे पृथक्त्वैक्ये अवस्तु भवती यस्मात् । दि० प्र० । १० साध्यम् । दि० प्र० । ११ सर्वं पक्षः शक्तिकं भवतीति साध्यो धर्मः सत्त्वादित्यादि यत् किञ्चिद्धेतुरूपम् । दि० प्र० । १२ व्यावृत्तत्व । दि० प्र० । १३ धर्मः । दि० प्र० ।

तत्राप्यन्वयव्यतिरेकयोरनपेक्षयोरवस्तुरूपत्वात्¹ साधनलक्षणत्वायोगात् सापेक्षयोरेव² तल्लक्षणत्वेन वस्तुस्वभावत्वसिद्धेः³ साम्यमुदाहरणस्य प्रतिपत्तव्यम् । किं पुनरनया कारिकया करोत्याचार्यः ? पूर्वेणवास्यार्थस्य गतत्वादिति चेत्, एकत्वपृथक्त्वे नैकान्ततः स्तः प्रत्यक्षादिविरोधादिति स्पष्टयति⁴, गतार्थस्याप्यनुमानविषयत्वप्रदर्शनात्स्पष्टत्वप्रसिद्धेः⁵, प्रमाणसंप्लववादिनां गृहीतग्रहणस्यादूषणात्⁶ । तथा हि । थक्पृथक्त्वे⁷ तथाभूते न स्ताम्⁸, एकत्वपृथक्त्वरहितत्वाद्ब्रह्मचोमकुसुमादिवत् । तथा हि । सर्वथा पृथक्त्वं नास्त्येव, एकत्वनिरपेक्षत्वा-

हेतु । तथैव वे ही सापेक्ष जीवादि वस्तु पृथक्-भेदरूप भी हैं क्योंकि कथंचित् भेदरूप से भी प्रतीत हो रही है जैसे सत्त्वादि हेतु । यह अनुमान का क्रम है ।

जिस प्रकार से सत्त्वादि हेतु पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्ष से असत्त्व लक्षण भेदों से विशिष्ट अनेकरूप होते हुये भी एक है यह बात वादी और प्रतिवादी दोनों में प्रसिद्ध है । तथैव जीवादि वस्तु भी कथंचित् भेदाभेदरूप ही है ।

इस हेतु के दृष्टांत में भी यदि परस्पर निरपेक्ष अन्वय-व्यतिरेक हैं तो वे अवस्तुरूप ही हैं क्योंकि उसमें हेतु के लक्षण का अभाव ही है । पुनः यदि वे अन्वय व्यतिरेक परस्पर सापेक्ष हैं तब तो उस हेतु में हेतु का लक्षण घटित होने से वह हेतु वस्तुभूत है यह बात सिद्ध है अतएव यह हमारा उदाहरण साम्य ही समझना चाहिये, विषम नहीं ।

प्रश्न—इस कारिका के द्वारा आचार्य क्या कहना चाहते हैं ? क्योंकि पूर्वं कारिकाओं द्वारा ही इस अर्थ का बोध हो जाता है अर्थात् 'अद्वैतैकांत पक्षेऽपि' इत्यादि कारिकाओं द्वारा सर्वथा "परस्पर निरपेक्ष पृथक्त्व और एकत्व अवस्तुरूप हैं" ऐसा तो बतलाया ही गया है ।

उत्तर—यदि ऐसा कहो तो हम समझते हैं । एकत्व और पृथक्त्व सर्वथा एकांतरूप से हैं ही नहीं क्योंकि इसमें प्रत्यक्षादि से विरोध आता है इस कारिका द्वारा यह स्पष्टीकरण किया गया है । कारण कि जाने हुये अर्थ को भी अनुमान का विषय प्रदर्शित करने से स्पष्टता प्रसिद्ध ही है । प्रमाणसंप्लववादी हम स्याद्वादियों के यहाँ तो गृहीत-ग्रहण को दूषण नहीं माना है अर्थात् एक प्रमाण

1 सापेक्षयोरेवान्वयव्यतिरेकयोः साधनस्वभावत्वेन कृत्वा वस्तुस्वभावत्व सिद्धयति = स्वभेदः साधनं यथा इति दृष्टान्तः साम्यज्ञातव्यः = अत्राह कश्चित् श्रीसमन्तभद्राचार्यः अनया कारिकया किं साधनं करोति कस्मात् पृथक्त्वंकान्तपक्षेऽपि इत्यादिकारिकाप्रपञ्चेनैव कृत्वा सर्वथा पृथक्त्वंकत्वद्वयं जीवादिवस्तुनि न भवत इत्यस्यार्थस्य निश्चितत्वादिति चेन्न = उत्तरयति । एकस्मिन् जीवादिवस्तुनि सर्वथा पृथक्त्वंकत्वे न भवतः कस्मात्तयोः प्रत्यक्षादिना विरोधोऽस्ति यत इति स्पष्टीकरोत्याचार्यः । दि० प्र० । 2 साधन । दृष्टान्तेन परं धर्मिणोभेद एवेति कथं साम्यं दाष्टान्तिकस्येत्युक्त आह । हेतुना । दि० प्र० । 3 परमार्थ । दि० प्र० । 4 गतमेव । व्या० प्र० । 5 निश्चितार्थ-स्याप्यनुमानदर्शनात्स्पष्टत्वं प्रसिद्धयति । दि० प्र० । 6 दूषणत्वात् इति पा० । दि० प्र०, व्या० प्र० । 7 तथाभूते निरपेक्ष पृथक्त्वेकत्वे पक्षः । नस्त इति साध्यो धर्मः । एकत्वपृथक्त्वरहितत्वात् । दि० प्र० । 8 अत्राप्यनुमानद्वयम् । व्या० प्र० ।

द्व्योमकुसुमवत् । सर्वथैकत्वं नास्ति पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात्तद्वदिति । अत्र न हेतुद्वयमसिद्धं^१ तदेकान्तवादिनां तथाभ्युपगमात्^२ ।

[सापेक्षमेवैक्यं पृथक्त्वञ्च जीवादिवस्तुनीति साधयन्ति जैनाचार्याः ।]

नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, विपक्षवृत्त्यभावात्^३ ।

सापेक्षत्वे हि^४ तदेवैक्यं पृथक्त्वमित्यविरुद्धं कथञ्चिज्जीवादिवस्तु प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते न पुनः सर्वथेति^५ सिद्धान्यथानुपपत्तिः, सपक्षविपक्षयोर्भावाभावाभ्यां साधनवत् । न हि

में बहुत से प्रमाणों की प्रवृत्ति होना प्रमाणसंप्लव है । जैन एवं यौगादि इस प्रमाणसंप्लव को मानते हैं अतएव यहाँ पूर्व कारिकाओं द्वारा अर्थ का ज्ञान होने पर भी उसे ही अनुमान का विषय करके जाना है अतः वह अनुमान अप्रमाण नहीं है ।

तथाहि—“तथाभूत—परस्पर निरपेक्ष रूप पृथक्त्व और एकत्व नहीं हैं क्योंकि एकत्व और पृथक्त्व से रहित हैं जैसे कि आकाश कुसुम आदि ।”

उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—“सर्वथा पृथक्त्व है ही नहीं क्योंकि वह एकत्व से निरपेक्ष है, आकाश कुसुम के समान ।” “सर्वथा एकत्व नहीं है क्योंकि पृथक्त्व से निरपेक्ष है आकाश कुसुम के समान । इस अनुमान में दोनों ही हेतु असिद्ध” नहीं हैं, क्योंकि एकांतवादियों के यहाँ एकत्व-निरपेक्ष पृथक्त्व और पृथक्त्व निरपेक्ष एकत्व स्वीकार किये गये हैं । अथवा ये हेतु अनैकांतिक और विरुद्ध भी नहीं हैं क्योंकि विपक्ष में इनकी वृत्ति का अभाव है ।

[जीवादि वस्तु में परस्पर सापेक्ष ही एकत्व, पृथक्त्व हैं इस बात को जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

“एव परस्पर सापेक्ष मानने पर वे ही एकत्व, पृथक्त्व धर्म अविरोधी हैं ।” इस प्रकार से अविरुद्ध कथञ्चित् जीवादि वस्तु प्रत्यक्ष आदि से उपलब्ध हो रही हैं । किन्तु “सर्वथा” इस रूप से उपलब्ध नहीं हैं । इस प्रकार से अन्यथानुपपत्ति सिद्ध है । जैसे कि “सपक्ष में सत्त्व और विपक्ष में असत्त्व के द्वारा हेतु सिद्ध है” अर्थात् जीवादि वस्तु कथञ्चित् एक हैं क्योंकि वस्तुत्व की अन्यथानुपपत्ति है । वे ही वस्तुयें कथञ्चित् पृथक् रूप हैं क्योंकि वस्तुत्व की अन्यथानुपपत्ति है । इस प्रकार से अन्यथानुपपत्ति सिद्ध है । जैसे हेतु का सपक्ष में सत्त्व यह रूप विपक्ष से व्यावृत्ति की अपेक्षा रखता है और विपक्ष से व्यावृत्ति सपक्ष के सत्त्व की अपेक्षा रखती है । तथैव वस्तु का पृथक्त्व धर्म एकत्व सापेक्ष है

1 द्व्योमकुसुमादिवत् । दि० प्र० । 2 हेतुद्वय । दि० प्र० । 3 कथञ्चित्पृथक्त्वसत्त्वे कथञ्चिदेकत्वसत्त्वे च । व्या० प्र० । 4 जीवादिवस्तु । व्या० प्र० । 5 प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते इत्येतदेव समस्तरोक्तं हेतुत्वेन दृष्टव्यम् प्रागपि कथञ्चिदेकत्वपृथक्त्वप्रत्ययहेतुत्वाद्द्वयादवसीयत इति प्रत्ययस्य हेतुत्वकथनात् । तस्यान्यथानुपपत्तिसिद्धा तस्याः समनन्तरानुमानद्वयेन समर्थितत्वात् । दि० प्र० । 6 यथा साधनं सपक्षविपक्षयोः सापेक्षत्वे सति भावाभावाभ्यामविरुद्धं वस्तुप्रत्यक्षादिभिर्दृश्यते । दि० प्र० ।

सपक्षे एव भावो विपक्षेऽभावनिरपेक्षो विपक्षेऽभाव एव वा सपक्षे भावानपेक्षः साधनवस्तुनो रूपं परेषां¹ सिद्धं येन साध्यसाधनविधुरमुदाहरणं² स्यात् । स्वभेदैर्वा संवेदनवत्³ । न हि हेतुमनिच्छतः संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतं वा स्वीकुर्वतोपि चित्रसंवेदनं नीलादिनिर्भासैरद्वयसंवेदनं वा ग्राह्यग्राहकाकारविवेकसंविदाकारैः⁴ परमब्रह्म वा तेजःशब्दज्ञानज्योतिराकारैर्विद्येतराकारैर्वा⁶ स्वभेदैः परस्परनिरपेक्षैर्विशिष्ट⁷ वस्तु सिद्धं येनोदाहरणमनवद्यं⁸ न स्यात् । स्वा-

और एकत्व पृथक्त्व सापेक्ष है क्योंकि हेतु का सपक्ष में रहने रूप जो भाव है वह भाव सपक्ष में ही रहे एवं विपक्ष में जो असत्त्व है उससे निरपेक्ष हो अथवा विपक्ष में नहीं रहने रूप जो असत्त्व है वह असत्त्व विपक्ष में ही रहे सपक्ष में रहने रूप भाव की अपेक्षा न करे । इस प्रकार से सपक्ष में रहने रूप भाव और विपक्ष से व्यावृत्ति रूप अभाव हेतु के ये दोनों रूप अन्यवादियों के यहाँ भी परस्पर निरपेक्ष सिद्ध नहीं हैं कि जिससे यह उदाहरण साध्यसाधन से रहित हो सके । अर्थात् यह उदाहरण साध्यसाधन से रहित नहीं है ।

“अथवा जैसे अपने भेदों से संवेदन का स्वरूप एकरूप सिद्ध है” अर्थात् श्रीअकलंकदेव प्रकारांतर से दृष्टांत को कहते हैं—अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा हेतु को न मानते हुये तथा संवेदनाद्वैत को स्वीकार करते हुये भी बौद्धों के यहाँ नीलादि प्रतिभासरूप परस्पर निरपेक्ष भेदों से विशिष्ट चित्राद्वैतरूप चित्रज्ञान एकरूप से सिद्ध नहीं है क्या ? अर्थात् सिद्ध ही है । अथवा परस्पर निरपेक्ष ग्राह्य-ग्राहकाकार से भेदरूप संविदाकारों से एक निरंश ज्ञानरूप विज्ञानाद्वैत भी उन अद्वैतवादी बौद्धों के यहाँ सिद्ध नहीं है क्या ? या ज्ञानज्योतिरूप आकार भेदों से या विद्या एवं अविद्यारूप परस्पर निरपेक्ष अपने-अपने भेदों से विशिष्ट परमब्रह्मरूप एक तत्त्व की सिद्धि नहीं है क्या ? कि जिससे यह हमारा उदाहरण निर्दोष न हो सके अर्थात् हमारा उदाहरण निर्दोष ही है ।

“अथवा परस्पर सापेक्ष अपने आरंभक अवयवों के द्वारा जैसे औलूक्य वैशेषिकों के यहाँ घटादिरूप एक वस्तु सिद्ध है ।” जैमिनीय में भीमांसक हैं, ब्रह्मवादी में वेदांती हैं, वैशेषिक में औलूक्य

1 सौगतानाम् । एकान्तवादिनाम् । दि० प्र० । 2 स्वभेदैः साधनं यथा इत्युदाहरणं साध्यसाधनविरुद्धं नास्ति । रहितम् । दि० प्र० । 3 अत्र ये केचन् अद्वैतवादिनः साधनं न मन्यन्ते तान् प्रति स्वभेदैः संवेदनं यथा इत्युदाहरणं प्रतिपाद्यम् । अस्वैव प्रपञ्चः क्रियते हेतुमनन्यमानस्य चित्राद्वैतं स्वीकुर्वतः प्रतिवादिनः चित्रज्ञानं परस्परनिरपेक्षैः नीलादिनिर्भासैः स्वभेदैर्विशिष्टं वस्तु सिद्धं न हि । तथा संवेदनाद्वैतं स्वीकुर्वतः प्रतिवादिनः अद्वयसंवेदनं परस्परनिरपेक्षैः ग्राह्यग्राहकाकारविवेकसंविदाकारैः स्वभेदैर्विशिष्टं वस्तु न हि सिद्धम् । तथा पुरुषाद्वैतं स्वीकुर्वतः प्रतिवादिनः । परमब्रह्म परस्परनिरपेक्षैस्तेजः शब्दज्ञानज्योतिराकारैः विद्येतेऽनाकारैर्वा स्वभेदैर्विशिष्टं वस्तुस्वरूपं न हि सिद्धम् । कोथंः सर्वं विरुद्धं वस्तु न भवति । दि० प्र० । 4 विवेकौ च संविदाकारश्च । दि० प्र० । 5 सर्वंप्रकाशः । दि० प्र० । 6 ब्रह्मस्वरूपम् । दि० प्र० । 7 किन्तु परस्परसापेक्षैर्भेदैरेवविधवस्तुसिद्धिमितिभावः । व्या० प्र० । 8 इदमुदाहरणं येन केनानवद्यं न स्यादपि त्वनवद्यमेव = स्वभेदैः संवेदनवत् इत्युदाहरणम् । दि० प्र० ।

रम्भकावयवैर्वा घटादिवत्¹ औलूक्यानाम्² । सत्त्वादिभिः प्रधानवद्वा कापिलानाम् । तादृशं हि साधनं³ स्वार्थक्रियायाः क्षीराद्याहरणादिकाया महदादिसृष्टिरूपाया वा स्वविषयज्ञान-जननलक्षणाया वा सिद्धमेव । तदन्तरेणापि पाठान्तरमिदं⁴ बहु संगृहीतं भवति, कारिकायां स्वभेदैः साधनं यथेत्यत्र साधनशब्देन साधनसामान्यस्याभिधानात्⁵ स्वभेदशब्देन च तत्सामान्यस्य वचनात् । यथायोगं विशेषव्याख्यानादिष्टविशेषसिद्धेर्बहुसंग्रहः⁶ ।

हैं, सौगत में शून्यवादी हैं, नैयायिक में अक्षपाद, जैनमत में स्याद्वादिक, चार्वाक में लौकायतिक, नास्तिक में दृहस्पति माने हैं । या जैसे कपिल के अनुयायियों के यहाँ परस्पर सापेक्ष सत्त्व, रजः, तम से एक प्रधानरूप वस्तु सिद्ध है “क्योंकि अपनी अर्थक्रिया को करने वाले हेतु वैसे ही होते हैं ।”

जो परस्पर सापेक्ष साधन हैं वे घटादि की क्षीरादि आहरण लक्षण स्वार्थक्रिया को सिद्ध ही करते हैं अथवा एकरूप प्रधान से महान् अहंकार आदि की सृष्टिरूप स्वार्थक्रिया को भी सिद्ध करते हैं या अद्वैतैकांत की स्वविषय में ज्ञान जनन लक्षण अर्थक्रिया पाई ही जाती है ।

भावार्थ—अद्वैतैकांतवादी तो चित्राद्वैत, ज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदिरूप से तत्त्व को एक रूप ही मानते हैं फिर भी उसमें अनेक भेद पाये जाते हैं जैसे कि चित्रज्ञान में नीले, पीले आदि अनेक प्रतिभास भेद मौजूद ही हैं । तथैव विज्ञानाद्वैत में वेद्य-वेदकाकार भेद है ही है एवं ब्रह्माद्वैत में विद्या अविद्या रूप भेद है ही है । वे लोग भी स्वयं इन भेदों को किसी न किसी प्रकार से स्वीकार भी करते हैं । उसी प्रकार से अनेक परमाणुरूप अवयवों से घटादिरूप एक वस्तु बनती है और सत्त्वादि गुणों से एक प्रधान होता है । अनेक में एक की कल्पना और एक में अनेक की कल्पना तो सभी ने किसी न किसी प्रकार से स्वीकार कर ही ली है एवं हेतु में भी पक्ष धर्मादि अनेक गुण हैं तथैव प्रत्येक जीवादि कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा से एकत्व एषं अभेदरूप हैं तथा वे ही वस्तु पर्यायों की अपेक्षा से कथंचित् पृथक्त्व और अनेकरूप भी हैं क्योंकि सापेक्षनय ही वस्तुभूत हैं अन्यथा अवस्तु हैं ।

“उदाहरण के बिना भी यह पाठान्तर बहु संगृहीत होता है ।”

कारिका में “स्वभेदैः साधनं यथा” इस प्रकार से यहाँ साधन शब्द से साधन सामान्य का कथन किया गया है और “स्वभेद” शब्द से उसके सामान्य का वचन है यथायोग्य विशेष व्याख्यान से इष्ट विशेष की सिद्धि होती है इसलिये बहुसंग्रह किया गया है ।

1 घटादिविशिष्टम् । दि० प्र० । 2 वैशेषिकादीनां यथा घटादिसाधनं मृद्द्रव्यादिपरिणतपुद्गलपरमाणुलक्षणेः स्वारम्भकावयवैर्विशिष्टं क्षीराद्याहरणादिकाद्यास्वार्थं क्रियायाः साधकं सिद्धमेव । अथवा कापिलानां सांख्यानां यथा प्रधानं साधनं सत्त्वरजस्तमोलक्षणाः स्वभेदैर्विशिष्टं सत् महदादिसृष्टिरूपायाः स्वविषयज्ञानजननलक्षणाया वा स्वार्थक्रियायाः साधकमेव । दि० प्र० । 3 साधकम् । दि० प्र० । 4 संभेदनं घटादिकञ्च । न्या० प्र० । 5 भेदः । दि० प्र० । 6 इष्टविशेषः सिद्धचत्यतो बहुसंग्रहः कृत आचार्यैः । दि० प्र० ।

ननु चैकत्वप्रत्ययात्पृथक्त्वप्रत्ययाच्च कथमेकत्वं पृथक्त्वं च जीवादीनामुपपन्नं तस्य¹ निर्विषयत्वादित्यारेकायां² तस्य सविषयत्वमादर्शयितुमनसः स्वामिनः प्राहुः ।—

³सत्सामान्यात्⁴ सर्वैक्यं⁵ पृथग्द्रव्यादिभेदतः⁷ ।

⁸भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥३४॥

⁹तु विशेषणे¹⁰ । तेन सत्सामान्यं¹¹ विशेषणमाश्रित्य¹² सर्वेषां¹³ जीवादीनामैक्यमिति नैकत्वप्रत्ययो निर्विषयः, तस्य सत्सामान्यविषयत्वात् । पृथक् सर्वं जीवादि¹⁴द्रव्यादिपदार्थभेद-

उत्थानिका—अब बौद्ध कहता है कि एकत्व के निमित्त से और पृथक्त्व के निमित्त से जीवादि वस्तुओं में एकत्व और पृथक्त्व कैसे सिद्ध हुआ ? क्योंकि वे एकत्व, पृथक्त्व निर्विषयक हैं, अर्थात् जीवादि वस्तु में सर्वथा एकत्व तो प्रत्यक्ष से बाधित है और पृथक्त्व तो सत् आदिरूप से बाधित है अतएव ये दोनों विषय रहित शून्यरूप हैं । इस प्रकार से बौद्ध की शंका के होने पर श्रीस्वामी समंतभद्राचार्यवर्य उन दोनों को सविषयत्व बतलाने की इच्छा रखते हुये कहते हैं—

सत् सामान्य अपेक्षा जग में, सभी वस्तुयें एकस्वरूप ।

द्रव्य तथा गुणपर्यय से सब, वस्तु पृथक् हैं भेदस्वरूप ॥

यथा असाधारण हेतु भी, भेदाभेद विवक्षा से ।

है अनेक अरु एक उसी विधि, सब कुछ एक अनेक रहें ॥३४॥

कारिकार्थ—भेद और अभेद की विवक्षा में असाधारण हेतु की तरह सत्सामान्य की अपेक्षा से सभी जीवादि वस्तुओं में एकत्व है एवं द्रव्यादि के भेद की अपेक्षा पृथक्त्व भी है ॥३४॥

तु शब्द विशेषण अर्थ में है । इससे सत्सामान्यरूप विशेषण का आश्रय लेकर सभी जीवादि वस्तुओं में एकत्व सिद्ध है इसलिये एकत्व ज्ञान निर्विषयक नहीं है क्योंकि वह एकत्व सत्सामान्य की

1 तस्यैकत्वप्रत्ययस्य पृथक्त्वप्रत्ययस्य च निर्विषयत्वादवस्तुत्वात् इति शंकायां सत्यां तस्य पृथक्त्वेकत्वप्रत्ययस्य वस्तुत्वं प्रदर्शयितु मनसः श्रीसमन्तभद्राः कारिकां ब्रुवन्ति । दि० प्र० । 2 आशंकायां सत्याम् । दि० प्र० । 3 सामान्यमेवहेतुः हेतुविशेषणं सदिति सत्सामान्यं विशेषणमाश्रित्य । दि० प्र० । 4 विशेषे । दि० प्र० । 5 सर्वं जीवादिद्रव्यम् । दि० प्र० । 6 गुणादिपदार्थभेदमाश्रित्य । दि० प्र० । 7 यथा पक्षधर्मत्वादिभ्योऽभेदविवक्षया हेतोरैकानेकत्वम् । तथा जीवादी सामान्यविशेषापेक्षया एकानेकत्वं ज्ञातव्यम् । दि० प्र० । 8 हेतुशब्देनाभुमानावयव-भूतो हेतुर्ग्राह्यः । अथवार्थं क्रियानिष्पादकघटादिलक्षणाथोपि तेन ग्राह्य इत्युक्ते विशेषरूपो ज्ञापकः । कारको वा हेतुस्तत्र ज्ञापकोऽस्यादेर्धूमादिः कारको घटादेर्मृत्पिण्डादिः । दि० प्र० । 9 निर्विशेषणे इति पा० । दि० प्र० । 10 वस्त्वपेक्षया यत्सामान्यं विशेषणम् । केन निर्विशेषणत्वेन विशेषणे विशेषणाभावो निर्विशेषणं तस्य भावस्तेन विशेषणमाश्रित्य जीवादिद्रव्याणां सर्वेषामेकत्वप्रत्ययो निर्विषयो न । सविषय एव । तस्य एकत्वप्रत्ययस्य सत्सामान्यगोचरत्वात् । दि० प्र० । 11 सामान्यमेव हेतुविशेषणं सदिति । दि० प्र० । 12 जीवादिः धर्मिणो विशेषणम् । दि० प्र० । 13 धर्मिणाम् । व्या० प्र० । 14 साध्यम् । दि० प्र० ।

माश्रित्यानुभूयते । ततो¹ न पृथक्त्वप्रत्ययोपि निर्विषयः, तस्य² द्रव्यादिभेदविषयत्वादिति निवेदितं बोद्धव्यम् । हेतुरत्र ज्ञापकः कारकश्चोच्यते । स चासाधारणो यथास्वं प्रवादिभिर्विशेषेणेष्टत्वात् । स³ च यथा स्वभेदानां पक्षधर्मत्वादीनां स्वारम्भकावयवादीनां⁴ वा विवक्षायां पृथगेव⁵ हेतुत्वेन घटावयव्यादित्वेन⁶ वा तदभेदविवक्षायामेक एव तथा सर्वं विवादाध्यासितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकघटनात्⁸ ।

विषय करता है । एवं सभी जीवादि वस्तुयें द्रव्यादि पदार्थों के भेद का आश्रय लेकर पृथक्—भिन्न-भिन्नरूप अनुभव में आ रही हैं इसलिये पृथक्त्व ज्ञान भी निर्विषय नहीं है क्योंकि वह द्रव्यादि के भेदों को विषय करता है इस प्रकार कहा गया समझना चाहिये । यहाँ हेतु से ज्ञापक और कारकरूप दोनों हेतु ग्रहण किये गये हैं अर्थात् हेतु के दो भेद हैं—ज्ञापक और कारक अनुमान प्रकरण के हेतुओं को ज्ञापक हेतु कहते हैं यथा—अग्नि को सिद्ध करने में “धूमवत्त्वात् हेतु” और मुहूर्त के पहले भरणि नक्षत्र के उदय को सिद्ध करने में कृत्तिका का उदयरूप हेतु । ये हेतु मात्र अपने साध्य को बतलाने वाले हैं । तथा कार्य करने वाले साधनों को कारक हेतु कहते हैं । जैसे कि धूम का कारक हेतु अग्नि है । एवं घट का कुम्हार मिट्टी दण्डादि ।

कहीं-कहीं कारक हेतु साध्य हो जाता है । उस कारक हेतु का कार्य ज्ञापक हेतु बन जाता है । जैसे “पर्वतो वन्निमान् धूमात्” यहाँ कारकहेतुरूप अग्नि को साध्य बनाया है और अग्नि के कार्यरूप धूम को ज्ञापक हेतु बनाया है और वह असाधारणहेतु अपने स्वरूप का उल्लंघन न करके प्रवादियों को विशेषरूप से इष्ट है । जिस प्रकार से वह हेतु ज्ञापक हेतु के पक्ष में पक्ष धर्मत्व आदि अपने भेदों की विवक्षा से हेतुरूप से पृथक्—भिन्न ही है । और वही हेतु अभेद विवक्षा से विवक्षित होने से एक ही है । अथवा कारक हेतु के पक्ष में अपने घट आदि के आरम्भक द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि अवयवों की अपेक्षा से पृथक् ही है एवं घटादि अवयवों से उस अभेद विवक्षा से विवक्षित होने पर वे घटादि एक ही हैं । अर्थात् हेतु हेतुसामान्य से एकरूप है और पक्षधर्मत्व आदि की अपेक्षा से तीन आदि भेदरूप हैं अतः हेतु एकत्व और पृथक्त्व धर्म से सहित है यह उदाहरण ज्ञापक हेतु की अपेक्षा है । वैसे ही घट आदि अवयवों की अपेक्षा एक हैं अवयवों की अपेक्षा पृथक्-पृथक् है अतः इसमें भी एकत्व—पृथक्त्व धर्म हैं यह उदाहरण कारक हेतु अपेक्षा से है । उसी प्रकार से विवाद की कोटि में आये हुये सभी जीवादि वस्तु एकानेकरूप ही हैं ।

इस प्रकार से दृष्टान्त और दृष्टान्त की व्यवस्था सुघटितरूप है ।

1 गुणादि । दि० प्र० । 2 पृथक्प्रत्ययस्य । दि० प्र० । 3 स चासाधारणहेतुः यथाऽऽत्मभेदानां पक्षधर्मत्वसपक्ष-सत्त्वविपक्षव्यावृत्त्यादिलक्षणानां ज्ञापकः । स्वारम्भकावयवादीनामुत्पादकः सन्निति विवक्षायां जातायां सत्यां पृथक्त्वमेव । दि० प्र० । 4 सत्त्वरजस्तमः । व्या० प्र० । 5 भेदो भिन्न इत्यर्थः । व्या० प्र० । 6 आदिशब्दत्वेन प्रधानत्वेन । व्या० प्र० । 7 ज्ञापकहेतोः कारकहेतोश्च । व्या० प्र० । 8 संभवः । व्या० प्र० ।

[सम्पूर्णपदार्थेषु सदृशपरिणामे सत्यपि कथमेकत्वम् ?]

कश्चिदाह^१, सर्वार्थानां^२ समानपरिणामेषु कथमेक्यं भेदानां^३ स्वभावसाङ्ख्यार्थानुपपत्तेः ।

न हि भावाः परस्परेणात्मानं^४ मिश्रयन्ति, भेदप्रतीतिविरोधात् । तेषामतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या समानव्यवहारभाक्त्वेऽपि परमार्थतोऽसंकीर्णस्वभावत्वात् । तदुक्तं

“सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः । स्वभावपरभावाभ्यां^५ यस्माद्वावृत्तिभागिनः ॥१॥

तस्माद्यतो यथार्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः । जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते^६ तद्विशेषावगाहिनः^७ ॥२॥

[सभी पदार्थों में सदृशपरिणाम होने पर भी एकत्व कैसे है ?]

बौद्ध—“सभी पदार्थों में सदृशपरिणाम होने पर भी उनमें एकत्व कैसे हो सकता है ? क्योंकि भेदों में स्वभाव संकर तो बन नहीं सकता है ।” सभी भाव—पदार्थ परस्पर में अपने स्वरूप को मिश्रित नहीं करते हैं अन्यथा भेद की प्रतीति का विरोध हो जायेगा । किन्तु भेद की प्रतीति तो देखी जाती है ।

उन पदार्थों में अतत्कार्य-कारण की व्यावृत्ति से समान व्यवहार होने पर भी परमार्थ से वे असंकीर्ण स्वभाव वाले ही हैं अर्थात् सभी पदार्थ असत्कार्य कारण की व्यावृत्तिलक्षण वाले सामान्य से यद्यपि सदृश हैं फिर भी वास्तव में भिन्न-भिन्न—अमिश्रित स्वभाववाले ही हैं । कार्य से व्यावृत्त कारण है और कारण से व्यावृत्त कार्य है । अतत्कार्य से व्यावृत्त तत्कार्य है एवं अतत्कारण से व्यावृत्त तत्कारण है । बौद्धों के यहाँ अतत्कारणकार्य से व्यावृत्तिलक्षणवाला सामान्य है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—सभी पदार्थ स्वभाव से अपने-अपने स्वभाव में व्यवस्थित हैं क्योंकि स्वभाव-परभाव के निमित्त से व्यावृत्तिभाक्—भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले हैं ॥१॥

श्लोकार्थ—इसलिये जिस अर्थ से पदार्थों की व्यावृत्ति है उस निमित्त से ही व्यावृत्ति विशेष का अवगाहन करने वाले जाति भेद कल्पित किये गये हैं अर्थात् अगोरूप से गौ की व्यावृत्ति है और अशबल रूप से शबल की व्यावृत्ति है इसलिये व्यावृत्ति विशेष से युक्त गौ, गौ, अश्व, अश्व इत्यादि जाति भेद कल्पित किये गये हैं किन्तु वे जाति भेद वास्तविक नहीं हैं ॥२॥

1 सौगतः । व्या० प्र० । 2 सर्वार्थ इति पा० । दि० प्र० । अत्राह सौगतः सर्वेषामर्थानामसमानपरिणामे सत्यैक्यं कथं न कथमपि, कस्माद्धेतोः स्वभावसांकर्यासंभवात्—पदार्था अन्योन्यं स्वभावं न हि मिश्रीकुर्वन्ति, मिश्रयन्ति चेत्तदा भेदप्रतीतिविरोद्धयते—तेषां भावानां कार्यञ्च कारणञ्च कार्यकारणे ते च ते कार्यकारणे तत्कार्यकारणे न तत्कार्यकारणे अतत्कार्यकारणे तयोर्व्यावृत्तिरभावस्तथा कृत्वा यद्यप्यस्ति समानव्यवहारता तथापि वस्तुनोऽमितस्वभावत्वं वर्तते । दि० प्र० । 3 जीवादिनाम् । विशेषाणाम् । दि० प्र० । 4 स्वरूपम् । दि० प्र० । 5 सजातीय । विजातीय । सजातीयविजातीयाभ्याम् । दि० प्र० । 6 तयोः स्वभावपरभावयोर्विशेषारूढाः । दि० प्र० । 7 स्वलक्षण । दि० प्र० ।

ततो यो येन धर्मेण विशेषः संप्रतीयते । न स शक्यस्ततोऽन्येन^१, तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥३॥”
इति ।

[अधुना बोद्धव्यं पक्षं निराकुर्वन्ति जैनाचार्याः ।]

अत्राभिधीयते । जीवादिभेदानामैक्यं, यथैकभेदस्य स्वभावविच्छेदाभावात्^२ । न हि^३ स्वभावविच्छेदाभावाद्गते नीलस्वलक्षणस्य^४ संवेदनस्य^५ वा कस्यचिदेकस्य स्वयमिष्टस्याप्येकत्वनिबन्धनं किञ्चिदस्ति । नापि कथञ्चिद्भिन्नानामपि^६ भावानां सत्सामान्यस्वभावेन^७ विच्छेदोस्ति, तथा विच्छेदाभावस्यानुभवात् । अन्यथैकं सदन्यदसत् स्यात् । ततः समञ्जसं सर्वमेकं सदविशेषादिति^८, सदात्मना सर्वभावानां परस्परमिश्रणेऽपि^९ साङ्कर्याप्रसक्तेः^{१०} चित्रै-

श्लोकार्थ—इसलिये जो जिस भेद लक्षण धर्म से विशेषरूप प्रतीति में आता है, उसको अन्य से निश्चित करना शक्य नहीं है । इस कारण से उनकी भिन्न-भिन्न ही व्यवस्था है ॥३॥

[इस प्रकार से बौद्धों के पूर्वपक्ष का जैनाचार्य खण्डन करते हैं ।]

जैन—जीवादि भेदों में एकत्व है, “जिस प्रकार से एक भेद में स्वभाव-विच्छेद का अभाव होने से एकत्व है उसी प्रकार से जीवादि वस्तुओं में भी ऐक्य है” क्योंकि स्वभाव विच्छेदाभाव के बिना स्वयं एकरूप से इष्ट भी किसी नीलस्वलक्षण अथवा संवेदन में एकत्व का कारण अन्य कुछ नहीं है । अर्थात् नीलस्वलक्षण अथवा चित्रज्ञान एक हैं क्योंकि उनमें स्वभाव विच्छेद का अभाव है । “मतलब यह है कि यह स्वभाव विच्छेदाभाव ही इनमें ऐक्य की व्यवस्था करता है, अन्य कोई नहीं करता है ।

[स्वभाव विच्छेद के अभाव से नीलस्वलक्षण और ज्ञान में ऐक्य निमित्त हो जावे किन्तु भिन्न पदार्थों में नहीं है कारण कि उनमें विच्छेद पाया जाता है ऐसी शंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं ।]

कथञ्चित् भिन्न पदार्थों में भी सत्सामान्य स्वभाव से स्वभावविच्छेद-स्वभावभेद नहीं हैं क्योंकि सभी में सत् रूप से भेद का अभाव-अभेद अनुभव में आ रहा है ।

“अन्यथा—यदि ऐसा नहीं मानों तो एक पदार्थ सत् और अन्य सभी पदार्थ असत् हो जायेंगे, सभी पदार्थ सत् रूप ही नहीं रहेंगे इसलिये स्वभावभेद का अभाव होने से “सभी जीवादि वस्तु एक हैं” यह कथन समंजस है क्योंकि सभी में सत्स्वरूप समान ही है ।” एवं सत्सामान्य से सभी पदार्थों में

- १ भेदलक्षणात् । अभेदरूपेण धर्मेण । अन्येन संप्रत्येतुं न शक्य इति संबन्धः । दि० प्र० । २ परित्यागः । दि० प्र० । ३ स्याद्वादी वदति हे सौगत ! नीलार्थस्य बहितत्वस्य नीलज्ञानस्यान्तस्तत्त्वस्य वा एकस्य कस्यचित्स्वयं सौगतैरभ्युपगतस्य स्वभावं विना अन्यत् किञ्चिदेकत्वकारणं न ह्यस्ति । दि० प्र० । ४ बाह्य । दि० प्र० । ५ अन्त । दि० प्र० । ६ कथञ्चित् पृथग्भूतानामपि पदार्थानां सत्सामान्यस्वभावेन कृत्वा पृथक्त्वं नास्ति कस्मात् । तथा सत्सामान्यस्वभावेन विच्छेदाभावो तु भूयते यतः अन्यथा सत्सामान्येन विच्छेदाभावो नानुभूयते चेत्तदा एकं षटादिवस्तु सत्त्वं भवति । अन्यत्षटादिवस्तुसत्त्वं भवति । दि० प्र० । ७ कृत्वा । व्या० प्र० । ८ एतत् । दि० प्र० । ९ सदात्मना ऐक्येऽपि । व्या० प्र० । १० सांकर्यं न प्रसजति यतः । दि० प्र० ।

कज्ञाननीलादिनिर्भासानां¹ संविदात्मनैकत्वेऽपि साङ्कर्याप्रसक्तिवत् । नहि तेषामनेकत्वे² चित्र-
ज्ञानसिद्धिः सर्वथैकत्ववत् । तत³ एव न किञ्चिद्भिन्नज्ञानं निरंशसंवेदनाद्वैतोपगमादिति⁴ चेन्न,
तत्रापि वेद्याकारविवेकसंविदाकारयोः⁵ परोक्षप्रत्यक्षयोरेकसंवेदनत्वेऽपि साङ्कर्यानिष्टेरन्यथा⁷
संविदाकारस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात् वेद्याकारविवेकवत् । तस्य वा प्रत्यक्षत्वं संविदाकारवन्
स्यात् । न⁸ चैवं तद्विप्रतिपत्तिविरोधात्⁹ समारोपस्यापि सर्वथाप्यविशेषे क्वचिदेवासंभवा-

परस्पर में मिश्रण-एक्य के होने पर भी सांकर्य दोष का प्रसंग नहीं आता है जैसे कि एक चित्रज्ञान के नील, पीत आदि प्रतिभास भेदों में संवित्-ज्ञानरूप से एकत्व होने पर भी निरंश संवेदनाद्वैतवादियों के यहाँ सांकर्य दोष का प्रसंग नहीं है ।

यदि आप उस चित्र के नीलादि प्रतिभासों को अनेकरूप मानों तब तो एक चित्रज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकेगी, जैसे कि सर्वथा एकत्व सिद्ध नहीं है ।

विज्ञानाद्वैतवादी—इसी हेतु से किञ्चित् भी भिन्न ज्ञान नहीं है क्योंकि हमने निरंशरूप संवेदनाद्वैत को स्वीकार किया है अर्थात् निरंशज्ञान मात्र एक तत्त्व है उससे भिन्न ज्ञान कुछ भी नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ पर भी वेद्याकार से भिन्न संविदाकार है जो कि परोक्ष और प्रत्यक्षरूप है उनमें एक ज्ञानत्व होने पर भी संकर दोष इष्ट नहीं है अर्थात् “वेद्याकार परोक्ष है जैसे यह नील वस्तु है क्योंकि वेद्याकार की अन्यथा उपपत्ति है यह अनुमान सिद्ध है और संविदाकार प्रत्यक्ष है क्योंकि वह अनुभवसिद्ध है । इस प्रकार इन परोक्ष प्रत्यक्षरूप वेद्याकार-संविदाकार में आपने एक ज्ञानत्व स्वीकार किया है उसमें संकर दोष आपको इष्ट नहीं है ।

अन्यथा वेद्याकार विवेक के समान संविदाकार भी परोक्ष हो जायेगा अथवा संविदाकार के समान वह वेद्याकार भी प्रत्यक्ष हो जायेगा परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि इनमें विविध प्रतिपत्ति-ज्ञान का विरोध है अर्थात् इन वेद्याकार-संविदाकार में परोक्ष-प्रत्यक्षरूप दो प्रकार के ज्ञान का अनुभव नहीं होता है । और यदि आप समारोप में भी सर्वथा अभेद मानों तब तो किसी वेद्यवेदकाकार विवेक में भी भेद संभव नहीं होगा जैसे कि दोनों में भी भेद के मानने पर किसी संविदाकार में निश्चय असंभव है ।

1 ता । व्या० प्र० । 2 सर्वथा । व्या० प्र० । 3 लब्ध्वावसरो योगाचारः प्रत्यवतिष्ठते । व्या० प्र० ।
4 सर्वथाऽनेकाकारचित्रज्ञानस्य सिद्धयभावादेव । व्या० प्र० । 5 भेद । व्या० प्र० । 6 परिच्छिन्तिः । व्या० प्र० ।
7 सांकर्यस्य दृष्टिर्भवति चेत्तदा संविदाकारस्यापि परोक्षत्वमायाति यथा वेद्याकारविवेकस्य । दि० प्र० ।
8 संविदाकारस्य परोक्षत्वं वेद्याकारविवेकस्य प्रत्यक्षत्वं एवं न च । एवं भवति चेत्तदा तयोः संविदाकारवेद्याकारयो-
विवेकयोः विवादो नास्ति—न घटते—अत्र प्रतिवाद्यभिप्रायं शंकते स्याद्वादी किं शंकते तयोः समारोपोस्तीति
चेन्न । तयोर्वेद्याकारविवेकसंविदाकारयोः सर्वथाऽभेदे सति क्वचिदेकत्रांशे समारोपस्य संभवो न घटते । किंवत्
निश्चयवत् यथा निश्चयस्य संभवो न घटत इति । दि० प्र० । 9 वेद्याकारसंविदाकारयोर्निरंशकज्ञानेन । दि० प्र० ।

निश्चयवत् । तस्यैव सतो^१ द्रव्यादिभेदात् पृथक्त्वमुदाहरणं पूर्ववत् । तथा च^२ बहिरन्तश्च भावानां सदात्मनैकत्वं द्रव्याद्यात्मना पृथक्त्वं च स्वस्वभावः^३ सिद्धो, न पुनरसाधारणं भिन्नरूपम् । तेन च स्वस्वभावेन व्यवस्थितेः स्वभावपरभावाभ्यां भावाः स्वभावेनानुवृत्तिव्यावृत्तिभागिनो, न पुनरेकान्ततो व्यावृत्तिभागिनः । ^४तस्माद्यतो यतोर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धना भेदविशेषा एव प्रकल्प्यन्ते, न जातिविशेषाः प्रतीतिविरोधात् । ^५यतो यतस्त्वनुवृत्तिस्ततस्ततो^६ जातयः प्रकल्प्यन्ते^७, तासामेवानुवृत्तिप्रत्ययलिङ्गत्वात्^८ । ततो यो येन धर्मेण विशेषोऽविशेषश्च

“उन्हीं सत्स्वरूप जीवादि वस्तुओं में ही द्रव्यादि के भेद से पृथक्त्व सिद्ध है पूर्व के समान अर्थात् जैसे प्रतिभास भेदों से चित्रज्ञान अनेक है तथैव द्रव्यादि के भेदों से जीवादि वस्तुयें अनेक हैं ।” इस प्रकार से बहिरंग, अंतरंग सभी पदार्थों में सत्स्वरूप से एकत्व एवं द्रव्यादि के भेद से पृथक्त्व सिद्ध है जो कि वस्तु का स्वस्वभाव है, किंतु उनमें असाधारण भिन्नरूप नहीं है अर्थात् सर्वथा विधि से—एकत्व से निरपेक्ष पृथक्त्व या पृथक्त्व से निरपेक्ष एकत्व नहीं है । एवं उस स्वस्वभाव से व्यवस्थित हो जाने से स्वभाव, परभाव के द्वारा सभी पदार्थ स्वभाव से ही अनुवृत्ति-व्यावृत्ति स्वरूप वाले हैं किन्तु वे एकांत से व्यावृत्ति स्वभाव वाले ही नहीं हैं अर्थात् सभी पदार्थ सामान्य विशेषात्मक हैं । जिस प्रकार से स्वभाव से अनुवृत्तिरूप होना वस्तु का स्वभाव है उसी प्रकार से परभाव से व्यावृत्तिरूप होना भी वस्तु का स्वभाव है किन्तु बौद्धाभिमत पर से व्यावृत्तिरूप मात्र होना ही वस्तु का स्वभाव नहीं है ।

इसलिये जिस-जिस अर्थ से पदार्थों में व्यावृत्ति है उस-उस निमित्तक ही भेद विशेष निश्चित किये जाते हैं किन्तु जाति विशेषरूप से नहीं क्योंकि प्रतीति में विरोध आता है अर्थात् व्यावृत्ति से विशेषों की (भेदों की) ही प्रतीति होती है, जाति-सामान्य की नहीं । कारण सामान्य तो अनुवृत्तिरूप से प्रतीति में आ रहा है अतः विपर्यय से प्रतीति में विरोध है ऐसा भाव समझना ।

जिस-जिससे अनुवृत्ति-अन्वय होता है उस-उससे जातियों—सामान्यों का निश्चय किया जाता है क्योंकि वे सामान्य ही अन्वयज्ञान में कारण हैं । जो जिस धर्म से विशेष और अविशेषरूप प्रतीति में आता है उसको उससे भिन्नरूप से निश्चित करना शक्य नहीं है अर्थात् पृथक्त्व धर्म से भेद का अनुभव आता है और सत्सामान्य धर्म से अभेद का अनुभव आता है ।

१ विलिख्यमानस्यैव वस्तुनः द्रव्यादिभेदात्पृथक्त्वम् । दि० प्र० । २ अतः परं स्याद्वादी यदुक्तं सौगतेन सर्वं भावाः स्वभावेन द्रव्यादिकारिकाश्रये । तदेव विपरीतव्याख्यानेन खण्डयति—बहिर्भावानाञ्च सदात्मना ऐक्यं द्रव्याद्यात्मना पृथक्त्वम् । एवमेकत्व पृथगेकात्मकमित्त्वं स्वस्वभावः सिद्धो ज्ञातव्यः । न पुनः असाधारणं भिन्नम् । कोर्थः सौगताभ्युपगतं व्यावृत्तिलक्षणम् । स्वस्वभावः सिद्धो न । ते न च एकत्वपृथक्त्वलक्षणे न स्वस्वभावानां पदार्थानां व्यवस्थितघटनात् । दि० प्र० । ३ स्वरूपम् । दि० प्र० । ४ स्वभावेनानुवृत्तिभागिनो न पुनः सर्वथा व्यावृत्तिभागिनो यस्मात् । एकत्वेनानेकत्वेन स्वरूपेण । दि० प्र० । ५ यं यमर्थमाश्रित्य । व्या० प्र० । ६ तं तमर्थमाश्रित्य । दि० प्र० । ७ ज्ञायन्ते । दि० प्र० । ८ वसः । दि० प्र० ।

संप्रतीयते, न स शक्यस्ततोन्येन¹ । तेन भिन्नाऽभिन्ना² च व्यवस्थितिः पदार्थानां, तथा प्रतीते-
र्बाधकाभावात् । ततः स्थितमेतत्, सत्सामान्यविवक्षायां सर्वेषामैक्यं, द्रव्यादिभेदविवक्षायां
पृथक्त्वमेव, इतरस्याविवक्षायां³ गुणभावात् ।

इसलिये सभी पदार्थ भिन्न और अभिन्नरूप से व्यवस्थित हैं क्योंकि उस प्रकार की प्रतीति
में बाधक प्रमाण का अभाव है अतः यह बात पूर्णतया निश्चित हो गई कि सत्सामान्य की विवक्षा
करने पर सभी पदार्थों में ऐक्य है और द्रव्यादि के भेद की विवक्षा करने पर सभी में पृथक्त्व ही है
क्योंकि इतर धर्मों की विवक्षा न होने पर गौण भाव से इतर धर्म रहते हैं अर्थात् जीवादि वस्तु में
एकत्व की विवक्षा करने पर पृथक्त्व गौण—अप्रधान हो जाता है और पृथक्त्व—भेद की विवक्षा करने
पर एकत्व अप्रधान हो जाता है यह भाव है ।



1 पृथक्त्वैनेव सामान्यलक्षणेनेव वा प्रत्येतुं न शक्यः । व्या० प्र० । 2 तेनाभिन्ना भिन्ना च इति पा० । द्वि० प्र०, व्या०
प्र० । 3 ऐक्यपृथक्त्वयोर्मध्य एकस्य विवक्षायां प्राधान्यम् । अन्यस्याविवक्षायां गुणभावो घटते । वि० प्र० ।

पृथक्त्वैकत्वरूप अनेकांत की सिद्धि का सारांश

यद्यपि पूर्व की कारिकाओं द्वारा सर्वथा एकत्व एवं सर्वथा पृथक्त्व का खण्डन किया गया है फिर भी उसे ही दृढ़ करने के लिये अनेकांत की सिद्धि करते हैं क्योंकि जाने हुये को भी पुनः विशेषतया जानने के लिये हम जैनों ने प्रमाणसंप्लव को दोष नहीं माना है अतएव परस्पर निरपेक्ष पृथक्त्व एवं एकत्व नहीं है ।

जीवादि वस्तु सापेक्ष सत् एकत्वरूप हैं क्योंकि कथंचित् एकत्व का अनुभव आ रहा है तथैव वे ही जीवादि वस्तु कथंचित् पृथक्त्वरूप हैं क्योंकि कथंचित् भेदरूप से प्रतीति है अतएव पक्षधर्मादिरूप एक हेतु के समान सभी जीवादि पदार्थ कथंचित् भेदाभेदात्मक हैं । एक में अनेक की कल्पना तो सभी ने किसी न किसी रूप से मानी ही है जैसे—

विज्ञानाद्वैतवादी के यहाँ अन्वय, व्यतिरेक के द्वारा हेतु को न मानते हुये संवेदनाद्वैत को स्वीकार करते हुये नीलादि प्रतिभासरूप परस्पर निरपेक्ष भेदों से विशिष्ट चित्रज्ञान एकरूप सिद्ध है । वेद्य वेदकाकार से भेदरूप होकर भी ज्ञान से एकरूप विज्ञानाद्वैत भी सिद्ध है तथैव वेदांतवादी हेतु को न मानकर अद्वैत पुरुष को ही मानते हैं फिर भी पुरुष शब्द या ज्ञानज्योति आकार भेदवाला है एवं विद्या और अविद्यारूप अनेक भेद वाला है । वैशेषिक अपने भिन्न-भिन्न अवयवों से निर्मित अवयवी एक मानते हैं तथा सांख्य सत्त्व, रज, तम से एक प्रधानरूप वस्तु को मानते हैं ।

हेतु भी पक्षधर्मादि से सहित है । तथैव जीवादि वस्तु कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा एकरूप हैं । तथा पर्यायों की अपेक्षा से अनेक रूप हैं ।

बौद्ध कहता है कि एकत्व के निमित्त से पृथक्त्व एवं पृथक्त्व के निमित्त से एकत्व के होने से ये दोनों ही अन्योन्याश्रित होने से विषयरहित शून्य हैं ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि सत्सामान्य की अपेक्षा से सभी वस्तु एकत्वरूप हैं एवं द्रव्यादि के भेद की विवक्षा से सभी वस्तुयें भेदरूप हैं ये एकत्व-पृथक्त्व ज्ञान निविषयक नहीं है । सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न—अमिश्रित स्वभाव वाले ही हैं ऐसा एकांत नहीं करना क्योंकि कथंचित् भिन्न-भिन्न पदार्थों में भी सत्सामान्य स्वभाव से स्वभावभेद नहीं है सभी पदार्थ सत् रूप हैं ऐसा अनुभव अबाधित है अतः स्वभावभेद के न होने से सभी जीवादि पदार्थ एकत्वरूप हैं यह कथन ठीक ही है । हमारे यहाँ परस्पर मिश्रण दोष नहीं आता है जैसे कि चित्रज्ञान के नील पीतादि प्रतिभास भेदों में ज्ञान से एकत्व है ।

सार का सार—आचार्यों का कहना है कि सभी वस्तु कथंचित् एक हैं क्योंकि सत् रूप हैं अथवा द्रव्यरूप हैं इत्यादि, एवं सभी वस्तु कथंचित् पृथक्-पृथक् हैं क्योंकि उन-उन का अस्तित्व अलग-अलग है । अवांतर सत्ता से सभी वस्तुओं का अस्तित्व पृथक् है अतः सभी वस्तुयें भिन्न-भिन्न हैं यह सब कथन स्याद्वाद प्रक्रिया बिना दुर्घट है ।



विवक्षाऽविवक्षयोरसद्विषयत्वान्न¹ तद्वशात्तत्त्वव्यवस्था² युक्तेति मन्यमानं प्रत्याहुः सूरयः ।—

विवक्षा³ चाविवक्षा च⁴ विशेष्येऽनन्तधर्मिणि ।

सतो विशेषणस्यात्र⁵ नासतस्तैस्तदर्थिभिः ॥३५॥

क्रियते इति शेषः⁶ । विशेष्योर्थस्तावदनन्तधर्मा प्रागुक्तः । तत्र⁷ कस्यचिद्विशेषणस्यैकत्वस्य सत एव विवक्षा पृथक्त्वस्य च सत एव वाऽविवक्षा, न पुनरसतः क्रियते तैः प्रतिपत्तृभिरेकत्वपृथक्त्वाभ्यामर्थिभिः, सर्वथा⁸ तत्र कस्यचिदर्थित्वानर्थित्वयोरसंभवात्, तस्य सकलार्थक्रियाशक्तिशून्यत्वात् खरविषाणवत् ।

उत्थानिका—विवक्षा और अविवक्षा असत् को विषय करती हैं इसलिये उनके निमित्त से तत्त्व की व्यवस्था करना युक्तियुक्त नहीं है इस प्रकार से मानने वाले बौद्धों के प्रति स्वामी श्री समंतभद्राचार्यवर्य कहते हैं—

अनन्तधर्मा वस्तु में ही, घटे विवक्षा अविवक्षा ।

ये दोनों सत् रूप विशेषण, को कहतीं न असत् इच्छा ॥

अर्थी करें विवक्षा तथा, अनर्थी अविवक्षा करते ।

सत् वस्तु में ही दोनों हैं, असत् वस्तु में नहिं घटते ॥३५॥

कारिकार्थ—अनन्तधर्मात्मक जीवादि पदार्थरूप विशेष्य में एकत्वानेकत्वरूप विशेषणों के इच्छुक विद्वानों द्वारा सत्स्वरूप विशेषण की ही विवक्षा और अविवक्षा की जाती है, असत् रूप विशेषण की नहीं की जाती है ॥३५॥

‘क्रियते’ यहाँ कारिका में इस क्रिया का अध्याहार समझना । विशेष्य-पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है ऐसा पहले “धर्मो धर्मोऽन्य एवार्थः” इस कारिका में कह दिया है । एकत्व-पृथक्त्व धर्मों के द्वारा वस्तु को जानने के अर्थी—इच्छुक विद्वानों द्वारा उस धर्मों में किसी सत् रूप ही एकत्व विशेषण की विवक्षा अथवा किसी सत् रूप ही पृथक्त्व विशेषण की अविवक्षा की जाती है किन्तु सर्वथा असत् रूप विशेषणों की विवक्षा और अविवक्षा नहीं की जाती है । सर्वथा असत् में किसी भी पुरुष की इच्छा-अनिच्छा का होना ही असंभव है क्योंकि सर्वथा असत् वस्तुयें सकल अर्थक्रिया की शक्ति से शून्य हैं । जैसे खरविषाण असत् होने से संपूर्ण अर्थक्रिया की शक्ति से रहित है ।

1 अत्राह, त्रिवादी विवक्षाऽविवक्षा चासत्त्वविषया अवस्तुभूता । अतः कारणात् । तद्विवक्षाऽविवक्षावशात् तयोरेक्य-पृथक्त्वयोर्ध्ववस्था युक्ता न भवतीति जानन्तं प्रतिवादिनं प्रति आचार्याः प्राहुः कारिकाम् । दि० प्र० । 2 तद्वशात्-द्वयवस्था इति पा० । दि० प्र० । 3 क्रियते इति शेषः । वक्तुमिच्छा । दि० प्र० । 4 धर्मो धर्मोऽन्य एवार्थ इति श्लोके निरूपितरूपे । दि० प्र० । 5 प्रतिपत्तृभिः । व्या० प्र० । तथार्थिभिरिति पाठः । दि० प्र० । 6 अध्याहारः । दि० प्र० । 7 एकत्वेनासति वस्तुनि । दि० प्र० । 8 सर्वथा तत्रासत्वे कस्यचिद्विशेषणस्य विवक्षाविवक्षे न संभवतः । दि० प्र० ।

[विवक्षाया विषयोऽसदेवेति मन्यमाने बौद्धेन जैनाचार्याः समादधते ।]

न हि कस्यचिद्विवक्षाविषयस्य¹ मनोराज्यादेरसत्त्वे सर्वस्यासत्त्वं युक्तं, कस्यचित्² प्रत्यक्षविषयस्य केशोंडुकादेरसत्त्वे सर्वस्य प्रत्यक्षविषयस्यासत्त्वप्रसङ्गात् ।³ प्रत्यक्षाभासविषयस्यासत्त्वं, न पुनः सत्यप्रत्यक्षविषयस्येति चेत् तदर्थसत्यविवक्षाविषयस्यासत्त्वमस्तु, सत्यविवक्षाविषयस्य⁴ तु मा भूत् । न काचिद्विवक्षा सत्या विकल्परूपत्वान्मनोराज्यादिविकल्पवदिति चेन्न, अस्यानुमानस्य⁵ सत्यत्वेऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात् तदसत्यत्वे साध्याप्रसिद्धेः⁶ । यतोऽनुमानविकल्पादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायां न विसंवाद्यते, तद्विषयः सन्नेवेति

[विवक्षा का विषय असत् ही है ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ।]

बौद्ध—मनोराज्यादि असत् रूप हैं फिर भी किसी की विवक्षा के विषय तो होते हैं ।

जैन—इस उदाहरण से सभी विवक्षा के विषय को असत् कहना युक्त नहीं है । अन्यथा किसी के प्रत्यक्ष के विषयभूत केशोंडुक ज्ञान आदि के असत् रूप होने पर सभी के प्रत्यक्ष के विषय असत् हो जायेंगे अर्थात् किसी को प्रत्यक्षज्ञान से केशों में मच्छर का ज्ञान हो गया है वह मच्छर का ज्ञान असत् में हुआ है अतः सभी के प्रत्यक्षज्ञान का विषय असत् रूप है ऐसा भी कहना पड़ेगा ।

बौद्ध—प्रत्यक्षाभास का विषय असत् रूप है किन्तु सत्यप्रत्यक्ष का विषय असत् नहीं है ।

जैन—तब तो असत्य विवक्षा के विषयभूत मनोराज्यादि असत् हो जावें, कोई बाधा नहीं है किन्तु सत्यविवक्षा के विषय तो असत् रूप नहीं हो सकेंगे ।

बौद्ध—“कोई भी विवक्षा सत्य नहीं है क्योंकि विकल्परूप है, मनोराज्यादि विकल्प के समान ।” इस अनुमान से सभी विवक्षायें असत्य हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि यदि आप इसी अनुमान को सत्य मानते हैं तब तो इसी अनुमान से ही हेतु व्यभिचरित हो जाता है । यदि आप इस अनुमान को असत्य मानते हैं तब तो साध्य अप्रसिद्ध हो जाता है । यह आपका अनुमान सत्य है या असत्य ? सत्य कहो तो इसी अनुमान से आपका हेतु व्यभिचारी हो गया है और असत्य कहो तो इस असत्य अनुमान से आपका साध्य सिद्ध कैसे होगा ?

बौद्ध—जिस अनुमान विकल्प से अर्थ को जान करके प्रवर्तमान हुआ मनुष्य अर्थक्रिया में विसंवाद को प्राप्त नहीं होता है, उस अनुमान विकल्प का विषय सत् रूप ही है—विसंवादी ही है ।

1 विकल्पस्य । दि० प्र० । 2 अन्यथा । व्या० प्र० । 3 असत्यप्रत्यक्षगोचरस्य । दि० प्र० । 4 असत्त्वं मा भवतु । दि० प्र० । 5 अत्राह स्याद्वादी हे सौगत ! अस्य विवक्षाऽसत्यस्थापकस्य । त्वदीयानुमानस्य सत्यत्वमसत्यत्वं वेति प्रश्नः सत्यत्वेऽनेनानुमाने न विकल्परूपत्वादिति हेतोर्व्यभिचारो घटते । कथञ्चित्कल्परूपः सत्यश्च । तदा विवक्षा सत्या—तस्यानुमानस्यासत्त्वे साध्या प्रसिद्धे विवक्षा कदासत्या न इति साध्येन सिद्धयति किमायातं यथापि विवक्षा सत्या भवति । दि० प्र० । 6 विवक्षाया असत्यत्वम् । व्या० प्र० ।

चेत्तहि¹ यतो विवक्षाविशेषादर्थं विवक्षित्वा प्रवर्तमानो² न विसंवाद्यते तद्विषयः³ कथमसन् भवेत् ?

[अविवक्षाया विषयोऽसदेवेति बौद्धेन मन्यमाने जैनाचार्याः समादधते ।]

अविवक्षाविषयोऽसन्नेवान्यथा तदनुपपत्तेरिति चेन्न, सकलवाग्विषयव्यभिचारतीतेनार्थस्वलक्षणेन व्यभिचारात् । सर्वस्य वस्तुनो⁴ वाच्यत्वान्नाविवक्षाविषयत्वमिति चेन्न, नाम्नस्तद्वागानां⁵ च नामान्तराभावादन्यथानवस्थानुषङ्गात् । तेषामविवक्षाविषयत्वेऽपि सत्त्वे कथमन्यदपि

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो जिस विवक्षा विशेष से पदार्थ को विवक्षित करके प्रवर्तमान हुआ मनुष्य विसंवाद को प्राप्त नहीं होता है, उस विवक्षा विशेष का विषय कैसे असत् रूप हो जायेगा ? अर्थात् वह भी सत् रूप ही रहेगा ।

[अविवक्षा का विषय असत् है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर आचार्य समाधान करते हैं ।]

बौद्ध—अविवक्षा का विषय तो असत् ही है । अन्यथा—सत् रूप मान लेने से तो वह अविवक्षा का विषय कैसे कहलायेगा ? अर्थात् “भेदाभेद में किसी एक की विवक्षा करने पर अन्यतर विषय असत् ही है क्योंकि वह अविवक्षा के विषय हैं अतएव वे असत् ही हैं । यदि सत् रूप हो जावें तो वे अविवक्षा के विषय नहीं होकर विवक्षा के विषय हो जायेंगे ।

जैन—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि सकल वचन के अगोचर स्वलक्षण से व्यभिचार आता है अर्थात् बौद्धों का अर्थ स्वलक्षण अविवक्षा का विषय है फिर भी बौद्ध उस स्वलक्षण को सत् रूप मानते हैं अतः आपके ही इस कथन से व्यभिचार आता है ।

शब्दाद्वैतवादी—सभी वस्तुयें शब्द के द्वारा वाच्य हैं इसलिये वे अविवक्षा का विषय नहीं हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि नाम-शब्द और उसके भाग-अंशों में नामान्तर का अभाव है, अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जायेगा अर्थात् घट नाम में और घट (घ् अ ट् अ) संबंधी वर्णों में घट नाम से भिन्न पट नाम का और पट के वर्णों का अभाव है । यदि ऐसा नहीं मानोगे तो

1 जैनः । दि० प्र० । 2 अर्थक्रियामिति संबन्धः । दि० प्र० । 3 ता । विवक्षा । दि० प्र० । 4 सौगताभ्युपगतं क्षणक्षयिरूपमर्थसुलक्षणं सकलं वाग्विषयरहितमस्ति तदप्यसदस्तु । दि० प्र० । 5 उक्तप्रकारेण । यत एवं तत्तस्मात्सदसत्त्वभावानां विद्यमानानामेव विवक्षाविवक्षाभ्यां सहयोगतः संबन्धः तदर्थभिः सदसद्भ्यां प्रयोजन-बद्धिः पुंभिविर्धायेत् । अन्यथा असतां धर्माणां विवक्षेतराभ्यां योगः क्रियते चेत्तदाऽर्थनिष्पत्तिर्न घटते = अर्थक्रिया-यिनां पुंसामर्थनिष्पत्तिमनाश्रित्य विवक्षाविवक्षाभ्यां सम्बन्धो न हि संभवत्यत्र प्रतिवादी शंकते । तदभावेऽर्थनिष्पत्ते-रभावेऽपि विवक्षेतराभ्यां योगः येन केन न स्यात् । अपितु स्यात् । स्याद्वाद्याह अर्थनिष्पत्तेरभावेऽपि विवक्षेतराभ्यां योग उपचारमात्रं तु स्यान्न तु परमायतः । कथं छात्रः कोपेन कृत्वा अग्निरूप इत्युपचारः । स चाग्निमणिवकः पाकदाहप्रकाशकक्रियायां समर्थो न भवति । दि० प्र० ।

विशेषणमविवक्षाविषयत्वे सदेव न सिद्ध्येत्^१ ? तदेव विधिप्रतिषेधधर्माणां सतामेव विवक्षेतराभ्यां योगस्तदर्थिभिः क्रियेत, अन्यथार्थनिष्पत्तेरभावात्^२ । न^३ ह्यर्थक्रियार्थिनामर्थनिष्पत्तिमनपेक्ष्य विवक्षेतराभ्यां योगः संभवति, येन तदभावेऽपि स स्यात् । उपचारमात्रं तु स्यात् । न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात्^४ पाकादावुपयुज्यते । ननु चान्यव्यावृत्तय एव विवक्षेत-

अव्यवस्था का प्रसंग आ जायेगा । यदि आप वर्ण और उनके अंशों को अविवक्षा का विषय मानकर भी सत् रूप मानोगे तब तो अन्य भी अविवक्षित विशेषण को अविवक्षा का विषय मानने पर वह सत् रूप क्यों नहीं सिद्ध होगा ? अर्थात् यदि आप शब्दाद्वैतवादी शब्द को अविवक्षा का विषय मानकर भी उसे सत् रूप कहते हो तब तो भेद या अभेदरूप अविवक्षा के विषय को भी सत् रूप मानिये ।

“इस प्रकार से एकत्वानेकत्व विशेषण के इच्छुक जनों को जीवादि एक वस्तु में सत् रूप ही विधि-प्रतिषेध धर्मों का विवक्षा और अविवक्षा के द्वारा योग करना चाहिये । अन्यथा अर्थ की निष्पत्ति का अभाव हो जायेगा” क्योंकि अर्थक्रियार्थी जनों के लिये अर्थ निष्पत्ति की अपेक्षा न करके विवक्षा और अविवक्षा के द्वारा योग संभव नहीं है कि जिससे अर्थ निष्पत्ति के अभाव में भी वह योग हो सके अर्थात् नहीं हो सकता ।

“किंतु असत् रूप धर्मों का विवक्षा अविवक्षा के द्वारा कथन करने पर उपचार मात्र ही होगा क्योंकि माणवक—बच्चे में “यह अग्नि है” ऐसा उपचार कर देने पर पाकादि कार्य में उस अग्नि का उपयोग नहीं कर सकते हैं” अर्थात् बालक के उग्र-गरम स्वभाव को देखकर कोई उसे अग्नि कह देते हैं तो क्या उस बालक में भोजन पकाना आदि अग्नि के कार्य हो सकते हैं ?

बौद्ध—विवक्षा और अविवक्षा के द्वारा अन्य व्यावृत्तियों का ही योग किया जाता है किन्तु वस्तु स्वभाव नहीं कहा जाता है जिससे कि उन दोनों का सत् रूप विषय हो सके अर्थात् दोनों का विषय सत् नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि व्यावृत्ति विषयक शब्दों से तो वस्तु में प्रवृत्ति का विरोध है अर्थात् व्यावृत्ति तो सामान्य है और सामान्यरूप से “घटमानय” ऐसा कहने पर घट को लाने की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी ।

बौद्ध—व्यावृत्ति और व्यावृत्तिमान् (गौ) में एकत्व का अध्यारोप होने से तद्वान् (गौ) में प्रवृत्ति हो जाती है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि अध्यारोप तो विकल्परूप है, वह अर्थ को विषय नहीं

१ प्रयोजन । दि० प्र० । २ प्रयोजन । व्या० प्र० । ३ माणवकः पाकादी नोपयुज्यते इति संबन्धः । व्या० प्र० । ४ संबध्यते । दि० प्र० ।

राभ्यां युज्यन्ते, न वस्तुस्वभावो, यतस्तयोः ¹सद्विषयत्वमिति चेन्न, ²शब्देभ्यो ³वस्तुनि प्रवृत्तिविरोधात्⁴ । ⁵व्यावृत्तितद्वतरेकत्वाध्यारोपात्तद्वति⁶ प्रवृत्तिरिति चेन्न, अध्यारोपस्य विकल्पत्वेनार्थाविषयत्वात् ⁷स्वाविषयेण व्यावृत्तरेकत्वारोपणायोगात् । ⁸सामान्येना⁹र्थो¹⁰ध्या-
रोपविकल्पविषय¹⁰ एवेति चेत्तदपि ¹¹यद्यन्यव्यावृत्तिरूपं तदा व्यावृत्त्यैव व्यावृत्तरेकत्वारो-
पात्कुतोर्थे प्रवृत्तिः¹² ? तामिच्छता¹³ ¹⁴तदेकैकशः परस्परव्यावृत्तयोपि परिणामविशेषा¹⁵
एषितव्याः ।

करता है अतः स्वलक्षणरूप अर्थ को विषय न करने से व्यावृत्ति में एकत्व का अध्यारोप नहीं हो सकता है ।

बौद्ध—सामान्य से अर्थ अध्यारोप के विकल्प का विषय ही है अर्थात् यहाँ व्यावृत्ति ही सामान्य है उस सामान्य से अध्यारोपित विकल्प का विषय ही स्वलक्षण अर्थ है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो यह प्रश्न होता है कि यदि वह भी अन्य व्यावृत्तिरूप है तब तो व्यावृत्ति से ही व्यावृत्ति में एकत्व का आरोप करने से अर्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी ? अर्थात् यदि वह सामान्यरूप व्यावृत्ति भी “असामान्य से व्यावृत्त सामान्यरूप है” । तब तो उस सामान्यरूप व्यावृत्ति से अध्यारोप विकल्प के विषय विशेष की व्यावृत्ति के होने पर ही भिन्न व्यावृत्ति में प्रवृत्ति होगी, किंतु स्वलक्षणभूत अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । यदि आप उस प्रवृत्ति को स्वीकार करना चाहते हैं तब तो “उस एक-एकरूप से परस्पर में व्यावृत्त—भिन्न-भिन्नरूप भी पदार्थ-पदार्थ के प्रति वस्तु धर्मरूप परिणाम विशेष होते हैं ।” ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।



- 1 सन् विषयो ययोः (विवक्षेत्रयोः), तयोर्भावः । 2 व्यावृत्तिविषयेभ्यः । 3 व्यावृत्तिरेव सामान्यं तेन सामान्य-
रूपेण । 4 घटमानयेत्युक्ते घटमानयतीति प्रवृत्तेर्विरोधो भवेत् । 5 तद्वान् गोः । 6 गवि । 7 स्वलक्षणरूपेणार्थेन ।
8 व्यावृत्तिरेव सामान्यं तेन सामान्यरूपेण । 9 स्वलक्षणः । 10 अध्यारोपो विकल्पस्तस्य विषयः सामान्यलक्षणोर्थः ।
11 असामान्याद्व्यावृत्तं सामान्यरूपम् । 12 ततश्च सामान्यरूपव्यावृत्तेरध्यारोपविकल्पविषयविशेषव्यावृत्तावेव
(व्यावृत्त्यन्तरे) प्रवृत्तिर्न पुनः स्वलक्षणे इति भावः । 13 बौद्धेन । 'तामिच्छतां' इति पाठान्तरम् । 14 ततः ।
15 पदार्थं पदार्थं प्रति वस्तुधर्माः ।

विवक्षा एवं अविवक्षा के विषय का सारांश

विवक्षा और अविवक्षा सर्वथा असत् में नहीं हो सकती हैं किन्तु सत् रूप अनंतधर्मात्मक जीवादि पदार्थ में ही एकत्व, अनेकत्व की विवक्षा होती है ।

किसी की विवक्षा का विषय मनोराज्यादि असत् रूप हैं, अतः सभी को असत् मानना ठीक नहीं है अन्यथा किसी को केशों में मच्छर का ज्ञान असत्य है पुनः सभी प्रत्यक्ष असत्य मानने होंगे किन्तु ऐसा नहीं है ।

यदि आप बौद्ध कहें कि विवक्षा का विषय विसंवाद रहित सत्य है किन्तु अविवक्षा का विषय असत् ही है यह कथन भी गलत है तथा अर्थ स्वलक्षण अविवक्षा का विषय है—शब्द से नहीं कहा जाता है फिर भी आप उसे सत् मानते हैं । यदि शब्दाद्वैतवादी शब्द को अविवक्षा का विषय मानकर भी उसे सत् मानते हैं तब तो भेद अथवा अभेद की अविवक्षा के विषय को भी सत् मानों क्या बाधा है ?

अतएव सत् रूप ही जीवादि वस्तुएँ विधि एवं प्रतिषेध धर्मों के द्वारा विवक्षा एवं अविवक्षा का विषय हैं । अन्यथा सर्वथा असत् रूप धर्मों की विवक्षा-अविवक्षा करने पर उपचारमात्र ही होगा फिर क्या बालक में अग्नि का उपचार करने से उससे रसोई पकाने का उपयोग हो सकता है ?

जब जीवादि वस्तु कथंचित् एकरूप हैं तब एकत्व की विवक्षा एवं पृथक्त्व धर्म के गौण होने से उसकी अविवक्षा है । जब वे ही वस्तु कथंचित् पृथक्त्वरूप हैं तब पृथक्त्व के प्रधान होने से उनकी विवक्षा हैं, एकत्व के गौण होने से उनकी अविवक्षा है अतः विवक्षा और अविवक्षा वस्तु धर्म के प्रधान एवं गौण के निमित्त से ही होती हैं ।

सार का सार—जिस धर्म को हम कहना चाहते हैं उसकी विवक्षा होती है जिस धर्म को नहीं कहना चाहते हैं उसकी विवक्षा नहीं है । जो वस्तु सत् रूप है उसी के किसी धर्म की विवक्षा और किसी धर्म की अविवक्षा होती है जैसे जीव सत् रूप है उसको नित्य कहने में उसके नित्यत्व धर्म की विवक्षा है उस समय अनित्य धर्म गौण हो गया है अतः उसकी अविवक्षा है आकाश कुसुम के समान किसी धर्म की विवक्षा या अविवक्षा नहीं होती है ।



योप्याह^१ भेद एव परमार्थसन्नर्थानां नाभेदस्तस्य संवृत्तिसत्त्वादन्वथा विरोधादिति ।
अभेद एव तात्त्विको भावानां न भेदस्तस्य कल्पनारोपितत्वादन्वथा विरोधानुषङ्गादिति
चापर^३ । तौ प्रति सूरयः प्राहुः ।—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ^४ भेदाभेदौ न संवृती ।

तावेकत्राविरुद्धौ ते^५ गुणमुख्यविवक्षया ॥३६॥

अभेदस्तावत्सन्नेव न पुनः संवृतिविषयः^६ प्रमाणगोचरत्वाद्भेदवत् । भेदः सन्नेव न
पुनः संवृतिः प्रमाणगोचरत्वादभेदवत् । भेदाभेदौ सन्तावेव, नपुनः संवृती, प्रमाणगोचरत्वा-
त्स्वेष्टतत्त्ववदित्यपि पक्षान्तरमाक्षिप्तं^७ लक्ष्यते, तदुभयसंवृतिवादिनोपि सकलधर्मविधुरत्व-

उत्थानिका—बौद्ध कहते हैं कि पदार्थों का भेद ही परमार्थ सत् है अभेद नहीं क्योंकि वह
अभेद संवृति से सत् है अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थ ही सत् रूप हैं अभिन्न पदार्थ नहीं क्योंकि एकत्वरूप
पदार्थ संवृति से सत् रूप माने गये हैं वास्तव में वे असत् रूप ही हैं, अन्यथारूप से विरोध पाया जाता
है । अद्वैतवादी कहते हैं कि पदार्थों का अभेद ही तात्त्विक है भेद नहीं क्योंकि वे भेदकल्पना से
किये गये हैं, अन्यथा विरोध का प्रसंग आ जाता है । इन दोनों के प्रति स्वामी श्रीसमंतभद्राचार्यवर्य
कहते हैं—

सत्यज्ञान के गोचर होते, अस्तिरूप हैं भेद अभेद ।

कल्पितरूप नहीं हैं, क्योंकि, ये प्रमाण के विषय जिनेश ॥

एक वस्तु में मुख्य गौण से, दोनों रहते अविरोधी ।

जिसकी जहाँ विवक्षा हो वह, मुख्य दूसरा गौण सही ॥३६॥

कारिकार्थ—ये दोनों भेद और अभेद प्रमाण के विषय होने से सत् रूप हैं—वास्तविक हैं,
संवृतिरूप-काल्पनिक नहीं हैं । हे भगवन् ! आपके शासन में ये भेदाभेद एक ही जीवादि वस्तु में
गौण और मुख्य की विवक्षा से विरोध रहित हैं ॥३६॥

“अभेद सत् रूप ही है, संवृति का विषय नहीं है क्योंकि वह प्रमाण का विषय है, जैसे कि
भेद ।” “भेद सत् रूप ही है, संवृतिरूप नहीं है क्योंकि वे प्रमाण के विषय हैं, जैसे कि अभेद ।”
“भेदाभेद सत् रूप ही है, संवृतिरूप नहीं है, क्योंकि वे प्रमाण के विषय हैं, अपने इष्टतत्त्व के समान ।”

यह पक्षान्तर भी उन संवृतिवादियों के प्रति आक्षेपरूप समझना चाहिये । क्योंकि भेदाभेदरूप

1 बौद्धः । 2 एकत्र वस्तुनि । 3 अद्वैती । 4 पारमार्थिकी । 5 भगवतः । 6 संवृतिः कल्पना । 7 भेदाभेदौ
संवृती इति वदतोपि वादिनः ।

मनुमन्यमानस्य¹ भावात् । न चात्र² साध्यसाधनधर्मविकलमुदाहरणं, भेदाभेदतदुभयानुभयै-
कान्ताभिधायिनां तत्प्रसिद्धेः स्याद्वादिवत् । तथैकत्र³ वस्तुनि भेदाभेदौ परमार्थसन्तौ ते भगवतो
न विरुद्धौ प्रमाणगोचरत्वात्स्वेष्टतत्त्ववत् । इति सामर्थ्यात् परस्परनिरपेक्षौ⁴ भेदाभेदौ विरु-
द्धावेव प्रमाणागोचरत्वाद्भेदैकान्तादिवत् । इति कारिकायामर्थसङ्ग्रहः ।

[प्रमाणस्य किं लक्षणमिति प्रश्ने सत्याचार्याः कथयन्ति ।]

किं पुनः प्रमाणं यद्गोचरत्वमत्र⁵ हेतुरिति चेत् प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिग-
मलक्षणत्वादित्यग्रे⁶ वक्ष्यति । अधिगमो⁷ हि स्वार्थाकारव्यवसायः । स्वार्थाकारौ च कथं-
चिद्भेदाभेदौ⁸, तदन्यतरापायेर्थक्रियानुपपत्तेस्तदेकान्ते सर्वथा⁹ तदयोगात् । तदेवं¹⁰ सति¹¹ भेद-

उभय को भी संबृतिरूप कहने वाले शून्यवादी बौद्ध सकल धर्मरहित शून्यरूप तत्त्व को स्वीकार करते हैं
अर्थात् शून्यवादी बौद्ध वस्तु के भेद-अभेद दोनों धर्मों को संबृतिरूप कह देते हैं ।

इन तीनों ही अनुमानों में दिये गये उदाहरण साध्य-साधन धर्म से विकल नहीं हैं क्योंकि भेद-
रूप या अभेदरूप, उभयरूप या अनुभयरूप वस्तु को एकांत से मानने वालों के यहाँ भी ये उदाहरण
प्रसिद्ध हैं, जैसे कि स्याद्वादियों के यहाँ प्रसिद्ध हैं । तथा एक ही वस्तु में भेद और अभेद परमार्थ सत्
हैं । हे भगवन् ! आपके मत में वे दोनों विरुद्ध नहीं हैं क्योंकि वे प्रमाण के विषय हैं जैसे कि अपना
इष्टतत्त्व ।

इस सामर्थ्य से वे परस्परनिरपेक्ष भेद और अभेद विरुद्ध ही हैं क्योंकि वे प्रमाण के विषय
नहीं हैं भेदैकान्तादि के समान । इस प्रकार से कारिका में अर्थ का संग्रह है ।

[प्रमाण का क्या लक्षण है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य बतलाते हैं ।]

शंका—वह प्रमाण क्या है जिस प्रमाण गोचरत्व को यहाँ चारों अनुमानों में हेतु बनाया है ?

समाधान—यदि ऐसा प्रश्न है तो हम कहते हैं—“अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है क्योंकि वह
अनधिगत-अपूर्व अर्थ का अधिगम—निश्चय कराने वाला है ।” इस प्रकार से आगे कहेंगे । स्वार्थाकार
व्यवसाय को अधिगम कहते हैं । कथंचित् भेदाभेद स्वार्थाकार हैं क्योंकि इन दोनों में से किसी एक का
अभाव करने पर अर्थक्रिया नहीं बन सकती है अतः एकांत में क्रम से अथवा युगपत् अर्थक्रिया का
अभाव है अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से भेद एवं द्रव्य की अपेक्षा से अभेद स्वार्थाकार हैं । इस प्रकार से
होने पर यह प्रमाण भेद अथवा अभेद को या एक-दूसरे की अपेक्षा से रहित दोनों को विषय नहीं
करता है अर्थात् सौगत सर्वथा भेद को अद्वैती सर्वथा अभेद को, और योग परस्पर निरपेक्ष दोनों को

1 मनुमन्यमानस्यः सौगतस्य । 2 त्रिष्वप्यनुमानेषु । 3 अनुमानत्रयसद्भावप्रकारेण । 4 नैयायिकाभिमतौ । 5 अनुमान-
चतुष्टये । 6 अनधिगतः, अपूर्वः । अर्थः स्वार्थः । अधिगमो व्यवसायः (निश्चयः) । 7 पूर्वोक्तं स्पष्टीकरोति ।
8 पर्यायापेक्षया भेदाभेदस्तु द्रव्यापेक्षया । 9 क्रमेण योगपक्षेन वा । 10 भेदाभेदयोः स्वार्थाकारत्वप्रकारेण ।
11 सौमतस्य ।

मभेद¹ वा नान्योन्यरहित² विषयीकरोति प्रमाणम् । न हि बहिरन्तर्वा स्वलक्षण³ सामान्य-
लक्षण⁴ वा तथैवोपलभामहे यथैकान्तवादिभिराम्नायते⁵ । इति भेदैकान्ताभावेऽभेदैकान्ता-
सत्त्वे च परस्परनिरपेक्षतदुभयैकान्तापाकरणेऽनुभयैकान्तापसारणे च साध्ये 'स्वभावानुप-
लब्धिः, स्वयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्यानुपलभ्यमानत्वसिद्धेः'⁷ । न चेयमसिद्धा⁸,
सूक्ष्मस्थूलाकाराणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण⁹ प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात् । न हि प्रत्यक्षे
स्वलक्षणं सूक्ष्मं¹⁰ परमाणुलक्षणं प्रतिभासते स्थूलस्य घटाद्यात्मनः प्रतिभासनात् ।

[प्रत्यक्षज्ञाने परमाणव एव प्रतिभासन्ते न पुनः स्कन्धा इति बौद्धमान्यतां निराकुर्वन्त्याचार्याः ।]

परमाणुध्वेवात्यासन्नासंसृष्टेषु¹¹ दृष्टौ प्रतिभासमानेषु¹² कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तादात्मनि¹³ 14 पर-

स्वीकार करते हैं किन्तु सच्चा प्रमाण सर्वथा भेद, अभेद या भेदाभेद को नहीं जानता है क्योंकि बहिरंग अथवा अंतरंग, स्वलक्षण (भेद) अथवा सामान्य लक्षण (अभेद) उसी प्रकार से एकांतरूप से हम लोगों को उपलब्ध नहीं हो रहा है कि जिस प्रकार से एकांतवादियों ने कथन किया है ।

इस प्रकार से भेदैकांत के अभाव को साध्य करने में स्वभावानुपलब्धि हेतु है । तथैव अभेदैकांत का अभाव साध्य करने में, परस्पर निरपेक्ष तदुभयैकांत के निराकरण को साध्य बनाने में और अनुभयैकांत का अभाव साध्य करने में वही स्वभावानुपलब्धिरूप हेतु है क्योंकि स्वयं उपलब्धि लक्षण प्राप्त उन भेदाद्येकांत चतुष्टय की अनुपलब्धि सिद्ध ही है अर्थात् भेदाद्येकांत स्वभाव से उपलब्ध ही नहीं हो सकते हैं । मतलब यह है कि भेदैकांत, अभेदैकांत, उभयैकांत और अनुभयैकांत ये चारों ही एकांत उपलब्ध नहीं होते हैं अतः इन चारों एकांतों के अभाव को सिद्ध करने में इनके स्वभाव की उपलब्धि नहीं है यही हेतु दिया गया है । हमारा यह "स्वभावानुपलब्धि हेतु" असिद्ध भी नहीं है ।

"सूक्ष्म-स्थूल आकारों का स्थूल-सूक्ष्म स्वभाव से व्यतिरिक्तरूप से प्रत्यक्षादि ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है ।" प्रत्यक्षज्ञान में सूक्ष्म, परमाणु लक्षण स्वलक्षण प्रतिभासित नहीं होता है प्रत्युत घटादि स्वरूप से स्थूल वस्तुयें ही प्रतिभासित होती हैं ।

[प्रत्यक्षज्ञान में परमाणु ही अलकते हैं स्कंध नहीं, बौद्ध की ऐसी मान्यता का आचार्य निराकरण करते हैं ।]

बौद्ध—निविकल्प प्रत्यक्ष में अत्यासन्न और असंसृष्ट—भिन्न-भिन्न परमाणु ही प्रतिभासित होते हैं, फिर भी किसी विभ्रम के निमित्त से या वासनाविशेष से अपने स्वरूप में और पर में

1 अद्वैतितः । 2 परस्परनिरपेक्षं योगानुमतं वा । 3 भेदम् । 4 अभेदम् । 5 कथ्यते । 6 (पूर्वोक्तपक्षचतु-
ष्टयखण्डने साध्ये स्वभावानुपलब्धिर्हेतुरस्ति इत्यर्थः) । 7 भेदाद्येकान्तचतुष्टयस्य । 8 स्वभावानुपलब्धिः (हेतुः) ।
9 यतः (सूक्ष्माणां स्थूलस्वभावापेक्षयैव स्थूलानां च सूक्ष्मस्वभावापेक्षयैव प्रतिभासनं, न तु तद्व्यतिरेकेणेति भावः) ।
10 स्थूलस्वभावनिरपेक्षम् । 11 निविकल्पकप्रत्यक्षे । 12 स्थूलार्थस्य विभ्रमनिमित्तादात्मनाविशेषात् । 13 कल्पिते
स्थूलार्थज्ञाने । 14 परमाणौ ।

त्र चासन्तमेव स्थूलाकारमादर्शयन्ती संवृतिस्तान्¹ संवृणोति² केशादिभ्रान्तिवदिति चेन्नैवं, बहिरन्तश्च³ प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वकल्पनापोढत्वाभावप्रसङ्गात्, संव्यवहारतः परमार्थतो वा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति लक्षणस्यासंभवदोषानुषङ्गात्, परमाणूनां⁴ जातुचिदध्यक्षबुद्धावप्रतिभासनात् । ते इमे परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं च न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिणः⁵ स्वावयवभिन्नैकावयविवत्⁶ । न हि सोपि सूक्ष्मस्वावयवव्यतिरिक्तो महत्त्वोपेतः प्रत्यक्षे प्रतिभासते कुण्डादिव्यतिरिक्तदध्यादिवत्⁷ ।⁸ समवायात्तेभ्योनर्थान्तरमिव⁹ प्रतिभासते¹⁰ इति चेन्न, अवयवप्रत्यक्षस्य सर्वत्र¹¹ भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्¹² । तथा

अविद्यमानरूप ही स्थूलाकार को दिखाती हुई यह संवृति उन परमाणुओं को संवृतरूप कर देती है— ढक देती है । जैसे कि केशों के समूह धमिल्ल, जूड़ा आदि में एकत्व प्रतिभासित होता है तथापि परमार्थ से एकत्व नहीं है । उसी प्रकार से ज्ञान में स्थूलाकार दिखते हैं किन्तु वे वास्तविक नहीं हैं अर्थात् हमारा कहना यह है कि स्थूल पदार्थ में जो स्थूलता का ज्ञान हो रहा है वह भी विभ्रम है और परमाणुओं में तो स्थूलाकार है ही नहीं । अतः स्थूल—स्कंध और परमाणु दोनों जगह वास्तविक स्थूलता नहीं है फिर भी उन स्थूल पदार्थ और परमाणुओं में स्थूल आकार को बतलाने वाली यह संवृति है, यही परमाणुओं के वास्तविक स्वरूप को ढककर उन्हें स्थूल स्कंध बता देती है किन्तु वास्तव में प्रत्यक्ष ज्ञान में परमाणु ही झलकते हैं यही बात सत्य है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार से तो बाह्य प्रत्यक्ष और अंतःप्रत्यक्ष (मानसप्रत्यक्ष) अभ्रान्त एवं कल्पनापोढ से रहित ही हो जायेंगे पुनः संव्यवहार से बधवा परमार्थ से भी “कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्ष” इस लक्षण में असंभव दोष का प्रसंग आ जायेगा क्योंकि कदाचित् भी परमाणु प्रत्यक्ष बुद्धि में प्रतिभासित नहीं होते हैं अर्थात् आपने जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया है कि जो कल्पना से रहित है और भ्रान्ति से रहित है वह प्रत्यक्ष है यह लक्षण न संव्यवहार से सिद्ध होता है न परमार्थ से । अतः इसमें असंभव दोष आ जाता है और जब प्रत्यक्षज्ञान का लक्षण ही सिद्ध नहीं है तब उसमें परमाणु झलकते हैं यह बात भी वैसी ही है कि जैसे बंध्या का पुत्र आकाश पुष्पों की माला पहने हुये है । ये परमाणु प्रत्यक्षज्ञान में अपना समर्पण नहीं करते हैं किन्तु प्रत्यक्षता को स्वीकार करने की इच्छा करते हैं, इस प्रकार से तो ये अमूल्यदानक्रयी हैं अर्थात् मूल्य अर्पण के बिना ही वस्तु को ग्रहण करने वाले हैं जैसे कि अपने अवयवों से भिन्न एक अवयवी सिद्ध नहीं है ।

1 परमाणून् । 2 केशधम्मिल्लादिवत् । यथा केशानां समूहे एकत्वं प्रतिभासते तथापि परमार्थत एकत्वं नास्ति । 3 बहिः प्रत्यक्षं षट्ठीयमिति । अन्तःप्रत्यक्षं मानसम् । 4 निर्विकल्पकप्रत्यक्षज्ञाने । 5 मूल्यार्पणसन्तरेण ग्राहिणः । 6 एकोवयवी तन्वादिः । स्वावयवभिन्नैकावयविनो न प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्ति यथा । 7 यथा कुण्डादिव्यतिरिक्तं दधि प्रतिभासते तथा स्वावयवव्यतिरिक्तोवयवी न प्रतिभासते । व्यतिरेके उदाहरणमिवम् । 8 कश्चित्तरः । 9 अवयवेभ्यः । 10 अवयवी । 11 अवयविवत् । 12 अवयवभिन्नस्याभेदेन ग्रहणमिति भ्रान्तत्वम् ।

चाव्यभिचारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमसंभवि स्यात् । न चैतेऽवयवा अयमवायवी समवायश्चायमन-
योरिति त्रयाकारं प्रत्यक्षमनुभूयते सकृदपि, यतोसावग्यमूल्यदानक्रयी न स्यात्, प्रत्यक्ष-
बुद्ध्यावात्मानर्पणेन प्रत्यक्षतास्वीकरणाविशेषात् । 'तत एव परस्परभिन्नावयवावयविनामपि
प्रत्यक्षे प्रतिभासनादमूल्यदानक्रयिणावुक्तौ^१ समवायवत्^२ ।

[परमाणव एव सद्रूपा न स्कन्धा इति बौद्धेन कथितं, जैनाचार्याः समादधते ।]

सर्व^३ वस्तु क्षणिकपरमाणुरूपं, सत्त्वात्, नित्यस्थूलरूपे^४ क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्ते-

भावार्थः—एक अवयवी वस्त्र अपने सभी अवयव तन्तुओं से भिन्न है और वे सभी अवयव भी परस्पर में भिन्न हैं । इस प्रकार से सभी तन्तुओं से भिन्न यह वस्त्र निर्विकल्पज्ञान में झलकता है यह बात आज तक सिद्ध नहीं हो रही है । उसी प्रकार ये परमाणु निर्विकल्पज्ञान में अपने आकार को झलकाते नहीं हैं फिर भी प्रत्यक्षपने को प्राप्त होना चाहते हैं परन्तु यह बात शक्य नहीं है । वह अवयवी भी सूक्ष्मरूप अपने अवयवों से भिन्न महत्पने से सहित प्रत्यक्षज्ञान में प्रतिभासित नहीं होता है जैसे कि कुडादि से भिन्न दही प्रतिभासित होता है, उस प्रकार से अपने अवयवों से भिन्न अवयवी प्रतिभासित नहीं होता है ।

नैयायिक—समवाय सम्बन्ध से उन अवयवों से अभिन्न के समान अवयवी प्रतिभासित होता है ।

जैन—ऐसा नहीं है । अन्यथा अवयवी प्रत्यक्ष को सर्वत्र भ्रांतरूप का प्रसंग आ जायेगा । पुनः उस प्रकार से भ्रांत हो जाने पर अव्यभिचारी प्रत्यक्ष का लक्षण असंभवी दोष से दूषित हो जायेगा क्योंकि ये अवयव हैं, यह अवयवी है तथा इन दोनों में यह समवाय है इस प्रकार ये तीनों आकार एक बार भी प्रत्यक्षरूप से अनुभव में नहीं आ रहे हैं कि जिससे यह अवयवी अमूल्यदानक्रयी न हो जावे अर्थात् है ही है । कारण कि प्रत्यक्षज्ञान में अपने स्वरूप का समर्पण न करके भी प्रत्यक्षता को स्वीकार करना दोनों में ही समान है ।

उसी हेतु से परस्पर में सर्वथा भिन्न अवयव और अवयवी भी प्रत्यक्षज्ञान में प्रतिभासित नहीं होते हैं इसलिये वे अवयव और अवयवी दोनों ही अमूल्यदानक्रयी हैं जैसे कि समवाय प्रत्यक्ष में प्रतिभासित नहीं होता है फिर भी प्रत्यक्षज्ञान का विषय होना चाहता है, इसलिये वह अमूल्य-दानक्रयी है ।

[परमाणु ही सत् रूप है, स्कंध असत् रूप है ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ।]

बौद्ध—“सभी वस्तु क्षणिक परमाणुरूप हैं, क्योंकि सत् रूप हैं । नित्य और स्थूल रूप में क्रम

१ अवयविनाऽमूल्यदानक्रयित्वसमर्थनादेव । २ अवयवावयविनी । ३ समवायो यथा प्रत्यक्षे न प्रतिभासते प्रत्यक्षश्च भवतीत्यमूल्यदानक्रयी । ४ भाष्योक्तादिशब्दशुद्धीतानुमानादावपि सूक्ष्मस्थूलाकाराः स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण न प्रतिभासन्ते इति समर्थयमानः परप्रश्नमाह । ५ नित्ये स्थूलरूपे च ।

स्तदयोगादित्यनुमानेन¹ स्वलक्षणमध्यवसीयते इति चेन्न, अत्र² हेतोर्विरुद्धत्वात्, सत्त्वस्य कथंचिन्नित्यानित्यात्मकसूक्ष्मस्थूलात्मकत्वेन व्याप्तत्वात्, सर्वथा नित्याद्येकान्तरूपे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेः समर्थनात् । एतेन³ स्थूलमेवावयवि द्रव्य⁴ सूक्ष्मावयवरहितं प्रतिभासते इति व्युदस्तं तदनुमानस्यापि⁵ विरुद्धत्वाविशेषात्, प्रत्यक्षबाधितविषयत्वाच्च⁶ हेतोरतीतकालत्वाव्यवस्थितेः⁷ । अत⁸ एव नोपमानादावपि⁹ ¹⁰तत्प्रतिभासनमिति¹¹ नासिद्धं सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनं, यतस्तत्प्रतिषेधे साध्ये स्वभावानुपलब्धिर्न सिध्येत्¹² । तत्प्रतिषेधे¹³ च सिद्धः सूक्ष्माद्यनेकान्तः ।

[प्रधानगौणव्यवस्था कथं घटते ? इति प्रश्ने सति समादधते जैनाचार्याः ।]

¹⁴तत्र स्वभावान्तरस्य प्राधान्यविवक्षायामाकारान्तरस्य गुणभावः स्यात्, घटोर्यं परमा-

से अथवा युगपत् अर्थक्रिया नहीं हो सकती है क्योंकि उन नित्य और स्थूल में सत्त्व का अभाव है । इस अनुमान से स्वलक्षण का निश्चय होता है ।

जैन—नहीं, आपके इस अनुमान में हेतु विरुद्ध है क्योंकि सत्त्व तो कथंचित् नित्यानित्यात्मक से और सूक्ष्म-स्थूलात्मकरूप से व्याप्त है और सर्वथा नित्यादि एकांत में क्रम से या अक्रम से अर्थक्रिया का विरोध होने से उनमें सत्त्व हो ही नहीं सकता है इस बात का समर्थन पहले कर दिया गया है । इसी कथन से जो कहते हैं कि—“अवयवी द्रव्य सूक्ष्म—अवयव से रहित स्थूल ही प्रतिभासित होता है” उनका भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि वह अनुमान भी विरुद्धरूप से समान ही है । प्रत्यक्ष से बाधित को विषय करने वाला होने से हेतु भी अतीतकाल से अवयव स्थित—

1 तस्य सत्त्वस्य । 2 अनुमाने । 3 नित्याद्येकान्ते सत्त्वानुपपत्तिसमर्थनेन । 4 घटादिकम् । 5 अवयवी अवयवैः सर्वथा भिन्नः सर्वथा भिन्नप्रतिभासनादिति । 6 सर्वथा भिन्नप्रतिभासनादित्यस्य । 7 अतीतकालत्वाव्यवस्थिति-शब्देन कालात्ययापदिष्टत्वं ग्राह्यम् । 8 एतदनुमाननिराकरणात् । 9 आदिपदेनागमादिः । 10 सूक्ष्मावयवरहितस्य स्थूलस्य प्रतिभासनम् । 11 इति हेतोः सिद्धमेव सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनम् । 12 अपि तु तत्प्रतिषेधे सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रतिषेधे साध्ये स्वभावानुपलब्धिः सिध्यत्येव । 13 सूक्ष्माद्येकान्तनिराकरणे स्याद्वादिनां किं फलमिति केनचित्पृष्टे आहुर्जैनाः । 'तत्प्रतिषेधे एव' इति पाठान्तरम् । 14 कारिकायाश्चतुर्थं पदं व्याख्याति । तत्र सूक्ष्मस्थूलयोर्मध्ये । अन्यतरः स्वभावः स्वभावान्तरं तस्य । स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वेत्यर्थः । एकस्य प्राधान्ये विवक्षिते आकारान्तरस्य, तदितरस्य स्वभावस्य गुणीभावः स्यादित्यर्थः । (यथा घटस्य प्राधान्ये परमाणूनां (घटावयवानां) घटरूपादीनां वा अप्राधान्यम् । घटरूपादीनां घटावयवानां च प्राधान्ये घटस्याप्राधान्यमित्यर्थः) ।

णवो रूपादयो वेति । घटार्थिनो हि घटविवक्षायां घटः प्रधानं परमाणवोनुमेयाः, प्रत्यक्षा-
श्च रूपादयो गुणीभूताः, तदर्थात्त्वादविवक्षाप्रसिद्धेः । तदर्थिनां^१ तु तद्विवक्षायां त एव प्रधानं
न पुनर्घटोवयवी, तद्विवक्षायाः^२ संभवाभावात्तदर्थित्वानुपपत्तेः । न^३ च तद्बुभयसत्त्वाविशेषाद-
विशेषेणार्थित्वमर्थित्वं वा प्रसज्यते, तस्य^४ तत्सत्तामात्रानिबन्धनत्वात्, ^५मोहविशेषोदयहेतु-
कत्वात् तद्बुदयस्यापि^६ ^७मिथ्यादर्शनादिकालादिनिमित्तकत्वात्^८ ।

तदेवं स्यादद्वैतं, स्यात् पृथक्त्वमिति मूलभङ्गद्वयं ^९विधिप्रतिषेधकल्पनयैकवस्तुन्यविरोधेन
प्रश्नवशादुपदर्शितम् । शेषभङ्गानां तु प्रक्रिया ^{१०}यथोदितनयविशेषवचनभाक् 'एकानेकविकल्पा-
दावुत्तरत्रापि योजयेत्' ^{११}इत्याद्यतिदेशकारिकानिर्देशसामर्थ्यत्प्रपञ्चतो^{१२} निश्चेत्तव्या ।

अद्वैताद्याग्रहोग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलङ्घ्यवीर्याः^{१३}, स्यात्कारामोषमन्त्रप्रणयनविधयः^{१४} शुद्ध-
सध्यानघोराः^{१५} ।

कालात्ययापदिष्ट है अर्थात् "अपने अवयवों से अवयवी सर्वथा भिन्न है, क्योंकि वह सर्वथा भिन्न
प्रतिभासित होता है ।" इस अनुमान में "सर्वथा भिन्न प्रतिभासनात्" यह हेतु विरुद्ध और कालात्ययाप-
दिष्ट दोष से दूषित है । इस अनुमान का निराकरण करने से ही उपमान, आगम आदि से भी सूक्ष्म
अवयवों से रहित स्थूल का प्रतिभास नहीं होता है अर्थात् तन्तुओं से रहित वस्त्र प्रत्यक्ष, अनुमान, उप-
मान और आगम आदि किन्हीं प्रमाणों से नहीं जाना जाता है । इसलिये सूक्ष्म आदि एकांतरूप वस्तुयें
प्रत्यक्षबुद्धि में प्रतिभासित नहीं होती हैं । यह बात असिद्ध भी नहीं है कि जिससे उसका प्रतिषेध—
अभाव साध्य करने पर स्वभावानुपलब्धि हेतु सिद्ध न हो सके, अर्थात् सिद्ध ही है ।

१ (घटपरमाण्वर्थिनां घटरूपाद्यर्थिनां वा । २ (तस्य घटस्य) । ३ हे सौगत । ४ तस्य, अर्थित्वस्य । तत्सत्तामात्रा-
निबन्धनत्वात् किन्तु मोहोदयहेतुकत्वात् । ५ मोहोदयोपि सर्वत्र विद्यते, तत एवार्थित्वमनर्थित्वं वा कुतो न प्रसज्यते
इत्युक्ते आह विशेषेति । ६ तस्य, मोहविशेषस्य । ७ आदिपदेन मिथ्याज्ञानादि । ८ आदिपदेन द्रव्यक्षेत्रभावा
शुद्धताः । ९ प्रथमभङ्गं विधिकल्पना, द्वितीये प्रतिषेधकल्पना । १० तत्सत्तामात्रात् सर्वैक्यं पृथग् द्रव्यादिभेदतः
इत्यादिनयविवक्षा । ११ इति पूर्वमुक्ता त्रयोविंशतितमा कारिका । १२ अतिदेश, उपदेशः । १३ गहना दुनिवारा ।
१४ असः । बहुवीहिः । १५ ध्यानं परीक्षा । तेन घोराः, स्थिराः ।

धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां^१ मण्डलं जैनमयं ।

वाचः सामन्तभद्रघो विदधतु विवधां सिद्धिमुद्भुतमुद्राः^२ । १ ।

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ द्वितीयः परिच्छेदः^३ । २ ।

अर्थ—अद्वैतादि का आग्रहरूप जो उग्र ग्रह को ही हुई गहन—दुर्निवार विपत्ति उसका निग्रह करने में अलंघ्य शक्तिशाली एवं स्यात्काररूपी अमोघ मंत्र की विधि का प्रणयन करने वाले, शुद्ध सद्बुद्धि—सत्यपरीक्षा में धीर—स्थिररूप, धृति को धारण करने वाले, धन्य-महा पुरुषों के जैन अग्रिममण्डल को धारण करने वाले प्रकट हुये हर्ष को प्रदान करने वाले श्रीसमंतभद्रस्वामी के वचन विविध प्रकार की सिद्धि—लौकिक-पारमार्थिक सिद्धि को प्रदान करें ॥१॥

इस परिच्छेद में चौबीसवीं कारिका से सत्ताइसवीं कारिका तक चार कारिकाओं द्वारा अद्वैत-मत का निरसन किया है, इसके बाद पाँच कारिकाओं द्वारा योग और बुद्ध के सर्वथा पृथक्त्वमत का खण्डन किया है, उसके अनन्तर चार कारिकाओं से द्वैताद्वैतरूप उभयात्मक—सापेक्ष—अनेकांत का समर्थन किया है और इसमें उसी-उसी जगह सभी के पूर्व पक्ष स्पष्ट करके दिखाये गये हैं । इस प्रकार से तेरह कारिका के विवरणरूप से यह दूसरा परिच्छेद पूर्ण हुआ है ।

बोहा— द्वैत और अद्वैत के, सब एकांत असत्य ।

अनेकांत को नित नमूं, जो त्रिभुवन में सत्य ॥१॥

इस प्रकार से आप्तमीमांसालंकार में दूसरा परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

भेदाभेदात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है

कथंचित् भेदाभेदरूप वस्तु सत् रूप ही है संवृतिरूप नहीं है क्योंकि वह प्रमाण का विषय है अपने इष्टतत्त्व के समान ।

शून्यवादी बौद्ध के द्वारा कल्पित भेदाभेदरूप उभय तत्त्व सकल धर्म से शून्य संवृतिरूप नहीं है । नैयायिकाभिमत, परस्पर निरपेक्ष भेदाभेद विरुद्ध ही है क्योंकि वे प्रमाण के विषय नहीं हैं अतः

१ पुंसाम् । २ उद्भूतां मुदं रान्ति, ददतीति तथोक्ताः । इदं वृत्तं द्वघर्थम् । मन्त्रपक्षे स्यात्कारामोघमन्त्रप्रणयन-विधयो वाचः कर्तुं भूताः । ३ अस्मिन् परिच्छेदे चतुर्विंशतितमप्रभृति सप्तविंशतितमान्ताभिरचतसृभिः कारिका-भिरद्वैतमतं, ततः पञ्चकारिकाभिः योगस्य बुद्धस्य च सर्वथा पृथक्त्वमतं स्पष्टमाक्षिप्य निरसितम् । तदनन्तरं चतसृभिः कारिकाभिर्द्वैताद्वैतोभयात्मकः सापेक्षोनेकान्तः समधितस्तत्र तत्र सर्वेषां पूर्वपक्षाश्च विशदीकृत्य दर्शिताः । एवं त्रयोदशकारिकाविवरणरूपेण परिच्छेदोयं समापितोऽस्ति ।

एकांत से भेद, अभेद, उभय अथवा अनुभय सिद्ध नहीं है क्योंकि इनकी स्वभावानुपलब्धि है अर्थात् ये भेदैकांत आदि स्वभाव से उपलब्ध नहीं होते हैं क्योंकि ये अपने स्वरूप से ही रहित हैं। प्रत्यक्षज्ञान में स्थूल स्वभाव से निरपेक्ष सूक्ष्म एवं सूक्ष्म से निरपेक्ष स्थूल पदार्थ ही नहीं झलकते हैं प्रत्युत परस्पर सापेक्ष ही झलकते हैं। क्योंकि निर्विकल्पज्ञान में परस्पर भिन्न अत्यासन्न परमाणु नहीं झलकते हैं।

यदि बौद्ध कहें कि परमाणुओं को संवृत्ति संवृत कर देती है—ढक देती है और अनादि वासना से असत् रूप स्थूल आकार झलका देती है। तब तो ये परमाणु प्रत्यक्षज्ञान में अपना आकार नहीं झलकाते हैं और मैं प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हूँ ऐसा घोषित करते हैं अतः ये मूल्य को दिये बिना ही वस्तु को ग्रहण करने वाले अमूल्यदानक्रयी ही हैं। यदि आप कहें कि उन अवयवों से अभिन्न के समान अवयवी समवाय सम्बन्ध से प्रतिभासित होता है यह बात भी असम्भव है। ये अवयव हैं यह अवयवी हैं एवं इन दोनों में यह समवाय है ये तीनों ही आकार आज तक हम किसी को भी प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देते हैं अतः ये तीनों ही अमूल्यदानक्रयी हैं।

इस प्रकार से केवल अणु-अणु रूप सूक्ष्म वस्तु तथा केवल अवयव निरपेक्ष मात्र द्रव्य रूप स्थूल वस्तु ही ज्ञान में नहीं झलकती है।

अतः प्रत्येक वस्तु मुख्य-गौण विवक्षा से कथंचित् एकत्वरूप, कथंचित् अनेकरूप, कथंचित् उभयरूप, कथंचित् अनुभय आदि सप्तभंगीरूप सिद्ध हैं।

सार का सार—कथंचित् सभी वस्तुओं में भेद है क्योंकि उनका लक्षण, उनकी संज्ञा, उनकी संख्या अलग-अलग हैं। कथंचित् सभी वस्तुओं में अभेद है क्योंकि सभी अस्तिरूप हैं--वस्तुरूप हैं इत्यादि से वस्तु में भेद-अभेद की व्यवस्था बन जाती है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के एक-अनेक, भेद-अभेद धर्म परस्पर सापेक्ष हैं निरपेक्ष नहीं हैं ऐसा समझना।

इस प्रकार श्रीविद्यानन्दि आचार्य विरचित अष्टसहस्री ग्रन्थ में आर्यिकाज्ञानमतीकृत कारिकापद्यानुवाद, अर्थ, भावार्थ, विशेषार्थ और सारांश से सहित इस 'स्याद्वादचित्तमणि' हिन्दी भाषा टीका में यह दूसरा परिच्छेद पूर्ण हुआ।



अथ तृतीयः परिच्छेदः ।

मंगलाचरणं—ये नित्या नाप्यनित्या वा, स्याद्वादिज्ञानगोचराः ।

अनाद्यनिधनाः शुद्धास्तान् सिद्धान् प्रत्यहं नमः ॥१॥*

अष्टशती प्रथितार्था^१ साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ।

विलसदकलङ्कध्रिषणैः^२ प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या^३ । १ ।

नित्यत्वैकान्तपक्षेपि^४ विक्रिया नोपपद्यते^५ ।

प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥३७॥

अर्थ—जो न नित्य हैं न सर्वथा अनित्य ही हैं, स्याद्वादीजनों के ज्ञान के विषय हैं, अनादि और अनंत हैं, शुद्ध हैं, उन सिद्धों को हम प्रतिदिन नमस्कार करते हैं ।

श्लोकार्थ—श्रीभट्टाकलंकदेव के द्वारा रचित अष्टशती प्रसिद्ध अर्थ से सहित है जो कि शोभायमान अकलंक—निर्दोष बुद्धि के धारक श्रीविद्यानन्दि स्वामी के द्वारा अष्टसहस्री रूप से की गई भी संक्षिप्त ही है । उत्तम बुद्धि धारक पुत्र को उसके अर्थ को और अधिक विस्तार करके समझना चाहिये ॥१॥

यदि सर्वथा सभी वस्तु हैं, नित्य कहो तब क्या होगा ।

हलन चलन परिणमनरूप, विक्रिया कार्य कैसे होगा ॥

कर्त्तादि कारक के पहले, ही अभाव होगा निश्चित ।

ज्ञाता बिन फिर ज्ञान कहाँ, अरु कहाँ ज्ञान का फल सुघटित ॥३७॥

कारिकार्थ—नित्यत्वैकान्त पक्ष में भी परिणमन स्वरूप एवं परिस्पंद रूप विविध क्रियार्ये नहीं हो सकती हैं क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के पहले से ही कारक का अभाव है एवं कारक के अभाव में प्रमाण भी कहाँ रहेगा ? और उसका फल भी कहाँ रहेगा ? ॥३७॥

१ विस्तार्थाः । व्या० प्र० । २ अकलंकध्रिषणा येषां ते तैरथवाभट्टाकलंकध्रिषणावध्रिषणा येषां ते तैः । पुन-विस्तारः । अष्टशतीत्यादि । विलसदकलंकध्रिषणैर्भट्टाकलंकदेवैः कृता । अष्टशतीप्रथितार्थाप्रख्याताभिधेया भवतीति-क्रियाध्याहारः । सा विलसदकलंकध्रिषणैर्विद्यानन्दैः संक्षेपादष्टसहस्री कृतापि विलसदकलंकध्रिषणैरन्यैः विद्वद्भिः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या । अकलङ्काः भट्टाकलङ्कदेवैस्त एव ध्रिषणा बृहस्पतयोऽकलंकध्रिषणाः बृहस्पतिः सुराचार्योऽपी-पतिर्द्विषणो गुरुरित्यमरः । विलसन्तश्च ते अकलंकध्रिषणाश्च ते विलसदकलंकध्रिषणास्तैः । अकलंका एव ध्रिषणा इत्यत्र रूपकालङ्कारः । उपमैव तिरोभूतभेदारूपकमिष्यते । इति वचनात् । पक्षे न विद्यते कलङ्कः संशयादिदोषो येषां तेऽकलङ्काः । अकलङ्कश्च ते ध्रिषणाश्च तेऽकलङ्कध्रिषणाः । ध्रिषणाशब्दोत्र विद्वद्वाची “मनीषी ध्रिषणो धीमान् शेमुषीशोगिरापति” रिति धनञ्जयः । विलसतश्च तेऽकलंकध्रिषणाश्च ते तैर्विद्यानन्दैरस्माभिरित्यर्थं तृतीयपक्षेऽकलंकाध्रिषणावुद्धिर्येषां तेऽकलंकध्रिषणाः । शेषं सुगमं बुद्धिर्ध्रिषणा मनीषा इत्यमरः । दि० प्र० । ३ विस्तरसहिता ज्ञेया । दि० प्र० । ४ अपि शब्देन नित्यत्वैकान्तग्रहणम् । व्या० प्र० । ५ अन्यथोत्पद्यतेचेत्कार-काभावो न स्यात् । व्या प्र० । *यह श्लोक हिन्दी टीकाकर्त्रीकृत है ।

सदसदेकत्वपृथक्त्वकान्तप्रतिषेधानन्तरं नित्यत्वैकान्तप्रतिक्षेपः, ¹प्रक्रम्यतेऽनेनेति² ³तात्पर्यम् । तत्र नित्यत्वैकान्तः कूटस्थत्वाभिनिवेशः⁴ । तस्य⁵ पक्षः प्रतिज्ञानम् । तस्मिन्नपि विविधा क्रिया परिणामपरिस्पन्दलक्षणा नोपपद्यते⁶ । कार्योत्पत्तेः प्रागेव तदुत्पत्तौ⁷ वा प्रागेव कारकाभावो नोपपद्यते इति कूटस्थः प्रागेव⁸ कारकः स्यादात्मा भोगस्य⁹ । अथ प्रागेव कारकाभावस्तदा विक्रियापि नोपपद्यते इति शश्वदकारकः स्याद् तदविशेषात् ।

सत्-असत् और एकत्व-पृथक्त्वरूप एकांत के प्रतिषेध के अनंतर अब नित्यत्वैकांत का खण्डन किया जाता है ।

वह इस कारिका के द्वारा किया जाता है ऐसा तात्पर्य है ।

यहाँ कूटस्थ अभिनिवेश को नित्यत्वैकांत कहते हैं । जो एकरूप से तीनों कालों में रहता है वह कूटस्थ है अथवा जो कूट के समान निर्विकाररूप से किसी भी प्रकार के परिणामन के बिना ही रहता है वह कूटस्थ कहलाता है । इस कूटस्थ एकांतपक्ष को नित्यैकांत कहते हैं । उसके पक्ष को प्रतिज्ञा कहते हैं । उसमें भी परिणाम, परिस्पन्दन लक्षण विविध प्रकार की क्रियायें नहीं हो सकती हैं अन्यथा कार्य की उत्पत्ति के पहले ही अथवा उसकी उत्पत्ति के होने पर पहले ही कारक का अभाव नहीं बन सकता है । इसलिये सुखादि अनुभवरूप कार्य की उत्पत्ति के पहले कूटस्थ आत्मा भोग का कर्ता हो जायेगा ।

यदि कार्य की उत्पत्ति के पहले ही कूटस्थ आत्मा में कारक का अभाव है तब तो सुखादि अनुभव लक्षण विविध प्रकार की क्रियायें भी नहीं हो सकती हैं । इसलिये नित्य ही वह अकारक हो जायेगा । क्योंकि पहले के समान उत्पत्ति के होने पर भी कारक का अभाव समान है ।

1 प्रारभ्यते । व्या० प्र० । 2 आचार्येण सर्वथा नित्यनिराकरणं प्रारभ्यतेऽतः प्रभृति । दि० प्र० । 3 कूटस्थ-त्वाभिनिवेशपक्षे सांख्यमते । = विविधार्थक्रियापरिणामपरिस्पन्दलक्षणा = देहलीदीपकन्यायेनेयं क्रिया = अन्यथा विक्रियोत्पद्यते चेत्तर्हि कार्योत्पत्तेः प्रागेव तदुत्पत्तौ वा प्रागेव कारकाभावो नोपपद्यत इत्युक्ते सुखाद्यनुभवलक्षणस्य कारकः स्यादिति संबन्धः प्रागेवेति शब्दस्योत्पत्त्यमान कार्यापेक्षया एवं व्याख्यानं तदुत्पत्तौ वेदव्याख्यानमुत्पद्यमान कार्यापेक्षया प्रागेवेति ज्ञेयम् । इत्युक्ते कारकसदभाव एव न तु कारकाभावः कूटस्थ इति दूषणं सांख्यस्य कुतो यतोत्र सांख्यमत आत्मा नित्यो भोक्ता वर्तते । ननु कारक इति तात्पर्यार्थः । करोतीति कारकः इत्युक्ते कार्यादीनां कर्ता अथ सांख्यो वक्ति जैनं प्रति सोस्तुकारकोऽविक्रियश्चात्मा कार्योत्पत्तेः प्रागेव चेत्तर्हि = क शब्दो महदन्तरे = प्रत्यक्षादि = प्रमितिलक्षणम् । दि० प्र० । 4 नित्यत्वैकान्तस्य । दि० प्र० । 5 कूटवन्निर्विकारो यः स्थितः सः कूटस्थ उच्यते = अन्यथा = सुखाद्यनुभवलक्षणकार्यस्योत्पत्तेः प्रागेव कूटस्थ आत्मा भोगस्य कारकः स्यादिति संबन्धः । दि० प्र० । 6 प्रागेवेति शब्दस्योत्पत्त्यमानकार्यापेक्षया एवं व्याख्यानम् । दि० प्र० । 7 कारकः । दि० प्र० । 8 अनेन शब्देन योगे कार्योत्पत्तौ कार्योत्पत्तौ वेति रूपभेदप्रदर्शनमात्रं नत्वर्थभेदः । दि० प्र० । 9 पूर्वमेवकारणाभाव-स्तदाकार्यमपि न जायते । दि० प्र० ।

[सांख्य आत्मानमकर्तारमपरिणामिनं मन्यते किन्तु जैनाचार्यैरात्मा परिणामीति साध्यते ।]

सोस्त्वकारकोऽविक्रियश्चेति चेत् क्वैव प्रमाणं प्रमितिलक्षणं^१ च तत्फलमुपपद्येत ? प्रमातुरभावे^२ तदसंभवात्^३ । न ह्यकारकः प्रमाता नाम, प्रमितिक्रियासाधनस्य^४ कारक-विशेषस्य स्वतन्त्रस्य^५ प्रमातृतोपपत्तेः । सकलकार्योत्पत्तिपरिच्छित्तिक्रिययोः सर्वथाप्यसाधनस्य^६ सत्त्वासंभवादवस्तुत्वापत्तेः^७ कथमात्मसिद्धिः परस्य स्यात् ? खरविषाणादिसिद्धि-प्रसङ्गात् ।

[सांख्य आत्मनश्चेतनाक्रियां साध्यितुं पूर्वपक्षं विधत्ते ।]

ननु चात्मनश्चेतनैवार्थक्रिया, न पुनः स्वव्यतिरिक्तकार्यस्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, तस्याः प्रधान-

[सांख्य आत्मा को अकर्ता, अपरिणामी मानते हैं, किन्तु जैनाचार्य कर्ता और परिणामी सिद्ध कर रहे हैं ।]

सांख्य—वह आत्मा अकारक और विक्रिया रहित हो जावे क्या बाधा है ?

जैन—तब तो प्रमाण और प्रमिति लक्षण उस प्रमाण का फल कहाँ एवं कैसे होगा ? क्योंकि प्रमाता के अभाव में प्रमाण और उसका फल असंभव ही है । एवं जो अकारक है वह प्रमाता नहीं हो सकता क्योंकि जो प्रमिति क्रिया का साधक, स्वतन्त्र कारक विशेष है वही प्रमाता हो सकता है अर्थात् “करोतीति क्रियां निर्वर्तयतीति कारकः” जो क्रिया को निष्पन्न करे वह कारक है ।

दूसरी बात यह है कि सकल कार्य की उत्पत्ति लक्षण और परिच्छित्ति—ज्ञप्ति लक्षण क्रियाओं का जो सर्वथा अकारक है उसका सत्त्व ही न होने से वह अवस्तु रूप हो जाता है पुनः आप सांख्य के यहाँ आत्मा की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? यदि अवस्तु रूप हो जाने पर भी आत्मा की सिद्धि मानों तब तो खर विषाण आदि की सिद्धि का भी प्रसंग आ जायेगा ।

[सांख्य आत्मा के चेतना क्रिया सिद्ध करते हुये पूर्वपक्ष रखता है]

सांख्य—आत्मा की अर्थक्रिया चेतना ही है किन्तु चेतना से भिन्न कार्य की उत्पत्ति लक्षण

१ एवं कारणकार्यरहिते सत्यात्मनि प्रमाणं क्वार्थानुभवलक्षणं प्रमाणफलं क्व उपपद्यतेऽपितु न क्वापीत्यर्थः । कस्मात्प्रमातुः पुरुषस्याभावे तयोः प्रमाणप्रमित्योरघटनात् । दि० प्र० । २ प्रमिणोतीति प्रमाता सा क्रिया नास्ति यतः । व्या० प्र० । ३ कारकाभावेप्रमातुरभावः कथमित्युक्ते आह । व्या० प्र० । ४ साधकस्य । व्या० प्र० । ५ यस्तु प्रमितिक्रियासाधकः कारणविशेषः स्वतन्त्रः प्रधानः कोर्थः भूतचतुष्टयाद्यनुत्पन्नस्तस्य प्रमातृत्वं ज्ञातृत्वमुपपद्यते नान्यस्येत्यर्थः = सकलकार्यस्योत्पत्तिक्रियायाः सकलपरिच्छित्तेर्ज्ञप्तिक्रियायाश्च सर्वथाप्यसाधको यः बहिरन्तर्लक्षणपदार्थः तस्य सत्त्वं न संभवति सत्त्वस्यासंभवे सति किं स्यादिति प्रश्ने । अवस्तुत्वमायाति । एवं सति परस्य नित्यत्वैकान्तस्य वादिनः सांख्यदेः आत्मसिद्धिः कथं स्यात् ? न कथमपि आत्मसिद्धिर्भवति चेत्तदा सकलकार्योत्पत्तिपरिच्छित्तिक्रियारहितस्य खरविषाणादेरपि सिद्धिर्भवतु । सा च न दृश्यत इत्यर्थः । दि० प्र० । ६ असाधकस्य । व्या० प्र० । ७ साधनस्य । परिच्छित्ति क्रियोत्पादकत्वाभावे आत्माऽस्तीति ज्ञातुमेव न शक्यत इति भावः । दि० प्र० ।

हेतुत्वात् । न^१ च चेतना पुंसोर्थान्तरमेव, तस्य तल्लक्षणत्वात् “चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्” इति वचनात्^२ । न चानित्या चेतना, नित्यपुरुषस्वभावत्वात्^३ साक्षित्वादिवत्तस्याः, प्रधान-स्वभावत्वे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात् तदनित्यत्वप्रसङ्गाच्च सुखादिवत् । न च नित्यायाश्चेतनायाः परस्यार्थक्रियात्वं विरुद्ध्यते धात्वर्थरूपायाः^४ क्रियायाः प्रतिघाताभावात्सत्तावत्^५ । ततोर्थ-क्रियास्वभावत्वादात्मनो^६ वस्तुत्वमेव । न ह्यर्थक्रियाकारणस्यैव^७ वस्तुत्वमर्थक्रियायाः स्वय-मवस्तुत्वापत्तेस्तत्रार्थक्रियान्तराभावादन्यथानवस्थाप्रसङ्गात् । स्वतोर्थक्रियाया वस्तुस्वभावत्वे

अथवा ज्ञप्ति लक्षण क्रिया अर्थक्रिया नहीं है क्योंकि ये तो क्रियायें प्रधान हेतुक हैं एवं वह चेतना पुरुष से भिन्न ही नहीं है किन्तु वह पुरुष का ही लक्षण है “चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं” हमारे यहाँ ऐसा वचन है ।

तथा च वह चेतना अनित्य भी नहीं है क्योंकि नित्य पुरुष का स्वभाव है जैसे उस चेतना का साक्षित्वादि । अर्थात् प्रधानात्मक कार्य की उत्पत्ति में आत्मा साक्षीरूप से रहता है यह भाव है । यदि आप चेतना को प्रधान का स्वभाव स्वीकार कर लेवें तब तो पुरुष की कल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी ।

एवं सुखादि के समान वह पुरुष अनित्य भी हो जायेगा । तथा नित्यरूप चेतना में हम सांख्यों के यहाँ अर्थक्रिया विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि “चेतयते इति चेतना” इस प्रकार से धात्वर्थ रूप क्रिया के प्रतिघात (विरोध) का अभाव है, सत्ता के समान । अर्थात् नित्यरूप सत्ता में अर्थक्रिया का विरोध नहीं है “अस्तीति सत्” होनारूप क्रिया मौजूद है । इसलिये अर्थक्रिया स्वभाव वाला होने से आत्मा वस्तु ही है । अर्थक्रिया का कारण ही वस्तु है ऐसा भी नहीं कह सकते अन्यथा अर्थक्रिया स्वयं अवस्तु हो जायेगी क्योंकि उसमें अर्थक्रियांतर का अभाव है, अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जायेगा । स्वतः अर्थक्रिया को वस्तु स्वभाव मानने पर पुरुष भी स्वतः हमेशा ही अर्थक्रिया स्वभाव वाला होने से नित्य है वह भी वस्तु रूप हो जावे, क्योंकि विक्रिया से रहित होने पर भी उस आत्मा में नित्य-कारकत्व भी घटित हो जाता है ।

जैन—ऐसा कहने वाले आप सांख्य भी परीक्षा में दक्ष बुद्धि वाले नहीं हैं क्योंकि प्रमाण से विरोध आता है । प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि प्रमाणों से चेतनारूप नित्य अर्थक्रिया कदाचित् भी अनुभव में नहीं आती है ।

- 1 चेतनाप्यात्मनोर्थान्तरभूतासत्यात्मनः सकाशाद्भिन्नार्थक्रिया कुतो न जायत इत्याशंकायामाह । व्या० प्र० ।
- 2 ननु चानित्यत्वेनात्मनोभिन्नायाश्चेतनाया विभिन्नार्थक्रियात्वं कुतो न जायत इत्याशंकायामाह । व्या० प्र० ।
- 3 यथा साक्षित्वादि पुरुषस्वभावत्वादित्यं न । तथा चेतना च चेतनायाः प्रधानस्वभावत्वे सत्यात्मकल्पना निरर्था तस्याश्चेतनायाःनित्यत्वप्रसंगश्च यथा सुखदुःखादेप्रधानस्वभावत्वे सत्यनित्यत्वप्रसंगः । दि० प्र० । 4 समसांख्य-स्य । व्या० प्र० । 5 बाधाभावात् । व्या० प्र० । 6 धात्वर्थरूपक्रियायाः प्रतिघाताभावान्नित्यायाः सत्याया अर्थक्रियात्वं न विरुद्ध्यते यथा । दि० प्र० । 7 न केवलमर्थक्रियाकारणस्य वस्तुत्वं किन्त्वर्थक्रियाया अपि वस्तुत्वमितिभावः । व्या० प्र० ।

पुरुषस्यापि स्वतः शश्वदर्थक्रियास्वभावत्वान्नित्यं¹ वस्तुत्वमस्तु, ²विक्रियाविरहेपि नित्यकार-
कत्वस्यापि घटनात् । इति कश्चित् सोपि न परीक्षादक्षधिषणः, प्रमाणविरोधात्, प्रत्यक्षतो-
नुमानादेर्वा नित्यार्थक्रियायाः ³कदाचिदपरिच्छेदात् । ⁴स्वसंवेदनमेव नित्यचेतनार्थक्रियां
परिच्छिनत्तीति चेन्न, तथा तद्बुद्ध्यनध्यवसायात्⁵ । न हि बुद्ध्यनध्यवसितां चेतनां
⁶पुरुषश्चेतयते⁷, ⁸बुद्धिपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्⁹, सर्वस्य¹⁰ शब्दादेर्विषयस्य बुद्ध्यनध्यव-
सितस्यैव पुंसा संवेद्यत्वसिद्धेः । स्यान्मतं 'न चेतना नाम विषयभूतार्थान्तरं पुंसोस्ति'¹¹ या
बुद्ध्याध्यवसीयते¹² तस्यास्तत्स्वरूपत्वात् स्वतः प्रकाशनाच्च' इति तदप्ययुक्तं¹³, ¹⁴तदर्थ-

सांख्य—स्वसंवेदन ही नित्य चेतनारूप अर्थक्रिया को जानता है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि 'नित्य चेतना ही अर्थक्रिया है' इस प्रकार से उस बुद्धि के द्वारा अध्यवसाय नहीं होता है अर्थात् स्वसंवेदन के द्वारा मैं सुखी हूँ अथवा दुःखी हूँ इत्यादि का अनित्य रूप से ही अनुभव होता है न कि नित्यरूप अर्थक्रिया का । क्योंकि बुद्धि के द्वारा निश्चित नहीं को गई चेतना का अनुभव पुरुष नहीं करता है । अन्यथा बुद्धि की कल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी । पुनः बुद्धि से अनिश्चित ही सभी शब्दादि के विषयभूत घट पटादि पदार्थ पुरुष के द्वारा जानने योग्य सिद्ध हो जायेंगे, किन्तु आपके यहाँ ऐसा तो है नहीं । आपके यहाँ तो बुद्धि के द्वारा अध्यवसित पदार्थ को ही आत्मा जानती है, अनिश्चित को नहीं जानती है ।

सांख्य—'चेतना' नाम की चीज पुरुष के विषयभूत से भिन्न हो और बुद्धि के द्वारा उस चेतना का निश्चय किया जावे, ऐसी बात तो है नहीं, क्योंकि वह चेतना तो पुरुष का स्वरूप ही है और स्वतः ही प्रकाशित होती है ।

जैन—आपका यह कथन भी अयुक्त ही है । तब तो उस चेतना में अर्थक्रिया का अभाव हो जायेगा क्योंकि अर्थक्रियावान् का स्वरूप ही सदा अवस्थायी अर्थक्रिया नाम से प्रसिद्ध नहीं है । वह

1 सर्वदा । व्या० प्र० । 2 अर्थक्रिया । व्या० प्र० । 3 अपरिज्ञानात् । दि० प्र० । 4 सांख्यः । दि० प्र० । 5 स्वसंवेदनज्ञानेनानिश्चयात् । दि० प्र० । 6 पश्यत्यनुभवतीत्यर्थः । व्या० प्र० । 7 अन्यथा । व्या० प्र० । 8 बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते । व्या० प्र० । 9 शब्दादिविषयसंवेदनार्थत्वाद्बुद्धिकल्पनाया न वैयर्थ्यमिति वदन्तं प्रत्याह । व्या० प्र० । 10 समस्तस्य शब्दविकल्पघटादेरर्थस्य बुद्ध्या कृत्वाऽनिश्चितस्यैव वस्तुनः पुरुषस्य स्वसंवेद्यत्वं सिद्धयति । दि० प्र० । 11 का । दि० प्र० । 12 काकुः । व्या० प्र० । 13 स्याद्वाद्याह । तदपि सांख्योक्तुमसंगतम् । कस्मात्तस्याश्चेतनायार्थक्रियात्वाघटनात् । दि० प्र० । 14 चेतनायाः । व्या० प्र० ।

क्रियात्वायोगात् । न ह्यर्थक्रियावत्^१ स्वरूपमेव सदावस्थाय्यर्थक्रिया^२ प्रसिद्धास्ति, तस्याः पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानेन^३ च स्वस्मिन् परत्र वा प्रतीतेः ।

[कूटस्थनित्येऽर्थक्रिया संभवति न वा तस्य विचारः ।]

सोयं^४ पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणमर्थक्रियां कौटस्थ्येपि ब्रुवाणः कथमुन्मत्तः ? सा ह्यर्थक्रियोत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा^५ । न च शश्वदवस्थिते^६ सर्वथासौ^७ प्रतीयते, तत्र कारकज्ञापकहेतुव्यापारासंभवात् । न हि पुरुषस्यार्थस्योत्पत्तिश्चेतनाक्रिया^८ येन कारकहेतोरुपादानस्य सहकारिणो वा^९ व्यापारस्तत्र भवेत् । तथोपगमे वा तस्यानित्यत्वानुषङ्गात्कुतः कौटस्थ्य-

अर्थक्रिया तो पूर्वाकार का परित्याग करके उत्तराकार के ग्रहणरूप से ही आत्मा में या परघट पटादि में अनुभव में आ रही है ।

[कूटस्थ नित्य में अर्थक्रिया होती है या नहीं ? इस पर विचार]

इस प्रकार आप सांख्य पूर्व स्वभाव का परिहार एवं अपर स्वभाव की प्राप्ति लक्षण अर्थक्रिया को कूटस्थ नित्य पदार्थ में भी कहता हुआ अनुन्मत्त कैसे है ? अर्थात् उन्मत्त ही है ।

वह अर्थक्रिया चाहे उत्पत्तिरूप हो अथवा ज्ञप्तिरूप । किन्तु हमेशा ही अवस्थित सर्वथा नित्य पदार्थ में प्रतीति में नहीं आती है । क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थ में कारक हेतु तथा ज्ञापक हेतु का व्यापार ही असंभव है ।

पुरुषरूप अर्थ की उत्पत्ति होना ही चेतना क्रिया हो ऐसा तो है नहीं कि जिससे उपादान-रूप कारक हेतु का अथवा सहकारी-प्रधानादि का वहाँ व्यापार—कार्य हो सके । अर्थात् नहीं हो सकता है अथवा उस चेतना को अर्थ की उत्पत्ति रूप अर्थक्रिया मान लेने पर या उसे चेतना में

१ ता । व्या० प्र० । २ सदाऽवस्थायी आत्मा तस्य । व्या० प्र० । ३ तस्यार्थक्रियायाः पूर्वाकारत्यजनेनोत्तराकार-ग्रहणेनात्मनि परत्र देवदत्तादौ वा प्रतीतिघटनात् । दि० प्र० । ४ सोयं सांख्योक्तलक्षणमर्थक्रियां सदा नित्ये वस्तुनि प्रतिपादयन् उन्मत्त एव । दि० प्र० । ५ हि यस्मात्साऽर्थक्रिया उत्पत्तिलक्षणा, ज्ञप्तिलक्षणा वा भवतु । असावर्थक्रिया सदा नित्यस्यात्मनो न च प्रतीयते=तत्र कौटस्थ्ये सदानित्ये कारकहेतुव्यापारज्ञापकहेतुव्यापाराघटनात् । दि० प्र० । ६ आत्मनि । व्या० प्र० । ७ क्रमयौगपद्यप्रकारेण । व्या० प्र० । ८ आत्मनः । व्या० प्र० । ९ स्याद्वाद्याह अर्थः कः पुरुषस्तस्य चेतनाख्या उत्पत्तिः क्रिया नहि । कारकहेतुद्विधा । उपादानं सहकारी च तयोर्व्यापारस्तत्र पुरुषे येन केन भवेत् । अपितु न भवेत् । तथोपगमे कोर्थः । उत्पत्तिक्रियापक्षे उपादानसहकारिलक्षणकारकहेतुव्यापारांगीकारे वा तस्य पुरुषस्यानित्यत्वभायाति । ततः कौटस्थ्यसिद्धि कुतः न कुतोपीत्युत्पत्तिक्रियां निषिद्धचक्षुत्तिक्रियां खण्डयति जैनः पुरुषस्य चेतना इति ज्ञप्तिः क्रिया घटते । इत्यपि युक्तं नास्ति ज्ञापकहेतुद्विधा प्रमाता प्रमाणञ्च तयोर्व्यापारस्तत्र पुरुषे यतः कुतः स्यात् । अपितु न कुतोपि तथोपगमे तस्यानित्यत्वानुषङ्गात् कुतः कौटस्थ्यसिद्धि इति सबन्धार्थः पूर्ववद्योज्यः । दि० प्र० ।

सिद्धिः ? चेतना पुंसो ज्ञप्तिक्रियेत्यपि न युक्तं¹, यतस्तत्र ज्ञापकहेतोः प्रमातुः प्रमाणस्य च व्यापारः स्यात् । स्यान्मतं 'न पुरुषलक्षणस्यार्थस्य² क्रिया चेतनाख्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । किं तर्हि ? स्वभाव³ एव, तस्य सर्वदा तत्स्वभावत्वात्⁴' इति तदप्यसत्, पुंसः परिणामसिद्धि-प्रसङ्गात् ।

[परिणामस्वभावयोर्भेदोस्तीति सांख्येन मन्यमाने आचार्याः समादधते ।]

परिणामविवर्तधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात् । ननु च 'स्थितस्य धर्मिणः पूर्वाकारतिरोभावेनोत्तराकाराविर्भावः परिणामः । स कथं स्वभावपर्यायः ? सदावस्थितस्य

कारक हेतु, सहकारी हेतु के स्वीकार कर लेने पर तो उस कूटस्थ नित्य पुरुष को अनित्यपने का प्रसंग प्राप्त हो जाता है, पुनः कूटस्थ नित्य की सिद्धि कहाँ रही ?

यदि आप कहें कि चेतना पुरुष की ज्ञप्ति क्रिया है, सो भी नहीं कह सकते कि जिससे उस ज्ञापक हेतु का प्रमाता और प्रमाण में व्यापार हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है ।

सांख्य—पुरुष लक्षण अर्थ की चेतना नाम की क्रिया उत्पत्ति अथवा ज्ञप्तिरूप नहीं है ।

जैन—तो क्या है ?

सांख्य—वह चेतना क्रिया तो पुरुष स्वभाव ही है क्योंकि वह कूटस्थ पुरुष सर्वदा उस चेतना क्रिया स्वभाववाला है ।

जैन—यह कथन भी असत् है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो पुरुष के परिणाम की सिद्धि का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् पूर्व आकार का त्याग करके उत्तर आकाररूप परिणामन करना ही परिणाम है और पुरुष के परिणाम मान लेने पर उसे सुतरां अनित्यत्व सिद्ध हो जायेगा ।

[परिणाम और स्वभाव में भेद है ऐसा सांख्य के कहने पर आचार्य समाधान करते हैं ।]

क्योंकि परिणाम, विवर्त, धर्म, अवस्था और विकार ये सब स्वभाव पर्याय ही हैं । अर्थात् ये सब स्वभाव के ही पर्यायवाची नाम हैं ।

सांख्य—स्थित वस्तुरूप जो धर्मी है उसके पूर्वाकार का तिरोभाव होकर उत्तराकार का आविर्भाव होना परिणाम है । वह स्वभाव पर्याय कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो सदा अवस्थित स्वरूप है वही स्वभाव कहलाता है । इस तरह से परिणाम और स्वभाव में भेद सिद्ध हो जाता है । पुनः इसी

1 पुंसः कूटस्थत्वात् । व्या० प्र० । 2 सांख्यो वदति हे स्याद्वादिन् त्वदीयं मतं स्यादेवं पुरुषस्यार्थस्य चेतनानामा क्रियाया सा उत्पत्तिरूपा ज्ञप्तिरूपा वा न भवति । अत्र स्याद्वादी पृच्छति । तर्हि किं भवति स्वभाव एव कस्माद्धेतोः तस्य पुरुषस्य नित्यं चेतनास्वभावत्वात् = स्याद्वाद्याह तदप्यसत्यं कस्मात्पुरुषस्य परिणामसिद्धिघटनात् । परिणाम १ विवर्त २ धर्म ३ अवस्था ४ विकार ५ एषां स्वभावशब्दस्य पर्यायनामत्वात् । दि० प्र० । 3 पुरुषस्य । दि० प्र० । 4 चेतना । दि० प्र० ।

स्वरूपस्य स्वभावत्वात् । एतेन विवर्तविकारावस्थानां स्वभावपर्यायित्वं व्युदस्तं, विवर्तादीनां कादाचित्कत्वात् । तत् एव धर्मविशेषस्य न स्वभावपर्यायित्वम् । धर्मसामान्यस्यापि^१ साधारणत्वादसत्त्वमेव^२, ^३शब्दद्वयपायिनोऽसाधारणस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात् । इति कश्चित् “सोपि न तत्त्ववित्, ^४सततावस्थितस्यैकान्ततः कस्यचित्स्वभावस्यासंभवात् । स हि न तावत्सकल-प्रमाणेनापरिच्छिद्यमानः प्रतिष्ठाभिर्यति, अतिप्रसङ्गात् । परिच्छिद्यमानस्तु पूर्वापरिच्छिद्यमानरूपताव्यवच्छेदेन परिणामलक्षणानुसरणात् कथं न स्वभावः परिणाम एव स्याद्यतस्त-पर्यायो^६ न स्यात् ? एतेन^७ विवर्तादीनां स्वभावपर्यायित्वमुक्तं, तद्वत्स्वभावस्यापि^८ कथंचि-

कथन से “विवर्त, विकार और अवस्था स्वभाव पर्याय है” इस बात का भी खण्डन कर दिया गया है । क्योंकि ये विवर्त, विकार आदि कादाचित्क हैं । इसीलिये सुखादि धर्म विशेष स्वभाव पर्याय नहीं हैं । और धर्म सामान्य भी साधारण होने से असत् रूप ही है, अर्थात् प्रधान आदि में भी सत्त्व, प्रमेयत्व आदि साधारण धर्म विद्यमान हैं इसलिये उनमें स्वभाव पर्याय का असत्त्व ही है । किन्तु हमेशा अनपायी—नष्ट न होने वाला असाधारणस्वरूप ही स्वभाव है ।

जैन—ऐसा कहते हुये आप सांख्य भी तत्त्ववित् नहीं हैं क्योंकि एकान्त से सतत् अवस्थायी रूप कोई स्वभाव संभव ही नहीं है । कारण सकल प्रमाणों के द्वारा अपरिच्छिद्यमान—नहीं जानने योग्य ऐसा प्रमाणातिक्रान्त सतत् अवस्थित कोई स्वभाववादी एवं प्रतिवादियों के यहाँ प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्त कर सकता है अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायेगा । अर्थात् हमेशा एकरूप से अवस्थित कोई भी स्वभाव प्रमाण से सिद्ध नहीं है एवं प्रमाणातिक्रान्त वस्तु की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है ।

परिच्छिद्यमान स्वभाव तो पूर्व की अपरिच्छिद्यमान रूप अवस्था का परिहार करके ही परिच्छिद्यमान हुआ है अर्थात् प्रमाणों के द्वारा जाना गया है अतः वह परिणाम के लक्षण का ही अनुसरण करता है तब वह स्वभाव, परिणाम क्यों नहीं हो सकेगा, जिससे कि वह परिणामस्वभाव पर्याय न हो सके ? अर्थात् होगा ही । इसी कथन से विवर्तादिकों को भी स्वभाव पर्याय सिद्ध कर दिया गया है अतः उसी

१ सत्त्वप्रमेयत्व धर्मस्य । व्या० प्र० । २ तत्त्वमेव । इति पा० । व्या० प्र० । ३ अविनाशिनः । व्या० प्र० । ४ आह स्याद्वादी सोपि सांख्यः स्वभावज्ञो नास्ति कस्मादेकान्ततः सदानित्यस्य वस्तुनः कश्चित्स्वभावो न संभवति यतः—हे सांख्य स हि सदावस्थितस्वभावः । अपरिच्छिद्यमानः परिच्छिद्यमानो वेति विकल्पः तावत्प्रथमतः प्रत्यक्षादिप्रमाणेनाज्ञायमानः सन् स्थितिं प्राप्नोति । अपरिच्छिद्यमानोपि प्रतिष्ठाभिर्यति चेत्तदाऽतिप्रसंगः स्यात् गगनकुसुमादीनामपि प्रतिष्ठा भवतु—परिच्छिद्यमानश्चेत्तदा परिणाम एव स्वभावः कथं न स्यात् । अपितु स्यात् । कस्मात्प्रागपरिच्छिद्यमानरूपत्वत्यजनेन परिणामलक्षणानुगमनात् यतः कुतः स्वभावपर्यायो न स्यात् । अपितु स्यात् । एतेन परिणामस्य स्वभाव पर्यायित्वस्थापनेन विवर्तादीनां स्वभावपर्यायित्वं प्रतिपादितम् । दि० प्र० । ५ तथावस्थित । इति पा० । कूटस्थत्वेनव्यवस्थितस्य । दि० प्र० । ६ विवर्तादिवत् । दि० प्र० । ७ परिणामस्य स्वभावपर्यायित्वसमर्थनेन । व्या० प्र० । ८ यथा परिणामादि सामान्यस्य साधारणत्वम्—इति संबन्धः । दि० प्र० ।

त्कादाचित्कत्वसिद्धेः । धर्मसामान्यस्य तु यथा साधारणत्वं तथा स्वभावसामान्यस्यापि^१,
^२परिणामादिसामान्यवत्^३ । ततः परिणामादिविशेषाणां स्वभावविशेषपर्यायित्वं परिणामा-
 दिसामान्यानां तु स्वभावसामान्यपर्यायिता व्यवतिष्ठते^४ ।

[उत्पादव्ययौ एवाविर्भावतिरोभावनामानौ स्तः ।]

पूर्वोत्तराकारयोस्तिरोभावाविर्भावौ तु नाशोत्पादावेव नामान्तरेणोक्तौ, सर्वथा तदभावे
 स्वभावस्यासंभवात्^५ । तदेतद्विनाशोत्पत्तिनिवारणमबुद्धिपूर्वकं प्रत्यक्षादिविरोधात् क्षणिकै-
 कान्तवत् । नेदमसिद्ध^६ साधनं, ^७पुरुषस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् स्मरणात्-

परिणाम के समान स्वभाव भी कथंचित् कादाचित्क है, यह बात सिद्ध हो गई है । धर्म सामान्य जिस प्रकार से साधारण है उसी प्रकार से स्वभाव सामान्य भी साधारण है परिणामादि सामान्य के समान । इसलिये परिणामादि विशेषों में स्वभाव विशेष पर्यायपना और परिणामादि सामान्य में स्वभाव सामान्य पर्यायपना व्यवस्थित है अर्थात् विशेष परिणाम ही विशेष स्वभाव पर्याय है और सामान्य परिणाम ही सामान्य स्वभाव पर्याय है, यह बात सिद्ध हो गयी ।

[उत्पाद व्यय ही आविर्भाव तिरोभाव नाम वाले हैं ।]

पूर्वाकार का तिरोभाव और उत्तराकार का आविर्भाव ही नामांतर से कहे गये नाश, उत्पाद हैं अर्थात् आपने उत्पाद, विनाश को ही आविर्भाव तिरोभाव नाम दे दिया है वे तो पूर्वावस्था का नाश करके उत्तरावस्था से उत्पन्न होते हैं इसलिये व्यय, उत्पाद ही हैं । सर्वथा इन नाश, उत्पाद का अभाव मान लेने पर तो स्वभाव ही असंभव हो जाता है ।

इसलिये विनाश और उत्पत्ति का निवारण करना अबुद्धिपूर्वक ही है—मिथ्याबुद्धिपूर्वक ही है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध आता है जैसे कि क्षणिकैकांतवाद में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध आता है ।

यह हमारा हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक पुरुष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जाना जाता है । तथैव स्मरण से प्रत्यभिज्ञान से, तर्क से, अनुमान से, आगम प्रमाण से एवं

१ नाशोत्पादयोः । दि० प्र० । २ विवर्तादि । व्या० प्र० । ३ ता । व्या० प्र० । ४ ननु च स्वभावपरिणामयोरे-
 कोपि पुरुषस्य न कीटस्थग्रहानि, परिणामस्याविर्भावतिरोभावरूपत्वेन नाशोत्पादासंभवादित्याशङ्क्याह ।
 दि० प्र० । ५ आत्मनः । दि० प्र० । ६ प्रत्यक्षादिविरोधात् । दि० प्र० । ७ पुरुषः पक्ष उत्पादव्ययध्रौव्यात्मको
 भवतीति साध्यो धर्मः । स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वादित्यादिहेतुभिः = यथा घटादिपुद्गलः । दि० प्र० ।

प्रत्यभिज्ञानादूहादनुमानाच्छ्रुताच्च प्रमाणात् सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणात्प्रतिपत्तेः, विनाशोत्पत्तिरहितस्य जातुचिदप्रतीतेः प्रत्यक्षादिविरोधस्य निश्चयात् । एतेन^१ क्षणिकैकान्तनिदर्शनस्य साधनविकलता निरस्ता, सर्वथा स्थितिरहितस्य चेतसः^२ प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात्तद्विरोधस्य सिद्धेः । साध्यशून्यता^३ च न संभवति, स्थितिमात्राभिनिवेशस्येव^४ निरन्वयक्षणिकाभिनिवेशस्यापि मिथ्याबुद्धिपूर्वकत्वात् ।

एतेनाव्यक्तं नित्यमेवेत्यपास्तं^५, व्यक्तस्यापि नित्यत्वानुषङ्गात् “नित्यादव्यतिरिक्तस्याप्यनित्यत्वे^७ चैतन्यस्याप्यनित्यत्वापत्तेः । सर्वथा व्यक्तस्यापि नित्यत्वे प्रमाणकारकव्यापारविरोधात्तदप्रमेयमनर्थक्रियाकारि^८ प्रसज्येत^९ ।

सुनिश्चित असंभवद्बाधक प्रमाण से भी जाना जाता है । किन्तु विनाश उत्पत्ति से रहित पुरुष की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होती है । क्योंकि उस प्रतीति में प्रत्यक्षादि से विरोध निश्चित है । इसी कथन से हमारा “क्षणिकैकान्त दृष्टान्त” साधन से विकल भी नहीं है यह बात सिद्ध हो जाती है । क्योंकि सर्वथा स्थिति से रहित बौद्धाभिमत क्षणिक चित्र एवं विज्ञानाद्वैत का स्वरूप प्रत्यक्षादि ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होता है । इसलिये उस क्षणिकैकान्त का विरोध सिद्ध है । यह दृष्टान्त साध्य शून्य भी नहीं है “स्थिति मात्र ही वस्तु है इस प्रकार के अभिप्राय के समान निरन्वय क्षणिक अभिप्राय भी मिथ्याबुद्धिपूर्वक ही है ।”

भावार्थ—इसलिये यही मानना ठीक है कि आत्मा आदि पदार्थ कूटस्थ नित्य नहीं हैं क्योंकि कूटस्थ नित्य में कारक आदि का अभाव होने से क्रिया का अभाव सिद्ध है एवं क्रिया कारक के अभाव में प्रमाण और प्रमिति का सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकता है ।

उत्थानिका—इसी कथन से अव्यक्त-प्रधान नित्य ही है इसका खण्डन किया गया है । अन्यथा व्यक्त—महदादि को भी नित्यपने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा । एवं नित्य से (प्रधान से) अभिन्न को भी (महदादि को भी) अनित्य मान लेने पर नित्य आत्मा से अभिन्न चैतन्य को भी अनित्यपने का प्रसंग आ जाता है और यदि आप सर्वथा व्यक्त को भी नित्य मानते हैं तब तो प्रमाण और कारक के व्यापार का विरोध आ जायेगा पुनः वे व्यक्त महान् आदि अप्रमेय और अनर्थक्रियाकारी हो जावेंगे ।

१ नित्यैकान्ते प्रत्यक्षादिविरोधादिति साधनसमर्थनेन । व्या० प्र० । २ आत्मनो मनसो वा । दि० प्र० । ३ अबुद्धिपूर्वकमिति साध्यं तस्य रहितता नोत्पद्यते । यथा नित्यैकान्तस्य । तथा निरन्वयक्षणिकैकान्तस्यापि कस्मात्मिथ्याबुद्धिपूर्वकत्वात् । दि० प्र० । ४ कूटस्थस्येव । दि० प्र० । ५ अन्यथा । व्या० प्र० । ६ व्यक्तस्य । दि० प्र० । ७ अङ्गीक्रियमाणे । दि० प्र० । ८ व्यक्तम् । व्या० प्र० । ९ चैतन्यस्यात्मनः सकाशादभिन्नत्वात् । दि० प्र० ।

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं^१ व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत्^२ ।

ते च नित्ये^३ विकार्यं किं साधोस्ते^४ शासनाद्बहिः^५ ॥३८॥

न हि प्रमाण^६ नित्यं नाम, तत्कृताभिव्यक्तेः^७ प्रमितिरूपाया महदहङ्कारादौ व्यक्तात्मनि नित्यत्वप्रसङ्गात् । नापि कारकं नित्यं, ^८तद्विहिताभिव्यक्तेरुत्पत्तिरूपायाः^९ सातत्य-

[इसी बात को आगे श्रीसमंतभद्रस्वामी कारिका द्वारा स्पष्ट करते हैं ।]

इन्द्रिय द्वारा विषयों की है, अभिव्यक्त जैसे वैसे ।

कारक और प्रमाणों द्वारा, वे अव्यक्त प्रगट होते ॥

ये प्रमाण कारक दोनों ही, नित्य सर्वथा सांख्य कहें ।

भगवन् ! तव शासन से बाहर, विधि क्रिया भी हो कैसे ॥३८॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार इंद्रियों के द्वारा अर्थ अपने-अपने विषय के पदार्थ अभिव्यक्त किये जाते हैं, उसी प्रकार प्रमाण और कारकों के द्वारा व्यक्त—महान्, अहंकार आदि तत्त्व अभिव्यक्त किये जाते हैं । इस प्रकार से यदि सांख्य कहें तो उचित नहीं है । उनके यहाँ प्रमाण और कारक तो सर्वथा नित्य हैं, इसलिये हे भगवन् ! आपके शासन से बहिर्भूत उन सांख्यों के यहाँ विकार्य—अभिव्यक्त-या अवस्था परिणमन कैसे हो सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार का अभिव्यक्ति रूप भी परिणमन नहीं हो सकता है ॥३८॥

भावार्थ—सांख्य का कहना है कि प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व सर्वथा नित्य हैं प्रकृति को कारण रूप एवं पुरुष को प्रकृति, विकृति रहित माना है । प्रकृति से महान् (बुद्धि), महान् से अहंकार, अहंकार से ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रायें और १ मन ये १६ गण उत्पन्न होते हैं । पाँच तन्मात्रा से ५ महाभूत होते हैं इनमें बुद्धि, अहंकार, ५ तन्मात्रा ये ७ तत्त्व, कारणरूप भी हैं कार्यरूप भी हैं । ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ भूत और मन ये १६ तत्त्व केवल विकार-कार्यरूप ही हैं और इनमें कार्यरूप व्यक्त तत्त्व अनित्य हैं ।

अतः प्रमाण और कारक व्यक्त तत्त्वों को अभिव्यक्त करते हैं प्रमाण द्वारा तो उनकी प्रमितिरूप अभिव्यक्ति और कारकों द्वारा उनकी उत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति होती है इस तरह व्यक्त पदार्थों

1 ननु च प्रमाणकारकव्यापारविरोधो न भवति तैर्व्यक्तेरभिव्यक्तिविधानादित्याशंकायामाह । व्या० प्र० ।
2 तर्हि प्रमाणकारके नित्येस्तां को दोष इत्याह । व्या० प्र० । 3 ततश्च । व्या० प्र० । 4 वस्तुनां परिणामित्वम् । तर्हि । दि० प्र० । 5 भगवतः । दि० प्र० । 6 अनेकान्तात्मकात् = सांख्यसौगतमीमांसकादीनां मते । दि० प्र० । 7 प्रमाण । दि० प्र० । 8 कारक । दि० प्र० । 9 महदहङ्कारादौ व्यक्तात्मनीति संबन्धः कार्यः । दि० प्र० ।

प्रसक्तेः । तथा च न व्यक्तं^१ प्रमाणकारकैरभिव्यक्तमिन्द्रियैरर्थवदिति शक्यं वक्तुं, पूर्वमन-
भिव्यक्तस्य^२ व्यञ्जकव्यापारादभिव्यक्तिप्रतीतेः^३ ।

[प्रमाणकारकाणि नित्यानि संतीति सांख्यस्य मान्यतां निराकुर्वति आचार्याः ।]

अथ मतं, प्रमाणकारकाणि व्यवस्थितमेव भावं व्यञ्जयन्ति चक्षुरादिवत् स्वार्थम् । ततो
न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धमिति तदप्यसम्यक्, सर्वथा नित्यत्वेन भावस्याव्यवस्थितत्वात्^४ कथंचिद-

की अभिव्यक्ति मानने पर हमारे यहाँ विक्रिया का अभाव नहीं है । नित्य होने पर भी उन प्रमाण
कारकों के द्वारा अभिव्यक्ति मानी है क्योंकि अभिव्यक्ति में नवीन पदार्थ की उत्पत्ति तो है नहीं कि
जिससे विरोध आ सके ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आपने प्रमाण और कारकों को सर्वथा नित्य माना है अतः वे
व्यक्त तत्त्वों को अभिव्यक्त कैसे करेंगे ? क्योंकि ये अपने पूर्व के अनभिव्यञ्जक स्वभाव का परित्याग
करके ही अभिव्यञ्जक होंगे अर्थात् व्यक्त की अभिव्यक्ति के पहले जो इनमें अनभिव्यञ्जक स्वभाव था
उसको छोड़ेंगे तब अभिव्यञ्जक होंगे पुनः ये कारक और प्रमाण नित्य कैसे रहेंगे ? और नित्य ही मानों
तब तो आपके यहाँ किसी भी प्रकार की विक्रिया नहीं बन सकेगी ।

जैन—प्रमाण नित्य नहीं है क्योंकि उनके द्वारा की गई अभिव्यक्ति प्रमितिरूप है उससे
महान्, अहंकार आदि व्यक्त में नित्यपने का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् प्रमाण ने महान् आदि व्यक्त
को अभिव्यक्त किया है अतः ये व्यक्त भी नित्य हो जावेंगे । तथैव कारक भी नित्य नहीं हैं क्योंकि
कारकों के द्वारा की गई अभिव्यक्ति उत्पत्तिरूप है । उस अभिव्यक्ति के हमेशा ही होते रहने का
प्रसंग आ जायेगा । इसलिये इंद्रियों के द्वारा अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने के समान प्रमाण और
कारकों से व्यक्त महदादि अभिव्यक्त होते हैं यह कहना शक्य नहीं है क्योंकि पूर्व में जो अनभिव्यक्त
है उन्हीं की व्यञ्जक के व्यापार से अभिव्यक्ति हो सकती है ऐसा प्रतीति में आता है । अर्थात् आपने
अभिव्यक्ति को तो नित्य माना है इसलिये उसमें पहले अनभिव्यक्त स्वभाव का अभाव होने से
व्यञ्जक व्यापार का अभाव ही है ।

[प्रमाण और कारक नित्य ही हैं इस सांख्य की मान्यता का जैनाचार्य निराकरण करते हैं ।]

सांख्य—जैसे चक्षु आदि इंद्रियाँ अपने-अपने विषय को व्यक्त करती हैं तथैव प्रमाण और
कारक व्यवस्थित पदार्थ को ही व्यक्त करते हैं इसलिये हमारे यहाँ कुछ भी विरुद्ध नहीं है ।

१ महदादि । व्या० प्र० । २ अर्थस्य । व्या० प्र० । ३ व्यापारादिभिव्यक्तिप्रतीतिः । व्या० प्र० ।
४ आहार्हतः । तथा च प्रमाणकारकैः कर्तृभूतैः व्यक्तं कार्यात्मकं कर्मतापन्नमभिव्यक्तं प्रकटितम् । इन्द्रियै-
रर्थो यथा । इति वक्तुं शक्यं न कस्मात् प्रागप्रकटितस्य वस्तुनः प्रकाशकव्यापारादभिव्यक्तिः प्रकटतत्त्वं प्रतीयते
यतः—अथ सांख्यो वदति । प्रमाणकारकाणि विद्यमानमेवार्थं प्रकटयन्ति यथा चक्षुरादि यो रूपादिकं यत् एवं ततो
व्यवस्थिते वस्तुनि प्रमाणकारकाणि वर्तन्ते किञ्चिद्विरुद्धं न ।—स्याद्वाद्याह हे कपिल यदुक्तं त्वया तदसत्यं सर्वथा
नित्यो भावः न व्यवतिष्ठेत् यतः । दि० प्र० ।

नित्यस्यैव¹ प्रमाणकारकव्यापारविषयत्वविनिश्चयात् । चक्षुरादयो हि स्वार्थं रूपादिकमन-
भिव्यक्तस्वभावपरिहारेणाभिव्यक्तस्वभावोपपादनेन च व्यञ्जयन्तः स्वयमव्यञ्जकरूपत्यागेन²
व्यञ्जकत्वस्वीकरणेन च व्यञ्जकव्यपदेशभाजो दृष्टाः । न³ चैवं प्रमाणं कारकं च परैरिष्टं
तयोर्नित्यत्वाभ्युपगमात् । तत्कृतस्य च 'विषयविशेषविज्ञानादेः⁵ शाश्वतत्वान्न किञ्चि-
द्व्यक्त्यर्थं पश्यामः, कथंचिदपूर्वोत्पत्तौ तदेकान्तविरोधात्⁶ । न ह्यनेकान्तवादिनस्तव साधोः
शासनाद्बहिर्विषयविशेषविज्ञानाभिलाषप्रवृत्त्यादेरुत्पत्तिः कथंचिदपूर्वा⁷ युज्यते, यतोस्याम-
भ्युपगम्यमानायां⁸ नित्यत्वैकान्तविरोधो न भवेत्, तदभावे विकार्यानुपपत्तेः⁹ । न हि कथं-

जैन —यह कथन भी असम्यक् है क्योंकि सर्वथा नित्यरूप से ही पदार्थ व्यवस्थित नहीं है ।
किन्तु कथंचित् अनित्य में ही प्रमाण और कारक के व्यापार का विषय होना निश्चित है ।

क्योंकि चक्षु आदि इंद्रियां अनभिव्यक्त स्वभाव का परिहार करके और अभिव्यक्त स्वभाव
का उपादान करके ही अपने रूपादि विषय को व्यक्त करती हुई स्वयं अव्यञ्जकरूप स्वभाव का त्याग
करके एवं व्यञ्जक स्वभाव को स्वीकार करके "व्यञ्जक" इस नाम को प्राप्त होती हुई देखी जाती है ।
परन्तु इस प्रकार पूर्वाकार का परिहार और उत्तराकार की प्राप्तिरूप से प्रमाण और कारकों को
आप सांख्यों ने नहीं माना है क्योंकि आपके यहाँ तो वे दोनों ही सर्वथा नित्य हैं । और उस नित्य के
द्वारा किया गया विषय विशेष विज्ञानादि शाश्वत ही हैं अतएव हम अभिव्यक्ति के लिये कुछ भी तो
नहीं देख रहे हैं । कथंचित् अपूर्व की उत्पत्ति स्वीकार कर लेवें तब तो एकांत का विरोध हो जायेगा ।
अर्थात् विषय विशेष जो ज्ञानादि हैं उनकी कथंचित् अपूर्व उत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर तो आपका
एकांत नित्य पक्ष सिद्ध नहीं होगा क्योंकि अनेकांतवादी आप जिनेंद्र भगवान् के शासन के बाहर
सांख्यादि के मत में विषय विशेष के विज्ञान की अभिलाषा से हुई प्रवृत्ति आदि की उत्पत्ति कथंचित्
अपूर्व नहीं बन सकती है । जिससे कि इस कथंचित् अपूर्व उत्पत्ति को स्वीकार कर लेने पर नित्यरूप
एकांत मत का विरोध न हो जावे । अर्थात् कथंचित् अपूर्व की उत्पत्ति को मान लेने पर तो नित्यत्व
एकांत में विरोध आ ही जाता है ।

और उस अपूर्व उत्पत्ति का अभाव मानने पर तो विकार्य—विविध प्रकार की क्रिया नहीं
बन सकती है ।

क्योंकि कथंचित् अपूर्व उत्पत्ति का अभाव मानने पर व्यंग्य—व्यक्त होने योग्य अथवा कार्यरूप
विकार्य नहीं हो सकता है ।

1 वस्तुतः । दि० प्र० । 2 चक्षुरादयः । दि० प्र० । 3 एवमनभिव्यक्तं स्वभावपरिहारेणाभिव्यक्तस्वभावोपपादनेन
च व्यञ्जकरूपं प्रमाणं कारकञ्च सांख्यैः प्रतिपादितं न कस्मात्तयोः प्रमाणकारकयोर्नित्यत्वाङ्गीकरणत्वात् = प्रमाणकृतं
विषयविशेषविज्ञानादि । शाश्वतं यतः सांख्यमते ततः कारणात्किञ्चित्कार्यं कारणं व्यक्तनिमित्तं वयं स्याद्वादिनः
न पश्यामः । दि० प्र० । 4 ता । दि० प्र० । 5 आदिशब्देनोत्पत्तिर्ग्राह्या । दि० प्र० । 6 नित्य । दि० प्र० ।
7 पर्यायस्य न तु द्रव्यस्य । न हीति संबन्धः । दि० प्र० । 8 कुतोऽस्यामपूर्वोत्पत्तौ । दि० प्र० । 9 तदभावेऽपि
कार्यानुपपत्तेः । इति पा० । न किञ्चिद्वक्तव्यं पश्याम इत्यत्रैव साध्ये । दि० प्र० ।

चिदपूर्वोत्पत्त्यभावे किञ्चिद्द्रव्यङ्ग्यं कार्यं वा विकार्यमुपपद्यते । न वै किञ्चिद्विरुद्धं ^१कार्य-
कारणभावाभ्युपगमादित्यनालोचितसिद्धान्तं, कार्यस्य सदसत्वविकल्पद्वयानतिक्रमात् । तत्र,

यदि ^२ ^३सत्सर्वथा ^४ कार्यं ^५ पुं वन्नोत्पत्तुं ^६मर्हति ^७ ।

परिणामप्रकृप्तिश्च ^८ नित्यत्वेकान्तबाधिनी ^{१०} ॥३६॥

न तावत्सतः कार्यत्वं चैतन्यवत् । न हि चैतन्यं कार्यं, तत्स्वरूपस्य पुंसोपि कार्य-

सांख्य—हमारे उस नित्यत्व पक्ष में कुछ भी विरोध नहीं आता है क्योंकि कार्य कारण भाव को हमने स्वीकार किया है अर्थात् महान्, अहंकार आदि तो कार्य हैं और प्रधान कारण है इस तरह कार्य-कारण के मानने से कोई विरोध नहीं आता है ।

जैन—यह आपका अनालोचित सिद्धांत है क्योंकि कार्य तो सत्-असत् रूप इन दो विकल्पों को अतिक्रमण नहीं करता है ।

उत्थानिका—अब उन्हीं दो विकल्पों में से यदि कार्य को सर्वथा सत् रूप ही माने तो क्या दोष आते हैं इसी का स्पष्टीकरण स्वामी श्रीसमंतभद्राचार्यवर्य स्वयं करते हैं ।

विद्यमान यदि कार्य हमेशा, कारण क्यों माना जावे ।

उत्पत्ति के योग्य न आत्मा, वैसे ही घट मत होवे ॥

मिट्टी में घट सदा उपस्थित, चक्र दण्ड फिर क्या करते ।

यदि परिणमन व्यवस्था है फिर, नित्य पक्ष बाधित उससे ॥३६॥

कारिकार्थ—यदि कार्य को सर्वथा सत् रूप माना जाये तब तो पुरुष के समान वह उत्पन्न ही नहीं हो सकता है, और यदि परिणमन की कल्पना करें तब तो नित्यत्वेकान्त में बाधा आ जाती है ॥३६॥

अर्थात् जिन महदादि कार्यों की उत्पत्ति सांख्य प्रकृति तत्त्व से मानते हैं वे स्वयं सत् स्वरूप हैं या असत् रूप ? यदि वे कार्य सर्वथा सत् रूप हैं तब तो—चैतन्य के समान सत् के कार्यपना नहीं है

१ जैनः । दि० प्र० । २ कार्यं यदुत्पद्यते सदुत्पद्यते चेति विकल्पद्वयं कृत्वा प्रथमपक्षः दूषयंतस्तावदाहुः सूरयः समन्तभद्राः । दि० प्र० । ३ कूटस्थं । दि० प्र० । ४ द्रव्याकारेणैव पर्यायाकारेणापिसत् । दि० प्र० । ५ घटपटादिलक्षणं । दि० प्र० । ६ यथा कूटस्थः आत्मा सर्वथा सत् नोत्पद्यते तथा कार्यमपि । दि० प्र० । ७ कार्यं पक्षः उत्पत्तुं नार्हतीति साध्यो धर्मः सर्वथासत्त्वात् यत्सर्वथा सन्नोत्पत्तुमर्हति यथा चैतन्यं सर्वथासत्त्वेदं तस्मान्नोत्पत्तुमर्हति = अत्राह परः चैतन्यं कार्यं एव इत्युक्ते जैनः आह चैतन्यं कार्यं न हि । चैतन्यस्वरूपस्य पुरुषस्यापि कार्यत्वमायाति = तद्वत्पुं वत्सत एव महदादेः कार्यत्वं यतः कुतः सिद्धयेत अपितु न सिद्धयेत् कथं महदादिकं पक्षः कार्यं न भवतीति साध्यो धर्मः सर्वथा सत्त्वाद्यथा पुरुषः सत्त्वं चेदं तस्मान्न कार्यम् । दि० प्र० । ८ योग्यं न भवेत् । दि० प्र० । ९ पुनर्वाची । दि० प्र० । १० नाशिनी । दि० प्र० ।

त्वप्रसङ्गात्, यतस्तद्वन्महदादेः सत् एव कार्यत्वं सिद्ध्येत् । नाप्यसतः, सिद्धान्तविरोधाद्ग-
गनकुसुमादिवत् ।

“¹असत्करणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवा²भावात्³ ।

शक्तस्य शक्यकरणात्⁴ कारणभावाच्च⁵ सत्कार्यम्⁶ ॥”

इति हि सांख्यानां सिद्धान्तः । स चासत्ः⁷ कार्यत्वे विरुध्यते एव । तथा ‘यत्सर्वथा-

क्योंकि चैतन्य भी कार्य नहीं है अन्यथा उस चैतन्य स्वरूप वाला पुरुष भी कार्यरूप हो जायेगा किन्तु वह चैतन्य कार्यरूप नहीं है उसी चैतन्य के समान महान् आदि भी सत् के ही कार्य सिद्ध हो सके, ऐसा भी नहीं है ।

तथैव असत् भी कार्यरूप नहीं हो सकता है क्योंकि आपके सिद्धांत में विरोध आता है, आकाश पुष्प के समान ।

क्योंकि आप सांख्यों का सिद्धांत है कि—

श्लोकार्थ—असत् को न करने से उपादान को ग्रहण करने से, सर्व संभव का अभाव होने से, शक्यत्व—समर्थरूप कार्य को करने से और कारण भाव होने से कार्य सत् रूप है । अर्थात् सत्कार्यवादी सांख्यों का कहना है कि इन पांच हेतुओं से कारण में कार्य सदैव विद्यमान है यह सिद्ध किया जाता है और असत् को कार्यरूप मानने पर यह उपर्युक्त आपका कथन विरुद्ध ही हो जायेगा उसी प्रकार से “जो सर्वथा ही असत् है वह उत्पन्न नहीं हो सकता है, जैसे आकाश पुष्प ।” और आप सांख्यों के यहाँ कार्य सर्वथा भी असत् ही हैं । इस तरह अनुमान से विरोध भी जानना चाहिये ।

एवं सत् असत् को अन्य और कोई एकांत से प्रकारांतर है ही नहीं ।

भावार्थ—जैनाचार्यों ने सर्वथा सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद में दूषण दिखा दिया है और

1 असतः अविद्यमानस्य लोके करणं नास्ति, उपादानग्रहणमस्ति सर्वस्य वस्तुनः, संभवस्यभावोस्ति, योग्यं वस्तु कर्तुं न शक्यते, कारणभावोस्ति लोके, इति हेतुपञ्चकात् सद्विद्यमानं कार्यं इति सांख्यसिद्धान्तः । दि० प्र० ।

2 कारणात्सर्वस्य कार्यस्य संभवाभावात् । दि० प्र० । 3 कारणस्य । दि० प्र० । 4 कार्यस्य । व्या० प्र० ।

5 कारणं वसः । व्या० प्र० । 6 कारणत्वात् । कारणे कार्यं यदि सन्नोत्पद्यते तर्हि तत्कारणमेव न भवेत्

घटनिष्पत्तिं प्रति तत्त्वादि वदति भावः । व्या० प्र० । 7 असतः अविद्यमानस्य कार्यत्वे सति स च सांख्यसिद्धान्तो

विरुद्धयते कथं विवादापन्नं कार्यं पक्षः नोत्पद्यते इति साध्यो धर्मः सर्वथा असत्त्वात् यत्सर्वथाप्यसत्तन्नोत्पद्यते

यथा गगनकुसुमं । सर्वथाप्यसत्कार्यं तस्मान्नोत्पद्यते = सर्वथा सत् कार्यं न भवति चेत्तदा महदादेः कार्यत्वं न

घटते । सर्वथा असत्कार्यं न भवति चेत्तदा सांख्यसिद्धान्तो विरुद्धयते । अनुमानञ्च विरुद्धयते । दि० प्र० ।

प्यसत्^१ तन्नोत्पद्यते । यथा गगनकुसुमम् । सर्वथाप्यसच्च कार्यं कस्यचित् । इत्यनुमान-
विरोधश्च प्रत्येयः । नापरमेकान्तप्रकारान्तरमस्ति^२ ।

[सांख्यः प्रधानस्य विवर्तं एव मन्यते तस्य निराकरणं ।]

तत एव न किञ्चित्कार्यं, केवलं^३ वस्तुविवर्तं^४ एवेत्येकान्तोस्तीति चेन्न, तस्या-
प्यसंभवात्, विवर्तादिः पूर्वोत्तरस्वभावप्रध्वंसोत्पत्तिलक्षणत्वात्, तथोपगमे परिणामसिद्धेरने-
कान्ताश्रयणप्रसङ्गात् । तदेतत् त्रैलोक्यं व्यवतेरपति नित्यत्वप्रतिषेधात्^५, अपेतमप्यस्ति

पूछते हैं कि इन दोनों को छोड़कर और आपके पास तीसरा क्या उपाय है ? जिसे मानोगे तो सांख्य तीसरी स्वीकृति बता रहा है ।

[सांख्य प्रधान की पर्याय ही मान्यता है उसका निराकरण]

सांख्य—सर्वथा सत् और असत् कार्यरूप नहीं है इसीलिये कार्य कुछ है ही नहीं, केवल वस्तु-
प्रधान की पर्यायें ही हैं और यही एकांत ठीक है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । वह एकांत भी असम्भव है । क्योंकि विवर्त आदि (पर्याय आदि)
पूर्व स्वभाव के प्रध्वंसक और उत्तर स्वभाव की उत्पत्ति लक्षण वाले हैं । और इस प्रकार से पर्याय का
लक्षण स्वीकार कर लेने पर तो परिणाम की सिद्धि हो जाने से अनेकांत मत के आश्रयण का प्रसंग
प्राप्त हो जायेगा ।

इसलिये यह त्रैलोक्य-प्रधान, व्यक्ति-महान् अहंकार आदि से तिरोभूत होता है क्योंकि
महदादि रूप से प्रधान नित्य नहीं माना है । और यह प्रधान अपेत — तिरोभूत होकर भी विद्धमान है
क्योंकि विनाश का प्रतिषेध है । इस प्रकार अनेकांतरूप कथन करना तो अध सर्प बिल प्रवेश न्याय
का अनुसरण करता है । अर्थात् महान् अहंकार आदि क्रमशः पूर्व पूर्व में लीन होते हुये प्रधान में लीन—
तिरोभूत हो जाते हैं अतः नित्यत्व का प्रतिषेध है और तिरोभूत होकर के भी वे उसमें हमेशा मौजूद
रहते हैं इससे किसी का नाश नहीं होता है इस कथन पर तो जैनाचार्य कहते यह अनेकांत रूप कथन
तो बिना इच्छा के भी अंधे सर्प जिस प्रकार से बिल में ही घुसते हैं तद्वत् आप स्याद्वादियों के अनेकांत
का ही आश्रय ले लेते हैं ।

१ भाष्योक्तस्य गगनकुसुमवदित्येतस्यविवरणं क्रियते तथा यत्संबन्धेति । दि० प्र० । २ कार्यं सदसद्विकल्पद्वयं
परित्यज्य अपरं उभयरूपमनुभयरूपं वा एकान्तप्रकारान्तरं नास्ति । भवति चेत्तदासत्कार्यवादिनः सांख्यस्य
मतहानिर्भवति = अत्राह सांख्यः यत एव तस्मात्देवलोके किं कार्यं नास्ति केवलं वस्तुविवर्तते परिणमति इत्येकांतोऽ-
स्तीति चेत् नाकस्मात् वस्तुविवर्तते इति लक्षणस्य तस्य एकान्तस्य अघटनात् । विवर्तादिः पूर्वस्वभावप्रध्वंसोत्तर-
स्वभाव उत्पत्तिलक्षणो यतः । तथा प्रध्वंसोत्पत्त्यङ्गीकरिष्यते सति परिणामः सिद्धयति अनेकान्तमताश्रयणमायाति
सांख्येति । दि० प्र० । ३ यतः सर्वथा सतोऽसत्त्व कार्यत्वं नास्ति । दि० प्र० । ४ परिणमते । व्या० प्र० ।
५ महदादिरूपेण । व्या० प्र० ।

'विनाशप्रतिषेधादित्यनेकान्तोक्तिरन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायमनुसरति², स्वदर्शनानपेक्षं यथोपलम्भमाश्रयस्वीकरणात्³ । तदेवं "नित्यत्वैकान्तवादिनां,—

पुण्यपापक्रिया⁵ न स्यात् प्रेत्यभावः⁶ फलं कुतः ।

बन्धमोक्षौ⁷ च तेषां न येषां⁸ त्वं नासि नायकः ॥४०॥

पुण्यपापक्रिया कायवाङ्मनस्कर्मलक्षणा शुभाऽशुभाः । सा प्रधाने⁹ तावन्नास्ति, सर्वथा¹⁰ नित्यत्वात्पुरुषवत् । तदभावे पुण्यपापयोः क्रिया उत्पत्तिलक्षणा नास्ति, कारणभावे

इसलिये जो आपका दर्शन सर्वथा नित्यरूप है उसकी अपेक्षा न करके जिस प्रकार से वस्तु उपलब्ध हो रही है आपने तो उसी प्रकार से उसका आश्रय स्वीकार कर लिया है ।

इस प्रकार सत् ही उत्पन्न होता है अथवा असत् ही उत्पन्न होता है, या प्रधान विवर्त ही उत्पन्न होता है । ये तीनों ही पक्ष एकांत से सिद्ध नहीं होते हैं ।

उत्थानिका—इस प्रकार से नित्यत्वैकान्तवादियों के यहाँ और भी क्या-क्या सिद्ध नहीं होता है आचार्यवर्य उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

नित्यैकांत पक्ष में शुभ अरु, अशुभ क्रिया भी नहिं होवे ।

नहिं होगा परलोकगमन फिर, सुख-दुःख फल कैसे होवे ॥

कर्म बंध अरु मोक्ष व्यवस्था, भी उनके मत में नहिं है ।

हे भगवन् ! जिनके तुम स्वामी, नहीं उन्हें सब दुर्घट है ॥४०॥

कारिकार्थ—सर्वथा नित्य पक्ष में पुण्य, पापरूप क्रिया नहीं हो सकती है । उसके अभाव में परलोक एवं सुख दुःखादि फल भी कैसे हो सकते हैं ? हे भगवन् ! जिनके आप नायक—स्वामी नहीं हैं उनके यहाँ बंध और मोक्ष भी नहीं हो सकते हैं ॥४०॥

काय वाङ्मनस्कर्म लक्षण शुभ, अशुभ क्रिया पुण्य, पाप क्रिया कहलाती है । ये क्रियायें आपके प्रधान में तो है नहीं क्योंकि वह प्रधान भी पुरुष के समान ही सर्वथा नित्य है । उस शुभाशुभरूप परिणाम के अभाव में पुण्य-पाप की उत्पत्ति लक्षण क्रिया भी नहीं हो सकती है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का उदय नहीं होता है ।

1 प्रधानरूपेण । व्या० प्र० । 2 सांख्यः । व्या० प्र० । 3 अनेकान्तः । दि० प्र० । 4 अग्रे वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्या० प्र० । 5 दूषणमाहुराचार्याः । दि० प्र० । 6 शुभाशुभः । स्वर्गनरकादिः । दि० प्र० । 7 सुखदुःखादिपापपुण्यकार्ये द्वे । दि० प्र० । 8 नित्यवादिनां । दि० प्र० । 9 प्रकृतौ । दि० प्र० । 10 तस्य शुभाशुभयोगस्याभावे पुण्यपापाश्रययोस्तत्तिलक्षणाक्रिया न भवति कस्मात्कारणभावे कार्यं नोदेति यतः । दि० प्र० ।

कार्यानुदयात् । ततः प्रेत्यभावो जन्मान्तरलक्षणस्तत्फलं च सुखाद्यनुभवलक्षणं कुतः स्यात् ? ततो बन्धमोक्षौ च यथोक्तलक्षणौ न स्तस्तेषां येषां त्वमनेकान्तवादी नायको नासि । इति तात्पर्यार्थः । ततो^१ नित्यत्वैकान्तदर्शनं नैतत् प्रेक्षापूर्वकारिभिराश्रयणीयं, पुण्यपापप्रेत्यभाव-बन्धमोक्षविकल्परहितत्वान्नैरात्म्यादिवत्^२ । न चैतत्^३ क्वचिदेकान्ते संभवति, कुशलाकुशलं कर्मेत्यत्र तदसंभवस्य समर्थितत्वात् ।

अतएव जन्मांतर लक्षण प्रेत्यभाव और सुखादि के अनुभव लक्षण उसका फल भी कैसे हो सकता है ? एवं उस पुण्य पापादि के अभाव में उनके यहाँ यथोक्त लक्षण बंध और मोक्ष भी नहीं सिद्ध होते हैं, जिन एकांतवादियों के आप अनेकांतवादी नायक नहीं हैं । इस प्रकार से तात्पर्यार्थ हुआ । इसलिये यह नित्यत्वैकान्त दर्शन प्रेक्षापूर्वकारी विद्वानों के द्वारा आश्रय लेने योग्य नहीं हैं । क्योंकि यह पुण्य, पाप, प्रेत्यभाव, बंध, मोक्षरूप विकल्पों से रहित है, नैरात्म्य आदि दर्शन के समान । ये सभी बातें किसी भी एकांतवाद में संभव नहीं हैं । “कुशलाकुशलं कर्म” इत्यादिरूप आठवीं कारिका में इनके असंभव का समर्थन किया गया है । अतएव यहाँ पर अधिक विस्तार नहीं किया है ।



१ अत एवं ततः । दि० प्र० । २ भेद । दि० प्र० । ३ पुण्यादि । दि० प्र० ।

नित्य एकान्त के खण्डन का सारांश

आत्मा कूटस्थ नित्य है वह कारक नहीं है “करोति क्रियां निर्वर्तयति इति कारकः” इस लक्षण से उत्पत्तिलक्षण क्रिया और जप्तिलक्षण क्रिया का साधक आत्मा नहीं है। इस तरह से हमारे यहाँ पुरुष अवस्तरूप भी नहीं होगा क्योंकि आत्मा की अर्थ क्रिया चेतना है “चेतयते इति चेतना” यह क्रिया पुरुष का ही लक्षण है “चैत्यन्यं पुरुषस्य स्वरूपं” ऐसा सूत्र है। किन्तु चेतना से भिन्न कार्य की उत्पत्ति लक्षण या अर्थजप्तिलक्षण अर्थक्रिया आत्मा में नहीं है वह तो प्रधान का धर्म है। अतः आत्मा चेतना स्वभावरूप नित्य अर्थक्रिया वाला होने से वस्तुभूत है। पूर्वाकार का तिरोभाव होकर उत्तराकार का आविर्भाव होना परिणाम है एवं इससे भिन्न सदा स्थायीस्वरूप स्वभाव है। परिणाम, विवर्त, विकार, अवस्था और पर्याय स्वभाव से भिन्न हैं क्योंकि ये कादाचित्क हैं, इसलिये सुख आदि विशेष परिणाम, स्वभावपर्याय नहीं हैं किन्तु हमेशा अनपायी असाधारणस्वरूप ही स्वभाव है।

जैनाचार्य—इस कूटस्थ नित्यैकांत में तो इस प्रकार से अनेक प्रकार की क्रिया में उत्पन्न नहीं हो सकेंगी। कार्य की उत्पत्ति के पहले कारक का अभाव होने से प्रमाण एवं उसका फल भी संभव नहीं है। जो आपने आत्मा को अकारक कहा है तब वह जाननेरूप क्रिया का कर्ता न होने से अज्ञाता एवं भुजिक्रिया का कर्ता न होने से अभोक्ता बन जायेगा। तथः प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि चेतनारूप नित्यक्रिया का अनुभव न होकर “मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ” इत्यादिरूप स्वसंवेदन से अनित्य-रूप का ही अनुभव होता है। तथा आपका सिद्धान्त है कि प्रधान की धर्मरूप बुद्धि के द्वारा ही किसी भी पदार्थ का निश्चय हो जाने पर उसको आत्मा जानती है पुनः ज्ञान से अनिश्चित चेतना को आत्मा कैसे जानेगी? सर्वथा नित्य पदार्थ में कारक हेतु एवं ज्ञापक हेतु का व्यापार ही असंभव है।

तथा एकांत से हमेशा स्थायी एकरूप कोई स्वभाव नहीं देखा जाता है प्रत्युत पूर्वाकार का त्याग करके उत्तराकार को ग्रहण करके घट पटादि को जानती हुई आत्मा अनुभव सिद्ध है यह परिणाम ही स्वभाव पर्याय है विवर्त आदि इसी के नाम हैं इससे भिन्न सतत् स्थित कोई स्वभाव प्रमाण से सिद्ध नहीं है। पूर्वाकार का तिरोभाव उत्तराकार का आविर्भाव होना ही नाश, उत्पाद रूप हैं तुमने केवल नाम बदल दिया है।

अतः उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक आत्मा ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, स्मरण प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम एवं सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण से सिद्ध है। कूटस्थ नित्य में सर्वथा उत्पाद व्यय का अभाव होने से उसका अभाव ही हो जायेगा यदि आप कहें कि जैसे इन्द्रियाँ अपने विषयों को अभिव्यक्त करती हैं तथैव प्रमाण एवं कारक महान् अहंकार आदि व्यक्त को अभिव्यक्त करते हैं, यह कथन भी असत्य है क्योंकि वे प्रमाण और कारक तो आपके यहाँ सर्वथा नित्य हैं। यदि ये प्रमाण एवं कारक अपने अनभिव्यंजरूप पूर्व स्वभाव का त्याग करके व्यक्त करने रूप उत्तराकार को ग्रहण करे तब तो वे अभिव्यंजरक होंगे एवं ऐसा मानने से तो आप अंधसर्प बिल प्रवेश न्याय से स्याद्वाद का ही आश्रय ले लेते हैं। अन्यथा आपके यहाँ कार्य-कारण के अभाव में वस्तु का ही अभाव हो जायेगा।

यदि आप कहें कि महान् अहंकार आदि कार्य हैं प्रधान कारण हैं तब तो आप यह बतायें कि कार्य सर्वथा सत् रूप है या असत् रूप ? सर्वथा सत् रूप कार्य पुरुष के समान उत्पन्न हो नहीं सकता है। यदि होगा तो अनित्य मानना होगा। यदि सर्वथा कार्य असत् रूप है तो आकाश के फूल भी लटकते हुये दिखने चाहियें। अर्थात् सांख्य सत्कार्यवादी है उनका कहना है कि कारण में कार्य सदैव विद्यमान है। वे कहते हैं कि महान् अहंकार आदि क्रमशः पूर्व-पूर्व में लीन होते हुये प्रधान में तिरोभूत—लीन हो जाते हैं। इसलिये नित्य नहीं हैं और तिरोभूत होकर भी उसमें हमेशा मौजूद हैं उनका नाश नहीं है। इस कथन से तो अनेकांत का आश्रय लेने से आप सर्वथा नित्यैकांतवादी नहीं रह सकते हैं।

अतएव कूटस्थ नित्यैकांत सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि उसमें पुण्य, पाप क्रिया नहीं हो सकती हैं एवं क्रियाओं के फल परलोक तथा सुख-दुःखादि भी असंभव हैं एवं बंध, मोक्ष की व्यवस्था भी कथमपि शक्य नहीं है। अतः कथंचित् नित्यशासन ही श्रेयस्कर है।

सार का सार—सांख्य आत्मा को सर्वथा नित्य मानता है अकर्ता मानता है एवं प्रकृति को करने वाली अनित्य मानता है। उसमें भी उसकी मान्यता है कि मिट्टी से घड़ा बना नहीं प्रत्युत कुम्भकार दण्ड चक्र आदि से घड़ा प्रगट हो गया है अतः कारण में कार्य सदा विद्यमान ही है। परन्तु जैनाचार्यों ने इस नित्यैकांत का निराकरण कर दिया है क्योंकि यदि आत्मा सर्वथा नित्य ही है तब उसको जन्म-मरण आदि के दुःख नहीं होने चाहियें अतः कथंचित् द्रव्य दृष्टि से आत्मा नित्य है। पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी है तथा कारण में कार्य शक्तिरूप से विद्यमान है प्रगटरूप से नहीं, वह कार्य निमित्तों से उत्पन्न होता है न कि प्रगट ऐसा स्पष्ट है।



¹सत्यमेतन्नित्यत्वैकान्ते दूषणं क्षणक्षयैकान्तस्यैव प्रातीतिकत्वादिति² वदन्तं वादिनं प्रत्याहुः—

क्षणिकैकान्तपक्षेपि³ प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।

प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः⁵ कुतः फलम्⁶ ॥४१॥

क्षणिकैकान्तपक्षे⁷ चेतसः कार्यारम्भो⁸ नास्ति, प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात्¹⁰ सन्तानान्तरचित्तवत् । तदभावश्च प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यान्वितस्याभावात् । सन्तानः¹¹ कार्य-

उत्थानिका—नित्यत्वैकान्त में यह दूषण सत्य ही है क्योंकि क्षण क्षय रूप एकांत की ही प्रतीति हो रही है । इस प्रकार से कहते हुये बौद्धों के प्रति श्रीस्वामी समंतभद्राचार्यवर्य कहते हैं ।

क्षणिकैकान्त पक्ष में भी, परलोकगमन कैसे होगा ।

बंध-मोक्ष प्रक्रिया असंभव, है फिर धर्म कहाँ होगा ॥

क्योंकि प्रत्यभिज्ञान असंभव, है स्मृति अनुमान कहाँ ।

पुनः कार्य आरम्भ न होगा, फल भी उसका रहा कहाँ ॥४१॥

कारिकार्थ—क्षणिकैकान्त पक्ष में भी प्रेत्यभाव आदि असंभव हैं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने से कार्यादि का आरम्भ नहीं हो सकता है पुनः फल कैसे हो सकेगा ? ॥४१॥

क्षणिकैकान्त पक्ष में ज्ञानरूप चित्त का कार्यारंभ नहीं है क्योंकि उसमें प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, इच्छा आदि का अभाव है । जैसे कि भिन्न-भिन्न संतान के चित्तक्षण । और उन प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव भी क्यों है ? तो एक अन्वयरूप प्रत्यभिज्ञाता आत्मा का अभाव है ।

बौद्ध—हमारे यहाँ तो सन्तान ही कार्य का आरम्भ करता है ।

जैन—यह कथन भी मिथ्या है । पुनः आपकी यह सन्तान अवस्तु नहीं रहेगी क्योंकि कार्य का आरम्भ करने वाला वस्तुभूत होता है अर्थात् सन्तान को कार्य करने वाली मानने से वह वस्तु ही

1 सौगतः । दि० प्र० । 2 प्रमाणोपपन्नत्वात् । दि० प्र० । 3 अनित्यत्वैकान्तपक्षे सौगताभिमतः । दि० प्र० ।

4 बंधमोक्षादीनामप्यभावः । दि० प्र० । 5 पुनः क्षणिकैकान्तपक्षे ज्ञानक्षणस्य कार्यारम्भो नास्ति पूर्वक्षणवर्तिनो ज्ञानस्य क्षणिकरूपस्य उत्तरक्षणस्थकार्यनिष्पत्ती कारणत्वं न स्यात् कुतः कार्यकारणयोरन्वयाभावात् । अन्यथा

वृष्टपटादिकार्यव्यापारो ग्राह्यः । दि० प्र० । 6 पुण्यपापलक्षणम् । दि० प्र० । 7 क्षणिकपतिरन्वयलक्षणपरमाणुरूपस्य संवेदनस्थकार्यस्य शुभाशुभरूपस्य प्रारम्भो न भवति । दि० प्र० । 8 कारणं । व्या० प्र० । 9 तदेवेदं सुखसाधन-

मिति । व्या० प्र० । 10 प्रत्यभिज्ञानस्मरणाभिलाषाभिलाषप्रवृत्त्यनुभवादेरसंभवात् । दि० प्र० । 11 अत्राह सौगतः चेतसः कार्यारम्भो मा भवतु । सन्तानः कार्य आरंभते । स्याद्वाद्याह इत्यप्यसत्यं कस्मात्तस्य सन्तानस्य सौगताभ्युपगतस्य प्रवस्तुत्वं विरुद्धयते यत्कार्यारम्भकं तदेव वस्तु । दि० प्र० ।

मारभते इत्यपि मिथ्या, 'तस्याऽवस्तुत्वविरोधात् कार्यारम्भकस्य^२ वस्तुत्वात्^३ । चित्त-
क्षणानां^४ चावस्तुतापत्तिरकार्यारम्भकत्वात् । न च तत्कार्यारम्भकत्वाभावे फलं^५ पुण्य-
पापलक्षणं संभवति । तदभावे^६ न प्रेत्यभावो न बन्धो न च मोक्षः स्यात् । इति क्षणक्षय-
कान्तदर्शनमहितम्, असंभवत्प्रेत्यभावादित्वाद् उच्छेदैकान्तवद्धर्षकान्ताभ्युपगमवद्वा । न हि
सर्वथोच्छेदैकान्ते शून्यतालक्षणे नित्यत्वैकान्ते वा प्रेत्यभावादिः संभवति, यतोयं दृष्टान्तः
साधनधर्मविधुरः^७ स्यात् । नापि प्रेक्षावतां तदाश्रयणं हितत्वेन मतं, येन साध्यविकलः
स्यात् । अथ मतमेतत्, क्षणिकत्वेपि चित्तक्षणानां वासनावशात् प्रेत्यभिज्ञानं तदेवेदं सुखसाधन-
मिति स्मरणपुरस्सरमुत्पद्यते । ततोभिलाषात्तत्साधनाय प्रवृत्तिरिति^८ कार्यारम्भोत्पुण्यपाप-

जायेगी किन्तु आपने सन्तान को तो अवस्तु ही माना है । और चित्त क्षणों को भी अवस्तुपने का प्रसंग
आ जायेगा क्योंकि वे कार्य के आरम्भक नहीं हैं ।

कार्य के आरम्भक का अभाव होने पर पुण्य पाप लक्षण फल भी संभव नहीं है । उस फल के
अभाव में न प्रेत्यभाव होगा, न बंध होगा, न मोक्ष ही हो सकेगा । इसलिये क्षणक्षयैकान्त दर्शन अहित-
रूप ही है क्योंकि उसमें प्रेत्यभावादि सम्भव नहीं हैं, उच्छेदैकान्त-शून्यैकान्त के समान, अथवा ध्रौव्यै-
कान्त—नित्यत्वैकान्त की स्वीकृति के समान । अर्थात् जैसे शून्यवाद में और सर्वथा नित्यपक्ष में प्रेत्य-
भाव आदि सम्भव नहीं है, तथैव क्षणिकैकान्त में भी सम्भव नहीं है । शून्यता लक्षण, सर्वथा उच्छेद
एकान्त में अथवा नित्यत्वैकान्त में प्रेत्यभावादि सम्भव नहीं हैं । जिससे कि ये दृष्टान्त साधन धर्म से
विधुर-रहित हो सकें अर्थात् नहीं हो सकते हैं । प्रेक्षावान् पुरुषों को उस क्षणिकैकान्त का आश्रय हित-
रूप से मान्य हो ऐसा भी नहीं है, कि जिससे यह दृष्टान्त साध्य विकल हो सके अर्थात् यह दृष्टान्त
साध्य विकल नहीं है ।

बौद्ध—हमारे क्षणिकरूप एकान्त पक्ष में भी चित्त क्षणों में वासना के निमित्त से "यह वही
सुख साधन है" इस प्रकार स्मरण पूर्वक प्रेत्यभिज्ञान उत्पन्न हो जाता है । और उस प्रेत्यभिज्ञान से
अभिलाषा होती है, उस अभिलाषा से सुख के साधन के लिये प्रवृत्ति होती है इस प्रकार से कार्य का
आरम्भ होने से पुण्य, पाप क्रिया सिद्ध हैं अतः हमारे यहाँ प्रेत्यभाव आदि सम्भव हैं । इसलिये
"असंभवत्प्रेत्यभावादित्वात्" आपका यह हेतु असिद्ध है जो कि साध्य को सिद्ध करने के लिये समर्थ
नहीं है ।

1 अन्यथा । व्या० प्र० । 2 कारकस्य । व्या० प्र० । 3 सन्तानस्य कार्यारम्भकत्वे । व्या० प्र० । 4 ज्ञानस्य ।
दि० प्र० । 5 तथा सति किं भवति । दि० प्र० । 6 असंभवत्प्रेत्यभावादियत्रक्षणिकैकान्तदर्शनेतत् असंभवत्
प्रेत्यभावादि तस्यभावस्तत्त्वं तस्मात् । दि० प्र० । 7 उच्छेदैकान्त ध्रौव्यैकान्तवदित्ययं दृष्टान्तः असंभवत्प्रेत्य-
भावादित्वात् इत्यनेनसाधनधर्मण विकल्पो यतः कुतः स्यान्नस्यादित्यर्थः = विचारकाणां उच्छेदैकान्त ध्रौव्यैकान्ता-
श्रयणं उपकारकत्वेन मतं न । अहितमितिसाध्यधर्मरहितो येन केन स्यान्न स्यादित्यर्थः । दि० प्र० । 8 अनेन
प्रकारेण । व्या० प्र० ।

क्रियासिद्धेः प्रेत्यभावादिसंभवादसंभवत्प्रेत्यभावादित्वादिति^१ हेतुरसिद्धो न साध्य-साधनायालमिति, तदसत्^२, ^३भिन्नकालक्षणानामसंभवद्वासनत्वादकार्यकारणवत्^४ । पूर्वमेव चित्तमुत्तरोत्पत्तौ वासना^५ तत्कारणत्वादिति चेन्न, निरन्वयक्षणिकत्वे^६ कारणस्यैवासंभवात् । तथा हि ।

[विनष्टं कारणं कथं कार्यं कुर्यात् यथा कारणमिति नाम लभेत ।]

न विनष्टं कारणमसत्त्वाच्चिरतरातीतवत् । समनन्तरातीतं कारणमिति चेन्न, समनन्तरत्वेऽप्यभावाविशेषात् । न च पूर्वस्योत्तरं कार्यं, तदसत्येव हि^७भावाद्द्वस्त्वन्तरवदिति-

जैन—यह कथन असत् है । क्योंकि भिन्न है काल जिनका ऐसे उन ज्ञान क्षणों में वासना ही असम्भव है । जैसे कि जिनका कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है ऐसे घट, पट आदि क्षणों में भिन्न काल होने से वासना असम्भव है । ऐसा आपने माना है तथैव भिन्न-भिन्न कालवर्ती ज्ञानक्षणों में भी वासना नहीं हो सकती है ।

बौद्ध—पूर्व-पूर्व का ही चित्तक्षण उत्तर-उत्तर चित्तक्षण की उत्पत्ति में वासना कहलाता है । क्योंकि पूर्वचित्त का क्षण उत्तर चित्तक्षण के लिये कारण है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि सभी ज्ञानक्षणों को निरन्वय क्षणिक मान लेने पर उनमें कारण ही असम्भव है । तथाहि—

[विनष्ट हुआ कारण कैसे कार्य को कर सकेगा कि जिससे वह 'कारण' इस नाम को प्राप्त कर सके ?]

विनष्ट हुआ क्षण कारण नहीं है असत् होने से, चिरतर अतीतक्षण के समान । अर्थात् क्षणिक-स्वरूप पूर्वचित्त नष्ट हो गया अतः वह कारण नहीं है जैसे कि बहुत पहले के बीते हुये चित्त उत्तरचित्त के लिये कारण नहीं हैं । उसी प्रकार से समनंतर अतीत (प्रथम क्षण के बाद ही होने वाला) भी कारण नहीं है क्योंकि असत् रूप से तो दोनों ही समान हैं ।

बौद्ध—समनंतर का अतीतक्षण कारण हैं ।

१ क्षणक्षणिकान्तदर्शनमहितं । असम्भवत् प्रेत्यवादित्वात् । व्या० प्र० । २ जैनाह । यदुक्तं सौगतेन तदसत्यं कस्मात् भिन्नकालक्षणानां वासना न संभवति यतः । यथा परसन्तानः क्षणः कारणमपरसन्तानक्षणस्य कार्यस्योत्पादकं न भवति । तथा स्वसन्तानेऽपि कार्यकारणभावो न भिन्नकालक्षणत्वात् । दि० प्र० । ३ चित्तक्षणानाम् । व्या० प्र० । ४ देवदत्तगणदत्तलक्षणचित्तक्षणवत् । व्या० प्र० । ५ पूर्वमेवचित्तं वासना । व्या० प्र० । ६ अत्राह जैनः ! हे सौगत पूर्व चित्तमुत्तरचित्तस्य कारणमभवतोच्यते । तत्सान्वयक्षणिकत्वे निरन्वयक्षणिकत्वे वा इति प्रश्नः । तत्र सान्वयक्षणिकत्वे भवत् मतहानिः । द्वितीयनिरन्वयक्षणिकत्वे कारणमेव न संभवति = तथाहि विवादापन्नं पूर्वचित्तं विनष्टं पक्षः कारणं न भवतीति साध्यो धर्मः । असत्त्वात् । यथा चिरतरातीतं चित्तं असत्त्वेन तस्मात्कारणं न भवति । दि० प्र० । ७ चिरतरातीतवद्वा प्रकृष्टेत्तरतमप्रत्ययौ । व्या० प्र० ।

क्रान्ततमवद्वा, यतः पूर्वस्य कारणत्वनिर्णयः स्यात् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादुत्तर^१ तत्कार्यमिति चेन्न, तस्यासिद्धेः । न हि समर्थस्मिन् सति स्वयमनुत्पत्सोः ^२पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा नित्यवत्, तद्भावे^३ स्वयमभवतस्तदभावे^४ एव भवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानविरोधात् । क्षणिकैकान्ते कारणाभावाविशेषेपि ^५कार्योत्पत्तिसमयनियमावबलृप्तौ कस्यचित्कौटस्थेपि तत्करणसमर्थसद्भावाभावेपि^६ कार्यजन्मनः कालनियमः किन्न स्यात् ? विशेषाभावात्^७ । यथैव हि स्वदेशवत्स्वकाले सति कारणे समर्थे कार्यं जायते,

जैन—नहीं । समनंतरपना होने पर भी अभाव—असत् रूप से दोनों ही समान हैं । इसलिये पूर्व का उत्तरक्षण कार्य नहीं है क्योंकि उस पूर्वक्षण का विनाश हो जाने पर ही वह कार्य हुआ है, वस्त्वन्तर के समान अथवा अतिक्रान्ततम के समान । अर्थात् जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त के चित्तक्षण भिन्न-भिन्न होने से उनमें कार्य कारण भाव नहीं है, अथवा चिरतर के बीते हुए ज्ञान क्षणों में कार्यकारण भाव नहीं है तथैव पूर्वक्षण और उत्तरक्षण में भी कार्यकारण भाव नहीं है कारण कि आपके यहाँ पूर्वक्षण का निरन्वय विनाश माना गया है पुनः वह सर्वथा अभावरूप होकर उत्तरक्षण को कैसे उत्पन्न कर सकेगा ? कि जिससे पूर्वक्षण कारण है यह निश्चय किया जा सके । अपितु नहीं किया जा सकता है ।

बौद्ध—उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान होने से वह उत्तरक्षण पूर्वक्षण का कार्य कहलाता है ।

जैन—नहीं । आपके कार्य-कारण में वह अन्वय-व्यतिरेक भाव असिद्ध है ।

क्योंकि समर्थरूप पूर्व (कारण) के होने पर तो स्वयं उत्पन्न होने की इच्छा न करे और पश्चात् होते हुये यह उस कारण का कार्य है अथवा समनंतर है ऐसा नहीं कह सकते हैं, जैसे कि नित्य में कार्य कारणभाव असंभव है उसी प्रकार से नष्ट हुये कारण से भी कार्य के नहीं होने से कार्य-कारणभाव असंभव है ।

उसके होने पर तो स्वयं न होवे और उसके अभाव में ही होवे उसमें अन्वय-व्यतिरेक का विरोध है ।

१ सौमलः तयोः कारणकार्ययोरन्वयव्यतिरेकसम्बन्धात् । उत्तरक्षणं तस्य पूर्वक्षणकार्यं भवतीति चेन्न । तस्यान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यासंभवात् । दि० प्र० । २ वस्त्वन्तराभावे यथा विवक्षितकार्यसद्भावो न च तत् कार्यत्वं वस्त्वन्तरकार्यत्वं तद्वदतिक्रान्ततमान्यकारणस्य पूर्वक्षणलक्षस्याभावेविवक्षितकार्यस्य सद्भावस्तथा न तत्कार्यमतिक्रान्ततमकार्यमिति शेषः । व्या० प्र० । ३ कारण । दि० प्र० । ४ कार्यस्य । दि० प्र० । ५ कालः । व्या० प्र० । ६ अविशेषेपि । व्या० प्र० । ७ यथैव हि स्वदेशे इव स्वकाले सहकारिकारणे समर्थे सति कार्यमुत्पद्यते । असति नोत्पद्यते । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानं कथ्यते । = तथा नित्यैकान्तपक्षे आखरहिते स्वकाले सहकारिकारणे समर्थे सति आत्मकाले कार्यमुत्पद्यमानं अन्यदा स्वसमयाभावे अनुत्पद्यमानं तत् अन्वयव्यतिरेकानुविधानं त्वया सौमतेन कथं नाङ्गीक्रियते इत्युक्तं स्याद्वादिना । दि० प्र० ।

नासतीति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीष्यते तथा स्वकालेऽनाद्यनन्ते सति समर्थे नित्ये स्वसमये कार्यमुपजायमानमन्यदानुपजायमानं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि कथं नानुमन्यते ? सर्वदा समर्थे नित्ये कारणे सति स्वकाले एव कार्यं भवत्कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत्तर्हि कारणक्षणात्पूर्वं पश्चान्चानाद्यनन्ते तदभावे^१ विशेषशून्येपि क्वचिदेव तदभावसमये भवत्कार्यं कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि^२ ? इति न^३ कश्चिद्विशेषः । तदेवमन्वयव्यतिरेकानुविधाना-भावाविशेषेपि क्षणिकैकान्ते एव कार्यंजन्मेति वचनमभिनिवेशमात्रनिबन्धनम् ।

यदि क्षणिकैकान्त में चिरतर का अतीत और अनंतरवर्ती दोनों में कारण का अभाव समान रूप से होने पर भी कार्योत्पत्ति के समय के नियम की कल्पना करेंगे तब तो सांख्य के द्वारा मान्य कूटस्थ नित्य वस्तु में भी उस कारण की सामर्थ्य का सद्भाव अभिन्न होने पर भी कार्य के जन्म-काल का नियम क्यों नहीं हो जायेगा ? क्योंकि दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है ।

जिस प्रकार से कार्य प्रदेश के कारणरूप होने पर कार्य होता है, नहीं होने पर नहीं होता है । ऐसे उस स्वदेश के समान स्वकालरूप कारण के समर्थ होने पर कार्य उत्पन्न होता है, नहीं होने पर नहीं होता है । इस प्रकार से वह कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेकानुविधायी है ऐसा आप बौद्धों के द्वारा माना गया है उसी प्रकार से अनादि अनंतरूप नित्य समर्थ स्वकाल के होने पर उस कार्य क्षणरूप स्वसमय में कार्य उत्पन्न होता हुआ एवं अन्यकाल में उत्पन्न न होता हुआ उस कारण के साथ वह कार्य अन्वय-व्यतिरेकानुविधायी है ऐसा आप बौद्धों के द्वारा क्यों नहीं माना जाता है ?

बौद्ध—हमेशा ही समर्थभूत नित्य कारण के विद्यमान रहने पर भी स्वकाल में ही होता हुआ कार्य कारण के साथ अन्वय-व्यतिरेकानुविधायी कैसे हो सकता है ?

जैन—तब तो कारणक्षण से पहले और बाद में जो अनादि अनंत काल है उसमें उसका अभाव है और विशेष से शून्य अर्थात् अभावरूप से समान होने पर भी किसी ही उसके अभाव समय में होता हुआ कार्य उस कारण के साथ अन्वय-व्यतिरेकानुविधायी कैसे हो सकता है ?

क्योंकि इस प्रकार से नित्य और क्षणिक में कोई अन्तर नहीं है ।

भावार्थ—बौद्ध असत्कार्यवादी है उसका कहना है कि कारणरूप मृत्पिंड के जड़मूल से विनाश हो गया पुनः अनंतर क्षण में घट रूप कार्य उत्पन्न हो गया है । यहाँ आचार्य स्वयं पहले अपना इष्ट तत्त्व नहीं बतलाते हैं किन्तु इस बौद्ध ने जो नित्य पक्ष में दोषारोपण किये थे उन्हीं दोषों को आचार्य इस बौद्ध के शिर मढ़ रहे हैं आचार्य कहते हैं कि भाई ! यदि तुम सर्वथा-क्षणिक पक्ष में कार्य-कारणभाव मान लेते हो तो सर्वथा कूटस्थ नित्य में भी मानों, अन्यथा हम जैनों के समान दोनों ही पक्षों में मत मानों, क्योंकि दूषण या भूषण दोनों जगह समान ही हैं ।

१ कारण । दि० प्र० । २ क्षणिक । दि० प्र० । ३ उभयत्र क्षणिकैकान्ते नित्यैकान्ते च अन्वयव्यतिरेकानुविधाना-भावेन विशेषो नास्ति । दि० प्र० ।

[कारणस्य निरन्वयविनाशानंतरमेव यदि कार्यं भवेत्तर्हि तत्कार्यं निर्हेतुकं भविष्यतीति
जैनाचार्याः कथयन्ति ।]

तथा चाकस्मिकत्वं स्यात्, समर्थं कारणमनपेक्ष्य स्वयमभिमतसमये भवतः कार्यस्य निर्हेतुकत्वप्रसवतेनित्यकार्यवत् । उभयत्राविशेषेण कथंचिदनुपयोगेपि^१ क्वचिद्व्यपदेशकल्पनायामन्यत्रापि किं न भवेत् ? क्षणिकस्य कारणस्य सर्वथा कार्यं प्रत्युपयोगाभावेपि तस्येदं^२ कार्यमिति व्यपदिश्यते, न पुननित्यस्य^३ तादृश इति^४ न किञ्चिन्निरन्वयमन्यत्र महामोहात् ।

इस प्रकार से अन्वय-व्यतिरेक के अनुविधान का अभाव नित्य और क्षणिक दोनों ही पक्ष में समान होने पर भी क्षणिकैकांत में ही कार्य का जन्म होवे, किंतु नित्य में न होवे। यह कथन केवल दुराग्रह मात्र के निमित्त से ही है।

[कारण के निरन्वय नष्ट हो जाने पर ही यदि कार्य होता है तो वह कार्य निर्हेतुक हो जावेगा, ऐसा आचार्य कहते हैं ।]

वह कार्य आकस्मिक भी हो जायेगा ।

समर्थ कारण की अपेक्षा न करके स्वयं अभिमत समय में होता हुआ कार्य निर्हेतुक हो जायेगा, जैसे कि सांख्य के मत में नित्य कार्य निर्हेतुक है ।

उभयत्र—क्षणिक और नित्य पक्ष में समानरूप से कथंचित्—अन्वय-व्यतिरेक प्रकार से उपयोग न होने पर भी क्वचित्-क्षणिक में “यह इस क्षणिक का कार्य है” ऐसा व्यपदेश करने पर तो अन्यत्र-नित्य में भी यह इस नित्य का कार्य है ऐसी कल्पना क्यों नहीं होगी ?

क्षणिक कारण सर्वथा कार्य के प्रति अनुपयोगी है फिर भी ‘उसका यह कार्य है’ ऐसा कहा जाता है, किंतु उसी प्रकार से कार्य के प्रति अनुपयोगी ‘नित्य कारण का यह कार्य है’ यह नहीं कहा जाता है इस कथन में तो महामोह के सिवा अन्य कुछ भी कारण नहीं है अर्थात् महामोह के निमित्त से ही यह पक्षपात पूर्ण कथन है ।

बौद्ध—नित्य कारण प्रतिक्षण अनेक कार्य को करने वाला है अतः उसमें क्रमशः अनेक स्वभाव सिद्ध हैं पुनः उस कारण को एक कैसे कहा जा सकता है ?

१ कारणस्य । व्या० प्र० । २ क्षणिकस्य कारणस्य । दि० प्र० । ३ सर्वथा नित्यस्य तादृशस्य कार्यं प्रत्यनुपयोगिनः तस्येदं कार्यमिति व्यपदेशो न घटते इत्यत्र महामोहं वर्जयित्वा अन्यत्किञ्चिन्निरन्वयं नास्ति । इत्युक्तं स्याद्वादिता = भाह सौगतः सर्वथानित्यः क्षणं क्षणं प्रति अनेककार्यकारी भवति चेत्तदा क्रमेण तस्यानेकस्वभात्व सिद्धयति । एकत्वं कथं स्यादिति चेत् = नित्यवाद्याह । क्षणिकस्यापि प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोऽनेक स्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति द्वयोः समः प्रश्नः = अत्राह । स्याद्वादी क्षणिकएकोपि भावः पक्षः । अनेकस्वभावो भवतीति साध्यो धर्मः विचित्रकार्यत्वात् यो विचित्रकार्यः सोऽनेकस्वभावः यथा नानार्थः घटपटादिलक्षणः विचित्रकार्यश्चायं तस्मादनेकस्वभावः एवं सति क्षणिकत्वं नष्टम् । दि० प्र० । ४ अन्वयव्यतिरेकप्रकारेण । व्या० प्र० ।

नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति चेत् क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः ।

[क्षणिकेऽनेकस्वभावो नास्त्वतः कथं क्षणिकनित्ययोः साम्यमित्याशंकायामाचार्याः समादधते]

स हि 'क्षणस्थितिरेकोपि भावोनेकस्वभावश्चित्रकार्यत्वान्नानार्थवत् । न हि कारण-शक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत् । यथैव हि कर्कटिकादौ^२ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकस्मादपि भावात् प्रदीपादेर्वर्तिकामुख-दाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते । अन्यथा रूपादेर्नानात्वं^३ न सिध्येत्^४, चक्षुरादिसामग्रीभेदात्तज्ज्ञाननिर्भासभेदोपकल्प्येत, कर्कटिकादिद्रव्यं तु रूपादि-

जैन— यदि ऐसा प्रश्न है तब तो क्षणिक में तथैव प्रतिक्षण अनेक कार्य करने का स्वभाव होने से उसमें भी अनेक स्वभाव सिद्ध हो जावे पुनः वह भी क्षणिक कारण एक कैसे हो सकता है ? इस प्रकार से समान ही प्रश्न हो जाता है ।

[क्षणिक में अनेक स्वभाव नहीं अतः समान ही प्रश्न कैसे होगा ऐसी शंका होने पर पुनः जैनाचार्य उत्तर देते हैं ।]

“वह क्षणस्थायी एक भी भाव अनेक स्वभाव वाला है, क्योंकि वह चित्र विचित्र कार्यो को निष्पादन करने वाला है नाना अर्थ के समान ।” कारण शक्ति में, भेद के बिना कार्य में नानाभेद युक्त नहीं है जैसे कि कार्यभूत रूपादि ज्ञानों की उत्पत्ति कारण शक्ति के नानाभेद बिना नहीं हो सकती है ।

जिस प्रकार से ककड़ी आदि में रूपादि अनेक ज्ञान रूपादि के स्वभाव भेद के निमित्त से हुये हैं । उसी प्रकार से एक क्षणमात्र रहने वाले एक भी पदार्थ प्रदीपादि से वर्तिका मुख, दाह, तैलशोषण, तमोनिरसन, कज्जल मोचन, अर्थ प्रकाशन आदि अनेक कार्य उस प्रदीपगत शक्ति के भेद के निमित्त से ही व्यवस्थित होते हैं । अन्यथा—यदि शक्तिभेद नहीं मानो तो रूपादि में नाना-भेद सिद्ध नहीं हो सकेंगे पुनः चक्षु आदि सामग्री के भेद से ही उस ज्ञान में प्रतिभास के भेद की कल्पना करनी पड़ेगी किंतु ऐसी कल्पना तो है नहीं ।

पुनः ककड़ी आदि द्रव्य तो रूपादि स्वभाव के भेद से रहित एक है, अंश है । इस प्रकार से कहने वाले सांख्य का भी निवारण करना आपके लिये अशक्य हो जायेगा ।

1 क्षणिकस्यानेकस्वभावत्वं नास्ति अतः कथं समःपर्यनुयोग इत्याशंकायामाह । दि० प्र० । क्षणिकस्याप्यनुमानेनानेक स्वभावत्वं साधयति । व्या० प्र० । 2 वल्लीफलविशेषरूपरसगन्धादिज्ञानानि । दि० प्र० । 3 एवं यदि तदारूपादिनिर्भासः कथं भवेदित्युक्ते आह । व्या० प्र० । 4 कर्कटिकादौ । व्या० प्र० ।

स्वभावभेदरहितमेकमनंशमिति वदतोपि निवारयितुमशक्तेः । चक्षुरादिबुद्धौ रूपादिव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्याप्रतिभासनाद्रूपादयो नानैवेति चेत्तर्हि वर्तिकामुखदाहादिकार्यानुमानबुद्धिषु विचित्रतच्छक्तिव्यतिरेकेण^१ प्रदीपक्षणस्यैकस्याप्रतिभासनान्नानाशक्तय^२ एव किं न स्युः ?

[शक्तिमतः पदार्थात् शक्तयो भिन्ना अभिन्ना वा ? इत्युभयत्र दोषारोपणे सति जैनाचार्याः उत्तरयन्ति ।]

ननु^३ च 'शक्तिशक्तिमतोरर्थान्तरानर्थान्तरभावपक्षयोः शक्तीनामघटनान्न ताः परमार्थसत्यः^४ संभाव्यन्ते । ततस्तासामर्थान्तरभावे व्यपदेशानुपपत्तिः संबन्धाभावात् । तेन तासामुपकार्योपकारकभावसंबन्धकल्पनायां^५ यदि शक्तिमता शक्त्यन्तरैः शक्तय उपक्रियन्ते

बौद्ध—चक्षु आदि के ज्ञान में रूपादि से अतिरिक्त द्रव्य का प्रतिभास ही नहीं होता है अतः रूपादि नानाभेद वाले ही हैं ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो वर्तिका मुखदाह आदि कार्यरूप अनुमान ज्ञान में नाना भेदरूप उसकी शक्ति के बिना प्रदीप क्षण, एक रूप प्रतिभासित नहीं होता है । अतः उसमें भी नाना शक्तियाँ ही क्यों न जावें ?

[शक्तिमान पदार्थ से शक्तियाँ भिन्न हैं या अभिन्न ? इन दोनों पक्षों में दोषारोपण करने पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं ।]

बौद्ध—शक्तिमान् से शक्तियाँ भिन्न हैं या अभिन्न ? इस प्रकार से दो विकल्प के करने पर शक्तियों की व्यवस्था घटित नहीं होती है । अतः वे शक्तियाँ परमार्थ सत्—वास्तविक नहीं हैं । शक्तिमान् से शक्तियों को भिन्न मानने पर ये इस शक्तिमान् की शक्तियाँ हैं ऐसा व्यपदेश नहीं बन सकता है । क्योंकि शक्तिमान् और शक्तियों में सम्बन्ध का अभाव है । यदि उस शक्तिमान् के साथ उन शक्तियों का उपकार्य-उपकारक भाव कल्पित करते हैं ।

१ कार्यकारणशक्तिः । व्या० प्र० । २ प्रत्यक्षेप्रतिभासमानः प्रदीपो विद्यत एवेति चेत्त एव कर्कटिकादि द्रव्यस्यापि सद्भावोस्तुविकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानत्वात्तस्या वास्तवत्वमिति चेत् प्रदीपस्यावास्तवत्वमस्तु तत एव निर्विकल्पेपि प्रतिभासमानत्वस्य वास्तवत्वे रूपादिरहितं निरंशमवयवि इत्थं तत्र प्रतिभासमानं संप्रवर्तते इति वचनात् । कार्यकारणभावाभावंः अर्थान्तरभूतयोः कार्यकारणभावसद्भावे एव आश्रयाश्रयिभावोभ्युपगम्यते । सौगतेन कार्यस्य कारणाश्रितत्वात् । कार्यकारणयोरआश्रयाश्रयिभावस्य विरूपकार्यारम्भाय यदि हेतुसमागम इति कारिका-व्याख्यानै वक्ष्यमाणत्वादन्वयत्र सताभ्युपगम्यते । दि० प्र० । ३ सौगतः । दि० प्र० । ४ परमार्थतस्तच्छक्तयः सम्भाव्यं ते इति वा पाठः । व्या० प्र० । ५ तेन शक्तिमता तासां शक्तीनामुपकारः क्रियते । ताभिः सशक्तिमानुपकार्यं इति विचारः क्रियते । यदि शक्तिमता अर्थेन शक्त्यन्तरैः कृत्वा शक्तीनामुपकारः क्रियते तर्हि अनवस्था नामदोषः स्यात् तानि शक्त्यन्तराणि अन्यानि अपेक्ष्यन्ते तानि चान्यानि एवं—अथवा शक्तिभिः च शक्तिभिरुपकारे क्रियमाणे तस्य शक्तिमतोनेकोपकार्यरूपत्वमापद्यते ।—ततः शक्तिमतः सकाशात् शक्तिमदुपकार्यरूपाणां शक्तीनां भेदे सति तस्योपकाराभावात् । तस्य द्रव्यस्य इमाः शक्तयः इति व्यपदेशो नोपपद्यते—तदवस्था कोर्थः संबन्धाभावात् तैरुपकार्यरूपान्तरैः तस्य शक्तिमतः उपकारकारणे अनवस्थादोष एव । दि० प्र० ।

तदानवस्था, अपरापरार्थान्तरशक्तिपरिकल्पनात् । तस्य शक्तिभिष्पकारेऽनेकोपकार्यरूपता-
पत्तिः । तदुपकार्यरूपाणां¹ ततो भेदे तस्यानुपकारात्तद्रव्यपदेशानुपपत्तिस्तदवस्था । तैस्त-
स्योपकारकरणेनवस्थितिरेव परापरोपकार्यरूपपरिकल्पनात् । शक्तिमतः ²शक्तीनामनर्थान्तर-
भावे शक्तिमानेव, न शक्तयो नाम अन्यत्रातद्रव्यावृत्तिभ्यः¹³ कल्पिताभ्यः' इति चेन्न, रूपादी-
नामपि द्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरभावविकल्पयोरघटनात् परमार्थसत्त्वाभावानुषङ्गात् प्रकृतदोषो-
पनिपाताविशेषात्, प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना रूपादयः परमार्थसन्तो न पुनरनुमानबुद्धौ प्रति-

तब तो यह बतलाइये कि शक्तिमान् के द्वारा उन शक्तियों का उपकार किया जाता है । अथवा शक्तियों के द्वारा शक्तिमान् का उपकार किया जाता है इस तरह से दो विकल्प के होने पर प्रथम विकल्प को दूषित करते हैं ।

यदि आप कहें कि शक्तिमान् के द्वारा भिन्न-भिन्न शक्तियों से शक्तियों का उपकार किया जाता है तब तो अनवस्था दोष आ जाता है क्योंकि अपर-अपर—भिन्न-भिन्न शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी ।

और यदि दूसरा विकल्प ग्रहण करें कि उस शक्तिमान् का शक्तियों के द्वारा उपकार किया जाता है तब तो उस शक्तिमान् के अनेक उपकार्यरूप होने का प्रसंग आ जाता है । एवं उन अनेक उपकार्यरूपों को उस शक्तिमान् से भिन्न मानने पर उनसे उस शक्तिमान् का उपकार न होने से "शक्तिमान् के ये उपकार्यरूप हैं" इस प्रकार का व्यपदेश नहीं होना रूप दोष तदवस्थ ही रहेगा । अर्थात् ऐसा व्यपदेश नहीं हो सकेगा ।

यदि उन उपकार्यरूपों के द्वारा शक्तिमान् का उपकार किया जाता है ऐसा मानोगे तब तो अनवस्था ही मौजूद है क्योंकि परापर उपकार्यरूपों की कल्पना करनी पड़ेगी ।

यदि शक्तिमान् से शक्तियों को अभिन्न मानोगे तब तो शक्तिमान् ही रहेगा, कल्पित अशक्ति व्यावृत्ति को छोड़कर 'शक्तियाँ' इस नाम से कोई चीज ही नहीं रहेगी अर्थात् बौद्ध के मत में पदार्थ अतद्रव्यावृत्तिरूप ही हैं अतः अशक्ति से व्यावृत्त शक्तियाँ हैं, इसलिये व्यावृत्तिरूप शक्तियों को छोड़ कर अन्य शक्तियाँ नहीं रहेंगी ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि हम भी आप से ऐसा प्रश्न करेंगे, कि द्रव्य से रूपादि भिन्न है या अभिन्न ? और इन दोनों विकल्पों के होने पर रूपादिकों की भी व्यवस्था घटित नहीं हो सकेगी पुनः वे रूपादि भी परमार्थ सत्—सच्चे सिद्ध नहीं हो सकेंगे । क्योंकि ऊपर में भिन्न और अभिन्न पक्ष में दिये गये सभी दोष इस प्रकरण में भी समान ही हैं अर्थात् यदि द्रव्य से रूपादि भिन्न

1 स्वरूपाणाम् । व्या० प्र० । 2 अर्थातरानर्थान्तरपक्षयोर्व्यपदेशानुपपत्तिरेकत्वं च । दि० प्र० । 3 तासां शक्तीनां व्यावृत्तयः तथा वृत्तयो न तथा वृत्तयः अतद्रव्यावृत्तयः ताभ्यः अतद्रव्यावृत्तिभ्यः अपरमार्थभूताभ्यः अन्यत्र कोर्थः ताः वर्जयित्वा अन्याः शक्तयो न इत्युक्तं सोपतेन । दि० प्र० ।

भासमानाः शक्तय इति वक्तुमशक्तेः^१ क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्व-
प्रसङ्गात्^२ । क्षणक्षयादीनां प्रत्यक्षे^३ प्रतिभातानामेव विपरीतारोपव्यवच्छेदेऽनुमानव्यापाराद-
दोष इति चेत्तर्हि नानाकार्यजननशक्तीनामपि प्रत्यक्षेवभातानामेव समारोपव्यवच्छेदे कार्या-
नुमानव्यापारात्कश्चिदपि दोषो मा भूत् । नानाकार्यदर्शनात्तज्जननशक्तिरेका तादृश्यनुमीयते,
न पुनर्नानाशक्तय इति चेत्तर्हि नानारूपादिज्ञाननिर्भासभेदात्तादृशैकस्वभावो द्रव्यस्य व्यव-
स्थाप्येत, न पुनर्नानारूपादय इति समः समाधिः । प्रदीपक्षणस्यैकस्य वर्तिकामुखादिसहकारि-

हैं तो उनमें कौन सा सम्बन्ध है ? जो यह बतला सके कि ये रूपादि इस द्रव्य के हैं, यदि उपकार्य-
उपकारक सम्बन्ध मानों तो पूर्वोक्त ही सारे विकल्प उठते रहेंगे तब द्रव्य के रूपादि भी सिद्ध नहीं
होंगे ।

एवं “निविकल्पज्ञान में प्रतिभासमान रूपादि परमार्थसत् हैं किन्तु अनुमान ज्ञान में प्रतिभा-
समान शक्तियाँ परमार्थसत् नहीं हैं ।” आपको ऐसा कहना भी शक्य नहीं है अन्यथा क्षण क्षय और
स्वर्ग प्रापणशक्तियों को भी अवास्तविकरूप होने का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् क्षण में क्षय होना
और स्वर्ग को प्राप्त कराने की शक्तियाँ भी अनुमान ज्ञान का ही विषय है पुनः यह सत्य कैसे रहेगा ।

बौद्ध—क्षण क्षयादिक तो प्रत्यक्ष में ही प्रतिभासित होते हैं फिर भी उनमें विपरीत आरोप
का व्यवच्छेद करने के लिये अनुमान का व्यापार होता है इसलिये कोई दोष नहीं है अर्थात् क्षणक्षय
आदि तो प्रत्यक्ष ज्ञान में ही झलकते हैं फिर भी उनमें क्षणरूपने से विपरीत नित्यपने का भ्रम हो
जाता है इस विपरीत अभिप्राय को दूर करने के लिये ही अनुमान का प्रयोग होता है अतः इन क्षण-
क्षयादि का अनुमान से जानने पर भी ये असत्य नहीं हैं ।

जैन—तब तो नाना कार्य (वर्तिका, दाह आदि) को उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ भी प्रत्यक्ष
में अवभासित ही होती हैं उनमें जो शक्ति का अभावरूप समारोप है उसका व्यवच्छेद करने के लिये
ही कार्यानुमान का व्यापार होता है इस मान्यता में भी कोई दोष नहीं आवे ।

बौद्ध—कार्य अनेक देखे जाते हैं अतः अनेक कार्य को उत्पन्न करने वाला वही शक्ति एक ही
है ऐसा अनुमान से जाना जाता है किन्तु नाना शक्तियाँ नहीं जानी जाती हैं ।

जैन—तब तो नाना रूपादि ज्ञान का प्रतिभास भेद होने से उस प्रकार के रूप, रस आदि
अनेक ज्ञानरूप कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ कोई एक ही स्वभाव उस द्रव्य में (ककड़ी आदि)
व्यवस्थापित करना चाहिये, न कि नाना रूपादि को भी व्यवस्थापित करना । इस प्रकार से समान
ही समाधान है । अर्थात् ककड़ी में अनेक रूप, रस, गंध आदि भेदों का ज्ञान होता है उस अनेक
प्रकार के ज्ञान में कारणभूत कोई एक ही स्वभाव उस ककड़ी में है अनेक रूप रसादि भेद उस ककड़ी
में नहीं हैं ऐसा आपको मान लेना चाहिये । किन्तु आप बौद्ध रूप आदि को भिन्न-भिन्न ही मान
रहे हैं ।

१ अन्यथा । व्या० प्र० । २ वक्तुं शक्यते चेत्तदा इति संबन्धः कार्यः । दि० प्र० । ३ अत्राह सौगतः प्रत्यक्षज्ञाने
क्षणक्षयादीनां प्रतिभासितानामेव चिरस्थायिस्थूलक्षणविपरीतज्ञानविनाशार्थं अनुमानव्यापारो घटते न कोपि
दोषः इति चेत् । दि० प्र० ।

सामग्रीभेदात् तद्दाहादिविचित्रकार्यजननं न पुनः स्वभावभेदादिति चेत्तर्हि कर्कटिकादिद्रव्ये चक्षुरादिसहकारिसामग्रीभेदाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदो न पुना रूपाद्यनेकस्वभावभेदादिति निश्चीयते । 'युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टीनामपि भवितव्यमेव प्रतिभासभेदेन, कारणसामग्रीभेदात् । अन्यथा दर्शनभेदोपि^२ मा भूत् । न चैवं, प्रत्यासन्नेतरयोर्वैशद्येतरनिर्भासोपलब्धेः । सेयमुभयतः^३ पाशारज्जुः सौगतानां, रूपादिज्ञाननिर्भासभेदाद्रूपादिभेद^४ व्यवस्थापयतः प्रदीप-

बौद्ध—प्रदीप क्षण एक है बत्तिका मुख, तेल शोषण, तमोनिवारण, कज्जल भोचन पदार्थ प्रकाशन आदि अनेक सहकारी सामग्री के भेद से वह एक ही दीपक उन दाहादि विचित्र कार्यो को उत्पन्न करता है किंतु उसमें स्वभाव भेद नहीं है ।

जैन तब तो कर्कटी आदि द्रव्य में चक्षु आदि सहकारी सामग्री के भेद से ही रूपादि ज्ञान का प्रतिभास भेद किंतु रूपादि अनेक स्वभाव के भेद से उनमें भेद नहीं है ऐसा निश्चित करना चाहिये परन्तु आप बौद्ध लोग ऐसा नहीं मानते हैं प्रत्युत उस कर्कटी आदि द्रव्य में रूपादि अनेक स्वभाव भेद स्वीकार करते हैं ।

युगपत् एक पदार्थ में जिनकी दृष्टि लगी हुई है उनको भी प्रतिभास भेद होना ही चाहिये । क्योंकि दूर निकट आदिरूप कारण सामग्री में भेद देखा जाता है अन्यथा—विशद् अविशद् रूप से दर्शन में भी भेद मत होवे ।

परन्तु ऐसा तो है नहीं अर्थात् दर्शन भेद तो देखा ही जाता है । क्योंकि निकट और दूर से देखने में विशद् और अविशद् रूप भेद देखा जाता है । अतएव बौद्धों के लिये यह दोनों तरफ से ही जाल को रस्सी है । रूपादि ज्ञान के प्रतिभास भेद से रूपादि के भेद को व्यवस्थापित करते हुये आप बौद्ध को एक ही प्रदीप क्षण के अनेक विचित्र-विचित्र कार्य के होने से उस प्रदीप के स्वभाव-शक्ति भेद का प्रसंग प्राप्त होता है । यदि आप उस प्रदीप क्षण में एक स्वभाव की व्यवस्था करते हैं तब तो रूपादि में भी अनेकपने की व्यवस्था नहीं बन पाती है । अतएव आप दोनों तरफ से ही जाल की रस्सी में फंसे हुये हैं ऐसा समझना चाहिये ।

भाषार्थ—बौद्ध कहता है कि एक ककड़ी में रूप रसादि अनेक हैं क्योंकि उनका भिन्न-भिन्न ज्ञान हो रहा है किंतु दीपक में अनेक स्वभाव भेद नहीं है तब आचार्य कहते हैं कि यदि आप

१ समकालं एकार्थनतिकीक्षणे निपतितलोचनानां पुंसां प्रतिभासभेदो कस्मात् चक्षुरादिमहकारिसामग्रीभेदात् । अन्यथाभेदाभावे ज्ञानभेदोपि मा भवत्, न चैवं लोकेऽस्ति कस्मात् । प्रत्यासन्नस्थ पुंसो वैशद्यनिर्भासो दृश्यते दूरस्थस्य अवैशद्यनिर्भासो दृश्यते यतः । दि० प्र० । २ चक्षुरादिप्रत्यक्ष । दि० प्र० । ३ अत्राह स्याद्दादी उभयप्रकारेण सौगतानां सा पूर्वोक्तदृश्यवक्ष्यमाणा व्यवस्थानाबन्धनार्थं रज्जुरस्ति । कस्मात् । कर्कटिकादिद्रव्यरूपरसगन्धादिज्ञाननिर्भासभेदाद्रूपादिभेदव्यवस्थापयतः सतः सौगतस्य एकस्य प्रदीपक्षणस्य कार्यनानात्वात् स्वभावभेदत्वं प्रसजति = पुनः कस्मात् तस्य प्रदीपक्षणस्य एकस्वभावत्वं व्यवस्थापयतः सतः सौगतस्य कर्कटिकादिद्रव्ये रूपादिनानात्वस्य व्यवस्थापनं न घटते यतः । दि० प्र० । ४ आकारभेदः । दि० प्र० ।

क्षणस्यैकस्य कार्यवैचित्र्यात् स्वभावभेदप्रसङ्गात्, तस्यैकस्वभावत्वं व्यवस्थापयतो रूपादिना-
नात्वाव्यवस्थापनात् ।

[कारणस्वभावभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं न संभवतीति जैनाचार्या सुतरां साधयन्ति ।]

सकृत् ^१कारणस्वभावभेदमन्तरेण^२ यदि ^३कार्यनानात्वं, क्रमशोपि कस्यचिदपेक्षित-
सहकारिणः कार्यसन्ततिः किं न स्यात् ? ^४सहकारिणस्तद्धेतुस्वभावमभेदयन्तोपि^५ कार्यहेतवः

दीपक में अनेक कार्य देखकर भी स्वभाव भेद नहीं मानते हैं तब तो ककड़ी में भी रूपादि भेद मत मानों यदि ककड़ी में भेद मानते हो तो प्रदीप में भी स्वभाव भेद मान लो । या तो दोनों में स्वभाव भेद मानों या दोनों में मत मानों । क्योंकि ककड़ी में रूपादि भेद मानने से दीपक में स्वभाव भेद मानना पड़ेगा अथवा दीपक में न मानने से ककड़ी में भी रूपादि भेद नहीं बनेंगे ।

दूसरा दूषण यह आता है कि—

[कारण में स्वभाव भेद माने बिना कार्यों में नानापना असंभव है इस बात को जैनाचार्य अच्छी तरह सिद्ध कर रहे हैं ।]

कारण में स्वभाव भेद को माने बिना भी यदि क्षणिक में युगपत् अनेक कार्य होते हैं । तब तो सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने वाले नित्य में भी क्रम से कार्य संतति क्यों नहीं होगी ? क्योंकि तद्धेतु स्वभाव में भेद को न करते हुये भी सहकारी कारण अनेक कार्य के हेतु हो जावें, क्षण क्षय के समान । क्या बाधा है ?

बौद्ध—जिस प्रकार से युगपत् अनेक कार्यों को उत्पन्न करते हुये क्षणिक स्वलक्षण के जो सहकारी कारण हैं वे उसमें उस स्वलक्षण से भिन्न अथवा अभिन्न कुछ भी अतिशय-स्वभाव भेद नहीं करते हैं ।

जैन—तो क्या करते हैं ?

बौद्ध—वे सहकारीकारण तो भिन्न-भिन्न स्वभाववाले कार्यों को ही करते हैं ।

जैन—उसी प्रकार से नित्य में भी सहकारीकारण क्रम से नाना कार्यों को उत्पन्न करते हुये उस नित्य में उससे भिन्न या अभिन्न कुछ स्वभाव भेद को नहीं करें अर्थात् जैसी व्यवस्था क्षणिक पक्ष में मानते हो वैसी ही नित्य पक्ष में भी मान लो क्या बाधा है ?

१ युगपत् । व्या० प्र० । २ स्याद्वाद्याह प्रदीपादेः क्षणिकस्य कारणस्वभाव विना यदि युगपत् कार्यनानात्वं स्यात्तदा अपेक्षितसहकारिकारणस्य नित्यस्य क्रमेण कार्यसंततिः किं न स्यादपितु स्यात् । = कथं इत्युक्ते क्षेत्रकालादिसहकारि-
कारणानि । तस्य नित्यस्य हेतुस्वभावं न भेदयन्ति । तथापि कार्यभेदकाणि भवेयुः । यथा क्षणक्षयस्य स्वभावभेदं न भेदयन्ति सहकारिकारणानि कार्यकर्तृणि भवन्ति । दि० प्र० । ३ वृत्तिकादाहादि । दि० प्र० । ४ नानाकार्यहेतुः ।
व्या० प्र० । ५ आकारभेदम् । व्या० प्र० ।

स्युः क्षणक्षयवत्¹ । यथैव हि क्षणिकस्वलक्षणस्य² नानाकार्याणि युगपदुपजनयतः सहकारिकारणानि न कञ्चिदतिशयं ततो भिन्नमभिन्नं वा समुपजनयन्ति । किं तर्हि ? कार्याण्येव भिन्नस्वभावानि विदधति । तथैव नित्यस्यापि । न हि कादाचित्कानि तत्तत्कतु³ समर्थानीति स्थिरोर्थस्तत्करणस्वभावं जहाति तद्बुद्धिपूर्वकत्वाभावात्⁴ क्षणिकसामग्रीसन्निपतितंकारणान्तरवत् । न हि⁵ क्षणिकक्षित्युदकादिसामग्र्यामन्त्यक्षणप्राप्तायामङ्कुरजननसमर्थायां सत्यां तत्सन्निपतितं बीजं कारणान्तरमङ्कुरजननस्वभाव⁶ जहाति, तस्य⁷ तदकार्यत्वप्रसङ्गात् । न हि हेतवः⁸ परस्परमीर्ष्यावलिप्ताः⁹ क्वचिदेकत्र कार्ये येनैकस्य¹⁰ तत्र व्यापा-

“कादाचित्करूप सहकारीकारण उस-उस कार्य को करने के लिये समर्थ हैं” इस प्रकार से (ऐसा समझ कर) स्थिर नित्य उस कार्य को करने के स्वभाव को नहीं छोड़ता है क्योंकि उसमें बुद्धिपूर्वकत्व का अभाव है, क्षणिक सामग्री में सन्निपतित एक कारणांतर के समान । अर्थात् नित्य पदार्थ के ये सहकारी कारण इस कार्य को करने में समर्थ हैं, मुझ नित्य के द्वारा क्या करना चाहिये इस प्रकार से जो यह बुद्धिपूर्वकत्व है उसका वहाँ अभाव है क्योंकि परमाणु आदि अचेतन हैं । मतलब यह है कि—नित्य पदार्थ में अनेकों कार्यों को करने अनेक स्वभाव नहीं है और सहकारी-कारण ही अनेकों कार्यों को करते हैं, नित्य पदार्थ एक स्वभाव वाला ही है ऐसा जिनका कहना है वह गलत है जैनाचार्य तो अनेकों कार्यों को देखकर वस्तु में भी स्वभाव भेद स्वीकार कर रहे हैं । अन्त्य क्षण को प्राप्त, अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ, सहकारी रूप, क्षणिक पृथ्वी, जल आदि सामग्री के होने पर उसमें पड़ा हुआ कारणांतर बीज, अंकुर जनन स्वभाव को नहीं छोड़ता है अन्यथा उस बीज में अंकुर को नहीं उत्पन्न करने रूप अकार्यत्व का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् अंकुर बीज का कार्य है यह बात नहीं बनेगी । क्योंकि वे सहकारी और उपादान रूप कारण किसी एक कार्य को करने में परस्पर में ईर्ष्या से अवलिप्त नहीं है कि जिससे एक का वहाँ व्यापार होने पर दूसरे वहाँ से हट जायें । अर्थात् सहकारीकारण और उपादानकारण के भेद से कारण के दो भेद माने गये हैं यहाँ जल, मिट्टी आदि सामग्री अंकुर के लिये सहकारी कारण है और बीज उपादान कारण है । एवं इन सहकारीकारण और उपादानकारण का परस्पर में ईर्ष्या भाव नहीं है कि जिससे अंकुर कार्य को उत्पन्न करने के लिये सहकारी कारण आवें तो उपादान कारण हट जावे या

1 प्रदीपक्षणवत् । व्या० प्र० । 2 प्रदीपादेरर्थस्य । 3 सहकारिकारणानि कर्तुं भूतानि किं कुर्वन्ति तर्हीति प्रश्ने पृथक्स्वभावान्येव कार्याणि कुर्वन्ति तथैव नित्यस्यापि—तर्हि कादाचित्कानि सहकारिकारणानि तत्कार्यं । दि० प्र० । 4 कार्यं । दि० प्र० । 5 आतपावकेशवातादयः । दि० प्र० । 6 कर्म । व्या० प्र० । 7 बीजमंकुरजननस्वभावं यदि त्यजति तदा बीजस्य तत् अंकुरोत्पत्तिलक्षणकार्यत्वं न प्रसजति यतः । दि० प्र० । 8 हेतवः सहकारिकारणानि कस्मिंश्चिदेकस्मिन् कार्ये परस्परं अभ्यसूया रूढा नहि । एकस्य सहकारिकारणस्य तत्र कार्यं व्यापारे जाते सति अन्ये हेतवः येन केन अतिक्रमेरन् । अपितु नोत्लंघयेयुरिति । दि० प्र० । 9 समिश्रिताः । व्या० प्र० । 10 कारणस्य । व्या० प्र० ।

रेऽपरे^१ निवर्तेरन्^२ । क्षणिकोर्थः^३ स्वान्त्यकारणसामग्रीसन्निपतितः^४ स्वकार्यकारी तादृश-
स्वहेतुस्वभावादुत्पन्नत्वात्^५, न पुनर्नित्य^६ इति कल्पयित्वापि^७ स्वहेतु^८ प्रकृति^९ भावनां^{१०}
^{१०}स्वप्रकृतिरवश्यमन्वेष्ट्या, तस्वभाववशात्^{११} तत्कारणप्रकृतिव्यवस्थापनात् । ^{१२}तदयमकार-
णोपि^{१३} स्वभावनियतोर्थः^{१४} स्यात् ।

[एकक्षणानन्तरं वस्तुनोऽस्थानमेव क्षणिकस्य स्वभावोस्ति इत्यादिना बौद्धः स्वपक्षं पुष्पाति ।]

ननु च क्षणिकस्य क्षणादूर्ध्वमस्थानं स्वप्रकृतिर्विनश्वरत्वादन्वियते^{१५} । विनाश-

उपादान कारण के आने पर सहकारी कारण हट जावे ऐसी बात नहीं है प्रत्युत दोनों ही कारणों से कार्य सिद्ध होता है ।

बौद्ध—अपने अन्त्य कारणरूप सामग्री में पड़ा हुआ क्षणिक पदार्थ स्वकार्य को करने वाला है, क्योंकि तादृश-कार्यकारी रूप अपने कारण रूप स्वभाव से उत्पन्न हुआ है । किंतु नित्य पदार्थ कार्यकारी नहीं है क्योंकि तादृश स्वकारण रूप स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते हैं ।

जैन इस प्रकार से स्वकारण स्वभाव रूप भावना (उत्तर कार्य को उत्पन्न करने वाले कारणों की वर्तमान कालीन भावना) को कल्पित करके भी स्वस्वभाव का अवश्य ही अन्वेषण करना चाहिये । क्योंकि उस कार्यभूत स्वभाव के निमित्त से उस कार्य के कारण स्वभाव की व्यवस्था की जाती है । इसलिये यह अकारण रूप भी पदार्थ, स्वभाव नियत वाला हो जाता है । अर्थात् यह नित्य है, इसका कारण नहीं है फिर भी कार्य कारण रूप स्वभाव से नियत है यह बात स्वीकार करना चाहिये ।

[एक क्षण के अनन्तर वस्तु का न ठहरना ही क्षणिक का स्वभाव है इत्यादि रूप से बौद्ध अपना पक्ष स्थापित करते हैं ।]

बौद्ध—“क्षणिक की एक क्षण से ऊपर स्थिति नहीं है वही उसकी स्वप्रकृति है ।” अर्थात् एक क्षण से ऊपर वस्तु का न ठहरना ही उसका स्वभाव है क्योंकि वह विनश्वर है । और विनाश

१ नंब । दि० प्र० । २ क्षणिकस्य विशेषोस्तीति दर्शयन्नाह । दि० प्र० । ३ कार्यजननसमर्थसहकारि । दि० प्र० ।
४ प्रविष्टः । व्या० प्र० । ५ प्राक्तनज्ञानकारणात् । व्या० प्र० । ६ स्याद्वाद्याह, कार्यजननसमर्थसहकारिकारणसाम-
ग्रीमिलितः क्षणिकोर्थः स्वकार्यं करोति कस्मात्तादृशात्समर्थसहकारिकारणस्वभावादुत्पन्नत्वात् नित्योर्थः पुनः
स्वकार्यं न करोति इति सहकारिकारणस्वभावं विन्तयित्वापि पदार्थात् स्वकृतिः उपादानस्वभावः अवश्यं विचारणीयाः
सौमतेः स्वप्रकृतिवशात् पुनः कस्मात् कार्यकारणस्वभावव्यवस्थापनत्वात् । यत एवं तत्तस्मादयमर्थः क्षणिको वा
नित्यो वा सहकारिकारणानपेक्षोपि स्वभावेन कार्यकरणममर्थो भवेत् । दि० प्र० । ७ स्वस्य क्षणिकस्यकार्यस्य हेतुः ।
व्या० प्र० । ८ स्वभावं । व्या० प्र० । ९ कार्यभूतभावस्य । दि० प्र० । १० क्षणिकस्वभावः । व्या० प्र० ।
११ सर्वेषां भावनां स्वस्वभाववशात् स्वहेतुप्रकृतिव्यवस्थापनं घटते । कोर्थः उपादानकारणाभावे सहकारिकारणं कार्यं
न करोतीति । दि० प्र० । १२ नित्यः । व्या० प्र० । १३ वमः । व्या० प्र० । १४ कार्यकारणस्वभावनियतः ।
व्या० प्र० । १५ तर्हि किं नामविनश्वरत्वम् । व्या० प्र० ।

स्वभावनियतत्वं च विनश्वरत्वं, न पुनः कालान्तरावस्थायिनः कदाचिन्नाशित्वमहेतुकत्वाद्धि-
नाशस्य^१ । तथा हि । यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत् तद्भावनियतम् । यथान्त्यकारणसामग्री
स्वकार्योत्पादनं प्रत्यनपेक्षा तत्स्वभावनियता^२, विनाशं प्रत्यनपेक्षश्च भावः । इति स्वभाव-
हेतुः । न तावदयमसिद्धः, कलशादेर्विनाशस्य मुद्गरादिहेतुभिव्यतिरिक्तस्याव्यतिरिक्तस्य^३
वा करणासंभवात्^४, तं प्रति तदनपेक्षत्वसिद्धेः । घटादेर्व्यतिरिक्तस्य विनाशस्य करणे
तदवस्थत्वप्रसङ्गाद्धिनष्ट इति प्रत्ययो न स्यात् । विनाशसंबन्धाद्धिनष्ट इति प्रत्ययोत्पत्तौ

स्वभाव का निश्चय ही विनश्वरत्व है किंतु कालान्तर में भी अवस्थायी पदार्थ कदाचित् विनश्वर नहीं है क्योंकि विनाश अहेतुक है ।

तथाहि । विनाश के प्रति कुछ भो हेतु नहीं है इसी का स्पष्टीकरण करते हैं ।

“जो जो जिस भाव के प्रति अनपेक्ष है वह वह उस भाव का नियम निश्चित है ।”

जिस प्रकार से अन्त्य क्षण कारण सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करने के प्रति अनपेक्ष है उस स्वभाव से नियत है, उसी प्रकार से पदार्थ भी विनाश के प्रति अनपेक्ष है । इस प्रकार यह स्वभाव हेतु है ।

यह हमारा हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि कलशादि का विनाश मुद्गरादि हेतुओं से भिन्न है अथवा अभिन्न !

इस प्रकार से दो विकल्प करने पर भी घटादि का विनाश मुद्गरादि हेतु से असम्भव ही है । इसलिये विनाश के प्रति मुद्गर आदि की अपेक्षा नहीं है यह बात सिद्ध ही है । यदि प्रथम पक्ष लेवें कि मुद्गरादि से घटादि का विनाश उस घटादि से भिन्न ही किया जाता है, तब तो घड़ा उसी रूप ही अवस्थित रहेगा पुनः घड़ा नष्ट हो गया यह प्रत्यय ही नहीं होगा क्योंकि विनाश तो उस घड़े से भिन्न ही है ।

यदि आप कहें कि विनाश के सम्बन्ध से नष्ट हो गया इस प्रकार का प्रत्यय उत्पन्न हो जाता है तब तो ऐसा मानने पर विनाश और विनाशवान में कोई सम्बन्ध कहना ही चाहिये । किन्तु

। बौद्धमते क्षणक्षयोऽहेतुकः । व्या० प्र० । २ सौमतो यौगादि प्रतिवादिनं प्रतिवदति । मुद्गरादिभिः सहकारिकारणैः क्रियमाणो विनाशो घटादेः सकाशाद्भिन्नोऽभिन्नो वा इति विकल्पः उभयस्यापि कारणं न घटते । कस्मात् विनाशं प्रति तस्य कलशादेर्मुद्गरादि सहकारिकारणापेक्षया न सिद्धयति यतः = घटादेर्विनाशोभिन्नश्चेत्तदा तस्य विनाशस्य करणे तस्य घटादेः अवस्थानत्वं प्रसजति कोर्थः विनष्ट इति निश्चयो न भवेत् । आह परः विनाशसंबन्धाद्धिनष्ट इति प्रत्यय उत्पद्यते इति चेत्तदुत्पत्तौ सत्यां हि योग, विनाशविनाशवतोः कश्चनसंबन्धः कथनीयः = तावत्स च संबन्धः तादात्म्यलक्षणः नास्ति । कस्मात्तयोः विनाशविनाशवतोः भेदोज्जीक्रियते यतो यौगादिभिः । दि० प्र० । ३ भिन्न-स्य । व्या० प्र० । ४ क्षणिकोर्थः विनाशस्वभावनियतो भवितुमर्हति विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वात् । निष्पादन । व्या० प्र० ।

विनाशतद्वतोः कश्चित्संबन्धो वक्तव्यः । स च न तावत्तादात्म्यलक्षणस्तयोर्भेदोपगमात् । नापि तदुत्पत्तिलक्षणो घटादेस्तदकारणत्वात् तस्य मुद्गरादिनिमित्तकत्ववचनात् । तदुभयनिमित्तत्वाददोष ^१इत्यप्यसारं, मुद्गरादिवद्विनाशोत्तरकालमपि कुम्भादेरुपलम्भप्रसङ्गात्^२ । कुटादेः स्वविनाशं परिणामान्तरं लक्षणं प्रत्युपादानकारणत्वान्न तत्काले दर्शनमित्यपि^३ न युक्तं, परिणामान्तरस्यैव हेत्वपेक्षत्वसिद्धेः, विनाशस्य ^४तद्व्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वव्यवस्थितेः सुगत-

तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध तो आप कह नहीं सकते क्योंकि विनाश और विनाशवान में आपने भेद स्वीकार किया है । एवं तदुत्पत्तिलक्षण सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है अर्थात् घट से विनाश की उत्पत्ति होती है ऐसा सम्बन्ध कहें तो भी घटादि तो विनाश के प्रति अकारण है, वह तो विनाश मुद्गरादि निमित्तक ही कहा गया है ।

शंका—वह विनाश घट और मुद्गर इन दोनों के निमित्त से हुआ है इसलिये दोनों को निमित्त मान लेने से कोई दोष नहीं आता है ।

समाधान—यह कथन भी असारभूत है । जिस प्रकार से मुद्गरादि घट विनाश के उत्तर काल में भी देखे जाते हैं, उसी प्रकार से विनाश के उत्तर काल में भी कुम्भादि की उपलब्धि का भी प्रसंग प्राप्त हो जायेगा । क्योंकि विनाश के लिये दोनों ही तो कारण कारण रूप से समान ही हैं । किन्तु ऐसा नहीं है यदि आप कहें कि घटादि पदार्थ अपने विनाशरूप परिणामान्तर लक्षण (कपालमाला) के प्रति उपादानकारण हैं ।

इसलिये विनाश के उत्तरकाल में वे घटादि नहीं देखते हैं । आप जैनों का ऐसा कहना भी युक्त नहीं है । क्योंकि कपालमाला लक्षण परिणामान्तर ही हेतु की अपेक्षा रखता है यह बात सिद्ध है । यदि आप कहें कि विनाश उस कपाल लक्षण से भिन्न हेतु की (मुद्गरादिक) अपेक्षा नहीं रखता है, ऐसी व्यवस्था है । तब तो आपके यहाँ सुगत मत की सिद्धि का प्रसंग आ जायेगा । क्योंकि सर्वथा विनाश को निर्हेतुक कहना सुगत मत नहीं है ।

प्रश्न—तो क्या है ?

उत्तर—‘कार्य को उत्पन्न करने वाले हेतु से भिन्न हेतु की अपेक्षा न करना’ यह सौगत का मत है । इस प्रकार से ‘विनाश भिन्न हेतुक है’ इस नैयायिकभिमत वाद का अंत हो जाता है अर्थात्

१ विनाशोत्पत्तिलक्षणोपि संबन्धो न कस्माद् घटादेस्तस्य विनाशस्य कारणं नास्ति यतः = अत्राह यौगः घटादिमुद्गरादि उभयं मिलित्वा विनाशनिमित्तं भवति न कश्चिदोष इति चेदाह सौगतः एतदसारं । दि० प्र० । २ विनाशकारणत्वाविशेषात् । दि० प्र० । ३ अत्राह यौगादिः कश्चिद् घटादिः परिणामान्तरस्वरूपं आत्मविनाशं प्रति उपादानकरणमस्ति यतस्तस्माद्विनाशकाले घटादेर्दर्शनं नास्ति इति चेदाह बौद्धः । यदुक्तं यौगादिना तदपि न युक्तं । कस्मात् घटादेः कपालादिलक्षणस्य परिणामान्तरस्य मुद्गरादिहेतुमपेक्षयामि द्विषटतो विनाशः कार्यजनकहेतोः सकाशाद्भिन्नहेतुमनपेक्ष्य व्यवतिष्ठते । कोर्थः कार्यजनकहेतुरेवविनाशहेतुः अन्यो नेति सुगतमतसिद्धिः । दि० प्र० । ४ कार्यजनकहेतुः । दि० प्र० ।

मतसिद्धिप्रसवतेः । सुगतमतं हि न सर्वथा विनाशस्य निर्हेतुकत्वम् । किं तर्हि ? कार्यजनक-हेतुव्यतिरिक्तहेतुत्वनपेक्षत्वमिति वादावसानं स्यात् । विनाशतद्वतोविशेषणविशेष्यभावः सम्बन्ध इत्यपि मिथ्याभिधानं परस्परसंबद्धयोस्तदनुपलब्धेः^१ । ^२प्रागभावत्^३ द्वतोविशेषणविशेष्य-भावोनेनैव^४ निरस्तः^५ । ^६कार्यकारणयोरस्येदं कार्यमिति विशेषणविशेष्यभावः कथमित्यपि न श्लोघं, तत्र तद्व्यवहारस्य कार्यकारणभावनिबन्धनत्वात्, तद्व्यतिरेकेण भिन्नयोर्विशेषण-विशेष्यभावासंभवात्^७ । ततोन्तर्धान्तरं^८ विनाशः कारणैः क्रियते इति पक्षान्तरमपि न सम्यक्,

विनाश कपाल रूप कार्य को उत्पन्न करने वाले घट हेतु से हुआ है अतः उस घट की अपेक्षा से सहित है मतलब कपाल लक्षण कार्य उत्तरक्षण है उसको उत्पन्न करने वाला हेतु समनंतर घट लक्षण है, उससे भिन्न हेतु मुद्गर आदि हेतुओं को अपेक्षा नहीं रखता है किन्तु घट की अपेक्षा रखता है ।

नैयायिक—विनाश और विनाशवान् में विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है ।

बौद्ध—यह कथन भी मिथ्या ही है । क्योंकि परस्पर में वह विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध उपलब्ध नहीं होता है । “प्रागभाव और प्रागभाववान् में विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है” इस कथन का भी उपर्युक्त कथन से खण्डन कर दिया गया है । तथा “कार्य-कारणभाव में यह इसका कार्य है” इस प्रकार का विशेषण-विशेष्यभाव कैसे होता है ? इस प्रकार से भी शंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि वहाँ कार्य कारणभाव में जो विशेषण-विशेष्यभाव लक्षण व्यवहार होता है । वह कार्य कारण भाव के निमित्त से होता है । क्योंकि परस्पर सम्बन्धित कार्य कारणभाव के बिना भिन्न दो पदार्थों में विशेषण-विशेष्यभाव असम्भव ही है ।

इसलिये ‘घट का विनाश मुद्गर—आदि कारणोंके द्वारा उस घट से अभिन्न ही किया जाता है ।’ यह (योगाभिमत) दूसरा पक्ष भी सम्यक् नहीं है । क्योंकि यदि अपने कारण रूप मृत्पिंडादि से उत्पन्न हुआ—विनाश घटात्मक-घट से अभिन्न ही माना जायेगा तब तो सभीभिन्न कारण व्यर्थ ही हो जायेंगे । अन्यथा परापर कारणों की उपरति ही नहीं हो सकेगी । इसलिये सभी पदार्थ विनाश स्वभाव वाले हैं क्योंकि वे विनाश के प्रति अन्य की अपेक्षा नहीं रखते हैं यह बात सिद्ध हो गई है ।

भावार्थ—यहाँ बौद्ध विनाश को निर्हेतुक सिद्ध कर रहा है । उसका कहना है कि घट के विनाश में मुद्गर हेतु नहीं है किन्तु यह विनाश उस घट का स्वभाव है एवं घट के फूटने पर उत्पन्न हुये कपालों को वह मुद्गर हेतुक कहता है । इसलिये उसने विनाश घट से भिन्न है या अभिन्न ? ऐसे

१ विनाशविनाशवतोः संबन्धरहितयोः विशेषणविशेष्यभावो न दृश्यते यतः । दि० प्र० । २ उत्पत्ते प्राक् । दि० प्र० । ३ विनाशस्य प्रागभावो घटः । दि० प्र० । ४ तद्वान् विनाशः । दि० प्र० । ५ संबद्धयोरेव विशेषणविशेष्यभावो यदि तदा । दि० प्र० । ६ योगी वदति उपादानोपादेययोः विशेषणविशेष्यभावोऽस्तीति चेत् न अयमपि भावः अनेनैव विनाशविनाशवतोः विशेषणविशेष्यभावसंबन्धनिराकरणेन निराकृतः । दि० प्र० । ७ कार्यकारणरहितेन भिन्नयोः कार्यकारणयोः विशेषणविशेष्यभावो न संभवति । दि० प्र० । ८ तादात्म्य । दि० प्र० ।

स्वकारणादुत्पन्नस्य कुटात्मनो विनाशस्य 'कारणान्तराणां' वैयर्थ्यात् । अन्यथा परापर-
कारणानुपरमः² स्यात्³ ।

[जैनाचार्या बोद्धस्य मंतव्यं निराकुर्वन्तः स्थितेनिहेतुकत्वं साधयन्ति]

इति⁴ भावानां⁵ विनाशस्वभावत्वं साधनं स्थितेरपि निर्निमित्तत्वं साधयेत् । तथा
हि । यद्यद्भावं⁶ प्रत्यनपेक्षं तत्तद्भावनियतम्⁷ । यथा विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षं विनश्वरम् ।
तथैवं स्थितिं प्रत्यनपेक्षं स्थासु वस्तु । इति स्वभावहेतुः । न⁸ चायमसिद्धः, ⁹तद्धेतोरकिञ्चि-
त्करत्वात् तद्व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताकरणात्¹⁰ इत्यादि सर्वं समानम् । न हि वस्तुनो व्यति-

दो विकल्प उठाकर दोनों में दोषारोपण कर दिया है । आगे जैनाचार्य स्वयं अपना मंतव्य बतलाते
हुये पहले स्थिति को निर्हेतुक सिद्ध कर रहे हैं ।

[जैनाचार्य बोद्धों के मंतव्य का खंडन करते हुये स्थिति को निर्हेतुक सिद्ध कर रहे हैं ।]

जैन— इस प्रकार से पदार्थों में विनाश-स्वभाव को सिद्ध करने वाला हेतु स्थिति को भी
निर्निमित्तक सिद्ध करता है ।

तथाहि । जो जिस भाव के प्रति अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है, वह उस भाव का नियत है ।
जैसे विनाश के प्रति अन्य की अपेक्षा न रखने वाला विनश्वर पदार्थ । उसी प्रकार से स्थिति के प्रति
अन्य की अपेक्षा न रखने वाली स्थासु वस्तु है । अर्थात् "नित्य पदार्थ स्थिति स्वभाव वाला ही होने
योग्य है क्योंकि उस भाव के प्रति अन्य की अपेक्षा नहीं रखने वाला है ।" इस तरह यह स्वभाव हेतु
असिद्ध भी नहीं है क्योंकि उस स्थिति के प्रति वह हेतु अकिञ्चित्कर ही है । वस्तु से उसकी स्थिति
भिन्न या अभिन्नरूप से नहीं की जाती है । इत्यादि सभी कथन पूर्वोक्त विनाश में दिये गये के समान
ही समझना ।

[यहाँ जैनाचार्य वस्तु से स्थिति सर्वथा भिन्न है या अभिन्न ? इन दोनों पक्षों में दूषण दिखा रहे हैं ।]

यदि प्रथम पक्ष लेवें कि वस्तु से उसकी स्थिति भिन्न है तब तो वस्तु से भिन्न स्थिति उस
वस्तुरूप कारणों से नहीं की जाती है क्योंकि उस वस्तु को अवस्थास्नुपने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ।

1 मुद्गरादि । व्या० प्र० । 2 मुद्गरादि । दि० प्र० । 3 अनवस्था । दि० प्र० । 4 एवम् । दि० प्र० । 5 अत्राह स्या-
द्वादी, हे सौम्य भावानां यद्विनाशस्वभावसाधनं तदेव स्थितेरपि निर्हेतुकत्वं साधयति । तथाहि अनुमानरचनं वस्तुपक्षः ।
स्थासु भवतीति साध्यो धर्मः स्थितिं प्रत्यनपेक्षत्वात् । यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत्तद्भावनियतम् । यथा विनाशं
प्रत्यनपेक्षं विनश्वरं स्थितिं प्रत्यनपेक्षं वस्तु तस्मात्स्थासु । दि० प्र० । 6 नित्योर्थः स्थितिस्वभावनियतो भवितुमर्हति
तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वात् । व्या० प्र० । 7 साध्यम् । व्या० प्र० । 8 स्याद्वादी वदति स्थितिं प्रत्यनपेक्षत्वात्
इत्ययं स्वभावहेतु असिद्धो न । कस्मात्तद्धेतोः स्थितिस्थितिमतो किञ्चित्कारणं नास्ति । पुनः कस्मात् । ततः
स्थितिमतः सकाशात्स्थितिभिन्ना अभिन्नावान् क्रियते यतः । स्थिति हेतुभिः इत्यादि सर्वं विनाशपक्षवद्दूषणादिकं
समानं अस्यैव प्रपञ्चः अग्रे ज्ञातव्यः वस्तुनः सकाशात् भिन्नास्थितिः हेतुना न हि क्रियते क्रियते चेत्तस्य वस्तुनः
अस्थिरत्वमापद्यते । दि० प्र० । 9 स्थितिकारणस्य । दि० प्र० । 10 स्थितेः । व्या० प्र० ।

रिक्ता स्थितिस्तद्धेतुना क्रियते तस्यास्थास्नुत्वापत्तेः । ^१स्थितिसंबन्धात्तस्य स्थास्नुतेति चेन्न, स्थितितद्वतोः कार्यकारणभावासंभवात् सहभावात्तयोः, असहभावे स्थितेः पूर्वं तत्कारणस्या-स्थितिप्रसवतेः, स्थितेरपि ^२स्वकारणादुत्तरकालमनाश्रयत्वानुषङ्गात्^३ । तयोराश्रयाश्रयिभावः^४

यदि आप कहें कि स्थिति के सम्बन्ध से वस्तु में स्थास्नुता-स्थिरता है तो यह भी कथन ठीक नहीं है, स्थिति और स्थितिमान् में कार्य-कारणभाव ही असंभव है क्योंकि उन दोनों में सहभाव है। उन स्थिति और स्थितिमान् में सहभाव के न मानने पर स्थिति के पहले उस कारणरूप-स्थितिमान् वस्तु को अस्थित (नहीं रहना) का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। और स्थिति भी स्वकारण से उत्तरकाल में अनाश्रयपने को प्राप्त हो जायेगी अर्थात् स्थिति के पहले स्थितिमान् नहीं हो सकता है स्थितिमान् के न रहने से स्थिति को आश्रय देने वाला कोई नहीं रहने से उस स्थिति का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

यदि आप कहें कि—उन स्थिति और स्थितिमान् में आश्रय आश्रयीभाव सम्बन्ध है। सो भी नहीं कह सकते। क्योंकि भिन्न-भिन्न उन दोनों में कार्य-कारणभाव का अभाव होने से आश्रय-आश्रयीभाव स्वीकृत नहीं किया गया है। कुंड और बेर के समान। अर्थात् कुंड के अवयव कारण हैं और अवयवी कार्य हैं इसी प्रकार से बेर के अवयव कारण हैं और अवयवी कार्य हैं इस तरह से कुंड और बेर अपने-अपने स्वरूप से कार्य-कारणरूप से निष्पन्न हुये हैं जैसे उनमें आश्रय-आश्रयीभाव पाया जाता है वैसा इस प्रकृत में नहीं है।

यदि दूसरा पक्ष लेवें कि वस्तु से उसकी स्थिति अभिन्न रूप है और वह स्थिति, हेतु से की जाती है तो यह पक्ष भी श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि वह स्थिति हेतु व्यर्थ हो जाता है यदि कहो कि जो स्थिति स्वभाव वाली वस्तु है उसकी स्थिति की जाती है तब तो उसके कारणों की उपरति ही नहीं हो सकेगी और स्वयं जो स्थिति स्वभाव वाली नहीं है उस वस्तु की स्थिति को करना ही असंभव है। अर्थात् यहाँ पर भी दो पक्ष उठाये गये हैं कि स्थिति स्वभाव सहित वस्तु की स्थिति की जाती है या स्थिति स्वभाव रहित वस्तु की? प्रथम पक्ष में तो स्थिति स्वभाव सहित की स्थिति क्या होगी? जबरदस्ती मानों तो कभी भी उसके कारण खतम नहीं होंगे और द्वितीय पक्ष में स्थिति स्वभाव रहित वस्तु की स्थिति कैसे हो सकेगी? जैसे कि उत्पत्ति स्वभाव से रहित खर शृंग आदि की उत्पत्ति का अभाव ही है।

। अत्राह योगादिः प्रतिवादी कस्यचित् स्थितिसंयोगात्तस्य वस्तुनः स्थाणुत्वं घटते इति चेन्न । कस्मात् स्थिति-स्थितिमतोः कार्यकारणभावो न संभवति यतः पुनः कस्माद्युगपत्तत्वात् तयोः स्थिति स्थितिमतोः अहसभावे सति स्थितेः प्राक्करणेवस्तुनः अस्थिति प्रमजति पुनः वस्तुनः सकाशात्पश्चात्कालं स्थितेः करणे सति आश्रयत्वाभावः अनुषजति अत्राह प्रतिवादी योगादिः कश्चित् । दि० प्र० । 2 वस्तुनः । व्या० प्र० । 3 वस्तुनः । व्या० प्र० । 4 पर आह स्थितिस्थितिमतोराश्रयाराश्रयीभावो नाम संबन्धोस्तीति चेत् न कस्मात्तयोः सर्वथाभिन्नयोः कार्यकारणत्वाभावे सति आश्रयाश्रयीभावः अभ्युपगम्यते परं यतः । कोर्थः कार्यकारणं विना आश्रयाश्रयीभावो न घटते यथा कुण्डव-दराणाम् । दि० प्र० ।

संबन्ध इति चेन्न, अर्थान्तरभूतयोः कार्यकारणभावाभावे तदभावाभ्युपगमात् कुण्डबदरवत् । तदव्यतिरिक्ता स्थितिस्तद्धेतुना विधीयते इत्ययमपि पक्षो न श्रेयान्, तद्वैयर्थ्यात्, स्थिति-स्वभावस्यापि स्थितिकरणे तत्कारणानामनुपरमप्रसङ्गात्^१, स्वयमस्थितिस्वभावस्य स्थिति-

जैन—इसलिये पदार्थ निश्चित ही स्थिति स्वभाव वाला है क्योंकि स्थिति सर्वदा अहेतुक है ।

भावार्थ—बौद्ध का कहना है कि प्रत्येक वस्तु एक क्षण मात्र ठहरती है दूसरे ही क्षण में आमूल चूल समाप्त हो जाती है, इसी का नाम क्षणिक सिद्धांत है । तथा उसकी एक मान्यता और भी बड़ी विचित्र है । यहाँ उसका कहना है कि वस्तु का विनाश अहेतुक है । किन्तु जैनाचार्य इसकी मान्यता का खंडन करते हैं । उनका कहना है कि एक तो वस्तु का प्रतिक्षण विनाश असंभव है । क्योंकि वस्तुओं का बहुत काल तक रहना भी देखा जाता है । तथा विनाश का अहेतुक कहना भी गलत है क्योंकि मुद्गर से घड़े का फूटना देखा जाता है । बौद्ध का कहना है कि मुद्गर की चोट से घड़ा फूटा, इसमें घड़े के फूटने में मुद्गर कारण नहीं है किन्तु कपालों के उत्पादन में मुद्गर कारण अवश्य है एवं विनाश को सहेतुक मानने वालों के प्रति वह बौद्ध अनेकों दोष दिखा रहा है ।

प्रथम ही उसका प्रश्न है कि घड़े का विनाश यदि मुद्गर से हुआ है तो वह घड़े का विनाश मुद्गर कारण से भिन्न है या अभिन्न ?

यदि मुद्गर कारण से घट का विनाश होना भिन्न है तब तो घड़ा जैसे का तैसा ही रहा । यदि द्वितीय पक्ष लेवो कि मुद्गर कारण से किया गया घट का विनाश घट से अभिन्न है तब तो घट से अभिन्न विनाश के होने से अन्य दूसरे कारण घट के विनाश में व्यर्थ ही रहे अतः विनाश को अहेतुक मानना ठीक है । बौद्ध की इस बात को सुनकर जैनाचार्य कहते हैं कि जैसे आप विनाश को निहेतुक मानते हो और कारण सहित मानने में दोषारोपण करते हो वैसे ही हम आप विपरीत स्थिति को निहेतुक सिद्ध कर रहे हैं । वस्तु की स्थिति अथत् वस्तु का ठहरना, रहना आदि यह वस्तु का ध्रौव्य रूप अस्तित्व भी कहा जा सकता है । देखिये ! स्थिति को सकारणक मानने वालों के प्रति हम भी पूर्वोक्त दोषों का आरोप करते हैं । प्रथम ही प्रश्न होता है कि वस्तु में जो स्थिति है यदि वह स्थिति अन्य कारणों के द्वारा की जाती है तब तो यह बताओ कि वह वस्तु वकी स्थिति जिन कारणों से की गई है वे कारण उस स्थिति से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न कहो तो उस वस्तु की स्थिति को करने वाले कारणों के स्थिति से भिन्न ही रहने पर तो वस्तु का स्थिर स्वभाव नहीं रहेगा । प्रत्येक वस्तु में अस्थिरपना ही सिद्ध हो जावेगा । यदि द्वितीय पक्ष लेवो कि जिन कारणों से वस्तु में स्थिति की जाती है वे कारण उस स्थिति से अभिन्न हैं तब तो वे कारण व्यर्थ ही रहे । दूसरी बात यह भी है कि यदि वस्तु की स्थिति अन्य कारणों से की जाती है तब तो वस्तु और उसकी स्थिति ऐसे दो हो गये और जिसमें स्थिति की जाती है वह वस्तु स्थितिमान् हो गई जैसे धन से व्यक्ति धनी किया जाता है अतः धन और धनवान् ये दो चीजें सिद्ध हैं । एवं दो चीज हो जाने पर प्रश्न यह होता है

१ स्थितेर्वस्तुनो व्यतिरिक्ताया अकरणयतः । व्या० प्र० ।

करणायोगादनुत्पत्तिस्वभावस्योत्पत्तिकरणायोगवत् । ततः स्थितिस्वभावनियतोर्थः^१ स्यात् सर्वदा स्थितेरहेतुकत्वात्^२ ।

[वस्तुनो स्थित्युपादानवत् तदन्तेऽपि स्थितिः स्वीकर्तव्या ।]

^३तदेवमादौ ^४स्थितिदर्शनाच्छब्दविद्युत्प्रदीपादेरन्तेपि स्थितेरनुमानं^५ युक्तम् । अन्यथान्ते क्षयदर्शनादादौ तत्प्रतिषत्तिरसमञ्जसं च । तादृशः कारणादर्शनेपि कथञ्चिदुपादानानुमानवत्^६ तत्कार्यसन्तानस्थितिरदृष्टाप्यनुमीयेत । शब्दविद्युदादेः साक्षादनुपलब्धमुपादा-

किं स्थितिमान् वस्तु में स्थिति को करने के पहले वह वस्तु किस रूप है ? शायद स्थिति के पहले तो वह वस्तु आकाश पुष्प के समान अभावरूप ही रहेगी यदि कहो कि स्थिति को करने के पहले वह वस्तु सद्भाव रूप है तब तो उसमें स्थिति को करने का क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? वह तो स्वयं सद्भाव यानी स्थिति रूप ही है । अतः स्थिति और स्थितिमान् में कारण कार्य भाव मानना शक्य नहीं है । इसलिये प्रत्येक वस्तु स्थिति स्वभाव वाली ही सिद्ध हो जाती है, पुनः स्थिति को अन्य कारणों से मानकर सहेतुक कहना गलत है प्रत्युत वस्तु को स्थिति अहेतुक ही है । द्रव्यार्थिक नय से प्रत्येक वस्तुयें अनादि अनंतरूप हैं एवं पर्यायार्थिक नय से प्रत्येक वस्तुयें उत्पाद व्ययरूप भी मानी गई हैं । अतः प्रत्येक वस्तु का ध्रौव्यगुण या अस्तित्व पर की अपेक्षा नहीं रखते हुये शाश्वत विद्यमान है ।

[वस्तु की स्थिति के उपादान के समान अन्त में भी उसकी स्थिति स्वीकार करना चाहिये ।]

इस प्रकार से आदि में शब्द, विद्युत्, प्रदीप आदि वस्तुओं की स्थिति देखने से अन्त में भी उनकी स्थिति का अनुमान करना युक्त ही है अन्यथा अन्त में क्षय—विनाश को देखने से आदि में उस क्षय का ज्ञान करना असमञ्जस ही हो जायेगा । उसी के सदृश-प्रारम्भ में स्थितिमान् की उत्पत्ति के कारणों को नहीं देखने पर भी उनकी कार्य संतान स्थिति अदृष्ट होते हुये भी अनुमित करना ही चाहिये । कथञ्चित् उपादान का अनुमान के समान ।

भाषार्थ—शब्द, विद्युत् आदि का उत्पत्ति के प्रति कथञ्चित् उपादान का अनुमान आप बौद्धों ने माना ही है उसी प्रकार से उन विद्युत् शब्द प्रदीप आदिकों के कार्य संतान की स्थिति, अदृष्ट होते

१ साध्यः । व्या० प्र० । २ स्याद्वाद्याह अर्थः पक्षः स्थितिस्वभावनियतो भवतीति साध्यो धर्मः स्थिति प्रति कारणानपेक्षत्वात् यथा विनाशं प्रत्यनपेक्षो विनाशः = शब्दविद्युत्प्रदीपादि पक्षः अन्तेपि स्थितिमान् भवतीति साध्यो धर्मः आदौ स्थितिदर्शनत्वान्यथानुपपत्तेः इत्यनुमानं युक्तं । अन्यथा अन्तेपि स्थितेरनुमानं युक्तं न भवति चेत्तदा । आदौ तस्य शब्दविद्युत्प्रदीपादेः निस्थितिरसत्या भवतु इत्यारोपः । अन्ते क्षयदर्शनात् । दि० प्र० । ३ वस्तुनः स्थितिस्वभावनियतत्वे सति । व्या० प्र० । ४ ननु कथमिदं सर्वभावानां स्थितिस्वभावनियतत्वसाधनं संगतं शब्दविद्युत्प्रदीपादिनाऽनेकान्तादित्याशंकायामाह । व्या० प्र० । ५ अन्तेस्थितिमतः । व्या० प्र० । ६ आद्यशब्द क्षणः सजातीयोपादानपूर्वकः कार्यत्वात् शब्द क्षणवत् । अन्त्यशब्दसजातीयोपादेयजनकस्तत एव तद्वत् । व्या० प्र० ।

नमनुमीयते निर्णिबन्धनोत्पादप्रसङ्गभयान्न पुनस्तदुत्तरकार्यमवस्तुत्वानुषङ्गभयादिति^१ किमपि महामोहविलसितम् । शब्दादेरुत्तरकार्याकरणेपि योगिज्ञानस्य करणान्नावस्तुत्वप्रसक्तिरिति चेन्न, ^२आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य रूपाकरणेपि रससहकारित्वप्रसङ्गात्, ततो रसाद्रूपानुमानानुपपत्तेरनिष्टप्रसङ्गात् । तथा ^३दृष्टत्वान्नेहानिष्टप्रसङ्ग इति चेत्, किं पुनः शब्दादेव शब्दस्योत्पत्तिरुपलब्धा कदाचित् ? शङ्खादिशब्दसंततौ मध्यावस्थायां शब्दादेव शब्दस्योत्पत्तिर्दृष्टेति चेत् कथमुत्तरशब्दोत्पत्तिरदृष्टा ? तथैव तद्दृष्टेरिति शब्दादेर्योगि-

हुये भी आप बौद्धों को मानना ही चाहिये । मतलब बौद्ध का कहना है कि शब्द, बिजली, दीपक आदि तो स्पष्टतया क्षणिक हैं उत्पन्न होते ही तो नष्ट हो जाते हैं अतः उनकी स्थिति जैनों ने कैसे मान ली ? इस पर आचार्य कहते हैं कि आप शब्द, बिजली आदि के उपादान कारणों को तो स्वीकार कर लेते हो वैसे ही उनका आगे का कार्य नहीं दिखता है तो अनुमान से मान लेना चाहिये ।

शब्द, विद्युत् आदिकों के उपादान को साक्षात् उपलब्ध न करते हुये भी उस उपादान को आप बौद्धों ने माना है क्योंकि निनिमित्तक उत्पाद का प्रसंग न आ जावे इस भय से तो आपने उत्पत्ति का उपादान स्वीकार कर लिया है किन्तु वस्तु की स्थिति का उपादान न मानने पर उत्तरकाल में उसे अवस्तुपने का प्रसंग आ जायेगा । इसका भय आपको नहीं है यह तो कुछ एक महामोह का ही विलास है । अर्थात् शब्द, बिजली आदि के उपादान कारण दिखते नहीं हैं फिर भी बौद्धों ने उसे मान लिया है क्योंकि उनके यहाँ उत्पाद को निहेतुक नहीं माना है । अतः किसी के भी उत्पाद को निहेतुक मानने से डरते हैं किन्तु वस्तु की स्थिति का उपादान न मानने से वस्तु अवस्तु हो जायेगा । इस बात का इन्हें डर नहीं है ।

बौद्ध—शब्दादि उत्तर कार्य को नहीं करने पर भी योगी के ज्ञान रूप कार्य को करते हैं इसलिये उनके अवस्तुपने का प्रसंग नहीं आता है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । आस्वादित किये गये रस के समान काल में रूप का उपादान भूत पूर्व रूप क्षण रूप को नहीं करता है फिर भी उस रस के उत्पादन में वह सहकारी कारण बन जायेगा । और उस रस से रूप का अनुमान नहीं हो सकता है अन्यथा अनिष्ट का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् उत्तर कालीन रूप को नहीं करने से उत्तर रस के समय में रूप का असत्त्व हो जाने से उसका अनुमान नहीं हो सकता है ।

१ स्थितिरूपेण कार्यमनुमेयं कथं न तावत् । व्या० प्र० । २ आस्वाद्यमानरसेन समानः कालो यस्य तच्च तद्रूप च तस्य यदुपादानं प्राक्कनरूपं तस्योत्तरकार्यभूत रूपाकरणे । व्या० प्र० । ३ अत्राह बौद्धः रसाद्रूपानुमानं दृष्टं जनैः । तत् इह रसाद्रूपानुमाने अनिष्ट प्रसंगो न इति चेत् । दि० प्र० ।

ज्ञानकरणवदुत्तरशब्दादिकरणमनुभीयतां, रूपोपादानाद्रूपोत्पत्तिवत् । तस्मात् कथंचन स्थिति-
मतः प्रतिक्षणं विवर्तोपि नान्यथा, गगनकुमुमवत्^२ । यदि^३ पुनः परमार्थतः कार्यकारण-
भावस्याभावाद्विरोध्यविरोधकभावादिवत्^४ प्रतिक्षणं विवर्तोपि नेष्यते संविदद्वैताभ्युपगमादिति
मतिस्तदा प्रभवादेरयोगात् कुतः प्रेत्यभावादिः ?

बौद्ध—सजातीय उत्तर कार्य को करने के प्रकार से वैसा ही देखा जाता है अतः रूप का अनुमान न करने से रूप अनिष्ट का प्रसंग नहीं आयेगा ।

जैन—यदि ऐसा कहते हो तब तो यह बतलाइये कि शब्द से ही शब्द की उत्पत्ति होते हुये क्या आपने कभी देखी है ? कि जिससे शब्द का उपादान कारण न दिखने पर भी आप अनुमित कर लेते हैं । अर्थात् नहीं कर सकते ।

बौद्ध—शंखादि के शब्दों की संतति के होने पर उसकी मध्य अवस्था में शब्द से ही शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है ।

जैन—पुनः उस शब्द से उत्तर शब्द की उत्पत्ति क्यों नहीं देखी जाती है ?

बौद्ध—उसी प्रकार से ही वे देखे जाते हैं अर्थात् शंख शब्द की परम्परा ध्वनि होने पर मध्य में ही वे शब्द दिखते हैं तो हम क्या करें ।

जैन—तब तो जैसे आपने माना है कि शब्द से शब्दरूप कार्य नहीं होते हैं किन्तु उनसे योगियों का ज्ञानरूप कार्य होता है । उसी प्रकार से आप शब्द से योगी को ज्ञान होने के समान शब्दादि से शब्द आदि का करना भी मान लीजिये जैसे कि पूर्व के रूपक्षण उपादान से उत्तर के रूपक्षण की उत्पत्ति आप मानते हैं ।

१ शब्दः योगिज्ञानं यथानुत्पादयति तथा उत्तरशब्द मपि । दि० प्र० । २ योषाचारः । दि० प्र० । ३ विवादा-
पन्नं पक्षः नोत्पद्यते इति साध्यो धर्मः कथञ्चनस्थितिरहितत्वात् यथा गगन कुमुमं—स्याद्वाद्यभिप्रायः रूपापादानं
रूपं करोति रसादि सहकारि च भवति । तथा शब्दादि उत्तरकार्यं करोति योगिज्ञानि विषयश्च भवति एवं
सर्वोप्यर्थः अनेकां क्रियां करोति । दि० प्र० । ४ अत्राह स्याद्वादी, हे संवेदनाद्वैतवादिन् । यदि पुनः त्वया परमार्थ-
वृत्त्या यथा विरोध्यविरोधकभावात्तथा कार्यकारणाभावात् वस्तुनः प्रतिसमयमुत्पादविनाशलक्षणः पर्यायोनाङ्गी क्रियते,
कस्मात्संवेदनाद्वैताङ्गीकारात् इति न वमतिः इति चेत्तदा उत्पादव्ययादेः पर्यायस्य अघटनात्परलोकादि कुतः न कुतोपि ।
कस्मात् । जैनेरारोप्यमाणस्य प्रेत्यभावपुष्पपापाद्यभावस्य स्वयमेव संवेदनाद्वैतवादिभिः अङ्गीकरणात् । एतद्वचो-
भवतांभीतप्रलापमात्रं दृश्यते । कस्मात्संवेदना द्वैतस्य साधकप्रमाणाभावात्—पुनराह संविन्मात्रं स्वकार्यं करोति न
करोति वा इति विकल्परः । संविन्मात्रं स्वकार्यं न करोति तदा अनर्थक्रियाकारित्वे सति वस्तुत्वं विरुध्यते यथा
सर्वथा नित्यस्य सर्वथा क्षणिकस्य वा संविन्मात्रं स्वकार्यं करोति चेत्तदा कार्यकारणद्वयसिद्धौ द्वैतमायाति—पुनराह
संवेदनाद्वैतं भेदभ्रान्तिं वाधते इति चेत्तदा वाध्यवाधकभावः समायातः । भेदभ्रान्तिर्वाध्या, संवेदनाद्वैतं वाधकं एवं
सति द्वैतमायाति । अथ संवेदनाद्वैतं भेदभ्रान्तिं न वाधते चेत्तदा संवेदनाद्वैतस्य स्थितिनंस्यात् । कस्मात् प्रतिद्वैत-
विनाशाभावात् । दि० प्र० ।

[संवेदनाद्वैतस्य निराकरणं]

स्याद्वादिभिरापाद्यस्य प्रेत्यभावपुण्यपापक्रियाबन्धमोक्षतत्फलाभावस्य^१ स्वयमेवाभ्युपगमादतिभीतप्रलापमात्रमेतदालक्ष्यते, संविदद्वैतस्य साधनासंभवात्^२, संविन्मात्रस्य स्वकार्यकरणेऽनर्थक्रियाकारिणो वस्तुत्वविरोधान्नित्यत्ववत्, तस्य स्वकार्यकरणे कार्यकारणस्वभावसिद्धेः ।

इसलिये कथंचन-द्रव्य की अपेक्षा से स्थितिमान् वदार्थ में प्रतिक्षण विवर्त पर्यायों भी हो सकती हैं । अन्यथा-स्थितिमान् के अभाव में तो उसकी पर्यायों भी नहीं हो सकती हैं ।

जैसे कि आकाश पुण्य की पर्यायों नहीं हो सकती हैं ।

यदि पुनः विरोध्य विरोधक भावादि के समान परमार्थ से कार्य-कारणभाव का अभाव होने से प्रतिक्षण होने वाली पर्यायों को भी आप स्वीकार नहीं करते हैं । तथा संवेदनाद्वैत को स्वीकार करते हैं ।

तब तो प्रभवादि-कार्य आदि भावों का अभाव होने से प्रेत्यभाव आदि भी कैसे हो सकेंगे ?

[संवेदनाद्वैत का निराकरण]

तथा स्याद्वादियों के प्रदर्शित प्रेत्यभाव, पुण्य पाप क्रिया बंध और मोक्ष और उनका फल इन सबके अभावरूप दूषण को आप (बौद्ध) योगाचारों ने तो स्वयं ही स्वीकार कर लिया है । अतएव आपके वचन अतिभय से प्रलाप मात्र ही मालूम पड़ते हैं । क्योंकि संवेदनाद्वैत की सिद्धि असम्भव है ।

संविन्मात्र—विज्ञान तत्त्व मात्र उत्तरक्षणरूप ज्ञान कार्य को नहीं करता है इसलिये वह अर्थ-क्रियाकारी नहीं है, अतएव वह वस्तु रूप भी नहीं हो सकता है । एवं जैसे कि सर्वथा नित्यत्व में वस्तुत्व का विरोध है । अर्थात् विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध एक ज्ञान मात्र ही तत्त्व मानते हैं उस ज्ञान की स्थिति भी एक क्षणमात्र ही मानते हैं अतः पूर्वक्षण का ज्ञान उत्तरक्षणरूप ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता है । अतः वह किसी अर्थक्रिया को न करने से अवस्तु ही हो जाता है ।

और यदि आप कहें कि संवित् मात्र स्वकार्य-उत्तरक्षणरूप ज्ञान कार्य को करता है तब तो उसमें कार्य कारण सिद्ध हो जाता है । अर्थात् कार्य-कारणभाव के सिद्ध हो जाने से भी द्वैत का प्रसंग आने से संवेदनाद्वैत की सिद्धि नहीं होगी ।

१ पुण्यादि । दि० प्र० । २ तत्प्रतिष्ठामेव नेयति कुतः कार्यकारणभावाद्यभावः स्यादित्यर्थः किञ्च संविन्मात्रं किञ्चित् कार्यं करोति न वा ॥ व्या० प्र० ।

[सवेदनाद्वैतं भेदभ्रान्तिं बाधते न वा ? उभयपक्षे दोषानाहुः ।]

संविदद्वैतेन भेदभ्रान्तिबाधने बाध्यबाधकभावः । तदबाधने तस्याव्यवस्थितिः, प्रति-
पक्षव्यवच्छेदाभावात् ।

[कार्यकारणयोः सर्वथा भेदे सति जैनाचार्या दोषानवतारयन्ति ।]

संवृतिमात्रेण सत्यपि^१ हेतुफलभावेऽकारणकार्यान्तरवत्सन्ततिर्न स्यादतादात्म्या-
विशेषात् । न हि कार्यकारणक्षणानामकार्यकारणक्षणेभ्यस्तादात्म्याभावैकान्ते कश्चिद्विशेषो
नैरन्तर्यादिः संभवति, तस्य^२ भिन्नसंतानकार्यकारणक्षणेष्वपि भावात् । तत्स्वभावविशेषाव-
क्लृप्तौ^३ तादात्म्ये कोऽपरितोषः ? कथंचित्तादात्म्यस्यैकसंतानक्षणानां स्वभावविशेषस्य

[यह संवेदनाद्वैत भेद की भ्रान्ति का बाधक है या अबाधक ? उभय पक्ष में दोष दिखाते हैं ।]

यदि वह संवेदनाद्वैत भेद भ्रान्ति को बाधित करता है तब तो बाध्य बाधक भाव के होने से
भी भेद का प्रसंग आ जाने से अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

यदि आप कहें कि यह संवेदनाद्वैत भेद भ्रान्ति को बाधित नहीं करता है तब तो भेद को सत्यत्व
सिद्ध हो जाने से उस अद्वैत की व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी । क्योंकि प्रतिपक्ष-जैन आदि द्वैतवादियों
के निराकरण का अभाव हो जाता है । अर्थात् संवेदनाद्वैत ने भेद भ्रान्ति को बाधित न किया तो भेद
भ्रान्ति बाध्य और अद्वैत बाधक बन गया तब द्वैत हो गया । यदि संवेदनाद्वैत में भेद को बाधित नहीं
किया तब तो जैन आदि सभी के द्वैत मत सिद्ध हो गये आपका अद्वैत एकांत कहाँ रहा ? अर्थात्

[कार्यकारण में सर्वथा भेद है ऐसा बौद्ध के मानने पर जैनाचार्य दोषों को दिखाते हैं ।]

तथा हे बौद्ध ! संवृति मात्र से कारणकार्य भाव के मान लेने पर भी भिन्न अकार्य कारण के
समान संतति सिद्धि नहीं होगी क्योंकि तादात्म्यअभेद का न होना दोनों में ही समान है । अर्थात् जैसे
वस्त्ररूप कार्य का कारण मृत्पिण्ड नहीं है और मृत्पिण्ड रूप कारण का कार्य वस्त्र नहीं है । तथैव आपके
यहाँ जैसे संवृति मात्र से कारण कार्य और अकारण कार्यांतर में तादात्म्य नहीं है वैसे ही प्रत्येक क्षणों
में परस्पर में भेद होने से अभेद नहीं है । यह भाव समझना ।

संवृति से कल्पित कार्य-कारणक्षणों का अकार्य-कारणक्षणों से तादात्म्य नहीं है । ऐसे भेदैकांत—
को मानने पर नैरन्तर्यादि-संतति आदि कोई भेद सम्भव नहीं है । क्योंकि वह भेद भिन्न कार्य-कारण
के क्षणों में भी मौजूद है ।

१ उत्तरचित्रोत्पत्तिकारणभूतप्राक्तनचित्रक्षणाख्यवासानावसात् प्रत्यभिज्ञानादिकं संभवतीति प्रत्यवस्थितं सौमत्
प्रतिकार्यकारणभावं वस्तुत्वं निराकृत्ये दानीं संतानापेक्षया प्रेत्यभावादिकं संभवति सन्ताननियमश्चप्रत्यभि-
ज्ञानादेशात्संभवतीति वदन्तं निराकुर्वन्तः कार्यकारणभावाभ्युपगमपूर्वकं कारिकां प्रकारान्तरेण व्याख्यान्ति सत्यपीति ।
दि० प्र० । २ सुगतेतर । व्या० प्र० । ३ परिकल्पनायाम् । व्या० प्र० ।

व्यवस्थितेरव्यभिचारिणः^१ कार्यकारणभावस्य सुगतेतरक्षणेषु भिन्नसंतानेष्वपि भावात्, भेद-
तादात्म्ययोर्हि विरोधस्य सर्वथाप्यपरिहार्यत्वात्^२, संविदि वेद्यवेदकाकारभेदेपि तादात्म्योप-
गमादन्यथैकज्ञानत्वविरोधात्^३ संविदाकारवेद्याद्याकारविवेकयोः^४ प्रत्यक्षपरोक्षयोर्भेदेपि संविदे-
कत्वाङ्गीकरणात्, कथंचित्तादात्म्याभावे संताननियमनिबन्धनस्य स्वभावविशेषस्यानुपलब्धेः ।
तत्संतानापेक्षया प्रेत्यभावादि^५ मा मंस्त, क्षणक्षयैकान्ते संतानस्यैव साध्यितुं दुःशक्यत्वात्,
ज्ञानज्ञेययोः प्रतिक्षणं विलक्षणत्वात्^६ । स^७ एवाहं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानादनुस्मरणाद-

भावार्थ — जिस प्रकार से मृत्पिंड और वस्त्र में या तंतु और घड़े में कारण-कार्यभाव नहीं हो सकते हैं क्योंकि ये भिन्न-भिन्न कार्य-कारण संतान है । वैसे ही आप बौद्धों के यहाँ कारण से कार्य सर्वथा भिन्न ही माना है और संवृति से उसे कार्य-कारण भाव कह दिया है । किन्तु कार्य-कारण परस्पर भिन्नता दोनों जगह समान है जैसे मृत्पिंड से वस्त्र कार्य सर्वथा भिन्न है वैसे ही आपके कथनानुसार मृत्पिंड से घट भी सर्वथा भिन्न है । पुनः आपके यहाँ कार्य-कारणभाव कथमपि घटित नहीं हो सकता है ।

यदि आप उन एक संतान के कार्य-कारणक्षणों में स्वभाव विशेष की कल्पना करेंगे तब तो कार्य-कारण में तादात्म्य को स्वीकार कर लेने में आपको क्या असंतोष है ? क्योंकि एक संतान के क्षणों में कथंचित् तादात्म्य रूप ही स्वभाव विशेष व्यवस्थित है । बृद्ध और बौद्ध के क्षणरूप भिन्न संतानों में भी अव्यभिचारी, कार्य-कारणभाव मौजूद है किन्तु वह अव्यभिचारी कार्य-कारणभाव स्वभाव विशेष नहीं हो सकता है । क्योंकि भेद और तादात्म्य में जो विरोध है वह सर्वथा भी अपरिहार्य है । मतलब कथंचित् प्रकार से ही उस विरोध का परिहार कर सकते हैं, सर्वथा नहीं ।

देखिये ! संवेदनाद्वैत में वेद्य और वेदकाकार से भेद होने पर भी आपने तादात्म्य स्वीकार किया है । अन्यथा उसमें एक-ज्ञानत्व का विरोध हो जायेगा ।

प्रत्यक्षरूप संविदाकार और परोक्षरूप वेद्याद्याकार विवेक में भेद होने पर भी संबित्त्वरूप एकत्व स्वीकार किया गया है । अर्थात् इस कथन से भेद और अभेद में कथंचित् ही विरोध है सर्वथा नहीं ।

क्योंकि कथंचित् भी तादात्म्य को स्वीकार न करने पर तो संतान के नियम के लिये कारण-भूत स्वभाव विशेष की अनुपलब्धि है अर्थात् उपलब्धि नहीं हो रही है ।

इसलिये कार्य-कारणक्षणों में संतति की व्यवस्था न होने से संतान की अपेक्षा से प्रेत्यभावादि भी मत मानिये । क्योंकि क्षणक्षयैकान्ते संतान को सिद्ध करना ही दुःशक्य है । कारण इस क्षणिकैकान्त

१ आशंक्य । व्या० प्र० । २ सौगतस्यापि (व्या० प्र०) ३ वेद्याद्याकाराक्रान्तज्ञानं नेष्यते येनेदं दूषणं इत्याशंकायामाह । दि० प्र० । ४ तासः । दि० प्र० । ५ इयु । दि० प्र० । ६ ज्ञानस्य ज्ञेयस्यत्वस्वकीय स्वकीय पूर्वोत्तरक्षणपेक्षया । दि० प्र० । ७ अत्राह सौगतः यो बाल्याद्यवस्थायामभूवं स एवाहं । यद्वस्तु मया पूर्वं दृष्टमनुभूतं वा तदेवेदमिति लक्षणं प्रत्यभिज्ञानं जायते । दि० प्र० ।

भिलाषादेश्च संताननियमसिद्धिरिति¹ चेन्न, तस्यैवासंभवात्² । सर्वथा विलक्षण्ये³ पुंसोर्थस्य च न⁴ वं प्रत्यभिज्ञानादिः पुरुषान्तरवदर्थान्तरवच्च । ततः⁵ कर्मफलसंबन्धोपि नाना-संतानवदनियमान्न युक्तिमवतरति ।⁶ तदनादिवासनावशात्तन्नियम इति चेन्न, ⁷कथञ्चिदप्यतादात्म्ये कार्यकारणक्षणयोस्तदघटनात्तद्वत् । तत्सूक्तं⁸ 'क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीयः सर्वथार्थक्रियाविरोधान्नित्यत्वैकान्तवत्' । न चार्थक्रिया⁹ कार्यकारणरूपा सत्येव कारणे स्यादसत्येव वा । सत्येव कारणे यदि कार्यं, त्रलोक्यमेकक्षणवत्ति¹⁰ स्यात्, कारणक्षणकाले

में ज्ञान और ज्ञेय प्रतिक्षण विलक्षण ही हैं । अर्थात् क्षण में क्षय-नष्ट हो जाना मतलब एक क्षणमात्र ही स्थित रहना जिसका लक्षण है ऐसे क्षण में क्षय होने वाले एकांत में ज्ञान और ज्ञेय में प्रतिक्षण भेद ही बना रहेगा फिर सर्वथा विज्ञान मात्र तत्व कैसे सिद्ध होगा ?

बौद्ध—“मैं वही हूँ यह वही है” इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान से, अनुस्मरण से और अभिलाषादि के होने से संतान का नियम सिद्ध है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्षणिक एकांत में तो प्रत्यभिज्ञान स्मरण अभिलाषा आदि ही असंभव हैं । कारण कि पुरुष और पदार्थ में सर्वथा विलक्षणता होने से ।

प्रत्यभिज्ञान आदि भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं, जैसे कि भिन्न-भिन्न पुरुष में और भिन्न-भिन्न पदार्थ में भेद होने से वे प्रत्यभिज्ञानादि असंभव हैं । पुनः ज्ञानज्ञेय में सर्वथा विलक्षणता होने से प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है । अतएव कर्मफल सम्बन्ध भी अनियमित होने से युक्ति पथ को प्राप्त नहीं हो सकता है । जैसे कि नाना संतानों में नियत संतान का अभाव होने से कर्मफल सम्बन्ध नहीं बन सकता है । अर्थात् जैसे नाना संतान में कर्मफल सम्बन्ध युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि उनमें नियत संतानों का अभाव है । तथैव सर्वथा क्षणिक में भी कर्मफल सम्बन्ध असंभव ही है ।

1 ज्ञानज्ञेयसन्तान । दि० प्र० । 2 असंभवत्वमेव भावयति । दि० प्र० । 3 पुरुषस्य सर्वथा भिन्नत्वे सति घटा-देरर्थस्य सर्वथा भिन्नत्वे सति प्रत्यभिज्ञानादिसर्वः वैस्फुटं न संभवति किं वत् ? पुरुषान्तरवत् यथा देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य च भिन्नत्वे अन्यच्च घटस्य पटस्य अन्योन्यं भिन्नत्वे प्रत्यभिज्ञानादिर्न संभवति = ततः सर्वथाक्षणिकपक्षे प्रत्यभिज्ञानाद्यभावात् सुखदुखाद्यनुभवन संबन्धो युक्ति नाविरोहति कस्मात् अनियमात् । सौगतभ्रते अन्यसंतानः भोक्तायः कर्त्ता स भोक्ता इति नियमाभावात् । यथा भिन्नसन्तानस्य देवदत्तस्य कर्मफलसंबन्धो यज्ञदत्ते युक्तिं नावतरति ! यज्ञदत्तस्य कर्मफलसंबन्धो देवदत्ते युक्तिं नावतरति । दि० प्र० । 4 यतः । दि० प्र० । 5 पुण्यादि । दि० प्र० । 6 अत्राह सौगतः सन्तान अनादिवासनावशात् प्रत्यभिज्ञानादि नियमो घटते इति चेन्न । कस्मात्कारण-कार्यार्थयोः कथञ्चित्तादात्म्याभावेतस्य वासनानियमस्यासंभवात् । 'भिन्नसन्तानवत् । दि० प्र० । 7 ज्ञानापेक्ष-यापि । दि० प्र० । 8 न कार्यारम्भेति कारिकांशं व्याख्यायन्ति तत्सूक्तमिति । दि० प्र० । 9 सौगतो वदति । अस्मत् क्षणिकपक्षे अर्थक्रिया अस्ति इत्युक्ते सा अर्थक्रिया कीदृशी कार्यकारणरूपा । सा अर्थक्रिया सत्येव कारणे स्यादसत्येवेति विकल्पद्वयं । दि० प्र० । 10 तर्हि । दि० प्र० ।

एव सर्वस्योत्तरोत्तरक्षणसंतानस्य भावात्^१, ततः संतानाभावात्पक्षान्तरासंभवाच्च^२ । इति स्थितमेव साधनं सर्वथार्थक्रियाविरोधादिति, साध्यं च क्षणिकं, पक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीय इति, प्रत्यभिज्ञाद्यभावात्प्रेत्यभावाद्यसंभव इति च, अस्मिन्पक्षे^३ 'प्रयासाभावात्'^४ । यदि^६ पुनर-सत्येव कारणो कार्यं तदा^७ कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानादिरनन्तश्च कालः कार्यसहितः स्यात्

बौद्ध—उसकी अनादि वासना के वश से अर्थात् उत्तरचित्त की उत्पत्ति के लिये कारणभूत पूर्व का चित्तक्षण वासना कहलाती है उसके निमित्त से कर्मफल संबंध का नियम बन जाता है ।

जैन—नहीं । कार्य-कारणक्षण में कथंचित् भी—किसी भी प्रकार से तादात्म्य के न मानने पर अर्थात् सर्वथा भेद पक्ष में वह कर्मफल संबंध बन ही नहीं सकता है, नाना संतान के समान ।

इसलिये यह बिल्कुल ठीक कहा है कि बुद्धिमान पुरुषों के द्वारा क्षणिक पक्ष अनादरणीय है क्योंकि उसमें सर्वथा अर्थ-क्रिया का विरोध है । जैसे कि नित्यत्वैकांत में अर्थक्रिया संभव नहीं है । क्योंकि वह कार्य-कारणरूप अर्थक्रिया कारण के होने पर ही होवे अथवा कारण के न होने पर ही होवे ऐसा नहीं है ।

यदि कारण के होने पर ही कार्य होवे तब तो यह त्रैलोक्य एक क्षणवर्ती हो जायेगा । क्योंकि कारण क्षण के काल में ही सभी उत्तरोत्तर क्षण संतान मौजूद है । इसलिये संतान का अभाव है । और कारण के न होने पर ही कार्य हो यह पक्षान्तर भी असंभव ही है । अतः यह बात व्यवस्थित हो गई ।

“सर्वथा अर्थक्रिया-विरोधात्” यह हेतु है और “क्षणिक” यह साध्य है एवं “बुद्धिमानों को अनादरणीय है” यह पक्ष है । इस प्रकार यह इस अनुमान में सर्वथार्थ क्रिया विरोधात्” हेतु ठीक ही है । क्योंकि प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने से प्रेत्यभावादि असंभव ही है । यह बात स्पष्ट हो गई । इस पक्ष में प्रयास का अभाव है ।

यदि पुनः कारण के न होने पर ही कार्य होते हैं ऐसा मानों, तब तो कारण क्षण के पूर्व और पश्चात् का अनादि और अनंत काल कार्य सहित ही हो जायेगा क्योंकि कारण का न होना दोनों जगह समान ही है । और यदि कहो कि कारण का अभाव दोनों जगह समान होने पर भी कार्य स्वयं नियत काल में ही जाता है तब तो नित्य पदार्थ का सदा ही सद्भाव समान होने पर भी उससे

१ भावप्रसंगात् । दि० प्र० । २ ततः कारणक्षणज्ञालात् पश्चात्कार्यलक्षणसन्तानो न भवति । तथा कार्यमुत्पद्यते एव । अस्मदन्यपक्षान्तरसंभवोपि न भवति = कथञ्चिदकार्यमुत्पद्यते नोत्पद्यते वा । कार्यकारणात्पूर्वमुत्पद्यते पश्चादुत्पद्यते वा इत्यादिलक्षणः पक्षान्तरः तस्मिन्सति को दोषः सौगन्ध्य कारणे सत्येव कार्यं जायते इति तन्मतहानिः । दि० प्र० । ३ द्वितीयव्याख्यानपक्षे । दि० प्र० । ४ प्रत्यक्षादर्थदर्शनं दर्शनात्स्मरणं ताभ्यां वस्तुसंकलनं विवक्षितधर्मसहितत्वेन पुनर्ग्रहणं तद्रूपं च प्रत्यभिज्ञानमिति परम्पराप्रयासः प्रत्यभिज्ञोत्पत्तौ तदभावात्सत्येव कारणे कार्यं यतः । व्या० प्र० । ५ पक्षान्तरासंभवादिति भाष्योक्तं भावयति । दि० प्र० । ६ चेत् । दि० प्र० । ७ तर्हि । दि० प्र० ।

कारणाभावाविशेषात्¹ । ²तदविशेषेपि कार्यस्य स्वयं नियतकालत्वे³ नित्यस्य⁴ सर्वदा भावाविशेषेपि⁵ तत्स्यादित्युक्तम् ।

किं च क्षणिकपक्षे न तावत्सदेव⁶ कार्यमुत्पद्यते स्वमतविरोधादुत्पत्त्यनुपरम-प्रसङ्गाच्च⁷—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं⁸ तन्मा जनि खपुष्पवत्⁹ ।

मोपादाननियामो¹⁰ भून्माश्वासः¹¹ कार्यजन्मनि¹² ॥४२॥

कार्य हो जाना चाहिये । इस प्रकार से कहा गया है । अर्थात् बौद्ध ने कहा कि कारण के न होने पर ही कार्य होता है तब आचार्य ने कहा कि फिर तो कारणक्षण के पहले और अनंतर अनंत काल हैं उनमें भी कारण नहीं है उन अनंत कालों में भी कार्य होता रहे । तब उसने कहा कि कारण के अभाव में ही कार्य होता है फिर भी उसका काल नियत है तब आचार्य ने कहा कि जैसे आपके यहाँ कारण के अभाव में ही कार्य होता है वैसे ही नित्य पक्ष में हमेशा कारणों का सद्भाव है एवं सर्वदा सद्भाव होने पर भी हमेशा कार्य नहीं होता है कार्य के काल में ही कार्य होता है ऐसा मान लो क्या बाधा है ?

उत्थानिका—दूसरी बात यह है कि क्षणिक पक्ष में सत् रूप ही कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है क्योंकि स्वमत में विरोध आता है एवं कार्य की उत्पत्ति के अनुपरम का भी प्रसंग आता है अर्थात् बौद्धमत में असत् रूप ही कार्य का उत्पाद माना है क्योंकि सत् तो सर्वथा मौजूद ही है उसकी उत्पत्ति मानने से कभी उत्पत्ति की उपरति ही नहीं हो सकेगी ।

अब सर्वथा असत् ही कार्य को मानने में क्या दोष आते हैं ? तो आचार्य दिखाते हैं—

यदि कार्य सर्वथा असत् है, गगन कुसुमवत् नहीं होगा ।

यदि असत् की ही उत्पत्ति, उपादान फिर क्या होगा ॥

यव बीजों से यव ही हों यह, उपादान कारण निष्फल ।

पुनः कार्य के उत्पादन में, सब विश्वास रहा असफल ॥४२॥

कारिकार्थ—यदि कार्य को सर्वथा असत् रूप ही मानें तब तो आकाश पुष्प के समान वह कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा, एवं उसके उपादान कारण का नियम भी नहीं बन सकेगा तथा उसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति का कोई विश्वास भी नहीं हो सकेगा ॥४२॥

1 अनाद्यनन्तकालयोः । दि० प्र० । 2 तस्य कारणाभावस्याविशेषेपि कार्यं भवतु मा भवतु परन्तु क्षणिकपक्षेपि स्वकाले कार्यमुत्पद्यते इति क्षणिकत्ववादिना उक्ते सति स्याद्वाद्याह नित्यस्य सर्वथा सद्रूपाविशेषेपि कार्यं भवेत्कोर्यः नित्यपक्षे नित्यं नित्यरूपेण सर्वदा तिष्ठतु स्वकाले कार्यं करोतु इत्यायातम् । दि० प्र० । 3 अङ्गीक्रियमाणे । दि० प्र० । 4 कारणरूपस्य । दि० प्र० । 5 सद्भावः । दि० प्र० । 6 द्रव्याकारेणैव पर्यायाकारेणापि । दि० प्र० । 7 तर्हि असत्कार्यमस्तु को दोष इत्याशंकायामाहुः सूरयः समन्तभद्राः । दि० प्र० । 8 घटपटादिकम् । दि० प्र० । 9 तर्हि मोत्पद्यतां यथा खपुष्पमसन्नोत्पद्यते । दि० प्र० । 10 क्षणिके उपादाननियमो नास्ति । व्या० प्र० । 11 कल्पितात् कारणात् कार्यनियमो भविष्यतीत्याशङ्कामाह । व्या० प्र० । 12 कार्योत्पत्तावपि विश्वासो मा भूत् । दि० प्र० ।

पर्यायाकारेणैव द्रव्याकारेणापि सर्वथा यद्यसत्कार्यं तदा तन्मा जनिष्ट, खपुष्पमिव । तथा हि । यत् सर्वथाप्यसत्तन्न जायमानं दृष्टं, यथा खपुष्पम् । तथा च परस्य कार्यम् । इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । कार्यत्वं हि कथंचित्सत्त्वेन व्याप्तम् । तद्विरुद्धं सर्वथाप्यसत्त्वम्^१ । प्रतीतं हि लोके कथंचित्सत्तः कार्यत्वमुपादानस्योत्तरोभवेनात् । सदेव^२ कथमसत् स्याद्विरोधादिति न चोद्यं सकृदपि^३ विरुद्धधर्माध्यासानिराकृतेऽचित्रवेदनवदित्युक्तप्रायम्^४ । तथा चान्वयव्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनिबन्धनायाः^५ किं फलमपलापेन^६ ? तदन्यतर-

पर्यायाकार के समान ही द्रव्याकार से भी यदि कार्य सर्वथा असत् रूप ही होवे तब तो वह उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा । आकाश पुष्प के समान । तथाहि—

“जो सर्वथा भी असत् है वह उत्पन्न होता हुआ नहीं देखा जाता है जैसे आकाश पुष्प ।” और उसी प्रकार से बौद्ध के यहाँ कार्य है । “यहाँ सर्वथाप्यसत्त्वात्” रूप हेतु व्यापक विरुद्धोपलब्धि रूप है । क्योंकि कार्य कथंचित् सत्त्व से व्याप्त है । और सर्वथा ही असत् पना उस सत् से विरुद्ध है । लोक में कथंचित् सत् का ही कार्यपना प्रतीति में आ रहा है क्योंकि उपादान ही उत्तराकार से होते हैं । अर्थात् मृत्पिंडादि ही घट कार्यरूप से परिणत होते हुए देखे जाते हैं ।

बौद्ध—सत् ही असत् रूप कैसे हो सकता है ?

जैन—यह प्रश्न करना ठीक नहीं है । एक बार क्या अनेक बार ही हमने विरुद्ध धर्मों के एक जगह रहने का प्रतिपादन किया है । चित्र ज्ञान के समान इस बात को बहुत बार कहा है । उसी प्रकार से अन्वय व्यतिरेक प्रतीति भी भाव स्वभाव निमित्तक ही है । पुनः उसके अपलाप से क्या फल मिलेगा ? उन दोनों में से किसी एक का निराकरण करने से दोनों का ही निराकरण हो जायेगा, क्योंकि दोनों में अभेद है ।

बौद्ध—अन्वय व्यतिरेक में अभेद कैसे हो सकता है ? अर्थात् अन्वय भावरूप है और व्यतिरेक अभावरूप है पुनः दोनों में एकत्व कैसे होगा ?

जैन—कारण के सद्भाव में होना ही उसके अभाव में नहीं होने रूप है । क्योंकि कारण के अभाव में न होना ही कारण के सद्भाव में होना न होवे ऐसा तो प्रतीति में नहीं आता है कि जिससे कि उस अन्वय व्यतिरेक में अभेद न हो सके अर्थात् अभेद ही सिद्ध होता है ।

१ हेतुः । व्या० प्र० । २ स्याद्वादीनां मते यदवस्तु सत् तदेवास्तु कथं स्यात् कस्मादेकत्रोभयो विरोधात् । हे सौगत इति त्वया न पृष्टव्यम् । कस्मात् कदाचिदपि एकेवात्र वस्तुनि विरुद्धधर्माणां प्रवर्तनस्य अनिराकरणात् । स्वरूपेण सत्यन्यरूपेणासत्-इत्यादि स्याद्वादीनां मते इष्टत्वात्तथाचित्रज्ञानेनैक्यं प्रतिभासभेदेन नानात्वमिति कथित-प्रायं=स्याद्वादी वदति हे सौगत बुद्धप्रलापेन कि फलमन्वयव्यतिरेकी द्वी अपि वस्तु स्वभावी स्त, ते द्वयोर्द्वयोर्मध्ये एकस्य निराकरणे उभयनिराकरणं भवति तयोः भेदाभावात् । द्वि० प्र० । ३ साहित्यम् । व्या० प्र० । ४ चित्र-सवेदने यथाज्ञानापेक्षयैकत्वं पीतादिनिर्भासापेक्षया चानेकत्वं तथा प्रकृतेःपि । व्या० प्र० । ५ व्याप्तिकल्पस्य । व्या० प्र० । ६ अन्वयव्यतिरेकप्रतीतेर्विकल्पज्ञानविषयतयापलापेन । व्या० प्र० ।

निराकृतावुभयनिराकृतिरभेदात्¹ । ²कथमन्वयव्यतिरेकयोरभेद इति चेत् कारणस्य भावे भावस्यैव³ तदभावेऽभावरूपत्वात् । न हि कारणस्याभावेऽभाव एव भावे भावो न प्रतीयते यतस्तदभेदो⁴ न स्यात् । कथं⁵ भावस्वभावनिबन्धनान्वयव्यतिरेकप्रतीतिस्तस्या भावाभाव-स्वभावनिबन्धनत्वादित्यप्यनाशङ्कनीयं⁶ , स्वभावान्तरस्यैवाभावव्यवहारार्हत्वात् ।

[व्यतिरेकज्ञानं भावस्वभावनिमित्तकं कथं भवेत् ?]

पावकविविक्तप्रदेशविशेषस्यैव⁷ पावकाभावस्य धूमरहितदेशस्य च धूमाभावस्य प्रतीतिगोचरत्वात्⁸ , पावकाभावे धूमाभावस्य च व्यतिरेकलक्षणत्वात् सिद्धं व्यतिरेकप्रतीते-र्भावस्वभावनिबन्धनत्वमन्वयप्रतीतेरिव⁹ । इति निरारेकं, नीरूपस्याभावस्य¹⁰ प्रतिक्षेपात्¹¹ ।

बौद्ध—अन्वय व्यतिरेक की प्रतीति भाव-स्वभावनिमित्तक कैसे है ? क्योंकि अन्वय तो भाव स्वभाव निमित्तक है और व्यतिरेक अभाव स्वभाव निमित्तक है ।

जैन—यह आशंका भी गलत है । क्योंकि स्वभावांतर भिन्न स्वभाव ही 'अभाव' इस व्यवहार के योग्य होता है । अर्थात् हमारे यहाँ निःस्वभाव—तुच्छाभाव तो माना ही नहीं गया है ।

[व्यतिरेक ज्ञान भाव स्वभाव निमित्तक कैसे होगा ?]

अग्नि से रहित प्रदेश विशेष ही तो अग्नि का अभाव है तथा धूम रहित प्रदेश ही धूम का अभाव है ऐसा प्रतीति में आ रहा है । अर्थात् अग्नि का वहाँ अभाव है किन्तु उस प्रदेश का सद्भाव है । एवं धूम का अभाव है किन्तु धूम रहित स्थान का सद्भाव है । अग्नि के अभाव में धूम का अभाव है यही तो व्यतिरेक का लक्षण है । उस व्यतिरेक का अनुभव, भाव स्वभाव के निमित्त से ही होता है । यह बात सिद्ध हो गई, जैसे कि अन्वय भाव स्वभाव हेतु का है । तथैव । अर्थात् जिस प्रदेश में अग्नि नहीं है वहाँ धुआँ भी नहीं है यह व्यतिरेक उदाहरण है, परन्तु अग्नि और धुएँ के अभाव में भी प्रदेश का सद्भाव है अतएव वह व्यतिरेक भाव स्वभाव के निमित्त से ही होता है । इसमें किसी भी प्रकार की शंका नहीं है । क्योंकि पूर्व में हमने नीरूप अभाव ! तुच्छाभाव का खंडन कर दिया है ।

1 अभेदोयतः । (व्या० प्र०) । 2 अत्राह परः सौगतादिः हे स्याद्वादिन् अन्वयव्यतिरेकयोरभेदः कथं इति चेत् कारणस्य भावे भावरूपत्वात् कारणस्याभावे अभावरूपत्वात् । दि० प्र० । 3 कार्यत्वस्य । व्या० प्र० । 4 यतः कुतः तयोः अन्वयव्यतिरेकयोरभेदो न भवेत् अपितु भवेदिति । दि० प्र० । 5 परः । दि० प्र० । 6 जैनः दि० प्र० । 7 रहितम् । दि० प्र० । 8 यतः । दि० प्र० । 9 पावकभावे धूमसद्भावस्यान्वयलक्षणत्वात् अन्वय-प्रतीतेर्यथाभावस्वभावनिबन्धनत्वं सिद्धमिति निःशङ्कम् । दि० प्र० । 10 निःस्वभावस्याभावस्य निराकरणात् । कोर्थः अभावो निःस्वभावो न भवति तर्हि किं स्वभावान्तर एवाभावः न तु तुच्छाभावः । दि० प्र० । 11 द्रव्यरूपेणापि । दि० प्र० ।

[सर्वथासदेव कार्यरूपेण भवतीति मान्यतायां का हानिः ? तत्स्पष्टयति ।]

न च सर्वथाप्यसत्ः^१ कार्यत्वेन्वयव्यतिरेकप्रतीतिः कार्यकारणभावव्यवस्थाहेतुः^२, कारणभावे^३ एव कार्यस्य भावाद्भावे चाभावात् । इति निषेदितप्रायम्^४ । तन्नासत्कार्यं^५, सर्वथाप्यनुत्पादप्रसङ्गात् खकुसुमवदिति व्यवतिष्ठते, 'कार्यत्वकथंचित्सत्त्वयोरेव'^६ व्याप्यव्यापकभावस्य प्रसिद्धेस्तथा प्रतीतेः । तत एव न तादृशकारणवत्, सर्वथाऽभूतत्वाद्बन्ध्यासुतवत् कथंचिदस्थितानुत्पन्नत्वादिति^८ योज्यम् । न हि सर्वथाप्यसत्कार्यमभूतं न^९ भवति, यतः^{१०} कथंचिदप्यस्थितमनुत्पन्नं च न स्यात्, कथंचित्सत् एव स्थितत्वोत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटनवत्,

[सर्वथा असत् को कार्यरूप होना मानने में क्या हानि है ? सो बताते हैं]

सर्वथा असत् को ही कार्यरूप से होना स्वीकार करने पर अन्वय व्यतिरेक की प्रतीति कार्यकारणभाव की व्यवस्था में हेतु नहीं हो सकती है । क्योंकि कारण के अभाव में ही कार्य का सद्भाव हो जाता है और कारण होने पर नहीं होता है । इस प्रकार से प्रायः बहुत बार प्रतिपादन किया गया है ।

इसलिये असत् ही कार्यरूप नहीं है अन्यथा सर्वथा भी उत्पाद न होने का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् कोई वस्तु पर्यायरूप से भी उत्पन्न नहीं हो सकेगी । आकाश कुसुम के समान । यह अनुमान व्यवस्थित है । क्योंकि कार्यत्व और कथंचित् सत्त्व में ही व्याप्य व्यापक भाव की प्रसिद्धि है । और वैसा ही अनुभव आ रहा है ।

भावार्थ—कारण के नष्ट होने के बाद वह नष्ट हुआ कारण असत् रूप हो गया है और उसी से ही उत्तर क्षण में कार्य बन जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं है क्योंकि कार्य और कथंचित् सत्त्व इन दोनों में व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है, कार्य व्याप्य है कथंचित् सत्त्व व्यापक है । जैसे वृक्षत्व व्यापक है और निबत्त्व व्याप्य है । वृक्ष के बिना नीम का होना असम्भव है वैसे ही कथंचित् सत्त्व को माने बिना कार्य का होना असम्भव है । मृत्पिण्डरूप कारण घटरूप कार्य से असत् है फिर भी मिट्टी रूप द्रव्य से सत् है उसका विनाश होकर घट नहीं बना है प्रत्युत मिट्टी ही घटरूप परिणत हुई है । पर्याय की अपेक्षा से असत् का उत्पाद होता है और द्रव्य की अपेक्षा से सत् का ही उत्पाद होता है । अतः कार्य और कथंचित् सत्त्व का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध ठीक है ।

इसलिये "वैसा-असत् कार्य-कारण वाला नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा असत् रूप है बंध्या के पुत्र के समान । कथंचित् अस्थित, अनुत्पन्न रूप है ।" इस प्रकार से भी लगा लेना चाहिये । अर्थात्

१ अन्वयव्यतिरेकभावं प्रदर्शयति । दि० प्र० । २ क्षणिकलक्षणं । व्या० प्र० । ३ का । दि० प्र० । ४ प्राकृतवा-
ज्जल्पेन प्रतिपादितं यत एव तत्तस्मात् । दि० प्र० । ५ पर्यायरूपेणापि । व्या० प्र० । ६ द्वन्द्वः । व्या० प्र० ।
७ द्रव्यरूपतया । व्या० प्र० । ८ सदनुत्पन्नः । व्या० प्र० । ९ अविद्यमानं भवत्येव । व्या० प्र० । १० कार्यरूपतया ।
व्या० प्र० ।

सत् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वलक्षणत्वात्¹ । न चोत्पादादित्रयरहितं² वस्तु समस्ति यतः कारणवत्स्यात् निरन्वयविनाशे³ तत्कारणस्य तद्भावायोगात् कार्यस्य तद्भावायोगवत् ।

[असत्कार्ये यदि उत्पादादित्रयं न घटते तर्हि सत्यपि प्रभवलक्षणे उत्पादादित्रयं कथं सिद्धमिति प्रश्ने सति जैनाचार्याः समादधते ।]

सत्यपि प्रभवलक्षणे ⁴पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवनं⁵ मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिषु सकल-लोकसाक्षिकं सिद्धम् । तन्न⁶ स्वमनीषिकाभिः सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भानवधारणा-

सर्वथा भी असत् के कार्यरूपता नहीं हो सकती है । बंध्या का पुत्र किसी भी प्रकार से स्थित और उत्पन्न होने वाला नहीं है उसी प्रकार असत् रूप कार्य द्रव्य की अपेक्षा से भी स्थित नहीं है एवं उत्पन्न रूप भी नहीं है ।

सर्वथा भी असत् कार्य अभूत नहीं होने रूप नहीं होता है, ऐसा भी नहीं है कि जिससे वह कथंचित् भी अस्थित अनुत्पन्न न होवे । अर्थात् जो असत्कार्य द्रव्य रूप से न स्थित है न उत्पन्न है, पुनः वह कार्य रूप से स्थित और उत्पन्न कैसे हो सकेगा ?

इसलिये कथंचित्-द्रव्य रूप से सत् में ही स्थिति और उत्पाद घटित हो सकते हैं, जैसे कि विनाश भी सत् में ही घटित होता है सर्वथा असत् में नहीं । क्योंकि सत्, उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक लक्षण वाला है । एवं उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनों से रहित कोई वस्तु ही नहीं है कि जिससे वह कारण वाली हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता है । क्योंकि निरन्वय विनाश के होने पर उस निरन्वय विनाश रूप कारण रूप से रहना ही असम्भव है । जैसे कि निरन्वय विनाशी कारण से हुआ कार्य, कार्यरूप से नहीं रह सकता है । अर्थात् निरन्वय विनष्ट मृत्पिण्ड घट कार्यरूप नहीं होगा और घट कार्य निरन्वय विनष्ट मिट्टी का नहीं होगा ।

[यदि असत् कार्य में उत्पादादि तीनों नहीं घटते हैं तब तो प्रभव लक्षण के होने पर भी उत्पादादि तीनों कैसे घटेंगे ? इस पर जैनाचार्य कहते हैं ।]

प्रभाव लक्षण अर्थात् कार्य कारण लक्षण के होने पर भी पूर्व पूर्व का उत्तर रूप होना मृत्पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूलादिकों में सकल लोक साक्षिक सिद्ध ही हैं । उसमें अपनी बुद्धि मात्र से सदृश रूप अपरापर कार्य की उत्पत्ति में विप्रलम्भ से भेद के अनवधारण की कल्पना को करते हुये क्षणों में उपादान का नियम नहीं हो सकता है । कारणान्तर के समान । उपर्युक्त क्षणों में एवं भिन्न कारणों में अन्वय का अभाव दोनों में ही समान है । क्योंकि ये सर्वथा विलक्षण रूप भेदरूप हैं ।

1 उत्पादादित्रययुक्तत्वमसिद्धमित्याशङ्क्यामाह । व्या० प्र० । 2 उत्पादादित्रयरहितं वस्तु विद्यते हे सोगत इति त्वया न प्रष्टव्यमुत्पादादेस्त्रयरहितं वस्तुकारणवत् कारणात्मकं कारणं वा यतः कुतः स्यान्न कुतोऽपि । 3 स्याद्वाद्याह निरन्वयविनाशे वस्तुनो मूलतो विनाशाभ्युपगमेत् । विवक्षितकारणस्य कारणत्वं न घटते । यथा विवक्षितकार्यस्य कार्यत्वं न घटते । दि० प्र० । 4 कारणस्य । व्या प्र० । 5 कार्यरूपतया । व्या० प्र० । 6 बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति । व्या० प्र० ।

वक्लृप्तिमारचयतां मोषादाननियमो भूत् कारणान्तरवत् तदन्वयाभावाविशेषात्^१ सर्वथा वैलक्षण्यात् । न हि मृत्पिण्डस्थासादीनां तन्तुपटादीनां च सर्वथा वैलक्षण्येनान्वयाभावाविशेषेपि मृत्पिण्ड एवोपादानं स्थासस्य, स्थास एव कोशस्य, कोश एव कुशूलस्य, कुशूल एव घटस्य, न पुनस्तन्त्वादयः^२ स्थासादीनामिति नियमनिबन्धनं किमप्यस्ति^३, यतः पूर्व-पूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासादिषु सकललोकसाक्षिकं न भवेत् । वैलक्षण्यानवधारणं निबन्धनमिति चेत्तद्यदि सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात्प्रतिपत्त्यामिष्यते तदा समसमयवर्तितिलादीनां संतत्योत्पद्यमानानां वैलक्षण्यानवधारणं स्यात् । ततश्च परस्परभिन्नसंततीनामप्युपादानत्वं प्रसज्येत विशेषाभावात् ।

मृत्पिण्ड स्थास आदिकों में और तन्तु पटादिकों में सर्वथा भेद होने से अन्वय का अभाव समान होने पर भी स्थास का उपादान मृत्पिण्ड ही हो कोश का स्थास ही कुशूल का कोश ही एवं घट का कुशूल ही उपादान हो, किन्तु पट आदि स्थास आदि के उपादान न हों । इस प्रकार के नियम का करने वाला कोई भी कारण नहीं है कि जिससे मृत्पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घटादिकों में पूर्व-पूर्व का उत्तररूप होना सकल लोक साक्षिक न हों । अर्थात् है ही है ।

बौद्ध—वैलक्षण्य—भेद का अवधारण न करना ही मृत्पिण्ड आदि में उत्तर-उत्तर का उपादान कारण है । अर्थात् भेद के न समझने से ही वे मृत्पिण्ड आदि आगे-आगे की पर्याय के लिये कारण माने जाते हैं किन्तु तन्तु आदि घट के लिये उपादान कारण नहीं माने जाते हैं । मतलब मृत्पिण्ड घटादि में ही अभेद का अवधारण है तन्तु घटादि में नहीं है ।

जैन—यदि सदृशरूप अपरापर कार्य की उत्पत्ति में विप्रलम्भ होने से जानने वालों को अभेद स्वीकृत है, तब तो समसमयवर्ती—फल के अंतर्वर्ती जो तिलादि हैं, जो कि संतति से उत्पन्न हो रहे हैं, उनमें भी भेद का अवधारण नहीं बन सकेगा । और इसी हेतु से परस्पर में भिन्न संततियों में भी उपादानपने का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि दोनों जगह कोई अंतर नहीं है ।

भावार्थ—बौद्ध के यहाँ कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य होता है अतः आचार्य ने कहा जैसे मिट्टी का पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट आदि में अगले-अगले कार्य को पूर्व-पूर्व कारण होते हैं वैसे ही तन्तु आदि भी घट के कारण बन जावें कोई कारण जब नष्ट हो गया तब उसके कार्य संबंध क्या रहा ? इस बौद्ध ने कहा कि इनमें भेद का निश्चित न होना ही कारण है जिससे परस्पर में कार्य-कारणभाव सिद्ध है कि तन्तु घट तो भिन्न-भिन्न हैं । तब आचार्य ने कहा कि तन्तु घट की बात जाने दो किन्तु जहाँ भेद का निश्चय नहीं है वहाँ भिन्न-भिन्न संततियों में कार्य-कारणभाव मानना पड़ेगा, जैसे तिल की फली एक साथ तिल भरे हैं बढ़ रहे हैं उनमें भेद का अवधारण नहीं

१ उपादानानुस्यूतता । व्या० प्र० । २ उपादानं । दि० प्र० । ३ इति सौगतप्रतिपादितं निश्चयकारणं किमपिन ह्यस्ति । दि० प्र० ।

[बौद्धमते एकसंताने कार्यकारणभावो यदि घटेत तर्हि भिन्नसंतानेष्वपि भविष्यति
उभयत्रान्यवाभावसमानत्वात् ।]

यथैव ह्येकसंतानवर्तिनः सदृशस्यापरापरस्योत्पत्तिः सादृश्यमभावाव्यवधानं^१ च
बाह्यं, विप्रलम्भस्त्वनाद्यभेदवासनाहितमभेदज्ञानमन्तरङ्ग^२ वैलक्षण्यानवधारणस्य कारणं
तथा^३ भिन्नसंततीनामपि तिलादीनामिति न विशेषः । ननु^४ भिन्नदेशानां तेषां सत्यामपि
सादृश्योत्पत्तौ नाभावेनाव्यवधानमन्तराले परस्परमभावस्य व्यवधायकस्य भावादिति न
मन्तव्यं, मृत्पिण्डस्थासादीनामेकसंतानवर्तिनामपि भिन्नदेशत्वसंभवादभावव्यवधानप्रसङ्गात् ।

है अतः एक तिल दूसरे के लिये उपादान हो जावेगा । मतलब यहाँ फली में उत्पन्न हुये और बढ़ते
तिलों की रात है बीजरूप वालों की नहीं है बीजरूप से तो तिल का उपादान है किंतु एक साथ
उत्पन्न हुये तिलों में उपादान भाव नहीं है । फिर भी बौद्ध को वैसा मानना पड़ेगा, क्योंकि भेद का
अवधारण नहीं करना रूप हेतु यहाँ मौजूद है ।

[बौद्ध के मत में यदि एक संतान में कार्य-कारणभाव है तो भिन्न संतानों में भी होगा क्योंकि
दोनों में अन्वय का न होना समान है ।]

क्योंकि जिस प्रकार से एक संतानवर्ती सदृश रूप अपरापर कार्य की उत्पत्ति में सदृशता
एवं व्यवधायक के अभाव से व्यवधान का न होना ये बाह्यकारण है । अर्थात् क्षणों के मध्य में
व्यवधान करने वाले अन्यक्षणों के अभाव से क्षणों में व्यवधान का अभाव है । और अनादि अभेद
वासना से प्राप्त हुआ जो अभेद ज्ञान वह विप्रलम्भ है, वह भेद को न समझने में अंतरंग कारण है ।
ये दोनों ही कारण जिस प्रकार से एक संतानवर्ती में है तथैव भिन्न संतान रूप तिलादिकों में भी है
इसलिये इन दोनों में कोई अंतर नहीं है ।

बौद्ध—भिन्न देशवर्ती उन तिलादिकों में सादृश्य की उत्पत्ति के होने पर भी उनमें अभाव
से अव्यवधान नहीं है अर्थात् अभाव से व्यवधान है उन तिलों के अंतराल में परस्पर में व्यवधान
करने वाला अभाव मौजूद है ।

जैन—ऐसा नहीं मानना चाहिये । क्योंकि एक संतानवर्ती मृत्पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल
घट आदिकों में भी भिन्न देश संभव है कारण कि बौद्धों ने देश को भी तो क्षणिक माना है । अतएव

१ मा । इति व्या० प्र० । २ जातम् । व्या० प्र० । ३ स्याद्वाद्याह यथा सदृशस्य एकसन्तानवर्तिनः । उत्तरोत्तरो-
त्पत्तिसादृश्यं अभावेन सीमाकरणं च द्वयमपि बाह्यं कारणं तथा विप्रलम्भः अनाद्यभेदवासनारोपितमभेदज्ञानम् ।
अन्तरङ्गकारणं वैलक्षण्यानवधारणस्य बाह्याभ्यन्तरकारणद्वयं = तथा भिन्नसन्तानानां तिलादिबीजानां
वैलक्षण्यानवधारणस्य पूर्वोक्तकारणद्वयं ज्ञेयं विशेषाभावात् । दि० प्र० । ४ अत्राह सौगतः । ननु अहो स्याद्वादिन्
भिन्नदेशानां तिलादीनां समानोत्पत्तौ सत्यामपि लभावेनाव्यवधानमेव कस्मात् । मध्ये अन्योन्यमभावः सीमाकरोऽस्ति
यतः । = स्याद्वाद्याह हे सौगत ! इति त्वया न ज्ञातव्यम् । कस्मात् । एकसन्तानवर्तिनामपि मृत्पिण्डादीनां भिन्नदेशत्वं
सम्भवति । अभावेन सीमाकरणं प्रसजति यतः । दि० प्र० ।

न हि तेषां काल एव भिद्यते^१ न पुनर्देशस्तस्य नित्यत्वप्रसङ्गात् । सर्वस्वलक्षणानां स्वरूपमात्रदेशतया देशाभावाददोष इति चेत्कथमेवं भिन्नसंततितिलादीनां भिन्नदेशता ? । स्वरूपलक्षणदेशभेदादिति चेन्मृत्पिण्डादीनामपि तत एव सास्तु, न चान्यत्रापीत्यविशेष^२ एव । सादृश्यविशेषाद्विशेष इत्यपि मिथ्या, सादृश्यस्यापि परमार्थतः क्वचिदभावात्सामान्यवत् । अतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या कल्पितस्य तु सादृश्यस्य को विशेष^३ इति चिन्त्यम् । वैलक्षण्यानवधारणहेतुत्वमिति^४ चेत् कृष्णतिलादिषु भिन्नसंतानेष्वपि समानम् । परस्पराश्रयत्वानु-

उनमें भी अभाव के व्यवधान का प्रसंग आ जावेगा । क्योंकि उन एक संतानवर्ती मृत्पिण्डादिकों में काल से तो भेद हो किंतु देश से न होवे ऐसा तो है नहीं ।

अन्यथा देश को नित्यपने का प्रसंग आ जायेगा किन्तु बौद्ध के मत में तो किसी भी वस्तु को नित्य नहीं माना है ।

बौद्ध—सभी स्वलक्षणों में स्वरूप मात्र ही देश के होने से भिन्न देश का अभाव है अतः हमारे यहाँ कोई दोष नहीं है । अर्थात् हम स्वरूप मात्र को ही सभी स्वलक्षणों का देश कहते हैं अन्य कोई देश है ही नहीं इसलिये देश में भेद का अनवधारण लक्षण दोष हमारे यहाँ सम्भव नहीं है ।

जैन—पुनः इस प्रकार से भिन्न संतति रूप तिलादिकों में भी भिन्न देशता कैसे हो सकेगी ? अर्थात् उनमें भी भिन्न देशता नहीं सिद्ध हो सकेगी ।

बौद्ध—तिलादिकों में जो स्वरूप लक्षण देश के भेद से भिन्नता है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो मृत्पिण्ड आदि में भी स्वरूप लक्षणदेश भेद तो मौजूद ही है उसी से उनमें भी देश भिन्नता हो जावे और वह अन्यत्र भी—मृत्पिण्डादिकों में भी नहीं है, इसलिये दोनों में समानता ही है ।

बौद्ध—सादृश्य विशेष से उन तिलों से मृत्पिण्डादि में अन्तर है । अर्थात् सादृश्य मात्र-सामान्य सदृशता तो उन तिलों में है कि एक विशेष सदृशता जो मृत्पिण्डादि में है वह उनमें नहीं है ।

जैन—यह कथन भी मिथ्या ही है । क्योंकि आपके अभिप्राय से तो सादृश्य भी परमार्थ से किसी वस्तु में नहीं है । सामान्य के समान । और अतत्कार्य कारण की व्यावृत्ति से कल्पित सादृश्य में क्या अन्तर है यह तो आप सौगत को विचार करना चाहिये ।

बौद्ध—भेद का निश्चय न होना ही हेतु है । वही सादृश्य विशेषरूप है ।

जैन—तब तो सदृश रूप काले तिल आदिक भिन्न संतानों में भी वह हेतु समान है । और इस प्रकार से परस्पराश्रय दोष का भी प्रसंग आ जाता है । सादृश्य विशेष के होने पर मृत्पिण्ड स्थास

१ मृत्पिण्डस्थासाद्युत्तरोत्तरकार्यकालापेक्षया । दि० प्र० । २ मा भवतु । दि० प्र० । ३ कालादिभ्यो मृत्पिण्डादेः । व्या० प्र० ४ सादृश्यमिति सम्बन्धः । दि० प्र० ।

पङ्कश्चैवम् । सति सादृश्यविशेषे मृत्पिण्डादिषु वैलक्षण्यानवधारणं तस्मिन् सति सादृश्य-
विशेषनिश्चयः । इति नैकस्यापि निर्णयः स्यात् । नन्वनिश्चितादेव^१ सादृश्यविशेषाद-
भेदाध्यवसायरूपं वैलक्षण्यानवधारणं निश्चीयते । ततः^२ सादृश्यविशेषानुमानान्तेतरेतराश्रयत्वं
तयोरिति चेन्न, एवं यमलकादिष्वपि तदनुमानप्रसङ्गादन्वयस्यापि तद्वत्प्रसक्तेः ।

[निरन्वयकारणमपि स्वकार्यं करोति न पुनः भिन्नकार्यमिति मान्यतायां दोषानाहुः जैनाः ।]

ननु^३ च निरन्वयस्यापि^४ तादृशी प्रकृतिरात्मानं कारणान्तरेभ्यो यथा विशेषयतीति

आदिकों में भेद का निश्चय नहीं होगा, और भेद का निश्चय न होने पर ही सादृश्य विशेष का निश्चय होगा । और इस प्रकार से तो एक का भी निर्णय नहीं हो सकेगा ।

बौद्ध—अनिश्चित ही सादृश्य विशेष से अभेद का अध्यवसाय रूप भेद का अनवधारण निश्चय किया जाता है । और तब सादृश्य विशेष अनुमान से उन सादृश्य विशेष और भेद के अनवधारण में इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि इस प्रकार से तो यमलक आदि—युगपत् उत्पन्न हुये युगल बालकों में भी उस अनुमान का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् “यह वही हो सकता है क्योंकि भेद का अनवधारण है ।” ऐसा अनुमान करना पड़ेगा । और अन्वय में भी उस प्रकार का प्रसंग आ जायेगा अर्थात् अन्वय रूप एक संतान में भी युगपत् हुये बालकों की सदृशता के समान सादृश्य विशेष का अनुमान हो जायेगा ।

बौद्ध—जिस प्रकृति के द्वारा अपने निरन्वय भाव को कारणान्तर—तंतु आदि से भिन्न किया जाता है निरन्वय की भी प्रकृति उसी प्रकार की है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि अत्यन्त रूप से विशेष-भेद की उपलब्धि नहीं हो रही है । अर्थात् भिन्न संतान में भी सर्वथा भेद है और अभिन्न संतान में भी सर्वथा भेद है, भेद दोनों में ही समान है क्योंकि अन्वय को आपने स्वीकार ही नहीं किया है और प्रकृति की समानता नहीं देखने से यह सारा जगत् सर्वथा अंध के समान ही हो जायेगा । अर्थात् आपके सिद्धान्त से अन्वय का अभाव होने से यह सारा जगत् अंधा ही हो जायेगा । क्योंकि विशेष और अविशेष दोनों के नहीं देखने पर उन दोनों से रहित वस्तु रूप की उपलब्धि का ही अभाव है ।

इसलिये यह इसकी प्रकृति है कि जिसके द्वारा पूर्व स्वभाव का विनाश, उत्तर स्वभाव का ग्रहण और दोनों के आधार रूप स्थिति को ये कारण प्रतिक्षण धारण करता है अतएव यह उत्पाद, वपय, ध्रौव्यात्मक कारणरूप उपादान का नियम सिद्ध हो गया । क्योंकि पूर्व स्वभाव की हानि और उत्तर स्वभाव का उपादान मात्र स्वीकार करने पर वह उपादान का नियम सिद्ध नहीं हो सकता है

१ अन्यस्मान्निर्णयोस्तीत्याह । व्या० प्र० । २ वैलक्षण्यानवधारणात् सादृश्यविशेषो निश्चीयते । व्या० प्र० । ३ एक-सन्तानत्वस्य । दि० प्र० । ४ मृत्पिण्डादेः । व्या० प्र० ।

चेन्न, अत्यन्तविशेषानुपलब्धेः । तदविशेषादर्शने सर्वथान्ध्यं^१ स्यात्, विशेषाविशेषयोरदृष्टौ^२ तद्रहितवस्तुरूपोपलम्भाभावात् । तस्मादियमस्य प्रकृतिर्यथा^३ पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानाधिकरणस्थिति^४ प्रतिक्षणं विभति यतोयमुपादाननियमः सिद्धः, पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानमात्रे तदसिद्धेः स्थितिमात्रवत् । अथापि^५ कथंचिदुपादाननियमः^६ कल्प्येत, कार्यजन्मनि कथमाश्वासः ? संवृतिमात्रेणोपकल्पितादुपादाननियमात्कार्योत्पत्तावनाश्वासदर्शनात् स्वप्नवत् । तदत्यन्तासतः कार्यस्योत्पत्तेस्तन्तुभ्यः^७ पटादिरेव न पुनः कुटादिरिति निर्हेतुको नियमः^८ स्यात् ।^९ पूर्वपूर्वविशेषादुत्तरोत्तरनियमकल्पनायामनुपादानेपि^{१०} स्यात् तन्नियमकल्पना ।

स्थिति मात्र के समान । अर्थात् अधिकरण रूप स्थिति को न मानकर निरन्वय विनाश स्वीकार करने पर उसमें उपादान का नियम सिद्ध नहीं हो सकता है । जैसे कि सर्वथा नित्य में स्थिति मात्र को स्वीकार करने पर उपादान का नियम सिद्ध नहीं हो सकता है ।

और यदि आप किसी भी प्रकार से उपादान का नियम कल्पित करें तब तो कार्य की उत्पत्ति में विश्वास भी कैसे हो सकेगा ? अर्थात् आधार रूप द्रव्य की स्थिति को न मानने पर “इससे यह होगा” इस प्रकार का विश्वास भी कैसे हो सकेगा ?

यदि आप संवृति मात्र से उपकल्पित उपादान के नियम से कार्य की उत्पत्ति मानेंगे तब तो कहीं पर विश्वास ही नहीं होगा । जैसे कि स्वप्न में कार्य हुआ देखकर उसके कारण पर विश्वास नहीं होता है ।

इसलिये अत्यंत ही असत् से कार्य की उत्पत्ति मानने से तो “तन्तुओं से पटादि ही हों न पुनः घटादि” यह नियम भी निर्हेतुक अकारण ही रहेगा । विवक्षित कार्य की उत्पत्ति में पूर्व-पूर्व विशेष उत्तरोत्तर नियम की कल्पना करने पर तो जो उपादान नहीं है उसमें भी उपादान नियम की कल्पना हो जायेगी । अर्थात् वस्त्र कार्य के प्रति मिट्टी का पिंड भी उपादान बन जायेगा । तथा वैसा नहीं दोखता है वह अहेतुक ही है, एवं इसी में ही हमारा और तुम्हारा मत भेद है ।

१ पररूपेणैव स्वरूपेणापि । व्या० प्र० । २ अदर्शने । व्या० प्र० । ३ ताः । व्या० प्र० । ४ आधाररूपाम् । दि० प्र० । ५ स्याद्वाद्याह हे सौगत ! भवन्मते पूर्वस्वभावोहीयते उत्तरस्वभाव उत्पद्यते इति पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानमात्रे अङ्गीकृते तस्योपादाननियमस्यासिद्धिः कोर्थः । उपादाननियमो सिद्धयति = अथ पुनराह स्याद्वादी केचचित्प्रकारेणोपादाननियमः सौगतर्यदि कल्प्येत् तदा उपादाननियमाभावे सौगतानां कार्योत्पत्तौ प्रतीतिः । कथं जायते न कथमपि सौगतो वदति कल्पयथा कार्योत्पत्तिरस्तीति चेत् कल्पनामात्रेण स्थापितात् उपादाननियमः । तस्मात्कार्योत्पत्तौ सत्यां प्रतीतिदर्शनं न । यथास्वप्ने प्रतीतिदर्शनं नास्ति । = पुनराह स्याद्वादी हे सौगत यतएवं तत्तस्मात्सर्वथा असतः कार्यस्योत्पत्तिर्भवतीति चेत् । तदा तन्तुभ्यः घटादिरेव जायते न पुनर्घटादिरिति नियमो निरर्थको जातः स्यात् । दि० प्र० । ६ केनचित्प्रकारेण । व्या० प्र० । ७ न तु तात्त्विकः । व्या० प्र० । ८ हेतोः । व्या० प्र० । ९ विवक्षितकार्योत्पत्तौ । व्या० प्र० । १० तन्तुलक्षणात् । व्या० प्र० । ११ कार्यः । व्या० प्र० ।

तथाऽदर्शनमहेतुरत्रैव¹ विचारात्² । न हि यत्रैव विवादस्तदेव नियमहेतुरिति युक्तं वक्तुम-
विचारकत्वप्रसङ्गात् ।

[तन्तुसामान्यमातानवितानादिरूपेण तन्तुविशेषश्च परस्परनिरपेक्षोः उभौ पटकार्यं कर्तुं न शक्नुतः ।]

यथादर्शनं नियमकल्पनायां हेतावपि³ कथंचिदाहितविशेषतन्तूनां⁴ पटस्वभावप्रतिलम्भो-
पलम्भात्⁵ तदन्यतरविधिप्रतिषेधनियमनिमित्तात्ययात्⁶ । प्रतीतेरलमपलापेन । न हि तन्तु-
तद्विशेषयोरन्यतरस्य⁷ विधौ निषेधे च⁸ नियमनिमित्तमस्ति । न हि तन्तव⁹ एवातानादि-

भावार्थ—सोगत कहता है कि पूर्व के क्षण कारणरूप हैं वे कार्य क्षणों को स्पर्श न करते हुए ही उत्तर कार्य क्षण को उत्पन्न करते हैं क्योंकि इसी प्रकार से लोक में देखा जाता है, तब उत्तर में स्याद्वादी कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो सभी अहेतुक और उपादान रहित हो गये पुनः तन्तु आदिकों से घटादि भी उत्पन्न हो जाये क्या बाधा है ? क्योंकि उपादान का नियम दोनों में नहीं है। भाई ! हमारा और आपका इस उपादान सहित अथवा उपादान रहित में ही तो विरोध है ।

बौद्ध—जिस अदर्शन में ही विवाद है वही अदर्शन नियम के हेतु है ।

जैन—ऐसा कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि अविचारकपने का प्रसंग आ जायेगा ।

[तंतु सामान्य और आतान वितानादि रूप तंतु विशेष ये दोनों परस्पर निरपेक्ष होकर वस्त्र कार्य नहीं कर सकते हैं ।]

यथा दर्शन के नियम की कल्पना में हेतु रूप स्वीकार करने पर भी कथंचित् आतानादि प्रकार से विशेषता को प्राप्त हुये तंतु समूह में पटस्वभाव की प्राप्ति उपलब्ध हो रही है एवं उन तंतु सामान्य और तंतु विशेष में किसी एक की विधि या प्रतिषेध का नियम करने में कोई निमित्त नहीं है । इसलिये प्रतीति का अपलाप करने से बस होवे ।

तंतु सामान्य और तंतु विशेष में से किसी एक की विधि और किसी एक का निषेध करने में कोई भी नियम कारण नहीं है । आतान वितान आदि विशेष से निरपेक्ष ही तंतु समूह वस्त्र स्वभाव को प्राप्त होते हुये नहीं देखे जाते हैं । कि जिससे तंतु मात्र सामान्य की ही विधि का नियम, अथवा तंतु विशेष का निषेध का नियम हो सके । अर्थात् नहीं हो सकता ।

तंतु सामान्य से निरपेक्ष विशेष ही वस्त्ररूप होते हुये भी उपलब्ध नहीं हो रहे हैं कि जिससे विशेष विधि का नियम अथवा तंतु सामान्य का प्रतिषेध किया जा सके । अर्थात् नहीं किया जा

1 कार्यस्य । दि० प्र० । 2 अत्रैवोपादाने आत्रयोविप्रतिपत्तिस्तदेव दृष्टान्तकारणमिति कथयितुं युक्तं न हि वक्तुं भवति चेत्तदा अविचारकत्वं प्रसजति यतः । दि० प्र० । 3 तस्माद्यथादर्शनं नियमकल्पनायां सत्यां हेतावप्यङ्गी-
कर्तव्या तदलं प्रतीत्यपलापेनेति संबन्धः । व्या० प्र० । 4 प्राप्ति । दि० प्र० । 5 सामान्यस्य विधौ विशेषस्य निषेधे विशेषस्य विधौ सामान्यस्य निषेधे वा । व्या० प्र० । 6 अतिक्रमात् । दि० प्र० । 7 आतानवितान । दि० प्र० । 8 वा । इति पा० । दि० प्र० । 9 एवातानवितानादि । इति पा० । दि० प्र० ।

विशेषनिरपेक्षाः पटस्वभावं प्रतिलभमानाः समुपलभ्यन्ते, येन तन्तुमात्रस्यैव विधिनियमो विशेषप्रतिषेधनियमो वा स्यात् नापि तन्तुनिरपेक्षो विशेष एव पटस्वभावं स्वीकुर्वन्नुपलभ्यते यतो विशेषविधिनियमस्तन्तुप्रतिषेधनियमो वावतिष्ठेत् । न चोपलब्ध्यनुपब्धी मुक्त्वान्यन्निमित्तं ¹तद्विधिप्रतिषेधयोर्नियमस्ति येन तदस्ययेषि² तदुभयप्रतीतेरपलापः शोभेत् । ³ननु च नास्ति तन्त्वाद्यन्वय ⁴उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ⁵स्वभावानुपलब्धिस्तत्प्रतिषेधनियमनिमित्तं, विशेषमात्रस्यैवोपलब्धिस्तद्विधिनियमहेतुत्वादिति चेन्न, ⁶तन्त्वाद्यन्वयवत्तद्विशेषस्यापि ⁷निरपेक्षस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरविशेषात्प्रतिषेधनियमप्रसङ्गात् । तस्माद्दुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरनन्वयस्यैव⁸ न ⁹पुनरुभयरूपस्य । इत्यलं प्रसङ्गेन । सर्वथान्वयविशेषयोरेव प्रतिषेधनियमस्य निमित्ताभावात्⁹ तदुभयरूपजात्यन्तरस्यैव विधिनियमस्य

सकता । तथा उन तंतु सामान्य और तंतु विशेष की विधि प्रतिषेध का नियम करने में उपलब्धि और अनुपलब्धि को छोड़कर अन्य कोई कारण भी नहीं है । कि जिससे उस नियम के अभाव में भी उन दोनों की प्रतीति का अपलाप शोभित हो सके ।

बौद्ध—“तंतु आदि में अन्वय नहीं है । क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त की अनुपलब्धि है ।” अर्थात् सामान्यरूप तंतु आदि की पटादि में उपलब्धि नहीं हो रही है । और यह स्वभावानुपलब्धि हेतु उस तंतु आदि के अन्वय का प्रतिषेध करने वाला निमित्त है, कारण कि विशेष मात्र ही तंतु उपलब्धि हो रहे है । वे ही वस्त्र की विधि का नियम कराने में हेतु हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि तंतु आदि के अन्वय के समान सामान्य से निरपेक्ष और उपलब्धि लक्षण प्राप्त वे तंतु विशेष उपलब्धि नहीं हो रहे हैं । अतः दोनों की अनुपलब्धि समान होने से तंतु विशेष के भी प्रतिषेध के नियम का प्रसंग आ जायेगा । अतः परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेष की उपलब्धि नहीं है । इसलिये अनन्वय—अन्वय रहित वस्तु की ही उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि है किन्तु उभय रूप सामान्य विशेषात्मक वस्तु की अनुपलब्धि नहीं है । अतः इस प्रसंग से बस हो ।

1 तन्तुतन्तुविशेषविधिप्रतिषेधयोः नियमे अवधारणे दर्शनादर्शने त्यक्त्वा अन्यत्किञ्चिन्निमित्तं नास्ति = तस्योपलब्ध्यनुपलब्धिलक्षणनिमित्तस्यापगमे तदुभयप्रतीतेः तन्तुतद्विशेषाश्वासस्यापलापो निषेधो येन केन शोभेत् अपितु न शोभेत् । दि० प्र० । 2 सौमतो वदति । हे स्याद्वादिन् तन्त्वाद्यन्वयो नास्ति कस्माद्दुपलम्भलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भात् । इति स्वभावानुपलब्धिः । तस्यान्वयप्रतिषेधनियमस्य । कारणं भवति कस्मात् । विशेषमात्रस्यैव उपलम्भात् दर्शनात् । पुनर्विशेषविधिनियमकारणत्वादिति चेन्न । यथाविशेषनिरपेक्षस्य तन्त्वाद्यस्य तथा अन्वयनिरपेक्षस्य तन्तुविशेषस्याप्युपलम्भलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भाद्दुभयत्रापि विशेषाभावादेवं सति विशेषप्रतिषेधनियमः प्रसजति यतः । दि० प्र० । 3 अनुस्यूतिः प्रटेः । व्या० प्र० । 4 तन्तुरूपादर्शनम् । (दि० प्र०) । 5 तन्तुः । दि० प्र० । 6 ताः । व्या० प्र० । 7 प्राप्तास्य । इति पा० । व्या० प्र० । 8 सर्वथा अन्वयः सर्वथाविशेषश्च प्रतिषेधनियमनिमित्तं भवति = अन्वयविशेषतदुभयजात्यन्तर एव पटकार्योत्पत्तौ विधिनियमस्य निमित्तं भवति । 9 निमित्तभावात् । इति पा० । दि० प्र० ।

निमित्तसद्भावात्¹ तन्निमित्तस्यार्थक्रियाकारित्वस्य सकलप्रमाणोपलम्भस्य च प्रसिद्धे विरोधाद्य-
संभवाच्च³ । तदेवं⁴ ५क्षणिकैकान्तपक्षे,—

न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात्⁷ ।

सन्तानान्तरवन्नेकः⁸ सन्तानस्तद्वतः पृथक्⁹ ॥४३॥

क्षणिकैकान्तपक्षेपीति विवर्तते¹⁰ । तेन पूर्वोत्तरक्षणानां न हेतुफलभावो वास्यवासकभाव-
११कर्मफलसंबन्धः¹² प्रवृत्त्यादिर्वास्ति, सर्वथाऽनन्वये सत्यन्यभावात्¹³ संतानान्तरवत् । तेषामेक-

परस्पर निरपेक्ष सर्वथा अन्वय और सर्वथा विशेष का ही प्रतिषेध करने वाला कोई निर्मित्त नहीं है । क्योंकि तदुभयात्मक जात्यन्तर वस्तु की ही विधि का नियम करने वाले हेतु देखे जाते हैं । और उन हेतुओं में सकल प्रमाणों से उपलब्ध अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध है । एवं उसमें विरोध आदि दोष भी असंभव है । ऐसा समझना चाहिये ।

उत्थानिका—इसलिये क्षणिकैकांत पक्ष में असत् रूप कार्य नहीं हो सकता है और उपादान का नियम भी नहीं हो सकता है ।

आगे क्षणिकैकांत पक्ष में ही और भी दोषों को दिखाते हुये आचार्य कहते हैं—

हेतुभाव फलभाव न होंगे, क्योंकि न अन्वय है उनमें ।

भिन्न-भिन्न संतान सदृश, है अन्यभाव पूर्वोत्तर में ।

पूर्वोत्तर क्षण में इक ही, संतान कहो तो ठीक नहीं ।

क्योंकि निज वस्तु से इक, संतान पृथक् है कभी नहीं ॥४३॥

कारिकार्थ—इस क्षणिक एकांत पक्ष में भिन्न संतान के समान कारण-कार्यभाव आदि कुछ भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इनमें अन्वय के न होने से भिन्नपना है । संतानी से पृथक् कोई एक संतान नहीं है ॥४३॥

“क्षणिकैकांतपक्षेऽपि” यह अनुवृत्ति चली आ रही है । इसलिये उन पूर्वोत्तर क्षणों में हेतुफल भाव-कारण—कार्यभाव नहीं है, अथवा वस्य-वासक भाव, कर्मफल संबन्ध, प्रवृत्ति आदि भी नहीं हैं । सर्वथा अन्वय के न होने पर अन्य भाव भिन्नरूपता है । जैसे कि भिन्न संतान में अन्वय के न होने से भिन्नरूपता है ।

- 1 उपलब्धिः । इति । व्या० प्र० । 2 तदुभयरूपजात्यन्तरविधिनियमस्य निमित्तं तस्य । व्या० प्र० । 3 विरोधाद्य-
वीस्तादीनां अघटनाच्च । दि० प्र० । 4 वक्ष्यमाण प्रकारेण । दि० प्र० । 5 पुनर्दूषणआहुराचार्याः । दि० प्र० ।
6 आदिशब्देन वास्यवासकभावकर्मफलसम्बन्धं प्रवृत्त्यादीन् ग्रहणम् । दि० प्र० । 7 सर्वथा अनन्वयेसति
भिन्नत्वात् । दि० प्र० । 8 प्रकृतसन्तानादन्यः सन्तानः सन्तानान्तरं यथा सन्तानादिभिन्नम् । दि० प्र० । 9 भिन्नो-
भवेत् । दि० प्र० । 10 अनुवर्तते । इति पा० । दि० प्र० । 11 क्रियायां विषयः कर्मम् । व्या० प्र० ।
12 बन्धः । इति पा० । व्या० प्र० । 13 अन्यत्वात् । व्या० प्र० ।

संतानत्वात्सोस्तीति चेन्न, एकसंतानस्य तद्वतः पृथगसत्त्वात्^१, संतानिन एवापरामृष्टभेदाः सन्तान इति स्वयमभ्युपगमात् सर्वेषां वैलक्षण्याविशेषात् ।^२ सन्तानसंकरप्रसङ्गश्चाविशेषेणापरामृष्टभेदत्वस्य^३ संभवात्, एते^४ एवाभेदपरामर्शविषया न पुनरन्ये इति^५ विशेषनिबन्धनस्याभावात् ।

[स्वभावतो पृथक्-पृथक् संततयः कर्मतत्फलादिसंबन्धे हेतुरितिमान्यतायां जैनाचार्याः संबोधयन्ति ।]

विलक्षणानामत्यन्तभेदेऽपि स्वभावतः^६ किलासंकीर्णाः संततयः^७ कर्मफलसंबन्धादिनिबन्धनं शशविषाणस्येव^८ वर्तुलत्वमाचरितं कश्चेतनः श्रद्दधीत ? प्रत्यक्षेणाप्रतीतेर्थे स्वभावस्याश्रयितुमशक्यत्वात् ।

बौद्ध—उन पूर्वोत्तर क्षणों में संतानता होने से वे कारणकार्य भावादि पाये जाते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । संतानी से पृथक् एक संतान का अभाव है क्योंकि आपने तो ऐसा स्वीकार किया है कि पूर्वोत्तर क्षण रूप एवं अपरामृष्ट भेद वाले संतानी ही संतान है । एवं सभी क्षणों में परस्पर में विलक्षणता समान है । इस कथन में तो संतान संकर का भी प्रसंग आ जाता है । क्योंकि सभी स्वसंतानवर्ती और भिन्न संतानवर्ती इन दोनों में अपरामृष्ट भेद-एक दूसरे का स्पर्श न करते हुये भेद का होना तो समान ही है । “ये ही अभेद परामर्श के विषय हैं किन्तु अन्य भिन्न संतानवर्ती नहीं हैं” इस भेद को करने वाला कोई कारण भी नहीं है । अर्थात् विवक्षित क्षण जौ के अंकुर के प्रति जो कोई भी अविवक्षित क्षण गेहूँ आदि का बीज कारण हो जायेगा, इस तरह से संतान में अंकुर संकर दोष आ जावेगा ।

[स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न संततियाँ कर्म और उसके फल आदि के सम्बन्ध में कारण हैं ऐसा मानने पर जैनाचार्य समझते हैं ।]

विलक्षणों में अत्यंत भेद के होने पर भी स्वभाव से ही असंकीर्ण संततियाँ कर्मफल और उसके सम्बन्ध आदि में कारण हैं । यह कथन तो इस प्रकार का है कि जैसे खरगोश के सींग को गोलाकार कहना है । कौन चेतना सहित मनुष्य इस कथन पर श्रद्धान करेगा ?

अर्थात् स्वभाव से संकीर्ण—मिश्रित अभेद रूप ही संतान परस्पर प्रत्यक्ष आदि—ज्ञान में प्रसिद्ध है । फिर भी स्वभाव से वे अन्य संततियों के साथ असंकीर्ण—भिन्न हैं ऐसा कहना खरगोश के सींग की गोलाई के समान असत् है प्रत्यक्ष के द्वारा अप्रतीत पदार्थ में स्वभाव का आश्रय लेना शक्य नहीं है क्योंकि ऐसा तो आपने स्वयं ही कहा है कि

१ भिन्नत्वेन । व्या० प्र० । २ किञ्च । व्या० प्र० । ३ सन्तानसङ्करप्रसङ्गं व्यवस्थापयति । व्या० प्र० । ४ एकसन्तानवर्तित एव । व्या० प्र० । ५ कारणस्य । व्या० प्र० । ६ असंकीर्णरूपायः सन्तानेरेव प्रत्यक्षादिना प्रसिद्धौ स्वभावतः असंकीर्णा इति वचनस्य शशविषाणस्य वर्तुलत्वकथनेन समानत्वमेव । दि० प्र० । ७ भवतीत्येतत्स्वभावनिबन्धनत्वम् । व्या० प्र० । ८ इव शब्दो भिन्नरूपे तेन वर्तुलमिवारचितं कल्पितमिति द्रष्टव्यम् । व्या० प्र० ।

“प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्ये यदि ^१पर्यनुयुज्यते । स्वभावेरुत्तरं वाच्यं दृष्टे ^२कानुपपन्नता ।”

इति स्वमभिधानात् । न च^३ परस्परं विलक्षणानामेव^४ क्षणानामत्यन्तमन्वयासत्त्वे-
प्यन्तर्बहिर्वा संततयोःसंकीर्णा एव प्रत्यक्षतः प्रतीताः, तस्यैकक्षणगोचरतया संतानाविषय-
त्वात् । नाप्यनुमानतः, स्वभावस्य कार्यस्य वा तल्लिङ्गस्य प्रतिबद्धस्यानवधारणात् । प्रत्यभि-
ज्ञानादि^५ तदनुमाने लिङ्गमिति चेन्न^६, तस्य क्वचिदन्वयासिद्धेर्व्यतिरेकानिश्चयाच्च । तत
एव नान्यथानुपपत्तिः, प्रत्यभिज्ञानादेः संतानाभावेऽसंभवनियमनिश्चयायोगात्, तत्रैकद्रव्य-

श्लोकार्थ—प्रत्यक्ष से प्रतीत अर्थ में यदि प्रश्न किया जाता है तो स्वभाव के द्वारा ही उसका उत्तर देना चाहिये क्योंकि प्रत्यक्ष से देखे गये पदार्थ में अनुपपत्ति ही क्या हो सकती है? अर्थात् कुछ भी नहीं। और परस्पर में विलक्षण—भिन्न रही क्षणों में अत्यन्त रूप से अन्वयका अभाव होने पर भी अन्तरंग अथवा बाह्य संततियाँ असंकीर्ण ही प्रत्यक्ष से अनुभव में नहीं आ रही हैं। क्योंकि वह प्रत्यक्ष ज्ञान एक क्षण को विषय करने वाला होने से संतान को विषय नहीं कर सकता है। अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा सन्निहित-वर्तमान का एक क्षण ही जाना जाता है ऐसा आपका कथन है। तथा अनुमान से भी उन अभिन्न रूप संततियों का अनुभव नहीं आता है। क्योंकि उस लिंगी-संतान के साथ स्वभाव हेतु अथवा कार्य हेतु का अविनाभाव निश्चित नहीं है।

बौद्ध—उस संतान का अनुमान करने में प्रत्यभिज्ञान आदि हेतु हैं।

जैन—नहीं। उन प्रत्यभिज्ञान आदिकों का कहीं पर अन्वय सिद्ध नहीं है। और व्यतिरेक का भी अनिश्चय नहीं है।

अर्थात् जैसे संतान के होने पर ही प्रत्यभिज्ञान होता है यह अन्वय किसी भी दृष्टांत में नहीं देखा जाता है। तथा नील स्वलक्षण रूप संतान के नहीं होने पर प्रत्यभिज्ञान का अभाव है इस व्यतिरेक का भी निश्चय नहीं है। इसलिये अन्यथानुपपत्ति भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञानादि में संतान का अभाव होने से असंभव नियम—नहीं होने रूप व्यतिरेक का नियम के निश्चय का अभाव है। अर्थात् “संतान है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की अन्यथानुपपत्ति है” इस प्रकार से यह हेतु भी घटित नहीं होता है। क्योंकि काले तिलों में संतान का अभाव होने पर भी यह तिल उसके सदृश है ऐसा प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है। अतः यहाँ व्यतिरेक निश्चित नहीं है।

१ स्याद्वादी वदति प्रत्यक्षज्ञानेनार्थे निश्चिते सति । यदि केनचित्पृच्छते तदास्वभावेरुत्तरं प्रतिपाद्यमस्य वस्तुनोयं स्वभावेति प्रत्यक्षेण इन्द्रियद्वारैरनुभूते वस्तुनि प्रमाणानुपपन्नता का न कापि न इति सौगतैः स्वयं कथनात् । दि० प्र० । २ तदा । व्या० प्र० । ३ किञ्च । दि० प्र० । ४ अर्थान्तरम् । दि० प्र० । ५ अत्राह सौगतस्तदनुमाने असंकीर्ण-सन्तानानुमाने प्रत्यभिज्ञानस्मरणादिकं लिङ्गं भवतीति चेत् न । कस्मात्तस्य सन्तानस्य कचिद्वस्तुनि अन्वयो न सिद्धयति । पुनः कस्माद्व्यतिरेकस्याप्यनियमात्=यत एवं ततः सन्तानसंकीर्णानुमाने अन्यथानुपपत्तिरपि लिङ्गं न । कस्मात्सन्तानाभावे प्रत्यभिज्ञानादि न सम्भवति इति नियमनिश्चयासंभवात् । दि० प्र० । ६ तत्र सन्तानाऽसंकीर्ण-नुमाने ततः प्रत्यभिज्ञानादेः सकशादेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरेव प्रसिद्धयति यतः । एवं सति सौगतानां विरुद्धत्वं निर्णीयते यतः । दि० प्र० ।

प्रत्यासत्तेरेव ततः प्रसिद्धे विरुद्धत्वनिर्णयात्^१ । ततो न संतानोस्ति स्वभावत एवासंकीर्णाः संतानान्तरैरिति सूक्तम् ।

स्यान्मतम्,—

अन्येष्वनन्यशब्दोयं संवृतिर्न^२ मृषा कथम् ? ।

मुख्यार्थः संवृतिर्न^३ स्याद्विना मुख्यान्न संवृतिः^४ ॥४४॥

संतानिभ्योऽनन्यः^५ संतानः, अन्यथात्मनो^६ नामान्तरकरणात्—आत्मा संतान इति,

उन क्षणों में एक द्रव्य की प्रत्यासत्ति ही उन प्रत्यभिज्ञानादि से प्रसिद्ध है । इसलिये बौद्ध का मत विरुद्ध ही निर्णीत होता है । इसलिये स्वभाव से ही भिन्न संतानों के साथ असंकीर्ण संतान नाम की कोई चीज सिद्ध नहीं होती है । यह बात बिल्कुल ठीक कही गई है ।

भावार्थ—बौद्ध का कहना है कि सर्वथा विलक्षणों में बिल्कुल भेद है और भिन्न संतानों से रहित वे संततियाँ स्वभाव से पृथक्-पृथक् हैं फिर भी वे कर्म उसके फल आदि के सम्बन्ध में कारण हैं आचार्य कहते हैं कि जिन संततियों में अनन्य नहीं है सर्वथा भेद है उसे एक संतान कहना गलत है । और उस संतान से कार्य-कारणभाव आदि में संबंध नहीं बन सकेगा ।

उत्थानिका—यदि आप बौद्ध ऐसा कहें तो—

भिन्न चित्तक्षण में जो है, संतानरूप से इक आत्मा ।

यह संवृति से कथन यदि तत्र, संवृति क्यों नहीं हो मिथ्या ॥

यदि संतति को मुख्य कहो तो, मुख्य अर्थ संवृति नहीं है ।

यदि संवृति है पुनः मुख्य के, विन संवृति नहीं घटती है ॥४४॥

कारिकार्थ—अन्य भिन्न-भिन्न क्षणों में अनन्य—ये क्षण अभिन्न है ऐसा कहना यह संवृति है तो यह असत्य क्यों नहीं होगी ? क्योंकि संवृत्ति मुख्य अर्थ को नहीं कह सकती है और मुख्य के बिना भी संवृति हो नहीं सकती है ॥४४॥

सन्तानो से अनन्य—अभिन्न संतान है अन्यथा आत्मा का भिन्न नामकरण कर दिया है ।

१ अक्षणिकनिर्णयात् । व्या० प्र० । २ कल्पना चेत्तर्हि । दि० प्र० । ३ घटपटादि । दि० प्र० । ४ यदि पुनरपरा-मृष्टभेदाः पूर्वोत्तरक्षणा एव पारमायिका न पुनस्तद्व्यतिरिक्तेष्वन्यः कश्चित्सन्तानानाम् तस्य सांवृतत्वात् इति मतिस्तदा सा कथं मृषैव न । स्यादस्तु तथैवेति चेन्न । तेन सर्वक्षणाणां व्याप्तिः सिद्धयेदिति सम्बन्धनियमाभाव-स्तदवस्तोर्मुख्यार्थश्चेत्सन्तानस्तर्हि न स्यादेव संवृत्तिस्तथा मुख्यार्थत्वेनाप्युच्चारश्चेन्न । तत् प्रत्यभिज्ञानादि मुख्य-प्रयोजनविधानमुपचारश्च न मुख्याद्विना संभवतीति । हेतुफलभावादेः प्रस्तुतसिद्धिरिति यथाक्रमं व्याख्यां कर्तुमुपक्रमते । व्या० प्र० । ५ सन्तानिभ्यः सुखदुःखादिपययिभ्योऽनल्पः कथञ्चिदभिन्नः अन्वयरूपः अस्माभिर्जनैरात्मा इत्युच्यते त्वया सौगतेन सन्तान इत्युच्यते । दि० प्र० । ६ प्रकारान्तरेण । व्या० प्र० ।

सुखादिपरिणामेभ्यो भिन्नस्य वस्तुनो व्यापकस्यात्मत्वादर्थभेदाभावात् । तथा नामान्तरकरणे^१ च नित्यानित्यविकल्पानुपपत्तेर्नान्यः^३ संतानो वास्तवः स्यात् ।

[संतानो नित्योऽनित्यो वेति विकल्पोभयपक्षे दूषणमवतारयति ।]

नित्यविकल्पे तस्य^४ संतानिव्यापकत्वाभावोऽनेकस्वभावेन^५ तद्व्यापकत्वे तस्य नित्यैकरूपत्वविरोधात् । एकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे संतानिनामेकरूपत्वापत्तेः कुतः संतानः^७ ? अनेकव्यापिनः^८ क्रमशः संतानत्वात् । तदनित्ये विकल्पेपि न संतानः, संतानि-वद्भेदादेकप्रत्यवमर्शाविषयत्वात्^९ ।

आत्मा का ही 'संतान' यह नाम धर दिया है । क्योंकि सुखादि परिणामों से भिन्न और व्यापक वस्तु ही आत्मा है अतः उसमें अर्थ भेद का अभाव है और उस प्रकार से आत्मा का ही "संतान" यह भिन्न नाम करने पर नित्य और अनित्य रूप विकल्प उठाने से संतान की सिद्धि नहीं हो सकती है । अतः अन्य संतान वास्तविक नहीं हो सकती है ।

[संतान नित्य है या अनित्य है ? इस प्रकार से दोनों विकल्पों में दूषण दिखाते हैं]

यदि आप नित्य विकल्प स्वीकार करेंगे तब तो वह संतान संतानी से व्यापक नहीं हो सकेगा क्योंकि आपने संतानी को अनित्य माना है अतः वह नित्य संतान के साथ कैसे व्याप्त होगा ? और यदि आप व्यापक मानें तब वह संतान संतानी के साथ अनेक स्वभाव से व्याप्त होता है या एक स्वभाव से ? यदि अनेक स्वभाव से व्यापक मानें तब तो वह संतान नित्य एक रूप नहीं रहेगा क्योंकि अनेक स्वभाव वाला हो गया । और यदि कहो कि एक स्वभाव से व्यापक है तब तो संतानी को भी एक रूपता का प्रसंग आ जायेगा । पुनः संतान कैसे सिद्ध हो सकेगी ? क्योंकि संतान तो क्रम-क्रम से अनेकों में व्याप्त होती है और यदि आप संतान को अनित्य मानने रूप दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं । जब तो उस अनित्य विकल्प में भी संतान सिद्ध नहीं होगा । क्योंकि संतानी के समान भेदरूप होने से एकत्व प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं हो सकेगा ।

भावार्थ—पहले यह विकल्प उठाया है कि संतान नित्य है या अनित्य ! पुनः नित्य पक्ष में दूषण दिखलाते हुये यह प्रश्न किया है कि यदि संतान संतानी के साथ व्याप्त है तो अनेक स्वभाव से या एक स्वभाव से ? पुनः इन दोनों पक्षों में दोष दिखा कर मूल के संतान को अनित्य मानने के पक्ष

१ किञ्च । दि० प्र० । २ स्याद्वाद्याह हे सौगत आत्मनः सन्तानेत्यन्यनामकरणे नित्यानित्यविकल्पौ नोपपद्येते । सन्तानिभ्योऽन्यो भिन्नः सन्तानः परमार्थे न स्यात्—हे सौगत सन्तानो नित्योऽनित्यो वेतिप्रश्नः । दि० प्र० । ३ सन्तानिभ्यो भिन्नः । व्या प्र० । ४ सन्तानस्य । दि० प्र० । ५ व्याप्नोतीति चेत् एकेन स्वभावेन अनेकेन वा । दि० प्र० । ६ सन्तानिनां व्यापको न भवेत्सन्तानः । दि० प्र० । ७ क्षणानाम् । दि० प्र० । ८ एकरूपत्वापत्तावपि सन्तानः कुतो न भवेदित्याशङ्कयामाह । दि० प्र० । ९ भिन्नेषु क्षणेषु । दि० प्र० ।

[भिन्नेष्वभिन्न इति व्यवहारः संवृतिः स एव संतानः इति कथने सति जैनाचार्यास्तत्संतानलक्षणं निराकुर्वन्ति ।]

अपि तु संवृत्याऽन्येष्वनन्यव्यवहारात्, अनन्य इति शब्दविकल्पलक्षणत्वादेकत्वमुप-
चरितमिति । ¹अन्येष्वनन्यशब्दोयं² संवृतिः सौगतैरभिधीयते संतानः । सोपि कथं मृषा न
स्यात् ? । अस्तु व्यलीकोयं व्यवहारस्तथेष्टत्वादिति³ चेत्तर्हि व्यलीकव्यवहारेपि ⁴विशेषानु-
पपत्तेः संबन्धनियमाभावस्तदवस्थः, सकलसंतानिनां साङ्कर्यस्यापरिहृतत्वात्, उपचरितेनैक-
संतानेन केषाञ्चिदेव स्वेष्टसंतानिनां ⁵ध्याप्तेर्नियमयितुमशक्तेः । यदि⁶ तु मुख्यार्थ एव संतानः

में भी दोष दिखा दिये गये हैं । क्योंकि संतानी से संतान को भिन्न मानने पर नित्य और अनित्य रूप विकल्पों के नहीं बनने से संतान की व्यवस्था नहीं हो सकती है । तब क्या व्यवस्था है ऐसा प्रश्न होने पर बौद्ध कहता है ।

[पृथक् को अपृथक् कहना यह संवृति है उसी का नाम संतान है ऐसा कहने पर आचार्य उस संतान का निराकरण करते हैं ।]

जैन—संवृति से अन्य—भिन्न-भिन्न क्षणों में अनन्य-अभिन्न शब्द का व्यवहार होता है ।

क्योंकि 'अनन्य' यह विशेषण शब्द विकल्प लक्षण वाला है इसलिये "अनन्य है" इस एकत्व को उपचार से ही हम सौगतों ने माना है अन्य क्षणों में 'अनन्य' शब्द को कहना यह संवृति है 'यही संतान है' ऐसा आप बौद्धों ने कहा है । पुनः वह संतान भी मृषा क्यों नहीं होगी ! क्योंकि संवृति रूप है ।

बौद्ध—यह व्यवहार असत्य हो जावे कोई बाधा नहीं है क्योंकि उस प्रकार से हमें इष्ट ही है ।

जैन—तब तो असत्य व्यवहार में भी कोई अन्तर नहीं होने से पूर्वोक्त क्षणों में कार्य-कारण-भाव के संबंध का नियम नहीं होता है यह दोष ज्यों का त्यों बना रह गया ।

1 इति स्यान्मत् तर्हि । दि० प्र० । 2 अपितु अन्येषु भिन्नेषु सुखदुःखादिपर्यायेषु कल्पनया सन्तानस्य अनन्य-
व्यवहारो घटते = अनन्येति शब्दभेदात्तत्त्वर्थभेदात् = अनन्येति एकत्वमुपचारेण घटते = अन्येषु भिन्नेषु अयं
अनन्यशब्दः संवृतिः सौगतैः सा संतानः अभिधीयते स्याद्वाद्याह सोपि संतानः असत्यः कथं न भवेत् । दि० प्र० ।
3 सौगत अहं अयं संतानो व्यलीकी भवतु । कस्मात् व्यवहारस्य व्यलीकप्रधानत्वादिति चेत् । तदा व्यलीक-
व्यवहारेपि विशेषो नोपपद्यते एवं सति कर्मफलसम्बन्धादिनियमस्याभावः = तदवस्थः पूर्वोक्तः तद्रूपावस्थः कस्माद्देव-
दत्तादि यज्ञदत्तादिमुखादिपर्यायाणां संकरस्त्वस्य परित्यक्तुमशक्यत्वात् । तथा उपचरितेन संतानेन कृत्वा केषाञ्चिद्
देवदत्ते वर्त्तमानानां सुखादिपर्यायाणां सम्बन्धस्य नियमयितुमशक्तेः कोर्थः देवदत्ते वर्त्तमानः सुखादिपर्यायः देवदत्ते
एव प्रवर्तते इति नियमः कर्तुं न शक्यते यज्ञदत्तेऽपि प्रवर्तते । दि० प्र० । 4 स्वपरसन्ताने । व्या० प्र० ।
5 सम्बन्धस्य । दि० प्र० । 6 हे सौगत यदि मुख्यार्थ एव संतानो भवेत्तर्हि संवृतिः संतानो न स्यात् अत्राह
सौगतः हे स्याद्वादिन् संवृतिरेव उपचारात् संतान इति चेन्न कस्मात्सन्तानस्य मुख्यप्रयोजनत्वं विरुद्धयते यतः = पुनः
कस्मात् मुख्यप्रयोजनलक्षणोयं संतानप्रत्यभिज्ञानादिकं मुख्य कार्यं करोति यतः परमार्थाद्विना व्यवहारो न घटते =
उपचारः कः यथाकोपप्रज्वलनादयं अत्राग्निरिति । दि० प्र० ।

स्यात्तदा न संवृतिः । संवृतिरेव संतानस्तथोपचारादिति चेन्न, तस्य 'मुख्यप्रयोजनत्व-
विरोधात्^२ । मुख्यप्रयोजनश्चायं, प्रत्यभिज्ञानादेर्मुख्यस्य कार्यस्य कारणात् । उपचारस्तु नतं
मुह्यत्^३ । यथाग्निर्माणवकः । इति स्वलति^४ हि तत्रानन्यप्रत्ययः^५, परीक्षाक्षमत्वात् ।
अत एवामुह्यार्थः प्रस्तृतासाधनम् । न ह्यग्निर्माणवक इत्युपचारात्पाकादावादीयते । तथा
संतानोप्युपचरितः संतानिनियमहेतुर्न स्यात् । इति तदवस्थ^६ संतानिसाङ्कर्यं, संतान-
स्यैकस्य संतानिभ्यो भिन्नस्याभिन्नस्योभयरूपस्यानुभयरूपस्य चासंभवात् । तत एव,—

अर्थात् आपने संतान को संवृति रूप कहकर असत्य मान लिया है तब तो अन्य असत्य
व्यवहारों में कार्य कारणभाव आपको मानना ही पड़ेगा । इस तरह तो मृत्विड से वस्त्र की उत्पत्ति
मानने में आपको कोई एतराज नहीं होना चाहिये । असत्यता दोनों जगह समान ही है ।

पुनः परस्पर भिन्न क्षणरूप सकल संतानियों में संकरता का परिहार नहीं हो सकेगा क्योंकि
उपचरितरूप एक संतान से किन्हीं अपने इष्ट संतानियों की ही व्याप्ति है ऐसा नियम करना शक्य
नहीं है अर्थात् व्यवक्षित संतानियों में ही संतान कार्य कारणादि संबंध वाला है किन्तु संतानांतरवर्ती
अविवक्षित संतानियों में वह संतान कारण कार्यादि संबंध वाला नहीं है ऐसा नियम करना अशक्य
ही है । यदि मुख्य अर्थवाला ही संतान होवे तब वह संवृति रूप नहीं रहा ।

बौद्ध—संवृति ही संतान है क्योंकि वैसा उपचार पाया जाता है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । पुनः संवृतिरूप उस संतान में मुख्य प्रयोजन का विरोध हो
जायेगा । परन्तु यह संतान तो मुख्य प्रयोजन वाला ही है । क्योंकि प्रत्यभिज्ञानादिरूप मुख्य कार्य
को करने वाला है । मुख्य के बिना तो उपचार ही ही नहीं सकता है जैसे—माणवक-बालक को अग्नि
कहना । अर्थात् कहीं अग्नि के होने पर ही अन्यत्र बालक में प्रयोजनवश-क्रोधादि विशेष देखकर
अग्नि का उपचार किया जाता है न कि असत् रूप अग्नि के होने पर उपचार किया जाता है ।
इसलिये उन पूर्वोत्तर क्षणों में “अनन्य प्रत्यय” उपचरित ही हो जाता है । क्योंकि वह परीक्षा में
अक्षम है । अतएव अमुख्य अर्थवाला उपचरित संतान प्रस्तुत-अनन्य प्रत्यय का अहेतुक है ।

‘बालक अग्नि है’ इस प्रकार से बालक में अग्नि का उपचार करने से भोजन पकाना आदि
क्रियाओं में वह बालक काम में नहीं लिया जाता है । उसी प्रकार से संतान भी उपचरित है अतः
“इस संतानी का यह संतान हेतु है” इस नियम को करने में वह संतान हेतु नहीं हो सकता है ।
इसलिये संतानियों में संकर दोष ज्यों का त्यों मौजूद ही रहता है । क्योंकि संतानी से एक संतान
भिन्न रूप है या अभिन्न रूप उभय रूप है या अनुभय रूप ? इन चारों प्रकारों के विकल्पों का होना
असंभव ही है ।

१ अस्त्वेतदित्युक्ते आह । दि० प्र० । २ सन्तानात् । दि० प्र० । ३ इदानीं मुख्यप्रयोजनत्वविरोधादित्येतद्
भाषयति । व्या० प्र० । ४ व्यभिचरति । व्या० प्र० । ५ एकत्वप्रत्ययः । व्या० प्र० । ६ सिद्धम् । दि० प्र० ।

बौद्धाभिमत क्षणिकैकांत खण्डन का सारांश

बौद्ध—हमारे क्षणिक एकांत पक्ष में भी चित्त क्षणों में वासना के निमित्त से “यह वही सुख साधन है” इस प्रकार से स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है। उस प्रत्यभिज्ञान से अभिलाषा एवं उससे सुख के लिये प्रवृत्ति होती है अतः संतान के कार्य का आरम्भ होने से पुण्य, पाप क्रिया प्रेत्य-भाव आदि सिद्ध हैं। पूर्व-पूर्व का ज्ञानक्षण उत्तर ज्ञानक्षण को उत्पन्न करता है उसे ही वासना कहते हैं उसी का नाम संतान है वही कारण है अतः कार्य कारण में अन्वय-व्यतिरेक होने से स्मृति आदि सभी सम्भव हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि एक अन्वयरूप प्रत्यभिज्ञाता आत्मा को न मानने से आपके यहाँ प्रत्यभिज्ञान आदि असम्भव हैं। आपने सन्तान को तो अवस्तु माना है तथा भिन्न-भिन्न कालीन ज्ञानक्षणों में वासना ही असम्भव है जैसे घट एवं तन्तु का कार्य-कारण सम्बन्ध न होने से उसमें वासना असम्भव है तथैव आपके यहाँ कारण का निरन्वय विनाश होकर उत्तर क्षण में कार्य होता है अतः न उन कार्य-कारणों में अन्वय व्यतिरेक हो सकता है न वासना ही, क्योंकि नष्ट हुआ कारण कार्य को उत्पन्न करने में कथमपि समर्थ नहीं है। घट के पूर्वक्षण का मृत्पिण्ड ही घट बना है न कि उसका सर्वथा विनाश होकर घट बना है। हाँ, पूर्व पर्याय का विनाश होकर नवीन घट पर्याय का उत्पाद हुआ है उन दोनों पर्यायों में मिट्टी अन्वरूप है।

यदि आप कहें कि नित्य पदार्थ प्रतिक्षण अनेक कार्य करने वाला है अतः उसमें अनेक स्वभाव सिद्ध हैं किन्तु क्षणिक में अनेक स्वभाव नहीं है। आपका यह कथन गलत है क्योंकि कारण में शक्ति भेद मानें बिना कार्य भी अनेक नहीं हो सकते हैं। जैसे एक दीपक से बत्ती, तेल शोषण, तमोनिरसन, कज्जलमोचन, अर्थ प्रकाशन आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं “अतः वे भेद प्रदीपगत शक्ति के भेद के निमित्त से हुये हैं। यदि आप प्रश्न करें कि शक्तिमान से शक्तियाँ भिन्न हैं या अभिन्न? यदि भिन्न मानों तब तो सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा? अभिन्न मानों तब तो शक्तिमान ही रहेगा। कल्पित अशक्ति व्यावृत्ति को छोड़कर शक्ति नाम से कोई चीज ही नहीं रहेगी। अतः वे शक्तियाँ परमार्थभूत नहीं हैं। अनेक कार्य को उत्पन्न करने वाली शक्ति एक है अनेक नहीं, सहकारी कारण के भेद से एक दीपक अनेक कार्य करता है।

आपका यह कथन सर्वथा गलत है। ऐसे तो हम भी प्रश्न करेंगे कि द्रव्य से रूपादि भिन्न हैं या अभिन्न? ऐसे कुतर्कों के उठाने से तो कोई भी वस्तु वास्तविक सिद्ध नहीं होगी। अतः कारण में शक्ति भेद होने से ही कार्य में भेद होते हैं। मात्र सहकारी कारण भेद से नहीं होते हैं।

बौद्ध का कहना है कि क्षण के अनंतर न ठहरना ही वस्तु का स्वभाव है अतः वस्तु सर्वथा क्षणिक है एवं विनाश सर्वथा अहेतुक है। घड़े का विनाश मुद्गर हेतु नहीं किन्तु कपाल के उत्पाद में मुद्गर हेतुक अवश्य है। किन्तु हमारा सिद्धांत है कि घट का विनाश एवं कपाल का उत्पाद एक समय में ही होता है अतः विनाश एवं उत्पाद दोनों में हेतु एक ही है मुद्गर से ही घट का फूटना

एवं कपाल—टुकड़े होना साथ ही हुआ है। जैसे आपने उत्पाद को सहेतुक मानकर विद्युत शब्द के उपादान स्वीकार किये हैं तथैव स्थिति का भी उपादान मान लीजिए, पुनः अन्वय रूप एक द्रव्य के सिद्ध हो जाने से क्षणिक मत का क्षय होकर कथंचित् स्थितिमान पदार्थ सिद्ध हुआ एवं कथंचित् उसकी पर्यायें प्रतिक्षण क्षणिक हैं यह बात सिद्ध हो गई क्योंकि स्थितिमान द्रव्य के अभाव में पर्यायें भी असम्भव हैं।

यदि कार्य का उत्पाद सर्वथा असत् से ही मानें तब तो वह पुष्पवत् कभी उत्पन्न ही नहीं होगा एवं उसके उपादान कारण का अभाव होने से कार्य की उत्पत्ति में कुछ भी विश्वास नहीं हो सकेगा पुनः जो बीज गेहूँ के अंकुर को उत्पन्न कर देंगे तथा मृत्पिण्ड से वस्त्र एवं संतु से घड़ा बन जायेगा। तथैव क्षणिकैकांत पक्ष में अन्वय के अभाव में कारण कार्य भावादि सिद्ध नहीं हो सकेंगे। इस पर यदि बौद्ध यों कहें कि भिन्न-भिन्न क्षणों में ये क्षण अभिन्न हैं ऐसा संवृति से जाना जाता है उसे ही सन्तान कहते हैं तब तो यह संवृति तो असत्य कल्पना ही है क्योंकि यह मुख्यार्थ को नहीं कहती है एवं बिना मुख्य के संवृति भी कैसे सिद्ध होगी। अतः सन्तान कल्पना आदि व्यवहार संवृति से असत्य ही सिद्ध होगा।

सार का सार—बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली मानता है यह उसकी मान्यता जैनियों के ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से होने वाली अर्थपर्याय में घटित होती है व्यंजनपर्याय में नहीं अतः प्रत्येक वस्तु को सर्वथा क्षणिक एवं कार्य को सर्वथा कारण के नाश से मानना अनुचित है।



चतुष्कोटैर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूपक्ययोगतः^१ ।

तत्त्वान्यत्वमवाच्यं^२ चैतयोः संतानतद्वतोः ॥४५॥

यो यो धर्मस्तत्र तत्र चतुष्कोटैर्विकल्पस्य वचनायोगः । यथा सत्त्वैकत्वादिधर्मेषु । धर्मश्च संतानतद्वतोस्तत्त्वमन्यत्वं च । इति तत्रावाच्यत्वसिद्धिः ।

[प्रत्येकवस्तुनि चतुर्धा विकल्पो न शक्यते इति बौद्धः स्वपक्षं समर्थयति]

प्रसिद्धं हि सत्त्वैकत्वादिषु सर्वधर्मेषु^३ सदसदुभयादिचतुष्कोटेरभिधातुमशक्तत्वात्^४

उत्थानिका—इसलिये

अर्थात् बौद्ध कहता है कि हे जैन ! इन चारों विकल्पों का होना असम्भव है इसलिये तो हम वस्तु को 'अववतव्य' कहते हैं ।

सब धर्मों में चार कोटि से, भेद कहे नहीं जा सकते ।

सत् या असत्, उभय, अनुभय इन, चारों में ही दोष दिखे ॥

इसीलिये संतान और संतानी, तत्त्व "अवाच्य" कहे ।

क्योंकि ये दोनों हि एक या, भिन्न नहीं यह बौद्ध कहें ॥४५॥

कारिकार्थ—सर्वात—समस्त धर्मों में चार कोटि रूप विकल्प के कहने का अभाव होने से उन संतान और संतानी के तत्त्व-एकत्व और अन्यत्व—अनेकत्व धर्म अवाच्य हैं यदि बौद्ध ऐसा कहते हैं तब तो आचार्य उसका स्पष्टीकरण कहते हुये आगे कारिका में कहेंगे ॥४५॥

बौद्ध—जो जो धर्म हैं उन उन धर्मों में चतुष्कोटि विकल्प को कहने का अभाव है । अर्थात् एकत्व और अनेकत्व धर्मों में चतुष्कोटि विकल्प का कहना नहीं बन सकता है । क्योंकि वे धर्म हैं" यह अर्थ ऊपर से ले लेना चाहिये । जैसे सत्त्व एकत्व आदि धर्मों में चतुष्कोटि-विकल्प को कहने का अभाव है । एवं संतान और संतानी के धर्म एकत्व तथा अनेकत्व हैं । अर्थात् संतान का धर्म एकत्व है और संतानी का धर्म अन्यत्व-भेद रूप है । इस प्रकार से एकत्व—अन्यत्व धर्मों में अवाच्यता सिद्ध है अर्थात् ये एकत्व—अन्यत्व धर्म अवाच्य हैं ।

[प्रत्येक वस्तु में चार प्रकार का विकल्प करना शक्य नहीं है

इस प्रकार बौद्ध अपने पक्ष का समर्थन करता है ।]

यह बात प्रसिद्ध ही है कि सत्त्व एकत्व आदि सभी धर्मों में सत्, असत्, उभय और अनुभय रूप चार कोटि के विकल्पों का कहना अशक्य ही है । अतः संतान और संतानी में भी भेद, अभेद, उभय, अनुभय रूप चार प्रकार अवाच्य ही हैं ।

१ वचनयोगात् वक्तुमशक्यत्वात् । व्या० प्र० । २ एकत्वानेकत्वम् । दि० प्र० । ३ वस्तुनः । दि० प्र० । ४ चतुः संख्यस्य । दि० प्र० ।

संतानतद्वतोरपि^१ ^२भेदाभेदोभयानुभयचतुष्कोटेरनभिलाप्यत्वम्^३ । सर्वो हि वस्तुधर्मः सन् वा स्यादसन् वा उभयो वानुभयो वा । सत्त्वे तदुत्पत्तिविरोधादसत्त्वे पुनश्छेदपक्षोपक्षितदोषा-
दुभये ^४चोभयदोषप्रसङ्गादनुभयपक्षेपि^५ विकल्पानुपपत्तेरित्यादि योज्यम् । तथा हि । वस्तुनो
धर्मस्यानन्यत्वे वस्तुमात्रप्रसक्तेरन्यत्वे व्यपदेशासिद्धेरसंबन्धात्, उभये^६ चोभयपक्षभाविदोषोऽनु-
भयपक्षे निरूपाख्यत्वमिति । तथानभिधेयत्व^७ प्रसिध्यत् सर्वत्र संतानसंतानिनोरपि तत्त्वान्य-
त्वाभ्यामवाच्यत्वं प्रसाधयति विशेषाभावात् । इति^८ येषामाकृतं ^९तैरपि,—

क्योंकि सभी वस्तु का धर्म या सत् रूप होगा या असत् रूप होगा या अनुभयरूप होगा । अर्थात् इन चारों में से कोई एक रूप ही कहा जा सकेगा और जिस रूप को आप मानेंगे उसी में वाधा आ जाती है अतएव 'अवाच्य' ही मान लो । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—यदि सत्त्व को मानो तब तो उसकी उत्पत्ति का विरोध हो जायेगा । यदि असत्त्व को मानो तो उच्छेदपक्ष-शून्य पक्ष में दिये गये सभी दोष आ जाते हैं । तथा सत्त्वासत्त्व रूप उभय धर्म को मानों तब तो उभय पक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग आ जाता है ।

यदि अनुभय पक्ष लेवो तो उभय धर्म का निषेध हो जाने पर निर्विषय होने से वस्तु निःस्वरूप हो जायेगी पुनः उसमें किसी प्रकार का विकल्प ही नहीं बन सकेगा । इत्यादि प्रकार से सभी में लगा लेना चाहिये । तथाहि । वस्तु का धर्म यदि वस्तु से अभिन्न है तब तो वस्तु मात्र का ही प्रसंग आ जायेगा ।

यदि वस्तु से उसके धर्म को भिन्न मानोगे तब तो "इसका यह धर्म है" ऐसा व्यपदेश नहीं हो सकेगा । क्योंकि कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं है । तथा यदि वस्तु का धर्म उस वस्तु से भिन्नाभिन्न रूप है तब तो उभय पक्ष में दिये गये सभी दोष आ जायेंगे । एवं वस्तु का धर्म वस्तु से न भिन्न है न अभिन्न ? ऐसा मानने पर तो वस्तु निरूपाख्य—निःस्वभाव हो जायेगी । इसलिये चार कोटि रूप विकल्पों का घटित होना अशक्य होने से यह अनभिधेयत्व प्रसिद्ध होता हुआ सभी पदार्थों में एवं

१ सौगतो वदति । यथा स्याद्वादिमते वस्तुनः सत्त्वैकादिसर्वधर्मेषु सदादिचतुः कोटेः प्रतिपादयेतुमसत्त्वात् अनभि-
लाप्यत्वं प्रसिद्धं । तथा अस्मन्यते सन्तानतद्वतोरपि भेदादिचतुः कोटेरभिधातुमशक्यत्वात् अवाच्यत्वं प्रसिद्धम् ।
दि० प्र० । २ अभिधातुमशक्यत्वात् । दि० प्र० । ३ उभयत्र । इति पा० । दि० प्र० । ४ दोषानुषङ्गात् । इति पा० ।
व्या० प्र० । ५ उभयत्रोभय । इति । दि० प्र० । ६ सौगतो वदति वस्तुनः सदादिसर्वधर्मेषु स्याद्वादिमते अनभिधेयत्वं
सिद्धयत्सत् सौगताभ्युगतयोः सन्तानसन्तानवतोरपि एकत्वान्यत्वाभ्यामुपःसाभ्यामवक्तव्यत्वं साधयति । कस्माद्
धर्मत्वेन विशेषाभावात् इति तेषां स्याद्वादिनां तैरपि अवक्तव्यचतुःसंख्यविकल्पोपि न प्रतिपाद्यतां—स्याद्वाद्याह एवं
सति सर्वधर्मातीतमवस्तु भवेत् विशेष्यविशेषणाभावश्च । दि० प्र० । ७ क्षणिकैकान्तपक्षेपीति वर्तते । दि० प्र० ।
८ सौगतैरपि वक्ष्यमाणप्रकारेण । दि० प्र० । ९ सत्त्वासत्त्वप्रकारेणवावक्तव्यतां प्रकारेणापि समस्तधर्मरहितम् ।
दि० प्र० ।

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोपि न कथ्यताम् ।

असर्वान्तमवस्तु^१ स्यादविशेष्यविशेषणम्^२ ॥४६॥

[सर्वथावक्तव्यं वस्तु अवक्तव्यमिति शब्देनापि न वक्तुं युज्यते ।]

न हि^३ सर्वथानभिलाष्यत्वेऽनभिलाष्यचतुष्कोटेरभिधेयत्वं^४ युक्तं^५, कथंचिदभिला-
प्यत्वप्रसङ्गात् । ततो^६ भवद्भिरवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोपि न कथनीयः । इति न परप्रत्या-
यनं नाम । अपि चैवं सति^७ सर्वविकल्पातीतमवस्तुवैव^८ स्यादन्यत्र वाचोयुक्तेः । जात्यन्तर-

संतान और संतानी में भी एकत्व, अन्यत्व के द्वारा अवाच्यपने को सिद्ध कर देता है, क्योंकि विशेष-
भेद का अभाव है ।

अर्थात् एकत्व अन्यत्व रूप धर्म के अवाच्य होने से धर्मों भी अवाच्य हो जाता है । दोनों में
कोई अन्तर नहीं है ।

उत्थानिका—इस प्रकार से जिन सौगातों का यह अभिप्राय है उनके द्वारा भी—

तब तो “चतुष्कोटि का विकल्प, अवक्तव्य है” इस विध भी ।

नहीं कथन हो सकता फिर सब, वस्तु विकल्पातीत हुई ।।

सब धर्मों से विरहित वस्तु, सदा अवस्तुरूप हुई ।

चूँकि विशेष्य विशेषण भी उसमें, हो सकता कभी नहीं ॥४६॥

कारिकार्थ—“चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है” ऐसा भी नहीं कहा जा सकेगा, पुनः वे
जीवादि पदार्थ असर्वात्—सभी धर्मों से रहित होते हुये अवस्तु रूप ही हो जायेंगे ॥४६॥

[सर्वथा अवक्तव्य वस्तु ‘अवक्तव्य’ इस शब्द से भी नहीं कही जा सकेगी ।]

वस्तु को सर्वथा अवाच्य कहने पर चतुष्कोटि विकल्प अवाच्य है यह कथन भी युक्त नहीं
है । अन्यथा कथंचित् वाच्यपने का प्रसंग आ जायेगा ।

इसलिये आप सौगातों को “चतुष्कोटि का विकल्प अवक्तव्य है” ऐसा भी नहीं कहना
चाहिये । इस प्रकार से परप्रत्यायन—शिष्यों को समझाना भी नहीं बन सकेगा ।

१ यतः । व्या० प्र० । २ ईप् । व्या० प्र० । ३ विकल्पस्य । दि० प्र० । ४ अन्यथा । दि० प्र० । ५ सौगतो
वदति यत एवं ततः भवद्भिः स्याद्वादिभिः अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोपि न कथनीयः स्याद्वादी वदति इति तव वचः
परेषां स्याद्वादिनां नाम अहोसंबोधनकारि न भवति । दि० प्र० । ६ किञ्च । दि० प्र० । ७ सत् । दि० प्र० ।
८ स्याद्वादी वदति सत्त्वमेवासत्त्वमेवाभिलाष्यमेवानभिलाष्यमेवेत्यादिलक्षणः सर्वथैकान्तविकल्पस्तेन रहितत्वात् ।
अनेकान्तात्मकं जात्यन्तरमेव सर्वविकल्पातीतमिति वचनस्य चातुर्थ्ये एव वस्तु प्रतिपादितं स्यात् अन्यथा सर्ववि-
कल्पातीतमिति वाचो युक्त्यभावे वस्तु न स्यात् कस्मात्तस्याभावस्य विशेषणविशेष्यरहितत्वाद्यथा खपुष्पस्य ।
दि० प्र० ।

मेव ह्यनेकान्तात्मकं सर्वथैकान्तविकल्पातीतत्वात्^१ । सर्वविकल्पातीतमिति वाचोयुक्तावेव वस्तुवत् स्यान्नान्यथा, तस्याविशेषणत्वात्^२ खपुष्पवत् । न हि सर्वथाप्यसदनभिलाष्यमव-
स्त्विति वा विशेषणं स्वीकुरुते^३ यतो विशेष्यं स्यात् । न^४ चाविशेष्यमविशेषणं च किंचिद-
ध्यक्षसंविदि प्रतिभासते, स्वसंवेदनस्यापि सत्त्वविशेषणविशिष्टतया विशेष्यस्यैवावभासनात् ।
तदुत्तरविकल्पबुद्धौ^५ स्वस्य संवेदनमिति विशेषणविशेष्यभावोवभासते^६, न तु^७ स्वरूपे
तस्येति^८ चेत्तर्हि किमविशेष्यविशेषणं^९ संवेदनमिति स्वतः प्रतिभासते ? तथोपगमे सिद्धो

पुनः इस प्रकार की मान्यता में तो वाचोयुक्ति—अनेकांत के बिना संपूर्ण विकल्पों से रहित वस्तु अवस्तु ही हो जायेगी । क्योंकि सर्वथा एकांत विकल्पों से रहित होने से जात्यंतर वस्तु ही अनेकांतात्मक है । 'एवं वस्तु सर्व विकल्पों से रहित है' यह कथन भी अनेकांत के मानने पर ही कहा जा सकता है । अन्यथा—अनेकांत के बिना नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि एकांत पक्ष में कही गई सर्व विकल्पातीत वस्तु आकाश पुष्प के समान विशेषण रहित है ।

सर्वथा 'असत्' नाम की चीज 'अवाच्य' अथवा 'अवस्तु' इन विशेषणों को स्वीकार नहीं कर सकती है कि जिससे वह 'असत्' विशेष्य रूप हो सके । अर्थात् नहीं हो सकता है । और विशेष्य रहित एवं विशेषण रहित किंचित् भी वस्तु प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होती है । स्वसंवेदन भी सत्त्व विशेषण से विशिष्ट—सहित हो करके विशेष्य बनता है और वही प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ—आचार्य ने कहा कि विशेषण विशेष्य रहित वस्तु ज्ञान में नहीं झलकती है तब बौद्ध ने कहा कि स्वसंवेदन ज्ञान विशेषण विशेष्य भाव से रहित ही झलकता है । इस पर आचार्य कहते हैं कि भाई ! स्वसंवेदन ज्ञान भी अस्तित्व सहित है और यह उसका अस्तित्व ही तो उसका विशेषण है, बस विशेषण से सहित होकर ही विशेष्य बन जाता है । अतः उसमें विशेषण विशेष्य मान घटित हो जाता है ।

१ विशेष्यविशेषणत्वात् । इति पा० । दि० प्र० । २ स्याद्वादी ब्रूते यथा पररूपेणात् तथा स्वरूपेणापि असदिति सर्वथाप्यसत् । भवत्सत् अनभिलाष्यमवस्तु वेति विशेषणं न गृह्णाति विशेषणाभावे यतः कुतो विशेष्यं स्यात् न कुतोपि । दि० प्र० । ३ पुनराह स्याद्वादी किञ्च विशेष्यरहितं विशेषणरहितं किंचिद्रूपं प्रत्यक्षज्ञाने प्रतिभासेत्—अत्राह सौगतः स्वसंवेदनं विशेषणविशेष्यरहितमस्तीत्युक्ते स्याद्वाद्याह । स्वसंवेदनं सत्त्वमसत्त्वं वेति विकल्पः । स्वसंवेदनं सत्त्वविशेषणेन विशिष्टं चेत्तदाविशेष्यत्वं स्वयमेवावभासते तस्येति । दि० प्र० । ४ निर्विकल्पकदर्शनानन्तरं विकल्पज्ञाने सत्त्वस्येति विशेषणत्वं संवेदनमिति विशेष्यत्वंभासते । दि० प्र० । ५ संवेदनस्य स्वरूपे अवस्थानमिति चेत्तर्हि विशेष्यविशेषणरहितं संवेदनं स्वतः अवभासते नास्तीत्युपगमे विशेषणविशेष्यभावः सिद्धः । ६ सौगत आह अहो संवेदनस्य स्वस्वभावे प्रतिभासनमस्तीति चेत्तर्हि संवेदनं विशेषणविशेष्यरहितं किमिति प्रश्नः—आह सौगतः अहो स्वतः प्रतिभासत इत्यङ्गीकारे संवेदनस्य विशेष्यविशेष्यभावः स्वयंसिद्धः । कस्मात् संवेदनस्य वेदकारवेद्याकारेति-विशेषणाश्रयत्वात्—सर्वथाप्यविद्यमानस्यार्थस्य विशेषणविशेष्यत्वनिषेधो न घटतेयतः । दि० प्र० । ७ अवभासनम् । दि० प्र० । ८ प्रतिभासते न वा । दि० प्र० । ९ विशेषणविशेष्यभावविशिष्टं संवेदनम् । दि० प्र० ।

विशेषणविशेष्यभावः¹ संविदि², तत्राविशेषणविशेष्यत्वस्यैव विशेषणत्वात् सर्वथाप्यसतो विशेषणविशेष्यत्वस्य प्रतिषेधायोगात्³ । तथा हि ।

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः⁴ सतः ।

असद्भेदो न भावस्तु स्थानं⁶ विधिनिषेधयोः ॥४७॥

[सद्बस्तुन्येव विधिनिषेधो घटते न पुनः असद्बस्तुनि ।]

द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरैः⁸ प्रतिषेधः संज्ञिनः⁹ सतः क्रियते स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावेन

बौद्ध—प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले विकल्प ज्ञान में “स्व का संवेदन” इस प्रकार से विशेषण-विशेष्यभाव प्रतिभासित होता है किन्तु स्वरूप में (निर्विकल्प ज्ञान में) वह विशेषण-विशेष्यभाव प्रतिभासित नहीं होता है ।

जैन—यदि ऐसी बात कहो तो “मैं विशेष्य विशेषण से रहित संवेदन हूँ” इस प्रकार से क्या वह स्वतः प्रतिभासित होता है ?

यदि ऐसा आप स्वीकार कर लेंगे । तब तो संवेदन में विशेषण विशेषण भाव ही सिद्ध हो जाता है । क्योंकि वहाँ (ज्ञान में) अविशेषण विशेष्य ही विशेषण हो जाता है । किन्तु सर्वथा भी असत् रूप विशेषण विशेष्य का प्रतिषेध ही नहीं हो सकता है ।

उत्थानिका—उसी का स्पष्टीकरण करते हुये आगे की कारिका में कहते हैं—

संज्ञी स्वद्रव्यादि चतुष्टय से सत् रूप प्रसिद्ध रहे ।

उसका परद्रव्यादि चतुष्टय से ही सदा निषेध करें ।

असत् रूप का निषेध कैसे ही, सकता है कहो सही ।

चूँकि सर्वथा असत् पदारथ, विधि-निषेध का विषय नहीं ॥४७॥

कारिकार्थ—सत् रूप संज्ञी पदार्थ का ही द्रव्यांतर आदि की अपेक्षा से निषेध किया जाता है । क्योंकि असत् रूप वस्तु विधि निषेध का स्थान ही नहीं हो सकती है ॥४७॥

[सत्त्वस्तु में ही विधि और निषेध घटते हैं, असत् वस्तु में नहीं ।]

भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के द्वारा संज्ञी सत् का ही प्रतिषेध किया जाता है किन्तु

1 संविदितविशेषणविशेष्यत्वस्यैव विशेषणत्वादिति पाठः । दि० प्र० । 2 हेत्वन्तरम् । व्या० प्र० । 3 संज्ञा अभिधानं विद्यते यस्य । व्या० प्र० । 4 स्वद्रव्यादिना । व्या० प्र० । 5 आश्रयः । दि० प्र० । 6 अस्तित्वनास्तित्वयोः, विशेषः सद्भेदोभावः विधिनिषेधयोः स्थानं न भवतीति सम्बन्धः । दि० प्र० । 7 भावान्तर । इति पाठान्तरम् । व्या० प्र० । भा । व्या० प्र० । 8 अभिलाप्यस्य । दि० प्र० । 9 यथा परद्रव्यादि चतुष्टयेनासत्त्वं तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेनापि वस्तुनः असत्त्वेसति नाम अहो कुतो विधिः न कुतोप्यस्तित्वं = विधेरभावे प्रतिषेधो न स्यात् । कस्मात् प्रतिषेधः कथञ्चिद् सत्त्वपूर्वको यतः = यत एव ततः सत्त्वात्कथञ्चिदभिलाप्यस्य वस्तुनः असत्त्वादनभिलाप्यत्वं योग्यम् । दि० प्र० ।

पुनरसत्, तद्विधिप्रतिषेधाविषयत्वात् । ^१द्रव्याद्यन्तरभावेनेव स्वद्रव्यादिभावेनाप्यसत्त्वे कुतो विधिर्नाम ? । तदभावे न प्रतिषेधस्तस्य कथंचिद्विधिपूर्वकत्वात् । ततः कथंचिदभिलाष्यस्य सतः ^२प्रतिषेधादनभिलाष्यत्वं युक्तम् । कथंचिद्विशेषणविशेष्यात्मनश्च ^३सतोऽविशेष्यविशेषणत्वम् । इति नैकान्ततः ^४ किंचिदनभिलाष्यमविशेष्यविशेषणं वाभ्युपजातव्यम् ।

[बोद्धेः स्वयमेवेति कथितं यत् “स्वलक्षणमनिर्देश्यं प्रत्यक्षकल्पनारहितं” तदपि एकांते न संभवत् अनेकांतमते एव संभवति ।]

न^५ चैतद्विरुद्धं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् । स्वलक्षणं हि स्वरूपेणासाधारणेना-निर्देश्यं नानिर्देश्यमिति शब्देन तथा निर्देश्यत्वादन्यथा वचनविरोधात् । तथा प्रत्यक्षं ^६कल्पना-

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावों के द्वारा असत् का प्रतिषेध नहीं किया जाता है क्योंकि वह असत् वस्तु विधि और प्रतिषेध का विषय नहीं है ।

अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के समान स्वद्रव्य, क्षेत्रादि भाव से भी वस्तु को असत् मान लेने पर विधि कैसे होगी ? अर्थात् असत् असत् की विधि कैसे हो सकेगी ? और विधि के अभाव में प्रतिषेध भी नहीं हो सकेगा । क्योंकि वह प्रतिषेध भी कथंचित् विधिपूर्वक ही होता है । इसलिये कथंचित्—स्वद्रव्यादि रूप से वाच्य रूप सत् वस्तु का ही प्रतिषेध होने से पर द्रव्यादि रूप से उसे ‘अवाच्य’ कहना युक्त है ।

और कथंचित्—स्वद्रव्यादि चतुष्टय से विशेषण विशेष्यात्मक सत् रूप वस्तु ही अविशेष्य विशेषण—अर्थात् विशेष्य विशेषण रहित हो सकती है अर्थात् स्वद्रव्यादि चतुष्टय से वस्तु अपने विशेषण विशेष्यभाव से सहित है और पर द्रव्यादि चतुष्टय से वही वस्तु पर के विशेषण विशेष्यभाव से रहित होने से अविशेषण विशेष्यरूप है ऐसा अर्थ है ।

इसलिये एकांत रूप से कोई भी वस्तु “अवाच्य” अथवा ‘विशेष्य विशेषण रहित’ नहीं है ऐसा आप बौद्धों को स्वीकार करना चाहिये । यह बात विरुद्ध भी नहीं है जैसे कि “स्वलक्षण अनिर्देश्य है” इत्यादि वाक्य आपने माने हैं । क्योंकि स्वलक्षण अपने असाधारण स्वरूप से अनिर्देश्य है किन्तु “अनिर्देश्य” इस शब्द के द्वारा अनिर्देश्य नहीं है “अनिर्देश्य” इस शब्द के द्वारा तो कहा ही

1 विधिः । दि० प्र० । 2 परद्रव्यादिना । व्या० प्र० । 3 च शब्दोत्र भिन्नप्रक्रमे तेन विशेष्यविशेषणत्वम् च इष्टव्यम् । दि० प्र० । 4 सामान्येन कथञ्चित्सत एवाभिलाष्यत्वस्य प्रतिषेधादनभिलाष्यत्वादिकं विरुद्धं यतस्त-तस्तदेकस्मिन्नपि वस्तुनि न विरुद्धमित्याह इति नैकान्तत इति । दि० प्र० । 5 पुनराह स्याद्वादी एतदस्मत् प्रतिपादितं विरुद्धं नास्ति यथा सौगताभ्युपगतं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादि सिद्धान्तः हि यस्मादनन्य सदृशेन स्वभावेन स्वलक्षणं निरन्वपि परमाणुरूपं वस्तु प्रतिपाद्यं न । अनिर्देश्यमिति वाग्व्यवहारेण प्रतिपाद्यं भवति । एवं सौगतस्वलक्षणस्यानभिलाष्यत्वमायातमन्यथा तथा शब्देन स्वलक्षणं निर्देश्यं न भवति चेत्तदा स्वलक्षणमिति वचनं विरुद्धचते । दि० प्र० । 6 विकल्पः । व्या० प्र० ।

पोढमपि स्वरूपेण कल्पनापोढमेव, न कल्पनापोढमिति कल्पनापेक्षया तस्यान्यथा कल्पना-
पोढत्वेन कल्पनाविरोधात्, सकलविकल्पवागोचरातीतस्य^१ ^२निरूपाख्यत्वप्रसङ्गात् । तद्वत्स्या-
द्वादिनां न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम्^३ । अभावो नभिलाप्य इत्यपि^४ भावाभिधानादेकान्तवृत्तावेव^५
दोषोद्भावाभिधानरपि^६ कथञ्चिदभावाभिधानात् । यथैव ह्यभाव इति^७ ^८भावान्तरमभि-
धीयते नभिलाप्य इति चाभिलाप्यान्तरं तथा भावोभिलाप्य इत्यपि भावान्तराभिलाप्यान्तरा-
भावः कथ्यते, तथा प्रतीते; अभावशब्दैर्भविशब्दैश्चाभावस्य भावस्य चैकान्तोभिधाने ^९शाब्द-
व्यवहारविरोधात्, तस्य प्रधानगुणभावेन विधिनिषेधयोरुपलम्भात्, तथैव^{१०} प्रवृत्तिनि वृत्त्योर-
विसंवादसिद्धेरन्यथा विसंवादात् । ततः सूक्तमिदम् “असद्भूदो न ^{११}भावस्तु स्थानं विधि-

जाता है अतः निर्देश्य है । अन्यथा—यदि स्ववचन से भी अनिर्देश्य होगा तब तो वचन से कहने में
विरोध आ जायेगा ।

उसी प्रकार से ‘कल्पनापोढ’ भी स्वरूप से कल्पना पोढ ही है । किन्तु “कल्पनापोढ” इस
कल्पना की अपेक्षा से कल्पनापोढ नहीं है । क्योंकि सकल-विकल रूप वचन अगोचर को निरूपाख्यपने
का प्रसंग आ जायेगा ।

उसी प्रकार से स्याद्वादियों के यहाँ किञ्चित् भी विरोध नहीं है । “अभाव अवाच्य है” इन
शब्दों से भी भाव का ही कथन किया जाता है क्योंकि सर्वथा एकांत पक्ष में ही दोषोद्भावन शब्दों
के द्वारा भी कथञ्चित्-पररूप से अभाव का कथन किया जाता है ।

जिस प्रकार से ‘अभाव’ इस कथन से भावांतर-भिन्न भाव कहा जाता है । और “अवाच्य”
इस कथन से भिन्न वाच्य कहा जाता है । तथैव भाव है “वाच्य है” इन शब्दों से भी भिन्न भाव
और भिन्न वाच्य रूप अभाव कहा जाता है । क्योंकि वैसी ही प्रतीति आ रही है । एवं अभाव शब्दों
से अभाव ही कहा है तथा भाव शब्दों से भाव ही कहा जाता है यदि ऐसा एकांत मानों तब तो शब्द
से होने वाला व्यवहार विरुद्ध हो जायेगा । किन्तु वह शाब्दिक व्यवहार तो प्रधान और गौण रूप

१ वस्तुनः । व्या० प्र० । २ तथा प्रत्यक्षं निविकल्पकदर्शनं स्वरूपेण कल्पनातीतमपि कल्पनापोढमिति कल्पनापेक्षया
तस्य प्रत्यक्षस्य कल्पनासहितत्वमेव । अन्यथाकल्पनानपोढाभावे कल्पनापोढत्वेन कृत्वा कल्पना विरुद्धयते = सकल-
विकलपातीतस्य प्रत्यक्षस्य सकलवागोचरातीतस्य स्वलक्षणस्य च निःस्वभावता प्रभजति । एवं यथा सोमतानां
स्वलक्षणं स्वरूपेणाऽनिर्देश्यमपिस्वलक्षणमिति निर्देश्यं = प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि कल्पनापोढं जातं तथा स्याद्वादिनाम-
भिलाप्यमेवानभिलाप्यं विशेष्यमेवाविशेष्यं विशेषणमेवाविशेषणं भवति अत्र किञ्चिद्विरुद्धं नास्ति । दि० प्र० ।
३ विरुद्धम् । व्या० प्र० । ४ एताभ्यां शब्दाभ्याम् । व्या० प्र० । ५ भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य । व्या० प्र० ।
६ शब्दैः । दि० प्र० । ७ एतेन शब्देन । व्या० प्र० । ८ विवक्षितभावादन्वो भावो भावान्तरो यथा पटे घटाभावः ।
व्या० प्र० । ९ शब्द । इति पाठान्तरम् । दि० प्र० । १० ता । व्या० प्र० । ११ चावस्तु । इति पा० । दि० प्र० ।

निषेधयोः” इति कथंचित्सद्विशेषस्यैव पदार्थस्य¹ विधिनिषेधाधिकरणत्वसमर्थनात् । तथा च पराभ्युपगतमेव तत्त्वं सर्वथानभिलाप्यमायातमित्यभिधीयते ।—

²अवस्त्वनभिलाप्यं³ स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम्⁴ ।

⁵वस्त्वेवावस्तुतां⁶ याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

सकलधर्मविधुरमधर्मिस्वभाव⁷ तावदवस्त्वेव सकलप्रमाणाविषयत्वात् । ⁸तदेवानभिलाप्यं युक्तं, न पुनर्वस्तु प्रमाणपरिनिष्ठितम् । तदपि सर्वान्तैः⁹ परिवर्जितमवस्तु पर-

से विधि निषेध को प्राप्त करता है । अर्थात् जिस भाव की प्रधानता अथवा अपेक्षा है उसकी विधि हो जाती है और जिस भाव की गौणता अथवा उपेक्षा होती है उसका निषेध हो जाता है ।

और उसी प्रकार से ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की विसंवाद रहित सिद्धि होती है । अन्यथा रूप से तो विसंवाद देखा जाता है । अतः श्री समंतभद्र स्वामी ने यह बिल्कुल ठीक ही कहा है कि—

“असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः” असत् रूप पदार्थ विधि निषेध का स्थान नहीं हो सकता है । इसलिये कथंचित् सत्-विशेष रूप पदार्थ ही विधि निषेध का आधार है इसका समर्थन किया गया है ।

उत्थानिका—पुनः उस प्रकार से पर-बौद्धों के द्वारा अभिमत तत्व ही सर्वथा “अवाच्य” है यह बात सिद्ध हो जाती है । इस बात को स्वामी समंतभद्राचार्यवर्य अगली कारिका के द्वारा कहते हैं ।

सब धर्मों से रहित वस्तु में, सदा अवस्तु ही होंगी ।
वे तो “अवक्तव्य” कोटि में, वाच्य वचन से नहीं होंगी ॥
वस्तु ही प्रक्रिया पलटने, से अवस्तु बन जाती है ।
पर द्रव्यादि चतुष्टय से ही, वस्तु अवस्तु कहाती है ॥४८॥

कारिकाार्थ—जो समस्त धर्मों से रहित है वह अवस्तु है और वही अवाच्य है । क्योंकि प्रक्रिया के विपर्यय से-स्वरूपादि से विपरीत पररूपादि से वस्तु ही अवस्तु रूप हो जाती है ॥४८॥

सकल धर्म से रहित अधर्मी स्वभाव अवस्तु ही है क्योंकि वह सकल प्रमाणों का विषय नहीं है ।

1 विद्यमानविशेषस्य पदार्थस्य । व्या० प्र० । 2 असद् भवतित देवानभिलाप्यं । ननु सर्वान्तैःसहितं प्रमाण नयनिष्ठं वस्तु । दि० प्र० । 3 अवाच्यम् । दि० प्र० । 4 रहितम् । दि० प्र० । 5 एवं पराभ्युपगममात्रा देव न प्रमाणसामर्थ्यादितत कुत इति चेत् । दि० प्र० । 6 सदसदेकानेकत्वाद्य नेकान्तात्मकं वस्तु जैनैरभ्युपगतमेवेति निश्चयात् । दि० प्र० । 7 सकलधर्मविधुरत्वादेवाधर्मिस्वभावम् । व्या० प्र० । 8 अवस्त्वेव । दि० प्र० । 9 उत्तरार्द्धं व्याख्याति । व्या० प्र० ।

परिकल्पनामात्रादभिधीयते न पुनः प्रमाणसामर्थ्यात्, कस्यचिद्वस्तुन एव स्वद्रव्याद्यपेक्षा-
लक्षणप्रक्रियाया विपर्ययादवस्तुत्वव्यवस्थितेः^१, ^२स्वरूपसिद्धस्य घटस्य घटान्तररूपेणाघट-
त्ववत् कस्यचिद्वस्तुनो वस्त्वन्तररूपेणावस्तुत्वप्रतीतेः । ननु^३ परस्परविरुद्धमिदमभिहितं वस्तु-
त्वेतरयोरन्योन्यपरिहारस्थितत्वादिति^४ ^५चेद्वाव्यतिरेकवाचिभिरपि वाक्यतामापन्नैर्भावा-
भिधानान्नात्र किञ्चिद्विरुद्धम् । न ^६ह्यब्राह्मणमानयेत्यादिशब्दैर्वाक्यत्वमुपगतैर्ब्राह्मणादिपदार्था-
भाववाचिभिस्तदन्यक्षत्रियादिभावाभिधानमसिद्धं^७ येनावस्त्वनभिलाष्यं स्यादिति^८ शब्देन

और वही अवस्तु ही सर्वथा अवाच्य है, ऐसा कहना युक्त है । किन्तु प्रमाण से व्यवस्थित
वस्तु सर्वथा अवाच्य नहीं है । और सभी धर्मों से परिवर्जित वह अवस्तु भी पर द्वारा परिकल्पित
मात्र से ही अवस्तु इस प्रकार से कही जाती है किन्तु प्रमाण की सामर्थ्य से नहीं । अर्थात् बौद्धों की
कल्पना मात्र ही है कि सभी धर्मों से रहित जो चीज है वह अवस्तु है किन्तु वास्तव में ऐसी कोई
अवस्तु विश्व में है ही नहीं । केवल पर द्रव्यादि की अपेक्षा से ही वह वस्तु 'अवस्तु' नाम से कही
जाती है । कोई वस्तु ही स्वद्रव्यादि की अपेक्षा लक्षण प्रक्रिया के विपर्यय से अर्थात् पर द्रव्यादि की
अपेक्षा से अवस्तु रूप से व्यवस्थित है । जैसे कि स्वरूप सिद्ध घट ही घटान्तर-पटादि रूप से अघट
कहलाता है उसी प्रकार से कोई भी वस्तु वस्त्वन्तर रूप—पर वस्तु की अपेक्षा से अवस्तु रूप से
प्रतीति में आती है ।

बौद्ध—आपने यह तो परस्पर विरुद्ध कथन कर दिया क्योंकि वस्तु और अवस्तु ये दोनों
परस्पर में एक-दूसरे का परिहार करके ही रहती हैं ।

जैन—वाक्यपने को प्राप्त हुये भाव व्यतिरेक वाची अर्थात् अभाव वाचक शब्दों से भी भाव
का कथन किया जाता है । इसमें कुछ भी विरोध नहीं है । अर्थात् जैसे कि ब्राह्मण का अभाव ही
क्षत्रिय का भाव है । दोष का अभाव ही गुणों का सद्भाव है । इसलिये यहाँ अवस्तु का प्रतिपादन
करने में किञ्चित् भी विरोध नहीं है । क्योंकि "अब्राह्मणमानय" इत्यादि शब्द जो कि वाक्यत्व को
प्राप्त हो चुके हैं । और ब्राह्मण आदि पदार्थ के अभाव वाची हैं उन शब्दों से उन ब्राह्मणादि से भिन्न
क्षत्रियादि भावों का कथन असिद्ध भी नहीं है । कि जिससे अवस्तु 'अवाच्य है ।' इस प्रकार से वस्तु
की शून्यता को कहने वाले एवं वाक्यपने को प्राप्त हुये शब्द से भिन्न वस्तु का कथन विरुद्ध हो सके ।
अर्थात् विरुद्ध नहीं हो सकता है ।

इसलिये बिल्कुल ठीक ही कहा है कि—“जो अवस्तु है वह अवाच्य ही है जैसे ना कुछ वस्तु-
शून्य । और जो वाच्य है वह वस्तु ही है जैसे आकाश पुष्प का अभाव ।

१ परद्रव्यापेक्षयाऽवस्त्वेव वस्त्वितिभावः । यतः । दि० प्र० । २ स्याद्वादिनामपेक्षया । दि० प्र० । ३ आह सौगत-
इति स्याद्वादिप्रतिपादितमन्योन्यविरुद्धं । कस्माद्वस्तुत्वावस्तुत्वयोः परस्परपरिहारस्थितत्वादिति चेत् । दि० प्र० ।
४ भा । व्या० प्र० । ५ ता । व्या० प्र० । ६ तिङ्मुबन्तं च तयोर्वाक्यं क्रियाकारकान्विता । दि० प्र० ।
७ ब्राह्मणादेः । दि० प्र० । ८ वस्त्वेवाभिलाष्यमभिलाष्यं चेति भावः । व्या० प्र० ।

वाक्यतामुपगतेन वस्तुशून्यत्वाचिना¹ वस्त्वन्तराभिधानं विरुध्यते । अतः सूक्तं² 'यदवस्तु³ तदनभिलाष्यं यथा न किञ्चित् । यत्पुनरभिलाष्यं⁴ तद्वस्त्वेव यथा खपुष्पाभावः' इति । नात्र साध्यविकलमुदाहरणं खे पुष्पाभावस्य खस्वरूपत्वात् । सुप्रतीतं हि लोके अन्यस्य कैवल्य-मितरस्य⁵ वैकल्यं, स्वभावपरभावाभ्यां भावाभावव्यवस्थितेर्भावस्य ।

[एकत्रैव वस्तुनि भावाभावधर्मो वर्तते किन्तु केन प्रकारेण्यं मान्यता सुष्ठु ? तस्य स्पष्टीकरणं क्रियते ।]

न हि वस्तुनः सर्वथा भाव एव, स्वरूपेणैव पररूपेणापि भावप्रसङ्गात् । नाप्यभाव एव, पररूपेणैव स्वरूपेणाप्यभावप्रसङ्गात् । न च⁶ स्वरूपेण भाव एव पररूपेणाभावः,

भावार्थ—स्याद्वादियों के द्वारा स्वीकृत अभाव यहाँ पक्ष है वस्तु है यह साध्य है 'अभिलाष्य-त्वात्' यह हेतु है, जो अभिलाष्य है वह वस्तु है जैसे खपुष्पका अभाव । इसीलिये यह वस्तु अभिलाष्य है । यहाँ पर अभाव को वस्तु सिद्ध करने के लिये इस अनुमान में आकाश पुष्प का अभाव यह दृष्टांत है । यहाँ पर हमारा उदाहरण साध्य विकल नहीं है । आकाश में पुष्प का अभाव आकाश स्वरूप है यह लोक में प्रतीत ही होता है कि अन्य (आकाश) का केवल रहना ही इतर (पुष्प) की विकलता है । क्योंकि पदार्थ स्वभाव एवं परभाव के द्वारा ही भाव-अभाव रूप से व्यवस्थित हैं । अर्थात् आकाश पुष्प का अभाव कहने में वहाँ केवल आकाश विद्यमान है और पुष्प नहीं है । आकाश अपने स्वरूप से मौजूद है पुष्प रूप से नहीं है । अथवा आकाश का पुष्प नहीं है तो भी यह कथन सर्वथा अभाव रूप नहीं है । "खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धं" आकाश में पुष्प नहीं है किंतु वृक्षों में मौजूद है ।

[एक ही वस्तु में भाव और अभाव दोनों धर्म रहते हैं किंतु किस तरह से उनकी मान्यता उचित है ?]

इसका स्पष्टीकरण]

वस्तु सर्वथा भाव स्वरूप ही हो ऐसा नहीं है, अन्यथा स्वरूप के समान ही पररूप से भी होने का प्रसंग आ जायेगा । एवं वस्तु सर्वथा अभावरूप ही हो ऐसा भी नहीं कह सकते अन्यथा पररूप से अभाव के समान ही स्वस्वरूप से भी अभाव का प्रसंग आ जायेगा । तथा वस्तु का स्वरूप से होना ही पररूप से अभाव हो ऐसा भी नहीं है । तथा पररूप से वस्तु का अभाव ही स्वस्वरूप से भाव हो ऐसा भी कहना युक्त नहीं है । क्योंकि उन भाव और अभाव की अपेक्षा करने योग्य निमित्तों

1 अभाववाचकेन । व्या० प्र० । 2 परपरिकल्पितं वस्त्वनाभिलाष्यमवस्तुत्वादिति परमतप्रतिषेधः पूर्वाद्व्याख्यानं कारिकायाः । दि० प्र० । 3 विवादापन्तं सौगताभ्युपगतं पक्षः अनभिलाष्यं भवतीति साध्यो धर्मः अवस्तुत्वात् यदवस्तु तदनभिलाष्यं यथा न किञ्चित् । सर्वथा तु भावः = स्याद्वाद्यभ्युपगतोभावः पक्षः वस्तु भवतीति साध्यो धर्मः । अभिलाष्यत्वात् । यत्पुनरभिलाष्यं तद्वस्तु । यथा खपुष्पाभावः । अभिलाष्यं चेदं तस्माद्वस्तु भवति । अत्राह भावस्य-वस्तुव्यस्थापकानुमाने खपुष्पाभावः इति दृष्टान्तः । साध्यं किं वस्तुते न रहितो न सहित एवेत्यर्थः, कस्मात्खपुष्पा-भावो वस्तुनः स्वरूपं यतः । हि यस्मादन्वस्य स्वस्य कैवल्यं शुद्धत्वमितरस्य खपुष्पस्य विकलत्वमिति लोके सुप्रसिद्धम् । दि० प्र० । 4 विवादापन्नमवस्तु कथञ्चिद्वस्तु भवति कथञ्चिदभिलाष्यत्वात् खपुष्पावदितिकारिकाया अपराद्ध-व्य.ख्यातम् । व्या० प्र० । 5 पुष्पस्य । व्या० प्र० । 6 वस्तुस्वरूपेण । इति पाठांतरम् । दि० प्र० ।

परात्मना चाभाव एव स्वात्मना भाव इति वक्तुं युक्तः^१, ^२तदपेक्षणीयनिमित्तभेदात् । स्वात्मानं हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययमुपजनयति ^३सर्वोर्थः, परात्मानं त्वपेक्षयाभावप्रत्ययम् । इति एकत्व-द्वित्वादिसंख्यावदेकत्र वस्तुनि भावाभावयोर्भेदो व्यवतिष्ठते ।

[एकत्र वस्तुनि एकत्वद्वित्वादिसंख्या निवर्धं संभवतीति स्पष्टयति ।]

न ह्येकत्र^४ द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसंख्या^५ प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्षकत्वसंख्यातो नन्या^६ प्रतीयते । नापि सोभयी^७ तद्वतो भिन्नैव, ^८तस्यासंख्येयत्वप्रसङ्गात्,

का आश्रय करके ही वस्तु में भाव, अभाव रूप भेद है । अर्थात् जो स्वरूप से भाव है वही पररूप से अभाव है ऐसा बौद्धमत है किंतु जैनाचार्यों की मान्यता ऐसी नहीं है ।

सभी पदार्थ स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, रूप, स्वस्वरूप के निमित्त की अपेक्षा करके भाव स्वरूप ज्ञान को उत्पन्न करते हैं । एवं पर स्वरूप—पर द्रव्यादि की अपेक्षा करके ही अभाव—नास्तित्व रूप ज्ञान को उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार से एकत्व, द्वित्व आदि संख्या के समान वस्तु में भाव और अभाव की व्यवस्था है ।

[एक वस्तु में एकत्व, द्वित्व आदि संख्यायें बिना बाधा के संभव हैं इसी का स्पष्टीकरण करते हैं ।]

एक ही द्रव्य में अन्य द्रव्य की अपेक्षा करके प्रकट हो रही द्वित्वादि संख्यायें स्वस्वरूप मात्र की अपेक्षा से होने वाली एकत्व संख्या से अभिन्न ही प्रतीति में नहीं आती हैं । किन्तु भिन्न रूप से ही प्रतीति में आ रही हैं । और संख्यावान् वस्तु से वे एकत्व-द्वित्व आदि दोनों प्रकार की संख्यायें भिन्न भी नहीं हैं । अन्यथा वह संख्यावान् वस्तु असंख्येय-संख्या रहित हो जायेगी ।

यदि आप कहें कि संख्या के समवाय से वस्तु संख्यावान् है सो भी कथन उस प्रकार से सिद्ध नहीं है । क्योंकि संख्यावान् से संख्या भिन्न ही है यह बात असिद्ध है । क्योंकि समवायी में समवाय का सम्बन्ध न होने से उस समवाय में स्वसमवायी के सम्बन्ध की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसंग आता है । अर्थात् वस्तु में एकत्व आदि संख्या यदि समवाय सम्बन्ध से स्थित है तो वह समवाय

१ भावाभावाभ्याम् । व्या० प्र० । २ स्वद्रव्यादिपरद्रव्यादिलक्षणम् । दि० प्र० । ३ सर्वोर्थः स्वरूपमेव निमित्तमाश्रित्य भावज्ञानमुत्पादयति परस्वरूपमेव निमित्तमाश्रित्य अभावज्ञानमुत्पादयति लोके यथा एकत्वद्वित्वादिसंख्या कोर्थः संख्यास्वरूपं निमित्तमाश्रित्येकत्वज्ञानमुत्पादयति । पररूपं निमित्तमाश्रित्यद्वित्वादिज्ञानमुत्पादयति = एवमेकवस्तुनि भावाभावो व्यवतिष्ठते । दि० प्र० । ४ एकद्रव्ये द्रव्यान्तरापेक्षत्वे सति द्वित्वसंख्या स्वात्ममात्रापेक्षत्वे नहि । दि० प्र० । ५ एकस्मिन् संख्यात्वे अन्य संख्यानान्तरभाश्रित्य द्वित्वादिसंख्यासञ्जायमाना सती स्वरूपमात्राश्रयणैकत्वसंख्यातः सकाशात् अन्यभिन्ना न प्रतीयते इति न । कोर्थः एकत्वसंख्यातो द्वित्वादिसंख्याभिन्ना एव । दि० प्र० । ६ वसः । दि० प्र० । ७ संख्या, एकत्वद्वित्वरूपा । व्या० प्र० । ८ आशङ्का । व्या० प्र० ।

संख्यासमवायादपि तथात्वासिद्धेः, समवायस्य तदसंबन्धात् तस्य स्वसमवायिसंबन्धकल्पनायामप्यनवस्थानुषङ्गात् कथंचित्तादात्म्यमन्तरेण^१ समवायासंभवाच्च । तद्वन्न भावाभावौ वस्तुनोन्यावेव, निस्वभावत्वप्रसक्तेः । अथ^२ सत्त्वासत्त्वाभ्यामन्यस्यापि^३ वस्तुनो द्रव्यत्वादिस्वभावसद्भावाद्य निःस्वभावत्वमिति मतं तदप्यसाधीयो, द्रव्यत्वादद्रव्यत्वाभ्यामपि तस्यान्यत्वात् । ताभ्यामन्यत्वे कथंचिद्भावाभावाभ्यामप्यन्यत्वसिद्धेः स्वभावपरभावाभ्यां वस्तुनो भावाभावव्यवस्थितिः किं न स्याद्यतः खे पुष्पाभावोभिलाप्यो वस्त्वेव न भवेत् ? इति निरवद्यमुदाहरणम् ।

वस्तु में किस सम्बन्ध से स्थित है ? और समवायी पने को भी समवायी पने से मानने पर तो अनवस्था आ जाती है ।

अतः कथंचित् तादात्म्य को छोड़कर समवाय ही असंभव है । अर्थात् वस्तु में कथंचित् तादात्म्य रूप से एक द्वित्व आदि घटित हो जाते हैं । इसलिये 'कथंचित् तादात्म्य' सम्बन्ध के सिवाय समवाय नाम की कोई चीज सिद्ध ही नहीं होती है अतः इसी तादात्म्य को ही 'समवाय' यह नाम दे दीजिये ।

उसी संख्या और संख्यावान् के भाव और अभाव ये दोनों ही वस्तु से भिन्न ही नहीं हैं । अन्यथा—भाव अभाव से रहित वस्तु निःस्वभाव हो जायेगा ।

बौद्ध—सत्त्व और असत्त्व से भिन्न भी वस्तु में द्रव्यत्वादि स्वभावों का सद्भाव होने से वह वस्तु निःस्वभाव नहीं होगी । अर्थात् वस्तु में अनंत धर्म हैं इन सत्त्व-असत्त्व रूप दो धर्मों को निकाल देने से अन्य द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि धर्म तो मौजूद हैं फिर वस्तु निःस्वरूप कैसे होगी ?

जैन—ऐसा भी सिद्ध करना शक्य नहीं है । क्योंकि द्रव्यत्व और अद्रव्यत्व से भी वह वस्तु भिन्न ही है । यदि आप द्रव्यत्व-अद्रव्यत्व से वस्तु को अभिन्न मानें तब तो कथंचित् भाव और अभाव से भी वस्तु का अभिन्नपना सिद्ध ही हो जायेगा ।

पुनः स्वभाव और परभाव के द्वारा वस्तु के भाव-अभाव की व्यवस्था भी क्यों नहीं होगी कि जिससे आकाश में पुष्प का अभाव अभिलाप्य वाच्य वस्तु ही न हो जावे ? अर्थात् आकाश के पुष्प का अभाव भी वाच्य होने से वस्तु ही है ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार से यह उदाहरण निर्दोष है ।

१ अत्राह स्याद्वादी गुणगुणिनोः कथंचित्तादात्म्यमेव समवायः अन्योनेत्यर्थः । दि० प्र० । २ अथाह परः सत्त्रासत्त्वसकाशात् भिन्नस्यापि वस्तुनो द्रव्यत्वादिसंभवावोस्ति । हे स्याद्वादिन् भवत्प्रतिपादितं निःस्वभावत्वं नास्ति इति मतम् । पुनराह स्याद्वादी तदपि वचः समीचीनं न वस्तुनो द्रव्यत्वादद्रव्यत्वादिसकाशादिभिन्नत्वात् वस्तुनो द्रव्यत्वादद्रव्यत्वादिसकाशात् एकत्वे सति कथंचिद्भावाभावाभ्यामेकत्वं सिद्धचति यत इति । दि० प्र० । ३ भिन्नस्यापि । दि० प्र० ।

किं च^१ ^२क्षणिकैकान्तवादिनाम्,—

^३सर्वान्ताश्चेद^४वक्तव्यास्तेषां^५ किं वचनं^६ पुनः ।

संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात्^७ ॥४६॥

परेषां सर्वे धर्मा यद्यवक्तव्या एव तदा तेषां किं पुनर्वचनं^८ धर्मदेशनारूपं परार्थानुमानलक्षणं साधनदूषणवचनं वा ? न किञ्चित् स्यादिति मौनमेव शरणम् । यदि पुनः^९ संवृतिरूपं वचनमुपगम्यते तदापि मृषैव संवृतिरेषाभ्युपगन्तव्या, परमार्थविपर्ययरूपत्वात्तस्याः ।

उत्थानिका—दूसरी बात यह है कि आप क्षणिकैकान्तवादियों के यहाँ—

यदि सब धर्म अवाच्य रहेंगे पुनः कथन उनका कैसे ।

धर्म देशना, स्वपर पक्ष साधन दूषण वाणी कैसे ॥

यदि वचन संवृतिरूप फिर मिथ्या ही वे सिद्ध हुये ।

इन परमार्थ विरुद्ध वचन से नहिं सत्यार्थ बोध होवे ॥४६॥

कारिकार्थ—यदि सभी धर्म अवक्तव्य ही हैं पुनः आपके यहाँ उनका कथन भी कैसे हो सकेगा ? और यदि आप कहें कि उनका कथन संवृति रूप है तब तो परमार्थ से विपरीत होने से यह संवृति तो असत्य ही है ॥४६॥

आप सौगतों के यहाँ यदि समस्त धर्म अवक्तव्य ही हैं तब तो उन धर्मों का कथन या आपके धर्म देशना रूप वचन भी कैसे होंगे ? अथवा परार्थानुमान लक्षण अनुमान वाक्य से अपने मत के साधन वचन और परमत दूषण वचन भी कैसे हो सकेंगे ? अर्थात् कुछ भी वचन बोले नहीं जा सकेंगे पुनः मौन का ही शरण लेनी होगी ।

यदि पुनः संवृतिरूप वचन स्वीकार करेंगे तो भी उस संवृति को तो असत्य ही स्वीकार करना चाहिये । क्योंकि वह परमार्थ से विपरीत है । इस प्रकार से परमार्थ से क्या वचन होंगे ? अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकेंगे ।

पुनरपि हम आप अवक्तव्य वादी बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि यदि सभी धर्म वचन के अगोचर हैं तब वे “सभी धर्म अवक्तव्य हैं” इन वचनों से भी कैसे कहे जाते हैं ? इस प्रकार से

१ अपरं दूषणम् । दि० प्र० । २ सौगतानाम् । दि० प्र० । ३ सर्वे वस्तुनोधर्माः । दि० प्र० । ४ बौद्धानां मते । दि० प्र० । ५ वक्तुमशक्याः । दि० प्र० । ६ धर्मदेशनारूपं परमार्थानुमानलक्षणं स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनं वा । यावज्जीवमहं मौनी, ब्रह्मचारी तु मतिमता । मम माता भवेद् वन्द्या स्मराभोनुपमो भवानित्यादि प्रतिपादनमपि न किञ्चिदित्यर्थः । दि० प्र० । ७ सत्यार्थाद्विपरीतत्वान्मौनमेव शरणं बौद्धान्यं । दि० प्र० । ८ न किञ्चित् । व्या० प्र० । ९ परप्रतिबोधार्थमनुमानरूपं स्वमतसाधनं परमतदूषणमित्यादिवचनं क्षणिकैकान्तवादिनां किमपि न भवेत्तस्तेषां मौनमेव, कर्तुं युक्तम् । दि० प्र० ।

इति तत्त्वतः किं वचनं स्यात् ? पुनरप्यवक्तव्यवादिनं पर्यनुयुञ्जमहे, सर्वे धर्मा यदि वागो-
चरातीताः कथमिमेऽभिलप्यन्ते ? इति, स्ववचनविरोधानुषङ्गात् सर्वदा 'मौनव्रतिकोहमिति
प्रतिपादयत इव परान् । संवृत्या^२ चेत्सर्वे धर्मा इत्यवक्तव्या इति^३ चाभिलप्यन्ते भवद्भिर्न,
विकल्पानुपपत्तेः ।

[संवृतिशब्दस्य कोऽर्थः ?]

संवृत्येति हि स्वरूपेण पररूपेणोभयरूपेण वा तत्त्वेन^४ मृषात्वेनेति वा विकल्पेषु^५
नोपपद्यते । तत्र संवृत्वा वक्तव्या इति स्वरूपेण चेत्कथमनभिलाप्याः ? स्वरूपेणाभिला-

तो स्ववचन विरोध का ही प्रसंग आ जाता है । जैसे “हमेशा मैं मौन व्रत वाला हूँ” इस प्रकार से
दूसरों को कहते हुये पुरुष के वचन भी स्ववचन बाधित माने जाते हैं ।

यदि संवृति से सभी धर्म हैं इसलिये अवक्तव्य हैं इस प्रकार से आपके द्वारा कहा जाता है ।
तो भी यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें विकल्प ही नहीं बन सकते हैं ।

[संवृति शब्द का क्या अर्थ है ?]

संवृति से “इस प्रकार कहने से उसका अर्थ क्या है ! पर रूप से है या उभय रूप से है या
तत्त्व रूप से है या असत्य रूप से है ? इन पाँच विकल्पों के उठाने पर वह संवृति टिक नहीं सकती
है । अर्थात् आप बार-बार हर प्रकरण में संवृति का नाम लेते हैं वह संवृति क्या है ? “संवृति से”
इतना मात्र कहने से वह संवृति स्वरूप है या पररूप है या उभय रूप है या वास्तविक है या असत्य
रूप है ? इन सभी अर्थों का निराकरण करते हैं ।

इन पाँच विकल्पों में से यदि आप प्रथम पक्ष लेते हैं कि ‘संवृति से वक्तव्य हैं—कहे जाते हैं’
ऐसा कहने पर यदि स्वरूप से वक्तव्य हैं ऐसा अर्थ होता है तब तो वे धर्म अवक्तव्य कैसे रहे ?
अर्थात् यदि इन धर्मों को हम स्वरूप से कहते हैं तब तो ये धर्म अवाच्य कैसे रहे ? क्योंकि जो स्वरूप
से अभिलाप्य—वाच्य है उनमें अवाच्य कहने का विरोध है ।

1 यावज्जीवमहं मौनीत्यादिवत् । दि० प्र० । 2 स्याद्वादी वदति हे सौगत भवन्मते वस्तुनः सर्वे धर्माः
अवक्तव्येति किं । तदा अवक्तव्येति चाभिलप्यन्ते कथं भयद्भिः सौगताः इत्युक्ते सौगतो वदति हे स्वाद्वादिन्
संवृत्या अभिलप्यन्ते इति चेन्न । कस्मात्संवृत्तोऽविकल्पाः नोत्पद्यन्ते यतः—हे सौगतसंवृत्तिः स्वरूपलक्षणा
पररूपलक्षणा अभयरूपा तत्त्वरूपा मृषात्वरूपेति विकल्पः । तत्र तेषु संवृत्या सर्वे वस्तुनो धर्माभिलाप्येति
स्वरूपेण चेत्तदा अनभिलाप्याः कथञ्चिचरकस्मात् स्वरूपेण अभिलाप्यानामर्थानामनभिलाप्यत्वं विरुद्धयते । = पुनः
संवृत्या पररूपेण वक्तव्येति चेत् तत्पररूपं तेषां धर्माणां स्वरूपं स्यात् येन परस्वरूपेणाभिलाप्याः । एतत्केवलं वाचः
स्खलनं गम्यते । किं वत् गोत्रस्खलनवत् । यथा गोत्रस्खलनेन सपत्नीनामग्रहणेन अन्यसपत्नीनामोच्चारणं वा कृतं
तथा स्वरूपेण धर्मो वक्तव्ये पररूपेण वक्तव्येति वचनं घटते । पुनर्यथा वस्तुनो विशेषरूपं स्वरूपं वक्तव्यं तथा वक्तव्य-
तयाङ्गीक्रियमाणस्य सामान्यरूपस्य स्वरूपत्वात् । पुनः कस्माद्द्वस्तुनः तस्य सामान्यरूपस्यास्वरूपत्वे सति विशेषरूपास्यापि
अस्वरूपत्वमायाति । एवं सामान्यविशेषयोर्द्वयोस्वरूपत्वे वस्तुनः स्वयमेव निःस्वभावत्वं प्रसजति यतः । दि० प्र० ।
3. प्रकारेण । दि० प्र० । 4. परमार्थत्वेन । व्या० प्र० । 5 सत्सु व्या० प्र० ।

ध्यानात्मनभिलाष्यत्वविरोधात् । पररूपेण चेत्तेषां स्वरूपं^१ स्याच्चेनाभिलाष्याः । केवलं वाचः
स्खलनं गम्येत गोत्रस्खलनवत् स्वरूपेणेति वक्तव्ये पररूपेणेति^२ वचनात्, विशेषरूपवत्
सामान्यरूपस्यापि^३ वक्तव्यतयाङ्गीक्रियमाणस्य स्वरूपत्वात्, तस्यास्वरूपत्वे विशेषरूपस्याप्य-
स्वरूपत्वापत्तेः^४ स्वयं निःस्वरूपत्वप्रसङ्गात् ।^५ उभयपक्षेषु उभयदोषानुषङ्गः । तत्त्वेन चेत्कथम-
वक्तव्याः ? केवलं^६ वचःस्खलनं^७ गम्येत, तत्त्वेन वक्तव्या इति वचने प्रस्तुते संवृत्या वक्तव्या

यदि दूसरा पक्ष लेबें कि संवृति से अर्थात् पररूप से वे धर्म अवक्तव्य हैं तब तो वह पररूप ही उन धर्मों का स्वरूप हो जायेगा कि जिसके द्वारा वे धर्म वाच्य हो जायेंगे । अतः इस कथन में तो केवल वचनों का स्खलन ही प्रतीत होता है । गोत्र नाम स्खलन के समान । 'स्वरूप से सभी धर्म हैं' ऐसा कहना था किन्तु उसी को 'पर रूप से' ऐसा कह गये ।

भावार्थ—जैसे कोई मुख से 'पद्मा' कहना चाहता था अकस्मात् "कमला" निकल गया यह गोत्रस्खलन है । तथैव आप उन धर्मों को 'स्वरूप से वक्तव्य हैं' ऐसा कहना चाहते थे और "पर रूप से" ऐसा अकस्मात् मुख से निकल गया है ऐसा ही समझ में आता है । इस पर बौद्ध कहता है स्वरूप विशेष रूप ही है । और पर रूप तो सामान्य रूप ही है पुनः इस प्रकार से विशेष रूप से अवक्तव्य का सद्भाव होने से वचनों का स्खलन कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि सामान्य से वस्तु अभिलाष्य है और विशेष परमाणु लक्षण है । इस पर जैनाचार्य कहते हैं । विशेष रूप के समान सामान्य को भी वक्तव्य रूप से स्वीकार कर लेने पर वह भी स्वरूप ही है अर्थात् जैसे विशेष रूप वस्तु का स्वरूप है वैसे ही सामान्य रूप भी वस्तु का स्वरूप ही है ।

यदि उस सामान्य को वस्तु का स्वरूप नहीं मानेंगे तब तो विशेष रूप को भी अस्वरूप होने का प्रसंग आ जाने से स्वयं निःस्वरूपत्व का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् तब तो सभी धर्मों में स्वरूप, पर रूप दोनों का अभाव होने से वस्तु के निःस्वरूप होने का प्रसंग आ जावेगा ।

यदि संवृति को उभयरूप मानों तो भी उभय पक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग आ जायेगा । तथा यदि संवृति से मतलब 'तत्त्व रूप से' ऐसा अर्थ कहो तब तो वे धर्म अवक्तव्य कैसे रहेंगे ?

१ स्वरूपेणवक्तव्ये त्यायातं घटे पराभावोऽभावोपि स्वरूपं । व्या० प्र० । २ ननु स्वरूपं विशेषरूपमेव पररूपंतु सामान्यरूपमेव ततश्च विशेषरूपेण वक्तव्यसद्भावात् वाचः स्खलनं गम्यते । दि० प्र० । ३ पररूपं लक्षणस्य । व्या० प्र० । ४ ततश्च सर्वधर्माणां स्वपररूपाभावान्निः स्वरूपत्वमितिभावः । व्या० प्र० । ५ संवृत्या स्वरूपेण संवृत्या पररूपेणेतिपक्षे उभयदोषः प्रसङ्गः = वस्तुनो धर्मः संवृत्या तत्त्वेन वक्तव्याश्चेतदा अवक्तव्याः कथं । केवलं वाचः स्खलनमत्रापि जायते = तत्त्वेन वक्तव्येति वचने प्रस्तुते प्रारब्धे सति संवृत्या वक्तव्येति वचनं प्रवर्तते यतः संवृत्या मृषात्वेन सर्वे धर्मा वक्तव्ये ति चेत्तदाप्रतिपादिताः कथं भवता कस्मात् सर्वथा असत्योक्ता नामनुक्त-सदृशत्वात् । यत एवं तत्तस्मात् विरुद्धमिथ्याविकल्पसमूहैः अलं पूर्णतां कस्मात्सर्वथानभिलाष्यानां सर्वधर्माणामत-भिलाष्येति वचनेनाभिलाष्यत्वं न संभवति यतः तथा सति परप्रतिबोधनं न घटते यतः । दि० प्र० । ६ परम् । व्या० प्र० । ७ वाचः । इति पा० । व्या० प्र० ।

इति वचनप्रवृत्तेः । मृषात्वेन चेत्कथमुक्ताः ? सर्वथा मृषोक्तानामनुक्तसमत्वात् । 'तदलम-
प्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः, सर्वथानभिलाष्यानां सर्वधर्माणामनभिलाष्या इति ²वचनेनाप्य-
भिलाष्यत्वासंभवात्तथा³ परप्रत्यायनायोगात्⁴ ।

किंचेदं तत्त्वम्,—

अशक्यत्वादवाच्यं⁵ 'किमभावा'त्किमबोधतः⁶ ।

आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥५०॥

इसलिये इस कथन में तो केवल वचन रखलन ही प्रतीत होता है ये धर्म "तत्त्व रूप से वक्तव्य है" ऐसा वचन प्रस्तुत होने पर "संवृति से वक्तव्य है" इस प्रकार के वचन की प्रवृत्ति होवेगी ।

यदि आप "संवृति से" इसका अर्थ 'मृषा रूप से' ऐसा मानें तब तो उनको कैसे कहा ? अर्थात् सभी धर्म हैं और वे अवक्तव्य हैं । इस प्रकार से भी कैसे कहा । क्योंकि सर्वथा असत्य वचन नहीं कहे हुये के समान ही हैं । इसलिये इन अव्यवस्थित मिथ्या विकल्पों के समूह से बस होवे । क्योंकि सर्वथा अवाच्य सभी धर्मों को "ये अवाच्य हैं" इस प्रकार से वचन के द्वारा भी कहना असंभव है । और उसी प्रकार से पर-शिष्यों को समझाना भी असंभव ही है ।

उत्थानिका—दूसरी बात यह है कि यह तत्त्व अवाच्य क्यों हैं ? कहिये ।

कहो बौद्ध जी ! तत्त्व आपका "अवक्तव्य" किस विध से है ।

क्या अशक्ति से या अभाव से या अबोध से नहीं कहते ॥

इन तीनों में आदि अन्त के कारण शक्य नहीं दिखते ।

अतः बहाना करने से क्या साफ कहो कि अभाव है ॥५०॥

कारिकार्थ—आप बौद्धों के यहाँ तत्त्व अवाच्य क्यों है ? क्या अशक्य होने से अवाच्य है या उसका अभाव होने से अवाच्य है अथवा उसका ज्ञान न होने से अवाच्य है ? इनमें से आदि और अन्त रूप दो पक्ष तो बन नहीं सकते । इसलिये बहानेबाजी से क्या ? स्पष्ट कहिये कि तत्त्व का अभाव है ॥५०॥

1 एषु विकल्पेषु दूषणं यस्मात् । व्या० प्र० । 2 कथनेन । दि० प्र० । 3 शिष्यप्रबोधनं । व्या० प्र० ।

4 दूषणान्तरम् । दि० प्र० । 5 अर्थस्य । दि० प्र० । 6 भवद्भिर्बोधेरङ्गीक्रियत इति जैनः पृच्छति । दि० प्र० ।

7 असत्त्वात् । दि० प्र० । 8 स्वकीयाज्ञानात् । दि० प्र० ।

[तत्त्वमवाच्यं कथं ?]

अर्थस्यानभिलाष्यत्वमभावाद्भवतुरशक्तेरनवबोधाद्वा ? प्रकारान्तरासंभवात्¹ । ननु च मौनव्रतात्प्रयोजनाभावाद्बुद्ध्याल्लज्जादेर्वाऽनभिलाष्यत्वसिद्धेः कथं प्रकारान्तरासंभव इति चेन्न, मौनव्रतादीनामशक्यत्वेन्तर्भावात् तेषां करणव्यापाराशक्तिनिमित्तत्वाच्च² । न चैवमनवबोधस्ततः प्रकारान्तरं न स्यात् तत्त्वावबोधे सति करणव्यापाराशक्तावप्यन्तर्जल्पसंभवात् । तत्त्वावबोधाभावेपि च करणव्यापाराशक्तिसद्भावात् । ³अनवबोधाशक्यत्वयोरिह⁴ बुद्धिकरणपाटवापेक्षत्वात् प्रकारान्तरत्वमेव । न च सर्वत्र तदभावो युक्तः, कस्यचित्त्वचिदवबोधसद्भावात् मुगतस्य प्रज्ञापारमितत्वात् ⁵क्षमामत्रीड्यानदानवीर्यशीलप्रज्ञाकणोपायप्रमो⁶-

[तत्त्व अवाच्य क्यों है ?]

पदार्थ का “अवाच्यत्व” उसके अभाव से है या व्रता में कहने की शक्ति नहीं होने से है अथवा उसका ज्ञान न होने से वह अवाच्य है ? क्योंकि इन तीन के सिवा चौथा प्रकार सम्भव नहीं है ।

सौगत—मौन व्रत लेने से प्रयोजन का अभाव होने से भय से अथवा लज्जा से अवाच्यत्व सिद्ध है । अतः भिन्न प्रकार असंभव कैसे है ?

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि मौन व्रतादिकों का अशक्यत्व में अंतर्भाव हो जाता है एवं उनमें इन्द्रिय, तालु आदि रूप करण के व्यापार की अशक्ति ही निमित्त है । अर्थात् जैनाचार्य ने मौन व्रतादिकों का अशक्य में अन्तर्भाव किया तो—

बौद्ध ऐसा कहता है कि अनवबोध और अशक्ति ये दोनों एक कारण पूर्वक होने से अबोध का अशक्य में अंतर्भाव हो जाता है । इस पर जैन कहते हैं कि—इस प्रकार से अबोध अशक्ति से भिन्न प्रकार नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते । क्योंकि तत्त्व का अबोध होने पर यदि इन्द्रियादिकों के व्यापार की शक्ति नहीं है तो भी अंतर्जल्प संभव है । और तत्त्व ज्ञान का अभाव होने पर भी इन्द्रियों के व्यापार की शक्ति का सद्भाव देखा जाता है इसलिये अबोध को अशक्ति में अंतर्भूत करने के लिये व्यतिरेक एवं अन्वय दोनों ही नहीं हैं ।

यहाँ अनवबोध और अशक्यत्व इन दोनों में ही क्रम से बुद्धि और करण की पटुता की अपेक्षा होने से भिन्न-भिन्न प्रकारता है ही है । अर्थात् अनवबोध बुद्धि की अपेक्षा रखता है और अशक्ति इन्द्रियों की पटुता की अपेक्षा रखती है अतः दोनों भिन्न हैं ।

1 प्रकारान्तराभावात् । इति पा० । व्या० प्र० । 2 तासः । व्या० प्र० । 3 अनवबोधाशक्यत्वयोरेककारणपूर्वकत्वेनाशक्यत्वेऽनवबोधस्यांतर्भावः स्यादित्युक्तमिह । व्या० प्र० । 4 कारिकायाम् । व्या० प्र० । 5 प्रभावः । व्या० प्र० । 6 पदार्थक्रिया । व्या० प्र० ।

दलक्षणदशबलत्वोपगमाच्च¹ कस्यचिदेव करणापाटवात् । ²तदनेनाशक्यत्वानवबोधवचन-
लक्षणस्याद्यन्तोक्तिद्वयस्यासंभवो व्याख्यातः । सामर्थ्यादर्थस्याभावादेवावाच्यत्वमिति³ किं
व्याजेनावक्तव्यं तत्त्वमिति वचनरूपेण ? स्फुटमभिधीयतां सर्वथार्थाभाव⁴ इति, तथा वचने
वञ्चकत्वायोगादन्यथानाप्तत्वप्रसवतेः ।

[तत्त्वस्याभावत्वादवाच्यत्वं तर्हि शून्यवाद एव सिद्ध्यति ।]

ततो नैरात्म्यान्⁵ विशोष्येत, मध्यमपक्षावलम्बनात्⁶ । को ह्यत्र⁷ ⁸विशेषोर्थस्या-

एवं सभी पुरुषों में बुद्धि और इन्द्रिय पटुता का अभाव कहना भी युक्त नहीं है । क्योंकि कहीं पर किसी जीव के ज्ञान का सद्भाव है सुगत प्रज्ञापारमित है उसमें क्षमा, मंत्री, ध्यान, दान, वीर्य, शील, प्रज्ञा, करुणा, उपाय और प्रमोद लक्षण वाले दश बल भी माने गये हैं । अतः किसी में ही इन्द्रिय की पटुता नहीं है किन्तु सभी के ही न हो ऐसी बात नहीं है ।

ततः सभी में अवबोध और शक्ति का अभाव युक्त नहीं है । इसलिये अशक्य और अज्ञान लक्षण आदि एवं अंत के विकल्प रूप दो कथन तो असंभव ही हैं । ऐसा कथन किया गया है ।

अतः सामर्थ्य से अर्थात् पारिशेष न्याय से यही बात सिद्ध हो गई कि पदार्थ का अभाव होने से ही वह पदार्थ 'अवाच्य' है ऐसा कहना चाहिये । "तत्त्व अवाच्य है" इस वचन रूप बहाने से क्या सार है ? स्पष्ट रूप से कह दीजिये कि सर्वथा पदार्थों का अभाव ही है । और इस प्रकार से कह देने पर आप का सुगत वञ्चक—ठग या मायाचारी नहीं कहलायेगा । अन्यथा वहसुगत अनाप्त—अविश्वस्त-असर्वज्ञ ही हो जायेगा ।

[तत्त्वों का अभाव होने से है अवाच्यता है तब तो शून्यवाद सिद्ध हो जायेगा ।]

पुनः यह आपका बौद्ध दर्शन नैरात्म्य दर्शन से भिन्न नहीं हो सकेगा । क्योंकि आपने मध्यम अर्थात् अभाव पक्ष का अवलम्बन ले लिया है ।

पदार्थों का अभाव होने से तत्त्व अवाच्य है और नैरात्म्य भी शून्यवाद है अतः इन दोनों में ही पदार्थ का अभाव सर्वथा समान होने से क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ भी अन्तर नहीं है ।

1 एव । व्या० प्र० । 2 यत् एवं तस्मादनेनानवबोधाशक्यत्वभिन्नप्रतिपादनद्वारेण अशक्यत्वावबोधवचनलक्षण स्याद्यन्तोक्तिद्वयस्यासद्भावो व्याख्यानः सुगस्येति भावः । दि० प्र० । 3 भावादेवान्यत्वमिति । इति पा० । दि० प्र० । 4 स्याद्वाद्याह सर्वथार्थाभाव इतिसत्यकथने सुगतस्य वञ्चकत्वं न घटते अन्यथा सुगतस्य वञ्चकत्वे सति अनाप्तत्वं प्रसजति । दि० प्र० । 5 यत् एवं ततः हे अवक्तव्यवादिन् सीगतभवन्मतं शून्यमतान्न भिद्येत कस्माद-
भावपक्षा श्रयत्वात् = अर्थस्याभावादभिलाष्यं तथा नैरात्म्यं चानयोर्मध्ये अर्थभेदः कः न कोपीत्यर्थः । दि० प्र० । 6 कारिकोक्ते पक्षत्रयमध्ये । दि० प्र० । 7 नैरात्म्यावाच्यत्वयोः । व्या० प्र० । तथा कोह्यर्थः । इति पा० । दि० प्र० । 8 नैरात्म्यमभाव इत्यत्रार्थविशेषो न । दि० प्र० ।

भावादवाच्यत्वं नैरात्म्यमिति च ? ^१अशक्यसमयत्वादनभिलाष्यमर्थरूपमिति^२ चेन्न, कथं-
^३विच्छक्यसंकेतत्वाद्^४ । ^५दृश्यविकल्प्यस्वभावत्वात्परमार्थस्य^६ प्रतिभासभेदेपीत्युक्तम् । न हि
 दृश्यस्वभाव एव परमार्थो न पुनर्विकल्प्यस्वभावः ^७सामान्यं, ^८विशेषवत्सामान्यस्यापि
 वस्तुरूपत्वसाधनादन्यथा प्रतीत्यभावात् सामान्यविशेषात्मनो जात्यन्तरस्य प्रत्यक्षादौ प्रति-
 भासनाच्च । न चैवं दृश्यलक्षणेषु^९ संकेतकरणाशक्तावपि विकल्प्ये सामान्ये क्वचिदशक्य-
 संकेतत्वं येनाशक्यसमयत्वादनभिलाष्यमर्थरूपं भवेत्, कथंचिच्छक्यसंकेतत्वसिद्धेः । स्यान्मतं
 'संकेतितार्थस्य शब्दविषयस्य व्यवहारकालेननुगमनाद्विषयिणः'^{१०} शब्दस्य न तद्वाचकत्वमन्य-

बौद्ध—पदार्थ में समय संकेत करना अशक्य होने से पदार्थ का स्वरूप अवाच्य है न कि पदार्थ का अभाव होने से वह अवाच्य है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । कथंचित् सामान्य रूप से संकेत करना है क्योंकि दृश्य और विकल्प्य स्वभाव होने से परमार्थ में प्रतिभास के होने पर भी संकेत होता है ऐसा प्रथम परिच्छेद में "विरोधान्नोभयंकार्थ्यं" इस कारिका में कह दिया गया है । अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान के द्वारा ग्राह्य पदार्थ दृश्य कहलाता है और विकल्प ज्ञान के द्वारा ग्राह्य घट पठादि विकल्प कहलाते हैं । ये दोनों परमार्थ हैं अतः प्रतिभास भेद होने पर भी संकेत करना शक्य ही है ।

दृश्य स्वभाव ही परमार्थ हो किन्तु विकल्प्य स्वभाव सामान्य परमार्थ न हो ऐसा तो है नहीं । विशेष के समान सामान्य भी वस्तु रूप सिद्ध है क्योंकि अन्यथा प्रतीति का अभाव है । सामान्य विशेषात्मक रूप जात्यन्तर वस्तु ही प्रत्यक्ष आदि ज्ञान में प्रतिभासित होती है । अतः सामान्य और विशेष दोनों वस्तु भूत-परमार्थ हैं । इस प्रकार से दृश्य लक्षण पदार्थों में संकेत करना शक्य न होने पर भी किसी विकल्प्य सामान्य में संकेत करना अशक्य नहीं है कि जिससे संकेत करना शक्य न होने से पदार्थ का स्वरूप अवाच्य हो जावे । अर्थात् नहीं हो सकता है । क्योंकि पदार्थ में कथंचित् संकेत करना शक्य है यह बात सिद्ध है ।

बौद्ध—शब्द का विषयभूत संकेतित पदार्थ व्यवहार काल में अर्थात् "घटमानय" इत्यादि में

1 अत्राह सौगतः । हे स्याद्वादिन् स्वलक्षणलक्षणमर्थरूप मनभिलाष्यं स्यात्कस्मात् अशक्यसंकेतत्वात् । क्षण क्षयिणो-
 र्थस्य नामादिकरणः संकेतः कर्तुं न शक्यते इति चेन्न । कस्मादर्थस्य कथंचित्संकेतः कर्तुं शक्यते यतः । दि०
 प्र० । 2 स्वलक्षण । दि० प्र० । 3 स्याद्वाद्याह हे सौगत असत्यस्य भवदभ्युपगतस्यार्थस्य संकेतकरणान्ति अस्मदभ्यु-
 पगतार्थस्य कथंचिच्छक्यसंकेतत्वं घटते । दि० प्र० । 4 अर्थस्य । दि० प्र० । 5 विकल्पविषयात्वाद्द्विकल्पमपि
 स्वलक्षणम् । दि० प्र० । 6 स्वलक्षणस्य । दि० प्र० । 7 सामान्य विशेषात्मा कीर्त्तः यथा विशेषो वस्तु तथा-
 सामान्यमपि वस्तुरूपमन्यथाप्रतीतिर्नदृश्यते = सामान्यविशेषात्मकं जात्यन्तररूपं वस्तु प्रत्यक्षादिज्ञाने प्रतिभासते
 यतः । दि० प्र० । 8 सामान्यं विशेषः विशेषवत् । इति पा० । दि० प्र० । 9 दृश्यस्वलक्षणे स्वसंकेत इति । पा० ।
 दि० प्र० । 10 क्षणिकत्वात्तयोः घटशब्दयोः । व्या० प्र० ।

थातिप्रसङ्गात्¹ इति, तदेतद्विषयविषयिणोर्भिन्नकालत्वं प्रत्यक्षेषि समानं, शब्दविकल्प-कालवत् प्रत्यक्षप्रतिभासकालेपि विषयस्यासंभवात्, संभवे वा क्षणिकत्वविरोधाद्वेद्यवेदकयोः समानसमयत्वप्रसङ्गाच्च । अथ भिन्नकालत्वेपि² ³विषयात्प्रत्यक्षस्याविपरीतप्रतिपत्तिः, अन्यत्रापि सास्त्येव । न हि शब्दादर्थं परिच्छेद्य प्रवर्तमानो विपरीतं प्रतिपद्यते प्रत्यक्षादिव प्रतिपत्ता, येन दर्शने एवाविपरीतप्रतिपत्तिर्भवति न पुनः शाब्देपीति⁴ बुध्यामहे । ⁵क्वचिद्विकल्पे⁶ विपरीतप्रतिपत्तिमुपलभ्य सर्वत्र विपरीतप्रतिपत्तिकल्पनायां क्वचिद्दर्शनेपि विपरीत-

अन्वय से । अतः विषयी शब्द उसका वाचक नहीं हो सकता है । अन्वया अतिप्रसंग आ जायेगा । अर्थात् अतीत अर्थ भी विवक्षित शब्द के वाच्य हो जायेंगे ।

जैन—इस प्रकार से तो विषय पदार्थ और विषयी शब्द अथवा कोई ज्ञान इन दोनों का यह भिन्न काल तो प्रत्यक्ष में भी समान है । जिस प्रकार से शब्द के विकल्प काल में शब्द का विषयभूत पदार्थ नहीं है तद्वत् प्रत्यक्ष के प्रतिभास काल में भी क्षणिक रूप विषय-पदार्थ असम्भव ही है ।

अथवा संभव मान लेंवे तो क्षणिक मत का विरोध हो जायेगा अर्थात् वह पदार्थ कुछ क्षण ठहरने पर क्षणिक कैसे कहलायेगा ? एवं ज्ञेय और ज्ञायक रूप कार्य करण में समान समय का प्रसंग आ जायेगा ।

सौगत—भिन्न काल होने पर भी विषयभूत पदार्थ से प्रत्यक्ष में अविपरीत प्रतिपत्ति है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो अन्यत्र शब्दों में भी वह अविपरीत प्रतिपत्ति है ही है ।

शब्द से अर्थ को जान करके प्रवृत्ति करता हुआ कोई मनुष्य विपरीत को नहीं जानता है । जैसे कि कोई मनुष्य प्रत्यक्ष से पदार्थ को जानकर प्रवृत्ति करता हुआ विपरीत को नहीं जानता है किन्तु सत्य को ही जानता है । जिससे कि प्रत्यक्ष रूप निर्विकल्प दर्शन में ही सच्चा ज्ञान ही किन्तु शब्द के विषयभूत पदार्थ में सच्चा ज्ञान न होवे ऐसा ह्य मान सकें । अर्थात् नहीं मान सकते हैं प्रत्युत शब्द से सच्चा ज्ञान होता है ऐसा हम मानते हैं ।

किसी विकल्प ज्ञान में विपरीत ज्ञान को देखकर सभी जगह विपरीत ज्ञान की कल्पना करने पर तो किसी (सोप के टुकड़े में रजत विषयक) निर्विकल्प दर्शन में भी विपरीत ज्ञान को देखकर सर्वत्र-सत्यज्ञान में भी विपरीत ज्ञान की कल्पना हो जावे क्योंकि दोनों जगह कुछ भी अन्तर नहीं है ।

1 अर्थः । दि० प्र० । 2 विषयादुत्तरकालत्वेपि । दि० प्र० । 3 सम्यग्ज्ञान । व्या० प्र० । 4 शब्देपि । इति पा० । दि० प्र० । शब्दविकल्पे । दि० प्र० । 5 नद्यास्तोरे मोदकराशयः सन्तीत्यादौ । दि० प्र० । 6 स्याद्वादी वदति हे सौगत क्वचिद्विकल्पज्ञाने विपरीत प्रतिपत्तिं प्राप्य सर्वत्र विपरीत प्रतिपत्तिकल्पनायां क्रियभाषायां सत्यां निर्विकल्पक-दर्शनेपि तथैवास्तु उभयत्र विशेषाभावात् । एवं सौगतप्रत्यक्षदर्शनसविकल्पक ज्ञानयोः वस्तुग्राहकत्वाभावे सति लोके किमपि वस्तु न सिद्धम् । कस्मात् दर्शनेन गृहीतस्य दृष्टस्यानिश्चयाद्दृष्टसमानत्वात् । पुनः कस्माद्दृष्टस्य-सामान्यलक्षणस्य निर्णयः सांख्याभ्युपगतप्रधानादिविकल्पान्न भिद्यते यतः । यथा प्रधानादि धर्मः अप्रमाणम् तथा विकल्पज्ञानम् । दि० प्र० ।

प्रतिपत्तिं समीक्ष्य सर्वत्र तत्कल्पनास्तु, विशेषाभावात् । दर्शनविकल्पयोः परमार्थैकतानत्वाभावे^१ न किञ्चित्सिद्धम् । ^२दृष्टस्यानिर्णयाददृष्टकल्पनाददृष्टनिर्णयस्य^३ प्रधानादिविकल्पाविशेषात्^४ कुतो दर्शनस्य कल्पनाषोढस्यापि परमार्थैकतानत्वम् ? न हि दृष्टे स्वलक्षणे निर्णयः संभवति, तस्य तदविषयत्वात् । अदृष्टे तु सामान्यलक्षणे निर्णयः प्रवर्तमानो न प्रधानादिविकल्पाद्विशेष्यते^५ । इति 'सकलप्रमाणाभावात्प्रमेयाभावसिद्धेरववतव्यर्तकान्तवादिनां नैरात्म्यमेवायातं, ^७सर्वथाप्यशक्यसमयत्वेनाप्य^८शक्यत्वपक्ष^९स्यासंभवादन व बोधपक्षवद-

अर्थात् सीप के टुकड़े में चाँदो को विषय करने वाले विपरीत ज्ञान के होने पर सत्य ज्ञान में भी विपरीत कल्पना ही होनी चाहिये ।

“पुनः इस तरह दर्शन एवं विकल्प—शब्द में परमार्थरूपता का अभाव हो जाने पर कुछ भी (अन्तस्तत्त्व—वहिस्तत्त्व) सिद्ध नहीं होता है ।

निर्विकल्पप्रत्यक्ष के विषयभूत स्वलक्षणरूप दृष्ट का निर्णय न होने से अदृष्टरूप सामान्य की कल्पना से अदृष्ट का निर्णय मानते हो तब तो प्रधान, ईश्वर आदि के विकल्प भी समान ही हैं ।”

पुनः कल्पना से रहित भी निर्विकल्प दर्शन एक परमार्थ को ही विषय करता है यह किस प्रमाण से सिद्ध होगा ?

दृष्ट स्वलक्षण में निर्णयरूप विकल्प ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि वह निर्णय स्वलक्षण को विषय नहीं करता है । निर्विकल्प प्रत्यक्ष का जो विषय नहीं है ऐसे स्थिर स्थूल घटपटादिरूप सामान्य लक्षण अदृष्ट में प्रवृत्त हुआ निर्णय प्रधान आदि विकल्पों से भेद नहीं रखता है । इसलिये अववतव्यैकान्तवादियों के यहाँ सकल प्रमाण का अभाव होने से प्रमेय का भी अभाव सिद्ध हो जाता है पुनः नैरात्म्यवाद ही आ जाता है । क्योंकि सर्वथा भी संकेत के शक्य न होने से अशक्यत्व पक्ष भी अनवबोध पक्ष के समान असंभव हो जाता है पुनः अभाव पक्ष ही निर्व्याजरूप से सिद्ध हो जाता है । इस तरह तत्त्व अवाच्य है अर्थात् अभावरूप है ऐसा सिद्ध हो जाने पर क्षणिकैकान्त पक्ष में कृतनाश और अकृताभ्यागम का भी प्रसंग आ जाता है ।

जो कि उपहासास्पद ही है । कृतनाश अर्थात् जिसने किया है वह भोक्ता नहीं होगा और अकृताभ्यागम—जिसने नहीं किया है वह भोक्ता है इस प्रकार से दोष आ जायेंगे । जो कि उपहासरूप ही है ।

१ द्वयोरपिपरमार्थैकं नानात्वानभ्युपगम एकस्यैव दर्शनस्य परमार्थैकतानत्वं न तु विकल्पस्येत्यभ्युपगम इत्यर्थः । व्या० प्र० । २ कल्पत्वाद् । इति पा० । व्या० प्र० । ३ अदृष्टमपि निर्णयात् चेत् । व्या० प्र० । ४ बौद्धस्य तदनङ्गीकारः अविद्यमानविकल्पनात् । व्या० प्र० । ५ असत्यभूताद् । व्या० प्र० । ६ कथितप्रकारेण । दि० प्र० । ७ पुनः स्याद्वाद्याह । हे सौगत ! अशक्यसमवाय त्वादनभिलाप्यमर्थरूपभित्ति यदुक्तं त्वया । तत् अशक्यत्वपक्षोपि न संभवति । यतः सुगतस्य । दि० प्र० । ८ स्वलक्षणस्याशक्यसंकेतत्वेन । दि० प्र० । ९ स्वलक्षणस्य । दि० प्र० ।

भावस्यैव^१ निर्व्याजत्वसिद्धेः । ततः^२ क्षणक्षयकान्तपक्षे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः । स^३ चोपहासास्पदमेव^४ स्यात् । तथा^५ हि ।

हिनस्त्यनभिसन्धात् न^६ हिनस्त्यभिसंधिमत् ।

बध्यते तद्वायापेतं चित्तं^७ बद्धं न^८ मुच्यते ॥५१॥

हिंसाभिसंधिमच्चित्तं^९ न हिनस्त्येव प्राणिनं, तस्य निरन्वयनाशात्^{१०} संतानस्य वासनायाश्चासंभवात् । अनभिसन्धिमदेवोत्तरं^{११} चित्तं हिनस्ति । तत एव हिंसाभिसन्धिहिंसा-

बौद्धों के यहाँ तत्त्व को अवक्तव्य मानने पर कृतनाश और अकृताभ्यागम का प्रसंग आ जावेगा अब उसे ही कहते हैं ।

उत्थानिका—इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

हिंसा के अभिप्राय रहित हिंसा करता कोई निश्चित ।

हिंसा के अभिप्राय सहित नहिं हिंसा कर सकता किंचित् ॥

इन दोनों से रहित बंधा है बद्ध जीव नहीं छूटेगा ।

क्षणिक निरन्वय नाश पक्ष में अन्य जीव फल भीगेगा ॥५१॥

कारिकार्थ—हिंसा के अभिप्राय से सहित चित्त तो हिंसक नहीं होगा तथा अभिप्राय से रहित चित्त हिंसा करे एवं हिंसा के अभिप्राय से सहित और रहित से भिन्न तीसरा ही चित्त बंध को प्राप्त होगा तथा जो बंधा है, उससे भिन्न चौथा ही चित्त बंध से युक्त हो सकेगा अर्थात् आप बौद्धों के क्षणिककान्त में यह व्यवस्था हो जायेगी ॥५१॥

हिंसा के अभिप्राय वाला चित्त प्राणियों की हिंसा नहीं कर सकता है क्योंकि उसका निरन्वय नाश हो गया । संतान और वासना ये दोनों ही असंभव हैं । इसका आगे स्पष्टीकरण करेंगे ।

हिंसा के अभिप्राय से रहित उत्तरक्षण चित्त हिंसा करेगा । उसी प्रकार से हिंसा और अहिंसा के अभिप्राय से रहित तीसरा चित्त कर्मों से बंधता है । जो बंधा हुआ है वह मुक्त नहीं होता किन्तु उससे भिन्न ही मुक्त होता है ।

इस प्रकार से निरन्वय विनाशवादी बौद्ध को छोड़कर उस बद्ध की मुक्ति के अभाव को प्रगट करने वाले इस क्षणिक तत्त्व को अन्य कौन विचारशील मनुष्य प्रकाशित करेगा अर्थात् कोई नहीं ।

१ कारिकोक्तस्य । दि० प्र० । २ सन्तानो न भवति यतः । दि० प्र० । ३ अस्तु प्रसंगेति चेत् । दि० प्र० । ४ लोके हास्यस्वानम् । दि० प्र० । ५ यथा अस्ति तथा दर्शयति । दि० प्र० । ६ प्राणिनम् । दि० प्र० । ७ चैतन्यम् । दि० प्र० । ८ तत्र मुच्यते कुतः चतुर्थस्यैव मुक्ति र्थतः । दि० प्र० । ९ कारिकाद्वितीयपादं व्याख्यातुमाह । दि० प्र० । १० अनुस्यूत्वभावात् । व्या० प्र० । ११ हिरनभिप्रायरहितचित्तम् । व्या० प्र० ।

चित्तद्वयादपेतं चित्तं बध्यते । यच्च बद्धं तन्न मुच्यते, ततोऽन्यस्य^१ मुक्तेः । इति कोन्यः^२ प्रकाशयेन्निरन्वयात् तस्यैवम् ?^३ संतानादेरयोगादिति—कर्तव्यतासु चिकीर्षोर्विनाशात् कर्तुर-चिकीर्षुत्वात् तदुभयविनिर्मुक्तस्य बन्धात्तदविनिर्मुक्तेश्च यमनियमादेरविधेयत्वं, कुर्वतो वा यत्किञ्चनकारित्वं प्रत्येतव्यम् । न चैवमनेकान्तवादिनः, प्रतिक्षणं परिणामान्यत्वेऽपि जीव-द्रव्यस्यान्वयात्^४ चिकीर्षोरेतिकर्तव्यतासु कर्तृत्वात्कर्तुरेव च कर्मबन्धाद्बद्धस्यैव विनिर्मुक्तेः सर्वथा विरोधाभावात् । क्षणिकवादिनामपि^५ संतानस्यैकत्वात्पूर्वपूर्ववासनोपहितोत्तरोत्तर-

“संतानादि का अभाव होने से इस प्रकार की नियमरूप कर्तव्यता में चिकीर्षू करने की इच्छा वाले का विनाश हो जाता है । तथा कर्ता के करने की इच्छा नहीं रहती है एवं इन दोनों से रहित ही बंधता है और उस बद्ध की मुक्ति न होकर चौथे की होती है । इस प्रकार मान्यता में तो यम, नियम, दीक्षा आदि भी अविधेय—नहीं करने योग्य हो जाते हैं अथवा उनको करते हुये को वे यत्किञ्चनकारी हो जावेंगे ।”

भावार्थ—बौद्ध के यहां अन्वयरूप संतान आदि का अभाव होने से क्या दोष आता है आचार्य उसी का स्पष्टीकरण करते हैं कि आपके यहां किसी भी कार्य का नियम नहीं बन सकता है । देखिये जिसने कार्य करने की इच्छा की उस चित्त क्षण का उसी समय निरन्वय—जड़मूल से विनाश हो गया । तथा उत्तर क्षण के चित्त ने कार्य किया वह कर्ता बना किन्तु उसके उस कार्य को करने की इच्छा नहीं है । कार्य करने के अभिप्राय से सहित और अभिप्राय से रहित करने वाले इन दोनों से रहित आगे के तृतीय क्षण का चित्त कर्मों से बंधता है एवं बंधे हुये चित्त क्षण से भिन्न ही चतुर्थ क्षण कर्म से छूटता है पुनः आप बौद्धों के यहाँ ही दीक्षा लेना, यम, नियम आदि का अनुष्ठान करना शक्य ही नहीं होगा क्योंकि वे निष्पक्ष ही रहेंगे । जब करने वाले को उसका फल नहीं मिलेगा तब उन क्रियाओं को भला कौन बुद्धिमान् करना चाहेगा ? अथवा इस प्रकार से करते हुये को वे कुछ भी फल देने वाले हो जावेंगे । किन्तु इस प्रकार के दोष हम अनेकांतवादियों के यहाँ नहीं आते हैं । हमारे यहाँ प्रतिक्षण परिणाम के भिन्न होने पर भी जीव द्रव्य को अन्वयरूप माना है । करने का इच्छुक नियम से कर्तव्यता में कर्ता है एवं कर्ता के ही कर्मबंध होता है तथा बद्ध की ही मुक्ति होती है । इसमें सर्वथा विरोध का अभाव है ।

१ ततो बद्धाच्चितादन्यत्तचित्तस्यमुक्तिर्घटते एवं सति सौगतमते निरन्वयात्कोन्यः प्रकाशेत् । कोर्थः निरन्वय एव प्रकाशयते । दि० प्र० । २ सौगतात् । दि० प्र० । ३ क्षणस्य । दि० प्र० । ४ विरोधाभावः कुतः । व्या० प्र० । ५ अत्राह सौगतः सौगतानां सन्तानस्य एकत्वमस्ति पूर्वपूर्ववासना संस्कृतोत्तरोत्तरचित्रस्योत्पादनात् । अदृषणमिति चेन्न कस्मात्सन्तानः अपरमार्थो यतः । वास्यवासकभावोऽपि सन्तानस्य न संभवति तर्हि अव्यभिचारी कार्यकारणभावोऽस्ति तस्यापि न संभवः । कस्मात् । अव्यभिचारी कार्यकारणभाव एक सन्तानं न निश्चाययति यतः । पुनः कस्मात् । सुगतसंसारिजनचित्तेष्वपि अव्यभिचारी कार्यकारणभावः संभवति यतः सुगतचित्रस्य इतरजनचित्तानि विषया भवन्ति इतरचित्तानि सुगतस्य ज्ञानमुत्पादयन्ति इति पूर्वमुक्तत्वात् । दि० प्र० । ६ एवमपि कुतोऽनुपालम्भ इत्युक्त आह । व्या० प्र० ।

चित्तविशेषस्योत्पत्तेरनुपालम्भ^१ इति चेन्न, ^२संतानस्यावास्तवत्वाद्वास्यवासकभावस्याप्यसंभवाद-
व्यभिचारकार्यकारणभावस्यापि तन्नियमहेतुत्वायोगात् सुगतेतरचित्तसंतानेष्वपि भावादिति^३
निरूपितत्वाच्च ^४क्षणिकैकान्तवादिनाम् ।

बौद्ध—हम क्षणिकवादियों के यहां भी संतान में एकत्व के मानने से पूर्व-पूर्व की वासना से सहित उत्तरोत्तर चित्त विशेष की ही उत्पत्ति होती है अतः हमारे यहां भी यह उलाहना ठीक नहीं है ।

जैन—आप ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आपके यहां संतान अवास्तविक है एवं वास्यवासक भाव भी असंभव है । तथा अव्यभिचारी कार्यकारण भाव भी उसके नियम में हेतु नहीं हो सकता है । कारण कि सुगत और सौगत के चित्तक्षणों में भी वह कार्यकारण भाव पाया जाता है अर्थात् सौगत के चित्तक्षणों से सुगत ज्ञान उत्पन्न होता है इस प्रकार से "संतानः समुदायश्च" इस कारिका के व्याख्यान में कह दिया गया है । अतः क्षणिकैकान्तवादियों के यहां संतान आदि का अभाव होने से उपर्युक्त दोष आते ही हैं ।



१ समन्वितम् । व्या० प्र० । २ सन्तानस्यावास्तवत्वेपि वासनावशादयमुपालम्भो न भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह ।
व्या० प्र० । ३ दूषणस्य । व्या० प्र० । ४ निरूपितत्वात् किञ्च क्षणिकैकान्त । इति पा० । दि० प्र० । दूषणान्तरम् ।
दि० प्र० ।

बौद्धाभिमत अव्यक्तव्य के खण्डन का सारांश

बौद्ध—संतान का धर्म एकत्व है और संतानी का धर्म पृथक्त्व है अतः ये एकत्व अन्यत्व धर्म अवाच्य हैं अर्थात् सत्त्व एकत्व आदि सभी धर्मों में सत्, असत्, उभय, अनुभय रूप चार विकल्प कहे नहीं जा सकते हैं। तथैव संतान संतानी के भेद, अभेद, उभय एवं अनुभय रूप चार विकल्प अवाच्य ही हैं।

क्योंकि प्रश्न उठता है कि वस्तु का धर्म सत् है या असत्, उभय है या अनुभय। यदि सत् मानें तो उसकी उत्पत्ति असंभव है, असत् मानें तो शून्य पक्ष के दोष आ जायेंगे। उभय में उभय पक्षोक्त दोष आयेंगे। एवं अनुभय में उभय धर्म का निषेध होने से वस्तु निर्विषय-निःस्वरूप ही जायेगी।

जैनाचार्य—इस प्रकार से यदि आप तत्त्व को अव्यक्तव्य मानेंगे तो “चतुष्टकोटि” विकल्प अव्यक्तव्य है। यह भी वाक्य वचन से नहीं कह सकेंगे। पुनः पदार्थ सभी धर्मों से रहित होने से अवस्तु रूप ही हो जायेगा।

यदि “अव्यक्तव्य” इस वाक्य का प्रयोग पर को समझाने के लिये आप करेंगे तो कथंचित् वाच्यता का प्रसंग आ जायेगा। अतः सर्वथा एकांत विकल्पों से रहित जात्यंतर वस्तु ही अनेकांतात्मक है हमने भी कथंचित् वस्तु को अव्यक्तव्य माना है क्योंकि एक साथ दोनों नय विवक्षित कहे नहीं जा सकते हैं।

सर्वथा असत् नाम की चीज “अवाच्य” अथवा “अवस्तु” इन विशेषणों को स्वीकार नहीं कर सकती है भिन्न-पर द्रव्य, क्षेत्र काल भावों के द्वारा सत् वस्तु का ही प्रतिषेध किया जाता है सर्वथा असत् का नहीं क्योंकि असत् में विधि और प्रतिषेध संभव नहीं है।

आप बौद्धों ने भी स्वलक्षण को “अनिर्देश्य” और प्रत्यक्ष को “कल्पनापोढ” कहा है स्वलक्षण अपने असाधारण स्वरूप से अनिर्देश्य है किन्तु “अनिर्देश्य” इस शब्द के द्वारा अनिर्देश्य नहीं है “प्रत्युत्ति अनिर्देश्य” इस शब्द के द्वारा निर्देश्य ही है। तथैव स्याद्वादियों के यहाँ “अभाव और अवाच्य” है इस शब्द से भी कथंचिक भाव और वाच्य का ही कथन है कथंचित् भाव ही पररूप से अभाव कहा जाता है। आपके यहाँ सकल-धर्म से रहित सर्वथा प्रमाण से शून्य निःस्वरूप अवस्तु ही सर्वथा अवाच्य है। किन्तु हमारे यहाँ प्रमाण से प्रसिद्ध वस्तु सर्वथा अवाच्य नहीं है प्रक्रिया के विपर्यय से पर द्रव्यादि की अपेक्षा से वस्तु ही अवस्तु बनती है। अतः कथंचित् अवाच्य कहलाती

है। जैसे 'अब्राह्मणमानय, अजैतमानय" कहने से ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रिय आदि का ज्ञान होता है तथैव अभाव से भावांतर, अवस्तु से वस्त्वंतर और अवाच्य से भिन्न वाच्य का ही ज्ञान होता है।

इसलिए जो आपने चारों पक्षों में दोषोद्भावन किये हैं वे निर्मूल हैं सभी वस्तु कथंचित् सत्, कथंचित् असत्, कथंचित् उभय एवं कथंचित् अनुभय रूप हैं।

यदि आप सभी धर्मों को "अवक्तव्य" कहते हैं पुनः उनका कथन कैसे होगा ? यदि संवृति से कथन करेंगे तो संवृति तो असत्य ही है।

वह संवृति भी स्वरूप से है, या पररूप से है, या उभय रूप से है, या असत्यरूप से है अथवा तत्त्वरूप से है। इन पाँच विकल्पों के उठाने पर वह संवृति टिक नहीं सकती है। अतः मिथ्या संवृति के द्वारा आपके स्वपक्ष साधन, परपक्ष दूषण वचन भी मिथ्या ही सिद्ध होंगे।

अच्छा यह तो बताइये तत्त्व अवाच्य है क्यों ? क्या उसका कथन अशक्य है, या उसका अभाव है, या उसका ज्ञान नहीं होता है ?

इन तीनों में से आदि का अशक्य और अन्त का अज्ञान पक्ष तो असंभव है क्योंकि आपने स्वयं बुद्ध में क्षमा, मैत्री आदि दश बल माने हैं एवं उसे प्रज्ञापारमित सर्वज्ञ कहा है एवं छल्लस्थ भी शक्तिशाली और ज्ञानी देखे जाते हैं जो तत्त्व का वर्णन कर सकते हैं अब मौन व्रत लेने से क्या ? एवं तत्त्व अवाच्य है ऐसी बहानेबाजी से क्या है ? स्पष्ट बोलिये कि तत्त्व का अभाव है वस आप शून्यैकांतवादी हो गये। तथा आपके यहां दूसरा दोष यह भी बहुत बड़ा आता है कि "कृतनाश और अकृताध्यागम" का भी प्रसंग आ जाता है अर्थात् किये हुये का फल न मिलना और अपने नहीं किये हुये का फल मिलना जो कि उपहासास्पद है। हिंसा के अभिप्राय वाला चित्त हिंसक नहीं होता है क्योंकि उसका अभिप्राय के बाद निरन्वय नाश हो गया। तथा अभिप्राय से रहित चित्त हिंसा करेगा। उसी प्रकार तीसरा चित्त कर्मों से बंधेगा एवं जो बंधा हुआ है वह मुक्त नहीं होगा। इस प्रकार से बौद्ध को छोड़कर ऐसा कौन बुद्धिमान है जो बुद्ध की मुक्ति के अभाव को सूचित करने वाले निरन्वय क्षणिक पक्ष को मानेगा, अर्थात् कोई नहीं मानेगा।

उपसंहार—बौद्ध सभी चार कोटि के विकल्पों को अवाच्य कह रहा है और फिर अवाच्य को संवृति से वाच्य कह रहा है। परन्तु आचार्यों ने उसे अवाच्य कहने से वस्तु के अभाव का भय दिखाया है। एवं सर्वथा क्षण-क्षण विनाशी क्षणिक मत में हमारे किये का फल अन्य कोई भोगेगा और अन्य के किये का फल हमें भोगना पड़ेगा ये दो आपत्तियां दुर्निवार आती हैं ऐसा आचार्यों ने उसे समझाया है।



अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः ।

^१चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो ^२नाष्टाङ्गहेतुकः ॥५२॥

सर्वथाप्यहेतुं विनाशमभ्युपगम्य कस्यचिद्यदि^३ हिंसकत्वं ब्रूयात्^४ कथमविकलवः^५ ?
तथा निर्वाणं संतनासमूलतलप्रहाणलक्षणं ^६सम्यक्त्वसंज्ञासंज्ञिवाक्कायकर्मान्तर्व्यायामाऽजीव-
स्मृतिसमाधिलक्षणाष्टाङ्गहेतुकं यदि ब्रूयात्तदापि कथं स्वस्थः ? ^७तयोरहेतुकविनाशाभ्युपगम-

उत्थानिका—नाश को अहेतुक मानने से क्या हानि है ? सो दिखाते हैं—

यदि नाश निर्हेतुक है, हिंसक हिंसा में हेतु नहीं ।

तथा चित्तसंतति विनाश से मोक्ष कहा निर्हेतु सही ॥

पुनः आप अष्टांग निमित्तक मोक्ष कहा सो कैसे हो ।

यदि नाश निर्हेतुक है तब मोक्ष सहेतुक कैसे हो ॥५२॥

कारिकार्थः—यदि आप बौद्ध नाश को अहेतुक मानते हैं तो हिंसा के हेतु को हिंसक नहीं मानना चाहिये और चित्तसंतति के निरोधरूप मोक्ष को भी अष्टांग हेतुक नहीं कहना चाहिये । ॥५२॥

“सर्वथा भी विनाश को अहेतुक स्वीकार करके यदि किसी को हिंसक कहें तो वह विकलव-
रहित कैसे है ? तथा संतान को समूल तल प्रहाण लक्षण निर्वाण को यदि सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञी,
वाक्कायकर्म, अंतर्व्यायाम, अजीव, स्मृति, समाधिलक्षण अष्टांग हेतुक कहते हैं” तो वे स्वस्थ
कैसे हैं ?

भावार्थः—बौद्ध ने विनाश को अहेतुक माना है और मोक्ष को अष्टांग हेतुक कहा है । उसमें
बुद्ध के धर्म को सम्यक्त्व कहते हैं, स्त्री आदि का अभिघान संज्ञा है, स्त्री आदि ही संज्ञी हैं, वचनकाय
का व्यापार उसका कर्म है, वायु निरोध अंतर्व्यायाम है, जीव का अभाव रूप अजीव नैरात्म्य है,
पिटकत्रय का अर्थ चित्तन स्मृति है और ध्यान को समाधि कहते हैं । इन आठ हेतुओं से मोक्ष को
माना है एवं मोक्ष का लक्षण भी उसने चित्तसंतति के विनाश रूप ही कहा है पुनः नाश को अहेतुक
कहके मोक्ष को सहेतुक कहना गलत है परस्पर विरुद्ध दोष से दूषित है ।

1 इति चेत्तर्हि । दि० प्र० । 2 चैतन्यसन्तानसमूलतलप्रहाणलक्षणो निर्हेतुकः स्यात् । दि० प्र० । 3 सम्यक्त्वं
बुद्धधर्मः, संज्ञावस्तुनाम, वाक्कायव्यापारः, अम्रभव्यायामो वायुनिरोधः, जीवाभावः स्मृतिपिटकत्रयचिन्ता, ध्यानं,
समाधिरित्यष्टावङ्गानि निर्वाणस्य हेतवो न स्युः बौद्धानां मते । कुतो निर्हेतुकत्वात् । दि० प्र० । 4 क्षणस्य । व्या०
प्र० । 5 तदा । व्या० प्र० । 6 किञ्च । व्या० प्र० । 7 स्याद्वाद्याह हे सौम्य भवताङ्गीकृतयोः निर्हेतुकविनाश-
वध्नकत्वयोः अष्टाङ्गहेतुकत्वचित्तसंततिनाशलक्षणनिर्वाणयोश्च परस्परं विरोधोस्ति यथा सुगते सर्वज्ञत्वासर्वज्ञ-
त्वयोरभ्योन्यविरोधः । दि० प्र० ।

हिसकत्वयोरष्टाङ्गहेतुकत्वनिर्वाणवचनयोश्चान्योन्यं¹ विप्रतिषेधात् सुगतस्य² सर्वज्ञत्वे-
तरवत् ।

३ विरूपकार्यारम्भाय यदि हेतुसमागमः ।

आश्रयिभ्यामनन्योसावविशेषादयुक्तवत् ॥५३॥

विसदृशरूपं विरूपं कार्यम् । तदारम्भाय हिंसाहेतोर्बन्धकस्य मोक्षहेतोश्चाष्टाङ्गस्य⁴
सम्यक्त्वादेः समागमो व्यापारो यदि ताथागतैरिष्यते तदासौ हेतुसमागम एवाश्रयो, नाशो-
त्पादयोः कारणत्वात् । स चाश्रयिभ्यां कार्यरूपाभ्यां नाशोत्पादाभ्यामनन्य⁵ एव, न पुनर्भिन्नः,

अहेतुक विनाश और हिसकत्व की स्वीकृति एवं अष्टांग हेतुकत्व और निर्वाण वचन “इन
दोनों में परस्पर विरोध है” जैसे कि सुगत को सर्वज्ञ और असर्वज्ञ दोनों रूप कहना परस्पर में
विरुद्ध है ।

अर्थात् आप बौद्धों ने विनाश को अहेतुक कहा है फिर कोई किसी के मारने में हेतु न होने से
हिसक नहीं हो सकता है तथा आपने निर्वाण को भी अभाव रूप यानि चित्तसंतति के नाश रूप माना
है पुनः उसे अष्टांग हेतुक कह दिया है आपकी यह बात प्रत्यक्ष में परस्पर विरुद्ध ही है ।

उत्थानिकाः—बौद्ध हेतु को विसदृश कार्य का उत्पादक कहते हैं उसका खण्डन—

कार्यं विसदृश करने हेतू, हेतु समागम यदि कही ।

तब वह हेतु नाश और उत्पाद उभय में निमित्त अहो ॥

आश्रयभूत अतः हेतू इन दोनों से अभिन्न रहता ।

इक ही मुद्गर घट का नाश, कपाल उत्पाद उभय करता ॥५३॥

कारिकार्थः—यदि आप विसदृश कार्य को आरम्भ करने के लिये हेतु का समागम स्वीकार
करते हैं । तब तो यह हेतु का व्यापार अपने आश्रयी-नाश और उत्पाद से अभिन्न ही है क्योंकि उन
दोनों में परस्पर में कोई भेद नहीं है । जैसे अयुक्त-अपृथक् सिद्ध पदार्थों का कारण अपने आश्रयियों
से भिन्न नहीं होता है ॥५३॥

विसदृश रूप कार्य को विरूप कार्य कहते हैं क्योंकि बौद्ध के मत में अन्वय का अभाव होने से
सदृश कार्य नहीं माना है । अतः उस विसदृश कार्य को प्रारम्भ करने के लिये बन्धक-हिसक का
समागम में हेतु है, और सम्यक्त्वादि अष्टांग का समागम रूप व्यापार मोक्ष का हेतु है यदि इस

1 तयोः अन्योन्यं विप्रतिषेधादिभाष्यः । दि० प्र० । 2 निर्हेतुकविनाशरूपनिर्वाणः । व्या० प्र० । 3 यथा विरोधः,
पुनः सौगतानां दूषणमुद्भावयन्तः प्राहुः सूरयः । व्या० प्र० । 4 विसदृशरूपे निराश्रवचित्तोत्पादि । दि० प्र० ।
5 मोक्षहेतोश्चार्थादागम । इति पा० । दि० प्र० ।

तयोरविशेषादयुक्तवत् । यथैव हि शिंशपात्ववृक्षत्वयोश्चित्रज्ञाननीलादितिर्भासयोर्वा ¹तादात्म्यमापन्नयोरयुक्तयोः ²कारणसन्निपातो न भिन्नः संभवत्येककारणकलापादेवात्मलाभादन्यथा तादात्म्यविरोधात् । तथैव पूर्वाकारविनाशोत्तराकारोत्पादयोरपि, नीरूपस्य ³विनाशस्यानिष्टेरुत्तरोत्पादरूपत्वाभ्युपगमात्⁴ ⁵तयोर्भिन्नकारणत्वे ⁶तद्विरोधान्ततान्तरप्रवेशानु-

प्रकार से आप बौद्ध स्वीकार करते हैं। तब तो वह हेतु का समागम ही आश्रय है क्योंकि वे नाश और उत्पाद कारण हैं अर्थात् नाश और उत्पाद आश्रयी हैं, कार्यरूप है। वह हेतु समागमरूप आश्रय उन आश्रयी कार्यरूप नाशोत्पाद से अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है क्योंकि अयुक्त के समान उन दोनों आश्रयियों में अभेद है। अर्थात् नाश और उत्पाद में जो घटनाश का हेतु है वही कपाल उत्पाद का हेतु है इसीलिये एक ही हेतु का व्यापार दोनों जगह है और इस प्रकार से तो बौद्धों के यहाँ नाश भी सहेतुक हो जाता है परन्तु यह बौद्ध के लिये दूषण ही है।

जिस प्रकार से अपृथक् रूप एवं तादात्म्य भाव को प्राप्त हुये शिंशपात्व और वृक्षत्व में अथवा चित्रज्ञान और नीलादितिर्भास में कारण का सन्निपात भिन्न सम्भव नहीं है क्योंकि एक कारण कलाप से ही इनका आत्म लाभ है। अन्यथा यदि आप भिन्न कारण से जन्य मानें तब तो तादात्म्य का विरोध ही जायेगा। उसी प्रकार से पूर्वाकार के विनाश और उत्तराकार के उत्पाद को भी कारण सन्निपात हेतु समागम भिन्न सम्भव नहीं है। अर्थात् घट का विनाश ही कपाल का उत्पाद है। अतएव नाशोत्पाद दोनों का हेतु एक ही है।

(यदि बौद्ध कहे कि विनाश तो नीरूप निःस्वाभावरूप है अतः वह एक हेतुक कैसे होगा ? उस पर जैनाचार्य कहते हैं कि—)

नीरूप—सर्वथा अभावरूप विनाश इष्ट नहीं है क्योंकि वह उत्तराकार का उत्पाद रूप ही स्वीकार किया गया है।

यदि नाश और उत्पाद दोनों का भिन्न कारण मान लेंगे तब तो उत्पाद विनाश का विरोध होने से आप बौद्ध भिन्न कारणवादी नैयायिक के मत में प्रवेश कर जायेंगे।

सो यह बौद्ध विसदृश कार्य के उत्पन्न करने वाले हेतु से भिन्न हेतु का अभाव होने से पूर्वाकार के विनाश को अहेतुक कहता है और नाश के हेतु से भिन्न हेतु का अभाव होने से उत्तराकार के उत्पाद को अहेतुक नहीं मानता है तो यह व्याकुलता रहित कैसे है ?

भावार्थ—बौद्ध का कहना है कि किसी ने मुद्गर से घट फोड़ा तो जो कपाल उत्पन्न हो गये हैं वे विसदृश कार्य हैं मुद्गर इन कपालों को उत्पन्न करने में हेतु है और घट के फूटनेरूप विनाश में

1 नाशोत्पादावाश्रित्य । व्या० प्र० । 2 निर्भासयोरर्थात्तादात्म्य । इति पा० । दि० प्र० । 3 विनाशस्य नीरूपत्वादेकहेतुकत्वं कथमित्याशङ्कयामाह । दि० प्र० । 4 सौगतोपि । दि० प्र० । 5 नाशोत्पादयोः । व्या० प्र० । 6 सौगतः । व्या० प्र० ।

षड्भाच्च । सोय^१ विसदृशकार्योत्पादहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावात्^२ ^३पूर्वाकारविनाशस्याहेतुकत्व-
मुपयन्नाशहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावाद्दुत्तरोत्पादस्याहेतुकत्वं^४ नानुमन्यते इति कथमनाकुलः ? ।

[विनाशः स्वभावत एवेति मन्यमाने जैनाचार्या नाशोत्पादो एकहेतुको एव मन्यंते ।]

विसभागसंतानोत्पादनाय हेतुसन्निधिर्न प्रध्वंसाय, पूर्वस्य स्वरसतो^५ निवृत्तेरिति
चेत् स पुनरुत्तरोत्पादः स्वरसतः किन्न स्यात् ? ^६तद्धेतोरप्यकिञ्चित्करत्वसमर्थनाद्विनाश-

मुद्गर हेतु नहीं है अतः उससे भिन्न अन्य हेतु होना चाहिये वह दिखता नहीं है अतः कार्य के उत्पाद से भिन्न विनाश के हेतु का अभाव होने से विनाश अहेतुक है । इस पर जैनाचार्यों ने कहा कि घट के फूटने में प्रत्यक्ष से हमें मुद्गर हेतु दिख रहा है इस नाश के हेतु से भिन्न कपाल की उत्पत्ति में अन्य हेतु का अभाव है । पुनः उत्तराकार के उत्पाद को अहेतुक क्यों नहीं मान लेता है ? अर्थात् जब नाश और उत्पाद में एक ही मुद्गर हेतु है फिर भी वह उत्पाद को सहेतुक और विनाश को अहेतुक कह देता है वैसे विनाश को सहेतुक और उत्पाद को अहेतुक क्यों नहीं कहता है ? इसलिये हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि वह बौद्ध विक्षिप्त मन सहित ही है, किन्तु निराकुल नहीं है । अन्यथा या तो दोनों को सहेतुक मानता या दोनों को ही अहेतुक मान लेता तभी अच्छा था ।

[विनाश स्वभाव से ही होता है ऐसा मानने पर जैनाचार्य विनाश और उत्पाद दोनों को सहेतुक सिद्ध करते हैं ।]

बौद्ध—विसभाग-विसदृश संतान-कपालमालाक्षण कार्य के उत्पन्न करने के लिये हेतु का व्यापार है न कि प्रध्वंस के लिये है । क्योंकि पूर्वाकार की तो स्वभाव से ही निवृत्ति हो जाती है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो भैया ! उस विसदृश कार्य रूप उत्तराकार की उत्पत्ति भी स्वभाव से ही क्यों नहीं हो जायेगी ? उस उत्पाद के हेतु को भी हमने अकिञ्चित्कर ही समर्थित किया है । विनाश हेतु के समान ।

बौद्ध—स्वभाव से उत्पन्न होकर भी तदनन्तर भावी होने से उस (घट) से उत्पन्न हुआ है ऐसा कहा जाता है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो यह बात तो विनाश में भी समान ही है ।

कपाल लक्षण कार्यक्षण के समान ही घट लक्षण पूर्वक्षण का प्रध्वंस भी मुद्गरादि हेतु के अनन्तर भावी रूप से समान ही है तब तो उस मुद्गरादि हेतु से विनाश हो गया ऐसा व्यपदेश भी

१ मुद्गरादिः । व्या० प्र० । २ षट्कारः । दि० प्र० । ३ का । व्या० प्र० । ४ स्वरसनिवृत्तिः । इति पा० । दि० प्र० । ५ एत् कारिकाव्याख्यानावसाने । व्या० प्र० । ६ सौगत आह कार्यं स्वभावत उत्पन्नमपिहेत्वन्तरं भवति यतस्तेन कारणेन अस्य कार्यस्येदं कारणमिति व्यपदिश्यते संबद्धयते । इति चेत् स्वाद्वादो विनाशोपि समानः कस्मात् यथा कार्यपदार्थस्य हेत्वन्तरभावित्वं तथा पूर्वपदार्थविनाशस्यापि उभयत्र विशेषाभावात् । तेन कारणेनास्य विनाशस्येदं कारणमिति सम्बन्धो भवतु वा अर्थवानकार्यस्यापि माभूत् । दि० प्र० ।

हेतुवत् । ^१स्वरसोत्पन्नमपि^२ तदनन्तरभावित्वात्तेन व्यपदिश्यते इति चेदितरत्र समानम् । कार्यक्षणवत्पूर्वक्षणप्रध्वंसस्यापि हेत्वनन्तरभावित्वाविशेषात्तेन व्यपदेशोस्तु, न वा, कार्य-स्यापीत्यविशेषः । परमार्थतस्तदहेतुकत्वे^३ प्रतिप्रत्त्रभिप्रायाविशेषेपि स्वतःप्रहाणवादी न शक्नोत्यात्मानं न्यायमार्गमनुकारयितुं, तथा वदतस्तस्य न्यायातिक्रमात् । न^४ च निरन्वय-विनाशवादिनः सभागविसभागविवेकः^५ श्रेयान्, सर्वदा विरूपकार्यत्वात्, कारणस्य कथंचिद-न्वयापाये सभागप्रत्ययायोगात् । ^६सभागविसभागावत्कृष्टि प्रतिप्रत्त्रभिप्रायवशात्समनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं ततः किं नानुजानीयात् ? न च समनन्तरक्षणयोर्नाशोत्पादौ पृथग्भूतौ मिथः

हो जाना चाहिये । यदि कहो कि नहीं होता है तब तो कार्य को सहेतुकपना नहीं हो सकेगा । क्योंकि दोनों में कोई भेद नहीं है ।

[परमार्थ से हम नाश, उत्पाद दोनों को अहेतुक ही मानते हैं किन्तु समझने वाले के अभिप्राय के निमित्त से उत्पाद सहेतुक है ऐसा हम कह देते हैं इस प्रकार से बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि—]

परमार्थ से दोनों को अहेतुक स्वीकार करने पर प्रतिपत्ता का अभिप्राय नाशोत्पाद रूप दोनों जगह समान होने पर भी स्वतः प्रहाणवादी विनाश को स्वतः मानने वाले आप बौद्ध स्वयं अपने को न्याय मार्ग का अनुकरण कराने में समर्थ नहीं हैं । क्योंकि उस प्रकार कहते हुए आपने न्याय का उलंघन ही कर दिया है । कारण निरन्वयविनाशवादी आप बौद्धों के सदृश और विसदृश कार्य का भेद करना श्रेयकर ही नहीं है अर्थात् यह कार्य इसके सदृश है, यह इससे विसदृश है । ऐसा निरन्वय विनाशवादी आपके यहाँ कैसे किया जा सकेगा ? भला आप ही कहिये ! आपने कार्य को सर्वदा विसदृश ही माना है, और कारण को कथंचित् द्रव्यरूप से भी अन्वय रहित मानने पर सदृश कारण का अभाव ही हो जाता है ।

एवं सभाग विसभाग के सजातीय-विजातीय लक्षण कार्यक्षणों की कल्पना को प्रतिपत्ता के अभि-प्राय के निमित्त से स्वीकार करते हुये आप बौद्ध उसी प्रतिपत्ता के अभिप्राय से विनाश को भी सहेतुक क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हैं । क्योंकि पूर्वोत्तरक्षण रूप सामांतरक्षण में नाशोत्पादक प्रथक्भूत नहीं है । अथवा परस्पर में युगपत् अपने आश्रय से भी भिन्न नहीं है । जिससे कि एक समय में ही उन

1 कपालादि । व्या० प्र० । 2 स्याद्वाद्याह परमार्थात्तस्योत्पादकस्याहेतुकत्वे सति प्रतिपक्षवक्तृभ्रोतृजनाभिप्रायेण विशेषाभावेपिस्वभावतोविनाशकथनात् सौगतो न्यायमार्गमनुवर्तयितुमात्मानं न समर्थो भवति कस्माच्चदपि प्रतिपत्तृभिप्रायादुत्पादविनाशो सहेतुको अथवा निर्हेतुको वा तथापि विनाशः स्वभावतः उत्पादस्य हेतुक इति वदतः सौगतस्य न्यायोऽलंघनं भवति यतः । दि० प्र० । 3 किञ्च समूलविनाशवादिनः सौगतस्य सदृशविसदृशभेदः श्रेयान्न भवति कुतः सदारूपरहितकार्यत्वात् । पुनः हेतोः कथंचिदन्वयाभावे सदृशज्ञानं न घटते यतः । दि० प्र० । 4 भेदः । व्या० प्र० । 5 सदृशविसदृशरचनां तत्राभिप्रायादंगीकुर्वन् सौगतः विनाशमपि सकारणं ततः प्रतिप्रत्त्र-भिप्रायवशात्कथं नानुमन्येत । दि० प्र० । 6 का । दि० प्र० ।

स्वाश्रयतो वा¹ यौ समं² सहेतुकेतरौ³ स्तां, प्रतिपत्त्यभिधानभेदेपि ग्राह्यग्राहकाकारवत्, स्वभावप्रतिबन्धात् । न हि तयोर्मिथः कार्यकारणभावः प्रतिबन्धः, समसमयत्वात् "नाशोत्पादौ समं⁴ यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः" इति वचनात् ।⁵ नापि स्वाश्रयेण सह⁶ कार्यकारणभावः, समनन्तरस्वलक्षणक्षणभ्यां⁷ नाशोत्पादयोरर्थान्तरत्वप्रसङ्गात् । तयोस्तद्धर्मत्वाद्विशेषणविशेष्य-भावसंबन्ध इति चेन्न, वैशेषिकमतसिद्धेः⁸ । कल्पनारोपितत्वात्तयोर्न⁹ तत्सिद्धिरिति चेत्तर्हि¹⁰ पूर्वक्षणविनाशोन्तर¹¹ क्षणस्वभावस्तदुत्पादश्चेति¹² सिद्धः स्वभावप्रतिबन्धः । न चैवं¹³ प्रति-

दोनों में एक सहेतुक और दूसरा निहेतुक हो सके अर्थात् दोनों का हेतु एक ही है । क्योंकि वह ग्राह्य है, यह ग्राहक है इस प्रकार से ग्राह्य-ग्राहकाकार के समान प्रतिपत्ति और अभिधान से भेद होने पर भी दोनों में स्वभाव प्रतिबन्ध है । अर्थात् तादात्म्य संबंध है ।

उन नाश और उत्पाद में परस्पर कार्यकारण भाव सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वे दोनों सम-समयवर्ती हैं । कहा भी है कि — जिस प्रकार से तराजू के एक पलड़े का झुकना और दूसरे का ऊँचा होना, दोनों एक समय में ही होते हैं क्योंकि एक पलड़े का झुकना ही दूसरे का ऊँचा होना है, तथैव नाश और उत्पाद भी एक समय में ही होते हैं, एक पर्याय का नाश ही दूसरी पर्याय का उत्पाद है । एवं इनका अपने आश्रय के साथ भी कार्यकारण भाव नहीं है । अर्थात् अपने नाश का आश्रय घट है और उत्पाद का आश्रय कपालादि है, इनके साथ भी कार्यकारण भाव नहीं है । अन्यथा समन्तर स्वलक्षण क्षण-क्रम रूप घट और कपाल से नाश और उत्पाद में भिन्नपने का प्रसंग आ जायेगा ।

बौद्ध—वे नाश और उत्पाद घट और कपाल के धर्म हैं अतएव उनमें विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध है । अर्थात् घट का विनाश और कपाल का उत्पाद इस तरह ये नाश और उत्पाद विशेषण हैं तथा घट और कपाल विशेष्य हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना अन्यथा वैशेषिक मत की सिद्धी हो जायेगी ।

सौगत—कल्पना से आरोपित होने से उन दोनों नाश और उत्पाद में वैशेषिक मत की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि वैशेषिक ने तो नाशोत्पाद को अपने आश्रय से भिन्न माना है हमने वैसा नहीं माना है ।

जैन—तब तो पूर्व क्षण का विनाश ही अनन्तर क्षण स्वभाव है और वही उत्पाद है, यानि जो ही पूर्व क्षण का विनाश वो ही उत्तर क्षण कपाल स्वभाव उत्पाद है । इसलिये इन दोनों में स्वभाव

1 युगपत् । दि० प्र० । 2 एकः सहेतुकः अन्यः अहेतुक इति भवति । दि० प्र० । 3 यथा । व्या० प्र० । 4 नाशोत्पादयोः । दि० प्र० । 5 सम्बन्धः । व्या० प्र० । 6 कारणरूपाभ्याम् । व्या० प्र० । 7 सौगतानाम् । व्या० प्र० । 8 विशेषणविशेष्यभावेन । दि० प्र० । 9 घटलक्षण । दि० प्र० । 10 एव । व्या० प्र० । 11 कपाल-लक्षण । व्या० प्र० । 12 एवं नाशोत्पादयोः ज्ञानशब्दभेदो न विरुद्धयते । विरुद्धयते चेत्तदा संविदि ग्राह्यग्राह्यका-कारयोरपि अस्य प्रतिपत्त्यभिधानभेदस्य भेदः प्रसज्यति यतः । यत्र एवं ततस्तद्वत्तयोर्ग्राह्यग्राहकाकारयोर्यथा तथानाशोत्पादयोरभेदएव । 13 अन्यथा । दि० प्र० ।

प्रत्यभिधानभेदो विरुध्यते¹ संविदि ग्राह्यग्राहकाकारयोरपि तद्विरोधप्रसङ्गात् । ततस्तद्वत्तयोर-
भेद² एव । संज्ञाच्छन्दमतिस्मृत्यादिवत्³ सत्यपि⁴ भेदे समकालभाविनोः कथं सहकारी⁵
पुनरन्यतरस्यैव हेतुरहेतुर्वा स्यात्, कार्यरूपादेरिव कारणम् । संज्ञा हि प्रत्यभिज्ञा, छन्द
इच्छा । तेनादिशब्दस्योभयत्र संबन्धान्निदर्शनद्वयं वादिद्वयापेक्षयोच्यते । संज्ञाच्छन्दादिवन्मति-
स्मृत्यादिवच्च क्रमभाविनोर्नाशोत्पादयोः सत्यपि भेदे समकालभाविनोस्तयोर्घटकपालाश्रय-
योरिव सहकारी मुद्गरादिः कथं कपालोत्पादस्यैव हेतुर्न पुनर्घटविनाशस्य, तस्यैव वासौ

प्रतिबन्ध-तदात्म्य सम्बन्ध सिद्ध है । इस प्रकार से ज्ञान और शब्द का भेद विरुद्ध नहीं है, अन्यथा एक ज्ञान में ग्राह्य ग्राहकाकार के भी विरोध का प्रसंग आ जावेगा । इसलिये उस ग्राह्य ग्राहकाकार के समान इन नाश-उत्पाद में अभेद ही है । अर्थात् एक ज्ञान मात्र तत्व को मानने वालों को यहाँ भी यह ग्रहण करने योग्य ज्ञेय है । और यह ग्रहण करने वाला ज्ञान है इस प्रकार का ज्ञान पाया जाता है तथा शब्द से भी ज्ञेय-ज्ञायक या ग्राह्य-ग्राहक रूप भेद पाये जाते हैं, वैसे भी नाश और उत्पाद इन दोनों का ज्ञान भिन्न है तथा शब्द भी भिन्न है, फिर भी इनमें भेद नहीं है, यदि मानोगे तब तो एक ज्ञान में भी भेद मानना पड़ेगा ।

संज्ञा, छंद आदि एवं मति-स्मृति आदि की तरह भेद के होने पर भी समकाल भावी उन नाश और उत्पाद में किसी एक कपालोत्पाद का वह सहकारी मुद्गर हेतु हो और घट नाश का अहेतु हो यह बात कैसे बन सकती है । जैसे कि कार्य स्वभाव आदि का कारण ।

प्रत्यभिज्ञान को संज्ञा कहते हैं । एवं इच्छा को छंद कहते हैं । इसलिये 'आदि' शब्द का दोनों जगह सम्बन्ध करने से संज्ञा-छन्दादि एवं मति-स्मृति आदि रूप से ये दो उदाहरण बौद्ध तथा जैन इन दो वादियों की अपेक्षा से कहे गये हैं । संज्ञा छन्दादि के समान और मति-स्मृति के समान क्रम भावी नाशोत्पाद में भेद के होने पर भी समकालभावी उन घट कपालाश्रय के समान नाशोत्पाद में वे सहकारी मुद्गरादि कपाल के उत्पाद में ही हेतु हों, किन्तु घट विनाश में हेतु न हों, अथवा उस घट विनाश के ही हेतु हों, किन्तु कपालोत्पाद के न हों, ऐसा कैसे हो सकता है ! जैसे कि एक सामग्री के आधीन कार्यरूप रसादि स्तवक के कारण रूपरसादि स्तवक होते हैं । अर्थात् एक बिजोरे में रूपरस आदि कार्यरूप हैं उनके कारण रूप रस आदि हैं वे कारण एकरूप के लिये कारण हों रस के लिये न हों ऐसा नहीं हो सकता है ।

1 स्वाश्रयाभ्याम् । दि० प्र० । 2 यथा सौमताभ्युपगतयोः संज्ञाच्छन्दसोः क्रमभावित्वाद्भेदः । तथानाशोत्पादयोः भेदे सत्यपि समकालभावित्वात्तयोः सहकारीमुद्गरादिउत्पादस्य हेतुः विनाशस्याहेतुश्च कथं स्यात् न कथमपि । यथा कारणरूपादिकं कार्यरूपादेर्हेतुः रसादेरहेतु इति कथं स्थान्न कथमपि । दि० प्र० । 3 संज्ञाच्छन्दाद्योर्मतिस्मृत्याद्योः क्रमभाविनोः यथाभेदो विद्यते तथा क्रमभाविनोर्नाशोत्पादयोर्भेदे सत्यपि । दि० प्र० । 4 मुद्गरादिः । मुद्गरात् कपालोत्पत्तिः । ननु विनाशस्तस्याहेतुक्त्वादाशंका । व्या० प्र० । 5 जैनमतापेक्षया । व्या० प्र० ।

हेतुर्न तु कपालोत्पादस्य स्यात् ? ¹कार्यरूपादिस्तबकस्यैकसामग्र्यधीनस्य ²कारणरूपादिस्तबकवत् । यतश्चैवं ³तस्मात्कार्यकारणयोरूत्पादविनाशौ न सहेतुकाहेतुकौ सहभावाद्रसादिवत् । न हि कारणरसादिकलापः कार्यस्य रसस्यैव हेतुर्न पुना रूपादेरिति प्रतीतिरस्ति, यतः साध्यशून्यो दृष्टान्तः स्यात् । नाप्यसहभावो रसादीनां, येन साधनविकलः । ⁴पुरुषधिषणाभ्यामनेकान्त⁵ इति चेन्न, सौगतानां पुरुषासिद्धेः । स्याद्वादिनां तु तस्यापि सकेतुकत्वात् पर्यायार्थतो धिषणावत्, द्रव्यार्थतोऽहेतुकत्वाच्च धिषणायाः पुरुषवन्न ताभ्यां हेतोर्व्यभिचारिता,

भावाथ—“यह वही स्त्री है” यह प्रत्यभिज्ञान इच्छा के उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिये संज्ञा—प्रत्यभिज्ञान और छंद-इच्छा ये दोनों क्रम से उत्पन्न होते हैं । एवं “वत्” प्रत्यय से यह अर्थ समझना कि संज्ञा छंदादि तथा मति स्मृत्यादि ये क्रमभावी हैं और नाशोत्पाद रूप हैं इनमें भेद के न होने पर भी जैसे ये एक सहकारी कारण पूर्वक हैं । उसी प्रकार से घट के नाश और कपालमाला के उत्पाद रूप समकालवर्ती नाशोत्पाद में भी एक ही सहकारी कारण मुद्गरादि है । जिस प्रकार से कार्य रूप, रूपरसादि में कारण रूपरसादि एक के हेतु हों और दूसरे के न हों ऐसा नहीं है इसी प्रकार से प्रकृत, नाश, उत्पाद में भी नहीं है ।

इसलिये कार्य-कारण के उत्पाद और विनाश सहेतुक नहीं हैं क्योंकि वे रसादि के समान सहभावी हैं । अर्थात् कपालमालादि का उत्पाद मुद्गरादि जन्य सहेतुक हैं । और कारण रूप घट का विनाश अहेतुक हो मुद्गरादि जन्य न हों ऐसा नहीं है । बौद्ध मत में पूर्व रसक्षण कारण हैं और उत्तर क्षण कार्य है इस प्रकार से कारण रसादि कपाल कार्यरस का हा हेतु हो, किन्तु रूपादि का हेतु न हो ऐसा अनुभव नहीं होता है । कि जिससे हमारा दृष्टान्त साध्यशून्य हो सके तथैव रसादिकों में सहभाव न हो ऐसा भी नहीं है कि जिससे हमारा दृष्टान्त साधन विकल हो सके अर्थात् हमारा ‘रसादिवत्’ यह दृष्टान्त साध्य साधन विकल नहीं है ।

बौद्ध—पुरुष और बुद्धि के साथ अनेकांत दोष आ जायेगा ।

जैन—नहीं । क्योंकि आप बौद्धों के यहाँ तो पुरुष की सिद्धि ही नहीं हो सकती है और

1 कदम्बस्य । व्या० प्र० । 2 यथा एकस्मिन्मातुलिङ्गादी फले रूपकारणमेककारणाय तस्य कार्यरूपस्योत्पादकं भवति रसस्य च । रसकारणमेककारणाय तस्य कार्यरसस्योत्पादकं भवति रूपस्य च । तथा मुद्गरादिः सहकारी घट-विनाशस्य हेतुः कपालोत्पादस्य च । दि० प्र० । 3 ततः कार्योत्पादः कारणस्य विनाशस्ती उत्पादविनाशौ पक्षः सहेतुकौ अहेतुकौ च भवत इति साध्यो धर्मः सहभावाद्ययोः सहभावस्तौ सहेतुकासहेतुकौ यथा रसादिकं सहभावी चेमौ तस्मात्सहेतुकाहेतुकौ भवतः । दि० प्र० । 4 अत्राह सौगतः । हे आहंत सहभावादिभिर्हेतोः पुरुषबुद्धिभ्यां कृत्वा व्यभिचारोस्ति कोर्थः । पुरुषधिषणे द्वे अपि युगपद्भवतः । तथापि सहेतुके निर्हेतुके वा न भवतः । पुरुषो निर्हेतुकः धी सहेतुका इति चेन्न । कुतः ताथागतानामात्मनः सिद्धिर्नास्ति यतः । स्याद्वादिनां पुनः पर्याय-नयात्पुरुषस्य सहेतुकत्वं यथा धिषणायाः । पुन द्रव्यनयाद्धिषणाया अहेतुकत्वं यथा पुरुषस्य यत एवं ततः पुरुषधिषणाभ्यां हेतोर्व्यभिचारिता नास्ति । दि० प्र० । 5 आत्मनो निर्हेतुकत्वाद्बुद्धेश्चेन्द्रियाद्यपेक्षया सहेतुकत्वात् । दि० प्र० ।

कारणानन्तरं^१ सहभावात् । इति प्रकरणसामर्थ्यात्सविशेषणस्य^२ सहभावस्य हेतुत्वाद्वा न व्यभिचारः स्यात् । न चैवमसिद्धं साधनं, मुद्गरादिव्यापारानन्तरं^३ कार्योत्पादवत्^४ कारण-विनाशस्यापि प्रतीतेः, विनष्टो घट उत्पन्नानि कपालानीति व्यवहारद्वयसद्भावात् । ततः^५ कार्योत्पादवत्कारणविनाशः सहेतुक एवाभ्युपेयः । ननु^६ हेतोर्न तस्यैकचिद्भवति, न भवत्येव केवलमिति चेत्तर्हि कारणात्कार्यस्य न किञ्चिद्भवति, भवत्येव केवलमिति समानं^७ विनाश-वदुत्पादस्यापि निर्हेतुकत्वापत्तेः । तस्मादयं^८ विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति न पुनर-किञ्चित्करः ।^९ कार्योत्पत्तिहेतुर्वा यद्यभावं^{१०} न भावीकुर्याद भावं करोतीति^{११} कृतस्य करणा-

स्याद्वादियों के यहाँ तो बुद्धि के समान पर्यायाधिक नय से पुरुष को भी सहेतुक माना है । एवं द्रव्याधिकनय से पुरुष के समान बुद्धि को भी अहेतुक ही माना है इसलिये हमारे यहाँ पुरुष और बुद्धि से इस 'सहभावात्' हेतु में व्यभिचार नहीं आता है । क्योंकि कारण के अनन्तर ही सहभाव होता है । अथवा इस प्रकरण की सामर्थ्य से 'कारणानन्तरं सहभावात्' इस प्रकार से विशेषण सहित सहभाव को हेतु बनाने से 'आत्मा नित्य होने से अकारण है' इस तरह का व्यभिचार नहीं आता है ।

इस प्रकार से 'कारणानन्तरं सहभावात्', यह हेतु असिद्ध भी नहीं है । मुद्गरादि के व्यापार के अनन्तर जिस प्रकार से कार्यरूप कपालमाला का उत्पाद देखा जाता है तथैव मुद्गरादि व्यापार के अनन्तर ही कारण रूप घट का विनाश भी प्रतीति में आ रहा है । क्योंकि घट फूट गया, कपाल उत्पन्न हो गये, इन दो प्रकार के व्यवहार का सद्भाव देखा जाता है । इसलिये आप बौद्धों को कार्योत्पाद के समान कारण का विनाश भी सहेतुक ही स्वीकार करना चाहिये ।

बौद्ध—मुद्गर रूप हेतु से उस घट रूप कारण-क्षण का विनाश कुछ भी नहीं होता है केवल स्वयं ही वह नहीं होता है अर्थात् स्वयं ही वह घट नष्ट हो जाता है ।

१ मुद्गरादिव्यापारानन्तरं विनाशोत्पादयोः सहभावात् समकालभावित्वात् इति प्रकरणसामर्थ्यात् । अनन्तरोक्तानुमान-प्रसंगबलात्कारणानन्तरमिति विशेषणसहितस्य सहं भावस्य विशेष्यस्य हेतुत्वाद्वा अनेकान्तो न भवेत् । दि० प्र० । २ कार्यविचारप्रस्तावसामर्थ्यात् । व्या० प्र० । ३ एवं सति सहभावादिति साधनं विरुद्धं न । कस्मान्मुद्गरादि-व्यापारानन्तरं यथा कार्योत्पादः प्रतीयते तथा कारणविनाशश्च प्रतीयते यतः पुनः कस्मात् घटो नष्टः । कपालानि जातानि । इति व्यवहारद्वयं संभवात् । दि० प्र० । ४ घटः । व्या० प्र० । ५ यत एवं ततः यथा कार्योत्पादः सहेतुकः तथावरणविनाशोऽपि सहेतुकः सौगतैरभ्युपगन्तव्यः । दि० प्र० । ६ आह बौद्धः तस्य विनाशस्य हेतोर्मुद्गरादि-व्यापारात् सकाशात् किञ्चित्करणं न भवति । तर्हि किं भवति केवलं निःफलं भवतीति चेत् तर्हि कारणादपि सकाशात्कार्यस्यापि न किञ्चित्करणं भवति निःफलं भवत्येवेति समानम् । दि० प्र० । ७ कस्मात्समानं यथा विनाशस्य तथोत्पादस्यापि निर्हेतुकत्वमापद्यते यतः । दि० प्र० । ८ यस्मादेवं तस्मान्मुद्गरादिव्यापारो घटीकरोति सकिञ्चित्करः स्यात् । दि० प्र० । ९ पूर्वघटक्षणस्य । व्या० प्र० । १० पर्यायरूपेण विद्यमानम् । व्या० प्र० । ११ अनेन प्रकारेण ।

योगादिकिञ्चित्करः स्यात्, सर्वथा भावं^१ भावीकुर्वतो व्यापारवैफल्यात्^२ । तदतत्करणादिविकल्पसंहतिरुभयत्र सदृशी ।

[विनाशोत्पादौ घटाद् भिन्नो अभिन्नो वेति विचार्यते]

यथैव हि विनाशहेतोः कुटस्य तदभिन्नविनाशकरणे^३ ४तत्करणादिकिञ्चित्करत्वं, तद्भिन्नविनाशकरणे च तदुपलम्भप्रसक्तिः । ५तथोत्पादहेतोर्भावादभिन्नोत्पादकरणोप्यकि-

जन—यदि ऐसी बात है तब तो मुद्गरादि कारण से कपाल उत्पाद रूप व्यर्थ भी किञ्चित् नहीं होता है किन्तु 'भवत्येव केवलं' स्वयं ही वह कपाल उत्पन्न हो जाता है । ऐसा कथन भी आप क्यों नहीं मान लेते हैं, क्योंकि तब ऐसा मान लेना भी उसी के समान ही है । पुनः विनाश के समान उत्पाद को भी निर्हेतुक मानने का प्रसंग आ जायेगा । इसलिये यह विनाश हेतु भाव को अभाव रूप करता है । इसलिये अकिञ्चित्कर नहीं है । यदि वा कार्योत्पत्ति हेतु अभाव को भाव रूप न करें तब तो भाव को ही करता है और इस प्रकार से किये हुये को करने का अभाव होने से वह हेतु अकिञ्चित्कर हो जायेगा ।

क्योंकि सर्वथा भाव को भावरूप करने में व्यापार को मानना व्यर्थ है । अर्थात् यदि कार्योत्पत्ति हेतु पर्याय रूप से अभाव (अविद्यमान) को भावरूप न करें तब तो भाव (विद्यमान) को ही करता है । इस प्रकार से तो न किये हुये को करने का अभाव होने से वह हेतु अकिञ्चित्कर ही हो जायेगा । क्योंकि द्रव्य रूप के समान यदि पर्याय रूप से भी वह सदभाव रूप है तब तो विद्यमान का उत्पाद करने में उस हेतु का व्यापार निष्फल ही रहा । उभयत्र-नाश और उत्पाद में भिन्न या अभिन्न रूप से किये जाने आदि रूपविकल्प समुदाय सदृश ही हैं । अर्थात् इसलिये हे बौद्ध । जिस प्रकार से तुम्हारे विनाश पक्ष में विनाश घट से भिन्न किया जाता है या अभिन्न ? आदि तथैव उत्पाद पक्ष में भी उत्पाद घटादि से भिन्न किया जाता है या अभिन्न ? इत्यादि रूप से नाश और उत्पाद दोनों में ही ये तद् अतद् रूप से करने आदि के विकल्प समूह समान ही है ।

[विनाश और उत्पाद घट से भिन्न हैं या अभिन्न ? इस पर विचार किया जाता है ।]

जिस प्रकार से विनाश हेतु घट के विनाश को अपने से अभिन्न करता है, तब तो उसी को

१ विद्यमानम् । व्या० प्र० । २ उत्पादकारणवैफल्यं किमिति प्रतिपाद्यते यावता पूर्वं विद्यमानस्य कपाललक्षणस्य भावस्य मुद्गरादिकारणेन निःपाद्यत्वं विद्यत एवेत्याशङ्क्याह । व्या० प्र० । ३ घटस्य विनाशो घटादभिन्नोभिन्नो वा इति विकल्पः । अभिन्नश्चेत् । तदा घटात् । अभिन्नविनाशकरणे घटस्य विनाशकारणस्य अकिञ्चित्करत्वमायात् । कस्माद्विनाशाभिन्नरूपकरणात्-भिन्नश्चेत् घटाद्भिन्नरूपविनाशकरणे विनाश एव कृतः तस्य घटस्योपलब्धिः प्रसजति । दि० प्र० । ४ तत्करणादिति पठन्तरम् । ५ तथोत्पादो घटादेर्भावात् अभिन्नो भिन्नो वेति विकल्पः भावादुत्पादः अभिन्नश्चेत्तदा घटादेर्भिन्नोत्पादकरणे उत्पादहेतोरकिञ्चित्करं वा स्यात् । कुतः विद्यमानस्याकरणाघटनात् सर्वथाप्यसतो भावादुत्पादोऽभिन्नश्चेत्तदाभावादभिन्नस्योत्पादस्यकरणे किं तत्कृतं स्यात् यथा सर्वथाप्यसतः खपुरुषस्य तस्मादभिन्नस्य सौरभ्यकरणं न घटते । दि० प्र० ।

चित्करता¹, सतः² करणायोगात् । सर्वथाप्यसतो भावादभिन्नस्योत्पादस्य करणेपि न किञ्चित्³ कृतं स्यात् खपुष्पसौरभवत् । सतोऽसतो वार्थान्तरस्य⁴ जन्मनः करणे⁵ तु न 'सदसद्वा कृतं स्यात् । एतेन 'प्रागसतोनर्थान्तरस्या⁶र्थान्तरस्य⁷ चोत्पादस्य हेतुना करणे तस्याकिञ्चित्करत्वमुपदर्शितं प्रतिपत्तव्यं, प्रागसतोनन्यस्य सत्त्वायोगात्, ततोन्यस्य सत एव करणे वैफल्यात्¹⁰ । ततो यदि न विनाशार्थो¹¹ हेतुसमागमस्तदोत्पादार्थोपि मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात् ।

कि¹² च¹³ क्षणिककान्तवादिनां परमाणवः क्षणा उत्पद्यन्ते¹⁴ स्कन्धसन्ततयो वा ? प्रथम-

करने से वह हेतु अकिञ्चित्कर-निष्फल ही रहा और यदि घट के विनाश को घट से भिन्न करता है तब तो उस घड़े की उपलब्धि ही बनी रहेगी ।

उसी प्रकार से यदि उत्पाद हेतु पदार्थ से अभिन्न उत्पाद को करता है तब तो वह हेतु अकिञ्चित्कर ही है । क्योंकि सत्-विद्यमान को करने का अभाव है और यदि सर्वथा भी असत्-अविधान रूप घट लक्षण पदार्थ से अभिन्न उत्पाद करता है तो भी उसने आकाश कमल की सुगन्धि के समान कुछ भी नहीं किया है ऐसा समझना चाहिये । अथवा सत् असत् रूप अर्थान्तर का उत्पाद करने में सत् अथवा असत् नहीं किया जा सकेगा । इस प्रकार से नाश और उत्पाद को अपने आश्रय से भिन्न या अभिन्न रूप करना मानने में दूषणों को प्रतिपादित कर दिया है ।

इसी कथन से प्राग् असत् रूप कपाल से अभिन्न अथवा भिन्न उत्पाद को मुद्गरादि हेतु के द्वारा करने पर उसको अकिञ्चित्कर ही समझना चाहिये यहाँ ऐसा दिखाया गया है । क्योंकि प्रागसत्-रूप कार्य से अभिन्न उत्पाद का सत्त्व ही नहीं है । और उस कार्य से भिन्न रूप उत्पाद को करना मानने पर तो सत् को ही करने में वह उत्पाद हेतु विफल हो जाता है । इसलिये यदि हेतु समागम विनाश के लिये नहीं है, तब तो वह हेतु समागम उत्पाद के लिये भी मत होवे क्योंकि दोनों में सर्वथा का अभाव है ।

1 मुद्गरस्य । व्या० प्र० । 2 उत्पादकारणात् पूर्व सतः । व्या० प्र० । 3 मुद्गरादिना । व्या० प्र० । 4 भिन्नस्य । व्या० प्र० । 5 कारणेन । व्या० प्र० । 6 भिन्नत्वासंबन्धाभावात् । व्या० प्र० । 7 उत्पत्तेः । व्या० प्र० । 8 प्रागसतोनर्थान्तरस्य चोत्पादस्य । इति पा० । दि० प्र० । 9 कार्यात् । दि० प्र० । 10 असतः करणायोगात् । दि० प्र० । 11 मुद्गरादि । व्या० प्र० । 12 परमाणवः क्षणादुत्पद्यन्ते इति प्रथमपक्षे यथास्थापनायस्थापकपुरुषत्वं विनाशय-विनाशकत्वं तथा कारणकार्यत्वं त्रिरुद्धयत उत्पत्तिः सहेतुका निर्हेतुका वा कुतः न कुतोपि यथा सौगतानां स्थिति-विनाशो सहेतुको निर्हेतुको च न भवतः = द्वितीयपक्षे स्कन्धसन्ततयः पक्षः असंस्कृता अनुत्पन्ना भवन्तीति साध्यो धर्मः संवृत्तिवात् कल्पनारूपत्वात् यत्पुनरसंस्कृतं न । तत्परमार्थं सत् । यथास्वलक्षणं तेषां स्कन्धानां स्थित्युत्पत्तिव्यया न भवेयुः यथा खरविषाणस्य । दि० प्र० । 13 दूषणान्तरेणापि पृच्छति जैनो बोद्धम् । दि० प्र० । 14 क्षणादुत्पद्यन्ते । इति पा० । दि० प्र० । कारणात् । दि० प्र० ।

पक्षे ¹स्थाप्यस्थापकविनाश्यविनाशकभाववद्धेतु²फलभावविरोधात्कुतः³ सहेतुकोत्पत्तिरहेतुका वा ? स्थितिविनाशवत् द्वितीयपक्षे तु,—

⁴स्कन्धसन्ततयश्चैव⁵ ⁶संवृत्तित्वादसंस्कृताः⁷ ।

⁸स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खरविषाणवत् ॥५४॥

उत्थानिका — पूर्व कारिका में सौगत ने कहा था कि विसदृश कार्य को करने के लिये हेतु का समागम होता है अतः अब यहाँ यह प्रश्न हो जाता है कि आप क्षणिकैकांतवादियों के यहाँ परमाणु क्षण उत्पन्न होते हैं या स्कन्ध समितियाँ ?

बौद्धों की स्कन्ध संततियाँ कही गई हैं असंस्कृतरूप ।

क्योंकि वे संवृत्तिरूप हैं नहिं परमार्थभूत सत् रूप ॥

रूप, वेदना, विज्ञान अरू संज्ञा संस्कार पांच स्कन्ध ।

व्यय, उत्पाद, ध्रौव्य उनमें नहिं घट सकता जैसे खरशृंग ॥५४॥

प्रथम पक्ष में तो स्थाप्य-स्थापक, विनाश्य-विनाशक भाव के समान हेतु फल भाव का विरोध हो जाने से उत्पत्ति सहेतुक है या अहेतुक यह कैसे बन सकेगा ? जैसे कि स्थिति और विनाश में नहीं बन सकता है । अर्थात्—पूर्व क्षण स्थापक है और उत्तरक्षण स्थाप्य है । उत्तरक्षण विनाशक है और पूर्व क्षण विनाश्य है । एवं जिस प्रकार से परमाणुओं में स्थाप्य, स्थापकादि भाव विरुद्ध हैं उसी प्रकार से कारण कार्य भाव भी विरुद्ध हैं और कार्य-कारण भाव के अभाव में यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य धर्म भी विरुद्ध हो जाते हैं क्योंकि आप बौद्धों ने परमाणुओं को निरंश रूप माना है ।

“न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात्” इस कारिका में कार्य-कारण भाव का तो हमने पहले ही खण्डन कर दिया है । जैसे कि स्थाप्य-स्थापक के अभाव में स्थिति का अभाव है और विनाश्य-विनाशक भाव के अभाव में विनाश का भी अभाव है उसी प्रकार से परमाणुओं में कार्य-कारण भाव का अभाव होने से उत्पत्ति सहेतुक है या अहेतुक ? यह कुछ कहा नहीं जा सकता है । और यदि द्वितीय पक्ष लेते हैं कि स्कन्ध संततियाँ ही बौद्धों के मानी हैं तब तो आचार्य उसी का खण्डन करते हुये आगे की कारिका कहते हैं ।

1 उत्तरक्षणो विनाशकः पूर्वक्षणो विनाश्यः यद्भावे कार्यस्य नियता विपत्तिः प्रध्वंस इति वचनात् । दि० प्र० ।

2 कार्यकारणभावः एतेस्थित्युत्पत्तिव्ययधर्मा विरुद्धन्ते निरंशत्वात् परमाणूनां न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयादिति कार्यकारणभावस्य प्रागेव निरस्तत्वाद्वा विरोधोवगन्तव्यः । दि० प्र० । 3 परमाणोः सकाशात्परमाणोस्तत्पत्यदर्शनात् । व्या० प्र० । 4 रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्परा संबन्धा रूपस्कन्धाः

(1. सुखदुःखादयोर्वेदनास्कन्धाः 2. सविकल्पकनिर्विकल्पक ज्ञानानि विज्ञानस्कन्धाः 3. वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धा

4. ज्ञानपुण्य पापवासनाः संस्कारस्कन्धाः 5. इति पञ्च स्कन्धाः बौद्धमते । दि० प्र० ।) 5 ज्ञानसन्तानाः । दि० प्र० ।

6 कल्पितत्वात् । दि० प्र० । 7 खपुण्यवत् । व्या० प्र० । 8 अकृतका उत्पत्तिरहिता यथावस्थिताः अकिञ्चित्करा इत्यर्थः । दि० प्र० ।

‘साध्याभावासंभूष्णु^२ताविरहाद्धेतोरन्यथानुपपत्तिरनिश्चितेति^३ न मन्तव्यं, साध्या-
भावे^४ तदभावप्रसिद्धेः सौगतस्य । तथा हि ।

[बोद्धाभिमतपंचस्कंधाः अवास्तविका एव ।]

रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारस्कंधसंततयोऽसंस्कृताः^५ संवृत्तित्वात्, यत्पुनः संस्कृतं^६
तत्परमार्थसत्, यथा स्वलक्षणं, न तथा स्कन्धसंततयः, इति साध्यव्यावृत्तौ हेतोर्व्यावृत्ति-
निश्चयात् । ^७खरविषाणादौ सांवृतत्वस्यासंस्कृतत्वेन^८ व्याप्तस्य प्रतिपत्तेः सिद्धान्यथानुप-
पत्तिः ।

कारिकार्थ—स्कंधों की परम्परा असंस्कृत ही है । क्योंकि वह संवृत्ति रूप है, इसलिये खर
विषाण के समान इन स्कंधों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भी नहीं हो सकता है । ५४।

साध्याभाव के अभाव का विरह अर्थात् साध्य के अभाव का सद्भाव होने से “संवृत्तित्वात्”
इस हेतु की अन्यथानुपपत्ति निश्चित है ऐसा आप बौद्धों को नहीं मानना चाहिये । क्योंकि भाप बौद्धों
के यहाँ साध्य के अभाव में उस हेतु का अभाव प्रसिद्ध है । तथाहि—

[बोद्धाभिमत पांच स्कंध अवास्तविक हैं]

“रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा संस्कार ये पांच स्कंध संततियां असंस्कृत हैं, क्योंकि ये संवृत्ति
रूप हैं । जो पुनः संस्कृत है वह परमार्थ सत् है, जैसे—स्वलक्षण किन्तु स्कन्ध संततियां वैसी नहीं हैं ।
इस प्रकार से साध्य-असंस्कृत की व्यावृत्ति हो जाने पर हेतु की व्यावृत्ति भी निश्चित ही है ।
खर विषाणादि में असंस्कृत रूप से संवृत्ति की व्याप्ति सिद्ध होने से अन्यथा उपपत्ति सिद्ध ही है ।

भावार्थ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श परमाणु सजातीय और विजातीय से व्यावृत हैं और परस्पर
में असम्बद्ध हैं वे रूप स्कन्ध कहलाते हैं । सुख-दुःखादि वेदना स्कन्ध कहलाते हैं । सविकल्प और
निविकल्प ज्ञान के भेद विज्ञान स्कन्ध कहलाते हैं । वृक्षादि नामक शब्द संज्ञा स्कन्ध कहलाते हैं । ज्ञान,
पुण्य, पाप और वासना ये संस्कार स्कन्ध कहलाते हैं । ये परमार्थ सत् नहीं है । अतः इनमें उत्पत्ति,
विनाश और स्थिति सम्भव नहीं है ।

१ असंभवित्व । व्या० प्र० । २ साधनस्य । व्या० प्र० । ३ अकृतकत्वाभावे । व्या० प्र० । ४ अकृतकाः । व्या०
प्र० । ५ कार्यरूपम् । व्या० प्र० । ६ खरविषाणं पारमार्थिकं न भवति यतः । व्या० प्र० । ७ अकार्यरूपत्वेन ।
व्या० प्र० । ८ अयमसंस्कृतत्वादिति हेतोरन्यथानुपपत्तिर्न सिद्धयति स्याद्वादिनां । इत्युक्ते स्याद्वादी वदति असंस्कृत-
त्वादिति साधनस्यान्यथानुपपत्तिसिद्धिर्ज्ञातव्या । कस्मात्स्थित्युत्पत्तिसहितस्य परमाणुरूपस्य स्वलक्षणस्यार्थस्य
संस्कृतत्वं सौगतरभ्युपगम्यते यतः—पुनः कस्माद्धेतोः व्यभिचारो न यथा सौगतानां तथा स्याद्वादिनामपि स्थित्युत्पत्ति-
विपत्तिसहितस्य वस्तुनः कथञ्चित्संस्कृतत्वं सिद्धयति यतः । दि० प्र० ।

[अवास्तविकस्कन्धेषु उत्पादादित्रयं न षटते]

ततः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिताः प्रतिपाद्यन्ते । तथा हि । स्कन्धसन्ततयः स्थित्युत्पत्ति-
विपत्तिरहिता एवासंस्कृतत्वात् खरविषाणवत् । क्षणं स्थित्युत्पत्तिविपत्तिसहितस्य स्व-
लक्षणस्य ^१संस्कृतत्वोपगमादन्यथानुपपत्तिसिद्धिः साधनस्य प्रत्येया । स्याद्वादिनामपि
स्थित्युत्पत्तिविपत्तिमतः कथंचित् संस्कृतत्वसिद्धेर्न व्यभिचारः^२ । सर्वथा^३ स्थितिमतोऽसंस्कृ-

[अवास्तविक स्कन्धों में उत्पाद, व्यय ध्रौव्य घटित नहीं हो सकते ।]

इसलिये ये स्कन्ध संततियां स्थिति, उत्पत्ति और व्यय से रहित हैं ऐसा प्रतिपादन किया जाता है । तथाहि । “स्कन्ध संततियां स्थिति, उत्पत्ति और विपत्ति से रहित ही है क्योंकि वे असंस्कृत हैं— अपरमार्थ रूप हैं, खर विषाण के समान ।” स्थिति, उत्पत्ति, विनाश से सहित ही क्षण स्वलक्षण है और वह संस्कृत कार्य रूप पर स्वीकार किया गया है, इसलिये इस हेतु की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध है ऐसा समझना चाहिये । अर्थात् स्थिति, उत्पत्ति और विनाश से रहित के बिना असंस्कृतत्व भी नहीं बनता है । स्वलक्षणादि में कार्यरूपता स्थित्यादि से व्याप्त है किन्तु खर विषाणादि में स्थित्यादि से रहित अकार्यरूपता है मतलब खर विषाणादि स्थिति उत्पत्ति आदि से रहित है । अतः उपर्युक्त अन्यथानुपपत्ति रूप सिद्ध हैं ।

स्याद्वादियों के यहां भी स्थिति उत्पत्ति-विपत्तिमान् पदार्थ कथंचित् संस्कृत रूप सिद्ध हैं इसलिये व्यभिचार दोष नहीं आता है क्योंकि सर्वथा स्थितिमान् और असंस्कृत कोई वस्तु ही ही नहीं सकती है । अतः “असंस्कृतत्वात्” यह हेतु निर्दोष है ।

अतः विसदृश संतान की उत्पत्ति के लिये विनाश हेतु माना है यह बात खतम हो जाती है । अर्थात् विसदृश कपाल लक्षण कार्य की उत्पत्ति के लिये ही विनाश हेतु मुद्गरादि हैं यह सौगत का वचन नष्ट हो जाता है ।

रूपादि स्कन्ध संततियों की उत्पत्ति का निषेध है । अतः उनका विनाश भी खर विषाणादि के समान असम्भव है । तथाहि । “स्कन्ध संततियां विनाश रहित हैं, क्योंकि वे स्थिति और उत्पाद से रहित हैं । जो पुनः विनाश सहित हैं वे स्थिति, उत्पत्ति रहित नहीं हैं । जैसे स्वलक्षण और स्कन्ध संततियां उसी प्रकार स्थिति, उत्पत्ति सहित नहीं हैं ।” इसलिये उन स्कन्धों में स्थिति, उत्पत्ति और विनाश सम्भव नहीं है । जैसे कि—खर विषाण में ये सम्भव नहीं हैं । पुनः उसस्कन्ध के अभाव में विरूप कार्य-कपाल लक्षण कार्य को उत्पन्न करने के लिये हेतु समागम-मुद्गरादि है, इस प्रकार का बौद्धों का वचन सुतरां नष्ट क्यों नहीं हो जाता है ? अर्थात् कथमपि यह वचन ठीक नहीं हो सकता है । इसलिये

१ सर्वथा स्थितिमत्त्व संस्कृतत्वादित्ययं हेतुर्भविष्यतीत्याशंकायामाह । दि० प्र० । २ नित्यपक्षे सर्वथास्थितिमत्त्व असंस्कृतपुत्तिरहितं किञ्चिद्वस्तु नास्ति । अतः असंस्कृतत्वादिति हेतुनिरवयः—यत एवं ततः कायोत्पत्तये विनाशहेतुरिति यः सौगतो वदेत् । दि० प्र० । ३ न केवलं कथञ्चित् संस्कृतत्व सिद्धेर्न व्यभिचारः । व्या० प्र० ।

तस्य च कस्यचिद्वस्तुनोनुप^१ पत्तेश्च^२ निरवद्योयं^३ हेतुः । ततो विसभागसंतानोत्पत्तये विनाश-
हेतुरिति पोप्लूयते, रूपादिस्कन्धसंततेस्त्वत्तिनिषेधात् तद्विनाशस्यापि खरविषाणवदसंभवात् ।
तथा हि । स्कन्धसंततयो विनाशरहिताः स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् । यत् पुनर्विनाशसहितं तन्न
स्थित्युत्पत्तिरहितं, यथा^४ स्वलक्षणम् । न तथा स्कन्धसंततयः । इति स्थित्युत्पत्तिव्यया न

क्षणिककांत भी श्रेयस्कर नहीं है । क्योंकि नित्यैकांत के समान ये भी सर्वथा विचार-परीक्षा को सहन करने में असमर्थ हैं ।

भाषार्थ—बौद्धों ने असदृश कार्य की उत्पत्ति के लिये हेतु को स्वीकार किया था । तब आचार्य ने यह प्रश्न किया कि वह कार्य परमाणुओं से होता है या स्कन्धों से ? यदि परमाणुओं से कहे तो ठीक नहीं है क्योंकि आप बौद्धों ने परमाणुओं में यह स्थिति कराने-ठहराने योग्य है और यह ठहराने वाला है यह बात मानी नहीं है, मान लेंगे तो एक क्षण के बाद दो आदि में परमाणु ठहर गये कि आपका क्षणक्षयैकांत खतम हो जायेगा । वैसे ही अपने विनष्ट कराने योग्य और विनाश करने वाला भी नहीं माना है क्योंकि ऐसी मान्यता में तो विनाश सहेतुक हो जायेगा । आपने तो “एक क्षण के बाद वस्तु का न ठहराना-नष्ट हो जाना ही स्वभाव है” ऐसा कहा है । उसी प्रकार से आपके यहाँ परमाणु में उत्पाद्य-उत्पादक भी नहीं बनेंगे । जिन्हें कि कार्य कारण भाव कहते हैं अर्थात् उत्पन्न कराने योग्य कार्य और उत्पन्न कराने वाले कारण ऐसे कार्य-कारण भाव भी परमाणु में नहीं बन सकते हैं क्योंकि दो आदि क्षण ठहरे बिना किसी भी वस्तु में कार्य-कारण भाव असंभव है । इसलिये स्थाप्य स्थापक भाव के बिना स्थिति, विनाश्य-विनाशक भाव के बिना विनाश और उत्पाद्य-उत्पादक भाव के बिना उत्पाद ये तीनों ही नहीं बन सकते हैं । क्योंकि परमाणु निरश हैं । एक क्षण मात्र स्थायी है ।

यदि द्वितीय पक्ष में स्कन्धों से कार्य की उत्पत्ति मानी जावे तो क्या दोष आते हैं इस बात को आचार्य ने इस कारिका द्वारा स्पष्ट किया है कि आपके यहाँ रूप, वेदना आदि पांचों ही स्कन्ध अवास्तविक हैं—असत्य हैं—काल्पनिक हैं । क्योंकि वे संवृत्ति से माने गये हैं और कल्पना मात्र से कल्पित कोई भी वस्तु कार्य रूप नहीं हो सकती है क्योंकि आपने मात्र स्वलक्षण को ही वास्तविक-पारमार्थिक सत्य रूप स्वीकार किया है । जैसे आकाश कमल की स्थिति न होने से उसका विनाश और उत्पाद नहीं हो सकता है । इसी प्रकार से इन स्कन्धों में भी उत्पाद व्यय, ध्रौव्य का होना असंभव है ।

१ ततश्च । व्या० प्र० । २ असंस्कृतस्वादित्ययम् । व्या० प्र० । ३ स्थित्युत्पत्तिसहिता । व्या० प्र० । ४ नश्यति ।
दि० प्र० ।

स्युस्तेषां स्कन्धानां खरविषाणवत् । तदभावे विरूपकार्यारम्भाय हेतुसमागम इति कथन्न सुतरां प्लवते¹ ? ततो न² क्षणिकैकान्तः श्रेयान्नित्यैकान्तवत्सर्वथा विचारासहत्वात्³ ।

अतः रूपादि स्कन्धों का विनाश नहीं हो सकता है । क्योंकि स्थिति उत्पत्ति वाले पदार्थों में विनाश का व्यवहार सम्भव है, जो है ही नहीं एवं जिनका उत्पाद असंभव है उनके विनाश का प्रश्न ही नहीं हो सकता है और स्थिति, उत्पत्ति एवं विनाश के अभाव में स्कन्ध क्या है ? यही समझना असंभव है । जब स्कन्ध ही सिद्ध नहीं हुये तब उन स्कन्धों से विसदृश कार्य की उत्पत्ति मानना सर्वथा ही असंभव है ।



- 1 यत् एवं ततः क्षणिकैकान्तपक्षः श्रेयान्न भवतीति साध्यो धर्मः सर्वथा विचारासहत्वात् यथा नित्यैकान्तः = अत्राह उभयवादी नित्यैकान्तः = क्षणिकैकान्तश्च श्रेयान्मा भवतु । तर्हि क्षणिका क्षणिक पक्षः श्रेयान् इत्युक्ते अनुमानद्वारेण स्याद्वादी वदति स्याद्वादन्यायसूत्राणां उभयोकात्पक्षः श्रेयान्न भवतीति साध्यो धर्मः युगपदेकत्र क्षणिक नित्ययोः प्रतिषेधात् अत्र पुनरखवायवादी आह । तर्हि उभयैकात्म्यं भा भूत् । सर्वथा अवाच्यं वस्तु भवति । इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । हे अवाच्यवादिन् अवाच्यतैकान्ते पक्षेऽङ्गीकृते अवाच्यमिति वचनोच्चारो न संभाव्यते घटत इत्यर्थः । दि० प्र० ।
- 2 नित्यवादिभिर्दूषणभयादुभयैकात्म्यमङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्यामाह । दि० प्र० ।

बौद्धाभिमत निहेतुक नाश एवं विसदृश कार्योत्पाद हेतु के खण्डन का सारांश

जैन—आप बौद्धों ने विनाश को अहेतुक माना है पुनः कोई किसी के मारने में हेतु न होने से हिंसक नहीं हो सकेगा तथा आपने निर्वाण को भी अभाव रूप—अर्थात् चित्त संतति के नाश रूप माना है, पुनः उसे सम्यक्त्व, समाधि आदि अष्टांग हेतुक कह दिया है। यह बात परस्पर विरुद्ध बुद्धिहीन ही है।

बौद्ध—हमारे यहाँ अन्वय के अभाव में सदृश कार्य नहीं माना है। अतः विसदृश कार्य को प्रारम्भ करने के लिए हिंसक का समागम हिंसा में हेतु है और सम्यक्त्वादि अष्टांग का समागम मोक्ष में हेतु है एवं विनाश तो निःस्वरूप है अतः हेतु का व्यापार प्रध्वंस के लिये नहीं है पूर्वाकार तो स्वभाव से ही निवृत्त हो जाता है।

जैन—यह आपका कथन सर्वथा असंगत है क्योंकि घटरूप पूर्वाकार का विनाश और कपाल-रूप उत्तराकार का उत्पाद इन दोनों में मुदग रूप एक ही हेतु है। यदि नाश एवं उत्पाद भिन्न कारण मानेंगे तो भिन्न कारणवादी नैयायिक के मत में आप प्रवेश कर जायेंगे। किन्तु ये दोनों समसमयवर्ती हैं। “नाशोत्पादो समयद्वन्नामोन्नामी तुलांतयोः”।

तथा यदि पूर्वाकार की स्वभाव से निवृत्ति मानोगे तो उत्तराकार-कपाल की उत्पत्ति भी स्वभाव से मानो। यदि आप कहें कि समझने वाले के अभिप्रायवश उत्पाद-सहेतुक है किन्तु परमार्थ से दोनों ही अहेतुक हैं, तब तो आप अपने सिद्धान्त से च्युत हो जायेंगे।

एवं यह कार्य इसके सदृश है और यह विसदृश है ऐसा भेद भी निरन्वय प्रहाणवादी के यहाँ कैसे हो सकेगा? अच्छा यह तो बताइये कि आपके यहाँ विसदृश कार्य उत्पन्न होता है तो परमाणु उत्पन्न होते हैं या स्कंध?

यदि परमाणु कहो तो आपने परमाणुओं को निरंश माना है, निरंश में कार्यकारण भाव विरुद्ध है, पुनः उनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भी सम्भव नहीं है, अतः इनकी उत्पत्ति सहेतुक है या अहेतुक? इत्यादि प्रश्न ही नहीं किये जा सकते।

यदि दूसरा पक्ष लेवो तब तो आपके यहाँ रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार ये पांच स्कंध हैं जो कि असंस्कृत हैं क्योंकि वे संवृत्ति रूप हैं। जो संस्कृत है वह परमार्थ सत् है जैसे स्वलक्षण।

इसलिये ये स्कंध उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से रहित हैं, क्योंकि आप इन्हें अपरमार्थ कहते हो। इस प्रकार से स्कंध उत्पादादि से रहित होने से सत् भी नहीं रहे। खपुष्पवत् असत् हो गये। पुनः उस कपाल लक्षण कार्य के लिये मुद्गरादि को हेतु कैसे माना है? अर्थात् सम्भव नहीं है। अतएव आपको अर्थ पर्याय की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु में नाशोत्पाद रूप स्वभाव पर्याय को अहेतुक एवं विभाव पर्याय की अपेक्षा नाशोत्पाद को सहेतुक मानना चाहिये।

सार का सार—बौद्ध कहता है कि घड़े पर किसी ने मुद्गर प्रहार किया तो घड़ा फूट गया। इसमें घट के विनाश में मुद्गर हेतु नहीं है। यह विनाश अहेतुक है एवं जो घड़े से टुकड़े-टुकड़े हुये उनकी उत्पत्ति में मुद्गर हेतु अवश्य है। परन्तु आचार्य का कहना है कि पूर्व पर्याय का विनाश ही उत्तर पर्याय का उत्पाद है अतः इन विनाश उत्पाद में एक ही हेतु है ऐसा स्पष्ट है। इस बौद्ध बेचारे ने तो कार्य को सहेतुक मान लिया है किन्तु आजकल कुछ ऐसे लोग भी हैं जो विनाश और उत्पाद दोनों को ही अहेतुक कह देते हैं। उनका कहना है कि कार्य का उत्पाद होना था तब निमित्त उपस्थित हो गया है। उस निमित्त बेचारे ने कुछ भी नहीं किया है, उन कहने वालों की दशा तो बौद्धों से भी अधिक शोचनीय है।



विरोधान्नोभयैकात्म्यं^१ स्याद्वादन्वयायविद्विषाम्^२ ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥५५॥

नित्यत्वेतरैकान्तद्वयमप्ययुक्तमङ्गीकर्तुं, विरोधाद्युगपज्जीवितमरणवत् । तादात्म्ये हि नित्यत्वानित्यत्वयोनित्यत्वमेव स्यादनित्यत्वमेव वा । तथा च नोभयैकात्म्यं^३, ^४विप्रति-
षेधात्^५ । नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामत एवानभिलाष्यमित्ययुक्तं, तदेकान्तेऽनभिला^६ध्योक्तेरनुप-
पत्तेः, सर्वथानभिलाष्यं तत्त्वमित्यभिलपत एव वचनविरोधात् सदा मौनव्रतिकोहमित्यादिवत् ।^७

उत्थानिका—पुनरपि आचार्यवर्य उभयैकांत एवं अवक्तव्य में दूषण दिखाते हैं—

नित्य अनित्य उभय धर्मों का मेल सदैव विरोधी है ।

स्याद्वाद नय के विद्वेषी चूँकि सदा निरपेक्ष कहें ॥

इन दोनों का “अवक्तव्य” भी यदि एकांत विधि से है ।

तब तो “अवक्तव्य” यह कहना सचमुच स्ववचन बाधित है ॥५५॥

कारिकार्थ—स्याद्वादनीति से द्वेष रखने वालों के यहां नित्यत्व, अनित्यत्व रूप उभयैकांत मानना भी सिद्ध नहीं है क्योंकि निरपेक्ष उभयैकांत में परस्पर में विरोध है तथा यदि तत्त्व को सर्वथा अवाच्य रूप ही स्वीकार करें तो भी ‘तत्त्व अवाच्य है’ यह कथन भी युक्त नहीं हो सकता है ।५५।

नित्यत्व और अनित्यत्व इन उभय रूप एकांत को भी स्वीकार करना युक्त नहीं है । क्योंकि विरोध आता है । जैसे कि युगपत् जीवित और मरण में विरोध है ।

यदि नित्यत्व और अनित्यत्व में तादात्म्य स्वीकार करोगे तब तो या तो नित्य ही रहेगा या अनित्य ही रहेगा और इस प्रकार से एक के ही रहने पर युगपत् उभयैकांत नहीं रह सकता है क्योंकि विरोध आता है ।

यदि आप कहें कि इसीलिये नित्य और अनित्य के द्वारा विरोध आने से ही हम तत्त्व को अवाच्य कहते हैं यह कहना भी अयुक्त ही है क्योंकि आपके एकांत में “अवाच्य है ।” यह उक्ति भी नहीं बन सकती है । सर्वथा “तत्त्व अवाच्य है ।” इस प्रकार कहते हुये आप बौद्ध के ही स्ववचन में विरोध आ जाता है । जैसे कि “सदा मैं मौनव्रती हूँ” । इत्यादि वचन स्ववचन बाधित ही हैं ।

१ नित्यानित्ययोः । दि० प्र० । २ सांख्यसौगतादीनाञ्च । दि० प्र० । ३ नित्यानित्यम् । दि० प्र० । ४ विरोधात् । दि० प्र० । ५ स्याद्वादन्वयायविद्विः उभयैकात्म्यकथने नित्यत्वमेव वा भवति एवमेकस्मिन्नेव सत्युभयैकात्म्यवचनं विरुद्धचन एव । दि० प्र० । ६ यसः । व्या० प्र० । ७ आदि शब्देन मम माता वन्द्या इत्यादिकं ग्राहं । तदुक्तम् । यावज्जीवमहं मीनी ब्रह्मचारी तु मल्यता । मम माता भवेद् वन्द्या स्मराभोनुपमो भवानिति । दि० प्र० ।

तदेवं नित्यत्वाद्येकान्तानुपपत्तौ सामर्थ्यात्तदनेकान्तसिद्धिप्रतिपादनेपि तत्त्वोपप्लववादि-
दुराशयविनाशनाय तत्प्रतिपत्तिदाढ्यार्थं च स्याद्वादिवादन्यायानुसरणेन^२ नित्यत्वाद्यनेकान्त-
मुपदर्शयन्ति सूरयः ।—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञा^३नात्रा^४कस्मात्तदविच्छिदा ।

क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥५६॥

ते भगवतोर्हतः स्याद्वादन्यायनायकस्य सर्वं जीवादितत्त्वं स्यान्नित्यमेव प्रत्यभिज्ञाय-
मानत्वात् । नाकस्मात्तत्प्रत्यभिज्ञानं तस्याविच्छेदेनानुभवात्^५ । निर्विषयं^६ हि प्रत्यभिज्ञानम-

उत्थानिका—इस प्रकार के नित्यत्व, अनित्यत्व आदि एकांत की व्यवस्था न बनने से सामर्थ्य से अर्थात्पत्ति से अनेकांत की सिद्धि का प्रतिपादन हो जाने पर भी तत्त्वोपप्लववादी-शून्यवादी आदि के दुरभिप्राय का विनाश करने के लिए और अनेकांत की प्रतिपत्ती को दृढ़ करने के लिये स्याद्वादियों के बाद के न्याय का अनुसरण करके श्री स्वामी संमतभद्राचार्यवर्य नित्यत्व आदि के अनेकांत को दिखलाते हैं ।

वस्तु सभी हैं नित्य कथंचित् चूँकि उनका प्रत्यभिज्ञान ।

नहीं होता यह अकस्मात् अविच्छिन्नरूप से अनुभव ज्ञान ॥

वस्तु कथंचित् अनित्य भी है चूँकि काल से भेद दिखे ।

भगवन् ! यदि सर्वथा कहें तब ज्ञान असंचर दोष दिखे ॥५६॥

कारिकार्थ—हे भगवन् ! आपके यहाँ सभी वस्तु कथंचित् नित्य हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से जानी जाती है । यह प्रत्यभिज्ञान आकस्मिक-निर्विषयक भी नहीं है क्योंकि उसका अविच्छेद रूप से अनुभव होता है तथा वे ही जीवादि वस्तुयें काल भेद की अपेक्षा से कथंचित् क्षणिक भी हैं अन्यथा बुद्धि का वहाँ संचरण नहीं हो सकता है । ५६।

स्याद्वाद न्याय के नायक आप अर्हत भगवान के यहाँ सभी जीवादि तत्त्व कथंचित् नित्य ही हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं । और वह प्रत्यभिज्ञान आकस्मिक भी नहीं है क्योंकि

१ न्यायवत्त्वात् । दि० प्र० । २ प्रवर्तनेन । दि० प्र० । ३ तदेव तत्सर्वं जीवादितत्त्वं कथञ्चिन्नित्यमेव । कस्मात् प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । अत्राह सौगतः । तत्प्रत्यभिज्ञानमकस्मा मादिति निर्विषयं । कोर्थः । यथा तादृशतेन तुल्ये तदेवेदमिति ज्ञानम् । तदेवेदमित्यत्रतादृश ज्ञानमिति भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानमित्युक्ते स्याद्वाद्याह । भ्रान्तं न कस्मात्तद-
विच्छिदा तस्य प्रत्यभिज्ञानस्याविच्छेदेन नैरन्तर्येणानुभवात् तदविच्छेदाभावे एकत्वाभावे यत् दृष्टं तदेव पश्यामि । यत् युक्तं तदेव दृश्यते इति बुद्धिर्न सञ्चरति इति दोष सम्भवति = तथात्वं कथञ्चित् क्षणिकमेव कस्मा-
त्प्रत्यभिज्ञानात्प्रत्यभिज्ञानाभावे बुद्धिसञ्चरदोषः सम्भवति स्मरणदर्शनबुद्ध्योः सञ्चरणापाये प्रत्यभिज्ञानं चोदेति । पुनः कस्मात् स्यात् क्षणिकमेव तत्त्वं कालभेदात् । अयं पूर्वकालः । अयं परकालः सम्भवति । दि० प्र० । ४ अन्वयज्ञानात् । दि० प्र० । ५ नित्यत्वं विषयः प्रत्यभिज्ञानस्य । व्या० प्र० । ६ सौगतः । दि० प्र० ।

कस्मादिति प्रसिद्धम् । यथा तादृश^१ तदेवेदमिति, तत्रैव वा^२ तादृशमिदमिति भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानम् । न चैवं जीवादितत्त्वे प्रत्यभिज्ञानं, बाधकाभावात्तदविच्छेदात् । प्रत्यक्ष^३ बाधकमिति चेन्न, तस्य^४ वर्तमानपर्यायात्मकवस्तुविषयत्वात्, पूर्वापरपर्यायव्याप्येकत्वलक्षणे प्रत्यभिज्ञानविषये प्रवृत्त्येभावात् । न च^५ स्वस्याविषये किञ्चिद्बाधकं^६ साधकं वा श्रोत्रज्ञानविषये चक्षुर्ज्ञानवत् । तत एव नानुमानं, तस्यान्यापोहमात्रगोचरत्वात्तत्रैव साधकबाधकत्वोपपत्तेः । प्रमाणान्तरं^७ तु^८ नानुमानादप्रत्यक्षमिष्यते क्षणिकवादिभिर्यत्प्रत्यभिज्ञानस्य^९ बाधकं स्यात् । इति सत्यप्रत्यभिज्ञानमेव^{१०} वितथप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकम् ।

उसका अविच्छेद रूप अनुभव आ रहा है । किन्तु जो निविषयक प्रत्यभिज्ञान है वही आकस्मिक रूप से प्रसिद्ध है । जैसे तादृश वस्तु में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान अथवा 'यह वही है' इस एकत्व प्रत्यभिज्ञान में 'यह उसके सदृश है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान । इस प्रकार ये प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त हैं । किन्तु इस प्रकार से जीवादि तत्त्व में प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त नहीं है । क्योंकि बाधक का अभाव होने से वह प्रत्यभिज्ञान अविच्छेद रूप है ।

शंका—प्रत्यक्ष प्रमाण उसका बाधक है ।

समाधान—नहीं ! प्रत्यक्ष प्रमाण तो वर्तमान पर्यायात्मक वस्तु को ही विषय करता है । किन्तु पूर्वा पर व्यापी एकत्व लक्षण प्रत्यभिज्ञान के विषय में उस प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति का अभाव है एवं अपने अविषय में कोई भी बाधक या साधक नहीं हो सकता है । जैसे कि श्रोत्र ज्ञान के विषय में चक्षु का ज्ञान बाधक या साधक नहीं हो सकता है । इसीलिये अनुमान भी बाधक नहीं है क्योंकि आप बौद्धों के यहां तो वह अनुमान अन्यापोह मात्र को ही विषय करता है । अतः उसी अन्यापोह मात्र में ही वह साधक, बाधक बन सकता है, अन्यत्र नहीं तथा अनुमान से भिन्न अन्य

1 तत्सदृशेन तु तस्मिन् । व्या० प्र० । 2 पूर्वदृष्टिषु । व्या० प्र० । 3 आह सौगतः जीवादितत्त्वे एकत्वव्यवस्थापकस्य प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षं निविकल्पकदर्शनं बाधकं भवतीति चेत् । न । तत्प्रत्यक्षं वर्तमानपर्यायात्मक वस्तुविषयं यतः । पुनः कस्मात् पूर्वापरपर्यायव्याप्येकत्वलक्षणे प्रत्यभिज्ञानविषये प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तेरभावात् = किञ्च स्वस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणस्यात्मनः अगोचरे किञ्चित्प्रमाणं बाधकं न । साधकञ्च न । यथाचक्षुर्दर्शनं श्रोत्रज्ञानज्ञानविषये बाधकं न साधकञ्च न = यत एवं तत एवानुमानमानमपि प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं न । कस्मात्तदनुमानमन्यापोहमात्रं गृह्णामियतः । पुनः कस्मात्तत्रैवान्यापोहेतुमानस्य साधकत्व बाधकत्वञ्चोत्पद्यते यतः । दि० प्र० । 4 प्रत्यक्षस्य । द० प्र० । 5 प्रत्यक्षादेः । व्या० प्र० । 6 प्रत्यक्षादि । व्या० प्र० । 7 स्याद्वादी वदति । अनुमानाद्विन्नमन्यत् प्रत्यक्षप्रत्यक्षव्यतिरिक्तञ्च क्षणिकवादिभिः प्रमाणं नाङ्गीक्रियते । कोर्थः । प्रत्यक्षानुमानद्वयं प्रमाणात्तृतीयं प्रमाणं नास्ति यत्प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं स्यात् । = अत्राह सौगतः हे स्याद्वादिन् अस्मदभ्युपगतं प्रमाणद्वयं प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं मास्तु । तर्हि भवन्मते प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं प्रमाणं किमित्युक्ते स्याद्वाद्याह । अभ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानं भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं भवति । दि० प्र० । 8 न किञ्चित् । दि० प्र० । 9 भिन्नाभिन्न । पर्यायेषु तत्सदृशोपमिति प्रतीतेः । दि० प्र० । 10 प्रत्यभिज्ञानमेवास्य बाधकमिति पा० । दि० प्र० ।

[बौद्ध एकत्व प्रत्यभिज्ञानं न मन्यते किन्तु जैनाचार्याः तत् साधयन्ति ।]

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं^१ सम्यगेवास्य जीवादावेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यानाद्यविद्योदयापादि-
तस्य भ्रान्तस्य बाधकमिति चेन्न, अस्य भ्रान्तत्वसिद्धेः, सदृशापरापरोत्पत्त्यनिश्चयात् ।
ननु^२ च यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमक्षणिके क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरित्य-
नुमानान्निरन्वयविनाशित्वसिद्धेर्जीवादिक्षणानामेकत्वासंभवात् सादृश्यप्रत्यभिज्ञानविषय-
त्वोपपत्तेर्भ्रान्तमेव तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानं सिद्धमविसंवादाभावादिति चेन्न, अस्यानुमानस्य

कोई परोक्ष प्रमाणांतर आप क्षणिकवादियों ने स्वीकार नहीं किया है, जो कि प्रत्यभिज्ञान का बाधक हो सके। इसलिये सत्य प्रत्यभिज्ञान ही असत्य प्रत्यभिज्ञान का बाधक है।

[बौद्ध एकत्व प्रत्यभिज्ञान को नहीं मानता है किन्तु जैनाचार्य उसको सत्य सिद्ध करते हैं ।]

बौद्ध—सादृश्य प्रत्यभिज्ञान ही सम्यक् है और वह जीवादि वस्तुओं में अनादि अविद्या के उदय से होने वाले भ्रान्तरूप एकत्व प्रत्यभिज्ञान का बाधक है।

जैन—नहीं! यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान भ्रान्तरूप सिद्ध नहीं है क्योंकि सदृश रूप ही अपर-
अपर की उत्पत्ति का निश्चय नहीं होता है।

भावार्थ—बौद्धों ने किसी भी जीवादि द्रव्य में अन्वय नहीं माना है अतः उनके यहां एकत्व प्रत्यभिज्ञान असम्भव है इसीलिए वे कहते हैं कि एकत्व प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है। उनका कहना है कि नख और केश काटने के बाद पुनः वैसे ही उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसे ही जीवादि में भी वैसे-वैसे जीवादि आते रहते हैं। इसलिये सहजता में एकत्व का भान हो जाता है।

बौद्ध—“जो सत् है वह सभी क्षणिक है क्योंकि नित्य में क्रम से अथवा युगपत् से अर्थ क्रिया का विरोध होने से सत्त्व की अनुपपत्ति है।” इस अनुमान से निरन्वय विनाशित्व सिद्ध हो

१ आह बौद्धः हे स्याद्वादिन् अनाद्यज्ञानवासनानिमित्तस्य भ्रान्तस्य जीवादिद्रव्यएकत्वव्यवस्थापकप्रत्यभिज्ञानस्य अस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं निश्चयेन बाधकं भवतीति चेन्न । अस्य प्रत्यभिज्ञानस्य भ्रान्तत्वं न सिद्धयति । तथा जीवादी सादृशापरापरोत्पत्तिरेव न निश्चीयते इत्युक्ते भूतपुनर्जात नखकेशादिषु सदृशापरापरोत्पत्तिनिश्चीयते । ननु जीवादितत्वम् । दि० प्र० । २ सौगतो वक्षति अहो सर्वपक्षः क्षणिकं भवतीति साध्यो धर्मः सत्त्वात् । यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं कस्मान्नित्ये क्रमेणाक्रमेण चार्थक्रिया विरुद्धयते यतः । अर्थक्रियाविरोधे सति सत्त्वं नोपपद्यते इत्यनुमान-
प्रमाणात् जीवादिपदार्थानां निरन्वयविनाशित्वं सिद्धयति कस्माज्जीवादिपदार्थानामेकत्वासंभवात् । पुनः कस्मात्तेषां सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमुपपद्यते यतः जीवादितत्वे एकत्वप्रत्यभिज्ञानं भ्रान्तमेव सिद्धं कुतः सत्याभावादिति चेन्न । इदमनुमानं विरुद्धं यतः कुतो विरुद्धमित्युक्ते स्याद्वादी अनुमानेन विरुद्धं दर्शयति सर्वपक्षः कथञ्चिन्नित्यं भवतीति साध्यो धर्मः । सत्त्वात् । यत्सत्तत्सर्वं कथञ्चिन्नित्यं कस्मात्सर्वथाक्षणिके क्रमेणाक्रमेण चार्थक्रिया विरुद्धयते यतः तथासत्त्वं-
नोपपद्यते तावदत्रानुमाने व्यभिचारित्वं नास्ति हेतोः कस्मात्सर्वथा नित्यत्वे वस्तुनि सत्त्वस्यासंभवात् । यथा सर्वथा क्षणिकत्वम् । दि० प्र० ।

विरुद्धत्वात् । तथा हि । यत्सत् तत्सर्वं कथंचित् नित्यं, सर्वथा क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ-
क्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरिति । अत्र न तावद्धेतोरनैकान्तिकत्वं, सर्वथा नित्यत्वे सत्त्वस्या-
भावात् सर्वथा क्षणिकत्ववत् । तदभावश्च क्रमाक्रमानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च पूर्वापरस्वभाव-
त्यागोपादानान्वितरूपाभावात् 'सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वा'भावाच्च^३ । न^४ हि कूटस्थेर्धे पूर्वोत्तर-
स्वभावत्यागोपादाने^५ स्तः, क्षणिके वान्वितं रूपमस्ति, यतः क्रमः कालकृतो देशकृतो वा
स्यात् । नापि^६ युगपदनेकस्वभावत्व^७, यतो यौगपद्यं, ^८कौटस्थ्यविरोधान्निरन्वयक्षणिकत्व-

जाने पर जीवादि पदार्थों में एकत्व ही असंभव है । कारण वे जीवादि पदार्थ सादृश्य प्रत्यभिज्ञान के विषय हैं । इसलिए उन जीवादिकों में एकत्व प्रत्यभिज्ञान भ्रांत रूप ही सिद्ध है । क्योंकि इसमें विसंवाद का अभाव नहीं है अर्थात् एकत्व प्रत्यभिज्ञान में विसंवाद पाया जाता है । अतः वह भ्रांत ही है ।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपका यह अनुमान विरुद्ध है । तथाहि ! “जो सत् है वह कथंचित् नित्य है क्योंकि सर्वथा क्षणिक में क्रम से अथवा युगपत् अर्थ क्रिया का विरोध है । अतः सत्त्व की अनुपपत्ति है ।” अर्थात् क्षणिक का सत्त्व नहीं बन सकता है । इसका पूरा अनुमान—“सभी वस्तुयें कथंचित् नित्य हैं क्योंकि वे सत् रूप हैं । जो सत् रूप हैं वे कथंचित् नित्य हैं ।” और सर्वथा क्षणिक में किसी भी प्रकार से अर्थ क्रिया असंभव है । अतः क्षणिक के साथ सत्त्व की व्याप्ति असंभव है । यहां पर हमारा हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार से सर्वथा क्षणिक में सत्त्व का अभाव है उसी प्रकार से सर्वथा नित्य में भी सत्त्व का अभाव है और वह सत्त्व का आभाव क्रम और युगपत् के नहीं बन सकने से है । अर्थात् सर्वथा नित्य पक्ष में क्रम-युगपत् के न होने से सत्त्व असंभव है और सर्वथा क्षणिक पक्ष में भी क्रम-युगपत् के न हो सकने से सत्त्व का असंभव है ।

उस सत्त्व की अनुपपत्ति (न हो सकना) भी पूर्व स्वभाव का त्याग, अपर स्वभाव का उपादान एवं दोनों अवस्थाओं में अन्वय के अभाव से एवं एक साथ अनेक शक्त्यात्मक के अभाव

१ अनेकक्रमानुपपत्तिदर्शिता । दि० प्र० । २ नित्यक्षणिकतत्वानाम् । दि० प्र० । ३ अनेन क्रमानुपपत्तिः दर्शिता । दि० प्र० । ४ स्याद्वादी वदति कूटस्थे सर्वकालव्यापिनि नित्येव वस्तुनि पूर्वस्वभावत्याग उत्तरस्वभावोपादानञ्च न भवतः । तथा सर्वथा क्षणिकान्वितं रूपं नास्ति नित्यक्षणिकयोः कालकृतो देशकृतो वा क्रमो यतः कुतः स्यान्न कुतोपि तद्विक्रमो वा भवतु अक्रमो स्थित्युक्ते नित्यक्षणिकयोः युगपदनेक स्वभावत्वमपि न । अनेकस्वभावत्वाभावे यौगपद्यं कुतो-
भवति चेत्तदाकौटस्थ्यं विरुद्धघते तथा निरन्वयक्षणिकत्वञ्च व्याह्रियते । दि० प्र० । ५ नस्त इति भावः । व्या० प्र० । ६ अत्राह परः सहकारिकारणमपेक्ष्य नित्ये क्षणिके च क्रमाक्रमाभ्यां कार्यकारणं घटते इत्युक्ते स्याद्वादी वदति । इयं कल्पनापि श्रेयस्करी न कुतः स्वयं स्वस्य नित्यस्य क्षणिकस्य च सहकारिक्रमापेक्षाक्रमाक्रमस्वभावत्वाभावे तदनुपपत्तेः । तस्याक्रमयौगपद्यकल्पनायाः असम्भवात् । दि० प्र० । ७ नित्यस्य क्षणिकस्य च । व्या० प्र० । ८ अन्वयशब्देनात्र क्रम भाव्यनेकस्वभावव्याप्येकत्वं युगपद् भाव्यनेकस्वभावव्याप्येकत्वञ्च ग्राह्यम् । दि० प्र० ।

व्याघाताच्च । सहकारिक्रमाक्रमापेक्षया तत्रं क्रमयौगपद्यकल्पनापि न साधीयसी स्वयं तदपेक्षा, क्रमेतरस्वभावत्वाभावे तदनुपपत्तेः । तत्कार्याणां^१ तदपेक्षा, न पुनर्नित्यस्य क्षणिकस्य वेत्यपि न श्रेयान्, तेषां तदकार्यत्वप्रसङ्गात् । तत्सहितेभ्यः^२ सहकारिभ्यः कार्याणामुत्पत्तेरन्यथानुत्पत्तेस्तत्कार्यत्वनिर्णय इति चेत्तर्हि येन स्वभावेनैकेन सहकारिणा सहभावस्तेनैव^३ सर्वसहकारिणा यदि तस्य स्यात्तदैककार्यकरणे सर्वकार्यकरणात्क्रमकार्यानुपपत्तिः, सहकार्यन्तराभावेपि च तत्सहभावात्सकृदेव सकलकार्योत्पत्तिः प्रसज्येत । स्वभावान्तरैः^४ सह कायान्तर-

से ही होती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपने पूर्व आकार का त्याग करके उत्तर आकार को ग्रहण करती है और इन दोनों ही अवस्थाओं में अन्वय के पाये जाने से ही उसमें क्रम से युगपत् अर्थक्रिया घटित होती है वैसे ही वे जीवादि वस्तु अनेक शक्त्यात्मक भी हैं तभी तो उसमें किसी स्वभाव का त्याग और अन्य किसी स्वभाव का उत्पाद होता है फिर भी अन्वय रूप एक वस्तु अनेक शक्त्यात्मक होने से एक ही रहती है और सर्वथा नित्य में पूर्वाकार त्याग और उत्तराकारोपादान होना आदि एवं सर्वथा क्षणिक में अनेकशक्त्यात्मक अन्वय-रूप एक द्रव्य का अभाव है । तथाहि सर्वथा कूटस्थ पदार्थ में पूर्व स्वभाव का त्याग, उत्तर स्वभाव का उपादान संभव नहीं है । अथवा सर्वथा क्षणिक में अन्वय रूप नहीं है । कि जिससे सर्वथा नित्य या क्षणिक में कालकृत अथवा देशकृत क्रम हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है एवं युगपत् अनेक स्वभाव भी नहीं है जिससे यौग पद्य सिद्ध हो सके अर्थात् युगपत् भी नहीं हो सकता है । और यदि आप अनेक स्वभाव मान लेंगे तो कूटस्थ भाव का विरोध आ जायेगा और निरन्वय क्षणिकत्व भी नष्ट हो जायेगा ।

अर्थात् जिस प्रकार से नित्य में अनेक स्वभाव सिद्ध हो जाने से कूटस्थपना नहीं घटेगा, उसी प्रकार से क्षणिक में भी क्रम से अनेक स्वभाव हो जाने से क्षणिकत्व ही नहीं टिकेगा । सहकारी कारणों से क्रम, युगपत् की अपेक्षा से वहाँ नित्य और क्षणिक में क्रम यौगपद्य की कल्पना करना भी स्वयं तदपेक्षा सिद्ध करने योग्य नहीं है । क्योंकि क्रम और युगपत् रूप स्वभाव का अभाव होने पर वह क्रम युगपत् सम्भव नहीं है । यदि आप कहें कि उन नित्य और क्षणिक पक्ष में होने वाले कार्यों को ही उनकी अपेक्षा है किन्तु नित्य अथवा क्षणिक को उसकी अपेक्षा नहीं है, यह कथन भी श्रेयस्कर नहीं है अन्यथा उनको अकार्यत्व का प्रसंग आ जायेगा ।

शंका—उस नित्य अथवा क्षणिक से सहित ही सहकारी कारणों से कार्यों की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं होती है अतएव ये उसके कार्य हैं, ऐसा निर्णय हो जाता है ।

१ पुनराह परः अहो नित्यक्षणिककार्याणां सहकारिक्रमापेक्षास्ति न पुनः नित्यस्य क्षणिकस्य वा । इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । इदमपि न कुतस्तेषां कार्याणां तयोन्नित्यक्षणिकयोरकार्यत्वमायाति । दि० प्र० । २ परनित्यः क्षणिक सहितेभ्यः सहकारिभ्यः सकाशात्कार्याण्युत्पद्यतेऽन्यथा संभवात् । नित्यक्षणिकत्वयोः कार्यत्वनिश्चय इति चेत् स्याद्वाद्याह । तर्हि नित्यस्य क्षणिकस्य च एकस्वभावः अनेके स्वभावा एकः सहकारी अनेकसहकारिणो वेति विकल्पः । दि० प्र० । ३ तेनैव वा स्वभावान्तरैर्वा इति विकल्पद्वयम् । व्या० प्र० । ४ द्वितीयविकल्पोयम् । व्या० प्र० ।

सहभावे तस्य ¹क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वसिद्धेः कुतो नित्यमेकस्वभावं क्षणिकं वा वस्तु² क्रमयोगपद्यव्यपिकं³ स्यात् ? ⁴कथञ्चिन्नित्यस्यैव क्रमाक्रमानेकस्वभावस्य तद्व्यापकत्व-प्रतीतेः । एतेन विपक्षे हेतोर्बाधकस्य ⁵व्यापकानुपलम्भस्य⁶ ⁷व्यतिरेकनिश्चयः⁸ कथञ्चि-न्नित्ये ⁹प्रत्यक्षप्रवृत्तेः प्रदर्शितः प्रत्येयः । ततः सत्त्वं¹⁰ ¹¹कथञ्चिन्नित्यमेव साधयतीति विरुद्ध-

समाधान—तब तो जिस स्वभाव से एक सहकारी के साथ सहभाव है, उस ही एक स्वभाव से सभी सहकारियों के साथ यदि नित्य और क्षणिक का सद्भाव होगा तब तो उस एक स्वभाव से एक कार्य को करने पर सभी कार्य हो जायेंगे, पुनः क्रम से कार्य को करना, नहीं बन सकेगा । भिन्न-भिन्न सहकारियों के अभाव में भी सर्व सहकारियों के साथ नित्य और क्षणिक का सहभाव होने से युगपत् ही सम्पूर्ण कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग आ जायेगा ।

स्वभावांतरों के साथ कार्यान्तरों का सहभाव मानने पर उसके क्रम और युगपत् से होने रूप अनेक स्वभावत्व की सिद्धि हो जाने से नित्य एक स्वभाव अथवा क्षणिक रूप वस्तु क्रम और युगपत् में व्यापक कैसे हो सकेगी ? क्योंकि कथञ्चित् नित्य वस्तु ही क्रम युगपत् रूप स्वभाव वाली है और वही क्रम युगपत् में व्यापक है ।

इसी कथन से सर्वथा एकांत रूप विपक्ष में व्यापकानुपलम्भ रूप बाधक हेतु का व्यतिरेक निश्चित है और कथञ्चित् नित्य से वह सत्त्व रूप हेतु प्रत्यक्ष से प्रवृत्त है । ऐसा दिखाया गया समझना चाहिये इसलिये यह “सत्त्वात्” हेतु जीवादि वस्तुओं को कथञ्चित् नित्य ही सिद्ध करता है

1 सा । व्या० प्र० । 2 कर्तुं । व्या० प्र० । 3 स्याद्वादी वदति हे नित्य क्षणिककार्यवादिन् तर्हि येन एकेन स्वभावेन एकेन सहकारिणासहभावोस्ति । तेनैक स्वभावेन सर्वसहकारिणा सह यदि तस्य नित्यस्य क्षणिकस्य च सहभावः स्यात्तदा एककार्यकरणे सति जगति सर्वकार्यकरणं घटते । तदा क्रमकार्याणामसंभवतः विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावाद्धेतोर्व्यतिरेक-निश्चय इत्यर्थः = अथवा अन्यसहकारिसहभावाभावेपि एक सहकारिणा सहभावाद्युगपदेकसर्वकार्योत्पत्तिर्घटेत = अथवा अन्यस्वभावाः सहान्यसहकारिणां सहभावेसति तस्य नित्यस्य क्षणिकस्य वा क्रमाक्रमवृत्त्योरेकस्वभावत्वं सिद्धञ्चित् यतस्ततः नित्यं क्षणिकं वा वस्तु एक स्वभावं सत् कार्यकरणे क्रमाक्रमयोर्व्यापकं कुतः स्यान्न कुतोपि । दि० प्र० । 4 आह परः नित्यं क्षणिकं वा क्रमाक्रमयोर्व्यापकं नास्ति यदि तर्हि अन्यत् किं व्यापकमित्युक्ते स्याद्वाद्याह । क्रमाक्रमानेक-स्वभावं कथञ्चिन्नित्यमेव तयोर्व्यापकं क्रमयोगपद्ययोः प्रतीयते । दि० प्र० । 5 क्रमयोगपद्यलक्षण । व्या० प्र० । 6 व्यापकानुपलम्भस्य सद्भावात् । इति पा० । दि० प्र० । 7 सर्वपक्षः कथञ्चिन्नित्यं भवतीति साध्यो धर्मः सत्त्वादियुक्तं यदा स्याद्वादिना तदा परः आह सत्त्वादिति हेतुः सर्वं क्षणिकं नित्यं वा सत्त्वादित्यस्मत् कृतानुमानापेक्षया विपक्षे कथञ्चिन्नित्ये व्यापकानुपलम्भलक्षणव्यापकं भवतीत्युक्ते स्याद्वाद्याह एतेन कथञ्चिन्नित्यस्य क्रमाक्रमव्याप-कत्वव्यवस्थापनद्वारेण विपक्षे सत्त्वादिति हेतोः क्रमाक्रमयोर्व्यापकानुपलम्भलक्षणबाधस्य व्यतिरेकनिश्चयः अभावनियमः प्रकाशितो ज्ञेयः कस्मात्कथञ्चिन्नित्ये प्रत्यक्षेण प्रवर्तनात् । दि० प्र० । 8 अभाव । व्या० प्र० । 9 का । व्या० प्र० । 10 सत्त्वात् । इति पा० । दि० प्र० । 11 यत् एवं ततः सत्त्वादिति हेतुः कथञ्चिन्नित्यमेव साधयतीति विरुद्धत्वात्-प्रत्यभिज्ञानगोचरस्यैकत्वस्य विनाशनम् । दि० प्र० ।

त्वान्न^१ प्रत्यभिज्ञानविषयस्यैकत्वस्यापहारकं, येन^२ सादृश्यविषयत्वात्तस्य बाधकं सिद्ध्यद्-
भ्रान्ततां साधयेत् ।

[बौद्धः प्रत्यभिज्ञानं पृथक् प्रमाणं न मन्यते किंतु जैनाचार्याः तत्साधयन्ति ।]

ननु^३ चेदं प्रत्यभिज्ञानं नैकं प्रमाणं, तदित्युल्लेखस्य प्रत्ययस्य स्मरणत्वादिद-
मित्युल्लेखस्य च प्रत्यक्षत्वात् । न चैताभ्यां प्रत्ययविशेषाभ्यामतीतवर्तमानविशेषमात्रगोचरा-
भ्यामन्यत्^४ संवेदनमेकत्वपरामर्शिसमनुभूयते, ^५यत्प्रत्यभिज्ञानं नाम प्रमाणं स्यान्नित्यत्वस्य

एवं क्षणिकत्व को सिद्ध करने में यह हेतु विरुद्ध है । अतएव यह हेतु प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत एकत्व का अपहारक-विरोधी नहीं हो सकता है कि जिससे सादृश्य को ही विषय करने वाला होने से उस एकत्व प्रत्यभिज्ञान को बाधित करता हुआ उसे भ्रान्तरूप सिद्ध कर सके अर्थात् नहीं कर सकता है ।

भावार्थ—बौद्धों के यहाँ एकत्व प्रत्यभिज्ञान को नहीं माना है कारण कि प्रत्येक वस्तु का वे निरन्वय विनाश मानते हैं । अतः अन्वय रूप एकत्व को वे स्वीकार नहीं करते हैं । उनका कहना है कि दूसरे क्षण में जो हमें अन्वय दिखता है वह सदृशता को लिये हुये है, अतएव वे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान ही मानते हैं और “सत्त्वात्” हेतु से उसकी सिद्धि करके एकत्व प्रत्यभिज्ञान को भ्रान्त सिद्ध करते हैं, किन्तु जैनाचार्यों ने उनकी मान्यता का खण्डन करके इस सत्त्व हेतु के द्वारा ही एकत्व प्रत्यभिज्ञान को सिद्ध किया है क्योंकि प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य है, तथैव कथंचित् क्षणिक है और यह सत्त्व हेतु कथंचित् नित्यानित्य को ही सिद्ध करता है न कि सर्वथा नित्य या क्षणिक को ।

[बौद्ध प्रत्यभिज्ञान को पृथक प्रमाण नहीं मानता है किन्तु जैनाचार्य उसे पृथक प्रमाण सिद्ध करते हैं ।]

सौमत—यह प्रत्यभिज्ञान एक प्रमाण नहीं है । क्योंकि “तत्—वह” इस प्रकार का उल्लिखित ज्ञान स्मरण है और “इदं—यह” इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष है । इस प्रकार से अतीत एवं वर्तमान विशेष मात्र को विषय करने वाले स्मरण और प्रत्यक्ष प्रत्यय विशेष से भिन्न कोई एकत्व परामर्शी (जोड़ रूप ज्ञान) ज्ञान अनुभव में नहीं आता है जिससे कि आपका प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण नित्यत्व को सिद्ध करने वाला हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है । अतः “प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्” यह हेतु स्वरूपासिद्ध है ।

१ सर्वथा नित्यैकान्तेऽनित्यैकान्तेन । व्या० प्र० । २ स्याद्वाद्याह सत्त्वादिति हेतुः सादृश्यगोचरत्वाद्बाधकं सिद्धयत्सत्त्वस्य प्रत्यभिज्ञानस्य भ्रान्ततां येन केन साधयेत् । दि० प्र० । ३ आह परः अहो इदं प्रत्यभिज्ञानं एकं प्रमाणं न । तर्हि किं तद्विदमिति । तत् इति प्रकाशो ज्ञानं स्मरणमिदमिति प्रकाशज्ञानं प्रत्यक्षं एताभ्यां ज्ञानविशेषाभ्यामतीतवर्तमानगोचराभ्यां सकाशादन्यत् ज्ञानमेकत्वशाहकं न सम्यग्जायते प्रत्यभिज्ञानं नाम प्रमाणं नित्यस्यैकत्वस्य ग्राहकं यत् तत् कुतः स्यान्न कुतोपि—अतः कारणाञ्जीवादितत्त्वं पक्षः कथञ्चिन्नित्यं भवति, प्रत्यभिज्ञायमानत्वादिति स्वरूपेणासिद्धः, कोथः । मूलतो नास्तीति कश्चिद्वदति । अत्राह स्याद्वादी सोप्येवं वक्ता प्रत्यक्षाद्बाधकः कुतः पूर्वपर्यायस्मरणोत्तरपर्यायदर्शनाभ्यां जातस्य जीवाद्येकत्वसंयोजनस्य प्रत्यभिज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात् । दि० प्र० । ४ का । व्या० प्र० । ५ यतः । व्या० प्र० ।

साधकम् । अतः स्वरूपासिद्धो हेतुरिति कश्चित् सोपि प्रतीत्यपलापी, पूर्वोत्तरविवर्तस्मरण-दर्शनाभ्यामुपजनितस्य तदेकत्वसंकलनज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन संवेद्यमानस्य सुप्रतीतत्वात् । न^१ हि स्मरणमेव पूर्वोत्तरविवर्तयोरेकत्वं संकलयितुमलम् । नापि दर्शनमेव । ^२तदुभय-संस्कारजनितं^३ विकल्पज्ञानं तत् संकलयतीति चेत् तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम् । न च तदक-स्मादेवभवतीति^४ निर्विषयं, बुद्ध्यसंचरदोषात्^५ । न हि प्रत्यभिज्ञानविषयस्याविच्छिन्नस्य नित्यत्वस्याभाव बुद्धेः संचरणं नाम, निरन्वयविनाशाद्बुद्ध्यन्तरजननानुपपत्तेः, यदेवाह-

जैन—इस प्रकार से कहते हुए आप प्रतीति का अपलाप करने वाले ही हैं क्योंकि पूर्व पर्याय का स्मरण एवं उत्तर पर्याय के दर्शन से उत्पन्न हुआ एकत्व परामर्शी—जोड़ रूप ज्ञान पाया जाता है जो कि प्रत्यभिज्ञान रूप से संवेद्यमान है और प्रतीति में आ रहा है । क्योंकि अकेला स्मरण ही पूर्वोत्तर रूप दोनों पर्यायों के एकत्व का संकलन करने में समर्थ नहीं है और न दर्शन ही समर्थ है ।

बौद्ध—उन दोनों के संस्कार से उत्पन्न हुआ विकल्प ज्ञान उस एकत्व को संकलित कर लेता है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो वही ज्ञान तो प्रत्यभिज्ञान नाम से सिद्ध है और वह अकस्मात् ही होता है । इसलिये निर्विषयक है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं अन्यथा प्रत्यभिज्ञान रूप बुद्धि के असंचर दोष का प्रसंग आ जायेगा अर्थात् यह प्रत्यभिज्ञान रूप बुद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकेगी । अविच्छिन्न पूर्वोत्तर पर्याय में व्यापी प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत नित्य पदार्थ का अभाव होने पर प्रत्यभिज्ञान रूप-बुद्धि का संचरण नहीं हो सकता है क्योंकि क्षणिक विषय का तो निरन्वय विनाश हो जाता है, पुनः बुद्ध्यन्तर की उत्पत्ति ही असम्भव है अर्थात् क्षणिकमत में पूर्व में उत्पन्न हुआ प्रत्येक ज्ञान निरन्वय नष्ट हो जाता है अतएव स्मरण दर्शन में जोड़ ज्ञान रूप प्रत्यभिज्ञान नामक बुद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकती है । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं कि—जिसको मैंने देखा है उसी का स्पर्श करता हूँ । इस प्रकार से स्मरण और दर्शन रूप पूर्वोत्तर परिणाम में एक द्रव्यात्मक रूप से गमन-प्रवृत्ति होना असंभव ही है क्योंकि क्षणिक होने से विषय तो निरन्वय नष्ट हो गया है ।

यद्यपि नित्य के आभाव में प्रत्यभिज्ञान लक्षण बुद्धि का संचरण नहीं है फिर भी अन्य बुद्धि का संचरण तो है, ऐसी बौद्ध की आशंका होने पर जैनाचार्य कहते हैं कि—

इस प्रत्यभिज्ञान से भिन्न अन्य बुद्धि का संचरण भी यहाँ नित्यत्व को सिद्ध करने के इस प्रकरण में अप्रस्तुत ही है अर्थात् भूतकाल का स्मरण और वर्तमान का प्रत्यक्ष इन दोनों के जोड़ रूप ज्ञान को करने में प्रत्यभिज्ञान के सिवाय अन्य कोई ज्ञान अपना व्यापार नहीं कर सकता है ।

- 1 केवलं स्मरणं पूर्वोत्तरपर्याययोरेकत्वं कर्तुंसमर्थं न तथा दर्शनमपि न । दि० प्र० । 2 सौगतः स्मरणदर्शनज्ञानादि-वासनाजनितं विकल्पज्ञानं तत् पूर्वोत्तरपर्याययोरेकत्वं संकलयतीति चेत्स्यात्तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम् । दि० प्र० । 3 वासना । दि० प्र० । 4 तत्प्रत्यभिज्ञानमकारणकं न भवति चेत्तदाबुद्धेः सञ्चरणं न स्यात् = प्रत्यभिज्ञानेन ग्राह्यस्य संतत्या प्रवर्तमानस्यैकत्वस्याभावे बुद्धेः सञ्चरणं नहि । कस्मान्मूलतो विनाशादन्याधीनं जायते यतः । दि० प्र० । 5 बुद्धेरनुत्पादप्रसङ्गात् । दि० प्र० ।

मदाक्षं तदेव स्पृशामीति पूर्वोत्तरपरिणामयोरेकद्रव्यात्मकत्वेन¹ गमनासंभवात्, ततोन्वयस्य बुद्धिसंचरणस्येहाप्रस्तुतत्वात् । तथाविधैकत्ववासनावशाद्बुद्धिसंचरणं न पुनः कथंचिन्नित्यत्वादिति चेन्न; कथंचिन्नित्यत्वाभावे² संवेदनयोर्वास्यवासकभावायोगात्कार्यकारणभावविरोधात्³ । ततो बुद्धिसंचरणान्यथानुपपत्तेर्नाकस्मिकं प्रत्यभिज्ञानं विच्छेदाभावाच्च⁴ । इति कथंचिन्नित्यं वस्तु⁵ प्रसाधयति । तथा सर्वं जीवादि वस्तु कथंचित् क्षणिकं, प्रत्यभिज्ञानात् । न चैतत्⁶ क्षणिकत्वमन्तरेण⁷ भवतीत्यकस्मादुपजायते, तद्विषयस्य⁸ कथंचित्क्षणिकस्य विच्छिदसभावात् । न च⁹ तदविच्छिदसिद्धा, कालभेदात्¹⁰, कालभेदस्य च पूर्वोत्तरपर्यायप्रवृत्तिहेतोरसिद्धौ बुद्ध्यसंचरणदोषात् । न च तदिदमिति स्मरणदर्शनबुद्ध्योः संचरणापाये प्रत्यभिज्ञानमुदियात्, तस्य¹¹ पूर्वापरपर्यायबुद्धिसंचरणनिबन्धनत्वात्¹² ।

बौद्ध—‘तदेवेदम्’ इस प्रकार की एकत्व की वासना के निमित्त से ही बुद्धि का संचरण (व्यापार) होता है । किन्तु कथंचित् नित्य होने से नहीं होता है ।

जैन—नहीं ! कथंचित् नित्यत्व के अभाव में स्मरण दर्शन रूप दो ज्ञान में वास्य-वासक भाव ही असंभव है । पुनः वासना कैसे हो सकेगी क्योंकि उनमें कार्य-कारण भाव का विरोध है अर्थात् दोनों ज्ञान तो वास्य है और वासना वासक है । ऐसा वास्य-वासक भाव नहीं है क्योंकि कथंचित् नित्य का भाव मानने पर कार्यकारण भाव भी असंभव है । इसलिये बुद्धि संचरण की प्रत्यभिज्ञान रूप ज्ञान की प्रवृत्ति की अन्यथानुपपत्ति होने से प्रत्यभिज्ञान आकस्मिक भी नहीं है एवं उसमें विच्छेद का भी अभाव है और इसलिये यह प्रत्यभिज्ञान कथंचित् नित्य वस्तु को सिद्ध करता है ।

उसी प्रकार से सभी जीवादि-वस्तुयें कथंचित् क्षणिक हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की विषय हैं एवं यह प्रत्यभिज्ञान क्षणिक के बिना भी संभव नहीं है जिससे कि वह अकस्मात् उत्पन्न हो सके क्योंकि कथंचित् क्षणिक रूप उसके विषय की विच्छिन्ति का अभाव है । उसकी अविच्छिन्न परम्परा असिद्ध भी नहीं है क्योंकि काल भेद पाया जाता है । पूर्वोत्तर पर्याय में प्रवृत्ति हेतुक काल भेद के न मानने पर “तदेवेदम्” इस ज्ञान के असंचरण—न होने रूप दोष का प्रसंग आ जायेगा एवं “तत्, इदं”, इन स्मरण और दर्शन रूप ज्ञान में प्रवृत्ति का अभाव होने पर प्रत्यभिज्ञान भी उदित नहीं हो सकेगा क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञान पूर्वापर पर्याय में ज्ञान की प्रवृत्तिपूर्वक ही होता है ।

1 विषयस्य निरन्वयविनष्टत्वात् । व्या० प्र० । 2 प्रत्यभिज्ञानं कार्यं वासनाकारणम् । व्या० प्र० । 3 निरन्वयविनाशादेव । व्या० प्र० । 4 बाधाभावात् । व्या० प्र० । 5 जीवादि । व्या० प्र० । 6 प्रत्यभिज्ञानम् । दि० प्र० । 7 पर आह एतत्प्रत्यभिज्ञानमकस्मादुपजायते । कोर्थः क्षणिकत्वं बिना भवतीत्युक्ते स्याद्वाद्याह इति न कस्मात्प्रत्यभिज्ञानविषयस्य कथंचित् क्षणिकस्य नैरन्तर्यात् । दि० प्र० । 8 प्रत्यभिज्ञानगोचरस्य । दि० प्र० । 9 क्षणिकम् । दि० प्र० । 10 कालभेदस्यासिद्धत्वपरिहरन्नाह । व्या० प्र० । 11 ताहिः । व्या० प्र० । 12 पूर्वोत्तरपर्यायबुद्धिसंचरणं तस्य प्रत्यभिज्ञानस्य निबन्धनं कारणम् । दि० प्र० ।

[सांख्यः सर्वथा नित्यपक्षे एव प्रत्यभिज्ञानं मन्यते किन्तु जैनाचार्याः कथञ्चित् क्षणिके मन्यते ।]

ननु च^१ सर्वं नित्यं^२ सत्त्वात् क्षणिके स्वसदसत्समये^३थक्रियानुपपत्तेः सत्त्वविरोधात्, इत्यनुमानात् क्षणिकत्वस्य निराकृतेर्न प्रत्यभिज्ञानं तत्साधकं, ^३प्रधानलक्षणविषयाविच्छेद-सद्भावात् कालभेदासिद्धेर्बुद्धयसंचरणदोषानवकाशाद्बुद्धेरेकत्वगमनस्य^४ संचरणस्य सिद्धे-रिति चेन्न, सर्वथा क्षणिकत्वस्यैव बाधनात्, कथञ्चित्क्षणिकस्य स्वसत्समये ^५स्वासत्समये चार्थक्रियोपलब्धेः । सुवर्णस्य हि ^६प्रतिविशिष्टस्य सुवर्णद्रव्यतया सत् एव, कर्माकारतया

[सांख्य सर्वथा नित्य में प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार करता है किन्तु जैनाचार्य कथञ्चित् क्षणिक में प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार करते हैं ।]

सांख्य—“सभी पदार्थ नित्य हैं, क्योंकि सत् रूप हैं, क्षणिक में अपने सत् और असत् समय में अर्थ क्रिया नहीं बन सकती है । अतः क्षणिक में सत्त्व विरोध है ।

इस अनुमान से क्षणिक मत का खण्डन कर देने पर उस क्षणिक को सिद्ध करने वाला प्रत्य-भिज्ञान नहीं है । क्योंकि प्रधान लक्षण विषय का अविच्छिन्न रूप से सद्भाव है एवं आत्मत्वादि स्वभाव का सर्वदा विच्छेद का अभाव होने से काल से भी भेद नहीं है, अतः बुद्धि असंचरण रूप दोष का अवकाश न होने से ‘तदेवेदं’ इस प्रकार से बुद्धि का एकत्वगमन-रूप संचरण सिद्ध ही है । अर्थात् सर्वथा नित्य में ही प्रत्यभिज्ञान होता है, क्षणिक में नहीं ।

जैन—ऐसा आप सांख्यों का मत भी सम्यक् नहीं है । क्योंकि सर्वथाक्षणिक में ही बाधा आती है । परन्तु कथञ्चित् क्षणिक में अपने सत् समय में और अपने असत् समय में दोनों जगह ही अर्थक्रिया की उपलब्धि हो रही है ।

इसी का स्पष्टीकरण—

प्रतिविशिष्ट, पिण्डादि आकार रूप, सुवर्णद्रव्य, सुवर्णद्रव्य से सत् रूप ही है । और कटक, कुण्डल आदि कार्याकार रूप से असत् ही है । पूर्व पर्याय विशिष्ट ही सुवर्ण उत्तर परिणाम विशेष रूप से उत्पन्न होते हुये प्रतीति में आ रहा है एवं यह पर्याय रूप से क्षणिकत्व की प्रतीति परीक्षक तथा अपरीक्षक सभी जन साक्षिक हैं ।

अपने सत् समय में अर्थात् क्षणिक क्षण के समय में कार्य का करना दायें गाय के सींग का बायें सींग को न करने के समान ही असिद्ध है । अतः क्षणिक क्षण के कार्य करने का खण्डन कर दिया है और अपने असत् समय में-सर्वथा क्षणिक में भरे हुए मयूर के केकायित-शब्द बोलने के समान है ।

1 सर्वथा नित्यवादी सांख्यः सर्वथा क्षणिकेवादिनं सौगतं प्रत्यनुमानं रचयति सर्वं जीवादिवस्तु पक्षः सर्वथा सर्वथा नित्यं भवतीति सांख्यो धर्मः सत्त्वात् कस्मात् क्षणिकस्यस्वविद्यमानकाले स्वाविद्यमानकाले वाऽर्थः क्रिया नोत्पद्यते तथा सति क्षणिकत्वे सत्त्वं विरुद्ध्यते इत्यनुमानात् । दि० प्र० । 2 जीवादि । दि० प्र० । 3 आत्मत्वादिमुख्यलक्षणम् । दि० प्र० । 4 अप्रवेशात् । दि० प्र० । 5 स्वसत्समये त्वसत्समये वा । इति पा० । दि० प्र० । 6 व्यक्तस्य । दि० प्र० ।

चासत् एव ¹पूर्वपर्यायाविशिष्टस्योत्तरपरिणामविशेषात्मनोत्पद्यमानस्य² प्रतीतिः परोक्षकेतर-जनसाक्षिका, स्वसत्समये कार्यकरणं सव्यगोविषाणस्येतरविषाणकरणवन्निरस्यमानं, स्वासत्समये च मृतस्य शिखिनः केकायितकरणवदपाक्रियमाणं स्वयमेव व्यवस्थापयति । इति किं नश्चिन्तया, विरोधादिदूषणस्यापि तयैवापसारितत्वात् । सोयमात्मादीनां³ स्वसत्समये एव कर्मादीनां⁴ च स्वासत्समये एव ज्ञानसंयोगादिकारणत्वमनुमन्यमानस्तथा संप्रत्ययादेकस्य स्वसदसत्समये⁵ एवैककार्यकरणं⁶ विरोधादिभिरभिद्रवतीति कथं संप्रत्ययोपाध्यायः⁷ ? सम्यक्प्रतीयमानेपि विरोधमनुरुध्यमानः⁸ क्व पुनरविरोधं बुध्येत ? द्रव्यपर्याययोरभेदैकान्त-

अतः असत् को कार्य करने का जो निराकरण है वह स्वयेव कथंचित् क्षणिक की व्यवस्था कर देता है । अर्थात् कथंचित् क्षणिक में अपने सत् समय में एवं असत् समय में कार्य होता है । सर्वथा क्षणिक में नहीं । वह इस प्रकार की व्यवस्था कर देता है । इसलिये आप लोगों को हम जैनियों की चिन्ता से क्या प्रयोजन है क्योंकि विरोध आदि दूषण भी उसी प्रतीति के द्वारा ही अपसारित (दूर) कर दिये गये हैं ।

आत्मादि अपने सत् समय में ही और कर्मादि अपने असत् समय में ही ज्ञान संयोगादि के कारण हैं । इस प्रकार से स्वीकार करता है । किन्तु उसी प्रकार के संप्रत्यय सभ्यज्ञान से एक सुर्णाद्रि द्रव्य का अपने सत्, असत् समय में ही एक कार्य करने का विरोध आदि के द्वारा निराकरण करता है । इस हेतु से वह दुराग्रही सम्यग्ज्ञान का उपाध्याय—जानने वाला कैसे कहा जा सकता है ? सत्, असत् समय में कार्यकारीरूप से द्रव्य की सम्यक् प्रकार से प्रतीति के होने पर भी एक जगह युगपत् दोनों के विरोध को अनुरोध करता हुआ पुनः वह किस वस्तु में अविरोध को समझेगा ? जो कि अनुभव में नहीं आ रही है । ऐसी द्रव्य और पर्याय में एकांत से अभेद की प्रतीति को अपने सिद्धान्त के अनुराग मात्र से ही जो अविरोध विषयक कहता है उस नैयायिक या सांख्य के इस कथन में बड़े दुराग्रह के सिवाय और क्या कारण हो सकता है ? अर्थात् इस प्रकार के कथन में बहुत बड़ा दुराग्रह ही कारण है । अन्य कुछ नहीं है ।

इस तरह सर्वथा क्षणिक पक्ष में बाधा आ जाती है । अतएव कथंचित् क्षणिकत्व को सिद्ध करने में प्रत्यभिज्ञान प्रसिद्ध है, जो कि अनुमान से विरुद्ध नहीं है । वह प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध नहीं है । सभी को इदानीं तनरूप से प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभव में आ रहा है । उस प्रत्यक्ष के द्वारा उसका अतीत अनागत रूप से अनुभव मान होने पर अनादि अनन्त परिणामात्मक वस्तु के अनुभव का प्रसंग आ जाने से योगोपने की आपत्ति आ जायेगी क्योंकि सांप्रतिक रूप से अनुभव ही क्षणिकत्वानुभव रूप है । क्षण

1 पिण्डाद्याकारः । व्या० प्र० । 2 कर्त्री । व्या० प्र० । 3 नैयायिकः । व्या० प्र० । 4 क्रिया । व्या० प्र० । 5 स्वसत्समये एवैक । इति पा० । दि० प्र० । 6 कर्म । व्या० प्र० । 7 विश्वासोपाध्यायः । दि० प्र० । 8 कर्त्तरि प्रयोगेयं व्या० प्र० ।

प्रतीति स्वसमयानुरागमात्रेणानुभूयमानामप्यविरुद्धविषयां परिभाषते इति किमन्यत्कारणं महतोभिनवेशात् ? तदेव^१ ^२कथञ्चित्^३ क्षणिकत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानं नानुमानविरुद्धम् । नापि प्रत्यक्षविरुद्धं ^४सर्वस्येदानीन्तनतया ^५प्रत्यक्षेणानुभवात्, तेन तस्यातीतानागततयानुभवनेऽनाद्यनन्तपरिणामात्मकस्यानुभवप्रसङ्गाद्योगित्वापत्तेः^६, साम्प्रतिकतयानुभवस्यैव क्षणिकत्वानुभवरूपत्वात्^७, क्षणमात्रस्यैव साम्प्रतिकत्वोपपत्तेः, ^८पूर्वोत्तरक्षणयोः साम्प्रतिकत्वेऽनाद्यनन्तक्षणसंततैरपि साम्प्रतिकत्वानुषङ्गादतीतानागतव्यवहारविलोपात् । न चैवं क्षणिकैकान्तस्य^९

मात्र को ही सांप्रतिक कहा जाता है । पूर्वोत्तर क्षण को भी सांप्रतिक का मान लेने पर अनादि अनन्त क्षण संतति भी सांप्रतिक — वर्तमान काल की बन जायेगी पुनः अतीत अनागत काल के व्यवहार का ही लोप हो जायेगा । किन्तु इस प्रकार का क्षणिकैकान्त प्रत्यक्ष से प्रसिद्धि में नहीं आ रहा है । अतः कथञ्चित् क्षणिक का विरोध नहीं है ।

पर्यायाकार से पदार्थ का इदानींतन (इस समय) रूप से अनुभव के विच्छेद होने पर भी द्रव्य रूप से उसका अविच्छेद है अर्थात् मृत्पिण्ड रूप पर्याय का वर्तमान काल में इदानींतन रूप से अनुभव है, किन्तु स्थास काल में वह विच्छिन्न हो जाता है । स्थास का भी अपने वर्तमान काल में इदानींतन रूप से अनुभव है तथा कोश काल में नहीं है, किन्तु मिट्टी रूप द्रव्य का मृत्पिण्ड, स्थास, कोश, कशूलादि काल में सर्वदा ही — 'इस समय मिट्टी है, इस समय मिट्टी है,' इस प्रकार का अनुभव नष्ट नहीं होता है ।

१ आत्मादेरपिद्रव्याकारेण सतः ज्ञानादिपर्यायाकारेणासत एव कार्यकारणात् । कर्मदेरपि पर्यायाकारेणासतः द्रव्याकारेण सत एव संयोगादिकार्यकारणाद्द्रव्यपर्याययोरत्यन्तभेदाभावात् । = यत एवं तत्तस्माद्दस्तुनः कथञ्चित् क्षणिकत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानमनुमानेन विरुद्धं न । प्रत्यक्षेणापि विरुद्धं न । कस्मात् । सर्वस्यार्थस्य साम्प्रतिकतयाऽऽयक्षेणानुभवनात् = अनाद्यनन्तपरिणामनस्वभावस्य तस्यार्थस्य तेन प्रत्यक्षेणातीतानागततयानुभवने सति अर्थस्यानुभवः प्रसजति । दि० प्र० । २ एवं किमिति प्रतिपाद्यते यावता द्रव्यपर्याययोः भेदप्रतीतौ अविरोधं बुद्ध्यामहे अतः एककारणं विरोधादिभिरभिद्रुत मेवेत्युक्ते आह । दि० प्र० । ३ उक्तप्रकारेण । दि० प्र० । ४ वस्तुनः । व्या० प्र० । ५ अन्यथा । व्या० प्र० । ६ अत्राह परः । अनाद्यनन्तपरिणामात्मकस्यार्थस्य प्रत्यक्षेणानुभवः प्रसजतु को दोष इत्युक्ते स्यात्तदा संसारिणां योगित्वमायाति = वर्तमानत्वेन योनुभवस्तदेव क्षणिकत्वानुभवरूपं कुतः क्षणमात्रमेव साम्प्रतिकत्वमुपपद्यते = पूर्वोत्तरपर्याययोः साम्प्रतिकत्वे सति को दोष इत्युक्ते स्यात् अनाद्यनन्तपर्यायसंततैरपि वर्तमानत्वमायाति । एवं सति को दोष इत्युक्ते स्यादयमतीतकालोपमनागतकाल इति व्यवहारो विलुप्यते । दि० प्र० । ७ कुत एतदित्युक्ते आह । दि० प्र० । ८ अन्यथा शब्दार्थः । व्या० प्र० । ९ अत्राह परः सर्वथा क्षणिकः प्रत्यक्षेण सिद्धयति तथा कथञ्चिद्क्षणिकत्वं विरुद्धयते स्यान्न चैवं कुतः वस्तुनः पर्यायाकारत्वेन साम्प्रतिकतयानुभवविच्छेदे सत्यपि द्रव्यत्वेन तस्यानुभवस्याविच्छेदादनुभवविच्छेदे सति द्रव्यत्वं विरुद्धयते = तर्हि द्रव्यत्वं किमित्युक्ते अनवरतं विच्छेदरहितवर्तमानत्वमेव द्रव्यत्वम् । अतः प्रत्यक्षप्रमाणेन सर्वथा क्षणिकं न व्यवतिष्ठते सर्वथा नित्यवत् । = यथा सर्वथैकान्ते प्रत्यक्षं नोत्पद्यते तथा क्षणिकैकान्तद्वयेपि प्रत्यभिज्ञानस्य नोत्पत्ति एवं वस्तु कथञ्चिन्नित्यमेव कथञ्चिदनित्यमेव इत्यनेकान्तः सिद्धः । दि० प्र० ।

प्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः कथंचिदक्षणिकत्वविरोधः^१, ^२पर्यायाकारतयार्थस्येदानीन्तनतयानुभव-
विच्छेदेपि^३ द्रव्यतया ^४तदविच्छेदात्, ^५तद्विच्छेदे द्रव्यत्वविरोधात् ! शच्चदविच्छिन्नेदानीन्त-
नत्वस्य ^६द्रव्यत्वादनित्यत्वैकान्तस्याव्यवस्थितेनित्यत्वैकान्तवत् । तदेकान्तद्वयेपि परामर्श-
प्रत्ययानुपपत्तेरनेकान्तः, ^७स्यान्नित्यमेव सर्वं स्यादनित्यमेवेति सिद्धः ।

[स्थित्यभावे प्रत्यभिज्ञानं न सम्भवति ।]

स्थित्यभावे हि प्रमातुरन्येन दृष्टं नापरः प्रत्यभिज्ञातुमर्हति । पूर्वोत्तरप्रमातृक्षणयोः
कार्यकारणभावलक्षणे संबन्धविशेषेपि पित्रेव दृष्टं पुत्रो न प्रत्यभिज्ञातुमर्हति । तयोर्रूपा-

और यदि द्रव्य से भी अनुभव का विच्छेद मान लेवोगे तब तो द्रव्य का ही विरोध हो
जायेगा । क्योंकि शाश्वत (हमेशा) अविच्छिन्न रूप इदानींतन प्रत्यय ही द्रव्य है इसलिये नित्यत्वैकान्त
के समय अनित्यत्वैकान्त की व्यवस्था भी नहीं बनती है ।

इसीलिये दोनों प्रकार के एकांत की मान्यता में भी परामर्श-प्रत्यय संकलन रूप प्रत्यभिज्ञान
के न हो सकने से अनेकांत की सिद्धि हो जाती है ।

कथंचित् सभी जीवादि वस्तु नित्य हैं तथा कथंचित् अनित्य हैं । इस प्रकार से अनेकांत सिद्ध
हो जाता है ।

[स्थिति को न मानने पर प्रत्यभिज्ञान संभव नहीं है ।]

“एवं प्रमाता की स्थिति के अभाव में अन्य क्षण के द्वारा जाने गये को अन्य क्षण प्रत्यभिज्ञान
करने के लिये समर्थ नहीं है ।”

प्रमाता के पूर्व क्षण और उत्तर क्षण में कार्यकरण लक्षण सम्बन्ध विशेष के होने पर भी जैसे
पिता के द्वारा देखे गये-जाने गये का पुत्र प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सकता है ।

उन कार्यकारण भावों में उपादान-उपादेय लक्षण कोई एक अतिशय विशेष होता हुआ भी
पृथक्त्व का (भेद का) निराकरण नहीं करता है ।

एवं पृथक्त्व के मानने पर पूर्वापर क्षण में प्रत्यवमर्श-संकलन रूप ज्ञान नहीं हो सकता है ।
क्योंकि पूर्वापर क्षण में जो पृथक्त्व है वही अन्यत्र पिता-पुत्र में भी प्रत्यवमर्श के अभाव में कारण है ।
सर्वत्र पिता, पुत्र एवं प्रमाता के पूर्वोत्तर क्षण में वह पृथक्ता समान ही है ।

1 अभावस्थासः । दि० प्र० । 2 कोशप्रवर्तनकाले स्थानस्यानुभावाभावे । दि० प्र० । 3 द्रव्यतयानुभवच्छेदम् । दि०
प्र० । 4 अनुभव । दि० प्र० । 5 कुतः । दि० प्र० । 6 ततश्च । व्या० प्र० । 7 भाष्यानुसारितया प्रकारान्तरेण
व्याख्यान्ति स्यान्नित्यमेवेति । दि० प्र० ।

दानोपादेयलक्षणः सन्नप्यतिशयः पृथक्त्वं^१ न निराकरोति ! पृथक्त्वे^२ च पूर्वापरक्षणयोः प्रत्यवमर्शो न स्यात् । यदेव^३ हि पृथक्त्वं तदेवान्यत्रापि प्रत्यवमर्शाभावनिबन्धनं, सर्वत्र तदविशेषात् । यदि पुनरेकसंततिपतितेषु^४ प्रत्यवमर्शो न पुनर्नानासंततिपतितेषु पृथक्त्वाविशेषेपि वासनाविशेषसद्भावादिति मतं तदा सैवैकसंततिः क्वचिदेव कुतः सिद्धा । प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्तर्हि एकसंतत्या प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानबलाच्चैकसंततिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयणमेतत् । न च पक्षान्तरे समानं, स्थितेरनुभवनात् । न ह्येकद्रव्यसिद्धिः । प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाच्चैकद्रव्यसिद्धिः स्याद्वादिभिरिष्यते, येन तत्पक्षेपि परस्पराश्रयणं, भेदज्ञानाद् भेदसिद्धिवदभेदज्ञानात् स्थितेरनुभवाभ्युपगमात् । तद्विभ्रमकल्पनायामुत्पादविनाशयोरनाशवासः, तथानुभवनिर्णयानुपलब्धेर्यथा^७ स्वलक्षणं परिगीयते । सोयं^८ प्रतिक्षणमुत्पाद-

बौद्ध—एक संतति-पतित एक संतानवर्ती पूर्वोत्तर क्षणों में प्रत्यवमर्श है, किन्तु नाना संतानवर्ती पिता, पुत्रादि लक्षण पूर्वोत्तर क्षणों में प्रत्यवमर्श नहीं है । यद्यपि दोनों में भी भेद समान है फिर भी वासना विशेष का सद्भाव होने से ही ऐसा होता है ।

जैन—तब तो वह एक ही संतति कहीं-स्वकीय-क्षणों में ही कैसे सिद्ध होगी, पिता पुत्रादि में वह एक संतति क्यों नहीं सिद्ध होगी ?

बौद्ध—प्रत्यभिज्ञान से वह एक संतति स्वकीय क्षणों में ही सिद्ध होती है अन्यत्र नहीं ।

जैन—तब तो एक संतति के सिद्ध होने से प्रत्यभिज्ञान सिद्ध होगा और प्रत्यभिज्ञान बल से एक संतति सिद्ध होगी । इस तरह इतरेतराश्रय दोष स्पष्ट ही है । एवं पक्षान्तर—स्याद्वाद पक्ष में यह इतरेतराश्रय दोष समान है । आप ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि स्थिति का अनुभव आ रहा । एक द्रव्य की सिद्धि से प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि हो, तथा प्रत्यभिज्ञान से एक द्रव्य की सिद्धि हो ऐसा हम स्याद्वादियों ने नहीं माना है । जिससे की आप हम स्याद्वादियों के पक्ष में यह इतरेतराश्रय दोष आरोपित कर सकें ।

भेदज्ञान से भेद की सिद्धि के समान ही स्याद्वादियों ने अभेद ज्ञान से स्थिति का अनुभव भी स्वीकार किया ही है । अर्थात् मृत्पिंड, स्थास आदिकों में जैसे—प्रतिभासित होता है उसी प्रकार मिट्टी रूप से अभेद भी प्रतिभासित हो ही रहा है ।

१ भेदम् । व्या० प्र० । २ अस्वेतदित्याह । व्या० प्र० । ३ पूर्वोत्तरक्षणयोः । व्या० प्र० । ४ अत्राह सौगतः हे स्याद्वादिन् यदि देवदत्तसन्तानः तेषु पूर्वोत्तरक्षणेषु प्रत्यभिज्ञानं घटते वासनाविशेषात् । पृथक्त्वेनाविशेषेपि न पुनः देवदत्तयजदत्तसन्तानपतितेषु = स्या-इतितवाभिप्रायः तदा सा एकसन्ततिरेवक्वचिद्वस्तुनि कुतः सिद्धा = प्रत्यभिज्ञानात् । तर्हि एकसन्ततिप्रत्यभिज्ञानयोरन्योन्याश्रयः सिद्धः । दि० प्र० । ५ पूर्वापरक्षणयोः । दि० प्र० । ६ उत्पादविनाशयोस्तुस्थितिरुपतया निर्णयान्नावात् । स्थितिविभ्रमकल्पना न युक्तेत्यभिप्रायः । दि० प्र० । ७ नाशोत्पादप्रकारेण । दि० प्र० । ८ मूलतात्पर्यं सूरयः प्राहुः । व्या० प्र० । ९ सौगतः ।

विनाशौ सर्वथा स्थितिरहितौ सकृदप्यनिश्चिन्वन्नेव¹ स्थित्यनुभवनिर्णयं विभ्रान्तं कल्पयतीति कथं न निरात्मक² एव ?

[नित्यैकांतपक्षेऽपि प्रत्यभिज्ञानं न संभवति]

तत्रैतत्स्यात्³ स्वभावाविनिर्भागेऽपि न संकलनं दर्शनक्षणान्तरवत् । न ह्येकस्मिन्दर्शनविषये क्षणेऽविनिर्भागेऽपि⁴ प्रत्यभिज्ञानमस्तीति । सत्यमेकान्ते एवायं⁵ दोषः⁶, सर्वथा नित्ये पौर्वापर्यायोगात् प्रत्यभिज्ञानासंभवात्⁷ । ततः क्षणिकं⁸ कालभेदात् । न चायमसिद्धः,

“उस अनुगताकार अनुभव ज्ञान में विभ्रम की कल्पना करने पर उत्पाद, विनाश में विश्वास नहीं हो सकेगा, क्योंकि स्थिति के बिना नाशोत्पाद के अनुभव का निर्णय अनुपलब्ध है, अर्थात् ढूँढते हुए उस रूप से अनुभव नहीं हो रहा है, जैसा कि आप बौद्धों ने स्वलक्षण को स्वीकार किया है।”

आप बौद्ध प्रतिक्षण ही सर्वथा स्थिति से रहित उत्पाद और विनाश को एक बार भी निश्चित न करते हुए ही “स्थिति के अनुभव का निर्णय विभ्रान्त है” ऐसा कहते हैं। सो आप निरात्मक चैतन्य शून्य ही क्यों नहीं हैं। अर्थात् अचेतन ही हैं।

[सर्वथा नित्यैकांत में भी प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है ।]

‘इसी प्रकार से नित्यैकांत पक्ष में भी दूषण दिखाते हैं। स्वभाव से अविनिर्भाग—निरंश एक रूप ऐसे नित्यैकांत पक्ष में भी संकलन ज्ञान नहीं है। जैसे कि दर्शन क्षण से भिन्न में संकलन ज्ञान नहीं है।’ प्रमाता के क्षणों से अन्य विषय लक्षण क्षण, दर्शन, क्षणांतर कहलाता है। जैसे उसमें प्रत्यभिज्ञान नहीं है। वैसे ही सर्वथा नित्य पक्ष में भी प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के विषयभूत के क्षण में निरंशपना होने पर भी प्रत्यभिज्ञान है, ऐसा आप नहीं कह सकते। इसलिये एकांत में ही यह दोष सत्य है।” क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थ में पूर्वापर

1 निर्विकल्पकप्रत्यक्षाविषयत्वात् । व्या० प्र० । 2 पूर्वोक्तमते एतद्वक्ष्यमाणं भवेत्किमित्युक्ते स्वभावस्य निरंशे सति प्रत्यभिज्ञानं न क्षणान्तरवत् । यथा सर्वथानित्ये । न केवलं क्षणिके । दि० प्र० । 3 इदानीमक्षणिकैकान्ते परामर्श-प्रत्ययानुपपत्तिं दर्शयति । व्या० प्र० । 4 निरंशे । दि० प्र० । 5 केवलदर्शनशोचरे निरंशे स्वलक्षणे प्रत्यभिज्ञानं न ह्यस्ति इत्येकान्ते सर्वथाक्षणिके अयं प्रत्यभिज्ञानसम्भवलक्षणो दोषः सम्भवतीति सम्बन्धः । दि० प्र० । 6 प्रत्यभिज्ञानाभावलक्षणः । दि० प्र० । 7 यथा सर्वथा क्षणिके तथा सर्वथा नित्ये प्रत्यभिज्ञानं न सम्भवति । कुतः पूर्वापर-विभागाघटनात् = यत एवं ततः जीवादि वस्तु कथञ्चित् क्षणिकं भवतीति साध्यो घर्मः कालभेदादिति हेतुरसिद्धो न = आह परी दर्शनकालप्रत्यभिज्ञानकालयोर्भेदो नास्ति इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । भेदाभावे सति तदुभयाभावः प्रसजति प्रत्यभिज्ञानकालादर्शनकालस्य भेदे सति तस्य दर्शनस्य निर्णयो नोत्पद्यते दर्शनकालात्प्रत्यभिज्ञानकालस्य भेदे सति पूर्वापरपर्यायव्याप्येकप्रत्यभिज्ञानं न संभवति = यत एवं ततः स्याद्वादिनां मते सविकल्पकदर्शनं कालावग्रहादिज्ञान-चतुष्कनिश्चयनिमित्तं भवति प्रत्यभिज्ञानकालात् भिन्न एव प्रत्यभिज्ञानकालश्च दर्शनकालाद्भिन्न एव तथावग्रहादि-निश्चयहेतुदर्शनस्मरणोभयसंकलनकारणमिति ज्ञेयम् । दि० प्र० । 8 ननु सर्वथा । व्या० प्र० ।

दर्शनप्रत्यभिज्ञानसमयोरभेदे तदुभयाभावप्रसङ्गात् दर्शनसमयस्याभेदे^१ तन्निर्णयानुपपत्तेः, प्रत्यभिज्ञानसमयस्याभेदे^२ पूर्वापरपर्यायव्याप्येकद्रव्यप्रत्यवमर्शासंभवात् ।^३ ततो दर्शनकालोऽवग्रहेहावायधारणात्मकनिर्णयहेतुभिन्न एव, प्रत्यभिज्ञानकालश्च^४ पुनस्तद्दर्शनस्मरणसंकलनहेतुरिति^६ प्रतिपत्तव्यम् । किं च^७ पक्षद्वयेऽपि ज्ञानासंचारानुषङ्गादनेकान्तसिद्धिः । न हिनित्यत्वैकान्तपक्षवत्क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि ज्ञानसंचारोऽस्ति, तस्यानेकान्ते एव प्रतीतेः । केवलम-

सम्बन्ध के न होने से प्रत्यभिज्ञान असंभव है । “इसलिये जीवादि वस्तु कथंचित् क्षणिक हैं, क्योंकि दर्शन और प्रत्यभिज्ञान में कालभेद पाया जाता है ।”

यह हमारा हेतु असिद्ध भी नहीं है । “दर्शन-वर्तमान काल का अनुभव और प्रत्यभिज्ञान इन दोनों के समय में अभेद मान लेने पर तो उन दोनों के अभाव का प्रसंग आ जाता है ।” प्रत्यभिज्ञान के समय से दर्शन के समय में अभेद मानने पर उसका निर्णय नहीं बन सकेगा । प्रत्यभिज्ञान समय में अभेद मानने पर पूर्वोपर पर्यायों में व्यापी एक द्रव्य का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा । इसलिये अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणात्मक निर्णय हेतु दर्शन काल भिन्न ही है । तथा वस्तु का दर्शन और स्मरण रूप संकलन हेतुक प्रत्यभिज्ञान काल भी भिन्न ही है । ऐसा समझना चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि सर्वथा क्षणिक पक्ष और नित्य पक्ष इन दोनों ही पक्षों में भी प्रत्यक्षादि ज्ञानों के असंचार का प्रसंग आ जाने से कथंचित् क्षणिक, कथंचित् नित्य रूप अनेकांत की सिद्धि हो जाती है । नित्यत्वैकांत पक्ष के समान क्षणिकैकांत पक्ष में भी ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं है क्योंकि वह ज्ञान का व्यापार अनेकांत में ही अनुभव में आता है ।

यदि अनेकांत में ही ज्ञान का संचार है तब तो अनेकांत की प्रत्यक्ष से ही प्रतीति होने से उसकी सिद्धि के लिये “प्रत्यभिज्ञानमानत्वात्” इत्यादि अनुमान निरर्थक ही है, ऐसा प्रश्न होने से कहते हैं कि—

केवल अपोद्धार कल्पना से अर्थात् भेद कल्पना से ही कथंचित् जात्यंतर स्वरूप प्रत्यभिज्ञानादि निमित्तक वस्तु में भी स्थिति, उत्पत्ति और व्यय की व्यवस्था की जाती है । परस्पर निरपेक्ष सर्वथा नित्यनित्यात्मक जात्यंतर पक्ष स्वीकार करने पर अपोद्धार कल्पना भेद कल्पना के न हो सकने से स्थिति, उत्पत्ति और विनाश रूप स्वभाव भेद की व्यवस्था अघटित है । जैसे कि सर्वथा अजात्यान्तर में उत्पाददि व्यवस्था असंभव है ।

१ अवग्रहादिरूपदर्शनस्य । व्या० प्र० । २ दर्शनसमयात् । व्या० प्र० । ३ समयाभेदे उभयाभावप्रसङ्गो यतः । व्या० प्र० । ४ वसः । व्या० प्र० । ५ प्रत्यभिज्ञानकालः । व्या० प्र० । ६ भिन्नः । व्या० प्र० । ७ किञ्च विशेष-प्ररूपणे सर्वथा नित्ये सर्वथा क्षणिके बुद्धयसञ्चारदोषो लगति यतस्ततोनेकान्तः सिद्धयति यथा नित्यत्वैकान्ते ज्ञान-सञ्चारो न ह्यस्ति तथा क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि कस्मादेकान्त एव ज्ञानसञ्चारस्य प्रत्ययात् । दि० प्र० । ८ ज्ञानसञ्चारस्य । दि० प्र० ।

पोद्धारकल्पनया^१ कथञ्चिज्जात्यन्तरेपि वस्तुनि प्रत्यभिज्ञानादिनिबन्धने स्थित्यादयो व्यवस्था-
प्येरन्, सर्वथा जात्यन्तरे तदपोद्धारकल्पनानुपपत्तेः स्थित्यादिस्वभावभेदव्यवस्थानाघटनात्,
सर्वथा^२ तदजात्यन्तरवत् ।

[एकस्मिन् वस्तुनि उत्पादादित्रयेण स्वभावभेदे सत्यपि नानात्वविरोधादिदोषा न संभवन्ति ।]

न च स्वभावभेदोपलम्भेषु^३ नानात्वविरोधसङ्करानवस्थानुषङ्गश्चेतसि ग्राह्यग्राह-
काकारवत् । न^४ ह्येकस्य वस्तुनः सकृदनेकस्वभावोपलम्भे नानात्वप्रसङ्गः, संविद्धेद्यवेदका-
काराणां नानाज्ञानत्वप्रसङ्गात् । तेषामशक्यविवेचनत्वादेकज्ञानत्वे स्थितिजन्मविनाशानामपि

भावार्थ—मतलब यह है कि वस्तु को सर्वथा क्षणिक मान लेने से या सर्वथा नित्य मान लेने से उसमें भेद की सिद्धि नहीं होती है । और भेद के न होने से उत्पाद आदि तीनों स्वभाव की व्यवस्था नहीं बन सकती है । ऐसे ही सर्वथा नित्यानित्य रूप पक्ष में या सर्वथा अनुभय पक्ष में भी भेद कल्पना के न होने से उत्पाद आदि स्वभाव नहीं हो सकते हैं । अतः सर्वथा एकांत पक्ष श्रेयस्कर नहीं है ।

[एक वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से स्वभाव भेद होने पर भी नानात्व, विरोध आदि दोष संभव नहीं हैं ।]

एक ही वस्तु में उत्पादादि त्रय रूप स्वभाव भेद की उपलब्धि होने पर भी नानात्व, विरोध, संकर, अनवस्था आदि दोषों का प्रसंग भी नहीं आता है । जिस प्रकार से एक चित्त रूप ज्ञान क्षण में ग्राह्य, ग्राहकाकार के मानने पर नानात्व, विरोध आदि दोष नहीं माने हैं ।

एक ही वस्तु में एक साथ अनेक स्वभावों की उपलब्धि होने पर भी उसमें अनेकपना नहीं है । अन्यथा विज्ञानाद्वैत में भी वेद्य वेदाकाकार होने से नानापने का प्रसंग आ जायेगा ।

यदि आप कहें कि ज्ञान में वेद्य-वेदाकाकार का विवेचन करना अशक्य है अतएव हम उस ज्ञान को एक रूप स्वीकार करते हैं तब तो किसी वस्तु में स्थिति, उत्पत्ति और विनाश रूप तीन स्वभाव होने पर भी एकपना ही रहे क्या बाधा है, क्योंकि दोनों में कोई अंतर नहीं है । किसी एक

१ कथञ्चिन्नित्यात्मके प्रत्यभिज्ञानादिकारणे वस्तुनि केवलं भेदविवक्षया स्थित्युत्पत्तिविनाशाधर्माः स्याद्वा-
दिभिव्यवस्थापिते । कुतः सर्वथा उभयात्मके तेषां स्थित्यादीनां भेदकल्पना नोत्पद्यते यतः पुनः कुतः स्थित्यादि-
स्वभावस्य भेदव्यवस्थासंभवात् यथा सर्वथाऽनुभयात्मके वस्तुनि । दि० प्र० । २ जात्यन्तरमुभयरूपं तत्प्रतिषेधो-
नित्यमनित्यरूपं वाऽजात्यन्तरं तत्र यथा स्थित्यादिस्वभावभेदव्यवस्थानाघटनं तदपोद्धारकल्पनानुपपत्तिश्च यथेतिशेषः ।
व्या० प्र० । ३ कथञ्चिन्नित्यानित्यभेदेव वस्तुनि । व्या० प्र० । ४ एकस्य वस्तुनः युगपदनेकस्वभावदर्शनेपि-
नानात्वदोषो न लगति लगति चेत्तदासंविदादीनां त्रयाणां नानाज्ञानत्वमायाति तेषां संविदादीनां विवेक्तुमशक्यत्वात्
एकज्ञानत्वे सति स्थितिजन्मविनाशानामपि क्वचिदेकत्र वस्तुनि एकवस्तुत्वं भवतु । कुतः । तस्याशक्यविवेचनत्वस्य-
विशेषाभावात् । दि० प्र० ।

क्वचिदेकवस्तुत्वमस्तु, तदविशेषात् । क्वचिदेकत्र ¹रूपरसादीनामप्यशक्यविवेचनानामेकवस्तु-
त्वापत्तिर्नानिष्टकारिणो, तेषां ²नानावस्तुत्वानिष्टेः । न चात्माकाशादीनां³ देशाभेदेप्यशक्य-
विवेचनत्वं, तेषां ⁴परैकद्रव्यतादात्म्याभावात्⁵ । सत्तैकद्रव्यतादात्म्ये ⁶पुनरेकवस्तुत्व-
मिष्टमेव स्याद्वादिनाम् “एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्” इति वचनात् । ततो न वैयधिकरण्यम् ।
⁷एतेनोभयदोषप्रसङ्गोपास्तो⁸, वेद्याद्याकारात्मबोधवदुत्पादाद्यात्मवस्तुनो ⁹जात्यन्तरत्वात्,
¹⁰अचौरपारदारिकवच्चौरपारदारिकाभ्याम् । न चैवं विरोधप्रसङ्गः, ¹¹तस्यानुपलम्भसाधनादे-
कत्रैकदा ¹²शीतोष्णस्पर्शवत्, स्थित्यादिषु चोपलम्भसद्भावादेकवस्तुन्येकदानुपलम्भासिद्धेः

विजौरे आदि में रूप, रस आदि का भी अशक्य विवेचन होने से एक वस्तु का प्रसंग आ जाना कोई अनिष्टकारी नहीं है । क्योंकि उन रूप-रसादिकों में अनेक वस्तुपना इष्ट नहीं है ।

तथैव आत्मा, आकाशादिकों में देश का अभेद होने से अशक्य विवेचन है ऐसा भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उनमें अन्य लोगों ने भी एक द्रव्य तादात्म्य नहीं माना है । सत्ता रूप एक द्रव्य से तादात्म्य को स्वीकार करने पर तो सभी वस्तु में (आत्मा, आकाशादिकों में) एक वस्तुत्व एकत्व मानना हम स्याद्वादियों को इष्ट ही है । सत्ता लक्षण एक द्रव्य अन्तत पर्यायात्मक है अर्थात् सत्ता लक्षण एक द्रव्य है जो कि आत्मा, आकाशादिक रूप अनेक प्रयाय वाला है । ऐसा आगम वाक्य है । इस सत्ता की अपेक्षा नानात्व के न होने से वैयधिकरण्य दोष भी नहीं आता है । और इसी कथन से उभय पक्ष में—एकत्व पक्ष में, तथा अनेकत्व पक्ष में जो सीगत एवं अद्वैतवादी ने दोष दिये हैं उनका भी खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये । क्योंकि वेद्यवेदकात्मक ज्ञान के समान उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक वस्तु जात्यन्तर रूप मानी जाती है । जैसे चौर से अचौर एवं परस्त्री लम्पट से अपरस्त्री लम्पट भिन्न है । इस प्रकार से एक वस्तु में स्थिति, उत्पत्ति, व्यय का विरोध भी

1 अशक्यविवेचनत्वाविशेषात् । दि० प्र० । 2 आशङ्क्य । दि० प्र० । 3 पराह आत्माकाशादीनां यस्यां द्रव्याणामेकक्षेत्रापेक्षयाऽभेदो अशक्यविवेचनत्वमस्तु इत्युक्ते स्याद्वादी वदति एवं न । कस्मात्तेषां मध्येऽन्यतमस्य परस्मिन् एकस्मिन् द्रव्ये ऐक्याभावात् । तत्तस्मात् एकद्रव्यं न स्याद्वादिनां मते तादात्म्ये सति पुन एकवस्तुत्वमभिमतमेकं द्रव्यमनन्तपर्यायमिति सिद्धान्तात् । दि० प्र० । 4 भिन्नं यदेकं द्रव्यमात्मादिभ्यः । व्या० प्र० । 5 रसादीनां मातुलिङ्गलक्षणपरद्रव्येण तादात्म्याद्यथा अशक्यविवेचनत्वं न तथात्र । दि० प्र० । 6 अपि । व्या० प्र० । 7 एक वस्तुनि स्थित्यादीनां स्वभावभेदेपि अशक्यविवेचनत्वात् नानात्वदोषाभावः । कोर्यः एक वस्तुत्वमेव । यत एवं तत एकस्मिन् वस्तुनि भिन्नाधिकरणत्वमपि न संभवति । एतेन वैयधिकरण्यदोषनिराकरणेन वस्तुनि सदसदात्मकादिलक्षणे सति सत्त्वे असत्त्वं न । असत्त्वे सत्त्वं नेत्युभयदोषप्रसङ्गोपि निराकृतः । दि० प्र० । 8 सर्वथा नित्यानित्यपक्षं दोषः क्रियाकारकत्वाभावलक्षण । दि० प्र० । 9 जात्यन्तरं सिद्धं यथा । व्या० प्र० । 10 स्थित्युत्पादविनाशेभ्यो धर्मैभ्यः स्थित्यादित्रयस्वरूपं धर्मः ? भिन्नं यथा संविद्वेद्यवेदकारधर्मैभ्यः । संविदादि-त्रयात्मकं ज्ञानं भिन्नं — इदानीं लौकिकदृष्टान्तमाह । यथा चौरादचौरो भिन्नः पारदारिकादपारदारिकः । दि० प्र० । 11 अनुपलम्भ एव साधनं यस्येति वसः । व्या० प्र० । 12 स्थित्यादेरपि एकवस्तुन्यनुपलम्भो भविष्यति ततश्च विशेषोनुपलम्भप्रकारेण भवेदित्याशङ्क्यामाह । व्या० प्र० ।

संविदि वेद्याद्याकारवत् । एतेन^१ संशयप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, स्थित्याद्युपलम्भस्य चलनाभावात् । तत एव न संकरप्रसङ्गः, स्थित्यात्मन्युत्पादविनाशानुपलम्भादुत्पादविनाशयोश्च^२ स्थित्यनुपलब्धेः^३ । एकवस्तुनि^४ युगपत्स्थित्याद्युपलम्भात्सङ्कर इति चेन्न, परस्परमसङ्कराद्रुत्पादादीनाम् । तद्वति तु सङ्करो वस्तुलक्षणमेव^५ । एतेन^६ व्यतिकरप्रसङ्गो^७ व्युदस्तः, स्थित्यादीनां परस्परगमनाभावात् संविदि वेद्याद्याकारवत् । तत एव^८ नानवस्था, स्थित्यात्मनि जन्मविनाशा-

नहीं है । क्योंकि विरोध तो एक वस्तु में एक काल में शीत, उष्ण, स्पर्श के समान अनुपलब्धि हेतु से सिद्ध हो सकता है ।

किंतु स्थिति, उत्पाद व्ययों की उपलब्धि का सद्भाव होने से इनका एक वस्तु में एक साथ अनुपलम्भ असिद्ध है अर्थात् एक वस्तु में एक समय में इन तीनों की उपलब्धि हो रही है । जैसे एक विज्ञानार्द्धत में युगपत् वेद्य-वेदकाकार की उपलब्धि हो रही है ।

इसी कथन से संशय के प्रसंग का भी निरसन कर दिया गया है । क्योंकि एक वस्तु में स्थिति, उत्पत्ति और व्यय की उपलब्धि के चलन का अभाव है अर्थात् चलित प्रतिपत्ति को संशय कहते हैं । वह संशय एक वस्तु में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों को स्वीकार करने में भी संभव नहीं है । और संशय का अभाव होने से ही संकरदोष का प्रसंग भी नहीं आ सकता है । क्योंकि द्रव्य की, अपेक्षा से ध्रौव्यात्मक वस्तु में उत्पाद और विनाश उपलब्ध नहीं होते हैं तथैव पर्याय की अपेक्षा से स्वीकृत उत्पाद और विनाश में स्थिति भी उपलब्ध नहीं होती है ।

शंका—एक वस्तु में युगपत् स्थिति, उत्पाद और व्यय के उपलब्ध होने से संकर दोष आ जाता है ।

१ एतेन विरोधदोषनिराकरणेन संशयदोषोपि निराकृतः । कस्मात् स्थित्यादीनामुपलम्भो निश्चितो यतः । दि० प्र० ।
 २ यतः एव ततः स्थित्यादीनां सङ्करदोषो न । कुतः स्थित्यात्मनि उत्पादविनाशो नोपलभ्येत उत्पादविनाशयोः स्थितिर्नोपलभ्यते यतः । दि० प्र० । ३ प्राक्तनचात्र दृष्टव्यः । व्या० प्र० । ४ अत्राह परः । हे स्याद्वादिन् एकवस्तुनि स्थित्यादयः सहोपलभ्यन्ते अतः सङ्करो घटत इति चेत् । ना कुतः उत्पादादीनां त्रयाणामन्योन्यसङ्कराभावात् = ते उत्पादादयो विद्यन्ते यस्य वस्तुनस्तत् तद्वत् तद्वति सङ्करः तद्वत्सङ्करः वस्तुलक्षणं भवत्येव । दि० प्र० । ५ यथा मातुलिङ्गेरूपादीनाम् । व्या० प्र० । ६ सङ्करप्रसङ्गनिराकरणेन । व्या० प्र० । ७ व्यतिकरदोषोपि निषिद्धः कस्मात् स्थित्यादित्रयाणां मिथः सञ्चारणाभावात् यथा संविदादित्रयाणामन्योन्यं गमनं नास्ति । दि० प्र० । ८ यतो वस्तुनः स्थित्यादीनां सङ्करव्यतिकरो प्रतिषिद्धो तत एव अनवस्था दोषोपि न । कुतः स्थितिरूपउत्पादविनाशो न घटेते यतः उत्पादरूपे धर्मे स्थितिर्विनाशानाङ्गीकारात् । तथा विनाशे स्थित्युत्पादयोः अक्षेत्रात् । पुनः कस्माद्वस्तुनस्तेषां सत्याभादीनां धर्माणामेकं प्रति स्थित्युत्पादविनाशलक्षणत्रयात्मकत्वं नाङ्गीक्रियते यतः स्याद्वादिभिः कोर्थः । धर्मिणि जीवादी वस्तुनि स्थित्यादयोधर्मः संभवति । ननु प्रत्येकस्थित्यादिधर्मो उत्पादयो धर्माः संभवन्ति । संभवति चेत्तदा अनवस्था घटते । तथा नास्ति = पुनः कस्मात्सम्भवेकं तस्य नवार्पणात्सिद्धस्यैकान्तस्यानेकार्थेन सहाविनाभावित्वात् । दि० प्र० ।

निष्टेर्जन्मात्मनि^१ स्थितिविनाशानुपगमाद्विनाशे स्थितिजन्मानवकाशात् प्रत्येकं तेषां त्रयात्मकत्वानुपगमात् । न चैवमेकान्ताभ्युपगमादनेकान्ताभावः, ^२सम्यगेकान्तस्यानेकान्तेन विरोधाभावात्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात् तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः ।

केन पुनरात्मनाऽनुत्पादविनाशात्मकत्वात्स्थितिमात्रं ? केन चात्मना^३ विनाशोत्पादावेव ? कथं च तत् त्रयात्मकमेव^४ वस्तु सिद्धम् ? इति भगवता^५ पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः—

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उत्पादादि में परस्पर में असंकर है और उत्पादादिमान वस्तु में तो संकर होना वस्तु का लक्षण ही है वह दूषण रूप नहीं है । इसी कथन से व्यतिकर दोष का प्रसंग भी नष्ट हो गया । जिस प्रकार से अद्वैतज्ञान में वेद्य, वेदकाकार परस्पर में एक-दूसरे रूप नहीं होते हैं तथैव स्थिति, उत्पत्ति आदि भी परस्पर में एक-दूसरे रूप नहीं होते हैं । एवं संकर, व्यतिकर दोष के न होने से अनवस्था दोष भी दूर से ही भाग जाता है ।

स्थिति के स्वरूप में उत्पाद, व्यय अनिष्ट हैं । उत्पाद के स्वरूप में स्थिति और विनाश स्वीकार नहीं किये गये हैं । एवं विनाश में स्थिति और उत्पाद को अवकाश नहीं मिलता है । क्योंकि उन तीनों में प्रत्येक में ही त्रयात्मकपना स्वीकार नहीं किया गया है । अर्थात् स्थिति में उत्पाद आदि तीनों नहीं पाये जाते हैं, तथैव उत्पाद, विनाश में भी तीनों ही अवस्थाएँ नहीं पायी जाती हैं ।

इस प्रकार से एकांत को स्वीकार करने से अनेकांत का अभाव भी नहीं है । क्योंकि सम्यक् एकांत का अनेकांत के साथ विरोध नहीं है । क्योंकि नय की अपेक्षा से एकांत का तथैव प्रमाण की अपेक्षा से अनेकांत का ही उपदेश दिया गया है, अर्थात् प्रमाण की अर्पणा से जो अनेकांत है वही नय की अर्पणा से एकांत रूप हो जाता है ।

तथैव-नय प्रमाण योजना के प्रकार से ही प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण से अविरुद्ध परस्पर सापेक्ष सम्यगेकांत रूप नय की व्यवस्था सुघटित है ।

उत्थानिका—पुनः किस स्वरूप से उत्पाद विनाशात्मक न होने से वस्तु स्थिति मात्र है एवं किस स्वरूप से विनाश और उत्पाद ही है ? और किस प्रकार से वह त्रयात्मक रूप ही वस्तु सिद्ध है ? इस प्रकार से भगवान के द्वारा प्रश्न करने पर ही मानों श्रीसमंतभद्रस्वामी उत्तर देते हैं—

भगवन् ! तव मत में द्रव्याधिक नय से वस्तु नहीं उपजे ।
 नहिं विनशो भी कोई वस्तु क्योंकि अन्वय प्रगट रहे ॥
 वही वस्तु पर्याय दृष्टि से विनशो उपजे क्षण-क्षण में ।
 एक वस्तु में युगपत् व्यय, उत्पाद ध्रौव्य होना 'सत' है ॥५७॥

१ उत्पादात्मनि । व्या० प्र० । २ सत्यैकान्तस्य धर्मान्तरापेक्षस्य । व्या० प्र० । ३ श्रीवर्धमानेन । दि० प्र० ।
 ४ कथञ्च त्रयात्मकमेकवस्तु । इति पा० । दि० प्र० । ५ सत्तास्वरूपेण । दि० प्र० ।

न सामान्यात्मनोदेति^१ न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।

व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि^२ सत् ॥५७॥

पूर्वोत्तरपरिणामयोः साधारणः स्वभावः सामान्यात्मा द्रव्यात्मा^३ । तेन सर्वं वस्तु नोत्पद्यते न विनश्यति च व्यक्तमन्वयदर्शनात्^४ । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति चेन्न, ^५व्यक्तमिति विशेषणात्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यैकत्वान्वयस्याव्यक्तत्वात् । न^६ चात्रान्वयः^७ प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । ततोन्वितात्मना स्थितिरेव^८ । तथा

कारिकार्थ—हे भगवन् ! आपके अनेकांत शासन में सभी जीवादि वस्तु सामान्य रूप से न तो उत्पन्न होती हैं, न विनष्ट होती हैं । क्योंकि उनमें सामान्य रूप अन्वय स्पष्टतया देखा जाता है । किन्तु विशेष की अपेक्षा से वही उत्पन्न होती और विनष्ट होती है एवं युगपत् एक वस्तु में उत्पादादि तीनों ही पाये जाते हैं क्योंकि 'सत्' उत्पादादि त्रयात्मक ही है ॥५७॥

पूर्वोत्तर परिणाम का जो साधारण स्वभाव है वह सामान्य स्वरूप है उसे ही द्रव्य रूप कहते हैं । उस सामान्य रूप से सभी वस्तुयें न उत्पन्न होती हैं, न नष्ट ही होती हैं । क्योंकि उनमें व्यक्त रूप से अन्वय देखा जाता है ।

शंका—काटने के बाद पुनः उत्पन्न हुये नखादिकों में अन्वय देखा जाता है, अतः व्यभिचार दोष आता है ।

समाधान—नहीं । क्योंकि 'व्यक्त' यह विशेषण दिया गया है । 'ये वे ही नखादिक हैं' इस प्रकार से उनमें एकत्व अन्वय प्राण से बाधित हैं क्योंकि वह अन्वय अव्यक्त है अर्थात् उस पूर्व के सदृश ये नखादिक हैं ऐसा कहना तो शक्य है । किन्तु ये वे ही नखादिक हैं ऐसा अन्वय-असत्य है । अतएव व्यभिचार दोष नहीं आता है और यहाँ यह अन्वय प्रमाण विरुद्ध नहीं है क्योंकि वह सत्य प्रत्यभिज्ञान से सिद्ध है । इसलिये वस्तु में अन्वय रूप से स्थिति ही है । उसी प्रकार से सभी वस्तुयें विनष्ट भी होती हैं एवं उत्पन्न भी होती हैं क्योंकि विशेष रूप से पर्यायों का अनुभव हो रहा है । अर्थात् मृत्पिण्ड का विनाश भी अनुभव में आता है तथैव घट रूप उत्पाद भी अनुभव में आता है इसलिये नाशोत्पाद दोनों ही एक अनुभव विषयक हैं ।

शंका—श्वेत शंख में पीताद्याकार ज्ञान लक्षण भ्रान्ति विशेष के देखने से व्यभिचार दोष आता है अर्थात् शुक्ल शंख में पीतादि आकार लक्षण भ्रान्त दर्शन विशेष का अनुभव हो रहा है फिर भी उसमें उत्पाद विनाश का अभाव है अतएव व्यभिचार दोष आता है ।

1 नोत्पद्यते । दि० प्र० । 2 व्ययध्रीव्ययोरग्रहणम् । दि० प्र० । 3 सामान्यात्मा द्रव्यम् । इति पा० । दि० प्र० । 4 कुतः । असत्यत्वप्रकारेणान्वयदर्शनाभावादिति भावः । दि० प्र० । 5 स्पष्टम् । व्या० प्र० । 6 पूर्वोत्तरपर्याययोः । व्या० प्र० । 7 व्यक्तमिति विशेषणे सत्यपि व्यभिचारः कुतो न भवेदित्युक्ते आह । दि० प्र० । 8 अपराद्धं व्याख्याति । दि० प्र० ।

¹विनश्यत्युत्पद्यते च सर्वं वस्तु² विशेषानुभवात् । भ्रान्तविशेषदर्शनेन शुक्ले शंखे पीताद्या-कार ज्ञानलक्षणेन व्यभिचार इति चेन्न, व्यक्तमिति विशेषणस्यानुवृत्ते³ । न हि भ्रान्तं विशेष-दर्शनं व्यक्तं येन ⁴तदपि पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकाराविनाभावि स्यात् । न च⁵ प्रकृते विशेष-दर्शनं व्यक्तं बाधकाभावात् । नित्यैकान्तग्राहि प्रमाणं बाधकमिति चेन्न, तस्य⁶ निरस्त-त्वात् । न चैवं ⁷भिन्नप्रत्ययविषयत्वादुत्पादविनाशमात्रं स्थितिमात्रं च पदार्थान्तरतयाव-तिष्ठते, तस्य वस्त्वेकदेशत्वान्नयप्रत्ययविषयत्वात्, स्थित्यादित्रयस्य⁸ समुदितस्य वस्तुत्वव्यव-

समाधान—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि 'व्यक्त' यह विशेषण चला आ रहा है तथा यह भ्रान्त विशेष दर्शन व्यक्त नहीं है कि जिससे वह भी पूर्वाकार के विनाश को न छोड़ता हुआ उत्तराकार के साथ अविनाभावी होवे । किंतु प्रकृत जीवादि में विशेष दर्शन—उत्पादादि से भेद दर्शन अव्यक्त नहीं है क्योंकि बाधक प्रमाण का अभाव है । अर्थात् श्वेत शंख में जो पीताकार का अवभास हो रहा है वह उसमें पूर्वाकार के विनाश के साथ अविनाभूत होकर नहीं हो रहा है, क्योंकि पीताकार रूप भ्रान्त ज्ञान उत्पन्न होकर उस शंख के मूल शुक्लाकार का नाश नहीं करता है । जिसकी दृष्टि में रोगादि नहीं हैं उसे वह शंख शुक्ल ही दिख रहा है । तथैव जीवादि वस्तुओं में जो विशेष दर्शन है वह अव्यक्त अर्थात् प्रमाण से बाधित नहीं है ।

शंका—नित्यैकान्त को ग्रहण करने वाला प्रमाण उस विशेष दर्शन का बाधक है ।

समाधान—नहीं । उसका तो हमने पहले ही खण्डन कर दिया है । इस प्रकार से भिन्न ज्ञान का विषय होने से उत्पाद विनाश मात्र और स्थिति मात्र वस्तु पदार्थांतर रूप से व्यवस्थित नहीं है । क्योंकि वे उत्पाद विनाश मात्र और स्थितिमात्र वस्तु के एक देश रूप होने से नय के विषय हैं । अर्थात् उत्पाद विनाशमात्र तो पर्यायाधिक नय के विषय है और स्थिति द्रव्याधिकनय का विषय है एवं परस्पर सापेक्ष रूप से समुदित उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप त्रयात्मक ही वस्तु व्यवस्थित है । क्योंकि वह समुदित वस्तु प्रमाण का विषय है ।

भाषार्थ—'सहैकत्रोदयादि सत्' ऐसा कारिका में प्रतिपादित किया गया है । तथैव "उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्तं सत्" यह श्री सूत्रकार उमास्वामी आचार्य का कथन है । इस कारिका द्वारा तीन प्रश्नों का समाधान किया गया है । वे तीन प्रश्न ये हैं—

- (१) वस्तु उत्पाद, विनाशरहित स्थिति मात्र कैसे है ?
- (२) विनाश, उत्पादस्वरूप मात्र कैसे है ?
- (३) उत्पाद, व्यय ध्रौव्य रूप त्रयात्मक कैसे है ?

1 स्थितिप्रकारेण । व्या० प्र० । 2 भेद । दि० प्र० । 3 अनुवर्तनात् । दि० प्र० । 4 भ्रान्तं विशेषदर्शनम् । दि० प्र० । 5 विनाशाजहद्वृत्तश्चासावाकारश्च । दि० प्र० । 6 जीवादिवस्तुनि । दि० प्र० । 7 नित्यैकान्तग्राहिप्रमाणस्य प्राक् प्रपञ्चेन निषिद्धत्वात् । दि० प्र० । 8 स्थित्यादीनाम् । व्या० प्र० ।

स्थितेः, तस्य प्रमाणप्रत्ययगोचरत्वात्, सहैकत्रोदयादि सदिति प्रतिपादनात्, तथैव^१ “उत्पाद-
व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” इति सूत्रकारवचनात् । न चेदं युक्तिरहितं, तथा^२ युक्तिसद्भावात् ।

[प्रत्येकं वस्तु चलाचलस्वरूपमित्यस्य समर्थनं ।]

**चलाचलात्मकं वस्तु कृतकाकृतकात्मकत्वादिति । न चात्र हेतुरसिद्धः, पूर्वरूपत्यागा-
विनाभाविपररूपोत्पादस्यापेक्षितपरव्यापारत्वेन कृतकत्वसिद्धेः, सदा स्थास्नुस्वभावस्यान-
पेक्षितपरव्यापारत्वेनाकृतकत्वनिश्चयात् । न हि चेतनस्यान्यस्य वा सर्वथोत्पत्तिः,^३ सदादि-**

इन प्रश्नों का उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं कि सामान्य रूप से वस्तु उत्पत्ति, विनाश से रहित होने से स्थिति मात्र है। जैसे घट का मृत्तिका रूप तथा विशेष पर्याय की अपेक्षा से वस्तु उत्पन्न भी होती है, विनष्ट भी होती है, इसलिये वस्तु विशेष रूप पर्याय के अनुभव से उत्पाद विनाश रूप ही है। जैसे घट का उत्पाद, मृत्पिंड का विनाश।

इस प्रकार से वस्तु के एक-एक अंश को ग्रहण करने वाले नय हैं। किंतु प्रमाण की अपेक्षा से वस्तु समुदित उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप त्रयात्मक ही है। अतः इस स्याद्वाद की मान्यता में कोई बाधा नहीं आती है।

यह उपर्युक्त कथन युक्ति रहित भी नहीं है क्योंकि इस प्रकार की युक्तियों का भी सद्भाव है।

[प्रत्येक वस्तुयें चल और अचल रूप हैं, इसका समर्थन ।]

सभी वस्तुयें चलाचलात्मक हैं क्योंकि कृतक अकृतक रूप हैं। अर्थात् चल शब्द से उत्पाद, विनाशाकार लेना एवं अचल शब्द से स्थिति को लेना।

यह “कृतकाकृतकात्मकत्वात्” हेतु असिद्ध भी नहीं है। पूर्वाकार त्याग के साथ अविनाभावी उत्तराकार का उत्पाद है। इसलिये पर व्यापार की अपेक्षा रखने से कृतकत्व सिद्ध है एवं द्रव्य रूप से सदा स्थास्नु स्वभाव में पर व्यापार की अपेक्षा न होने से अकृतत्व निश्चित है। अर्थात् पूर्व के आकार का नष्ट होना और उत्तराकार का उत्पन्न होना आदि पर्यायों काल, अणु आदि पर की अपेक्षा रखती हैं और स्थिति द्रव्य रूप होने से पर की अपेक्षा नहीं रखती है। चेतन अथवा अचेतन

१ सहैव । व्या० प्र० । २ स्थित्यादिप्रकारेण । व्या० प्र० । ३ स्याद्वादी वदति आत्मनः परमाणोर्वा सौगताभ्युपगता सर्वथा उत्पत्तिर्वस्तुनो नहि कृतः सदादिसामान्यस्वभावेन । विद्यमानस्यैवोत्पादविनाशलक्षणातिशयान्तरदर्शनात् । यथा घटस्य । घटयोग्यमृद्द्रव्यादिस्वरूपेण सत् एव घटपर्याय उपलभ्यते—पुनः कस्मात्स्थितिमतः कथञ्चिदुत्पाद-विनाशात्मकमित्यादिसंबन्धम्—तथा चेतनस्याचेतनस्य वा सौगताभ्युपगतो सर्वथा विनाशोपि न । कृतः । ततः पूर्वहेतु-त्वादेव । तद्वत् घटस्य यथा ।—तथा सांख्याभ्युपगता वस्तुनः सर्वथा स्थितिरपि न । कस्मात् । पर्यायाकारेण उत्पाद-विनाशसहितस्यैव वस्तुनः सदादिसामान्येन स्थितिदर्शनात् यथा घटयोग्यमृद्द्रव्यादिकारणघटस्य—इत्येवं वस्तुनः स्थितिभिन्ना । उत्पादविनाशो भिन्नी संबन्धयते । दि० प्र० ।

सामान्यस्वभावेन सत एवातिशयान्तरोपलम्भाद् घटवत् ¹कथंचिद्रुत्पादविगमात्मकत्वादि-
त्यादि² योज्यम् । नापि विनाश³ एव, तत एव तद्वत्⁴ । न च स्थितिरेव, ⁵विशेषाकारेणो-
त्पादविनाशवत् एव सदादिसामान्येन⁶ स्थित्युपलम्भाद् ⁷द्रव्यघटवत् । इति हि पृथगुपपत्तियो-
ज्यते । ⁸सदादिसामान्येन सतस्तन्त्वादेर्घटाकारातिशयान्तरोपलम्भप्रसङ्ग इति चेन्न,
स्वभावग्रहणात् । सदादिसामान्यं हि यत्स्वभावभूतं घटस्योपादानद्रव्यमसाधारणं⁹ तद्भावेन¹⁰
परिणामद्रुपलभ्यते । तेनैव सतोतिशयान्तराधानं घटो यथा ¹¹प्रतिविशिष्टघटयोग्यमृद्द्रव्यादि-
स्वरूपेण¹², न पुनः साधारणेन तन्त्वादिगतसामान्येन नापि साधारणासाधारणेन पार्थिव-

पदार्थ की सर्वथा-पर्यायाकार के समान ही द्रव्यरूप से उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि सत् आदि सामान्य स्वभाव से सत् में ही अतिशयांतर-पर्यायान्तर की उपलब्धि होती है, जैसे—मिट्टी रूप से सत् रूप घट की उत्पत्ति में घट पर्यायलक्षण अतिशय देखा जाता है । तथैव सदादि सामान्य रूप से सत् ही कथंचिद् उत्पादविनाशात्मक है । इत्यादि लगा लेना चाहिये ।

उसी प्रकार से घट के समान विनाश ही नहीं है और न स्थिति ही है । क्योंकि विशेष-पर्यायों के आकार से उत्पाद विनाश वाली वस्तु में ही सदादि सामान्य से स्थिति उपलब्ध है द्रव्य घट के समान ।

इस प्रकार से पृथक उत्पत्ति योजित की जाती है । अर्थाद् पहला ही हेतु इन दोनों साध्यों में लगा लेना चाहिये ।

शंका—सत् आदि सामान्य रूप से सत् रूप-तन्तु आदि में घटाकार रूप पर्यायांतर की उपलब्धि का प्रसंग आ जायेगा ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि हमने स्वभाव को ग्रहण किया है अर्थात् तन्तु आदि में पट स्वभाव ही है न कि घट स्वभाव । सदादि सामान्य जिस स्वभावभूत घट का असाधारण उपादान द्रव्य है । वह उस घट स्वभावभूत मिट्टी आदि सामान्य रूप से परिणत होता हुआ उपलब्ध होता है । उसी सदादि सामान्य से ही सत् रूप उपादान मृत्पिण्ड में अतिशयान्तराधान उपलब्ध हो रहा है । जिस प्रकार से घट प्रतिविशिष्ट घट योग्य मिट्टी द्रव्यादि रूप से घट है । वैसे ही साधारण तन्तु आदि गत सामान्य से घट नहीं है और साधारण-असाधारण रूप से पार्थिवत्वादि सामान्य रूप से अथवा अविशिष्ट घटोपादान रूप मृदादि सामान्य से पहले सत् में अतिशयान्तरोपलब्धि भी नहीं है कि जिससे तन्तु आदि में भी घट परिणति का प्रसंग आवे । अर्थात् नहीं आ सकता है एवं घट

1 द्रव्यरूपेणोत्पादरहितत्वं । व्या० प्र० । 2 विनाश । व्या० प्र० । 3 चेतनस्यान्यस्य वा सर्वधेति पूर्वोक्तमत्रापि संबन्धनीयम् । व्या० प्र० । 4 घटवत् । दि० प्र० । 5 पर्याय । दि० प्र० । 6 वस्तुत्वाभिधेयत्व । व्या० प्र० । 7 वस्तुनः । दि० प्र० । 8 सौगतः । दि० प्र० । 9 मृद्द्रव्यम् । व्या० प्र० । 10 उपादान । दि० प्र० । 11 पिण्ड-स्वरूपम् । व्या० प्र० । 12 सत्त्व । व्या० प्र० ।

त्वादिसामान्येनाविशिष्टघटोपादानमृदादिसामान्येन¹ वा² ³प्राक्सतोतिशयान्तरोपलब्धिर्न तन्त्वादेरपि घटपरिणतिप्रसङ्गः । नापि घटविनाशोत्तरकालमप्यसाधारणमृदादिसामान्य-स्वभावेन सत्त्वाविशेषाद्धटोत्पत्तिः प्रसज्यते, ⁴तत्प्रागभावात्मकस्य⁵ सतस्तद्भावेनोत्पत्ति-दर्शनात्, पश्चादभावात्मकस्य⁶ सतोपि तददर्शनात् । न चैवं प्रागसत एवोत्पत्तिनियमाद् घटस्य ⁷कथंचित्प्रागसत्त्वमयुक्तं, प्रागभावस्य भावस्वभावस्य पूर्वं व्यवस्थापनात् । ⁸तस्या-भावस्वभावत्वे सव्येतरगोविषाणादीनां⁹ सहोत्पत्तिनियमवतामुपादानसङ्करप्रसङ्गः, प्राग-भावाविशेषात् । ततो यथा स्वोपादानात्सव्यविषाणस्योत्पत्तिस्तथा दक्षिणविषाणोपादानादपि

विनाशोत्तर काल में भी असाधारण मृदादि सामान्य स्वभाव से सत्त्व के समान होने पर भी घटोत्पत्ति का प्रसंग नहीं आता है । उस घट का प्रागभावात्मक मृत रूप से विद्यमान सत् की ही घट रूप से उत्पत्ति देखी जाती है पश्चात्-घट विनाश के उत्तरकाल में अभावात्मक—प्रध्वंसाभावात्मक कपाल रूप से सत् भी घट में घट रूप नहीं दिखता है । इस प्रकार से प्राग् असत् की ही उत्पत्ति का ही नियम होने से घट का कथंचित् प्रागभाव भी अयुक्त नहीं है क्योंकि प्रागभाव भी भावस्वभाव है ऐसा हमने पहले प्रतिपादित कर दिया है ।

यदि उस प्रागभाव को अभाव स्वरूप स्वीकार करेंगे तब तो सहोत्पत्ति नियम वाले गौ के दायें, बायें सींग आदिकों के उपादान संकर का प्रसंग आ जायेगा अर्थात् दायें सींग के स्थान पर बायां सींग उत्पन्न हो जायेगा और बायें सींग के स्थान में दायें सींग उत्पन्न हो जायेगा क्योंकि प्रागभाव दोनों में ही समान है और पुनः जिस प्रकार से अपने उपादान से बायें सींग की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार से दायें सींग के उपादान से भी वहाँ बायें सींग की उत्पत्ति हो जाने से प्रागभाव सिद्ध है ।

यदि आप कहें कि जहाँ जब जिस कार्य का प्रागभाव है वहाँ तभी उसकी उत्पत्ति है इस प्रकार की नियम कल्पना का भी वहाँ सद्भाव है, अर्थात् फिर भी दायें सींग में बायें की उत्पत्ति हो जायेगी । पुनः अपने उपादान और अनुपादान का नियम भी कैसे हो सकेगा ? अर्थात् अभाव को निरूप मानने पर कुछ भी नियम नहीं बनेगा । अगर आप कहें कि प्रागभाव के नियम से उपादान का नियम बन जायेगा तब तो समान समय में जन्म लेने वाले विषाणादिकों में वह प्रागभाव का नियम

1 विशिष्टञ्च तत् घटोपादानञ्च विशिष्टघटोपादानं न विशिष्टघटोपादानमविशिष्टघटोपादानं तन्मृदादिसामान्यञ्च । व्या० प्र० । 2 वा शब्दान्तापीतिसंबन्धः कार्यः । दि० प्र० । 3 सत्ताद्रव्यत्वादिरूपेण । व्या० प्र० । 4 ता । दि० प्र० । 5 उत्पत्तिः । दि० प्र० । 6 कपालकाले । दि० प्र० । 7 कुणूलाकारोपादानरूपत्वम् । दि० प्र० । 8 प्राग-भावस्य । दि० प्र० । 9 अत्र यौगः सौमत्तश्च वदतः हे स्याद्वादिन् प्रागभावः सर्वथा अभावात्मकोस्तीत्युक्ते स्याद्वादी वदति । तस्य प्रागभावस्य सर्वथा अभावस्वभावत्वे सति सव्यगोविषाणदक्षिणगोविषाणतिलचणकगोधूमदिवीजानां युगपदुत्पत्तिनियमयुक्तानामुपादानसङ्करः प्रसजति । कोर्थः । तिलोपादानं चणकानुत्पादयति चणकोपादानं तिलानुत्पादयति । एवमाद्युपादानसङ्करः कस्मात्प्रागभावेन कृत्वा विशेषाभावात् । यतः एवं ततः यथा स्वकीयोपादान कारणात् वामशृङ्गस्योत्पत्तिः । तथादक्षिणशृङ्गोपादानादपि तत्र प्रागभावे तस्य दक्षिणशृङ्गस्योत्पत्तिर्घटनात् । स्याद्वादिनां प्रागभावः सिद्धयति । दि० प्र० ।

तत्र तस्योत्पत्तेः प्रागभावसिद्धेः, यत्र यदा यस्य प्रागभावस्तत्र तदा तस्योत्पत्तिरिति नियम-
कल्पनाया अपि^१ तत्र^२ भावात् । स्वोपादानेतरनियमश्च कुतः स्यात् ? प्रागभावनियमा-
दिति चेत्समानसमयजन्मनां स एव कुतः तदुत्पत्तिनियमादिति चेत् सोपि कुतः ? स्वोपादान-
नियमादिति चेत् स्वोपादानेतरनियमः कुतः स्यात् ? इत्यादि पुनरावर्तते इति चक्रकम् ।
सव्यविषाणस्योत्पत्तिरिति प्रत्ययविशेषादुत्पत्तिनियमोपि न श्रेयान्, कारकपक्षस्य विचारयितु-
मारब्धत्वात्^३ । ज्ञापकपक्षे^४ तु प्रागभावनियमोपि तत्प्रत्ययविशेषादेवेति नोत्पत्त्या
प्रागभावावगतिः, प्रागभावादप्युत्पत्तिनियमनिश्चयप्रसक्तेरितरेतराश्रयस्य^५ दुर्निवारत्वात् ।
ततो नोत्पत्तेः^७ प्रागभावः कार्यस्याभावात्मकस्तस्य^८ भावस्वभावस्यैवाबाधितप्रतीतिविषयत्वात् ।
प्रागभावाभावस्य कार्योत्पादरूपत्वात् । तथा हि^{१०} ।

ही कैसे बन सकेगा ? यदि आप कहें कि तदुत्पत्ति के नियम से यह प्रागभाव का नियम है तो भी वह
तदुत्पत्ति नियम भी कैसे सिद्ध है ? यदि कहें कि अपने उपादान के नियम से उसका नियम है
तब तो अपने उपादान और अनुपादान का नियम भी कैसे है ? इत्यादि रूप से पुनः पुनः प्रश्नों की
आवृत्ति होने से चक्रक का प्रसंग आ जाता है, अर्थात् प्रागभाव को तुच्छाभाव रूप मानने से उपर्युक्त
चक्रक दोष आ जाते हैं । विवक्षित गाय के मस्तक पर बायें सींग की उत्पत्ति है इस प्रकार के प्रत्यय
विशेष से उत्पत्ति का नियम भी श्रेयस्कर नहीं है । क्योंकि कारक पक्ष का विचार करना प्रारम्भ
क्रिया है, किन्तु ज्ञापक पक्ष में तो प्रागभाव का नियम भी उस प्रागभाव के ज्ञान विशेष से ही होता
है । इसलिये उत्पत्ति के द्वारा प्रागभाव का ज्ञान ही नहीं होता है । अन्यथा यदि उत्पत्ति से भी
प्रागभाव का ज्ञान मानेंगे तब तो प्रागभाव से भी उत्पत्ति के नियम का निश्चय हो जाने से इतरेतरा-
श्रय दोष दुर्निवार हो जायेगा । इसलिये उत्पत्ति का प्रागभाव कार्य का अभावात्मक नहीं है, क्योंकि
वह भाव स्वभाव ही अबाधित प्रतीति का विषय है ।

प्रागभाव का अभाव ही कार्य का उत्पाद रूप है अर्थात् घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड है और उस
मृत्पिण्ड का अभाव ही घट रूप कार्य का उत्पाद है ।

१ प्रागभावे । दि० प्र० । २ अभावस्य भावान्तरस्वभावत्वासंभवाविशेषात् । दि० प्र० । ३ ज्ञानम् । व्या० प्र० ।
४ निश्चितो न भवति कारकपक्षम् । व्या० प्र० । ५ अत्राह स्याद्वादी हे सौगत ज्ञापकपक्षे प्रागभावनियमः कुतः
पराह । तस्य सव्यविषाणस्योत्पत्तिरित्येतस्य ज्ञानविशेषादेवेति स्याद्वाद्याह । तर्हि उत्पत्तेः सकाशात्प्रागभावो
नोत्पद्यते । तथा प्रागभावादपि उत्पत्तिनियमज्ञानं प्रसजति । ततः परस्परदोषो दुर्निवारः स्यात् सौगतस्य ।
दि० प्र० । ६ कार्यम् । दि० प्र० । ७ उत्पत्तिनियमात् प्रागभावावगति । व्या० प्र० । ८ यत एव ततः कार्यस्य
घटादेः उत्पत्ते आत्मलाभात्पूर्वं कार्यस्याभावः प्रागभावः । सत्त्वाभावस्वरूपो न । कुतस्तस्य प्रागभावस्य वस्तुस्वभावस्यैव
प्रमाणोपपन्नप्रतीतिगोचरत्वात् । दि० प्र० । ९ मृत्पिण्डात्मकः । दि० प्र० । १० यथास्ति तथा दर्शयति ।
दि० प्र० ।

कार्योत्पादः क्षयो^१ हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्^२ ।

न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः^५ खपुष्पवत्^६ ॥५८॥

उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः^७ कार्योत्पाद^८ एव हेतोर्नियमात् । यस्तु ततोन्वयस्तस्य न हेतोर्नियमो^{१०} दृष्टो यथाऽनुपादानक्षयस्यानुपादेयोत्पादस्य च । नियमश्च हेतोर्उपादान-क्षयस्योपादेयोत्पादस्य च । तस्मादुपादानक्षय एवोपादेयोत्पादः । न तावदत्रासिद्धो^{११} हेतुः

उत्थानिका—उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

उपादान कारण का जो क्षय वही कार्य का है उत्पाद ।

एक हेतु है दोनों में फिर भी लक्षण से भिन्न विभाग ॥

जाती आदि अवस्थित कारण से दोनों में भेद नहीं ।

उत्पादादि यदि अनपेक्षित गगनपुष्पवत् असत् सही ॥५८॥

कारिकार्थ—कार्य का उत्पाद ही एक हेतु नियम से अपने मूर्तिपड रूप उपादान कारण का विनाश है । उत्पाद और विनाश ये दोनों अपने-अपने लक्षण से भिन्न-भिन्न हैं तथा जाति सामान्य आदि के अवस्थान से ये दोनों भिन्न नहीं हैं । परस्पर में अनपेक्ष उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों ही खपुष्प के समान हैं ॥५८॥

उपादान का पूर्वाकार से क्षय ही कार्य का उत्पाद है और वह नियम से एक हेतुक है । अर्थात् जो हेतु कार्य के उत्पाद का है वही हेतु पूर्वाकार के क्षय का है ।

किंतु जो उपादान क्षय से अन्य है उस हेतु का नियम नहीं देखा जाता है । जैसे कि अनुपादान क्षय का और अनुपादेय रूप उत्पाद का हेतु नहीं है । अर्थात् घट के अनुपादान तंतु हैं, उनका क्षय होना अग्नि आदि भिन्न हेतुक है एवं तन्तु की अपेक्षा से घट अनुपादेय है उस घट का उत्पाद मिट्टी

१ प्रागभावस्य क्षयः पक्षः कार्योत्पादो भवतीति साध्यो धर्मः । मुद्गरादिव्यापारलक्षणस्य हेतोर्निश्चयात् । तौ क्षयोत्पादौ लक्षणात्स्वरूपत् पृथक्भिन्नौ भवतः । जात्याद्यनवस्थात्सत्सामान्यात् । तौ क्षयोत्पादौ भिन्नौ न स्तः । एकस्मिन् वस्तुन्युत्पादादयस्त्रयः परस्परं निरपेक्षा न सन्ति । यथा खपुष्पं नास्ति लोके इति कारिकार्थः । = यस्तूत्पाद-स्तत्क्षयात् अन्यो भिन्नस्तस्य हेतोः सहकारिकारणस्य निश्चयो न दृष्टः यथा घटापेक्षयान्ततवोऽनुपादानं तस्य क्षयस्य तत्त्वपेक्षया घटः अनुपादेयस्तस्योपादानस्य च हेतोर्नियमो न दृष्टः । दि० प्र० । २ स्वकीयस्वकीयस्वरूपात् । दि० प्र० । ३ भिन्नौ । दि० प्र० । ४ उत्पादविनाशौ । दि० प्र० । ५ उत्पादादयः । दि० प्र० । ६ असद्रूपाः । दि० प्र० । ७ पक्षः । व्या० प्र० । ८ साध्यो धर्मः । व्या० प्र० । ९ कारणस्य । व्या० प्र० । १० एकमेवकारणम् । व्या० प्र० । ११ अत्राह परः अत्रानुमाने हेतोर्नियमादिति हेतुः असिद्ध इत्युक्ते स्याद्वाचाह एवं न । कस्मात्कार्योत्पादकारण-विनाशयोः कपालघटलक्षणयोरेकमुद्गरादिव्यापारहेतुनियमः सुप्रतीतोस्ति यतः । पुनः कस्मात्तयोर्उत्पादविनाशयोर्मध्ये एकस्योत्पादस्य सहेतुकत्वमन्यस्य विनाशस्य निर्हेतुकत्वमिति सौगताभ्युगतं नियमवचनं प्राक्प्रपञ्चेन निराकृतं यतः । दि० प्र० ।

कार्यकारणजन्मविनाशयोरेकहेतुकत्वनियमस्य सुप्रतीतत्वात्, तयोरन्यतरस्यैव सहेतुकत्वाहेतुकत्वनियमवचनस्य निरस्तत्वात्¹ ।

[यौगोऽपि उत्पादविनाशो एकहेतुको न मन्यते तस्य निराकरणं]

²ननुपादानघटविनाशस्य³ ⁴बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्ते-
⁶रवयवविभागात्संयोगविनाशादेव⁷ ⁸प्रतीतेरुपादेयकपालोत्पादस्य तु स्वारम्भकावयवकर्म-
संयोगविशेषादेरेव⁹ संप्रत्ययात् तयोरेकस्माद्धेतोनियमासंभवादसिद्धमेव साधनमिति¹⁰ चेन्न,
अस्य ¹¹विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीतिकत्वाद्बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापारा-

आदि भिन्न हेतुक है। इसमें एक हेतु का नियम नहीं देखा जाता है। किन्तु उपादान के क्षय और उपादेय उत्पाद में एक हेतु का नियम देखा जाता है। इसलिये उपादान का क्षय ही उपादेय का उत्पाद है।

इस अनुमान में हमारा हेतु असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि कार्य के जन्म और कारण के विनाश में नियम से एक हेतु प्रतीति में आ रहा है। किन्तु इन दोनों में से किसी एक को सहेतुक और दूसरे को अहेतुक मानने वालों का प्रथम ही खण्डन कर दिया गया है। अर्थात् कपालमाला का उत्पाद तो सहेतुक है किन्तु घट का विनाश निर्हेतुक है। ऐसा कहने वाले बौद्धों का पहले खण्डन किया गया है, कारण जो कपाल के उत्पाद में हेतु है वही घट के विनाश में हेतु है। कपाल का उत्पाद और घट का विनाश दोनों एक हेतु से एक समय में हुये हैं, भिन्न समय में नहीं।

[यौग भी उत्पाद व्यय को एक हेतुक नहीं मानता है। उसका निराकरण।]

यौग—उपादान घट का विनाश तो बलवान् पुरुष के द्वारा प्रेरित मुद्गर आदि के अभिघात से हुआ है वह अवयव क्रिया की उत्पत्ति से अवयवों के विभाग से है एवं संयोग के विनाश से ही हुआ है। क्योंकि घट के विनाश की इसी तरह प्रतीति हो रही है।

किन्तु उपादेय कपाल का उत्पाद तो अपने आरम्भक अवयव कर्म-परमाणु आदि में होने वाली क्रिया के संयोग विशेष से ही प्रतीति में आता है। अतएव इन दोनों में एक हेतु का नियम करना असंभव ही है अतः आपका हेतु असिद्ध है।

जैन—ऐसा नहीं है। क्योंकि उस प्रकार विनाशोत्पाद की कारणभूत प्रक्रिया का उद्घोषण प्रतीति में नहीं आता है। प्रत्युत बलवान् पुरुष के द्वारा प्रेरित मुद्गरादि व्यापार से ही घट का

1 विरूपकार्यारम्भाद्येत्थन्न । व्या० प्र० । 2 यतः । व्या० प्र० । 3 कपालमालारूपकार्यं प्रति । व्या० प्र० । 4 कपालेषु । व्या० प्र० । 5 मुद्गरादिघातादवयवक्रियास्तस्याऽवयवक्रियास्तस्मात्संयोगविनाशस्तस्मात् घटविनाशस्योत्पत्तेः । दि० प्र० । 6 प्राप्तिपूर्विका । हि अप्राप्तिविभागः । व्या० प्र० । 7 अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिसंयोगः । व्या० प्र० । 8 कार्यभूतः । व्या० प्र० । 9 क्रिया । व्या० प्र० । 10 हेतोनियमात् । दि० प्र० । 11 स्याद्वादी वदति एवं न कस्मात् एतद्विनाशोत्पादकारणसामग्रीप्रतिपादनं यौगस्य लोके प्रतीतिरहितं यतः । दि० प्र० ।

देव घटविनाशकपालोत्पादयोरवलोकनात् । ततो घटावयवेषु कपालेषु क्रियैवोत्पद्यते इति चेत्सैवैको हेतुस्तयोरस्तु । क्रियातोवयवविभागस्यैवोत्पत्तिरिति चेत्स एवैकं कारणमनयोरस्तु । विभागात्तदवयवसंयोगविनाश^१ एव दृश्यते इति चेत् स^२ एव तयोरेकं निमित्तमस्तु । तदवयवसंयोगविनाशादवयवविनो घटस्य विनाश इति चेत्स^३ एव कपालानां तदवयवानां प्रादुर्भावः । इति कथं नैकहेतुनियमः सिध्येत् ? महास्कन्धावयवसंयोगविनाशादपि लघुस्कन्धोत्पत्तिदर्शनात् “भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते” इति वचनात् ।

विनाश और कपाल का उत्पाद देखा जाता है । यदि आप ऐसा कहें कि घट के अवयव रूप कपालों में ही क्रिया उत्पन्न होती है तब तो वह क्रिया ही घट विनाश और कपालोत्पाद इन दोनों में एक हेतु होवे ।

शंका—क्रिया से अवयव के विभाग की ही उत्पत्ति होती है ।

समाधान—तब तो अवयव विभाग ही विनाश और उत्पाद इन दोनों में एक कारण होवे ।

शंका—विभाग से उस घड़े के अवयवों के संयोग का विनाश ही देखा जाता है ।

समाधान—तब तो वही इन दोनों में एक निमित्त होवे । अर्थात् संयोग का विनाश ही उत्पाद विनाश में कारण होवे ।

शंका—उसके अवयव के संयोग का विनाश होने से अवयवी घट का विनाश होता है ।

समाधान—पुनः वही कपाल रूप उसके अवयवों का प्रादुर्भाव है । इसलिये एक हेतु मुद्गरादि का घट विनाश और कपाल उत्पाद में नियम क्यों नहीं सिद्ध होगा ?

महास्कन्ध—घट के अवयव संयोग के विनाश से भी लघुस्कन्ध (कपालमाला) रूप की उत्पत्ति देखी जाती है । “भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते” यह श्री उमास्वामी आचार्य वर्य का सूत्र है । अर्थात् महास्कन्ध रूप घट के भेद से कपाल रूप लघु कार्य उत्पन्न होते हैं और लघु स्कन्धों के संघात से महाकार्य उत्पन्न होते हैं । ऐसा इस सूत्र का भावार्थ है ।

शंका—यह दर्शन मिथ्या ही है एवं सूत्रकार के वचन भी मिथ्या हैं । क्योंकि बाधक प्रमाण का सद्भाव पाया जाता है ।

समाधान—बाधक प्रमाण क्या है ? कहिये ।

शंका—“अपने परिमाण की अपेक्षा अणु परिमाण कारण से बने हुये कपाल हैं, क्योंकि कार्य हैं । पट के समान ।” यह अनुमान बाधक है ।

समाधान—नहीं । यह उदाहरण साध्य विकल है । हम आपसे पूछते हैं कि पटाकार से परिणत नहीं हुये तंतु पट के समवायी हैं या पटाकार से परिणत हुये तंतु पट के समवायी हैं ?

१ घटः । दि० प्र० । २ तदवयवसंयोगविनाशः । दि० प्र० । ३ घटस्य विनाशः । दि० प्र० ।

मिथ्यैवेदं दर्शनं^१ सूत्रकारवचनं च बाधकसद्भावादिति चेत्किं तद्बाधकम् ?
^२स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धानि^३ कपालानि कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानं^४ बाधकमिति
 चेन्न, एतदुदाहरणस्य साध्यविकलत्वात् । तन्त्वो हि किमपटाकारपरिणताः पटस्य
 समवायिनः पटाकारपरिणता^५ वा ? न तावदाद्यः पक्षः पटाकारपरिणतेषु तन्तुष्विह^६
 पट^७ इति प्रत्ययासंभवात् । द्वितीयपक्षे तु न पटपरिमाणादणुपरिमाणास्तन्त्ववः पटस्य कारणं,
 तेषां पटसमानपरिमाणतया प्रतीतेः समुदितानामेवातानवितानाकाराणां पटपरिणामाश्रयत्वा-
 दन्यथातिप्रसङ्गात्^८ । न^९ हि तथाऽपरिणतं तद्भवति “^{१०}तद्भावः परिणामः” इति वचनात् ।

इसमें आदि का पक्ष तो ठीक नहीं है । क्योंकि पटाकार से परिणत नहीं हुये तंतुओं में 'पट'
 इस प्रकार का ज्ञान ही नहीं हो सकता है । तथा दूसरे पक्ष में तो पट परिमाण से अणु प्रमाण वाले
 तंतु पट के कारण नहीं हैं क्योंकि उन तंतुओं की तो पट के समान प्रमाण रूप से प्रतीति आ रही है ।
 आतान वितान रूप आकार को धारण करने वाले पट बनने के उन्मुख हुये समुदित तंतु पट बनने के
 लिये उस पट के प्रमाण का ही आश्रय लिए हुए हैं । अन्यथा पिटारे में रखे हुए तंतुओं से भी पट बन
 जाने से अतिप्रसंग दोष आ जायेगा । क्योंकि उस रूप से अपरिणत उस रूप ही नहीं हो सकता है ।
 “तद्भावः परिणामः ।” ऐसा सूत्रकार का वचन है । अर्थात् पटस्वरूप से अपरिणत तंतु पट रूप नहीं
 हो सकते हैं । इस प्रकार की मान्यता से परिणाम और अपरिणामी में अभेद है । ऐसा भी नहीं कह
 सकते । क्योंकि यह पट परिणाम है और ये तंतु परिणामी हैं । इस प्रकार से ज्ञान के भेद से परिणाम
 और परिणामी में कथञ्चित् भेद सिद्ध है । यदि आप यौग भी प्रत्यय के भेद से परिणाम और परिणामी
 में भेद स्वीकार कर लें तब तो विवाद का अभाव ही हो जाता है । तथा तन्तु द्रव्य और पट पर्याय
 में अन्वय व्यतिरेक प्रत्यय पाया जाता है ।

तंतु द्रव्य पहले के अवस्त्राकार का परित्याग करके तंतुपने का त्याग न करता हुआ अपूर्व
 वस्त्राकार रूप से परिणत होता हुआ उपलब्ध हो रहा है इसलिये वस्त्राकार तो पूर्वाकार (तंतु के
 आकार) से भिन्न ही है । इस प्रकार से सिद्ध हो जाता है । सर्वथा-पर्याय रूप के समान द्रव्य रूप से
 भी अर्थात् तंतु रूप से भी अपने रूप को छोड़कर अपूर्वरूपवर्ती तंतुपिंड में ही उपादानपने का अयोग-

१ स्याद्वादिमतमसत् । दि० प्र० । २ कार्यपरिमाणात् । व्या० प्र० । ३ अल्प । व्या० प्र० । ४ उपादान-
 पूर्वाकारेण क्षयः पक्षः कार्यत्वादो भवतीति साध्यो धर्म इति स्याद्वादिक्कृतस्यानुमानस्येदं मया यौगेन कृतमनुमानं
 बाधकमिति चेत् । व्या० प्र० । ५ पटाकारपरिणतेष्वतानाकारं रहिततथा उड्कादि रूपेण स्थितेषु पटसमवायो
 भवति वा । तथा परिणतेषु केव्यभिप्रायो विकल्पद्वयस्य । दि० प्र० । ६ इहपट समवायो भवतीति तद्भाव एतेन
 प्रतिवाद्यसिद्धिमुदाहरणमित्युक्तं जातम् । दि० प्र० । ७ रण्डाकरण्डस्यादिषु तन्तुषु । दि० प्र० । ८ अन्यथाऽसमुदिताना
 मनातानवितानाकारास्तन्त्ववः पटपरिणाममाश्रयन्ति चेत्तदा अतिप्रसङ्गः स्यात् । दि० प्र० । ९ समुदितानामेव
 पटपरिणामाश्रयत्वमेवेति व्यतिरेकमुखेन भावयन्नाह । व्या० प्र० । १० कारणस्य कार्याकारेण भवनं भावः स एव
 परिणाम इत्येनेन प्रकारेण । व्या० प्र० ।

न चैवं परिणामपरिणामिनोरभेदः स्यात्, प्रत्ययभेदात्कथंचिद्भेदसिद्धेः परस्यापि तद्भेदे विवादाभावात् तन्तुद्रव्यपटपर्यायियोरन्वयव्यतिरेकप्रत्ययविषयत्वाच्च । तन्तुद्रव्यं हि प्राच्या-पटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते पटाकारस्तु पूर्वाकाराद्रव्यतिरिक्त इति सिद्धं^१, सर्वथा^२ त्यक्तरूपस्यापूर्वरूपवर्तिन^३ एवोपादानत्वायोगाद-परित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिवत् तथाऽप्रतीतेर्द्रव्यभावप्रत्यासत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपादेयभावस्य । भावप्रत्यासत्तिमात्रात्तद्भावे^४ समानाकाराणामखिलार्थानां तत्प्रसङ्गात्, कालप्रत्यासत्तेस्तद्भावे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिनामशेषार्थानां^५ तत्प्रसक्तेः देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशानामशेष-तस्तद्भावापत्तेः^६ सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि^७ तद्भावानियमात्^८ । असाधारण-द्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव^९ च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वीपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते । तदुक्तं—

है । जिस प्रकार से तंतु समूह यदि अपने पूर्व रूप को नहीं छोड़े तो वस्त्र के प्रति उपादान नहीं हो सकता है । क्योंकि उस प्रकार से प्रतीति नहीं आती है । तथैव उपादान उपादेय भाव भी द्रव्य (तंतु) और भाव (पट) की प्रत्यासक्तिपूर्वक ही होता है ।

यदि भाव की प्रत्यासक्ति मात्र से उपादान उपादेय भाव स्वीकार करेंगे तब तो समान आकार वाले अखिल तंतु पिंडों में उस उपादान उपादेय भाव का प्रसंग आ जायेगा । यदि केवल काल प्रत्यासक्ति से उपादान उपादेय भाव मानोगे तब तो पूर्वोत्तर समनंतर क्षणवर्ती अशेष पदार्थ—तंतुओं में उसी उपादान उपादेय का प्रसंग आ जायेगा । तथैव देश प्रत्यासक्ति से सद्भाव मानने पर समान देश वाले मृत्पिण्डादिकों में भी अशेषरूप से उपादान उपादेय भाव की आपत्ति आ जायेगी । सद्द्रव्यत्व आदि साधारण द्रव्य की प्रत्यासक्ति से भी उस उपादान उपादेय भाव का नियम नहीं बनता है । किंतु असाधारण द्रव्य की प्रत्यासक्ति और पूर्वाकार भाव विशेष प्रत्यासक्ति उपादान का कारण है जो कि अपने उपादेय परिणाम के प्रति निश्चित किया जाता है । अर्थात् आतान वितानीभूत तंतु द्रव्य असाधारण द्रव्य प्रत्यासक्ति है और तंतुओं का आतान वितान रूप पूर्वाकार भाव विशेष प्रत्यासक्ति है । ये असाधारण द्रव्य प्रत्यासक्ति और विशेष भाव प्रत्यासक्ति ही वस्त्ररूप उपादेय कार्य के प्रति उपादान कारण माने गये हैं । कहा भी है—

१ तन्तुद्रव्यपटपर्यायियोरन्वयव्यतिरेकप्रत्ययविषयत्वं सिद्धम् । दि० प्र० । २ सर्वथा त्यक्तरूपस्य सौमताभ्युपगतस्य मूलतो विनष्टस्य क्षणस्योत्तररूपवर्तिन एवोपादानत्वं घटते । अपरित्यक्तात्मनः सांख्याभ्युपगतस्य सर्वथा नित्यस्य पूर्व-रूपवर्तिन उपादानत्व संभवति । कुतस्तथा प्रतीतिरस्ति यतः = उपादानस्य द्रव्यसंबन्धो नित्यमुपादेयस्य पर्यायसंबन्धो निमित्तम् । दि० प्र० । ३ क्षणिकस्यापूर्वरूपत्वम् । व्या० प्र० । ४ पर्याय । व्या० प्र० । ५ विवक्षितपटं प्रत्यविव-क्षिततन्तुपिण्डानां मृत्पिण्डानाञ्च । व्या० प्र० । ६ अशेषपदार्थानाम् । दि० प्र० । ७ तद्द्रव्यत्वादि । इति पा० । सत्सामान्यद्रव्य । दि० प्र० । ८ उपादानोपादेयभावः । दि० प्र० । ९ पर्यायविशेषः । दि० प्र० ।

“त्यक्तात्यक्तात्मरूप^१ यत्पूर्वापूर्वेण^२ वर्तते । कालत्रयेपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥
यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा । तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं^३ यथा ॥२॥

इति । ततो^४ न तन्तुविशेषाकारः पटस्योपादानं येनाल्पपरिमाणादेव कारणान्महा-
परिमाणस्य पटस्योत्पत्तेरुदाहरणं साध्यशून्यं न भवेत् । हेतुश्चानैकान्तिकः, प्रश्लथिलावयव-
महापरिमाणकार्पासपिण्डादल्पपरिमाणनिविडावयवकार्पासपिण्डोत्पत्तिदर्शनात् । विरुद्धश्चायं
हेतुः, ^५पुद्गलादिद्रव्यस्य महापरिमाणस्य यथासंभवं सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण वा पर्यायेण
वर्तमानस्य^६ स्वकार्यारम्भकत्वदर्शनात् कार्यत्वस्य महापरिमाणकारणारब्धत्वेन व्याप्तिसिद्धेः

श्लोकार्थ—जो पूर्व रूप से व्यक्त और अपूर्व रूप से अव्यक्त हैं । तीनों कालों में भी वह द्रव्य
उपादेय है ऐसा समझना चाहिये ॥१॥

जो द्रव्य सर्वथा अपने स्वरूप को छोड़ता है और सर्वथा अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है
वह द्रव्य पदार्थ का उपादान नहीं बन सकता है, जैसे बौद्धों का माना क्षणिक द्रव्य और साख्यों का
माना नित्य द्रव्य किसी का भी उपादान नहीं बन सकता है ॥२॥

इसलिये तन्तु विशेष का आकार—वस्त्र के प्रति उपादान नहीं है कि जिससे अल्प परिणाम
वाले तन्तु आदि से ही महा परिमाण वाले वस्त्र की उत्पत्ति हो सके और आपका उदाहरण साध्य
शून्य न होवे । अर्थात् अल्प परिमाण वाले उपादान रूप तन्तु से महा परिमाण वाले वस्त्र नहीं बन
सकते हैं । अतः आपका उदाहरण साध्य शून्य ही है और आपका ‘कार्यत्वात्’ हेतु भी अनेकान्तिक ही
है क्योंकि श्लथिल अवयव वाले महा परिमाण रूप कार्पास—रुई के पिण्ड से अल्प परिमाण वाले निविड़—
सघन अवयव रूप रुई के पिण्ड की उत्पत्ति देखी जाती है । यह हेतु विरुद्ध भी है । महा परिमाण
वाले पुद्गलादि द्रव्य यथासंभव सूक्ष्म पर्याय रूप से अथवा स्थूल पर्याय रूप से वर्तमान रहते हुये
अपने-अपने सूक्ष्म और स्थूल रूप कार्य को करने वाले देखे जाते हैं । कार्यत्व हेतु की महा परिमाण
कारण से आरब्ध होने के साथ व्याप्ति सिद्ध है । अतः यह हेतु स्वपरिमाण से भी अल्प परिमाण रूप
कारण के आरम्भ रूप विपरीत साध्य को ही सिद्ध कर देने से यह ‘कार्यत्वात्’ हेतु विरुद्ध भी है ।
इसलिये यह आपका अनुमान बाधक नहीं है ।

१ कथञ्चित् = त्यक्तात्यक्तात्मरूपं किमित्युक्ते यद्द्रव्यस्वरूपं सर्वथा त्यजति । यथा सौगतमते । पुनर्यद्द्रव्यस्वरूपं
सर्वथा न त्यजति यथा सांख्यमते अर्थस्य वस्तुनः कार्यस्य तद्द्रव्यमुपादानकारणं न भवति । पूर्वपक्षे सर्वथा क्षणिकम् ।
उत्तरपक्षे सर्वथाशाश्वतमिति । तर्हि उपादानं किं पूर्वाकारेण त्यक्तरूपमुत्तराकारेणव्यक्तरूपमुभयत्रानुगतत्वमिति
कथञ्चित् त्यक्तात्यक्तात्मरूपं वस्तुकालत्रयेपि यद्भवति तद्द्रव्यमुपादानमितिज्ञेयम् । दि० प्र० । २ द्रव्य । पर्याय ।
व्या० प्र० । ३ नित्यम् । व्या० प्र० । ४ यत एवं ततः पटस्य स्वपरिमाणादल्पपरिमाणास्ततवस्तन्तुविशेषाकारः स च
पटस्योपादानं कारणं न भवतीत्यर्थः । दि० प्र० । ५ त्रैलोक्यव्यापिपुद्गलः । व्या० प्र० । ६ एवंविधपर्याये वर्तमानस्य
पुद्गलद्रव्यस्यैव वा स्वकार्यारम्भकत्वदर्शनात् । दि० प्र० ।

¹स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वविपरीतसाधनात् । ततो नेदमनुमान² बाधकं कपालोत्पादस्य घटविनाशस्य चैकहेतुत्वनियमप्रतीतेरेकस्मादेव मृदाद्युपादानात्तद्भावस्य³ सिद्धेरेकस्माच्च मुद्गरादिसहकारिकलापात्तत्संप्रत्ययात् । इति सिध्यत्येव हेतोर्नियमात्कार्योत्पाद एव पूर्वाकारविनाशः ।

[उत्पादविनाशयोः सर्वथा अभेदो नास्ति ।]

न चैवं⁴ सर्वथोत्पादविनाशयोरभेद एव, लक्षणात्पृथक्त्वसिद्धेः । तथा हि । कार्यकारणयोरुत्पादविनाशो⁵ कथंचिद्भिन्नो⁶ ⁷भिन्नलक्षण ⁸संबन्धित्वात्सुखदुःखवत्⁹ । ¹⁰नात्रा-

कपाल के उत्पाद और घट के विनाश में एक हेतुक नियम की प्रतीति हो रही है अर्थात् दोनों में मुद्गरादि का प्रहार रूप निमित्त कारण भी एक ही है एवं मृत्पिण्ड रूप उपादान कारण भी एक ही है । क्योंकि एक ही मिट्टी आदि रूप उपादान कारण से घट विनाश और कपालोत्पाद रूप वह दोनों भावों की सिद्धि होती है और एक ही मुद्गरादि सहकारी कारण कलापों से उस उत्पाद विनाश की सिद्धि देखी जाती है । इसलिये एक हेतुक नियम से कार्य का उत्पाद ही पूर्वाकार का विनाश है यह बात सिद्ध ही हो जाती है ।

[उत्पाद और विनाश में सर्वथा अभेद नहीं है ।]

यदि आप कहें कि उत्पाद और विनाश में सर्वथा अभेद ही है तो भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उन नाश और उत्पाद में लक्षण भेद होने से भिन्नपना सिद्ध ही है । तथाहि—

कार्य का उत्पाद और कारण का विनाश कथंचित्-पर्याय की अपेक्षा से भिन्न ही है । क्योंकि वे भिन्न लक्षण सम्बन्धी हैं, सुख और दुःख के समान । इस अनुमान में हेतु असिद्ध भी नहीं है । क्योंकि कार्य का उत्पाद तो स्वरूप के लाभ लक्षण वाला है और कारण का विनाश तो स्वरूप से प्रच्युति लक्षण वाला है । उन दोनों में भिन्न लक्षण सम्बन्धीपना सिद्ध है । यह हेतु अनेकांतिक अथवा विरुद्ध भी नहीं है ।

1 कार्यम् । व्या० प्र० । 2 आह स्याद्वादी यत एवं तत इदं प्रतिवादिकृतमनुमानं स्याद्वाददर्शनस्य सूत्रकारवचनस्य च बाधकं न भवति । दि० प्र० । 3 एकत एव मृत्पिण्डाद्युपादानकारणात्तयोः कपालोत्पादविनाशयोर्भावः सिद्धयति । दि० प्र० । 4 एकहेतुत्वप्रकारेण । व्या० प्र० । 5 कार्योत्पादक्षयोहेतोरितिकार्यस्थितपदानां प्रतिपदमिदम् । दि० प्र० । 6 तत्रस्थितपृथगितिपदमतिपदमिदम् । दि० प्र० । 7 तत्र स्थितिलक्षणादिभिः पदप्रतिपदमिदम् । वि० प्र० । 8 भा । व्या० प्र० । 9 बसः (व्या० प्र०) । 10 अत्रोत्पादविनाशयोः कथंचिद्भेदव्यवस्थापकानुमाने भिन्नलक्षणसंबन्धित्वादिति साधनमसिद्धं न कुतः कार्योत्पादोत्तराकारप्रादुर्भावलक्षणोस्ति यतः । तथा कारणविनाशः पूर्वाकारप्रच्यवनलक्षणोस्ति यतः । एवं कार्योत्पादकारणविनाशयोः भिन्नलक्षणसंबन्धित्वं सिद्धयति = तथात्रानुमाने साधनं न व्यभिचारितापि विरुद्धम् । दि० प्र० ।

सिद्धं साधनं, कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात्कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युतिलक्षण-
त्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसंबन्धित्वसिद्धेः । नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, क्वचिदेकद्रव्येपि^१
परिणामयोः कथञ्चिद्भेदमन्तरेण भिन्नलक्षणसंबन्धित्वस्यासंभवात् । न च तयोर्भेद एव,
कथञ्चिद्भेदग्राहकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि । उत्पादविनाशौ^२ प्रकृतौ^३ स्यादभिन्नौ^४,
तदभेदस्थितजातिसंख्याद्यात्मकत्वात्पुरुषवत्^६ । नात्रासिद्धो हेतुः, मृदादिद्रव्यव्यतिरेकेण
नाशोत्पादयोरभावात्^७ । पर्यायापेक्षया नाशोत्पादौ भिन्नलक्षणसंबन्धिनौ न तौ, जात्याद्यव-

किसी एक द्रव्य में भी कार्य कारण रूप परिणाम के कथञ्चित् भेद को स्वीकार किये बिना
भिन्न लक्षण सम्बन्धित्व असम्भव ही है । अर्थात् नियत रूप पूर्व लक्षणवर्ती होना कारण का लक्षण है
तथा निश्चित उत्तर लक्षणवर्ती होना कार्य का लक्षण है । एक किसी द्रव्य में कथञ्चित् पर्याय की अपेक्षा
से भी भेद को माने बिना कारण कार्य भाव बन नहीं सकते हैं ।

सर्वथा द्रव्य की अपेक्षा से भी उन दोनों में भेद ही हो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं । क्योंकि
कथञ्चित् द्रव्य की अपेक्षा से अभेद को ग्रहण करने वाला प्रमाण मौजूद है ।

तथाहि । प्रकरण में आये हुये उत्पाद और विनाश कथञ्चित् अभिन्न हैं क्योंकि उत्पाद विनाश
के साथ अभेद रूप से स्थित जाति संख्यादि रूप ही है । जैसे कि पुरुष का नाशोत्पाद कथञ्चित् पुरुष
से अभिन्न है । अर्थात् मनुष्य पर्याय का विनाश तथा देव पर्याय का उत्पाद हुआ एवं इन दोनों में
पुरुष एक ही मौजूद है ।

१ कस्मिंश्चिदेकद्रव्येपि जीवादी उत्पादविनाशयोः परिणामलक्षणयोः कथञ्चिद्भेदं विनाभिन्नलक्षणसंबन्धित्वं न
संभवति—आहान्नाभिद्वादी योगादिः तर्हि तयोः भेद एव भवतु इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । एवं न च कुतः कथञ्चिद्-
भेदग्राहकप्रमाणमस्ति यतः । किं तत्प्रमाणमित्युक्ते तथाहि तदेवोच्यते । प्रारब्धौ उत्पादविनाशौ पक्षः कथञ्चि-
दिभन्नौ भवत इति साध्यस्तदभेदस्थितजातिसंख्याद्यात्मकत्वात् यथा द्वौ पुरुषौ । दि० प्र० । २ न तौ जाताद्यवस्थाना-
दित्येतद्विवरणम् । दि० प्र० । ३ कार्यकारणरूपौ । व्या० प्र० । ४ कथञ्चित् । व्या० प्र० । ५ तयोस्तपाद-
विनाशयोरभेदभूतजातिसंख्यात्वादिस्वरूपत्वात् । पुरुषयोश्च = अत्रोत्पादविनाशयोः कथञ्चिद्भेदव्यवस्थापकानुमाने
हेतुरप्रसिद्धो न । सवत्र प्रसिद्ध एव । दि० प्र० । ६ भा । व्या० प्र० । मृदादि द्रव्याद्भिन्नत्वेन । दि० प्र० ।
७ मृत्तिकादिद्रव्यरहितत्वेन घटादिविनाशः कपालाद्युत्पादश्च संभवतो न अतः पर्यायनयेन भिन्नलक्षणसंबन्धिनौ
नाशोत्पादौ न भवतः पुनस्तौ नाशोत्पादौ भिन्नलक्षणसंबन्धिनौ न । कुतो जात्याद्यवस्थानात् । पुनः कस्मात् सत्त्व
पृथ्वीत्वं द्रव्यत्वमित्यादिलक्षणजातिस्वभावेनैकत्वसंख्यास्वभावेन सामर्थ्यविशेषान्वयस्वभावेन च तयोस्तपाद-
विनाशयोः भेदाभावात् = तथैव प्रत्यभिज्ञानादपि तौ नाशोत्पादौ भिन्नलक्षण संबन्धिनौ न भवतः । कुतः यद्यघटा-
कारत्वेन नष्टमसाधारणं मृद्द्रव्यं कपालाकारतयोत्पन्नं तदेवेदमिति प्रतीतिसद्भावात् । पुनः सकलबाधकप्रमाण-
रहितत्वाच्च यथायं प्रागहं सुखी अभूवं स एवास्मि पश्चाहं प्राग् दुःखी अभूवं स एवास्मि इत्येकपुरुषे प्रत्ययः ।
दि० प्र० ।

स्थानात्, 'सद्द्रव्यमृथिवीत्वादिजात्यात्मनैकत्वसंख्यात्मना^१ शक्तिविशेषान्वयात्मना च तद-
भेदात् तथैव प्रत्यभिज्ञानात्, तदेव मृद्द्रव्यमसाधारणं घटाकारतया नष्टं कपालाकारतयोत्पन्न-
मिति प्रतीतेः सकलबाधकरहितत्वात्, य एवाहं सुख्यासं स एव च दुःखी सम्प्रतीत्येकपुरुष-
प्रतीतिवत् । नन्वेवमुत्पादव्ययध्रौव्याणामभेदात्: कथं त्रयात्मकवस्तुसिद्धिः ?^३ तत्सिद्धौ वा^४
कथं^५ तत्तादात्म्यम् ? विरोधादिति चेन्न,^६ सर्वथा 'तत्तादात्म्यासिद्धेः कथंचिल्लक्षणभेदात् ।
तथा हि । उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं स्याद्भिन्नमस्खलन्नानाप्रतीतेः^८ रूपादिवत् । सर्वस्य
वस्तुनो^९ नित्यत्वसिद्धेरूपादविनाशप्रतीतेरस्खलत्वविशेषणमसिद्धमिति चेन्न, कथंचित्क्षणिक-

यह हेतु असिद्ध भी नहीं है । क्योंकि मृत्पिण्ड आदि द्रव्य को छोड़कर नाश और उत्पाद का ही अभाव है । पर्याय अपेक्षा से नाश और उत्पाद भिन्न लक्षण सम्बन्धी हैं । किन्तु वे सर्वथा भिन्न नहीं हैं उनका जात्यादि रूप से अवस्थान देखा जाता है ।

सत्, द्रव्यत्व, पृथ्वीत्वादि सामान्य रूप से एकत्व संख्या रूप से एवं उत्पाद-विनाशादि रूप शक्ति विशेष अन्वय रूप से उन दोनों में अभेद है और उसी प्रकार से प्रत्यभिज्ञान भी हो रहा है वही असाधारण मिट्टी रूप द्रव्य घटाकार से नष्ट हुआ और कपालाकार से उत्पन्न हुआ प्रतीति में आ रहा है । इस प्रतीति में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है ।

जो मैं ही सुखी था वही मैं इस समय दुःखी हूँ इस प्रकार से एक ही पुरुष को अनुभव होता हुआ देखा जाता है ।

[उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य में भेद न होने से वस्तु त्रयात्मक कैसे है ?]

शंका—तब तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों में अभेद होने से वस्तु त्रयात्मक है यह बात कैसे सिद्ध होगी ? अथवा वस्तु के त्रयात्मक सिद्ध हो जाने पर उन उत्पादादि तीनों में तादात्म्य कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि विरोध आता है ।

१ सत्त्वद्रव्यत्व । व्या० प्र० । २ वस्त्वपेक्षया । व्या० प्र० । ३ वस्तुन आत्मकत्वसिद्धौ । दि० प्र० । ४ भेद दि० प्र० । ५ अबाधितम् । दि० प्र० । ६ स्याद्वाद्याह । एवं न । कस्मात्तत्तेषामुत्पादव्ययध्रौव्याणां सर्वथा तादात्म्यं न सिद्धमिति यतः पुनः कस्मात् कथञ्चिद् लक्षणभेदात् । तथाहि । अत्रानुमानमस्ति एकस्मिन् वस्तुन्युत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं पक्षः कथञ्चिद्भिन्नं भवतीति साध्यो धर्मः । अप्रतिहतनःनाप्रतीतेरिति हेतुः । यथैकस्मिन् कर्कटिकादिद्रव्ये रूपरसादयः कथञ्चिद्भिन्ना अनेकेन्द्रियग्राह्यत्वात् । अस्खलन्नानाप्रतीतिकं चेदं तस्मात्स्याद्भिन्नम् । दि० प्र० । ७ तेषामुत्पादादीनाम् । व्या० प्र० । ८ अस्खलन्ती चासी नाना प्रतीतिश्च तस्याः । दि० प्र० । ९ अत्राह सर्वथा नित्यवादी हे स्याद्वादिन् सर्वं जीवादिवस्तु नित्यं सिद्धं यतस्तत् उत्पादविनाशप्रतीतेरिति हेतुः अस्खलनत्वमिति विशेषणमसिद्धमिति चेत् स्याद्वाद्याह । एवं न । वस्तुनः कथंचित्क्षणिकत्वसाधनात् = तत् एव कथञ्चित् क्षणिकत्वसाधनादेव ध्रौव्यप्रतीतेरपि अस्खलनत्वमिति विशेषणं सिद्धम् । कस्माद्द्वस्तुनः सर्वथा क्षणिकत्वप्रतिषेधात् । दि० प्र० ।

त्वसाधनात् । तत^१ एव ध्रौव्यप्रतीतेरस्खलत्वं सिद्धं, सर्वथा क्षणिकत्वनिराकरणात् । न चोत्पादादीनां^२ कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वं विरुद्धं, तदात्मनो वस्तुनो जात्यन्तरत्वेन^३ कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वादन्वया^४ तदवस्तुत्वप्रसङ्गात् । उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव । तथा हि । उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वाद्विद्यत्कुसुमवत् । तथा स्थितिबिनाशौ प्रतिपत्तव्यौ । स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादरहितत्वात् तद्वत्^५ । विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् तद्वदेव । इति योजनात् 'सामर्थ्यादुत्पादव्य-

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि सर्वथा इन तीनों में तादात्म्य असिद्ध है । कथञ्चित् लक्षण भेद पाया जाता है ।

तथाहि । उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य कथञ्चित् भिन्न लक्षण वाले हैं क्योंकि अस्खलित रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीति हो रही है । जैसे एक बिजौरे में रूप, रसादि कथञ्चित् भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं ।

सांख्य—सभी वस्तुयें नित्य रूप सिद्ध हैं, इसलिये उत्पाद विनाश की प्रतीति में अस्खलित रूप विशेषण देना असिद्ध है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि हमने वस्तु को कथञ्चित् क्षणिक रूप भी सिद्ध किया है । उसी हतु से ध्रौव्य प्रतीति भी अस्खलित रूप सिद्ध है । क्योंकि हमने सर्वथा क्षणिक मत का निराकरण कर दिया है और उत्पादादि में कथञ्चित् भिन्न लक्षणत्व विरुद्ध भी नहीं हैं । क्योंकि तदात्मक वस्तु जात्यन्तर रूप से कथञ्चित् भिन्न लक्षण वाली है । अन्यथा वे उत्पादादि अवस्तु ही जायेंगे ।

परस्पर में अनपेक्ष उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आकाश पुष्प के समान हैं ही नहीं ।

तथाहि । केवल उत्पाद नहीं है क्योंकि वह स्थिति और विनाश से रहित है, आकाश पुष्प के समान । उसी प्रकार से स्थिति और विनाश को भी समझना चाहिये ।

१ सर्वस्य वस्तुनो नित्यत्वात् । दि० प्र० । २ अत्राह परः हे स्याद्वादिन् एकस्मिन् वस्तुनि वर्तमाना उत्पादादयस्त्रयः कथञ्चिद्भिन्नलक्षणाः संभवंतीति विरुद्धमित्युक्ते स्याद्वाद्याह । एवं न कुतस्त्रिस्वभावस्य वस्तुनो जात्यन्तरत्वेनोत्पादादीनां त्रयाणां मिलितत्वेन पानकेनेव कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वमस्ति यतः । अन्यथा सर्वदा भिन्नलक्षणत्वं भवति चेत्तदा तेषामुत्पादादीनां त्रयाणामवस्तुमायाति = अवस्तुत्वं कथमित्युक्ते स्याद्वादी अनुमानेनोत्तरं ददाति । उत्पाद-यस्त्रयः पक्षः परस्परमनपेक्षा न भवन्ति साध्यो घर्मोऽर्थक्रियारहितत्वात् यदर्थक्रियारहितं तन्नास्ति । यथा खपुष्पमर्थ-क्रियारहिताश्चामी तस्मात्परस्परमनपेक्षा न भवन्तीति । दि० प्र० । ३ एकस्मादुत्पादयुक्तात्स्थितियुक्तात् व्यययुक्ता-द्वस्तुनः सकाशात् त्रययुक्तं जात्यन्तरम् । व्या० प्र० । ४ वस्तुनः सकाशात्सर्वथाभिन्नत्वे । व्या० प्र० । ५ खपुष्पवत् (दि० प्र०) । ६ उत्पादादीनां निरपेक्षाणामसत्त्वप्रतिपादनलक्षणात् । व्या० प्र० ।

यध्नौव्ययुक्तं सदिति प्रकाशितं भवति, तदन्यतमापाये^१ सत्त्वानुपपत्तेः । प्रत्येकमुत्पादादीनां सत्त्वे^२ त्रयात्मकत्वप्रसङ्गादनवस्थेत्यपि दूरीकृतमनेन, तेषां परस्परमनपेक्षाणामेकशः सत्त्व-निराकरणात् । किं^३ च,—

घटमौलिसुवर्णार्थो नाशोत्पादस्थितिध्वयम् ।

शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥५६॥

केवल स्थिति भी नहीं है क्योंकि वह विनाश और उत्पाद से रहित आकाश पुष्प के समान । केवल विनाश भी नहीं है, स्थिति उत्पाद से रहित होने से आकाश पुष्प के समान । इस प्रकार की योजना रूप सामर्थ्य से “उत्पादव्ययध्नौव्ययुक्तं सत्” यह सूत्रकार का वचन प्रकाशित हो जाता है । उनमें से किसी एक का अभाव करने पर वस्तु का सत्त्व ही सिद्ध नहीं हो सकता है ।

“प्रत्येक उत्पादादि तीनों को ही अलग-अलग सत् रूप मानने पर उत्पादादि प्रत्येक को त्रयात्मकपने का प्रसंग आ जाने से अनवस्था आ जायेगी” इस बात का भी खण्डन इसी कथन से अर्थात् उत्पादादि अकेले-अकेले नहीं रह सकते हैं इस कथन से खण्डित कर दिया गया समझना चाहिये, क्योंकि परस्पर में अनपेक्ष उन-उन उत्पादिकों का एक-एक रूप से अस्तित्व रूप होना निराकृत कर दिया गया है ।

उत्थानिका—और दूसरी बात यह है कि—

घट का इच्छुक घड़ा नाश से करता शोक सहेतुक है ।

मुकुट अर्थात् तो मुकुटोत्पाद से हर्षित हुआ सहेतुक है ॥

स्वर्णार्थी इन उभय अवस्था में मध्यस्थ स्वभाव धरे ।

व्यय, उत्पाद, ध्नौव्य के ये दृष्टांत सहेतुक कहे खरे ॥५६॥

कारिकार्थ—घट, मौलि एवं सुवर्ण के इच्छुक ये तीन व्यक्ति नाश, उत्पाद एवं स्थिति में सहेतुक ही शोक, प्रमोद एवं माध्यस्थ भाव को प्राप्त होते हैं । ॥५६॥

। अत्राह परः हे स्याद्वादिन् ! एकस्मिन् वस्तुनि उत्पादादीनां त्रयाणां प्रत्येकं सत्त्वाङ्गीकारे । कोर्थः । उत्पाद-स्त्रयात्मकः । विनाशस्त्रयात्मकः । स्थितिस्त्रयात्मकः । तत्रापि ते च त्रयः प्रत्येकं त्रयात्मकाः तत्रापि ते च त्रयः । प्रत्येकं त्रयात्मका एवमत्रेपि त्रयात्मकत्वादनवस्थादोषः संभवति । इत्युक्ते स्याद्वाद्याह अनपेक्षा खपुष्पवत् । इत्यनेनैव पदेन दूरीकृतत्वात् । दि० प्र० । 2 वस्तुनः सकाशात्सर्वथा भिन्नत्वे । दि० प्र० । 3 एकस्य वस्तुन उत्पादव्ययध्नौव्यत्वं लौकिकदृष्टान्तेन समर्थयन्ति । (व्या० प्र०) ।

प्रतीतिभेदमित्थं^१ समर्थयते सकललौकिकजनस्याचार्यः । स^२ हि घटं भङ्क्त्वा मौलिनिर्वर्तने^३ घटमौलिसुवर्णार्थी तन्नाशोत्पादस्थितिषु विषादहर्षो^४ दासीन्यस्थितिमयं जनः प्रतिपद्यते इति, घटार्थिनः शोकस्य घटनाशनिबन्धनत्वात्, मौल्यार्थिनः प्रमोदस्य मौल्युत्पादनिमित्तत्वात्, सुवर्णार्थिनो माध्यस्थ्यस्य सुवर्णस्थितिहेतुकत्वात्, तद्विषादादीनां निर्हेतुकत्वे तदनुपपत्तेः, पूर्वतद्वासनामात्रनिमित्तत्वेपि तन्नियं मासंभवात् । तद्वासनायाः प्रबोधकप्रत्ययनियमाश्रितत्वाद्विषादादिनियम^५ इति चेत्तर्हि नाशोत्पादान्वया एव वासनाप्रबोधकप्रत्यया

आचार्य श्री समंतभद्रस्वामी सभी लौकिक जनों के लिये “इस प्रकार से प्रतीति भेद का समर्थन करते हैं । क्योंकि ये मनुष्य घट का विनाश करके मौलि—मुकुट को बनाने में घट के इच्छुक, मुकुट के इच्छुक एवं केवल सुवर्ण के इच्छुक ये तीनों क्रमशः घट के नाश, मुकुट के उत्पाद और दोनों की स्थिति रूप सुवर्ण के अस्तित्व में विषाद, हर्ष एवं औदासीन्य अवस्था को प्राप्त होते हैं ।

घटार्थी को शोक घट के नाश के निमित्त से होता है । मुकुटार्थी को प्रमोद मुकुट के उत्पाद के निमित्त से होता है तथा सुवर्णार्थी मनुष्य का माध्यस्थ भाव दोनों अवस्थाओं में सुवर्ण की स्थिति के बने रहने के निमित्त से होता है । उन मनुष्यों के विषाद, हर्षादि को निर्हेतुक मानने पर वे विष्यादादि हो ही नहीं सकते हैं ।

बौद्ध—हम विषादादिकों के लिये कुछ भी हेतु नहीं मानते हैं किन्तु पूर्व की विषादादि रूप वासना मात्र के निमित्त से ही वे विषादादि होते हैं । ऐसा कहने पर—

जैन—तब तो पूर्व की वासना मात्र को निमित्त मान लेने पर भी उन विषादादिकों के निर्णय का नियम नहीं बन सकेगा ।

बौद्ध—उस वासना के प्रबोधक कारणों का नियम होने से विषादादिकों का नियम निश्चित ही है ।

१ उत्पादादीनाम् । व्या० प्र० । २ जनः । दि० प्र० । ३ उत्सादने । दि० प्र० । ४ घटार्थी पुमान् घटनाशनिमित्तत्वात् शोकं प्राप्नोति । मुकुटार्थी जनो मुकुटोत्पत्तिनिबन्धनत्वात्प्रमोदं याति । काञ्चनार्थी लोकः काञ्चनस्थितिनिमित्तत्वात् माध्यस्थ्यं लभते । एवं लौकिकदृष्टान्तेन त्रयात्मकवस्तुस्थापनं कृतमाचार्येण । दि० प्र० । ५ अत्राह सौगतः हे स्याद्वादिन् विषादादिवासनानियतत्वात् वासनाप्रबोधप्रत्ययनियमो जायते । तस्माद्विषादादिनियम इति चेत् । स्याद्वादी वदति तर्हि नाशोत्पत्तिस्थित एव वासनोत्पादकप्रत्यया भवन्ति । इत्युत्तरोत्तरेण नाशादय एव शोकादीनां बहिरङ्गा हेतवो भवन्ति । तर्हि अन्तरङ्गा हेतवः के इत्युक्ते आह । मोहनीयस्य शोकरत्यादिप्रकृतिविशेषोदया अन्तरङ्गहेतवो भवन्तीति तेषां मोहनीयविशेषोदयानां वासना इति नाममात्रं भिद्येत । अर्थो न भिद्येत । कस्मात् । जैनैः भावमोहविशेषाणां वासनास्वभावत्वमभ्युपगम्यते यत एवं ततः लौकिकदृष्टान्तेन त्रयात्मकं वस्तु सिद्धम् । कस्मात् प्रतीतिभेदसिद्धेः दि० प्र० । ६ घटलिङ्गादिज्ञापककारण । वासनाप्रकाशकाः प्रत्ययाः कारणानि । व्या० प्र० ।

इति पारम्पर्यात् एव शोकादिहेतवो बहिरङ्गाः । अन्तरङ्गास्तु मोहनीयप्रकृतिविशेषोदया इति, तेषां वासनेति नाममात्रं भिद्येत; नार्थः^१, स्याद्वादिभिर्भावमोहविशेषाणां वासनास्वभाव-तोपगमात् । ततः सिद्धं लौकिकानामुत्पादादित्रयात्मकं वस्तु, तत्प्रतीतेर्भेदसिद्धेः । किंच,—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं^२ त्रयात्मकम्^३ ॥६०॥

^४लोकोत्तरदृष्टान्तेनापि तत्र^५ प्रतीतिनानात्वं विनाशोत्पादस्थितिसाधनं प्रत्याययति^६, दधिपयोऽगोरसव्रतानां क्षीरदध्युभयवर्जनात् क्षीरात्मना नश्यद्दध्यात्मनोत्पद्यमानं गोरसस्वभावेन

जैन—तब तो नाश, उत्पाद और अन्वय स्थिति ही वासना के प्रबोधक कारणों से हुए हैं। इस-लिए परम्परा से वे ही शोकादि के बहिरंग हेतु हैं तथा अंतरंग हेतु तो मोहनीय कर्म की प्रकृति विशेष का उदय ही है आपने उन दोनों हेतुओं को ही 'वासना' यह नाम रख दिया है। अतः आपके कथन में नाम मात्र ही भेद रहता है, अथ भेद कुछ भी नहीं है। स्याद्वादियों ने तो भावरूप मोहकम विशेष को ही वासना स्वभाव स्वीकार किया है।

इसलिये यह बात लौकिक जनों को सिद्ध हो गई कि वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक ही हैं, क्योंकि उन उत्पादिकों की प्रतीति आ रही है। अतः उनमें भेद सिद्ध ही है।

उत्थानिका—और दूसरी बात यह है कि—

क्षीर पिऊंगा यह व्रत जिसके दही नहीं वह खाता है।

दधिव्रत वाला क्षीर न पीता चूंकि क्षीर को त्यागा है ॥

गोरस त्यागी उभय न लेता चूंकि द्रव्य पर दृष्टि धरे ॥

इससे वस्तु तत्त्व त्रयात्मक सह ध्रुव व्यय उत्पाद धरे ॥६०॥

कारिकार्थ—जिसका दूध ही लेने का नियम है वह दधि को नहीं खाता है और जिसको दधि को लेने का नियम है वह दूध नहीं पीता है। और जिसका गोरस का ही त्याग है वह दूध और दही दोनों को ही नहीं खाता है इसलिये तत्त्व भी त्रयात्मक है ॥६०॥

अब लोकोत्तर दृष्टांत के द्वारा भी उनमें प्रतीति के भिन्न-भिन्न रूप विनाश, उत्पाद और स्थिति के साधनों का निश्चय कराते हैं। 'दही को ही ग्रहण करूंगा' इस प्रकार के व्रत वाला दूध को नहीं पीता है। 'दूध को ही पीऊंगा' इस प्रकार के व्रत वाला दही को नहीं ले सकता है तथैव

१ नन्वस्याभिर्योगाचारंज्ञानं वासनेत्युच्यते । भवद्भिश्च जैनैर्द्रव्यं वासनेति तत् कथमर्थभेदोऽनयोर्न स्यात् । ज्ञान-वासनाया इत्याशङ्क्यायामाह । व्या० प्र० । २ जीवादि । व्या० प्र० । ३ उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपम् । दि० प्र० । ४ उत्कृष्ट । व्या० प्र० । ५ तत्त्वे । व्या० प्र० । ६ प्रतिपादयत्याचार्यः । व्या० प्र० ।

¹तिष्ठतीति,² पय³ एव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमभ्युपगच्छतो दध्युत्पादेपि पयसः सत्त्वे दधिवर्जनानुपपत्तेः⁴, दध्येव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतं स्वीकुर्वतः पयस्यपि दध्नः सत्त्वे पयोवर्जनायोगात्, अगोरसं मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमङ्गीकुर्वतोनुस्यूतप्रत्ययविषयगोरसे दधि-पयसोरभावे ⁵तदुभयवर्जनाघटनात् । प्रतीयते च तत्तद्व्रतस्य⁶ तत्तद्वर्जनम् । ततस्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।

[वस्तु त्रयात्मकमेव पुनः अनंतधर्मात्मकं कथं सिद्धयेत् ?]

न चैवमनन्तात्मकत्वं वस्तुनो विरुध्यते, प्रत्येकमुत्पादादीनामनन्तेभ्य उत्पद्यमान-विनश्यत्तिष्ठद्भ्यः कालत्रयापेक्षेभ्योर्थेभ्यो भिद्यमानानां विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतोनन्तभेदोपपत्तेः,

गोरस रूप दूध और दही इन दोनों के त्याग वाला व्यक्ति दूध और दही दोनों को ही नहीं लेता है अतः दूध रूप से नष्ट होता हुआ, दही रूप से उत्पन्न होता हुआ वही गोरस स्वभाव से मौजूद ही है ।

“मुझे दूध ही आज लेना है” इस प्रकार से व्रत को करने वाले मनुष्य के दही उत्पन्न होने पर भी उसमें दूध का सत्त्व स्वीकार करने पर तो दही का त्याग बन नहीं सकता है । “मुझे आज दही ही लेना है” इस व्रत को रखने वाले मनुष्य को दूध में भी दही का सत्त्व मान लेने पर दूध का त्याग नहीं बन सकेगा किन्तु त्याग तो देखा हो जाता है । तथैव “मैं आज गोरस ही नहीं लेऊँगा” इस व्रत को स्वीकार करने वाले मनुष्य को अनुस्यूत—अन्वय प्रत्यय के विषयभूत गोरस में दही और दूध का अभाव मानने पर उन दोनों का त्याग घटेगा ही नहीं किन्तु उन-उन व्रत वालों को उन-उन वस्तुओं का त्याग करना प्रतीति में आ रहा है । इसीलिये तत्त्व त्रयात्मक ही है ।

[वस्तु त्रयात्मक है पुनः अनंतधर्मात्मक कैसे कही जावेगी ?]

इस प्रकार से एक वस्तु को त्रयात्मक मान लेने पर उसी वस्तु को अनन्तात्मक मानना विरुद्ध है, ऐसा आप नहीं कह सकते हैं । क्योंकि प्रत्येक वस्तु में उत्पादादिकों के उत्पन्न होते हुये, नष्ट होते हुये और स्थित होते हुये रूप तीन काल की अपेक्षा रखने वाले अर्थ अनंत हैं । उन अनंत अर्थों से भेद को

1 तिष्ठति तत्त्वमिति प्रत्यययति । व्या० प्र० । 2 गोरसतत्त्वम् । दि० प्र० । 3 यत् एव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतं यस्य सः पयोव्रतः पुमान् । दधि न खादति । कुतः दधिपयसि पयसः सद्भावाभावात् । तथा दध्येवाद्य मया भोक्तव्यमितिव्रतं यस्य स दधिव्रतः पुरुषः दुग्धं तन्न क्षयति कुतः पयस्यपि दध्नः सत्त्वाभावात् । तथा गोरसरहित-मन्यद्भोजनं मयाद्य भोज्यमिति व्रतं यस्त्र सः अगोरसव्रतो जनः । उभे पयोदधिनी न भुङ्क्ते कस्मादनुस्यूतप्रत्यय-विषयगोरसे दधिपयसोद्भयोः सत्त्वसंभवात् एवं यथागोरसतत्त्वं दुग्धात्मना प्रणश्यद्दधिस्यरूपेणोत्पद्यमानं गोरसस्वभावेन तिष्ठत् च सत् त्रयात्मकं सिद्धम् । तथा चेतनाचेतनात्मकञ्च सर्वं तत्त्वमात्मकं सिद्धं ज्ञेयम् । दि० प्र० । 4 नश्यतीति साध्यम् । व्या० प्र० । 5 गोरसस्वभावेन तिष्ठतीति साध्यम् । व्या० प्र० । 6 तस्मिन्स्त्वस्मिन् क्षीरे दध्नि अगोरसे व्रतं प्रवृत्तिर्यस्य । व्या० प्र० ।

पररूपव्यावृत्तीनामपि वस्तुस्वभावत्वसाधनात्, तदवस्तुस्वभावत्वे सकलार्थसाङ्कर्यप्रसङ्गात् । तथा तत्त्वस्य त्रयात्मकत्वसाधनेनन्तात्मकत्वसाधने^१ च नित्यानित्योभयात्मकत्वसाधनमपि^२ प्रकृतं न विरुध्यते, स्थित्यात्मकत्वव्यवस्थापनेन कथञ्चिन्नित्यत्वस्य विनाशोत्पादात्मकत्व-प्रतिष्ठापनेन चानित्यत्वस्य^३ साधनात् । ततः सूक्तं सर्वं वस्तु स्यान्नित्यमेव, स्यादनित्य-मेवेति । एवं स्यादुभयमेव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यान्नित्यावक्तव्यमेव, स्यादनित्यावक्तव्यमेव, स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम् ।^४ यथायोग^५मेतत्सप्तभङ्गीव्यवस्थापनप्रक्रियामपि^६ योजयेन्नयप्रमाणापेक्षया^७ सदाद्येकत्वादिसप्तभङ्गीप्रक्रियावत् ।

प्राप्त हुये उत्पादादिकों के विवक्षित वस्तु में, वास्तव में अनंत भेद बन जाते हैं । क्योंकि पर रूप से व्यावृत्तियां भी तो वस्तु का ही स्वभाव है । यदि उन व्यावृत्तियों को अवस्तु स्वभाव मानोगे तब तो सकल पदार्थों में संकर दोष का प्रसंग आ जायेगा ।

भावार्थ—एक घट का उत्पाद है वह पट के उत्पाद से व्यावृत्त—भिन्न है तथा मठ के उत्पाद से व्यावृत्त है, महल के उत्पाद से व्यावृत्त है इत्यादि अनंत पदार्थों के उत्पाद से व्यावृत्त है और वे पर रूप से व्यावृत्तियां भी वस्तु का स्वभाव है अवस्तुरूप नहीं है । घट के उत्पाद में पर रूप से व्यावृत्ति रूप उत्पाद अनंत होने से वे सब उत्पाद घट के हैं अतः अनंत उत्पाद हैं, तथैव नाश और स्थिति भी अनंत पर रूप नाश और स्थिति से व्यावृत्त होने से अनंत ही है ।

इस प्रकार से तत्त्व को—वस्तु को त्रयात्मक और अनन्तात्मक रूप सिद्ध कर देने पर एक ही वस्तु में नित्य, अनित्य और उभयात्मक रूप को सिद्ध करना भी प्रवृत्त में विरुद्ध नहीं है । क्योंकि स्थित्यात्मक की व्यवस्था से कथञ्चित् नित्यत्व सिद्ध होता है और विनाशोत्पाद की व्यवस्था से एक ही वस्तु में अनित्यत्व की सिद्धि भी होती है ।

इसलिये यह बिल्कुल ठीक ही कहा है कि—

सभी वस्तु कथञ्चित् नित्य ही हैं, तथा कथञ्चित् अनित्य ही हैं । एवं कथञ्चित् उभयात्मक रूप ही हैं, कथञ्चित् अवक्तव्य ही हैं, कथञ्चित् नित्यावक्तव्य रूप ही हैं, कथञ्चित् अनित्यावक्तव्य रूप ही हैं एवं कथञ्चित् उभयावक्तव्य रूप ही हैं । इस प्रकार से लगा लेना चाहिये ।

यथा योग्य रूप से इस सप्तभंगी प्रक्रिया को भी नय प्रमाण की अपेक्षा से योजित कर लेना चाहिये । जैसे कि पूर्व में सदादि, एकत्वादि में सप्तभंगी की प्रक्रिया को घटित किया है ।

१ सति । व्या० प्र० । २ अस्मिन् परिच्छेदे प्रारब्धम् । दि० प्र० । ३ कथञ्चित् । दि० प्र० । ४ यथासंभवम् । व्या० प्र० । ५ नित्यानित्यसप्तभङ्गी । व्या० प्र० । ६ नित्यत्वं प्रतिषेधेनाविनाभावीत्यारूपाम् । दि० प्र० । ७ स्यान्नित्यत्वमेव सामान्यापेक्षया स्यादनित्यमेव विशेषापेक्षया इत्यादिनयापेक्षया नित्यत्वं प्रतिषेधेनाविनाभावि-विशेषणत्वादि अनुमानाख्यं प्रमाणापेक्षया च । दि० प्र० ।

नित्य एवं क्षणिक में स्याद्वाद सिद्धि का सारांश

नित्यत्व एवं अनित्यत्व रूप उभयैकात्म्य को एकांत से स्वीकार करना शक्य नहीं, क्योंकि ये दोनों निरपेक्ष परस्पर विरुद्ध हैं जैसे-जीवन और मरण । किन्तु यदि दोनों सापेक्ष हैं तो सुघटित हैं । तथैव तत्त्व को अवाच्य कहना भी स्ववचन बाधित है । जैसे “मैं मौनव्रती हूँ” ऐसा बोलने वाला पुरुष । इस प्रकार से तत्त्वोपलब्धवादी के दुराशय को दूर करते हुये पुनः जैनाचार्य अनेकांत का समर्थन करते हैं ।

हे भगवन ! आप स्याद्वाद के नायक हैं, आपके यहां सभी वस्तुएँ कथंचित् नित्य हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान का विषय है एवं एकत्व प्रत्यभिज्ञान भी अविच्छेद रूप से अनुभव में आ रहा है, अतः भ्रांत भी नहीं है । सभी जीवादि वस्तु कथंचित् क्षणिक हैं क्योंकि परिणाम भेद—काल भेद पाया जाता है । सर्वथा नित्य में क्रम से अथवा युगपत् क्रिया संभव नहीं है क्योंकि पूर्व स्वभाव का त्याग करके उत्तर स्वभाव को प्राप्त करना ही अर्थ क्रिया का लक्षण है । सर्वथा क्षणिक में भी अर्थ क्रिया असंभव है । अतः इन दोनों एकांत का अस्तित्व ही संभव नहीं है । सर्वथा नित्य में पूर्वाकार त्याग और उत्तराकारोत्पाद का अभाव है । एवं क्षणिक में अनेक शक्यात्मक अन्वय रूप एक द्रव्य का अभाव है । कथंचित् नित्यानित्य वस्तु में ही पूर्वाकार का त्याग, उत्तराकार का उपादान एवं दोनों अवस्थाओं में एक अन्वय द्रव्य का सद्भाव है ।

यदि आप कहें कि एक ही वस्तु में उत्पादादि रूप त्रय का स्वभाव भेद होने से अनेकत्व, विरोध आदि दोष आयेंगे । सो दोष हमारे स्याद्वाद से नहीं आ सकते हैं । आपके यहां भी एक चित्त ज्ञान में ग्राह्य-ग्राहकाकार अनेक हैं, किन्तु ज्ञान एक है । उसमें अनेकत्व, विरोध, संकर आदि दोष नहीं हैं ।

हे भगवन् ! आपके अनेकांत शासन में सभी जीवादि वस्तु सामान्य रूप से न उत्पन्न होती हैं, न नष्ट होती हैं क्योंकि “यह वही है” ऐसा अन्वय देखा जाता है । तथा विशेष की अपेक्षा से सभी वस्तु उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं अतः युगपत् एक वस्तु में उत्पादादि तीनों पाये जाते हैं क्योंकि “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” ऐसा वचन है । “सभी वस्तु चलाचलात्मक हैं क्योंकि कृतक और अकृतक रूप हैं ।” चल-उत्पाद, व्यय एवं अचल-ध्रौव्य रूप हैं । पूर्वाकार त्याग एवं उत्तराकारोत्पाद पर व्यापार की अपेक्षा रखते हैं अतः कृतक हैं एवं द्रव्य स्थास्नुस्वभाव वाला है, पर अपेक्षा से रहित अकृतक है ।

उपादान का पूर्वाकार से क्षय होना ही कार्य का उत्पाद है और वह नियम से एक हेतुक है। अर्थात् उपादान का क्षय ही उपादेय का उत्पाद है।

इस पर यौग का कहना है कि उपादान घट का विनाश बलवान् पुरुष के मुद्गर के अभिघात से हुआ है वह अवयव के विभाग से एवं संयोग के विनाश से ही है किन्तु उपादेय कपाल की उत्पत्ति तो अपने आरंभक परमाणुओं के संयोग से हुई है। अतएव उन दोनों के हेतु भिन्न-भिन्न ही हैं, एक नहीं है। क्योंकि अवयवों के विभाग से और अवयवों के संयोग का नाश होने से घड़ा फूट गया है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार की नाशोत्पाद प्रक्रिया देखने में नहीं आती है, प्रत्युत बलवान् पुरुष के मुद्गर से ही घड़े का फूटना और कपाल होना एक साथ देखा जाता है। तथा महा-स्कंध रूप घट के विनाश से लघु स्कंध रूप कपालों की उत्पत्ति देखी जाती है। क्योंकि "भेदसंघातेभ्य-उत्पद्यन्ते" ऐसा सूत्रकार का वचन है। अतः परमाणु से ही स्कंध होता है ऐसा मानना ठीक नहीं है। यदि कोई उत्पाद, विनाश में सर्वथा अभेद ही कहे तो भी हमें इष्ट नहीं है। क्योंकि लक्षण भेद से दोनों कथंचित् भिन्न भी हैं। सुख और दुःख के समान स्वरूप के लाभ को उत्पाद एवं स्वरूप से प्रच्युति को नाश कहते हैं अतः लक्षण भेद सिद्ध है।

उसी प्रकार से उत्पादादि तीनों ही भिन्न-भिन्न लक्षण वाले होने से कथंचित् भिन्न हैं। जैसे एक बिजौरे में रूप, रसादि। परस्पर में अनपेक्ष उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आकाशपुष्पवत् अस्तित्व शून्य हैं। केवल उत्पाद नहीं है। क्योंकि स्थिति विनाश से रहित है। केवल स्थिति या विनाश भी असंभव है। एवं तीनों पृथक्-पृथक् सत् रूप ही नहीं हैं। क्योंकि तीनों से युक्त एक जात्यंतर वस्तु ही सत् रूप है।

इसी बात को लौकिक एवं पारमार्थिक उदाहरण द्वारा आचार्य पुष्ट करते हैं कि घटार्थी को घट के नाश से शोक, मुकुटार्थी को मुकुट के उत्पाद से प्रमोद एवं सुवर्णार्थी को दोनों ही अवस्थाओं में सुवर्ण के रहने से माध्यस्थ भाव होता है। तथा मनुष्यों के ये विषादादि भाव निर्हेतुक नहीं हैं।

यदि आप बौद्ध-वासना से उन्हें मानें एवं वासना के प्रबोधक कारणों का नियम मानें तब तो उनका हेतु निश्चित ही रहा। वासना के प्रबोधक कारण परंपरा से शोकादि के बहिरंग हेतु हैं। अंतरंग हेतु मोहनीय कर्म की प्रकृति विशेष का उदय ही है। आपने इन दोनों हेतुओं को "वासना" यह नाम दे दिया।

इस तरह से लौकिक जनों को वस्तु त्रयात्मक सिद्ध हो गई। अब अलौकिक दृष्टांत द्वारा सिद्ध करते हैं। जिसका दूध ही पीने का नियम है वह दही नहीं खाता है। दही लेने का नियम जिसका है वह दूध नहीं पीता है। एवं जिसका गोरस का ही त्याग है वह दूध, दही दोनों को ही ग्रहण नहीं करता है। अतः तत्त्व त्रयात्मक ही है।

यदि कोई कहे कि वस्तु को त्रयात्मक मान लेने पर उसे 'अनन्तात्मक' मानना विरुद्ध ही है किन्तु ऐसा नहीं है। एक घट का उत्पाद है वह पट, मठ, घाटिका आदि के उत्पाद से व्यावृत्त है इत्यादि अनंत पदार्थों के उत्पाद से व्यावृत्त—भिन्न है। और पर रूप से व्यावृत्ति भी वस्तु का स्वभाव होने से वे अवस्तु रूप नहीं हैं। घट के उत्पाद में पररूप से व्यावृत्तियां रूप उत्पाद अनंत होने से वे सब उत्पाद घट के हैं। अतः अनंत उत्पाद हो गये हैं। तथैव नाश और स्थिति भी अनंत हो जाती है।

अतः वस्तु त्रयात्मक एवं अनन्तात्मक सिद्ध है। वही एक वस्तु नित्य, अनित्य उभयात्मक भी है।

तथैव सप्तभंगी प्रक्रिया सुघटित है, स्यात् सभी वस्तु नित्य ही हैं। स्यात् अनित्य ही हैं। स्यात् उभय ही हैं। स्यात् अवक्तव्य ही हैं। स्यात् नित्यावक्तव्य ही हैं। स्यादनित्यावक्तव्य ही हैं। स्यादुभयावक्तव्य ही हैं।

इस प्रकार प्रमाण नय की विविक्षा से स्याद्वाद सिद्ध है।



नित्याद्ये^१कान्तगर्तप्रपतन^२विषयान्^३प्राणितो^४ऽनर्थसार्था-
 दुद्धर्तु नेतुमुच्चैःपदममलमलं^५मङ्गलानामलङ्ग्यम् ।
 स्याद्वादन्यायवर्त्म^६प्रथयदवितथार्थं वचः^७ स्वामिनोऽदः^८
 प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं^९ जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादम् ।१।

इत्याप्तमीमांसासालंकृतौ तृतीयः परिच्छेदः ।३।

श्लोकार्थ—नित्य, अनित्य आदि एकांत मार्ग रूप गड्ढे में पड़े हुये पराधीन प्राणियों को अनर्थ समूह से निकालने के लिये तथा अमल उच्च-उत्कृष्ट पद में ले जाने के लिये जो समर्थ हैं, सभी मंगलों में उत्कृष्ट मंगल-स्वरूप, स्याद्वाद न्याय मार्ग को प्रसिद्ध करने वाले, सत्य अर्थ को कहने वाले एवं अशेष मिथ्या मत के प्रवाद को विघटित करने वाले हैं। ऐसे प्रेक्षावान, श्री स्वामी समंतभद्राचार्यवर्य के वचन प्रवृत्त हुये हैं ये वचन हमेशा इस पृथ्वी पर जयशील होंगे।

इस प्रकार आप्त मीमांसा की अलंकृति में तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ । ॥३॥

दोहा

सांख्य बौद्ध के तत्त्व हैं, नित्य क्षणिक एकांत ।
 जो जिनवच में नित रमें, पावें सीख्य अनंत ॥१॥

इस प्रकार 'अष्टसहस्री' नामक जैनदर्शन ग्रंथ में
 आर्यिका ज्ञानमतीकृत अनुवाद, पद्यानुवाद,
 भावार्थ, विशेषार्थ और सारांश सहित इस
 'स्याद्वाद चिंतामणि' नामक टीका में
 यह तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ ।



१ एव । दि० प्र० । २ भा । दि० प्र० । ३ पराधीनान् । दि० प्र० । ४ दुःख । दि० प्र० । ५ समर्थ । दि० प्र० ।
 ६ कथयत् । दि० प्र० । ७ नित्यत्वैकान्तपक्षेपीत्यादि । व्या० प्र० । ८ एतत् प्रत्यक्षीभूतम् । व्या० प्र० । ९ विचार-
 पूर्वकत्वात् । दि० प्र० ।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः ।

जीयादष्टसहस्री देवागमसंगतार्थमकलङ्कम् ।

गमयन्ती¹ सन्नयतः प्रसन्नगम्भीरपदपदवी ॥१॥

कार्यकारणनानात्वं² गुणगुण्यन्यतापि च ।

सामान्यतद्वदन्यत्वं³ चैकान्तेन⁴ यदीष्यते⁵ ॥६१॥

कार्यग्रहणात्कर्मणोवयविनोऽनित्यस्य गुणस्य प्रध्वंसाभावस्य च ग्रहणं, कारणवचनात् समवायिनस्तद्वतः प्रध्वंसनिमित्तस्य च । गुणशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिः, ⁶गुणिवचनात्तदा-

जो भेद-अभेद से रहित है, योगियों के ज्ञानगोचर होकर भी अगोचर है, भेदों से रहित एक होकर भी गुणों की अपेक्षा अनंत है ऐसी शूद्धात्मा को हम नमस्कार करते हैं ।

श्लोकार्थ—अकलंक—निर्दोष, देवागम से संगत—अनुरूप अर्थ को, अथवा श्री समंतभद्र स्वामी द्वारा किये गये देवागम स्त्रोत पर श्री अकलंक देव के द्वारा रचित अष्टशती टीका के अर्थ को सम्यक्-नयों के प्रयोग से बतलाती हुई, प्रसन्न एवं गम्भीर पद—वाक्यों से सहित, श्री विद्यानन्द स्वामी द्वारा रचित अष्टसहस्री नामक टीका इस पृथ्वी पर चिरकाल तक जयशील होवे ॥१॥

कार्य और कारण में भेद गुणी से गुण भी भिन्न रहे ।

उसी तरह सामान्य और सामान्यवान् भी पृथक कहें ॥

वैशेषिक मत कहे सर्वथा भिन्न-भिन्न गुण द्रव्य सभी ।

पुनः वस्तु से सत्त्व पृथक हैं अतः वस्तु हैं असत् सभी ॥६१॥

कारिकार्थ—कार्य कारण में सर्वथा भिन्नता है, गुण और गुणी में भी सर्वथा भिन्नता है एवं सामान्य और सामान्यवान् में सर्वथा भिन्नता है । यदि आप एकांत से ऐसा मानते हैं तो इस कारिका की टीका में इनकी एकांत मान्यता देकर अगली कारिका में उसका निराकरण करेंगे ॥६१॥

कारिका में “कार्यपद” के ग्रहण करने में चलनादि क्रिया रूप कर्म तन्वादि कारणों से होने वाले अवयवी, संयोगादि अनित्य गुण एवं मुद्गरादि कारण से होने वाले प्रध्वंसाभाव का ग्रहण किया

1 गमयन्तीकं देवागमसंगतार्थं देवागमाख्यस्य स्तुतेः हृदयंगममर्थं संगतं हृदयंगममिति वचनात् । किं विशिष्ट-मकलंकम् । कलङ्करहितम् । अथवा कलङ्करहितं यथा भवति तथा गमयन्तीति संबन्धः । दि० प्र० । 2 अवयवावयविनोर्भेदः । दि० प्र० । 3 सामान्यविशेषयोर्भेदः । दि० प्र० । 4 सर्वथा । दि० प्र० । 5 यदि चेत् । दि० प्र० । 6 गुणाधारस्य । दि० प्र० ।

श्रयस्य । सामान्याभिधानात्परापरजातिप्रत्ययः¹ । तद्वद्वचनार्थप्रत्यय² इति³ । क्रियातद्वतोर-
वयवावयविनोर्गुणगुणिनोर्विशेषतद्वतोः⁴ ।⁵ सामान्यतद्वतोरभावतद्विशेष्योश्चान्यतैव⁶ , भिन्न-
प्रतिभासत्वात् सद्भावविन्ध्यवदित्युक्तं भवति । न⁷ चात्रासिद्धो हेतुः, साध्यधर्मिणि भिन्न-
प्रतिभासत्वस्य⁸ सद्भावनिश्चयात् । तत⁹ एव न सन्दिग्धासिद्धोऽज्ञातासिद्धो¹⁰ वा । नाप्यन्य-
तरासिद्धो, वादिप्रतिवादिनोरविवादात् ।

गया है । कारण पद के ग्रहण करने से समवायी, समवायवान् अर्थात् कर्मवान्, अनित्यगुणवान्, पटादि
अवयवों का एवं प्रध्वंस के निमित्त का अर्थात् प्रध्वंस के प्रति उपादान कारण घटादि है तथा सहकारी
कारण मुद्गरादि हैं उन सबका ग्रहण हो जाता है । गुण शब्द से नित्य गुणों की प्रतिषत्ति होती है ।
गुणी शब्द से गुणों के आश्रयभूत आकाशादिकों का ग्रहण होता है । सामान्य के कथन से पर सामान्य-
सत्ता एवं अपर सामान्य उसके अन्तर्हित गोत्वादि रूप परापर सामान्य का ज्ञान होता है । तद्वत शब्द
से अर्थ का ज्ञान होता है । अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों को अर्थ कहते हैं ।

क्रिया और क्रियावान्, अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, विशेष-विशेषवान्, सामान्य-सामान्यवान्,
अभाव और तद्विशेष्य इन सभी में भिन्नता ही है क्योंकि उनका भिन्न प्रतिभास पाया जाता है ।
जैसे—सद्य विध्य पर्वत । यह कहा गया है । अर्थात् विशेषण रूप प्रध्वंसाभाव और तद्वान् विशेष्य हैं,
जैसे घट फूट गया । इत्यादि उन सभी में परस्पर में भिन्नता ही है ।

इस अनुमान में हेतु असिद्ध भी नहीं है । भिन्नता रूप साध्य धर्मी में भिन्न प्रतिभासत्व हेतु
का सद्भाव निश्चित है । इसी कथन से यह हेतु संदिग्धासिद्ध अथवा अज्ञातासिद्ध भी नहीं है । एव
अन्यतरासिद्ध भी नहीं है । क्योंकि इस हेतु में वादी और प्रतिवादी इन दोनों को किसी प्रकार का
विवाद नहीं है ।

1 महासत्ता । अपरघटोयं घटोयमिति विशेषः । दि० प्र० । 2 विशेषज्ञानम् । दि० प्र० । 3 हेतोः । व्या० प्र० ।
4 भिन्नोघट इति । दि० प्र० । 5 भिन्नतयैव । दि० प्र० । 6 अत्रकार्यकारणायोर्भिन्नताव्यवस्थापकानु-
माने भिन्नलक्षणप्रतिभासत्वादिति हेतुः असिद्धो न । कुतः पक्षे भिन्नप्रतिभासत्वस्य सत्त्वं निश्चीयते यतः ।
दि० प्र० । 7 हेतोः । दि० प्र० । 8 साध्यधर्मिणि भिन्नप्रतिभासत्वस्य सद्भावनिश्चयादेव । दि० प्र० ।
9 असिद्धो न भवति यतः । व्या० प्र० । 10 अत्राह यौगस्य प्रतिवादी कश्चित् । हे यौग ! नाना पुरुषज्ञानविषयेण
एकेन नतैक्यादिपदार्थेन प्रतिभासत्वादिति हेतोर्व्यभिचारोस्तीति चेत् । यौगो वदति एवं न कुत एकपुरुषापेक्षया
भिन्नप्रतिभासत्वमिति हेतोरस्माभिरङ्गीकरणात् । = पुनराह परः हे यौग तथाप्यनुक्रमेण एकपुरुषस्यव्यक्ताव्यक्तादि
भिन्नलक्षणज्ञानविषयेण एकेनार्थेन व्यभिचारोस्तीति चेत् न । कुतः क्रमो भवतु अक्रमो वा भवतु । लक्षणत्वस्य
भिन्नप्रतिभासत्वमिति हेतोरस्माभिरङ्गीकरणात् = दूरासन्तानेकपुरुषविषयेणकपादेन । दि० प्र० ।

[केचित्तदस्या जनादयः शकन्ते वैशेषिकाः स्वपक्षं पोषयन्तः समादधते ।]

१ भिन्नपुरुषप्रतिभासविषयेणाभिन्नेना^२ र्थेन^३ व्यभिचार इति चेन्नैकपुरुषापेक्षया^४ भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात् । ५ तथापि क्रमेणैकप्रतिपत्तृभिन्नप्रतिभासविषयेणैकेन वस्तुनानेकान्त इति चेन्न, ६ भिन्नलक्षणत्वस्य^७ भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात् । भिन्नं हि लक्षणं^८ कार्यकारणयोग्योर्गुणगुणिनोः^९ सामान्यतद्वतोश्च प्रतिभासते । न चैकस्य वस्तुनो भिन्नलक्षणत्वेन प्रतिभासोस्ति, येन व्यभिचारः । तत एव न विरुद्धो हेतुः साकल्येनैकदेशेन वा विपक्षे वृत्त्यभावात् । नापि कालात्ययापदिष्टः^{१०}, पक्षस्य प्रत्यक्षागमबाधाऽभावात् ।

[कोई जनादि तदस्य जन-शंका कर रहे हैं और वैशेषिक अपने पक्ष को पुष्ट करते हुये समाधान दे रहे हैं ।]

जनादि—भिन्न पुरुष के प्रतिभास के विषयभूत अभिन्न पदार्थ के द्वारा व्यभिचार दोष आता है क्योंकि भिन्न प्रतिभास में भी भेद सिद्ध नहीं होता है ।

योग—नहीं । हमने एक पुरुष की अपेक्षा से भिन्न प्रतिभासत्व को "हेतु" बनाया है ।

जनादि—फिर भी क्रम से एक प्रतिपत्ता के भिन्न प्रतिभास विषयक एक वस्तु से व्यभिचार आता है । अर्थात् एक ही जानने वाले व्यक्ति को दूरवर्ती देश का प्रतिभास अन्य रूप है और समीपवर्ती देश का प्रतिभास अन्य रूप ही है । अतः एक वस्तु में ही भेद दीखता है इसलिये व्यभिचार दोष आता है ।

योग—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि भिन्न लक्षण रूप भिन्न प्रतिभास ही यहां पर हेतु है । कार्य-कारण में गुण-गुणी में और सामान्य-विशेष में भिन्न रूप लक्षण प्रतिभासित होता है । किन्तु एक वस्तु में भिन्न लक्षण रूप से प्रतिभास नहीं है । अतः व्यभिचार नहीं आता है । इसलिये यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है । साकल्य से अथवा एक देश रूप से सर्वथा अभेद रूप विपक्ष में इस हेतु के रहने

१ नाना । दि० प्र० । २ पादपलक्षणेन । व्या० प्र० । ३ योगः । दि० प्र० । ४ परः । दि० प्र० । ५ न लक्षणत्वस्य भिन्न प्रतिभासत्वस्य । इति पा० । दि० प्र० । ६ भिन्नलक्षणस्वरूपं येषाम् । व्या० प्र० । ७ स्वरूपम् । व्या० प्र० । ८ योगः प्रतिपादयति । हे स्याद्वादिन् कार्यकारणयोग्योर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोः च भिन्नमेव । लक्षणं प्रतिभासते । एकस्य वस्तुनो भिन्नलक्षणत्वेन प्रतिभासो नास्ति । येन केन प्रतिभासत्वादिति । हेतोर्व्यभिचारः अपितु न—तत एव व्यभिचाराभावादेव हेतुविरुद्धो न । कुतः सामस्त्येन एकदेशेन वा विपक्षे कथञ्चिदभिन्नत्वे प्रवृत्तेरभावात् । दि० प्र० । ९ योगो वदति प्रतिभासत्वादिति हेतुः कालात्ययापदिष्टोपि न पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधाभावात् । प्रत्यक्षानुमानागमादिना बाधितः पक्षो यस्य स कालात्ययापदिष्टो हेतुः । यथाग्निस्नुष्णो द्रव्यत्वाज्जलवत् । अग्निरुष्णः प्रत्यक्षेण प्रतीयते हस्ते दाहस्फोटकारित्वात् = अत्राह स्याद्वादी हे योग भवत्पक्षः प्रत्यक्षागमाभ्यां बाधितो मा भवतु । अनुमानबाधितोस्ति । कथमित्युक्ते स्याद्वादी अग्रे पाठे अनुमानं रचयति । (दि० प्र०) । १० व्यतिरेकध्यापितः । दि० प्र० ।

कार्यकारणयोगुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोस्तादात्म्यमभिन्नदेशत्वात् । ययोरस्तादात्म्यं न तयोर-
भिन्नदेशत्वम्^१ । यथा सह्यविन्ध्ययोः । अभिन्नदेशत्वं च प्रकृतयोः^२ । तस्मात्तादात्म्यम्^३ ।
इत्यनुमानेन पक्षस्य बाधेति चेन्न^४, शास्त्रीयदेशाभेदस्यासिद्धत्वात्, कार्यस्य स्वकारण-
देशत्वात् कारणस्यापि स्वान्यकारणदेशत्वात्^५ । एतेन गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च
देशभेदस्य प्रतिपादनात् लौकिकदेशाभेदस्य तु व्योमात्मादिभिर्व्यभिचारादस्यानुमानस्यासमी-
चीनत्वात् प्रकृतपक्षबाधकत्वासंभवात् । कथंचित्तादात्म्यस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः सर्वथा भेद-

का अभाव है । यह कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है । क्योंकि हमारा पक्ष प्रत्यक्ष एवं आगम से बाधित भी नहीं है ।

जैन—“कार्य-कारण में, गुण-गुणी में एवं सामान्य और सामान्यवान् में तादात्म्य है क्योंकि इनका अभिन्न देश है । जिसमें तादात्म्य नहीं है अर्थात् सर्वथा भेद है, उनमें अभिन्नदेशता भी नहीं है । जैसे सह्याचल और विन्ध्याचल । और प्रकृत में आये हुये कार्य कारण आदि में अभिन्नदेशता है । इसलिये इनमें तादात्म्य है । इस अनुमान से आपका भेदपक्ष बाधित हो जाता है ।

योग—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि शास्त्रीय देश अभेद असिद्ध है । अर्थात् भेद दो प्रकार के हैं । शास्त्रीय और लौकिक । यहां शास्त्रीय देशाभेद असिद्ध है । क्योंकि कार्य अपने कारण के देश में है । और कारण भी अपने अन्य कारण के देश में रहता है । अर्थात् वस्त्रादि कार्यों के अपने कारण तन्तु आदि हैं । और तन्तुओं के कारण कार्पासादि हैं । इस प्रकार से शास्त्र को अपेक्षा से सभी में देश भेद ही है । इस कथन से गुण-गुणी और सामान्य-सामान्यवान् में शास्त्रीय देशभेद प्रतिपादित किया गया है ।

और लौकिक देश में अभेद में तो आकाश, आत्मा आदि के साथ व्यभिचार आता है । अर्थात् आकाश, आत्मादिकों में लौकिक देश की अपेक्षा से भिन्न देशत्व का अभाव होने पर भी तादात्म्य नहीं है अतः अभेद को सिद्ध करने वाला अनुमान असमीचीन है । वह प्रकृत—भेद पक्ष को बाधित नहीं कर सकता है ।

जैन—कार्य-कारण आदिकों में कथंचित् तादात्म्य ही प्रत्यक्ष से प्रतीति में आ रहा है । इसलिये आप योगों का सर्वथा भेद पक्ष बाधित है ।

योग—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि कथंचित् तादात्म्य से भेद पक्ष में विरोध आता है ।

जैन—इसलिये भेद को नहीं मानना चाहिये किन्तु तादात्म्य ही मानना उचित है ।

1 उपनय । दि० प्र० । 2 निगमः । दि० प्र० । 3 ननु चस्यानुमानस्यासमीचीनत्वं न भवेत् कुतः शास्त्रीयदेशाभेदस्य विद्यमानत्वादित्युक्त आह । व्या० प्र० । 4 कार्यकारणयोर्देशाभेदो न भवेच्चेत् माभूत् गुणगुणिनोर्भविष्यतीत्युक्त आह । व्या० प्र० । 5 कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वप्रतिपादनपरेण ग्रन्थेन । व्या० प्र० ।

पक्षस्य बाधेति चेन्न, तद्विरोधात् । तत एव भेदो मा भूदिति चेन्न, भेदस्य^१ पूर्वसिद्धत्वात् तादात्म्यस्य पूर्वसिद्धेरसिद्धेः । सिद्धौ वा कार्यकारणादिविरोधात् धर्मधर्मित्वाधिकरणाधेय-तादिविरोधात्^२ ^३क्रियाव्यपदेशादिभेदविरोधाच्च तयोर्न^४ तादात्म्यं^५, भेदतादात्म्ययोर्वैयधिक-करण्याच्च परस्परविरोधाच्छीतोष्णस्पर्शवत् । तयोरेकाधिकरण्ये संकरव्यतिकरापत्तिः । तदनापत्तौ ^६पक्षद्वयोक्तदोषानुषङ्गः । प्रत्येकं तद्विद्विरूपत्वोपगमे ^७वाऽनवस्थानादप्रतिपत्तिर^८-

योग—ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि भेद तो पूर्व से ही सिद्ध है । किन्तु तादात्म्य पूर्व प्रसिद्ध नहीं है । अर्थात् कार्य-कारण आदि में भेद तो सभी ने ही मान रखा है अतः वह पूर्व प्रसिद्ध है । अथवा तादात्म्य को भी आप पूर्व सिद्ध मान भी लें तो भी कार्य-कारण आदि में विरोध होने से, धर्म-धर्मों में आधार-आधेय आदि का विरोध होने से और क्रिया के व्यपदेश आदि रूप से होने वाले भेद का विरोध होने से इनमें तादात्म्य सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि भेद और तादात्म्य में वैयधिकरण्य होने से शीत-उष्ण से समान परस्पर विरोध है ।

भावार्थ—कार्य घट और कारण मृत्पिण्ड में अभेद नहीं है इनमें अभेद मानने से विरोध दोष आता है । धर्म और धर्मों में भी परस्पर में भेद सिद्ध है । धर्म आधेय है और धर्मों आधार है इनमें अभेद मान लेने से 'यह धर्म है और यह धर्मों है' यह व्यवस्था नहीं बनेगी । यह क्रिया है, यह क्रिया-वान् है यह भी नहीं बनेगा । वस्त्र में शीत निवारण क्रिया है, वह क्रिया वस्त्र के लिये कारणभूत तन्तुओं में अथवा वस्त्र के श्वेत आदि गुणों में नहीं है । अभेद पक्ष में यह वस्त्र की क्रिया है इत्यादि रूप से भी विरोध आ जाता है । क्योंकि जहाँ भेद है वहाँ अभेद नहीं रह सकता है और जहाँ अभेद है वहाँ भेद नहीं रह सकता है । तथा भेद पक्ष में संबंध का अभाव है एव अभेद पक्ष में सर्वथा एकत्व के होने पर कार्यकारण भाव आदि हो ही नहीं सकते हैं । भेद को आधार वस्तु सर्वथा भिन्न है एव अभेद की आधार वस्तु सर्वथा अभिन्न है अतः भेद और अभेद का भिन्न अधिकरण सिद्ध है ।

यदि आप भेद और तादात्म्य का एकाधिकरण मान लेंगे तब तो संकर और व्यतिकर दोष आ जायेंगे । यदि संकर, व्यतिकर को नहीं मानोगे तो दोनों पक्ष में दिये हुये दोषों का प्रसंग आ जायेगा ।

[प्रमाणेन । व्या० प्र० । २ विरोधवत् । इति पा० । व्या० प्र० । ३ व्यपदेशभेदश्च न स्याद्विरोधादिति सम्बन्धः । दि० प्र० । ४ गुणगुणिनोः क्रियातद्वतोः कार्यकारणयोः सामान्य तद्वतोश्च । व्या० प्र० । ५ योगो वदति हे स्याद्वा-दिन् ! तयोः कार्यकारणयोः गुणगुणिनोस्तादात्म्यं न कुतो भेदतादात्म्ययोः भिन्नाधिकरणत्वात् । पुनः कुतः यत्र भेदस्तत्र तादात्म्यं न यत्र तादात्म्यं तत्र भेदो नेति परस्परविरोधात् यथा शीतोष्णस्पर्शयोः भिन्नत्वं वैयधिकरण्यं परस्पर-विरोधश्च संभवति = अथवा भेदतादात्म्ययोरेकाधारत्वे सङ्करव्यतिकरदोषो प्रतिपद्यते । तयोः सङ्करव्यतिकरयोरसंभवे भेदपक्षाङ्गीकारे सति भेदपक्षोक्त दोषः । अभेदपक्षाङ्गीकारेऽभेदपक्षोक्तदोषः प्रसजति । दि० प्र० । ६ भेदाभेदपक्षे जैनोक्तदोषः । भेदपक्षे संबन्धाभावोऽभेदपक्षे सर्वथैकत्वम् । व्या० प्र० । ७ वाऽनवस्था तदप्रतिपत्तिः । इति पा० । दि० प्र० । ८ तत्त्वस्य । व्या० प्र० ।

भावश्च¹ । इति वैशेषिकस्य अवयवगुणसामान्यतद्गतां व्यतिरेकैकान्तमाशङ्क्य² प्रति-
विधत्ते³,—

⁴एकस्यानेकवृत्तिनं⁵ ⁶भागाभावाद्बहूनि वा⁷ ।

⁸भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो⁹ वृत्तेरनाहते ॥६२॥

अथवा प्रत्येक में अर्थात् उन भेद और तादात्म्य में एक-एक में ही द्वित्व रूप हो जायेंगे, अर्थात् भेद, भेदरूप और अभेदरूप ऐसे दोनों रूप हो जायेगा तथा तादात्म्य भी भेदरूप और अभेद-रूप दोनों रूप हो जायेगा । पुनः किसी प्रकार की व्यवस्था के न हो सकने से प्रतिपत्ति और अभाव नामक दोष आ जायेंगे ।

अर्थात् वैशेषिक का ऐसा कहना है कि यदि कार्य-कारण आदि में सर्वथा भेद नहीं मानोगे अभेद मानोगे तब तो विरोध, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, असम्भव और अभाव ये आठों दोष आ जावेंगे । अब आगे कारिका में आचार्यश्री दोषों का निराकरण करते हैं ।

उत्थानिका—इस प्रकार से वैशेषिक के यहाँ अवयव-अवयवी, गुण-गुणी और सामान्य-सामान्यवान् में सर्वथा भेद एकांत मात्र माना गया है । अब आचार्यवर्य श्री संमतभद्र स्वामी इस पूर्व पक्ष का खण्डन करते हुये कहते हैं—

एक अनेकों में नहि रहता चूँकि अंश नहि है उसमें ।

यदि वा अंश कहो उसमें तब कार्य एक ही बहुत बनें ॥

यदि भागित्व कहो तब तो वह एक न एक कहा सकता ।

अहत् मत से भिन्न जनों में वृत्ति दोष यह कहलाता ॥६२॥

कारिकार्थ—एक की अनेक में वृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि उनमें भाग-अंशों का अभाव है अथवा यदि वृत्ति मानोगे तब तो एक को अनेक रूप मानना पड़ेगा तथा यदि एक ही अवयवी के भाग अंश मानोगे तब तो यह एक रूप नहीं कहा जायेगा, इस प्रकार से एक की अनेक वृत्ति मानने पर हे अहत् । आपके मत से बाह्य पर मतावलंबियों के यहाँ अनेक दोष आते हैं ॥६२॥

यदि आप यौग कार्य-कारण में, गुण-गुणी में और सामान्य-तद्गान में एकांत से भेद मानते हो, तब तो एक कार्य द्रव्य अवयवी आदि की अनेक कारणादिकों में वृत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी ।

1 ततश्च । व्या० प्र० । 2 प्रत्युत्तरं ददातीत्यभिप्रायः । व्या० प्र० । 3 आचार्यो दूषयति । दि० प्र० । 4 तहि । दि० प्र० । 5 अवयवादिषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । दि० प्र० । 6 कुतो निरंशत्वादित्यार्थः । दि० प्र० । 7 अथवा एकस्याव्यवादेरनेकवृत्तिश्चेत्तहि । दि० प्र० । 8 अथावयवेनासां सत्त्वमाश्रित्यानेकवृत्तिः स्यादिति चेत्तहि । दि० प्र० । 9 दुर्निवारः स्यात् । दि० प्र० ।

कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्चान्यत्वमेकान्तेन¹ यदीष्यते तदैकस्य² कार्यद्रव्यादेरनेकस्मिन् कारणादौ³ वृत्तिरेषितव्या, तदनिष्टौ कार्यकारणभावादिविरोधादकार्य-कारणादिवत् । तद्वृत्तिश्चाभ्युपगम्यमाना⁴ प्रत्याश्रयमेकदेशेन⁶ सर्वात्मना वा स्यात् ? तत्र एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यधिकरणं न तावदेकदेशेन, निष्प्रदेशत्वात् । नापि सर्वात्मना, अवयव्यादिबहुत्वप्रसङ्गात्⁷ । यावन्तो⁸ ह्यवयववास्तावन्तोवयविनः स्युस्तस्य⁹ प्रत्येकं¹⁰ सर्वा-त्मना वृत्तत्वात् । यावन्तश्च संयोग्यादयो¹¹ गुणिनस्तावन्तः संयोगादयोनेकस्था¹² गुणाः प्रसज्यन्ते । यावन्तः सामान्यवन्तोर्थास्तावन्ति सामान्यानि भवेयुस्तत¹³ एव । अथापि कथं-

यदि यह मान्यता आपको अनिष्ट है तब तो कार्यकारण भावादिकों में विरोध आ जायेगा, जैसे कि अकार्य-कारण अर्थात् जैसे तन्तु और घट में तथा मृत्पिंड और वस्त्र में कार्यकारण भाव विरुद्ध है । उसी प्रकार से सर्वत्र पट और तन्तुओं में एवं घट और मृत्पिंड में भी कार्यकारण भाव नहीं बन सकेंगे ।

यदि आप उपर्युक्त प्रकार से वृत्ति मान ही लेते हैं तब तो हम जैन आपसे प्रश्न करते हैं कि प्रत्येक आश्रय के प्रति (तन्तु आदि लक्षण आधार, आधार के प्रति) वह वृत्ति एक देश से है या सम्पूर्ण रूप है ? इसमें एक-पटादि कार्य द्रव्य अनेक-अभिकरण तन्तुआदिकों में रहता हुआ आधार-आधार के प्रति एक देश से तो रह नहीं सकता है क्योंकि एक अवयवी आदि कार्य निष्प्रदेशी है—निरंश है । यदि दूसरा पक्ष लेवें कि एक कार्य अनेक अवयवों में सम्पूर्ण रूप से रहता है । यह भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि अवयवी आदि कार्य बहुत हो जायेंगे ।

जितने अवयव (तंतु समूह) हैं उतने ही अवयवी (वस्त्र) हो जायेंगे क्योंकि वह एक अवयवी प्रत्येक अवयवों में सम्पूर्ण रूप से रहता है । अर्थात् जितने तंतु हैं उतने ही वस्त्र हो जायेंगे ।

जितने संयोगी आदि गुणी हैं उतने ही अनेक अवयवों में स्थित संयोगादि गुण हो जायेंगे ।

1 भिन्नत्वम् । व्या० प्र० । 2 पटादिलक्षणस्य । व्या० प्र० । 3 तन्त्वादौ । व्या० प्र० । 4 एवमभ्युपगम्यमाना । व्या० प्र० । 5 कारणद्रव्यादौ । व्या० प्र० । 6 एकैकदेशेन । व्या० प्र० । 7 अवयवितो घटस्य बहुत्वं प्रसजति । दि० प्र० । 8 स्याद्वादौ वदति यावन्तः पटापेक्षयावयववास्तन्तवस्तावत्संख्योपेताः अवयविनः घटा भवेयुः । कुतस्त-स्यावयविनःस्वकारणेषु प्रत्येकं साकल्येन प्रवृत्तत्वात् = तथा यावन्तो द्वौ मल्ली द्वौ मेधौ वृक्षश्येनो संयोगिनी तदादयः संयोग्यादयो गुणिनः तावन्तः संयोगादयोः बहुसंयोगिप्रवर्तमाना गुणाः संभवन्ति = तथा यावन्तः सामान्यवन्तोर्था गवादयः क्षत्रियादयश्च व्यक्तयः तावन्ति सामान्यानि गोत्वादीनि क्षत्रियत्वादीनि च भवन्ति गोषु गोत्वं क्षत्रियेषु क्षत्रियत्वं सामान्यमिति = यत एव तत एव योगः येन केनचित्प्रकारेणावयवविप्रमुखानां पटादीनां कार्यादिद्रव्याणां-कारणवत्त्वं मन्येत कल्पेत अङ्गीकुर्यात् । दि० प्र० । 9 अवयव्यादेः । दि० प्र० । 10 प्रत्यवयव । दि० प्र० । 11 आश्रयाः । व्या० प्र० । 12 संयोगी नाम गुण एक एव तव मते । व्या० प्र० । 13 सर्वात्मना वृत्तित्वादेव । व्या० प्र० ।

चित्प्रदेशवत्त्वं मन्येतावयव्यादीनां तत्रापि वृत्तिविकल्पेनवस्था च । तथात्रावयव्यादि सर्वं तदेकमेव न स्यादिति^१ वृत्तेर्दोषोऽनाहंते^२ मते दुर्निवारः । नैकदेशेन^३ वर्तते, नापि, सर्वात्मना । किं तर्हि ? वर्तते एवेति चायुक्तं, प्रकारान्तराभावात् ।

[वैशेषिकः समवायेनावग्रहितं स्वावयवेषु मन्यते तस्य निराकरणं ।]

ननु^४ च समवाय एव प्रकारान्तरं वर्तते, 'समवैतीति संप्रत्ययात्, तद्व्यतिरेकेण वृत्त्यर्थसंभवादिति चेन्न, तत्रैव विवादात् । एतदेव^६ हि विचार्यते, किमेकदेशेन समवैति

कितु आपने संयोग आदि गुणों को तो एक ही माना है । और जितने सामान्यवान् पदार्थ हैं उतने ही सामान्य हो जायेंगे क्योंकि वह एक सामान्य प्रत्येक सामान्यवान् में संपूर्ण रूप से विद्यमान है ।

यदि आप उन अवयवी आदिकों में कथंचित् प्रदेश वाले भी स्वीकार करोगे तब तो उन अवयवियों में भी वृत्ति के विकल्प और अनवस्था दोष आते ही रहेंगे । अर्थात् तंतुओं से भिन्न होने पर भी वस्त्रों में अंशों की कल्पना करने पर वहां अपने उन अवयवों में उसका रहना एक देश से है या सर्वदेश से ? इस प्रकार से गुण-नूनः प्रश्न उठते ही जायेंगे तथा अनवस्था भी आ जावेगी ।

उसी प्रकार से इन अवयवों में अवयवी आदि (गुण सामान्य) सभी इस प्रकार से एक ही नहीं रहेंगे । अर्थात् अवयवों के अनेक होने से वे अवयवी एक ही नहीं रहेंगे, अनेक हो जायेंगे । इस प्रकार से अनाहंत् मत में उपर्युक्त वृत्ति की मान्यता से अनेक दोष दुर्निवार हो जाते हैं ।

यौग—हमारे यहां एक अवयवी अपने अवयवों में न एक देश से रहता है, न संपूर्ण रूप से ही रहता है ।

ज्ञान—तो क्या है ? कितु वह अवयवी अवयवों में ही रहता है । इस प्रकार का तुम्हारा कहना अयुक्त है क्योंकि एक देश अथवा सर्वदेश इन दोनों विकल्पों को छोड़कर अन्य प्रकार असंभव ही है ।

[वैशेषिक समवाय संबंध से एक अवयवी अनेक अवयवों में रहना मानते हैं उसका खण्डन ।]

यौग—समवाय नाम का एक अन्य प्रकार मौजूद है क्योंकि अवयवादिकों में अवयवी समवेत रूप से रहता है इस संबंध से ज्ञान होता है । कारण कि समवाय को छोड़कर वर्तन-शब्द का रहना, यह अर्थ ही असंभव है ।

१ एवम् । दि० प्र० । २ दूषणम् । दि० प्र० । ३ वैशेषिको वदति हे स्याद्वादिन् अवयव्यादिकार्यादिद्रव्यं स्वावयवा-
दिकारणादिष्वेकदेशेन न प्रवर्तते नापि सर्वात्मना कथं तर्हि प्रवर्तते एवेत्युक्ते स्याद्वाद्याह इति चायुक्तं कुत एकदेशेन
सर्वात्मना वेति प्रकारद्वयं परिहृत्य तृतीयप्रकाराभावात् । दि० प्र० । ४ पुनराह वैशेषिकः हे स्याद्वादिन् समवाय एव
तृतीयप्रकारोस्ति अवयवी पटादिद्रव्यं स्वावयवेषु तन्त्वादिकारणेषु समवैति मिलतीति ज्ञानात्समवायः तद्रहितेनान्यः
कृत्यर्थो न संभवति । कोर्थः समवाय एव कृत्यर्थ इति चेत् । स्याद्वादी वदति एवं न । तत्रैव समवाये एकावयोविवा-
दात् । दि० प्र० । ५ कोर्थः कार्यकारणे गुणा सुगुणिनि सामान्यञ्च सामान्यवति वर्तते संबन्धमवाप्नोतीत्यर्थः । व्या०
प्र० । ६ वर्तते समवैतीत्येतत् । व्या० प्र० ।

प्रत्याश्रयं सर्वात्मना वाऽवयवादिष्ववयव्यादिः ? गत्यन्तराभावादिति । तत्र च निगदितो दोषः । 'तदेवं कार्यगुणसामान्यानां स्वाश्रयेभ्यो विवादापन्नेभ्यो नैकान्तेनान्यत्वं, तत्र^२ वृत्त्युपलब्धेः । यस्य तु यतोऽन्यत्वैकान्तस्तस्य^४ तत्र न वृत्त्युपलब्धिः । यथा हिमवति विन्ध्यस्य । वृत्त्युपलब्धिश्चावयव्यादेः स्वाश्रयेषु^६ । तस्मान्नैकान्तेनान्यत्वम् । इत्यनुमानेन तन्नानात्वपक्षस्य^७ बाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो भिन्नप्रतिभासत्वादिति हेतुः ।^८ नन्विदमनुमानमसम्यक्, स्थाल्यां दधनानैकान्तिकत्वात्^९ ततोऽन्यस्यापि^{१०} दधनस्तत्र वृत्त्युपलब्धेः ।

जैन— नहीं । उस समवाय में ही तो विवाद है । इसी का ही तो विचार किया जाता है । अवयवादिकों में अवयवी आधार-आधार के प्रति क्या एक देश से समवाय संबंध करता है या सर्व देश से ? गत्यंतर अन्य प्रकार का अभाव है । और इन दोनों पक्षों में ही हमने दोष दिखा दिया है ।

इसलिये इस उपर्युक्त आपके कथन प्रकार से कार्य, गुण और सामान्य इन तीनों का विवादापन्न अपने आश्रयभूत-अवयवी, गुणी और सामान्यवान् से सर्वथा-एकांत से भिन्नपना नहीं है । क्योंकि वहां पर उन कार्य, गुण और सामान्य का रहना उपलब्ध हो रहा है । जिसका जिससे एकांत से भिन्नत्व है उसकी वहां पर वृत्ति उपलब्ध नहीं होती है । जैसे हिमवन् पर्वत पर विध्याचल की उपलब्धि नहीं है । और अवयवी, आदिकों का अपने-अपने आश्रयों में रहना देखा जाता है । इसलिये एकांत से भिन्नपना नहीं है । इस केवल व्यतिरेकी अनुमान से उन अवयव-अवयवी आदिकों में परस्पर में भेद का होना रूप भेद पक्ष बाधित हो जाता है अतः "भिन्न प्रतिभासत्वात् पूर्व कारिका में कहा गया यह हेतु कालात्ययापदिष्ट है ।

योग— यह आपका अनुमान समीचीन नहीं है । थाली में दही से अनैकांत दोष आता है उस थाली से भिन्न भी दही का वहां पर रहना देखा जाता है ।

जैन— हे योग ! संयोग रूप वृत्ति अर्थात्तरभूत दो पदार्थों में ही प्रतीति में आती है । अन्यथा-भूत-अभिन्न रूप पदार्थों में संयोग नहीं है ।

१ अवयवि । व्या० प्र० । २ स्वाश्रयेषु । दि० प्र० । ३ कार्यगुणसामान्यानां । दि० प्र० । ४ भिन्नत्व । व्या० प्र० । ५ व्यतिरेकव्याप्तिः । दि० प्र० । ६ अवयवादेषु । दि० प्र० । ७ स्याद्वासाह । हे वैशेषिक इत्यस्मदनुमानेन कार्य-गुणसामान्यतद्गतं भवत्कृतो भिन्नत्वपक्षो बाध्यते यतः । भिन्नप्रतिभासत्वादिति हेतुः कालात्ययापदिष्टः । दि० प्र० । ८ अत्राह वैशेषिकः हेस्याद्वादिन् तत्र वृत्त्युपलब्धेरिदमनुमानं त्वदीयमसत्यम् । कुतः कुण्डे दधना व्यभिचारत्वात् । कथमित्युक्त आह । यतः स्थालीतः अन्यस्य सर्वथा भिन्नस्य दधनः तत्र स्थाल्यां वृत्तिर्दृश्यते यतः । वृत्तिः का इत्युक्त आह संयोग एव वृत्तिः । सा च भिन्नयोः स्थाली दधनोरेव निश्चीयते अन्यथा कथाञ्चित्तादात्म्ययोर्वृत्तिर्न । = स्याद्वादी वदति हे योग इत्युक्तप्रकारेण न ज्ञातव्यम् । त्वया । कुतः संयोगपरिणमनस्वभावयोः संयोगिनो स्थाली दधनोऽपि सर्वथा भिन्नत्वं न सिद्धयति यतोऽन्यथा संयोगिनोः सर्वथा भिन्नत्वं सिद्धयति चेत्तदा तस्य संयोगस्याभावः प्रसजति । दि० प्र० । ९ स्थाल्याः । व्या० प्र० । १० भिन्नस्यापि । व्या० प्र० ।

संयोगो हि वृत्तिरर्थान्तरभूतयोरेव प्रतीयते नान्यथेति न मन्तव्यं, संयोगिनोः 'संयोगपरिणामात्मनोः सर्वथान्यत्वासिद्धेरन्यथा तदभावप्रसङ्गात् । ताभ्यां भिन्नस्य संयोगस्योत्पत्तौ हि कथमेकस्यान्यत्र संयोग इति व्यपदेशो यतः स एव वृत्तिः स्यात् ? ताभ्यां तस्य जननात्तथा व्यपदेश इति चेन्न, कर्मणा कालादिना च तज्जननात्तथा व्यपदेशप्रसङ्गात् । तयोः समवायिकारणत्वात्तस्य तथा व्यपदेश इति चेत्कुतः समवायिकारणत्वं² तयोरेव न पुनः कर्मादिरिति नियमः³ ? इह संयोगिनोः⁴ संयोग इति प्रत्ययात्तत्र तस्य समवायसिद्धेरिति चेत्स तर्हि समवायः पदार्थान्तरं कथमत्रैवेहेदमिति प्रत्ययं कुर्यान्न पुनः कर्मादिषु भेदाविशेषेपीति न

यौग—ऐसा आप जैनियों को नहीं मानना चाहिये । संयोगी-स्थाली और दही ये दोनों संयोग परिणामस्वरूप हैं । इनमें सर्वथा भिन्नपना असिद्ध है, अन्यथा संयोग का ही अभाव मानना होगा ।

जैन—उन दोनों से स्थाली और दही से भिन्न रूप संयोग की उत्पत्ति को मानने तो पर दही का स्थाली में संयोग है । यह कथन भी कैसे बन सकेगा कि जिससे वह संयोग ही वृत्ति रूप हो सके ! अर्थात् नहीं हो सकता है ।

यौग—उन दोनों संयोगी के द्वारा वह संयोग उत्पन्न होता है । अतः यह इन दोनों का संयोग है ऐसा कथन बन जाता है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं है । क्योंकि आपके द्वारा स्वीकृत उत्क्षेपक्ष आदि कर्म और कालादिकों के द्वारा वह संयोग उत्पन्न होता है । तो पुनः उस प्रकार से स्थाली में कर्मादि का अथवा कालादि का यह संयोग है ऐसा कथन भी किया जा सकेगा ।

यौग—वे दोनों स्थाली और दही तो संयोग के प्रति समवायी कारण हैं अतएव संयोग में उस प्रकार का अर्थात् स्थाली और दही इन संयोगी का यह संयोग है, ऐसा व्यपदेश ठीक है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो उन स्थाली और दही में ही समवायी कारण हैं किंतु कर्मादि में नहीं हैं यह नियम भी कैसे बन सकेगा ?

यौग—इन दोनों संयोगियों का यह संयोग है । इस प्रकार का ज्ञान पाया जाता है । इसलिये वहां उसका समवाय सिद्ध है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो यह हमारी समझ में नहीं आता है कि वह समवाय संयोगी-स्थाली और दही रूप दो पदार्थों से भिन्न रूप अर्थात्तर ही है फिर भी इन संयोगियों में ही वह संयोग लक्षण "इहदे" प्रत्यय होवे, किन्तु कर्मादिकों में न होवे यह कैसे बनेगा ? जबकि भेद दोनों जगह ही समान हैं ।

1 स्वरूपम् । व्या प्र० । 2 समवायित्वम् । इति पा० । व्या० प्र० । 3 भिन्नत्वाविशेषात् । दि० प्र० । 4 अत्रैव । इति पा० । दि० प्र० ।

बुद्ध्यामहे । तैरेव समवायिभिर्विशेषणविशेष्यभावसिद्धेः समवायस्य तत्रैवेहेदमिति^१ प्रत्ययो-
त्पत्तिर्न तु कर्मादिषु, तदसिद्धेरिति चेत् स एव कुतः सर्वत्र न स्यात् ?

^२तादृशदृष्ट^३विशेषनियमादिति^४ चेत् किं ^५विशेषणविशेष्यभावेन^६ समवायेन
संयोगेन वा ? तादृशदृष्टविशेषादेव ^७समवायविशिष्टाः समवायिन इति प्रत्ययस्येहेदमिति
विज्ञानस्यात्रेदं संयुक्तमिति बुद्धेश्च जननप्रसङ्गात् । सर्वस्य वा^८ प्रत्ययविशेषस्यादृष्टविशेष-
वशवर्तित्वसिद्धेः किं पदार्थभेदप्रभेदपरिकल्पनया ? इति ^९विज्ञानवादप्रवेशः स्यात्^{१०}, तस्यैवा-

योग—उन्हीं समवायियों के द्वारा ही विशेषण-विशेष्य भाव सिद्ध है, अर्थात् संयोगियों के द्वारा यह संयोग संयोगी ही संयोग समवायवान् अथवा ये तन्तु समूह पर समवायवान् हैं । इत्यादि रूप से विशेषण विशेष्यभाव सिद्ध है । अतः समवाय की वही पर ही “इहेदं” — “इसमें यह” इस प्रकार के ज्ञान रूप से उत्पत्ति होती है अन्यत्र कर्मादिकों में नहीं होती है क्योंकि वहाँ पर विशेषण विशेष्य भाव ही असिद्ध है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो वह विशेषण विशेष्यभाव ही सर्वत्र कर्मादिकों में क्यों नहीं होता है ?

योग—उस प्रकार के अदृष्ट विशेष का नियम ही ऐसा है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो विशेषण-विशेष्य भाव समवाय अथवा संयोग से भी क्या प्रयोजन है ? जबकि उस प्रकार के अदृष्ट—भाग्य विशेष से ही समवाय विशिष्ट समवायी हैं इस प्रकार के ज्ञान (विशेषण-विशेष्य भाव) के “इहेदं” इस प्रकार के समवाय रूप विज्ञान के तथा इसमें इसका

- १ समवायिसमवाययोरेव विशेषणविशेष्यभावः । व्या० प्र० । २ स्याद्वाद्याह स एवं विशेषणविशेष्यभावः सर्वस्था-
लीदध्नो कर्मकालव्योमादिषु च कुतो न भवेत् = वं० तादृशादृष्टविशेषनियमादिति चेत् । दि० प्र० । ३ विशेषण-
विशेष्यभावाख्यबाह्यार्थस्य सर्वत्राभावेपि क्वचिदेकविशेषणविशेष्यप्रत्ययो भवति नान्यत्रेत्यर्थः । दि० प्र० ।
४ आक्षेपे । व्या० प्र० । ५ स्यात्तर्हि विशेषणविशेष्यभावेन किं समवाये किं संयोगेन वा किं न किमपि इति पूर्वोक्त-
विशेषणविशेष्यादिविज्ञानत्रयजनकादृष्टविशेषादेव तन्तुविशिष्टाः पटा इति विशेषणविशेष्यज्ञानस्योत्पादः प्रसजति । तथा
इह घटादौ रूपरसादि । किमिति समवायस्योत्पादः । अथात्र स्थाल्यामिदं दधियुक्तमिति संयोगबोध्यस्य जननं प्रसजति
यतः । ततः सर्वस्य ज्ञानविशेषस्यादृष्टविशेषाधीनत्वं सिद्धयति । हे वैशेषिक भवतः बहिः पदार्थ भेदान्तरकल्प-
नया किं न किमपि एवं योगस्य स्वमतं परिहृत्य विज्ञानवादः प्रवेशं स्यात् कुतस्तस्य विज्ञानवादस्यादृष्ट विशेषत्वं
सिद्धयति कोर्थः विज्ञानमेवादृष्टविशेषः पुनः कस्माच्चेत्तनाकर्मोति अदृष्टविशेषइति विज्ञानवादिनां सिद्धान्तत्वात् ।
=तेषां विज्ञानवादिनां विशेष एवादृष्टं स च वासनाविशेष इति विज्ञानमात्रात्परमदृष्टं न भवेत् विज्ञानमेवा-
दृष्टम् । दि० प्र० । ६ त्रितयस्य सिद्धेः । व्या० प्र० । ७ किञ्च । व्या० प्र० । ८ विज्ञानाद्वैतवादः । व्या० प्र० ।
९ विज्ञानवादप्रतिकूलस्यादृष्टस्य सद्भावात् कथं विज्ञानवादसिद्धिर्भावादित्याशङ्क्यामाह । व्या० प्र० ।
१० अदृष्टञ्च ज्ञानञ्चेति द्वैतापत्तिरित्याशंकायामाह । व्या० प्र० ।

दृष्टविशेषत्वसिद्धेः, चेतना कर्मेति विज्ञानवादिभिरपि प्रतिपादनात् । तेषां वासनाविशेष एव ह्यदृष्टम् । स च पूर्वविज्ञानविशेषः । इति न विज्ञानमात्राददृष्टमन्यत् स्यात् । ननु^१ च नाप्रबुद्धा^२ वासना^३ प्रत्ययविशेषं प्रसूते^४ सकृत्सर्वप्रत्ययविशेषप्रसङ्गात् । प्रबुद्धा तु तमुपजनयन्ती प्रबोधकहेतूनपेक्षते । ते च^५ बहिर्भूता, एवार्थाः । इति न विज्ञानमात्रं तत्त्वमनुषज्यते इति चेन्न, विज्ञानविशेषादेव वासनाप्रबोधस्य सिद्धेः; तदभावे बहिरर्थस्य सत्तामात्रेण तदहेतुत्वादन्यथातिप्रसङ्गात् । न च नीलादिविज्ञानादेव तद्वासनाप्रबोधस्तत्प्रबोधादेव नीलादिज्ञानमिष्यते, यतः^६ परस्पराश्रयः स्यात्, ^७तदधिपतिसमनन्तरा^८दिविज्ञानानामेव^९ नीलादि-

संयोग है इस प्रकार संयोग ज्ञान के उत्पन्न होने का प्रसंग आ जायेगा अर्थात् उस प्रकार के भाग्य विशेष से ही ये तीनों ज्ञान हो जायेंगे । तब विशेषण-विशेष्य भाव, समवाय और संयोग इनको मानने की भी क्या आवश्यकता है ।

अथवा सभी ज्ञान-विशेष, भाग्य-विशेष के वशावर्ती ही सिद्ध हो जायेंगे पुनः पदार्थों में भेद-प्रभेदों की कल्पना से भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? इस प्रकार से तो विज्ञानवाद के मत में ही आप योग का प्रवेश हो जायेगा । क्योंकि विज्ञानाद्वैतवाद में ही भाग्य विशेष की सिद्धि है । अर्थात् विज्ञान ही अदृष्ट है ऐसा विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं । तथा चेतना ही कर्म है । अर्थात् चेतना, विज्ञान और कर्म अर्थात् अदृष्ट ये दोनों एक ही हैं । इस प्रकार से विज्ञानाद्वैतवादियों ने भी प्रतिपादित किया है उन विज्ञानवादियों के यह वासना विशेष ही अदृष्ट है और वह वासना विशेष पूर्व विज्ञान विशेष है इसलिये विज्ञान मात्र से भिन्न अदृष्ट नाम की और कोई चीज नहीं है ।

योग—अप्रबुद्ध (अप्रगट) वासना “यह नील है” इत्यादि ज्ञान विशेष को उत्पन्न नहीं करती है अन्यथा एक साथ सभी ज्ञान विशेष उत्पन्न हो जायेंगे । क्योंकि वासना का अप्रबुद्धपना दोनों जगह समान है । यदि आप कहें कि वह वासना प्रबुद्ध है । तब तो वह उस ज्ञान विशेष को उत्पन्न करती हुई प्रबोधक हेतुओं की अपेक्षा रखेगी ।

और वे प्रबोधक हेतु बहिर्भूत पदार्थ ही हैं । इसलिये हमारे यहां विज्ञान मात्र तत्त्व का प्रसंग आता है ।

सौगत—आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि विज्ञान विशेष से ही वासना के प्रबोध की सिद्धि होती है । उस विज्ञान विशेष के अभाव में बाह्य पदार्थ वासना प्रबोध के प्रति सत्तामात्र से

१ योनेन स्वमतमाशङ्क्य निवेदितं सौगतः परिहरति । दि० प्र० । २ अत्राह बहिस्त्वत्त्ववादी हे अन्तस्थत्वरूपविज्ञान-वादिन् वासना प्रबुद्धा सती ज्ञानविशेषं जनयति अप्रबुद्धा वा । न तावत्स्वकारणैरप्रादुर्भाविता वासना प्रत्यय-विशेषं सूते । सूते चेतदा युगपत् सर्वज्ञानविशेषः संभवति = प्रबुद्धा सतीतं वासना प्रत्यय विशेषं जनयन्ती प्रादुर्भाव-कारणान्याकांक्षति । दि० प्र० । ३ बहिर्भूतार्थेभ्यः । दि० प्र० । ४ जनयन्ती । दि० प्र० । ५ प्रबोधहेतवः । दि० प्र० । ६ कुतः । व्या० प्र० । ७ नीलादिविज्ञानस्य । व्या० प्र० । ८ चक्षुरादि । व्या० प्र० । ९ समनन्तरादीनि च तानि विज्ञानानि चेति यतः = आलम्बनं । दि० प्र० ।

ज्ञानजनकानां तद्वासनाप्रबोधकत्वात् तद्वासनानामपि तत्कारणविज्ञानेभ्यः प्रबोधोपगमात् । इत्यनादिरयं ^१ वासनासरित्परिपतितस्तत्प्रबोध^२ प्रत्ययसार्थस्तद्विज्ञान^३ प्रवाहश्च^४ । इति किं बहिरर्थः ? कल्पयित्वाप्येतान्विज्ञानानि प्रतिपत्तव्यानि, तैर्विना तद्व्यवहारप्रसिद्धेः । सत्सु च तेषु बहिरर्थाभावेपि स्वप्नादिषु तद्व्यवहारप्रतीतेरलं बाह्यार्थाभिनिवेशेन । ततो बहिरर्थ^५ व्यवस्थापयितुमनसा नादृष्टमात्रनिमित्तो विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययोनुमन्तव्यः, तस्य 'द्रव्यादि-प्रत्ययवद्बहिरर्थविशेषविषयत्वस्यावश्यमाश्रयणीयत्वात्'^७ । तथा चानवस्थानात् कुतः^८ ।

उस प्रबोध के अहेतुक हैं । अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायेगा । अर्थात् पिशाच, परमाणु आदि भी वासना प्रबोध के हेतु हो जायेंगे ।

नीलादि विज्ञान से ही उनकी वासना का प्रबोध होता है और वासना के प्रबोध से ही नीलादि पदार्थों का ज्ञान होता है ऐसा हम स्वीकार नहीं करते हैं कि जिससे आप योग हमें परस्पराश्रय दोष दे सकें अर्थात् हमारे यहां परस्पराश्रय दोष भी नहीं आता है ।

नीलादि ज्ञान के अधिपति चक्षुरादि निर्विकल्प ज्ञान और समन्तर ज्ञान ही जो कि नीलादि ज्ञान को उत्पन्न करने वाले हैं वे उस वासना के प्रबोध में हेतु हैं और उन वासनाओं में भी तत्कारण विज्ञान-अधिपति समन्तरादि कारण प्राक्तन विज्ञान से प्रबोध स्वीकार किया गया है ।

इस प्रकार से यह वासना रूपी नदी में पड़ा हुआ अनादि प्रबोध प्रत्यय का समूह है और उस उस वासना प्रबोध का विज्ञान प्रवाह भी उस वासना रूपी नदी में पड़ा हुआ ही है । इसलिये बाह्य पदार्थों से क्या प्रयोजन है ?

अर्थात् विज्ञानाद्वैतवादी का कहना है कि सम्पूर्ण जगत ज्ञान मात्र है वह ज्ञान वासना से ही अद्भूत है और वासना को बताने वाला ज्ञान भी वासना से ही प्रगट हुआ है इत्यादि रूप से वह बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध कर रहा है । फिर भी इन बाह्य पदार्थों की कल्पना करके भी विज्ञान मात्र को ही स्वीकार करना चाहिये क्योंकि विज्ञान के बिना उन बाह्य पदार्थों का व्यवहार ही प्रसिद्ध नहीं हो सकता है । उन विज्ञानों के होने पर बाह्य अर्थ का अभाव होने पर भी स्वप्नादिकों में उस बाह्य पदार्थ का व्यवहार प्रतीति में आता है । इसलिए बाह्य पदार्थों के दुरभिप्राय से बस होवे ।

१ वासना प्रबोध विज्ञानम् । दि० प्र० । २ प्रबुद्धवासना जन्मविज्ञानम् । व्या० प्र० । ३ कार्यरूपविज्ञानम् । दि० प्र० । ४ किं भवति । किञ्च । दि० प्र० । ५ अत्राह स्याद्वादी । हे वैशेषिक ! यतो विज्ञानादेव बहिरर्थव्यवस्था घटते ततस्तस्माद्बहिःपदाद्यव्यवस्थापयितुकामो न त्वया विशेषणविशेष्यप्रत्ययोऽदृष्टकारणाज्जायत इति न ज्ञातव्यः । कुतः विशेषणविशेष्यप्रत्ययः स बहिरर्थविशेषालम्बनमाश्रयति यतः यथा द्रव्यादि प्रत्ययः द्रव्यादिसामान्यालम्बनमाश्रयति । तथेति किमदृष्टमात्रादेव विशेषणविशेष्य प्रत्ययस्तन्तुपटयोः समवायः प्रत्ययः स्थाली-दध्नोः संयोगप्रत्ययश्च जायत एवमनवस्थानात् व्यवस्थितिरास्ति यतः । दि० प्र० । ६ गुणादि । व्या प्र० । ७ प्रत्ययस्य । दि० प्र० । ८ संयोगिभ्यां मत्लाभ्यां सर्वथा भिन्नसत्संयोगः समवायवृत्त्या कृत्वा तयोः संयोगिनोरयं संयोग इति व्यपदेशः कुतो न कुतोपि । दि० प्र० ।

संयोगिभ्यां संयोगोर्थान्तरभूतः समवायवृत्त्या¹ तयोरिति व्यपदिश्येत ? स एव च स्थाल्यां दध्नो वृत्तिरिति² न तेनानैकान्तिको हेतुः स्यात् । तत एव न विरुद्धः, सर्वथार्थान्तरभूतस्य क्वचिद्वृत्त्युपलब्धेरभावात् । ततो निरवद्यमिदमनुमानं भेदपक्षस्य बाधकम् । इति तत्र प्रवर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्ट एव, प्रत्यक्षविरुद्धत्वाच्च³ पक्षस्यावयवावयव्यादीनां कथञ्चित्तादात्म्यस्यैव साक्षात्करणात् । नन्वेवमपि⁴ वृत्तेर्दोषो⁶ यथोपवर्णितः स्याद्वादिनां प्रसज्यते

अतः बाह्य पदार्थों की व्यवस्था करने की इच्छा करने वाले आप यौग को विशेषण विशेष्यत्व ज्ञान अदृष्टमात्र निमित्तक नहीं मानना चाहिये क्योंकि वह विशेषण विशेष्यत्व प्रत्यय द्रव्यादि प्रत्यय के समान बाह्य पदार्थ विशेष को विषय करने वाला है । अतः आपके द्वारा अवश्य ही आश्रय लेने योग्य है ।

और इस प्रकार से स्वीकार कर लेने पर तो आपके यहाँ अनवस्था दोष आ जाता है । दोनों संयोगी से संयोग भिन्न है । और समवाय वृत्ति से उन दोनों का है ऐसा व्यपदेश कैसे किया जा सकेगा ?

जैन—इस उपर्युक्त प्रकार से 'स्थाली में दही का रहना' वह संयोग ही है अतः "तत्र वृत्त्युपलब्धेः" हमारा यह हेतु अनैकान्तिक नहीं हो सकेगा, और अनैकान्तिक नहीं होने से यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है । क्योंकि सर्वथा अर्थान्तरभूत कार्य की किसी कारणान्तर तन्तु आदि से वृत्ति उपलब्ध नहीं होती है । इसलिये यह भेद पक्ष का बाधक हमारा अनुमान निर्दोष ही है । और सर्वथा भेद पक्ष में प्रवर्तमान हुआ आपका "भिन्न प्रतिभासत्वात्" हेतु कालात्ययापदिष्ट ही है । आपका भेद पक्ष प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है, क्योंकि अवयव, अवयवी आदि में कथञ्चित् तादात्म्य ही साक्षात् दिख रहा है ।

भावार्थ—वैशेषिकों का कहना है कि प्रत्येक द्रव्य, गुण, कर्म, कार्य-कारण, अवयव-अवयवी आदि परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि उन सबका भिन्न प्रतिभास हो रहा है । इस पर जैनाचार्यों ने कहा कि इन गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, कार्य-कारण, आदि में सर्वथा भेद नहीं है क्योंकि गुणी में गुणों की, अवयवी में अवयवों की वृत्ति उपलब्ध हो रही है अर्थात् ये उनमें ही रहते हुए पाये जा रहे हैं न कि पृथक-पृथक, अग्नि में ही उष्ण गुण है न कि पृथक । तब उसने विशेषण-विशेष्य भाव को समवाय को और संयोग का उस-उस प्रकार के ज्ञान मानना चाहा । तब आचार्य ने कहा कि आप उस-उस प्रकार के ज्ञान को ही मान लीजिये समवाय संयोग आदि को मानने की क्या जरूरत है और पुनः विज्ञानवाद में प्रवेश कराना चाहा जब वैशेषिक ने उस विज्ञान मात्र को स्वीकार करने में कुछ आनाकानी दिखाई, तब स्वयं विज्ञानाद्वैतवादी ने बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध करते हुये इसके

1 समवायसंबन्धेन । व्या० प्र० । 2 कुत इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम् । व्या० प्र० । 3 न केवलमनुमानविरुद्धत्वाच्च कालात्ययापदिष्टः । व्या० प्र० । 4 सर्वत्र सर्वदावृत्तिमनभ्युपगच्छन् सीमतः प्राह नन्वेवमिति । दि० प्र० । 5 किञ्च, ततश्च । दि० प्र० । 6 अत्राह वैशेषिकः हे स्याद्वादिन् यथास्माकं वृत्तेः कथञ्चित्तादात्म्यात् । यथावेद्यवेदकाकाराभ्यां ज्ञानस्य कथञ्चित्तादात्म्ये वृत्तेः दोषो न स्यात् । दि० प्र० ।

इति चेन्नायं प्रसंगोनेकान्ते, कथंचित्तादात्म्याद्वेद्यवेदकाकारज्ञानवत्^१ । यथैव हि ज्ञानस्य वेद्यवेदकाकाराभ्यां^२ तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वात्^३ किमेकदेशेन सर्वात्मना^४ वेति विकल्पयोर्न^५ विज्ञानस्य सावयवत्वं बहुत्वं वा प्रसज्यतेनवस्था वा, 'तथावयव्यादेरप्यवयवादिभ्यस्तादात्म्य-मशक्यविवेचनत्वादेव नैकदेशेन प्रत्येकं सर्वात्मना वा यतस्ताथागतः सर्वथा भेदे इवावयवा-वयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्येपि वृत्तिं दूषयेत् ।

संयोग आदि की कल्पना को निरस्त कर दिया । वास्तव में इन वैशेषिकों का कहना है कि थाली और दही ये दो पदार्थ संयोगी हैं और संयोग नाम का तीसरा गुण इनसे पृथक् है जो कि इन दोनों में 'थाली में दही है' इस प्रकार के संयोग को कराता है । किन्तु जैनाचार्य समझाते हैं कि भाई ! यदि थाली और दही दोनों अलग-अलग पड़े हैं तो संयोग गुण क्या करेगा ? और यदि थाली में दही डाल दिया गया तो भी संयोग गुण ने क्या किया ? अतः 'थाली में दही के रहने का नाम ही संयोग है' न कि अन्य कोई संयोग गुण है । अतः अवयव-अवयवी, कार्य-कारण आदि में कथंचित् अभेद स्वीकार करना ही चाहिये ।

इस प्रकार से वृत्ति में दोष जैसा वर्णित किया गया वह सब स्याद्वादियों के यहाँ भी आता है ।

जैन—नहीं । ये दोष हमारे अनेकान्त में नहीं आ सकते हैं । क्योंकि वेद्यवेदाकाकार के समान कथंचित् तादात्म्य स्वीकार किया गया है ।

जिस प्रकार से विज्ञान में वेद्य-वेदकाकार के द्वारा तादात्म्य-अभेद है क्योंकि उनका अलग-अलग विवेचन अशक्य है । प्रश्न यह होता है कि ज्ञान में तादात्म्य क्या एक देश से है या सर्वदेश से ? इत्यादि विकल्पों के करने पर ज्ञान में अवयव सहितपना अथवा बहुतपने का प्रसंग नहीं आता है और न अनवस्था का ही प्रसंग आता है ।

उस प्रकार से अवयवी आदिकों में अवयवादि से तादात्म्य है क्योंकि अशक्य विवेचन ही है । अतः एक देश से अथवा सर्वदेश से प्रत्येक अवयवों की वृत्ति नहीं है कि जिससे बौद्ध सर्वथा भेद पक्ष के समान हम जैनों के द्वारा स्वीकृत अवयव, अवयवी आदिकों का कथंचित् तादात्म्य होने पर भी उनमें वृत्ति को दूषित कर सके अर्थात् हमारे यहाँ कथमपि दूषण का अवकाश नहीं है ।

1 स्याद्वादी वदति वेद्यवेदकाकारयोर्ज्ञानमेकदेशेन समवेतं सर्वात्मना वा समवेतं कथंचित्तादात्म्याभ्युपगम्यत इति विकल्पस्त्वया वैशेषिकेण किं संभाव्यतेऽपितु न तथा विज्ञानस्य भागवत्वमनेकत्वञ्च किं सम्भाव्यतेऽपितु न । दि० प्र० । 2 का । व्या० प्र० । 3 सतोः । दि० प्र० । 4 ततश्च । दि० प्र० । 5 सर्वात्मना वेति विकल्पयोरविज्ञान । इति० पा० । दि० प्र० । 6 तथा च । इति पा० । दि० प्र० ।

[वैशेषिकोपि जैनस्य कथञ्चित्तादात्म्ये दोषारोपणं कर्तुं न शक्नोति ।]

एतेन वैशेषिकोपि न कथञ्चित्तादात्म्ये वृत्तिविकल्पादिदूषणमापादयितुमीशः, सामान्य-विशेषवत्तत्र तदनवकाशात् । न 'ह्यपरसामान्यं व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वाद्विशेषा^२ख्यामपि^३ लभमान-मपह्नोतुं शक्यं, तस्य सामान्यैकरूपत्वेऽपरविशेषाभावप्रसङ्गात्, तदपरविशेषरूपत्वेऽपरसामान्या-भावापत्तेः, तदुभयरूपत्वे सामान्यविशेषरूपयोः कथञ्चित्तादात्म्य^४स्यैवाभ्युपगमनीयत्वात्, तदे-कार्थसम^५वायस्य कथञ्चिदेकद्रव्य^६तादात्म्यादुपरस्यासंभवात्, ^७सामान्यस्यैवानुवृत्तव्यावृत्तप्रत्यय-हेतुत्वेन सामान्यविशेषोभयाकारस्येष्टत्वाच्च । न ^८तयोराकारयोरन्यत्रैकार्थं समवायः परस्परं

[वैशेषिक भी हमारे कथञ्चित् तादात्म्य में दोषारोपण नहीं कर सकते हैं ।]

इसी कथन से वैशेषिक भी कथञ्चित् तादात्म्य पक्ष में वृत्ति के विकल्पादि दूषणों का अपादान करने में समर्थ नहीं है । क्योंकि सामान्य विशेष के समान कथञ्चित् तादात्म्य में उन दोषों को अवकाश नहीं है ।

तथैव व्यावृत्ति बुद्धि के प्रति हेतु होने से विशेष, सामान्य नाम को प्राप्त करता हुआ अपर सामान्य भी विशेष नाम का भी अपहृत करने में समर्थ नहीं है । अन्यथा उसको सामान्य एक रूप मानने पर अपर विशेष के अभाव का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् द्रव्यादिक अपर हैं क्योंकि अल्प विषय वाले हैं उस व्यावृत्ति में भी हेतु हैं अतः विशेष इस नाम को भी प्राप्त करते हैं इस प्रकार से उन लोगों ने स्वयं ही माना है जैसे घट में घटत्व और उसकी व्यावृत्ति पटत्व है जो कि अपर सामान्य है ।

उस अपर सामान्य को अपर विशेष रूप मान लेने पर अपर सामान्य की आपत्ति आती है । अपर सामान्य को उभय रूप-सामान्य विशेष रूप स्वीकार करने पर तो सामान्य विशेष रूप में

१ अत्राह वैशेषिकः हे स्याद्वादिन् ! एकस्मिन् वस्तुनि सामान्यविशेषो लोके मूलतो न स्तः । अत्यन्तभेदात् । इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । हे वैशेषिक तव मतेऽभ्युपगतमपरसामान्यं व्यावृत्तिज्ञानहेतुत्वादपरसामान्यमपरविशेषसंज्ञां वक्ष्यमाणयुक्तिबलात् प्राप्नुवत् सदपलपितुमाच्छादितुं भवता न शक्यम् । कस्मात्तस्य तवाभ्युपगतस्यापरसामान्यस्य सामान्यरूपत्वे सत्यपरसामान्य इति विशेषणपदस्याभावः संभवति यतः । तथा तस्यापरइति विशेषणरूपत्वे सति सामान्य इति पदस्याभावः प्रसजति । तदपरसामान्योभयरूपत्वे सति सामान्यविशेषरूपमेकत्रार्थे कथञ्चित्तादात्म्यं भवताभ्युपगन्तव्यं यतः । दि० प्र० । २ अन्यस्मात्सकाशात् । व्या० प्र० । ३ संज्ञाम् । व्या० प्र० । ४ ननु समवायस्य । व्या० प्र० । ५ गोपिण्डः । व्या० प्र० । ६ स्याद्वाद्याह । सामान्यविशेषयोः कथञ्चित्तादात्म्यं भवताभ्युपगन्तव्यं कस्मात्तयोरेकार्थं समवायः स चैकार्थं कथञ्चित्तादात्म्यादपरो नास्ति यतः कोर्थः कथञ्चित्तादात्म्यमेवसमवायः = अनुगतव्यावृत्तज्ञान-निमित्तत्वेन तथाभ्युपगतं सामान्यमेवोभयकारमिष्टं यतः । दि० प्र० । ७ सामान्यविशेषयोर्मध्य एकस्यैकत्रार्थं समवायसंबन्धो वक्तुं युक्तो न तथा वस्त्वाधाररहितयोः तयोः परस्परं समवाय इति च वक्तुं युज्यते न । = अवयवावय-विगुणगुणिषु मुखानामेकत्रसामान्यविशेषयोरिव कथञ्चित्तादात्म्यमेव वृत्तिः सा च प्रारब्धदोषोपहृता कुतः स्यान्न कुतोपि । दि० प्र० । ८ न तयोरन्यत्रैकार्थं । इति पा० । दि० प्र० ।

वा शक्यो वक्तुं, यतस्तद्वदवयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्यं¹ वृत्तिः प्रकृतदूषणोपद्रुता² स्यात् । किं चावयवादिभ्योवयव्यादीनामत्यन्तभेदे देशकाला³ भ्यामपि भेदः स्यात् ।

देशकाल⁴ विशेषेपि⁵ स्याद्वृत्ति⁶ युतसिद्धवत् ।

समानदेशता⁷ न स्यान्⁸मूर्तकारणकार्ययो ॥६३॥

कथंचित् तादात्म्य ही स्वीकार कर लिया गया है ऐसा समझना चाहिये । वह सामान्य विशेष का एकार्थ समवाय कथंचित् एक द्रव्य तादात्म्य से भिन्न अन्य कोई समवाय रूप सम्भव नहीं है । क्योंकि सामान्य को ही आपने अनुवृत्त, व्यावृत्त, प्रत्यय हेतु रूप से सामान्य विशेष रू उभयाकार रूप को स्वीकार कर लिया है । अथवा उन दोनों आकारों का अन्यत्र—किसी तृतीय पदार्थ में परस्पर समवाय कहना शक्य भी नहीं है कि जिससे उसके समान अवयव और अवयवी आदिकों में कथंचित् तादात्म्य वृत्ति प्रकृत दूषणों से उपद्रुत हो सके । अर्थात् नहीं हो सकती है । अर्थात् सामान्य आकार में विशेषाकार का होना और विशेषाकार में 'सामान्याकार' का होना परस्पर में समवाय है । ऐसा परस्पर समवाय उन दोनों का अन्यत्र किसी पदार्थ में भी नहीं है । अतः अवयव, अवयवी आदिकों में कथंचित् तादात्म्य वृत्ति ही है । उसमें आपके दिये हुये दूषण नहीं आते हैं ।

और दूसरी बात यह है कि अवयव आदिकों से अवयवी आदि को अत्यन्त रूप से भिन्न मानने पर देश और काल के द्वारा भी भेद हो जायेगा ।

यदि अवयव अवयवी आदि में भेद सर्वथा कहो सुजान ।

देश काल से भी होगा यह, भेद पुनः युतसिद्ध समान ॥

पृथक-पृथक आश्रय वाले घट पट में भी वृत्ति होगी ।

तब तो मूर्त कार्य कारण में एकदेशता नहीं होगी ॥६३॥

कारिकार्थं—अवयव, अवयवी आदि में परस्पर में अत्यन्त भेद मानने पर देशकाल की अपेक्षा से भी इनमें भेद मानना होगा एवं देश, काल से भी भेद के मानने पर इनकी वृत्ति युतसिद्ध पदार्थों की तरह होगी, पुनः मूर्त कार्यकारण में सामान्य देशता-एक देशता नहीं बन सकेगा । ॥६३॥

यौग—आत्मा और आकाश में अत्यन्त भेद होने पर भी देश और काल से भेद का अभाव है इसलिये कार्यकारण आदिकों में उन देशकालों से वह भेद सिद्ध नहीं होता है जिससे की आप युतसिद्धि के समान वृत्ति मानें, अर्थात् नहीं मान सकते हैं ।

1 सम्बन्धः । व्या० प्र० । 2 बाधिता । व्या० प्र० । 3 भा । व्या० प्र० । 4 विशेषे च । इति पा० । दि० प्र० एवं व्या० प्र० । 5 अवयव्यादीनां वर्तनम् । अवयवावयव्यादयः देशकालाभ्यां भिन्नात्यन्तभिन्नत्वात् । व्या० प्र० । 6 एककालता । दि० प्र० । 7 खरकरभक्षोर्घटवृक्षयोर्वामूर्तयोर्थथा समानदेशकालता न स्यात्तथा । दि० प्र० । 8 योगस्यैव सत्त्वद्रव्यादीनां पदार्थान्तरत्वेन तदपेक्षयाभेदाघटनात् । अत्यन्तभेदसद्भावात् देशकालापेक्षयापि भेदप्रसङ्गो भवत्यात्मा-काशादीनामिति स्याद्वादिवचनं परिहरन्तं यौगं प्रत्याहुः परस्यापीति । दि० प्र० ।

नन्वात्माकाशयोरत्यन्तभेदेपि देशकालाभ्यां भेदाभावान्न ततः कार्यकारणादीनां तद्भेदः सिद्धयति, यतो युतसिद्धवृत्तिः स्यादिति चेन्न, तयोरपि सद्द्रव्यत्वादिना भेदाभावा-
दत्यन्तभेदासिद्धेरभिन्नदेशकालत्वाविरोधात् । परस्यापि^१ सर्व^२ मूर्तिमद्द्रव्येषु युगपत्संयोग-
वृत्तेरभ्युपगमात् तयोरत्यन्तभेदानिष्टेर्देशकालाभ्याम^३ भेदाविरोधे^४ तथैवावयवावयव्यादेस्ता-
भ्यामभेदोस्त्वविरुद्धः । स^५ च कथंचिदभेदसाधनः स्यात्^६ । न चासा विष्यते, अपसिद्धान्त-
प्रसङ्गात् । तस्माद्द्वाद्वादे^७ रत्यन्तभेदात्^८ तद्देशकालविशेषेणापि वृत्तिः प्रसज्येत^९ घट-

ज्ञान—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि उन आत्मा और आकाश में भी सत् द्रव्यत्व आदि से भेद का अभाव है अतः अत्यन्त-सर्वथा भेद नहीं है एवं अभिन्न देश, काल का विरोध नहीं है । आप वैशेषिक के यहाँ भी तो सभी मूर्तिमान् द्रव्यों में युगपत् संयोग वृत्ति स्वीकार की गई है । अतः आत्मा और आकाश में अत्यन्त भेद मानना आपके यहाँ भी अनिष्ट है । क्योंकि देशकाल से अभेद स्वीकार करने पर उसी प्रकार से अवयव और अवयवो आदिकों में देश, काल से अभेद अविरुद्ध ही है । वह कथंचित् अभेद को सिद्ध करने वाला है एवं इस प्रकार से कथंचित् अभेद को तो आप यौग स्वीकार भी नहीं करते हैं । अन्यथा अपसिद्धान्त का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् स्याद्वाद का प्रसंग आ जायेगा । अवयव-अवयवो में आप अभेद नहीं मानते हैं, अतएव अंग-अंगी आदि में भी अत्यन्त भेद होने से देश काल से विशेष होने पर भी भेदवृत्ति का प्रसंग आ जायेगा । जैसे—घट और वृक्ष में भेद पाया जाता है । रूप, रस, गंध, स्पर्श से अनेकान्तिक हैं, ऐसा भी कहना अयुक्त है, क्योंकि वर्णादि से भिन्नपना हमने एकांत से स्वीकार ही नहीं किया है ।

जिस प्रकार से वर्ण, रस, गंध स्पर्श अपने आश्रयभूत विजौर आम आदि से अत्यन्त रूप से भिन्न इष्ट नहीं है और न भिन्न रूप ही देखे गये हैं । उसी प्रकार से परस्पर में भी अत्यन्त रूप से

१ यौगस्यापि सकल मूर्तद्रव्येषु समं संयोगवृत्तेरङ्गीकारात्तयोरत्माकाशयोरत्यन्तभेदाघटनात् । देशकालाभ्यामभेदा-
विरोधे सत्यात्माकाशयोः = तथैव ताभ्यां देशकालाभ्यांसकाशात् अवयवावयव्यादीनामभेदो न विरुद्धयते । वैशेषिकोपि
सर्वमूर्तिमद्द्रव्येषुवाकाशस्य युगपद्वृत्तिमभ्युपगच्छति । दि० प्र० । २ यथा कार्यकारणयोर्देशकालाभेदः । दि० प्र० ।
३ स चाविरुद्धाभेदः कथंचिदभेदस्य साधको भवेत् = तादात्म्यस्य । दि० प्र० । ४ किञ्चासौ न्यायबलात्सिद्धः कथञ्चि-
दभेदो भवद्भिर्वैशेषिकैर्नाभ्युपगम्यते चेत्तदावयवावयव्यादीनां सर्वथाभेदप्रतिपादकस्य त्वत्सिद्धांतस्यापसिद्धांत-
त्वमायाति । ५ वैशेषिकस्य तद्भवेत् तत्किमित्युक्त आह अग्निधूमाद्योः कार्यकारणयोः सर्वथाभेदाभ्युपगमात् वैशेषिकस्य
कारणकार्ययोः पक्षो देशकालाभ्यामपि भेदवृत्तिर्घटतेत्यन्तभेदात् हेतुः । यथायुतसिद्धयोः घटवृक्षयोः । दि० प्र० ।
६ तस्मादात्म्यादेरत्यन्तभेदात् । इति पा० । दि० प्र० । ७ कारण, कार्य । व्या० प्र० । ८ कारणकार्यादयो देशकाला-
दिभेदेन भिन्ना अत्यन्तभिन्नत्वात् । व्या० प्र० । ९ अत्राह वै० हे स्याद्वादिन् कार्यकारणगुणगुणिसामान्यतद्वातं पक्षो
देशकालाभ्यां भेदवृत्तिर्भवतीति साध्यो धर्मोऽत्यन्तभेदादिति हेतोः एकस्मिन् बीजपूरादौ वर्तमानैः वर्णगन्धरसरूपैः
व्यभिचारित्वमस्ति । कोथः फले गुणिनि वर्तमानानां गुणानां वर्णादीनां देशकालाभ्यां भेदलक्षणावृत्तिर्दृश्यते न स्यात्
हे वैशेषिक इत्ययुक्तं कुतस्तत्तेषां वर्णादीनां स्वाश्रयात् कलात्सर्वथा भिन्नत्वस्यास्माभिरनङ्गीकारात् = यथा वर्णादीनां
स्वाश्रयात् सर्वथा भेदः प्रत्यक्षेण न दृष्टः नानुमानागमाभ्यां सिद्धस्तथा तेषामन्योन्यमपि भेदो नास्ति । दि० प्र० ।

वृक्षवत् । वर्णादिभिरनैकान्तिकत्वमित्ययुक्तं, तद्व्यतिरेकैकान्ता^१ नभ्युपगमात् । यथैव हि वर्णरसगन्धस्पर्शानां स्वाश्रयादत्यन्तभेदो नेष्टो दृष्टोवा तथा परस्परतोपीति । ^२नाप्येतैः पक्षै-
कदेशात्मभिव्यभिचारो नामातिप्रसङ्गात् । ^३यदि पुनः कार्यकारणादीनां समानदेशकालत्व-
मुररीक्रियते तथैव सिद्धान्तावधारणादिति मतं तदाध्यवयवावयविनोः समानदेशे वृत्तिर्न
भवेत्, मूर्तिमत्त्वात्खरकरभवत्, मूर्तयोः समानदेशत्वविरोधात् । वातातपयोः समानदेशत्व-
दर्शनादविरोध इति चेन्न, तयोः स्वावयवदेशयोरवय^४ विनोरभ्युपगमात्^५ । तन्तुपटयोरपि स्वा-

भिन्न नहीं हैं । पक्षीकृत गुण-गुणी आदि के साथ एक देश स्वरूप-पक्ष के अतर्भूत स्पर्श, रस, गन्ध वर्णों से भी व्यभिचार दोष नहीं आता है । अन्यथा अति प्रसंग आ जायेगा अर्थात् “पृथ्वी आदिक बुद्धिगत हेतुक है क्योंकि कार्य रूप हैं, इसके उत्पन्न पक्ष के एक देशात्मक, तृण, पर्वत आदिकों में बुद्धिगत हेतुक का साध्य का अभाव होने पर भी “सत्व” होने से तृण पर्वतादिकों से व्यभिचार का प्रसंग आ जायेगा ।

यौग—हम कार्य कारणादिकों का समान देश, कालत्व स्वीकार करते हैं क्योंकि उसी प्रकार सिद्धान्त अवधारित है ।

जैन—यदि आप ऐसा कहते हैं तो भी अवयव और अवयवी की समान देश में वृत्ति नहीं हो सकेगी । क्योंकि गर्दभ और ऊँट के समान वे मूर्तिमान हैं । एवं मूर्तिमान पदार्थ में समान देश का मानना विरुद्ध ही है ।

यौग—वायु और आतप में समान देशता देखी जाती है । अतः कोई विरोध नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते । उन वायु और आतप में अपने-अपने अवयव रूप देश के होने से उन दोनों को अवयवी रूप माना है न कि अवयव, अवयवी रूप ।

यौग—तन्तु और वस्त्र में अपने-अपने अवयव देश होने से समान देशत्व का अभाव है अतः कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । अन्यथा परमाणु और द्वयणुक में भिन्न देश का अभाव होने से समान देशता भी नहीं हो सकेगी । इस प्रकार से अनेक दोष उद्भूत हो जायेंगे ।

अर्थात् परमाणु तो निरवयव रूप हैं इसलिये उनमें भिन्न देश का अभाव है, पुनः समान देशता भी न रहने से अनेक दोष आ जायेंगे ।

१ भेदेकान्तः । दि० प्र० । २ द्रव्यात् । व्या० प्र० । ३ अतः कारिकाद्धं व्याख्या । दि० प्र० । ४ वसः । भ्या० प्र० । ५ तनुकरणभुवनादिकं धीमत्हेतुकं कार्यत्वादित्यत्र पक्षैकदेशात्मसु तृणपर्वतादिषु धीमत्हेतुकत्व-
लक्षणसाध्याभावे विद्यमानस्याप्यत्यन्तभिन्नत्वलक्षणहेतोस्तैर्व्यभिचारोनाङ्गीकर्तव्य इति भावः । दि० प्र० ।

वयवदेशत्वा¹ त्समानदेशत्वाभावो न दोष² इति चेन्न, परमाणुध्वणुकयोर्भिन्नदेशत्वाभावात्समानदेशत्वमपि न भवेदिति 'दोषोद्भावनात्³ । ध्वणुकस्य परमाणुदेशत्वात्परमाणोरनंश⁴स्याप्या⁵ श्रयान्तरस्थत्वात्तयोर⁶समानदेशतैवेति चेन्न, तथा लौकिकदेशापेक्षया समानदेशत्वोपगमस्य प्रसङ्गात्⁷ । स च मूर्तयोर्न भवेदिति सूक्तमेव दूषणम् । कथमेवमनेकान्तवादिनामेकाकाशप्रदेशोऽसंख्ये⁸यादिपरमाणूनामवस्थानं न विरुध्यते इति चेत्, तथावगाहनविशेषा¹⁰देकत्वपरिणामादिति ब्रूमहे । नह्येक¹¹ मूर्तिमद्द्रव्यमेकत्र देशेवतिष्ठमानं विरुद्ध नाम, अतिप्रसङ्गात् । संयोग-

योग—द्वयणुक परमाणु देश रूप है, और परमाणु अनंश होकर भी आकाश रूप भिन्न आश्रय में स्थित है । इसलिये उन परमाणु और द्वयणुक में समान देशता है ही नहीं ।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है । इस प्रकार से लौकिक देश की अपेक्षा से समान देशता स्वीकार करने का प्रसंग आ जायेगा और वह समान देशता, मूर्तिक-कार्यकारण में नहीं हो सकती है । इसलिये कार्यकारण में यह उक्त दूषण देना ठीक ही है । अर्थात् यद्यपि परमाणु और द्वयणुक में शास्त्रीय देश भेद नहीं है फिर भी जैसे आपने लौकिक देश भेद स्वीकार कर लिया है वैसे ही कार्य कारण में समान देशता भी स्वीकार कर लीजिये । और वैसे स्वीकार कर लेने पर तो वह समान देशता मूर्तिक दो चीजों में नहीं हो सकती है । अतः उपर्युक्त दूषण सुघटित ही है ।

योग—इस प्रकार से तो आप अनेकांतवादियों के यहाँ आकाश के एक प्रदेश में संख्यात, असंख्यात परमाणुओं का रहना विरुद्ध कैसे नहीं होगा ? अर्थात् जैनियों के यहाँ एक आकाश प्रदेश में मूर्तिक असंख्यात परमाणु रूप स्कंध भी रह जाता है । ऐसा माना है उसमें विरोध क्यों नहीं आयेगा ।

1 तर्हि समानदेशतानेत्याह । दि० प्र० । 2 ईप् । व्या० प्र० । भवद्भिरापादितः । दि० प्र० । 3 आरोपणात् । दि० प्र० । 4 अनेन परमाणोः स्वावयवदेशत्वाभावः सूचितः । दि० प्र० । 5 द्वयणुके परमाणोः । दि० प्र० । 6 कार्यकारणयोः । दि० प्र० । 7 लौकिकसमानदेशः । दि० प्र० । 8 एवं चेद्वातातपयोः कथमेकदेशत्वमित्याशङ्क्यां तथावगाहविशेषादेकत्वपरिणामादिति वक्ष्यमाणमेवोत्तरमत्रापि दृष्टव्यं ननु प्रथममेवेत्तदुत्तरं वक्तव्यमेतावान् प्रायसः कुत इति न मन्तव्यं शास्त्रीयदेशभेदस्य द्वयणुकपरमाणुध्वभावोपदर्शनेन निराकरणार्थत्वात्तथा च शास्त्रीयदेशभेदस्याभ्युपगमात् लौकिकदेशभेदो माभूदित्येत्न्निरस्तं भवति । दि० प्र० । 9 असंख्यातादि । व्या० प्र० । 10 परमाणूनाम् । व्या० प्र० । 11 अत्राह वैशेषिकः हे स्याद्वादिन् एवं सति भवतां स्याद्वादिनामेकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽसंख्येयादिपरमाणूनां स्थानदायित्वलक्षणतथावगाहनातिशयोक्ति यतः । तथात्वपरमाणूनामेकत्राभवन् लक्षणपरिणामसामर्थ्यादितिहेतोः परमाणूनामेकत्रावस्थानं वयं ब्रूमः = पुनराह स्या० एकं केवलं मूर्तियुक्तद्रव्यमेकस्मिन् क्षेत्रे स्थितिं कुर्वन्मतविरुद्धं न भवति विरुद्धं स्याच्चेत् तदातिप्रसङ्गो जायते । कोर्थः लोके एकः पुरुषः एक स्तम्भः एकं फलमिति व्यपदेशेपि लुप्यते = पुनरपि स्याद्वाद्याह हे वैशेषिक ! त्वदभिप्रायेण संबन्धमात्रेण स्थितानां परस्परमेकत्वपरिणामनिरुत्सकानां परमाणूनामेकत्राकाशप्रदेशे स्थिति न घटते । कुतः आकाशस्यावगाहनविशेषाभावादेवं सति भवन्मतापेक्षया परमाणूनामेकाकाशप्रदेशत्वं सिद्धयति = इति हेतोरस्माकं स्याद्वादिनां न किञ्चिद्विरुद्धम् = वैशेषिक आह हे स्याद्वादिन् तवमतं एवं स्यात् किम् । दि० प्र० ।

मात्रेण तु स्थितानामेकत्वपरिणामनिस्तमुकानां^१ नैकाकाशप्रदेशेवस्थानमवगाहनविशेषाभावाद्-
नेकाकाशप्रदेशवृत्तित्वसिद्धेः । इति स्याद्वादिनां न किञ्चिद्विरुद्धम् । स्यान्मतम्,

आश्रयाश्रयिभावान्न^२ स्वातन्त्र्यं समवायिनाम् ।

इत्ययुक्तः^३ स संबन्धो^४ न युक्तः समवायिभिः ॥६४॥

जैन—हम जैन तो ऐसा कहते हैं कि आकाश प्रदेश में उस प्रकार का अवगाहन गुण विशेष है और वे असंख्यात परमाणु भी एक स्कन्ध रूप से परिणत हो जाते हैं । एक मूर्तिमान्, असंख्येय परमाणु रूप स्कन्ध द्रव्य, एकत्र आकाश प्रदेश में रहता है इसमें कुछ भी विरोध नहीं आ सकता है अन्यथा अति प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् जल, लवण, भस्म, सूई आदि अनेक पदार्थ भी क्रमशः एक जगह रह जाते हैं उनका रहना भी विरुद्ध मानना पड़ेगा ।

किन्तु संयोग मात्र से स्थित, एकत्व परिणाम से निरुत्सक ऐसे परमाणुओं का एक आकाश प्रदेश पर अवस्थान नहीं है । क्योंकि अवगाहन विशेष का अभाव होने से उनकी अनेक आकाश प्रदेशों में वृत्ति (रहना) सिद्ध है ।

इसलिये स्याद्वादियों के यहाँ कुछ भी विरुद्ध नहीं है । अर्थात् किन्हीं स्कन्ध रूप से परिणत परमाणुओं का समान देश में रहना सिद्ध है और पृथक्-पृथक् परमाणुओं का भिन्न देश में ही रहना है यह बात सिद्ध हो गई ।

यदि आप यौगमतानुयायियों का ऐसा अभिप्राय हो कि—

यदि समवायी पदार्थ का है आश्रयी भाव ।

अतः स्वतन्त्र नहीं है जिससे भिन्नो में है वृत्ति अभाव ॥

चूँकि स्वयं जो असम्बद्ध वह एक अवयवी वस्तु का ।

अवयव बहुतों से कैसे तद्वत् सम्बन्ध कर सकता ॥६४॥

कारिकार्थ—आश्रय और आश्रयी भाव के होने से समवायि-तंतुपटादिकों में स्वतन्त्रता-भिन्नता नहीं है यदि आप वैशेषिक ऐसा कहते हैं, तब तो समवादियों के साथ अयुक्त (दूसरे समवाय सम्बन्ध से असम्बन्धित) वह समवाय सम्बन्ध युक्तियुक्त नहीं है अर्थात् समवाय लक्षण सम्बन्ध समवायियों के साथ असम्बन्धित होने से सिद्ध नहीं हो पाता है । ॥६४॥

वैशेषिक—समवाय से कार्य कारणादिकों का परस्पर में सम्बन्ध है । अतः इनमें स्वतन्त्रता-भेद कैसे सिद्ध हो सकेगा ? कि जिससे देश कालादि के भेद से उनमें वृत्ति हो सके अर्थात् नहीं हो सकती है ।

१ रहितानाम् । दि० प्र० । २ तन्तुपटादीनाम् । दि० प्र० । ३ असम्बद्धः । दि० प्र० । ४ समवायलक्षणमुपपन्नः । दि० प्र० ।

समवायेन कार्यकारणादीनां परस्परं प्रतिबन्धात् कुतः स्वातन्त्र्यं^२ यतो^३ देश-कालादिभेदेन वृत्तिरिति चेत्, स तर्हि^४ समवायिषु^५ समवायान्तरेण वर्तते स्वतो वा ? समवायस्य समवायान्तरेण वृत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, स्वतो वृत्तौ द्रव्यादेस्तथोपपत्तेः^६ समवाय-वैयर्थ्यात् कार्यकारणादीनां कुतः प्रतिबन्धः^७ ? यदि पुनरनाश्रितत्वात् प्रतिबन्धान्तरानपेक्ष-दृष्यते तदाप्यसंबन्धः समवायः कथं द्रव्यादिभिः सह वर्तेत, यतः पृथक्सिद्धिर्न स्यात् ? तस्मा-दयुक्तः संबन्धो न युक्तः समवायिभिः^९ । न ह्यप्रतिबद्ध एव समवायिभिः^{१०} समवायः संबन्धो

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो, आपसे पूछते हैं कि वह समवाय समवायियों में समवायान्तर से रहता है या स्वतः ?

यदि पहला पक्ष लेवें कि समवाय स्वसमवायी-तन्तु पटादिकों में भिन्न समवाय से रहता है तब तो अनवस्था दोष आ जाता है । यदि दूसरा पक्ष लेवें कि समवाय स्वसमवायी में स्वतः रहता है तब तो द्रव्यादि स्वयं उस प्रकार के हैं । अतः समवाय के व्यर्थ हो जाने से कार्य कारणादिकों का सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् जैसे समवाय समवायी में स्वतः रहता है वैसे ही समवायी भी परस्पर में स्वतः रहने लगेंगे । अतः समवाय सम्बन्ध व्यर्थ हो जायेगा पुनः कार्य कारण सम्बन्ध कैसे हो सकेगा ?

भावार्थ—कार्य कारणादिकों में जब यौग ने भेद माना तब जैनाचार्यों ने अनेक दूषण पूर्व कारिका में उद्धृत कर दिये तब वैशेषिक कहता है कि अवयवादिकों में आश्रय भाव है तथा अवयवी आदि में आश्रयी भाव है तथा ये सब पदार्थ परस्पर में समवाय संबंध से बंधे हुये हैं इत्यादि । इस प्रकार जैनाचार्य कहते हैं कि—समवायियों को परस्पर में जोड़ने वाला वह समवाय समवायियों को आश्रय-आश्रयि भाव में रखकर उनके भेद को दूर करने वाला समवाय अपने इन समवायियों में दूसरे समवाय से जुड़ता है या स्वतः ? यदि प्रथम पक्ष लेवें तो अन्य समवाय की वृत्ति भी अपने समवाय

1 वैशेषिको वदति । हे स्याद्वादिन् युक्तं त्वया संबन्धः समवायिभिः सह असम्बद्ध इति युक्तं कथमित्युक्त आह । कार्यकारणगुणगुणिसामान्यानां विशेषाणां समवायाख्यसंबन्धे सति परस्परसंबन्धोस्ति । तस्मात्तेषां स्वाधीनत्वं कुतः न कुतोपि स्वातंत्र्याभावे देशकालाभ्यां भेदेन वृत्तिः कुतः न कुतोपीति चेत् । दि० प्र० । 2 भिन्नभिन्नत्वमित्यभिप्रायः । दि० प्र० । 3 स्वातन्त्र्यात् । व्या० प्र० । 4 कार्यकारणादिषु । व्या० प्र० । 5 स्वा० आह तर्हि सः समवायः समवायिषु समवायान्तरेण कृत्वा वर्तते स्वयमेव वेति प्रश्नः । समवायान्तरेण वर्तते चेत्तदा समवायोन्यसमवायान्तरमपेक्ष्यते । सोऽप्यन्यमन्योऽन्यमेवमनवस्थादोषः प्रसजति । दि० प्र० । 6 द्रव्यत्वादेरपि स्वतो वृत्त्युपपत्तेः । व्या० प्र० । 7 सम्बन्धः । दि० प्र० । 8 स्याद्वादी वदति हे वैशेषिक ! यदि पुनः समवायः कार्यकारणादिभ्यः अश्रितत्वात् संबन्धान्तरं न अभिलषति इत्यपि प्रतिपाद्यते त्वया । तदा समवायो द्रव्यादिभिः सह सम्बद्धः असम्बद्धो वेति प्रश्नः । सम्बद्धश्चेदनाश्रितत्वं कुतः असंबद्धश्चेत्तदा द्रव्यादिभिः सह कथं वर्तेत द्रव्यादेः सकाशात् समवायस्य भिन्नसिद्धिः कुतो न स्यात् । अपितु स्यादेव—ततः समवायिभिः सह अपरिणतः सन् समवाय संबन्धः प्रमाणोपपन्नो न भवतीत्यर्थः । दि० प्र० । 9 कार्यकारणगुणद्रव्यादिभिः । व्या० प्र० । 10 पुनराह स्याद्वादी । हे वैशेषिक समवायसंबन्धः स्वसंबन्धिभिरप्रतिबद्ध एव युक्तिमान्नाह भवति चेत्तदा कालाकाशादिभिरपि सह समवायस्य संबन्धत्वमायाति । दि० प्र० ।

युक्तिमान्, कालादेरपि संबन्धत्वप्रसङ्गात् । संबद्ध^१ एव हि स्वसंबन्धिभिः संयोगः संबन्धो दृष्टस्तस्य तैः कथञ्चित्तादात्म्यसंबन्धात् । समवायोपि^२ विशेषण^३ विशेष्यभावसंबन्धात्समवायिभिः संबद्ध इति चेन्न, तस्यापि विशेषणविशेष्यभावान्तरेण स्वसंबन्धिभिः संबन्धेनवस्था-प्रसङ्गात्, अन्यथा संबन्धत्वविरोधात् । ^४तस्य संबन्धिभिः कथञ्चित्तादात्म्ये कार्यकारणादीनामपि तदेवास्तु । किं ^५समवायेन पदार्थान्तर^६ भूतेन सत्तासामान्येनेव कल्पितेन ? फलाभावात् ।

समवायी में दूसरे से माननी पड़ेगी । अतः अनवस्था सुनिश्चित है । दूसरा पक्ष लेवें तो जब समवाय स्वतः समवायियों में जुड़ता है तब द्रव्यादिक-समवायियों को परस्पर में इस समवाय से भी जोड़ने की क्या आवश्यकता है । जिस प्रकार समवाय अपने द्रव्यादिक संबन्धियों में अन्य समवाय के बिना जुड़ता है उसी प्रकार द्रव्यादि संबन्धी परस्पर में स्वयं जुड़े हुये हैं अतः समवाय की कल्पना कुछ भी कार्यकारी न होने से अनावश्यक ही है ।

वैशेषिक—समवाय अपने समवायियों में संबन्धित होने के लिये अन्य संबन्ध (समवाय) की अपेक्षा नहीं रखता है । क्योंकि वह अनाश्रित है । अर्थात् समवाय को अनाश्रित मानने पर भी “षण्णामाश्रितत्वं अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः” नित्य द्रव्यों को छोड़कर छह द्रव्य हमारे यहाँ आश्रित हैं इस तरह से हमारे ग्रन्थ में विरोध नहीं है । वहाँ भी उसे उपचार से ही आश्रित कहा गया है ।

जैन—यदि आप ऐसा मानते हैं तब तो समवायियों से असंबन्धित वह समवाय द्रव्यादिकों के साथ कैसे रहेगा, कि जिससे कार्य कारणादिकों में पृथक सिद्धि न हो सके ? अर्थात् पृथक सिद्धि ही हो जायेगी ।

अतएव अयुक्त-असंबन्धित संबन्ध समवायियों के साथ युक्त-घटित नहीं होता है । क्योंकि समवायियों के साथ अप्रतिबद्ध-अनाश्रित रहकर ही समवाय रूप संबन्ध युक्तिमान् नहीं है । अन्यथा कालादि में भी संबन्धपने का प्रसंग आ जायेगा । क्योंकि अनाश्रितपना दोनों जगह समान है ।

अपने संबन्धियों से संबन्धित होकर ही संयोग रूप संबन्ध देखा जाता है । क्योंकि वह संयोग स्वसंबन्धियों से कथञ्चित् तादात्म्य संबन्ध वाला है अर्थात् परिणामात्मक है ।

१ पुनः स्या० हि यस्मात्संयोगनामसम्बन्धः स्वसम्बन्धिभिः सह संबद्ध एव दृष्टोस्माभिः कस्मात् । तस्य संयोग-संबन्धस्य तैः स्वसंबन्धिभिः सह कथञ्चित्तादात्म्यसंबन्धोऽस्ति यतः । दि० प्र० । २ वं० भाहू हे स्याद्वादिन् यथा संयोगः सम्बद्धस्तथा समवायोपि विशेष्यविशेषणभावात् स्वसम्बन्धिभिः सह संबद्ध एव दृष्ट इति चेत् स्यादेवं न । तस्य विशेषणविशेष्यभावस्य अन्यविशेषण विशेषणविशेष्यभावेन कृत्वा स्वसंबन्धिभिः सम्बन्धे सति यथा समवायस्य तथानवस्था प्रसजति यथा । अन्यथा संबन्धाभावे सति संबद्धत्वं विरुद्धते । दि० प्र० । ३ समवायः कयोः समवायिनोरिति विशेषणविशेष्यभावः । व्या० प्र० । ४ तस्य विशेषणविशेष्यभावस्य संबन्धिभिस्सह कथञ्चित्तादात्म्ये सति कार्यकारणादीनामपि कथञ्चित्तादात्म्यं भवतु । दि० प्र० । ५ स्या० वदति यथा कल्पनया रचितेन सत्ता-सामान्येन तथा भिन्नेन समवायेन किं ? किमपि प्रयोजनं नास्ति । कुतः फलरहितत्वात् । दि० प्र० । ६ वस्तुनः । व्या० प्र० ।

प्रागसतः^१ सत्तासमवायात् कार्यस्योत्पत्तेः सफलमेव तत्परिकल्पनमिति चेन्नानुत्पन्नस्य सत्ता-समवायासंभवात्, उत्पन्नस्यापि तद्वैयर्थ्यात्^२, स्वरूपलाभस्यैव स्वरूपसत्तात्मकत्वात्, स्वरूपेणासतः सत्तासंबन्धेतिप्रसङ्गात् । ^३यदि पुनरुत्पद्यमानमेव कार्यं सत्तासमवायीष्यते, प्रागसतः

वैशेषिक—समवाय भी विशेष्य भाव संबंध से समवायियों से संबंधित है ।

जैन—ऐसा नहीं है । क्योंकि पुनः वह भी भिन्न-भिन्न विशेषण विशेष्य भाव संबंध से अपने संबंधियों से संबंधित होगा, इत्यादि रूप से अनवस्था दोष आ ही जायेगा । अन्यथा यदि विशेषण विशेष्य भाव के बिना स्वयमेव स्वसंबंधियों के साथ सम्बन्ध मानने पर संबंध का ही विरोध आ जायेगा । यदि आप यौग उस विशेषण-विशेष्य भाव को अपने संबंधियों के साथ कथंचित् तादात्म्य रूप मानोगे तो पुनः कार्य कारणादिकों में भी वह तादात्म्य कथंचित् रूप से मान लीजिये । पुनः सत्ता सामान्य के समान ही भिन्न पदार्थभूत कल्पित समवाय की कल्पना से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इसको मानना निष्फल ही है ।

शंका—सत्ता समवाय से पहले असत् रूप कार्य की उत्पत्ति होने से उस सत्ता समवाय की परिकल्पना करना सफलभूत ही है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि अनुत्पन्न-कार्य से सत्ता समवाय ही असंभव है । और उत्पन्न रूप कार्य में भी वह सत्ता समवाय व्यर्थ ही है । क्योंकि जिसने स्वरूप लाभ प्राप्त कर लिया है ऐसा उत्पन्न हुआ कार्य ही स्वरूप सत्तात्मक है । अर्थात् स्वरूप के अस्तित्व में भिन्न पदार्थभूत कोई अस्तित्व है ही नहीं ।

क्योंकि स्वरूप से असत् रूप पदार्थ का सत्ता के संबंध से अस्तित्व स्वीकार करेंगे तब तो अति प्रसंग दोष आ जायेगा । अर्थात् खरविषाणादिकों में भी सत्ता संबंध से अस्तित्व का प्रसंग आ जायेगा । यदि पुनः उत्पन्न होता हुआ ही कार्य सत्ता समवायी है ऐसा आपने स्वीकार किया है । तथा असत् कार्य के पहले सत्ता समवाय, उत्पाद है । इस प्रकार का वचन है । केवल समवाय सत्ता सामान्य के

१ अत्राह वै० हे स्या० पूर्वमविद्यमानस्य घटादिकार्यस्य सत्ता समवायात् कार्यस्योत्पत्तिदर्शनात् सत्तासामान्यकल्पनं सफलमेव स्यादिति चेत् स्याद्वाद्याह हे वै० यदुक्तं त्वया सत्तासामान्यं सफलं तन्न । कुतोऽनुत्पन्नस्य कार्यस्य सत्ता-समवायो न संभवति । यतः । उत्पन्नस्य कार्यस्य सत्तासमवायो व्यर्थः स्यात्तस्ततः कार्यस्य प्रादुर्भाव एव स्वरूप-सत्तान्यो नास्ति यतः । स्वरूपेणाविद्यमानस्य कार्यस्य सत्तासंबन्धो भवति चेत्तदा खरशृङ्गस्यापि सत्ता भवतीति लक्षणोतिप्रसङ्गः स्यात् । दि० प्र० । २ ता । व्या० प्र० । ३ स्वरूपसत्त्वं कृत्वा समवायः सफलो भविष्य-लीत्याशंकायामाह । दि० प्र० । ४ स्या० वदति हे यौग यदि चेदुत्पद्यमानमेव कार्यं सत्तासमवायवत्त्वया प्रतिपाद्यते कुतः पूर्वमविद्यमानस्य कार्यस्य सत्तासमवाय एव उत्पाद इति स्वसिद्धान्तवचनात् । पुनः कस्मात् । यथा सत्तासामान्यं नित्यं तथा केवलसमवायश्च नित्यस्तस्मात्कारणादुत्पाद इति ज्ञान नोत्पादयति कोर्थः प्रमाणविषयो न भवति स्वसंज्ञा च जनयति । कोर्थो वाग्मोचरश्च न भवति यतः । इति वैशेषिकमतमुल्लिख्य तन्मतं खण्डयति स्याद्वाद्याह तदा । दि० प्र० ।

सत्तासमवाय^१ उत्पाद इति वचनात्, केवलस्य^२ समवायस्य सत्तासामान्यवन्नित्यत्वा^३दुत्पाद इति ज्ञानाभिधानाहेतुत्वादिति मतं तदा,—

सामान्यं ^४समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः^५ ।

^६अन्तरेणाश्रयं^७ न स्यान्नाशोत्पादिषु को^८ विधिः ॥६५॥

[योगाभिमतसामान्यसमवाययोनिराकरणम्]

येषां ^९परमार्थतः सामान्य^{१०}स्याश्रितत्वमुपचारा^{११}त्समवायस्य समवायिषु^{१२} तत्रा^{१३}—

समान नित्य रूप होने से “उत्पाद” है । इस प्रकार से ज्ञान और शब्द का अहेतुक है । इस प्रकार से यदि आप योग का मत है तब तो—

आश्रय बिन सामान्य और समवाय नहीं रहते प्रत्येक ।

एक-एक द्रव्यादि नित्य में समाप्त होते ये इक-एक ॥

पुनः नष्ट उत्पन्न अनित्यों कार्यों में कैसे होंगे ।

चूँकि नित्य ये दोनों उन वस्तु में कैसे ठहरेंगे ॥ ६५ ॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार से सामान्य सत्ता बिना आश्रय के नहीं रह सकता है, तथैव समवाय भी बिना आश्रय के नहीं रह सकता है । और अपने आश्रयभूत प्रत्येक नित्य व्यक्तियों-पदार्थों में ये दोनों पूर्ण रूप से रहते हैं । इसलिये नाशोत्पादादि-अनित्य पदार्थों में इनका विधान कैसे होगा अर्थात् इनका अस्तित्व वहाँ कैसे सिद्ध होगा ? ॥६५॥

[योगाभिमत सामान्य और समवाय का निराकरण ।]

वैशेषिक—सामान्य परमार्थ से आश्रित होता है, समवाय उपचार से आश्रित है क्योंकि वह समवाय समवायियों से अप्रतिबद्ध होने से असंबद्ध है । उसमें उपचार निमित्त यह है कि समवायियों के होने पर वह समवाय इसमें यह है इस प्रकार के ज्ञान को कराता है ।

१ समवाय उत्पाद इति । इति पा० । दि० प्र० । २ कार्यप्रागसत्त्वरहितस्य । दि० प्र० । ३ सत्ता । दि० प्र० । ४ सत्तासामान्यं यथा नित्यं केवलः समवायोपि नित्य एव । दि० प्र० । ५ स्थितत्वात् । दि० प्र० । ६ बिना । दि० प्र० । ७ नित्यव्यक्तिरूपम् । दि० प्र० । ८ सामान्यसमवाययोः । व्या० प्र० । ९ अत्राह वैशेषिकः येषां वैशेषिकानामनेकामु व्यक्तित्वेषु यत्सामान्यस्यान्वितत्वं दृश्यते तत्सर्वयोपचारात् । ननु साक्षात् तथा स्वसमवायकृतेष्वर्थेषु समवायस्योपचारात् संबद्धत्वात् सम्बन्धत्वञ्च । आह स्या० उपचारनिमित्तं किमित्युक्तमाह विद्यमानेषु समवायिषु समवायस्य इहेदमिति प्रत्ययकारित्वं यत्तदुपचारनिमित्तमिति मतं वैशेषिकाणाम् । दि० प्र० । १० सामान्यस्यान्वितत्वमुपचारात् । इति पा० । दि० प्र० । ११ आश्रितत्वमुपचारात् सामान्यस्य समवायेन संबन्धत्वात्परमार्थत आश्रितत्वं समवायस्य समवायान्तरेण संबद्धत्वाभावादुपचाराश्रितत्वमिष्यते वैशेषिकैरिति प्रतिपत्तव्यम् । दि० प्र० । १२ कार्यकारणादिषु । दि० प्र० । १३ तथाप्रतिबद्धत्वात् । इति पा० । दि० प्र० ।

प्रतिबद्ध¹ त्वादसंबद्धत्वं, तदुपचारनिमित्तं तु समवायिषु सत्सु तस्येहेदमिति प्रत्ययकारित्वमिति मतं² तेषां प्रत्येकं परिसमाप्तेराश्रयाभावे सामान्यसमवाययोरसंभवादु³ त्पत्तिविपत्तिमत्सु कथं वृत्तिः? 'क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये सर्वात्मना वृत्तं सामान्यं⁴ समवायश्च तावत् । 'उत्पित्तसुप्रदेशे 'प्राग्नासीदनाश्रितत्वप्रसङ्गात्'⁷, 'नान्यतो याति सर्वात्मना'⁸ पूर्वाधारापरित्यागादन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन, सांशत्वाभावात्, स्वयमेव पश्चाद्भवति¹⁰ स्वप्रत्ययकारित्वात्, आश्रयविनाशे च न नश्यति नित्यत्वात्, प्रत्येकं परिसमाप्तं च' इति व्याहृतमेतत् । स्यात्-

जैन—यह आपका ऐसा मत है तब तो आपके यहां प्रत्येक-नित्य द्रव्यों में समवाय और सामान्य की परिसमाप्ति हो जाने से आश्रय का अभाव हो जायेगा । पुनः सामान्य और समवाय ही असंभव हो जायेंगे तब उत्पाद विनाशमान्-अनित्य कार्यों में वे कैसे रहेंगे ? क्योंकि आपके यहां किसी एक नित्यात्मा रूप आश्रय में ये सामान्य और समवाय सर्वदेश से परिसमाप्त हैं-रहते हैं । यदि आप ऐसा कहें कि—

उत्पन्न होते हुये घटादि प्रदेश में ये पहले नहीं थे । अन्यथा अनाश्रित मानना पड़ेगा । अन्य कहीं से नहीं आते हैं क्योंकि सर्व देश से नित्य द्रव्य रूप पूर्व के आधार को नहीं छोड़ते हैं अन्यथा उनका अभाव हो जायेगा । एक देश से भी नहीं रहते हैं क्योंकि ये सामान्य और समवाय अंश सहित नहीं हैं । स्वमेव पश्चात्-उत्पत्ति के अनन्तर उत्पन्न होने [योग्य प्रदेश में होते हैं] । क्योंकि नित्य द्रव्य होने से आत्मा आकाश आदि में स्वप्रत्ययी कराने वाले हैं और आश्रय का विनाश होने पर नष्ट नहीं होते हैं । क्योंकि नित्य हैं और प्रत्येक आश्रय में परिसमाप्त हैं । इस प्रकार से आपके ये पूर्वोक्त वचन परस्पर विरुद्ध होने से व्याहृत हैं । नष्ट हो गये हैं ।

अर्थात्—'नयाति न च तत्रास्ते न पश्चादास्तिनाशवत् । जहातिपूर्वनाधार महो व्यसन संततिः ।'

1 उपचारादाश्रितत्वं यतः । दि० प्र० । 2 तथा । इति पा० । दि० प्र० । 3 तनश्च । व्या० प्र० । 4 स्यात् वदति हे वै० सामान्यं तावत्कस्मिन् नित्यस्वरूप आधारे सर्वथा समाप्तं जातं तथैव समवायश्च = उत्पत्तुमच्छिन्नामर्थानां प्रदेशे पूव सामान्यं समवायश्च माभूत् । कुत आश्रयभूतपदार्थाभावात् तथान्वितः स्वाश्रये प्रवर्तमानः समवायः सामान्यञ्च पूर्वाधारं परित्यज्यान्यत्र न याति न गच्छति । अन्यथा याति चेत्तदा तस्य पूर्वाधारस्याभावः समायाति सर्वदेशेन याति तर्हि एकदेशेन याति किमित्युक्ते वदति । एकदेशेनापि पूर्वाधारं त्यक्त्वाऽन्यत्र न याति । कुतः सामान्यस्य समवायस्य च निरंशत्वात् = सर्वात्मना न याति एकदेशेन न याति किन्तु पश्चात् स्वयमेवोत्पद्यते । कुतः । आत्मो ज्ञानविधायित्वात् = तथा सामान्यं समवायश्चात्माधारविनाशेषि स्वयं न विनश्यति कुतो नित्यत्वात् तथा एकैकमाश्रयं प्रति समाप्तञ्चेति वैशेषिकस्येतत्सर्वं विरुद्धमेव । दि० प्र० । 5 अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामस्तेन सर्वात्मना वृत्तम् । व्या० प्र० । 6 उत्पत्तेः । दि० प्र० । 7 सामान्यसमवाययोः । व्या० प्र० । 8 नित्यद्रव्यमात्माकाशादेः । व्या० प्र० । 9 साकल्येन कार्यं प्रति न याति । व्या० प्र० । 10 उभय । व्या० प्र० ।

मत^१ 'सत्तासामान्यं तावद्द्रव्यादिषु प्रत्येकं परिसमाप्तं, सत्प्रत्ययाविशेषात् । सर्वत्रास्ति च, सत्प्रत्ययाविच्छेदात्^२ । समवायोपि सर्वत्र विद्यते, समवायिनां शश्वदविच्छेदान्नित्यानां, जन्म-विनाशवतां^३ तु केषांचिदुत्पित्सुदेशेषूपपद्यमानानामेव सत्तासमवायित्वसिद्धेः 'निष्ठासंबन्ध^४ - योरेककालत्वात्' इति वचनात्^५ । प्रकृतदूषणानवकाशः, सत्तासमवाययोः प्रागसत्त्वाभावात् तत्रान्यतश्चागमनस्य सर्वात्मनैकदेशेन वानभ्युपगमात् पश्चाद्भवनानिष्टेः^६ शाश्वतिकत्वाच्च' इति तदेतदपि व्याहृततरं, सर्वगतस्य सामान्यस्य समवायस्य चैकस्य स्वाश्रयेषु प्रत्येकं परि-

वैशेषिक—प्रत्येक द्रव्य, गुण कर्म में सत्ता सामान्य परिसमाप्त है क्योंकि इन सभी में सत्प्रत्यय समान रूप से हो रहा है और यह सत्ता सामान्य सर्वत्र है क्योंकि सत्प्रत्यय का विच्छेद नहीं होता है। समवाय भी समवायियों में सर्वत्र रहता है क्योंकि नित्य समवायियों पदार्थों का हमेशा ही अविच्छेद-सद्भाव है। जन्म और विनाशवान उत्पित्सु देशों में उत्पन्न होते हुये किन्हीं अनित्य पदार्थों में ही सत्ता समवायित्व सिद्ध है क्योंकि-निष्ठा और सम्बन्ध का एक काल है ऐसा वचन है। इसलिये पहले नहीं थे, इत्यादि रूप जो प्रकृत में दूषण दिये हैं उनका यहां अवकाश नहीं है। कारण कि कार्योत्पत्ति के पहले सत्ता और समवाय के असत्त्व का अभाव है। 'उस उत्पित्सु प्रदेश में अन्य कहीं से आना' सर्वदेश से अथवा एकदेश से स्वीकार नहीं किया गया है और उत्पित्सु प्रदेश के अनंतर सत्ता और समवाय का होना भी अनिष्ट है क्योंकि ये सत्ता और समवाय शाश्व-तिक-नित्य हैं। इस प्रकार से आपका जो कथन है वह भी व्याहृततरं सर्वगत सामान्य और एकरूप समवाय अपने आश्रय रूप द्रव्य गुण, कर्म में प्रत्येक में परिसमाप्त होते हैं यह बात असंभव है अन्यथा उन सामान्य और समवाय को बहुतपने का प्रसंग आ जायेगा। आश्रयस्वरूप के समान एवं सर्वत्र अविच्छेद रूप से रहने से वे दोनों एक-एक नहीं हैं। उस अविच्छेद की सिद्धि न होने से

१ आहात्र वैशेषिकः हे स्याद्वादिन् भवदभिप्रायः किल एवं प्रथमतः सत्तासामान्यं पक्षो द्रव्यगुणकर्मादिष्वर्थेषु परिसमाप्तं भवतीति साध्यो धर्मो षटोस्ति षटोस्ति गौरस्ति अश्वोस्तीत्यादिलक्षणसप्रत्ययेन विशेषाभावात् = तथा सत्ता सामान्यं पक्षः सर्वत्रास्तीति साध्यः सः प्रत्ययाविच्छेदात् = तथा समवायः पक्षः सर्वत्र विद्यत इति साध्यो धर्मो नित्यानां समवायिनामर्थानां शश्वदविच्छेदात् । दि० प्र० । २ निवेदितमनेन च सामान्यस्यैकत्वं । व्या० प्र० । ३ वै० उत्पत्ति-विपत्तिमतं केषाञ्चन उत्पत्तुमिक्षु देशेषूपपद्यमानानामेवार्थानां सत्तासमवायित्वं सिद्धयति यत् नित्यानां कुतः विनाशोत्पादयोरेककालत्वात् इति वैशेषिकसिद्धान्तात् सर्वात्मना एकप्रदेशेन वा याभिः प्रत्येकं परिसमाप्तं पश्चाद्भवन-मित्यादीनां स्याद्वादिप्रतिवादिनां दूषणानां सामान्यसमवायोर्विषये अघटनं कुतः पूर्वं सत्ताया अभावात् । कीर्थः सामान्यसमवाययोः पूर्वमेवास्तित्वसद्भावात् । पुनः कुतः प्रारब्धदोषानवकाशः । अन्यत्स्थानादन्यत्रैकदेशेन सर्वात्मना वा सामान्यं समवायश्चागच्छति । अस्माभिरिति च नाङ्गीक्रियते, यतः । पुनरपि कुतः सामान्यसमवाययोः पश्चादुत्पादा-संभवात्तथो नित्यत्वाच्चेति । दि० प्र० । ४ सत्ता समवायः । व्या० प्र० । ५ ततश्च । व्या० प्र० । ६ च । व्या० प्र० ।

समाप्तेरसंभवात् तद्वत्तुवा^१पत्तेराश्रयस्वरूपवत् । न^२ च सर्वत्राविच्छेदात्तदेकत्वं, तदसिद्धेः प्रागभावादिषु सत्तासमवायासंभवाद्विच्छेदोपलम्भात् ।

[सामान्यसमवायचर्चाप्रसंगे प्रागभावादीनां विचारः ।]

^३प्रागभावादीनां सर्वदा भावविशेषणत्वात् तत्र तद्विच्छेद इति चेन्नैवमभावस्थापि^४ सर्वगतत्वंकत्वप्रसङ्गात्, सर्वत्रासत्प्रत्ययाविशेषादविच्छेदाविशेषाच्च । यथैव^५ हि द्रव्यादिषु सत्-प्रत्ययोऽविशिष्ट^६ स्तथा पररूपतोऽसत्प्रत्ययश्च । यथा^७ चाभावस्य शश्वद्भावपरतन्त्रत्वं तथा

प्रागभावादि-अनित्य कार्यो में ये दोनों सत्ता और समवाय असंभव हैं क्योंकि अविच्छेद की उपलब्धि हो रही है ।

[सामान्य और समवाय की चर्चा के प्रसंग में प्रागभाव आदि का विचार किया जा रहा है ।]

शंका—प्रागभावादि हमेशा ही भाव रूप विशेषण वाले हैं, अतः वहां उनका विच्छेद नहीं होता है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना । इस प्रकार से तो अभाव भी सर्वगत और एक रूप हो जायेगा । क्योंकि सर्वत्र असत् प्रत्यय-समान है और विच्छेद का न होना भी समान है जिस प्रकार से द्रव्यादिकों में सत्प्रत्यय समान रूप से हैं, उसी प्रकार से परद्रव्यादि चतुष्टय से सभी द्रव्यादिकों में असत्-अभाव प्रत्यय भी समान रूप से हो रहा है । और जिस प्रकार से चार प्रकार का अभाव हमेशा भाव के आश्रित-परतंत्र है उसी प्रकार से भाव भी अभाव के आश्रित परतंत्र है और वह अभाव के अविच्छेद को सिद्ध करता है । अर्थात् पट स्वरूप में घट स्वरूप का अभाव है । अतः अभाव ही वर्तन क्रिया से अन्वय सम्बन्ध रखता है इसलिए वही प्रधान है । वह पर रूप से असत् रूप ही भाव प्रतीति में आ रहा है अन्यथा सर्व संकर दोष का प्रसंग आ जायेगा । पुनः 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार से भाव रूप पदार्थ विशेष की व्याख्या में विरोध हो जायेगा ।

१ सामान्यबहुत्वानत्तेः । दि० प्र० । २ किञ्च हे वैशेषिक ! सर्वत्रार्थेषु असत्प्रत्ययस्याविच्छेदात् । तस्य समवाय-स्वैकत्वं यदुच्यते त्वया तन्न भवति । कुतस्तस्य सत्प्रत्ययाविच्छेदस्याघटनात् । कस्मात् प्रागभावप्रवृत्ताभावान्योन्या-भावात्यन्ताभावेषु सत्तासमवायो न संभवति यतः सत्प्रत्ययस्य विच्छेदो दृश्यते यतः । दि० प्र० । ३ आह वैशेषिकः प्रागभावादयश्चत्वारो भावाः सदाभावविशेषणानियतः ततः चतुर्थभावेषु सत्ताविच्छेदो नास्तीति चेत् स्याद्वादी वदत्येवं न । कुतो भावोपि सर्वगतकः प्रसजति यतः कस्मात्सर्वत्रार्थेष्वसत्प्रत्ययेन विशेषाभावात् कोर्थः यथाभावस्तथाऽभावः । दि० प्र० । ४ सामान्यसमवायप्रकारेण । व्या० प्र० । ५ स्याद्वाद्याह । यथाद्रव्यगुणकर्मादिपदार्थेषु सत्प्रत्ययो विशिष्टः कोर्थः घटः सन् पटः सन्नित्यादि तथापररूपेणासत्प्रत्ययो विशिष्टश्च यथाऽभावो भावाधीनस्तथा भावश्चाभावाधीन-स्तथाऽभावश्च भावाधीनः कस्मात्तस्याभावस्य निरन्तरत्वाद्यधेन पररूपेणासंबन्धे सति केवलं प्रतीयते यतोऽन्यथापर-रूपेण संबन्धेसति भावः प्रतीयते चेत्तदा भावाभावयोः सङ्करत्वमायाति । सङ्करे सति को दोष इत्युक्तं, आह तदा-भावस्थितिर्विरुद्धचते यतः । दि० प्र० । ६ साधारणः । व्या० प्र० । ७ नन्वभावस्याविच्छेदो सिद्धो भावेष्वभावादि-ति चेदाह । व्या० प्र० ।

भावस्याभावपरतन्त्रत्वमपि तदविच्छेदसाधनं, पररूपेणासत् एव भावस्य प्रतीतेरन्यथा सर्व-
साङ्कर्यप्रसङ्गाद्भावविशेषव्यवस्थितिविरोधात् । नन्वभावस्यैकत्वे कार्यस्य जन्मनि प्रागभावा-
भावे प्रध्वंसेतरेतरात्यन्ताभावानामप्यभावप्रसङ्गादनन्तत्वसर्वात्मकत्वात्यन्ताभावापत्तिः । प्रध्वं-
सस्य 'चाभावेनुत्पन्नस्य कार्यस्य प्रागभावस्याप्यभावादनादित्वप्रसङ्गः प्राक्^२ पश्चादितरेतरा-
त्यन्तविशेषणानुपपत्तिश्च तदभेदात्^३ । इति कश्चित् तस्यापि^४ कथं सत्त्वैकत्वे समवायैकत्वे
च कस्यचित्सत्तासमवाये सर्वस्य स न भवेत् ? तथा सति 'भावस्योत्पत्तेः^६ प्रागपि प्रध्वंस-

यौग—अभाव को यदि आपने एक रूप मान लिया तब तो जब कार्य का जन्म होगा तब प्रागभाव का अभाव हो जाने पर प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव के भी अभाव का प्रसंग आ जायेगा । पुनः अनन्तत्वं, सर्वात्मकत्व और अत्यन्ताभाव की आपत्ति हो जायेगी । अर्थात् प्रध्वंसाभाव के अभाव में सभी कार्य अनन्त हो जायेंगे, इतरेतराभाव के अभाव में सभी वस्तुयें सर्वात्मक हो जायेंगी तथा अत्यन्ताभाव के अभाव में सभी वस्तु में सर्वसंकरदोष आ जाता है या सभी वस्तुओं का अत्यन्त रूप से अभाव हो जायेगा । प्रध्वंस का अभाव होने पर अनुत्पन्न कार्य रूप प्रागभाव का भी अभाव हो जाने से सभी कार्य अनादि हो जायेंगे । अर्थात् मृत्पिण्ड के प्रध्वंस बिना घट उत्पन्न नहीं होता है । अतः मृत्पिण्ड में घट के प्रागभाव का भी अभाव हो जाने से सभी कार्य अनादि हो जायेंगे । पहले तथा पीछे और इतरेतर और अत्यन्त रूप विशेषण नहीं बनेंगे क्योंकि उन सभी अभावों में अभेद है ।

जैन—इस प्रकार से कहने वाले आपके यहां भी सत्त्व को एक रूप और समवाय को एक रूप मानने पर किसी विवक्षित कार्य में उस सत्ता का समवाय स्वीकार करने पर अतीत और अनागत रूप सभी कार्यों में वह कैसे नहीं हो सकेगा ?

उस प्रकार से सभी में सत्ता का समवाय हो जाने पर भाव की उत्पत्ति के पहले भी प्रध्वंस के समय में भी अभावांतर-इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव में भी अत्यन्त रूप से सत्त्व सिद्ध हो जाने पर आपके यहां भी प्रागभावादि भेद की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ?

और यदि आप ऐसा कहें कि प्रत्यय विशेष से उन अभावों की व्यवस्था हम कर लेंगे, तब तो सत्ता और समवाय में भी भेद व्यवस्था वैसे ही प्रत्यय विशेष से मान लीजिये क्या बाधा है ?

क्योंकि प्रध्वंस से पहले कार्य में सत्ता समवाय असिद्ध नहीं है । तथा प्रागभाव से अनन्तर एवं इतर से इतर पदार्थ में इतरेतराभाव भी प्रसिद्ध नहीं है अर्थात् इस प्रकार के प्रत्यय विशेष

१ घटकाले । व्या० प्र० । २ सर्वेषामभावानामुपसंहारं करोति । व्या० प्र० । ३ एकत्वात् । व्या० प्र० । ४ स्या० वदति एवं वादिनोपि सत्ताया एकत्वे समवायस्यैकत्वे च सति कस्यचिद् घटादेः प्रागभावकाले सत्तासमवाये सति सर्वस्य कार्यस्य समवायः कथं न स्यात् । अपितु स्यादेव तथा सति किमायातं प्रागभावप्रध्वंसाभावकालेष्वभावस्य सर्वथा सत्त्वं सिद्धमिति । दि० प्र० । ५ कार्यस्य । व्या० प्र० । ६ का । व्या० प्र० ।

समयेप्यभावान्तरेपि चात्यन्तसत्त्वसिद्धेः ¹कुतः प्रागभावादिभेदस्य व्यवस्था स्यात् ? ²प्रत्यय-विशेषात्तद्व्यवस्थायां सत्तासमवायस्य भेदव्यवस्थास्तु तत एव । न हि प्रध्वंसा³त्प्राक्कार्यस्य सत्तासमवायः प्रागभावात् पश्चादितरस्मादितरत्रेत्यादिप्रत्ययविशेषोऽसिद्धः परीक्षकाणां⁴, यत सत्तासमवाययोरनेकत्वं न स्यात् । यदि पुनः ⁵प्राक्कालादिविशेषणा⁶न्येव भिद्यन्ते समवायिन-श्च⁷, न पुनः सत्ता समवायश्चेति मतं तदा कथमभावोपि भिद्येत ? तद्विशेषणानामेव भेदात् ।

परीक्षकों को अभिद्ध नहीं है कि जिससे सत्ता और समवाय में अनेकत्व भेद न हो सके। अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं।

यौग—पहले कालादि विशेषण ही भेद को प्राप्त होते हैं और समवायी भेद को प्राप्त होते हैं किन्तु सत्ता और समवाय भिन्न भेद को प्राप्त नहीं होते हैं।

जैन—यदि आपका ऐसा मत है तो आपके यहां अभाव भी कैसे भेद को प्राप्त होता है ? क्योंकि अभाव के प्राक् पश्चात् इत्यादि विशेषणों में ही भेद है। यदि आप कहें कि विरुद्ध धर्माध्यास से अभाव में भेद है तब तो सत्ता और समवाय में भी उसी विरुद्ध धर्माध्यास से ही भेद को मान लेना चाहिये इसलिये असत्ता-अभाव के समान सत्ता भी विश्वरूप हो जावे, उसी प्रकार से समवाय भी विश्वरूप हो जावे, क्या बाधा है ?

इस प्रकार सत्ता में एकत्व का विरोध भी संभव नहीं है। विशेषरूप से अनेकत्व—भेद के होने पर भी सामान्य की अर्पणा-विवक्षा से द्रव्य, गुण, कर्मादि में एकत्व का विरोध नहीं है। क्योंकि असत् विशेषों में—अभाव के भेदों में अभाव सामान्य की प्रतीति के समान सत् विशेष—सत्त्व के भेदों में ही सत् सामान्य की प्रतीति हो रही है तथैव समवाय विशेषों में समवाय सामान्य की प्रतीति भी विरुद्ध नहीं है। जैसे कि संयोग विशेषों में संयोग सामान्य की प्रतीति देखी जाती है। इस प्रकार से हम स्याद्वादियों के यहां सभी वस्तुयें सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हैं।

1 हे वै० ततः प्रागभावादिभेदस्थितिः कुतो न कुतोपि । दि० प्र० । 2 प्राग्नासोदित्यादि । व्या० प्र० । 3 स्या० वदति हे वै० यथा प्रागभावादिज्ञानविशेषात्तेषां प्रागभावादीनां व्यवस्थायां नत्यां । तत एव सत्तासमवाय ज्ञानविशेषा-देवसत्तासमवायभेदव्यवस्था भवतु । दि० प्र० । 4 परीक्षकाणां विचारचतुरचेतसां घटादेः कार्यस्य प्राक्काले वर्तमान काले पश्चात्काले सत्तासमवायोस्ति इत्यादिप्रत्ययविशेषोऽसिद्धो न हि सिद्ध एव सत्तासमवाययोः द्वयोर्गतः कुतोनेकत्वं न स्यात् । अपितु स्यादेव । दि० प्र० । 5 आदिशब्देन पश्चात्कालः । व्या० प्र० । 6 स्याद्वाद्याह यदि पुनः पूर्वकालादिकालाः सत्ताविशेषणान्येव भिद्यन्ते समवायिनः पटादयोर्थाश्च भिद्यन्ते न पुनः सत्तासमवायश्च भिद्येते । हे वै० इत्येवं तव मतं तदास्मदभ्युपगतो भावोपि न प्रागभावादयोऽभावविशेषणान्येव भिद्यन्ते यतः—हे वै० विरुद्धस्वभावादिकरणात्तस्याभावस्य भेदे त्वयाऽभ्युपगते सति तदा विरुद्धधर्माध्यासादेव सत्तासमवाययोरस्मदभ्युपगतो भेदोप्यस्तु । यत एव ततः सत्ता नानारूपा यथा सत्ता एवं समवायोपि नानात्मकः यथा समवायः । दि० प्र० ।

7 गुणगुण्यादयः । व्या० प्र० ।

विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदे सत्तासमवायभेदोपि तत एव । ¹ततो विश्वरूपा² सत्तास्तु असत्ता-
वत् । तथा समवायोपि । न चैवमे³कत्वविरोधः सत्तायाः संभावनीयो, विशेषतोनेकत्वेपि
⁴सामान्या⁵र्पणादेकत्वाविरोधात्⁶, सद्विशेषेष्वेव सत्सामान्यप्रतीतेरसद्विशेषेष्व⁷सत्सामान्य⁸-
प्रतीतिवत् । समवायविशेषु⁹ समवायसामान्यप्रतीतिश्च न विरुद्धा, संयोगविशेषु तत्सामान्य-
प्रतीतिवत् । इति सर्वं सामान्यविशेषात्मकं सिद्धम् । न¹⁰ च सामान्यस्य विशेषस्य चैकशः
सामान्यविशेषात्मकत्वेऽनवस्था¹¹ नमन्यथा सर्वं सामान्यविशेषात्मकमिति प्रतिज्ञा हीयते, तयो-
रन्योन्यात्मकत्वसिद्धेर्द्रव्यार्थार्पणया परस्परतो भेदाच्च पर्यायार्थार्पणया सापेक्षत्वमात्रस्य तयो-

भावार्थ—वैशेषिक अभाव को चार प्रकार का मानते हैं एवं भाव को अर्थात् सत्ता को एक ही मानते हैं किन्तु आचार्य कहते हैं कि आप जैसे अभाव के चार भेद स्वीकार कर रहे हैं वैसे ही प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व की अपेक्षा से सत्ता के भी अनेकों भेद मान लीजिये, तथा समवाय को भी एक न मानकर अनेकों मानिये । स्याद्वादियों के यहां तो सत्ता के मूल में दो भेद हैं—महासत्ता, अवातरसत्ता । महासत्ता तो सम्पूर्ण वस्तुओं के अस्तित्व को सामान्य रूप से ग्रहण करती है और अवातरसत्ता के प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व को पृथक्-पृथक् ग्रहण करते हैं जैसे घट का अस्तित्व अलग है, पट का अस्तित्व अलग है । फिर यदि वैशेषिक कहे कि सत्ता को एक मानना गलत है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि महासत्ता से सभा वस्तुयें सत् रूप ही हैं । इस दृष्टि से सभी वस्तुयें एकरूप भी हैं ।

1 सत्ता समवायोर्भेदो यतः । व्या० प्र० । 2 नाना । व्या० प्र० । 3 वै० वदति । तर्हि सत्तायानेकत्वे सत्येकत्वं विरुद्धचत इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । हे वै० एवं सत्ताया एकत्वविरोधः त्वया न च संकल्पनीयः । कुतः सत्तायाः विशेषा-
भावात् । अनेकत्वे सत्यपि द्रव्यार्थनयात् सत्ताया एकत्वविरोधाभावात् = भावविशेषेष्वेव भावसामान्यं सामान्यं प्रतीयतो यथाभावविशेषेष्वभावसामान्यप्रतीति = एवं समवायविशेषेषु समवायसामान्यप्रतीतिश्च न विरुद्धात् । यथा संयोगविशेषे संयोगसामान्यप्रतीतिः = इति सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकं सिद्धमित्यकलंकदेवानां वचनं ज्ञेयम् । दि० प्र० । 4 द्रव्यार्थात् । दि० प्र० । 5 विवक्षितेः । व्या० प्र० । 6 अभावविशेषेषु प्रागभावादिषु । दि० प्र० । 7 अभावविशेषेषु प्रागभावादिषु । व्या० प्र० । 8 अभावसामान्यम् । व्या० प्र० । 9 अभावसामान्यम् । दि० प्र० । 10 आशङ्क्याह । व्या० प्र० । 11 अत्राह वै० हे स्याद्वादिन् एवं सति सामान्यं सामान्यविशेषात्मकं विशेषश्च सामान्यविशेषात्मको जातः । एवमुत्तरोत्तरविकल्पकरणे तवानवस्थादोषः प्रसजति इत्युक्ते, स्याद्वाद्याह एवं न च । अन्यथानवस्था भवति चेत् तदा सर्वं सामान्यविशेषात्मकमित्याचार्याणां प्रतिज्ञा हीयते द्रव्यनयात् सामान्यविशेषयोरन्योन्यमेकत्वं सिद्धयति पर्यायार्थनयात् तयोः परस्परं भेदश्च सिद्धयति यतः कुतः सामान्यविशेषयोः सापेक्षत्वमात्रघटनात् = पुनराह स्याद्वादी हे वै० स्वविशेषात् पृथक्कृतं सामान्यं विशेषान्तरं भवति चेत्तदानवस्था तथा वस्तुसामान्यान्निःकाशतो विशेषः सामान्यान्तरं भवति चेत्तदानवस्थाऽन्यथा न । कोर्थः स्वविशेषात्पृथक्कृतं सामान्यं सामान्यमेव स्व-
सामान्यान्निःकाशतो विशेषो विशेष एव यदा तदानवस्था न । दि० प्र० ।

रिष्टेः । सामान्यस्य हि स्वविशेषादपोद्धृतस्य विशेषान्तरात्मकत्वे विशेषस्य च ^१स्वसामान्या-
न्निर्धारितस्य सामान्यान्तरात्मकत्वेनवस्था स्यान्नान्यथा । भिन्नस्य च^२ सामान्यस्य^३ विशेषा-
द्विशेषस्य च सामान्यादितर^४निरपेक्षत्वे प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्यते, न पुनरितरथा । इति स्याद्वा-
दिनां सर्वं सुस्थम् । वैशेषिकाणां तु तदुभयप्रकारानभ्युपगमादुक्तदोषानुषङ्ग^५ एव । 'तेषां
हि,—

सामान्य और विशेष के एक-एक में सामान्य विशेषात्मकत्व के स्वीकार करने पर अनवस्था दोष आता है । ऐसा भी आप नहीं कह सकते । अन्यथा "सभी सामान्य विशेषात्मक हैं" यह प्रतिज्ञा पक्ष नष्ट हो जायेगा । अर्थात् सामान्य में सामान्य-विशेषात्मकत्व और विशेष में भी सामान्य-विशेषात्मकत्व मौजूद है । द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से ये दोनों ही सामान्य और विशेष अन्योन्यात्मक रूप सिद्ध हैं अर्थात् सामान्य ही विशेष है और विशेष ही सामान्य है । पर्यायाधिकनय की अपेक्षा से परस्पर में ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं ।

क्योंकि ये दोनों ही सामान्य और विशेष परस्पर में सापेक्षपने से ही इष्ट हैं । यदि अपने विशेष घट रूप से पृथक् घटत्व सामान्य को विशेषान्तरात्मक-भिन्न विशेष रूप स्वीकार करेंगे, तथा अपने सामान्य से पृथक् किये गये विशेष को भिन्न सामान्य रूप स्वीकार करेंगे तब तो अनवस्था दोष अनिवार्य है । किन्तु अन्यथा इन दोनों को परस्पर में अन्योन्यात्मक स्वीकार करने पर अनवस्था नहीं आ सकती है ।

एवं सामान्य को विशेष से भिन्न तथा विशेष को सामान्य से भिन्न रूप परस्पर में निरपेक्ष मानने पर प्रतिज्ञा हानि का प्रसंग आ सकता है । किन्तु अन्यथा रूप अर्थात् परस्पर सापेक्ष स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा हानि दोष नहीं आता है । इस प्रकार से स्याद्वादियों के यहाँ कथञ्चित् अभिन्न रूप सामान्य-विशेषादि सभी बातें सुस्थित हैं ।

किन्तु वैशेषिकों के यहाँ तो सामान्य विशेष में परस्पर सापेक्षत्व को स्वीकार न करने से उपर्युक्त दोषों का प्रसंग आता ही है ।

१ वस्तुसामान्यात् । इति पा० । दि० प्र० । २ सामान्यात्सामान्यस्य । इति पा० । दि० प्र० । ३ सामान्याद्भिन्नं सामान्यं स्वसामान्यं नापेक्षते चेत्तदा सर्वसामान्यविशेषात्मकमित्याचार्याणां प्रतिज्ञाहानिर्घटेत् । तथा विशेषाद्भिन्नो विशेषः । स्वविशेषं नापेक्षते चेत्तदापि प्रतिज्ञा हीयते न पुनरितरथा कोर्थः सामान्यविशेषाभ्यां सकांघात्पृथक्कृतयोः सामान्यविशेषयोः स्वसामान्यविशेषसापेक्षत्वे प्रतिज्ञा न हीयते इति स्याद्वादिनां मतं सर्वं सुस्थं जातं वैशेषिकाणां तु मते वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकानङ्गीकारात् पूर्वोक्तदोषानुषङ्गः स्यात् । दि० प्र० । ४ विशेषसामान्य । व्या० प्र० । ५ एकस्थानेकवृत्तिर्नत्यादिदेशकालविशेषे चेत्यादि च । व्या० प्र० । ६ तथाहि । इति पा० । दि० प्र० ।

सर्वथानभि^१संबन्धः सामान्यसमवाययोः ।

ताभ्यामर्थो न संबद्धस्तानि त्रीणि^२ खपुष्पवत्^३ ॥६६॥

[सामान्यसमवायपदार्थात्त्रयोऽपि न सिद्धयति वैशेषिकमते ।]

समनुषज्यन्ते इति शेषः तथा हि । सामान्यसमवाययोः परस्परतः संबन्धासंभवात् ताभ्यामर्थोपि न संबद्धः । कुत^४स्तयोरनभिसंबन्ध इति चेत् संयोगस्य समवायस्य^५ चान-

उत्थानिका—क्योंकि उनके यहां—

आपस में सामान्य और समवाय सदा संबंध रहित ।

इन दोनों से द्रव्य गुणादिक पदार्थ नहीं हैं संबंधित ॥

इसीलिये सामान्य तथा समवाय अर्थ ये तीनों ही ।

गगनकुसुमवत् “असत्” अवस्तू हो जावे परमत में ही ॥ ६६ ॥

कारिकार्थ—सामान्य और समवाय का सर्वथा—संयोगादि प्रकार से संबंध नहीं है । क्योंकि संयोग दो द्रव्यों में ही होता है और इन दोनों के द्वारा अर्थ-पदार्थ संबंधित नहीं होता है । अतः सामान्य-समवाय और पदार्थ ये तीनों ही खपुष्प के समान असत् हो जायेंगे ॥ ६६ ॥

[सामान्य, समवाय और पदार्थ वैशेषिक मत में ये तीनों ही सिद्ध नहीं होते हैं ।]

‘समनुषज्यन्ते’ इस कारिका में इस क्रिया का अध्याहार करना चाहिये । तथाहि

सामान्य और समवाय परस्पर में संबंध का अभाव है । अतः उन दोनों के द्वारा पदार्थ भी संबंधित नहीं है ।

शंका—उन सामान्य और समवाय में संबंध क्यों नहीं है ?

१ सर्वथा नहि इति पा. । दि० प्र० । २समनुषज्यन्त इति सम्बन्धीयम् । दि० प्र० । ३ अर्थसमवायसामान्यानि पक्षः सर्वथा न सन्तीति साध्यो धर्मः परस्परमसंबद्धत्वात् येषां परस्परमसंबद्धत्वं तेषां नास्तित्वमेव यथा खपुष्पखरशृङ्गकूर्मरोमाणि परस्परमसंबद्धानि चामूनि तस्मान्न सन्तीति कारिकानुमानम् । दि० प्र० । ४ वै० वदति हे स्याद्वादिन् तयोः सामान्यसमवाययोः कुतो नाभिसंबन्ध इति चेत् स्याद्वाद्याह संयोगसंबन्धः समवायसंबन्धश्चनाभ्युपगम्येते । तर्हि सामान्यमर्थेषु द्रव्यादिषु समवैतीति समवायि इति विशेषणाविशेष्यभावोपि न संभवति = संभवति चेत्तदानवस्था प्रसजति = तथा एकस्मिन्नर्थे समवायसंबन्धस्यावकाशो नास्ति यतः । कस्मात्समवायपदार्थस्य कस्मिंश्चिदेकार्थे समवायसंबन्धाभावात् संयोगसंबन्धसमवायसंबन्धविशेषणविशेष्यसंबन्धान् विनाऽन्यसंबन्धाऽघटनात् । एवं तयोः सर्वथाऽनभिसंबन्धः सिद्ध एव = यत एवं ततोऽन्येन्यं संबन्धरहिताभ्यां सामान्यसमवायाभ्यां द्रव्यगुणकर्मलक्षणोर्थः संबद्ध इति वक्तुं न शक्यते । तत्रार्थे सत्तासमवायः यतः कुतः स्यान्न कुतोपि । दि० प्र० । ५ द्रव्यादीनां पञ्चानामपि समवायित्वमनेकत्वं चेति वचनात् । व्या० प्र० ।

भ्युपगमात्, सामान्यं समवायीति विशेषणविशेष्यभावस्य ¹चासंभवादन²वस्थाप्रसङ्गाच्च । तथै³कार्थसमवायस्य⁴ चानवकाशात् समवायस्य⁵ क्वचिदसमवायात्⁶ संबन्धान्तरानिष्टेः सर्वथा⁷नभिसंबन्ध⁸स्तावत्सिद्ध एव । ततः परस्परतोनभिसंबन्धाभ्यां सामान्यसमवायाभ्यामर्थोपि ⁹द्रव्यगुणकर्मलक्षणो न संबद्धः शक्यते वक्तुं, यतस्तत्र सत्तासमवायः स्यात् । ¹⁰ततस्त्रीण्यपि¹¹ नात्मानं विभूयुः कूर्मरोमादिवत् । परस्परमसंबद्धानि ¹²ह्यर्थसमवायसामान्यानि न¹³ सन्त्येव । न चासतां¹⁴ कर्तृत्वम्¹⁵ । नापि कश्चिदात्मा संभवति यस्य¹⁶ कर्मत्वम् । न च

समाधान—क्योंकि आप योगों ने इन दोनों में संयोग और समवाय रूप संबंध माना ही नहीं है। अर्थात् आप योग के संयोग तो दो द्रव्य में ही होता है, तथा अयुत सिद्ध गुण, गुणी आदि जो कि आधार-आधेयभूत हैं उनका जो संबंध है वह समवाय संबंध है। ऐसा वैशेषिक का मत है। अतः इन दोनों संबंध को आपने सामान्य और समवाय में माना ही नहीं है। सामान्य-विशेष्य है, और समवायी-विशेषण है। इस तरह से इनमें विशेषण-विशेष्य भाव है। ऐसा भी कहना असंभव है और अनवस्था का भी प्रसंग आता है। अर्थात् सामान्य समवायी है। तो वह स्वतः है या परतः ? आद्य पक्ष तो आपको इष्ट नहीं है यदि पर से कहो तो पुनः-पुनः पर से मानने से अनवस्था ही आती है।

तथा एकार्थ समवाय को अवकाश न होने से समवाय का किसी पदार्थ में असमवाय संबंध नहीं है और संबन्धांतर (कथंचित् तादात्म्य लक्षण भिन्न संबंध) तो आपको अनिष्ट ही है। इसलिये इन दोनों में सर्वथा अनभि संबंध सिद्ध ही है। ततः परस्पर में संबंध रहित सामान्य और समवाय के द्वारा द्रव्य, गुण, कर्म, लक्षण, अर्थ संबंधित है ऐसा कहना भी शक्य नहीं है। कि जिससे वहाँ सत्ता समवाय हो सके।

इसीलिये कछुये के रोम के समान ये तीनों भी अपने अस्तित्व को धारण नहीं कर सकते हैं।

- 1 अग्रेतनश्चशब्दो भिन्नप्रक्रमत्वादसंभवादित्यत्र द्रष्टव्यः । व्या० प्र० । 2 भिन्नत्वाविशेषात् । व्या० प्र० । 3 सामान्यसमवाययोः । व्या० प्र० । 4 संबन्धस्य । व्या० प्र० । 5 समवायस्य च क्वचित् । इति पा० । दि० प्र० । 6 सामान्यसमवाययोः । व्या० प्र० । 7 स्वतः प्रवृत्तेरभावात् । व्या० प्र० । 8 प्राक्तानां हेतूनामिदमेव साध्यं कर्तव्यम् । व्या० प्र० । 9 कारिकास्थितस्यार्थशब्दस्य विवरणमिदम् । व्या० प्र० । 10 अर्थसमवायसामान्यानि । व्या० प्र० । 11 त्रितयं न संबद्धं यतः । व्या० प्र० । 12 अर्थसमवायसामान्यानि पक्षो न सन्त्येवेति साध्यो घर्मः परस्परमसंबद्धत्वात् । व्या० प्र० । 13 असंबद्धत्वात्कूर्मरोमादिवत् । व्या० प्र० । 14 असत्त्वात् । दि० प्र० । 15 किञ्चासतामर्थादीनां कर्तृत्वं नापि असतां किञ्चित्स्वरूपमस्ति यस्य स्वरूपस्य कर्मत्वं ज्ञेयत्वं संभवति वै० वदति कर्तृकर्मत्वाभावे तानि त्रीणि स्वरूपं दद्युः स्या० आह हे वै० इति वक्तुं न शक्यम् । कस्मात्कर्तारि सति लिङ्ग इति सप्तम्या ख्यातपदस्य करणात् कर्मणि कारके द्वितीयानिर्देशश्च घटते यतः । दि० प्र० । 16 आत्मनः । दि० प्र० ।

कर्तृकर्मत्वाभावे तान्यात्मानं^१ विभृयु^२रिति शक्यं वक्तुं, ^३कर्तरि लिङ्गो ^४विधानात्कर्मणि विभक्तिनिर्देशाच्च । स्यान्मतं 'परस्परमसंबद्धानामपि स्वरूपसत्त्वप्रसिद्धेर्नार्थसमवायसामान्याना-
मसत्त्वम् । कूर्मरोमादीनां स्वरूपसत्त्वाभावाच्च^५ विषमोयमुपन्यासः' इति तदयुक्त^६, द्रव्यगुण-
कर्मणां स्वरूपसत्त्वोपगमे सत्तासमवायस्य वैयर्थ्यात्सामान्यादिवत्, सामान्यादीनां वा सत्ता-
संबन्धप्रसङ्गाद्द्रव्यादिवत्, तेषां स्वरूपसत्त्वानुपगमे कूर्मरोमादिभ्यो विशेषाभावात् सम एवो-
पन्यास इति निरूपणात् । कथं चार्थान्तर भूतायां सत्तायां समवायवत्सर्वथानभिसंबद्धायां^७

परस्पर में असंबंधित अर्थ सामान्य और समवाय ये तीनों हैं ही नहीं, एवं असत् रूप ये तीनों कर्ता भी नहीं बन सकते हैं । कोई आत्मा (स्वरूप) भी संभव नहीं है जो कर्म रूपा हो सके । और कर्ता, कर्म के अभाव में ये तीनों अपने स्वरूप को धारण करने में समर्थ है ऐसा कहना भी शक्य नहीं है । यहां अष्टशतो भाष्य में कर्ता में 'विभृयुः' यह लिंग लकार का विधान है, और कर्म में "आत्मानं" इस द्वितीया विभक्ति का निर्देश है ।

योग—परस्पर में असंबंधित द्रव्यादिकों का भी स्वरूप से सत्त्व प्रसिद्ध है अतः पदार्थ, सामान्य, समवाय असत् रूप नहीं है । और कछुये के रोमादि का स्वरूप से ही अस्तित्व का अभाव होने से आप जंत का "कूर्मरोमादिवत्" यह उदाहरण विषम है ।

जैन—ऐसा कहना भी अयुक्त है । क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म का स्वरूप से सत्त्व स्वीकार करने पर सत्ता समवाय व्यर्थ है जैसे सामान्यादि । अर्थात् सामान्यादिकों का स्वरूप से अस्तित्व स्वीकार करने पर जिस प्रकार से उस सामान्य आदि में सत्ता का समवाय व्यर्थ है । वैसे ही द्रव्य गुण, कर्म यदि स्वरूप से विद्यमान हैं तो उनमें सत्ता का समवाय क्या कर सकता है ? अथवा सामान्यादि में भी सत्ता सम्बन्ध का प्रसंग आ जायेगा, द्रव्यादि के समान । और उन सामान्यादिकों का स्वरूप से सत्त्व नहीं स्वीकार करने पर कूर्म रोमादि से भेद का अभाव है । इसलिये यह हमारा उदाहरण सम ही है । विषम नहीं है ।

समवाय के समान सर्वथा अनभिसम्बन्धित अर्थात् भूत सत्ता के स्वीकार कर लेने पर भी द्रव्य, गुण, कर्म सत् रूप हैं किन्तु कूर्मरोमादि सत् रूप नहीं हैं यह बात कैसे बन सकती है ? इसका विचार करना चाहिये ।

सर्वथा समवाय से असंबंधित सत्ता सामान्य द्रव्यादिकों में समवायी है, किन्तु समवाय नहीं है । उन द्रव्यादिकों में समवायी भिन्न समवाय से असंबद्ध है । इस प्रकार की व्यवस्था हम कैसे समझें ? क्योंकि समवाय से सम्बन्धित न होना दोनों ही जगह समान है ।

१ स्वरूपम् । दि० प्र० । २ कर्तरि । दि० प्र० । ३ विभृयुरित्यत्र । दि० प्र० । ४ आत्मानमित्यत्र । दि० प्र० । ५ तदयुक्त । व्या० प्र० । ६ आ० स्था० हे वै० यदुक्तं त्वया तदयुक्तं कुतः यथा सामान्यादीनां स्वरूपेण सत्त्वमभ्युप-
गच्छसि तथा द्रव्यगुणकर्मणां स्वरूपसत्त्वाभ्युपगमे कृते सति प्रागप्रतः सत्तासमवायात् कार्यस्योत्पत्तेः इति सत्ता-
संबन्धो व्यर्थः स्यात् यतः । दि० प्र० । ७ द्रव्यगुणकर्मसु । व्या० प्र० ।

द्रव्यगुणकर्मणां सत्त्वं न पुनः कूर्मरोमादीनाम्¹ ? इति चिन्त्यम्² । कथं च³ सत्तासामान्यं सर्वथा सम⁴वायासंबद्ध⁵ द्रव्यादिषु समवायि न पुनः समवायस्तत्र समवायी समवायान्तरेणासंबद्ध⁶ इति बुद्ध्यामहे ? समवायसंबद्धत्वाभावाविशेषात्⁷, सतापि हि समवायेन सामान्यरयासंबद्धत्वं समवायान्तरेण पुनरसत्ता समवायस्येति तत्सदसत्त्वाभ्यामसंबद्धत्वस्य विशेषयितुमशक्तेः । न च कश्चि⁸त्संबन्धः स्वसंबन्धिभ्याम⁹संबद्ध एव तौ घटयितु¹⁰मलं, संयोगस्यापि स्वसंयोगिभ्यामसंबद्धस्यैव तयोर्घटकत्वप्रसङ्गात् । न¹¹चैवमिष्यते सिद्धान्तविरोधात् । ततो¹²

[सत्ता सामान्य सत् रूप समवाय से असम्बद्ध है और समवाय असत् रूप भिन्न समवाय से असम्बद्ध है अतः दोनों में भेद है । इस प्रकार योग के द्वारा कहने पर जैनाचार्य कह रहे हैं ।]

सत् रूप समवाय से भी सामान्य असम्बन्धित है और असत् रूप भिन्न समवाय से समवाय असम्बद्ध है, इसलिये उन सत् और असत् रूप से असम्बन्धित में भेद करना अशक्य है, अर्थात् विवक्षित समवाय सत्ता में सत्त्व है, और समवाय में भिन्न समवाय का असत्त्व है । इस प्रकार से सत्-असत् में असम्बन्धित में भेद करना अशक्य है ।

कोई ऐसा सम्बन्ध भी नहीं है कि जो अपने सम्बन्धियों से सम्बन्धित न होकर ही उन सम्बन्धियों की व्यवस्था करने में समर्थ होवे । अन्यथा संयोग भी अपने दोनों संयोगियों से सम्बन्धित न होकर ही उनको घटित कर देगा किन्तु आप इस प्रकार से स्वीकार तो करते नहीं हैं । क्योंकि आपके सिद्धान्त में ऐसा मानना विरुद्ध है । अर्थात् आपके यहाँ संयोग गुण है और संयोगी गुणी है । गुण-गुणी रूप संयोग-संयोगियों का समवाय है यह आप वैशेषिक का सिद्धान्त है । किन्तु संयोग अपने संयोगियों से असम्बन्धित हो ऐसा आपके यहाँ है नहीं ।

इसलिये कार्य-कारण में, गुण-गुणी में या सामान्य-सामान्यवान् में एकांत रूप से भिन्नता स्वीकार करने पर तद्भाव—कार्य, कारण आदि भावयुक्त ही नहीं है । जैसे कि अकार्य कारण भाव में कार्य कारण भाव सिद्ध नहीं है । एवं समवाय से तथा अर्थान्तर भाव के नियम से भी तद्भाव (कार्य कारणादिभाव) युक्त नहीं है । उसी प्रकार से समवाय भी उनको परस्पर में घटित करने वाला नहीं है, क्योंकि उस प्रकार अर्थान्तर (कालादि) के समान कालादि सर्वथा वे कार्य कारणादि परस्पर में

1 कथं न सत्त्वम् । व्या० प्र० । 2 न घटत इति भावः । व्या० प्र० । 3 ननु च सत्तायाः अर्थान्तरत्वेपि द्रव्यादिषु समवायित्वं कूर्मरोमादिषु वैयर्थ्यमिति दृष्टान्तवैधर्म्यं परिहरन्नाह । व्या० प्र० । 4 भा । दि० प्र० । 5 सत् । दि० प्र० । 6 स्वतः समवायस्य प्रवृत्त्यभावात् परतश्चेदनवस्था तदर्थं समवायान्तरेण संबद्धः । व्या० प्र० । 7 सामान्यस्य समवायस्य च । व्या० प्र० । 8 समवायः । व्या० प्र० । 9 तन्तुपटाभ्याम् । व्या० प्र० । 10 अन्यथा । व्या० प्र० । 11 संयोगिनो घटत्वं नेष्यते । व्या० प्र० । 12 यत एव ततः कार्यकारणादीनां सर्वथा भिन्नत्वे कार्यकारणभावो युक्तो न । यथान्यकार्यकारणादीनां तन्तुघटयोर्मृत्पटयोः कारणकार्यभावो युक्तो न । दि० प्र० ।

न कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोर्वान्यतैकान्ते तद्भावो युक्तोऽकार्यकारणादिवत्^१,
^२समवायादर्थान्तर^३भावनियमाच्च^४ । ^५तद्वत्समवायोपि^६ न^७ तेषां परस्परं घटनकारी सर्व-
 थानभिसंबद्धत्वात् ^८तादृगर्थान्तरवत् । ^९ततश्चासन् समवायोनर्थक्रियाकारित्वात् कूर्मरोमा-
 दिवत् । सामान्यं चासत् तत एव तद्वत् । न हि तदर्थैरसंबद्धं स्वविषयज्ञानोत्पादनलक्षणामप्य-
 र्थक्रियां कर्तुं प्रभवति यतोसिद्धो हेतुः स्यात् । तथा न सन्ति द्रव्यादीनि सत्तासमवायरहित-
 त्वात्तद्वत्^{१०} । सामान्या^{११}दिभिव्यभिचार इति चेन्न, तेषामपि परमार्थतः सत्त्वान^{१२}भ्युपगमात् ।

सम्बन्धित नहीं हैं। इसलिये “समवाय असत् रूप है, क्योंकि कूर्म रोमादि के समान वह अर्थ क्रियाकारी नहीं है।” और सामान्य भी असत् रूप हैं क्योंकि अर्थ क्रियाकारी नहीं है। कूर्म रोमादि के समान ।

वह सामान्य अर्थों से असम्बन्धित ही अपने विषय में ज्ञानोत्पादन लक्षण भी अर्थ क्रिया को करने के लिये समर्थ नहीं है कि जिससे “अनर्थ क्रियाकारित्वात्” यह हेतु असिद्ध हो सके। अर्थात् यह हेतु सिद्ध ही है। उसी प्रकार से द्रव्य, गुण, कर्म भी नहीं है। क्योंकि वे सत्ता समवाय से रहित हैं। कूर्मरोमादि के समान ।

शंका—सामान्यादिक से व्यभिचार दोष आता है, अर्थात् सामान्यादि सत्ता समवाय से रहित है। फिर भी उनका अस्तित्व माना गया है अतः व्यभिचार दोष आता है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि आपने उन सामान्य, समवाय और विशेषों का भी परमार्थ से अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है तथा उपचरित सत्त्व वालों से व्यभिचार दोष देना युक्त नहीं है। अन्यथापरमार्थ सत्त्व के अभाव को सिद्ध करने में अति प्रसंग आ जायेगा। अर्थात् मच्छर के उपरितन धुये से सच्चा धूम व्यभिचरित हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिये कार्य

१ सर्वथा भेदसद्भावात् । व्या० प्र० । २ अत्राह वै० अहो कार्यकारणादीनां समवायसंबन्धात् कार्यकारणभावो युक्तोस्तीति चेत् न कुतः समवायस्यार्थेभ्यः सर्वथा भिन्नत्वात् । यथा तन्तुघटमृत्पटादिलक्षणेभ्योऽन्यकारणकार्यादिभ्यः सर्वथा समवायो भिन्नः । दि० प्र० । ३ न केवलं परस्परमन्यतैकान्तात् । व्या० प्र० । ४ कार्यकारणादीनां सर्वथा । व्या० प्र० । ५ न तद्भावायुक्त इति सम्बन्धनीयम् । व्या० प्र० । ६ किञ्च । व्या० प्र० । ७ समवायोपि वा न तेषाम् । इति० पा० । दि० प्र० । ८ सर्वथानभिसंबद्धः । व्या० प्र० । ९ यतः एवं ततः समवायः पक्षो सन् भवतीति साध्यो धर्मोनर्थक्रियाकारित्वात् यथा कूर्मरोमादिः—सामान्यं पक्षो सद्भवतीति साध्यो धर्मोनर्थक्रियाकारित्वात् । तद्वत् । यथा कूर्मरोमादिः । दि० प्र० । १० कूर्मरोमादिवत् । दि० प्र० । ११ आदिशब्देन समवायविशेषो । व्या० प्र० । १२ सामान्यादीनां मुह्यसत्त्वब्राधकसद्भावात्साहित्यारमाधिकं तेषां सत्त्वं सत्ता संबन्धादि वास्तित्व-
 धर्मविशेषणबलादपि संभाव्यते सत्ता व्यतिरेकेणास्तित्वधर्मसंग्राहकप्रमाणो भावादन्यथास्तित्वधर्मेष्यस्तीति प्रत्ययादस्तित्वान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानुषङ्गादौपचारिकमेव तत्सत्त्वम् । व्या० प्र० ।

न^१ चोपचरितस^२द्भिव्यभिचारघोद^३नोपपत्तिमती, परमार्थसत्त्वाभावसाधन^४स्यात्प्रसङ्गात् ।
इति न कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः^५ श्रेयान्, प्रमाणाभावादनन्यतैकान्तवत् ।

कारणादिकों में भिन्नता रूप एकान्त मानना श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि अभिनेकांत पक्ष के समान इस भिन्न पक्ष को भी सिद्ध करने के लिये प्रमाण का अभाव है। अर्थात् भिन्नकांत को सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है।

योगाभिमत कार्य कारणादिक के भिन्नत्व का खण्डन

योग का पूर्व पक्ष—कार्य-कारण, गुण-गुणी और सामान्य-सामान्यवान् परस्पर में सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं क्योंकि इनका भिन्न प्रतिभास हो रहा है।

यदि आप जैन कहें कि इन कार्य कारणादिकों का अभिन्न देश होने से तादात्म्य है। सो कथन भी गलत है क्योंकि भेद दो प्रकार के हैं। शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय देश अभेद तो है नहीं क्योंकि कार्य वस्त्र तंतु आदि अपने कारण देश में है और तंतु अपने कारण कपासादि में है। तथैव गुण-गुणी आदि में भी शास्त्रीय देश भेद सिद्ध है। तथा आकाश, आत्मा का लौकिक देश भेद नहीं है। फिर भी भिन्न ही है।

यह भेद तो पूर्व से सिद्ध है। किन्तु आपका तादात्म्य पूर्व से सिद्ध नहीं है। यदि उसे पूर्व सिद्ध मानों तब तो कार्य-कारण, धर्म-धर्मी, आधेय-आधार आदि भेद ही समाप्त हो जायेंगे, कारण कि भेद और अभेद-तादात्म्य शीतोष्ण स्पृशं के समान परस्पर विरोधी हैं। यदि आप दोनों को एक जगह मानोगे तो संकर दोष भी आ धमकेगा।

1 सामान्यादिव्यर्थं तु निःसामान्यमिति वचनात् । व्या० प्र० । 2 उपचरितसद्विभक्तस्य सत्तासामान्यादेः सत्त्वं तु स्वरूपतः सत्त्वम् । व्या० प्र० । 3 कल्पना । दि० प्र० । 4 हेतोः । दि० प्र० । 5 इदानीं जैनो भेदैकान्तपक्षं निराकरणद्वारेणोपसंहरति कार्यकारणादीनां भेदैकान्तः पक्षः श्रेयान्न साध्यः प्रमाणाभावात् अभेदैकान्तवत् । दि० प्र० ।

जैनाचार्य का परिहार—इस प्रकार से कार्य कारणादिकों में एकांत से भिन्नता मानने पर तो आपसे हम प्रश्न करते हैं कि एक कार्य द्रव्य वस्त्र अपने तंतु लक्षण कारण आधार में एक देश से रहता है या सर्व देश से । यदि एक देश से मानों तब तो शक्य नहीं । कारण वह अवयवी वस्त्र निष्प्रदेशी निरंश है । यदि दूसरा पक्ष लेवो तब एक वस्त्र कार्य अपने अवयव तंतुओं में सम्पूर्णतया रहने से वह वस्त्र तंतु समूह के समान अनेक हो जायेगा । अर्थात् जितने अवयव तंतु हैं उतने ही वस्त्र होंगे । क्योंकि प्रत्येक अवयवों में वह अवयवी पूर्ण पूर्णरूप से है । तथैव जितने संयोगी हैं उतने ही संयोगादि गुण हो जायेंगे । एवं जितने सामान्यवान् पदार्थ हैं उतने ही सामान्य हो जायेंगे ।

यदि आप अवयवी में प्रदेश कल्पना करेंगे तब तो वस्त्र तंतुओं से भिन्न ही है । उस वस्त्र के अंशों की कल्पना से यहाँ एक देश से रहते हैं । या सर्व देश से ? इत्यादि अनेक दोष आ जायेंगे ।

यदि आप ऐसा कहें कि एक अवयवी वस्त्र अपने अवयवों में एक देश या सर्वदेश से नहीं रहता है । किन्तु समवाय से रहता है । तब तो समवाय में ही तो विवाद पड़ता है । अवयवों में अवयवी एक देश से समवाय सम्बन्ध करता है या सर्व देश से ? इत्यादि, दोष पूर्ववत् हैं ही । अतः ये कार्य कारणादि भिन्न उपलब्ध नहीं हैं ।

यदि पात्र में दही के समान पृथक्-पृथक् इनको मानों तब तो संयोग सम्बन्ध के पहले पात्र और दही के समान कारण, कार्य उपलब्ध होने चाहिये । किन्तु ऐसे न दिखकर अवयव, अवयवी आदि कथंचित् तादात्म्य रूप ही दिख रहे हैं । तथा हमारे यहाँ एक देश या सर्वदेश से रहने का प्रश्न नहीं होता है । क्योंकि हमने कथंचित् तादात्म्य माना है । यदि इन अवयव, अवयवी आदिकों में सर्वथा भेद मानोगे तब तो देश काल से भी भेद हो जायेगा, पुनः इनकी वृत्ति युतिसिद्ध पदार्थों की तरह होगी, तब मूर्त कार्यकारण में एक देश का अभाव हो जायेगा । किन्तु देशकाल से अवयवी और अवयवों में अभेद है जैसे आम्र में रूप, रस, गंध, स्पर्श अत्यन्त भिन्न नहीं हैं तथैव परस्पर में भी अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, देश काल से अभिन्न हैं ।

यदि कोई कहे कि आकाश के एक प्रदेश में असंख्यात आदि परमाणुओं का रहना विरुद्ध है तो उसने भी स्याद्वाद को नहीं समझा है । आकाश में अवगाहन गुण विशेष है । जिससे एक प्रदेश में भी असंख्यात अनन्त आदि पुद्गल परमाणु एक स्कंध रूप से परिणत होकर रह जाते हैं । जैसे—जल, लवण, सुई, भस्म आदि एकत्र रह जाते हैं किन्तु वे परमाणु परस्पर निरस्तमुक्त ही स्कंध रूप न होकर एकत्र नहीं रह सकते हैं । इसलिये हम स्याद्वादियों के यहाँ स्कंधरूप परिणत मूर्तिक परमाणुओं का समान देश बन जाता है ।

तथा आपने समवाय से कार्य-कारण आदि में सम्बन्ध माना है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि वह समवाय अपने समवायियों में भिन्न समवाय से रहता है। या स्वतः ?

यदि भिन्न समवाय से मानों तब तो अनवस्था दोष आता है। यदि स्वतः मानों तब तो द्रव्यादिकों को भी स्वतः ही वैसा मानों, समवाय से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार से जैनियों के द्वारा अनेक दूषण आरोपित करने से यदि आप कहें कि—सत्ता सामान्य बिना आश्रय के नहीं रहता है तथैव समवाय भी बिना आश्रय के नहीं रहता है। और अपने आश्रयभूत नित्य पदार्थों में ये दोनों पूर्णरूप से रहते हैं तब तो अनित्य पदार्थों में इनका अस्तित्व कैसे होगा ? तथा सर्वगत सामान्य और एक रूप समवाय अपने आश्रय रूप द्रव्य, गुण, कर्म में प्रत्येक में परिसमाप्त हो जाने से असम्भव ही हो जायेंगे। अन्यथा वे दोनों बहुत ही हो जायेंगे। जैसे कि उनके आश्रयभूत पदार्थ बहुत हैं। इत्यादि। “तथा सबसे बड़ा दोष तो यह आता है कि आपके यहाँ सामान्य और समवाय का परस्पर में समवाय सम्बन्ध या संयोग सम्बन्ध है नहीं, अतः ये दोनों पृथक्-पृथक् ही रहे, पुनः इन दोनों से पदार्थ भी सम्बन्धित नहीं है, अतः सामान्य समवाय और पदार्थ तीनों ही खपुष्पवत् असत् हो जाते हैं। क्योंकि समवाय सामान्य एवं पदार्थ तो आपके यहाँ सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं। अतः आपका भिन्नैकांत श्रेयस्कर नहीं है।

सार का सार—योग कार्य-कारण, अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि में सर्वथा भेद मानता है, वास्तव में ये कथंचित् भिन्न हैं, सर्वथा नहीं, क्योंकि कारण के बिना कार्य, गुणी के बिना गुण, अवयवी के बिना अवयव कहाँ पाये जायेंगे। अतः इन सभी में कथंचित् अभिन्नता मान लेना चाहिये।



अपरः प्राह, मा भूत्कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः^१ परमाणूनां^२ तु नित्यत्वात् सर्वास्व-
वस्था^३ स्वन्यत्वाभावाद्^४ नन्यतैकान्त^५ इति तं प्रति संप्रत्यभिधीयते^६ ।

अनन्यतैकान्तेणूनां^७ संघातेपि^८ विभागवत्^९ ।

असंहतत्वं स्याद्भूत^{११} चतुष्कं भ्रान्तिरेव सा ॥६७॥

उत्थानिका—कोई कहता है कि कार्य कारणादिकों में परस्पर भिन्नता रूप एकांत मत होवे, कोई बाधा नहीं है किन्तु परमाणु तो नित्य हैं, उनकी सम्पूर्ण संयोग-वियोग अवस्थाओं में भिन्नत्व का अभाव है। इसलिये उनमें एकांत से अभिन्नपना ही है। ऐसा कहने वाला जो सौगत है उसके प्रति इस समय श्री संमतभद्र स्वामी अगली कारिका द्वारा कहते हैं—

यदि परमाणु सदा नित्य हैं अन्य रूप परिणमें नहीं ।

तत्र स्कंध रूप में भी वे भिन्न-भिन्न ही रहें सही ॥

पुनः भूमि, जल, वायु, अग्नि इन भूत चतुष्टय का स्कंध ।

भ्रांत रूप ही हो जावेगा क्योंकि अणू सब पृथक्-पृथक् ॥६७॥

कारिकार्थ—परमाणुओं में अभिन्न रूप एकांत पक्ष के मानने पर उनकी संघात-स्कंध अवस्था में भी विभाग-विभक्त पदार्थों की तरह उनको पृथक्-पृथक् परस्पर असम्बन्धित ही मानना पड़ेगा, पुनः ऐसी स्थिति में आपके द्वारा स्वीकृत भूतचतुष्क भ्रांति रूप ही हो जायेगा, अर्थात् पार्थिव, जलीय, तैजस एवं वायवीय परमाणुओं के संघात रूप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, भूतचतुष्क हैं। ये भ्रांत हो जायेंगे । ॥६७॥

भाषार्थ—यहाँ 'अपरः प्राह' इस पर मुद्रित अष्टसहस्री एवं हस्तलिखित दिल्ली प्रति अष्टसहस्री दोनों में ही टिप्पणी में "सौगतः" दिया है। आगे मुद्रित में "माभूत्कार्यकारणादीना-
मन्यतैकान्तः परमाणूनां नित्यत्वात्" तथा दिल्ली प्रति अष्टसहस्री में "अन्यतैकान्तः" "अनन्यतैकान्तः" पाठ है। उसकी टिप्पणी में दिया है। "दृष्टान्तत्वेनोक्तः" ऐसा दिया है। दृष्टान्त रूप से कहा है। आगे "परमाणूनां" पर टिप्पणी उसमें दिया है कि यहाँ अभेदैकान्तवादी कोई यौग का भेद है वह कहता है कि कार्य-कारण आदि में अभेदैकान्त मत होवें। किन्तु परमाणुओं में सर्व अपरिणमन

1 दृष्टान्तत्वेनोक्तः । व्या० प्र० । 2 अत्राभेदैकान्तवादी कश्चिद्यौगभेदः प्राह कार्यकारणादीनामभेदैकान्तो माभूत् । परमाणूनामभेदैकान्तः सर्वथापरिणमनस्वभावोस्तु । कुतो नित्यत्वात्परमाणूनां कुतो नित्यत्वं द्वयणुकादिसर्वावस्थामु एकत्वाभावात् = परमाणूनामभेदैकान्ताभ्युपगमे सति यथा विभागे तथा संघातेप्यमिलनत्वं स्यात् । एवं सति को दोषः सा पृथ्वीअप्तेजोवायुव्यवस्थितिभ्रान्ताः । दि० प्र० । 3 संयुक्तवियुक्तावस्थामु । दि० प्र० । 4 स्वरूपान्तरत्व । दि० प्र० । 5 परमाणूनां युक्तवियुक्तावस्थास्वेकस्वरूपत्वैकान्त इत्यभिप्रायः । दि० प्र० । 6 बोद्धं प्रति । दि० प्र० । 7 परमाणूनाम् । दि० प्र० । 8 नित्यानाम् । दि० प्र० । 9 अमिलितस्वरूपत्वम् । दि० प्र० । 10 यथा परमाणूनां विभागे सति असंमिलितत्वं तथा संघातकालेपि । दि० प्र० । 11 ततश्च । दि० प्र० ।

[परमाणवः पररूपं न परिणमन्ते इति मन्यमाने दोषानाह ।]

यथैव हि विभागे सति परमाणवोऽसंहतात्मान¹ स्तथा संघातकालेपि स्युः, सर्वथान्य-
त्वाभावादन्यत्वे तेषामनित्यत्वप्रसङ्गात् । संघातकाले कार्यस्योत्पत्तेस्तदसमवायिकारणस्वसंयोग-
स्वभावं संहतत्वं भवत्येवेति चेन्न, तेषामतिशयानुत्पत्तौ संयोगस्यैवासंभवात् पृथिव्यादिभूतचतु-
ष्कस्यावयवविलक्षणस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । कर्मणोतिशयस्य ²प्रसूतेः संयोगः परमाणूनामिति
चेन्न, कथञ्चिदन्यत्वाभावे तदयोगात् । क्षणिकत्वात्परमाणूनामदोष इति चेत्तथापि³ कार्य-

स्वभाव रूप अभेदेकांत होवें । क्यों ? क्योंकि परमाणु नित्य है । परमाणु नित्य क्यों है ? तो द्वयणुक
आदि सभी अवस्थाओं में इनमें एकत्व का अभाव है । परमाणु में सर्वथा अपरिणमन स्वभाव है ऐसा
जो कहता है उसके प्रति आचार्य इस कारिका का प्रतिपादन करते हैं । परमाणुओं में अभेद एकांत
को स्वीकार करने पर जैसे विभाग में वे मिलते हैं वैसे ही संघात-स्कंध अवस्था में भी वे अमिलन
स्वभाव वाले ही रहेंगे । ऐसा होने पर क्या दोष होगा ? ऐसा होने पर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु
इनकी व्यवस्था भ्रान्त हो जावेगी ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि बौद्ध परमाणुओं को सर्वथा पृथक-पृथक मानता है । उसका कहना
है कि चाहे घट हो सबके परमाणु बालू के कण के सदृश पृथक-पृथक हैं । एक-दूसरे का स्पर्श तक नहीं
करते हैं । “तान् मिश्रयति कल्पना” उनको मिश्रित बताने वाली कल्पना है । अतः बौद्ध इन
परमाणुओं को अन्य रूप परिणत होना नहीं मानते हैं । वे परमाणुओं को एक स्वरूप ही
मानते हैं ।

वैशेषिक परमाणुओं को सर्वथा नित्य मानता है । सौगत के यहाँ परमाणुओं को नित्य मानने
का सवाल ही नहीं है । यहाँ जो सौगत के द्वारा परमाणु को नित्य कहलाया गया है वह वैशेषिक के
मतानुसार ही है ।

[परमाणु पररूप परिणमन नहीं करते हैं, ऐसा मानने में दोषारोपण करते हैं ।]

जिस प्रकार से विभाग के होने पर सभी परमाणु परस्पर में असंबंधित हैं । उसी प्रकार से
संघात-काल-स्कंध अवस्था में भी असंबंधित ही रहना चाहिये । क्योंकि सर्वथा उन परमाणुओं में
अन्यत्व भिन्न स्वरूप परिणमन करने का अभाव है । और यदि अन्य स्वरूप परिणमन करना मानेंगे
तब तो वे परमाणु अनित्य हो जायेंगे ।

बौद्ध—स्कंध के काल में कार्य की उत्पत्ति होने से असमवायि कारण स्व-संयोग स्वभाव संहत
रूप होता ही है । अर्थात् बौद्ध कहता है कि परमाणु अनित्य भले ही हो जावें किन्तु परिणामी नहीं

1 विरलस्वभावाः । दि० प्र० । 2 अत्राह वैशेषिकः क्रियायाः सकाशादतिशय उत्पद्यते । अतिशयोत्पादात् परमाणू-
नां संयोगः संभवतीति चेत् । स्या० आह एवं न कुतः परमाणूनां कथञ्चिद्भेदाभावे तस्यातिशयोत्पादस्याघटनात् —
पुनराह वै० । अहो परमाणूनां क्षणिकत्वादतिशयोत्पत्तौ दोषाभाव इति चेत् । दि० प्र० । 3 तथा कार्यकारणादेः ।
इति पा० । दि० प्र० ।

कारणा^१देरभेदैकान्ते^२ धारणाकर्षणादयः परमाणूनां संघातेपि मा भूवन्विभागवत् । विभक्ते-
भ्यः^३ परमाणुभ्यः संहतपरमाणूनां विशेषस्योत्पत्तेर्धारणाकर्षणादयः संगच्छन्ते एवाधोमुखसो-
दककमण्डलुवद्वंशरज्ज्वादिवच्चेति चेत्स^४ तर्हि तेषां नाहितोपि विशेषो विभागैकान्तं^५ 'निरा-
करोति'^६, तन्निराकरणे परमाणुत्वविरोधादेकत्वपरिणामात्मक^८स्कन्धस्योत्पत्तेः । प्रविभक्तपरमा-
णुभ्यः संहतपरमाणूनामविशिष्ट^९ त्वलक्षणानन्य^{१०}त्वासंभवात् संहतानां^{११} धारणाकर्षणादिसाम-
र्थ्यं विशेषो न पुनरपरमाणुत्वं, येनाविशेषः कार्यकारणपरमाणूनां न भवेदिति चेन्न, सर्वथा

हैं। क्योंकि भिन्न स्वरूप के हो जाने पर ही परिणामस्वरूप होना होता है। अतः स्कन्धकाल में घट पट आदि रूप कार्य उत्पन्न होते हैं, उन अपने परमाणुओं का संयोग और असमवायि कारण रूप स्वभाव ही परस्पर में असंबद्ध हो जाता है।

जैन—ऐसा नहीं कहना ! क्योंकि उन परमाणुओं में परिणमन रूप अतिशय की उत्पत्ति के स्वीकार न करने पर उनका संयोग ही असंभव है। और संयोग के न होने पर अवयवी लक्षण पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय भ्रांत रूप ही हो जायेंगे।

बौद्ध—कर्म-उत्क्षेपणादि क्रिया रूप अतिशय परिणाम की उत्पत्ति होने से परमाणुओं का संयोग होता है।

जैन—ऐसा भी नहीं कहना। कथंचित् अन्यत्व का अभाव होने पर वह संयोग हो ही नहीं सकता है।

बौद्ध—परमाणु क्षणिक हैं। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं आते हैं।

जैन—यदि आप ऐसा कहें। तो भी कार्य-कारणादि में अभेदैकान्त को स्वीकार करने पर

। स्या० वदति कार्यकारणादीनां सर्वथाभेदाभ्युपगमे संचातकालेपि परमाणूनां धारणाकर्षणादयः माभूवन् यथा-
विभागकाले । दि० प्र० । 2 परमाणुत्वेन । दि० प्र० । 3 आह वैशेषिकः विरलेभ्यः परमाणुभ्यः सकाशात् मिलित-
परमाणूनां विशेषस्योत्पादात् धारणाकर्षणादयः घटंत एव । यथाधोमुखजलकमण्डलोः जलधारणा । वंशरज्वादीनां
चाकर्षणं घटंत एव । दि० प्र० । 4 घटन्त एव । व्या० प्र० । 5 स्या० वदति हे वै० तर्हि तेषां संहतपरमाणूनां
सत्त्वधारोपितोपि विशेषः सर्वथा विभागं न निषेधयति विभागनिषेधे सति भवतां परमाणुत्वं विरुद्धयते तथा चास्माक-
मेकत्वपरिणमनलक्षणः स्कन्ध उत्पद्यते । कस्मात् विरलितपरमाणुभ्यः सकाशात् मिलितपरमाणूनामविशिष्टत्वं स्व-
रूपा भेदत्वाघटनात् । दि० प्र० । 6 एकत्वम् । दि० प्र० । 7 तथा च धारणाकर्षणादयो न संगच्छत इति भावः ।
दि० प्र० । 8 अविभागैकान्ते । व्या० प्र० । 9 विशिष्टलक्षणमनन्यत्वं वर्तते । व्या० प्र० । 10 एकत्वम् । व्या०
प्र० । 11 वै० वदति संहतानां मिलितपरमाणूनां धारणाकर्षणादिसामर्थ्यमतिशयविशेषो भवताभ्युपगतो भवतु तथापि
अपरपरमाणुत्वं नास्ति कोर्थः संचातकालेपि तव एव परमाणुवो नान्ये इत्यर्थः । कार्यकारणपरमाणूनां येन केनाविशेषो
न भवेदपि त्वभेदो भवेदिति चेत् । स्याद्वाद्याह एवं न । कुतः सर्वथा तेषां कार्यकारणादिसामर्थ्यमेव न घटते यतः =
घटते चेत्तदा विरलितपरमाणूनामपि तत धारणाकर्षणादिसामर्थ्यं घटताम् । दि० प्र० ।

तदविशेषे तत्सामर्थ्यस्यैवायोगात् प्रविभक्तपरमाणूनापि तत्प्रसङ्गात् । प्रविभक्त^१ त्वादेव न तेषां तत्सामर्थ्यमिति चेत्, ^२तत् एवान्यत्रापि तन्नेष्यते, केनचिदपि विशेषा^३ न्तरेण तद्विभक्तत्वा-
निराकरणात् । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्थितिरेवं विभ्रममात्रं प्राप्नोति, सर्वदा परमाणुत्वावि-
शेषात् । इष्टत्वाददोष इति चेन्न प्रत्यादिविरोधात् । प्रत्यक्षं हि बहिर्वर्णसंस्थानाद्यात्मकं
स्थवीयांसमाकारमन्तश्च हर्षाद्यनेकविवर्तित्मिकमात्मानं साक्षात्कुर्वद्भ्रान्तं चैतिकमन्यदभ्रान्तं
यत्प्रत्यक्षलक्षणं विभूयात् ? प्रत्यक्षाभावे च कुतोनुमानं न विरुध्यते^४ ? न च प्रत्यक्षादिवि-

परमाणुओं के संघात-स्कंध में भी धारण आकर्षण आदि नहीं होने चाहिये । जैसे कि परमाणु के विभाग में नहीं होते हैं ।

बौद्ध—विभक्त परमाणुओं से स्कंध रूप परमाणुओं में विशेष भेद की उत्पत्ति होने से धारण, आकर्षण आदि संगत नहीं हैं । जैसे कि जल सहित अधो मुख कमंडलु अथवा बांस की रज्जू आदि । अर्थात् अधोमुख कमंडलु में धारण और बांस की रस्ती में आकर्षण के समान ।

जैन—यदि ऐसा कहते तो तब तो उन संहत परमाणुओं में उत्पन्न हुआ भी विशेष विभाग—भेदैकांत पक्ष का निराकरण नहीं करता है ।

यदि अणुओं में भेद के एकांत का निराकरण करोगे तब तो परमाणुओं का विरोध हो जायेगा, अर्थात् स्कंध ही रहेगा । क्योंकि अनेक परमाणुओं में एकत्व परिणाम रूप स्कंध की ही उत्पत्ति हो जाती है ।

बौद्ध—प्रविभक्त भिन्न-भिन्न परमाणुओं से संहत—मिले हुये परमाणुओं में समान लक्षण रूप अभिन्नता नहीं है । अतः मिले हुये परमाणुओं में धारणादि सामर्थ्य विशेष हैं । किन्तु परमाणु-पना नष्ट नहीं हो जाता है कि जिससे कार्य कारण परमाणुओं में समानता न होवे । अर्थात् होगी ही होगी ।

जैन—ऐसा नहीं कहना ! क्योंकि सर्वथा उन कार्य कारण परमाणुओं की समानता होने पर धारणाकर्षणादि सामर्थ्य ही असंभव है । अन्यथा भिन्न-भिन्न परमाणुओं में भी उस धारणादि क्रिया का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ।

बौद्ध—भिन्न-भिन्न होने से ही उन परमाणुओं में वह धारणाकर्षणादि सामर्थ्य नहीं है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो उसी प्रकार से उन मिले हुए परमाणुओं में भी वह धारणा-

१ अत्राह वै० प्रविरलत्वादेव तेषां प्रविभक्तपरमाणूनां धारणादिसामर्थ्यं नेति चेत् । दि० प्र० । २ स्या० वदति हे० वै० तत् एव प्रविभक्तत्वादेवान्यत्रापि संहतपरमाणुष्वपि तत् धारणाकर्षणादिसामर्थ्यं नाङ्गीक्रियते = कुतः संघाता-वस्थायां परमाणवो विशिष्टरूपासंघातावास्थायामविशिष्टा इति लक्षणैः केनचिद्विशेषेण कृत्वा परमाणुविरलत्वा-निषेधात् = तर्हि एवं सन्ति भूम्यादिचतुष्कस्य स्थितिविभ्रममात्रं लभते कुतः सर्वदा संहतासंहतावस्थोभयतः परमाणुत्वेन कृत्वा विशेषाभावात् । दि० प्र० । ३ परमाणुत्वमात्रेण । व्या० प्र० । ४ निर्विकल्पकप्रत्यक्षाभावे स्थूलवहिरस्तर्वस्तु-ग्राहकानुमानस्य बाधकाभावाद्भाष्ये आदिशब्दगृहीतानुमानविरोधोपि संभवत्येवेति भावः । दि० प्र० ।

रोधे स्वसंवेदनमात्र¹ मपि सिध्येत्, सर्वदा संवित्परमाणुमात्रस्यासंवेदनात्² । न³ च कार्यस्य⁴ भ्रान्तौ परमाणुसिद्धिस्तत्त्वतः स्यादित्युच्यते⁵ ।

कार्य⁶ भ्रान्तेरु⁷ भ्रान्तिः⁸ कार्यलिङ्ग हि कारणम् ।

उभयाभावतस्तत्स्थं⁹ ¹⁰गुणजाती¹¹तरच्च¹² न ॥६८॥

कर्षणादि नहीं मानना चाहिये । क्योंकि किसी भी विशेषांतर से उनका भिन्न भिन्नपना निराकृत नहीं किया जा सकता है ।

इस प्रकार से पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय की स्थिति विभ्रममात्र ही हो जायेगी । क्योंकि सर्वदा परमाणुपना मिले हुये और भिन्न-भिन्न परमाणु इन दोनों जगह समान ही हैं ।

बौद्ध—ऐसा मानना तो हमें इष्ट ही है । अतः कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि संहत स्कंध रूप और भिन्न-भिन्न परमाणुओं में समानता कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है । प्रत्यक्ष तो बाह्य के वर्ण संस्थानाद्यात्मक, स्थर्वायास, स्थूलतर और आकारमान् और अंतरंग के हर्षादि अनेक पर्यायात्मक स्वरूप को साक्षात् करता हुआ यदि भ्रांत रूप होगा तब तो यह बतलाओ कि भ्रांत रूप अन्य और क्या है । जो कि प्रत्यक्ष के लक्षण को प्राप्त हो सकेगा ? और प्रत्यक्ष का अभाव मान लेने पर अनुमान भी विरुद्ध कैसे नहीं होगा ? प्रत्यक्षादि के विरुद्ध हो जाने पर स्वसंवेदन मात्र भी सिद्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि हमेशा संवित्परमाणु का संवेदन नहीं होता है ।

उत्थानिका—स्कंध रूप कार्य को भ्रांत मान लेने पर परमाणु की सिद्धि भी वास्तव में नहीं हो सकेगी । इसी को कहते हैं—

यदि कार्य स्कंध भ्रांत हैं तब कारण परमाणु भ्रांत ।

चूँकि कार्य हेतु से होता कारण परमाणु का ज्ञान ॥

यदि दोनों ये भ्रांत हुये तब दोनों का हो गया अभाव ।

उनमें रहने वाले गुण जात्यादिक का फिर नाहि सद्भाव ॥६८॥

कारिकार्थ—कार्यभूत चतुष्क को भ्रांत मानने से परमाणुओं को भी भ्रांत मानना पड़ेगा ।

1 अत्राह सौगतमतमवलम्ब्य वैशेषिकः अहो प्रत्यक्षादिविरोधे सत्यपि स्वसंवेदनमात्रं प्रमाणं सिद्धयेत् स्या० वदति एवं न । सदा संवित्परमाणुमात्रं स्वसंवेदनमात्रप्रमाणेन न ज्ञायते यतः । दि० प्र० । 2 अज्ञातत्वात् । दि० प्र० । 3 अवतारिका । दि० प्र० । 4 सत्याम् । दि० प्र० । 5 एतज्जनेनोच्यते । दि० प्र० । 6 स्कन्धरूप । हेतुः । दि० प्र० । 7 कुतः । यस्मात् । दि० प्र० । 8 यतः इति सति कि भवतीत्युक्त आह । दि० प्र० । 9 कार्यकारणस्थम् । दि० प्र० । 10 रूपादि । दि० प्र० । 11 सामान्यं सत्तादिस्वभावम् । दि० प्र० । 12 क्रियाविशेषसमवायाख्यं परमाणुवृत्तिर्वा स्याद्द्वयवृत्तिर्वा न च तदुभयसंभवे सति गुणजातीतरच्चाभ्युपगतं युक्तमन्यथा गगनकुसुमस्याभावे तस्मिन् वृत्तिसौरभाभ्युपगमप्रसंगात् । दि० प्र० ।

[कार्यस्य भ्रान्ती परमाणुरूपं कारणमपि भ्रान्तमेव]

प्रत्यक्षतः परमाणूनां प्रसिद्धेर्नाणुभ्रान्तिरिति चेन्न, तेषामप्रत्यक्षत्वात् । तथा हि । चक्षुरादिबुद्धौ 'स्थूलैकाकारः प्रतिभासमानः परमाणुभेदेकान्तवादं प्रतिहन्ति'² तद्विपरीतानुपलब्धिर्वा³ । तत्रैतत्स्याद्भ्रान्तैकत्वादिप्रतिपत्तिरिति तन्न, परमाणूनां चक्षुरादिबुद्धौ स्वभावमनर्पयतां कार्यलिङ्गाभावात्तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तेः, प्रविरलवकुलतिलकादीनां जातुचित्प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तावनेकाकारप्रतिभासस्य च भ्रान्तत्वे तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तिवत्⁴ । कार्यलिङ्गं हि कारणं परमाणुरूपम् । तत्कथं कार्यस्य भ्रान्तौ भ्रान्तं न भवेत् ? पर-

क्योकि कार्य के हेतु से ही कारण का ज्ञान होता है । एवं इन दोनों के अभाव से इनमें स्थित-रहने वाले गुण, जाति और क्रिया आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे ॥६८॥

[कार्य को भ्रान्त कहने पर परमाणु रूप कारण भी भ्रान्त ही है ।]

बौद्ध—प्रत्यक्ष से परमाणुओं की प्रसिद्धि है अतः अणु भ्रान्ति रूप नहीं होंगे ।

जैन—नहीं ! क्योंकि परमाणु तो साक्षात् ही प्रत्यक्ष नहीं हैं, अप्रत्यक्ष ही हैं । तथाहि । चक्षु आदि के ज्ञान में स्थूल एकाकार से प्रतिभासित होता हुआ स्कंध, परमाणुओं को भिन्न-भिन्न मानने रूप एकांतवाद को नष्ट कर देता है । अथवा तद्विपरीत-स्थूल एकाकार से विपरित परमाणुओं की उपलब्धि ही नहीं है और वहां अनुपलब्धि ही परमाणु के भिन्न-भिन्न एकांतवाद को खतम कर देती है ।

सौगत पक्ष का आश्रय लेकर वैशेषिक कहता है कि नित्यैकांत का निराकरण करने पर एवं स्याद्वाद को स्वीकार करने पर यह फल होगा कि परमाणुओं में एकत्वादि का ज्ञान है व स्याद्वादियों को भ्रान्त हो जायेगा ।

शंका—उसका फल यह होगा कि एकत्वादि का ज्ञान जो स्याद्वादियों को हो रहा है वह भ्रान्त रूप ही होगा ।

जैन—ऐसा नहीं है । क्योंकि चक्षु आदि ज्ञान में अपने स्वभाव का समर्पण न करते हुये परमाणु लिङ्ग रूप नहीं है । कारण उस परमाणु रूप स्वभाव को स्वीकार करना बनता ही नहीं है । अर्थात् सौगत और वैशेषिक दोनों को समान रूप से यही दूषण आता है ।

यदि प्रविरल—भिन्न-भिन्न वकुल तिलक आदि कदाचित् भी प्रत्यक्ष से नहीं दिखते हैं । तब उनका अनेकाकार प्रतिभास भी भ्रान्त ही है पुनः उनके स्वभाव की स्वीकृति सर्वथा वृक्ष को नहीं देखने वालों को नहीं बनती है । अर्थात् कार्य लिङ्ग का अभाव होने से उसके स्वभाव को स्वीकार करना नहीं बनता है ।

1 बुद्धौ स्थूलाकारः । इति पा० । दि० प्र० । 2 परमाण्वाकारस्य । दि० प्र० । 3 साध्यस्थूलत्व । दि० प्र० ।

4 कार्यलिङ्गाभावात्तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तेरित्येतद्भावयन्नाह । दि० प्र० ।

माणूनां कार्यस्य चानभ्युपगमे तद्द्रव्याभावात्तद्वृत्तयो^१ जातिगुणक्रियादयो न स्युर्व्योमकुसुम-
सौरभवत् । तद्धि गुणजाति^२रूपादिसत्तादिस्वभावमितरच्च क्रियाविशेषसमवायाख्यं परमाणु-
वृत्ति^३ वा स्यात् कार्यद्रव्यवृत्ति वा, न च तदुभयासंभवेभ्युपगन्तुं युक्तं, गगनकुसुमस्याभावेपि
तद्वृत्तिसौरभाभ्युपगमप्रसङ्गात् । ततस्तदभ्युपगच्छता कार्यद्रव्यमभ्रान्तमभ्युपगन्तव्यम् । तच्च
परमाणूनां परमाणुरूपतापरित्यागेनावयविरूपतोपादाने सति संभाव्यते नान्यथा । 'तन्न तेषा-
मनन्यतैकान्तः^४, कार्योत्पत्तौ कथंचिदन्यत्वोपपत्तेः । 'ततः सौगतवन्न वैशेषिकाणां स्वमत-
सिद्धिः ।

क्योंकि कार्य लिङ्ग से परमाणु रूप कारण जाना जाता है । कार्य को भ्रांत मानने पर
वे कारण अणु भी भ्रांत क्यों नहीं हो जायेंगे ? पुनः परमाणु और कार्य-स्कंध उन दोनों को
स्वीकार न करने पर "इन दोनों का अभाव हो जाने से उनको वृत्तियां, जाति, गुण, क्रियादिक भी
नहीं हो सकते हैं । आकाश पुष्प की सुगंधि के समान ।"

गुण, जाति, रूपादि, सत्तादि-स्वभाव और इतर-क्रिया, विशेष और समवाय नामक पदार्थ
परमाणु में रहेंगे या कार्य द्रव्य में रहेंगे और कार्य-कारण इन दोनों को भ्रांत मान लेने पर ये
दोनों असंभव ही हो जावेंगे पुनः इन गुण, जाति और क्रिया आदि का परमाणु में या स्कंध में रहना
स्वीकार करना युक्त नहीं है । अन्यथा आकाश कुसुम के अभाव में भी उसमें रहने वाली सुगंधि को
स्वीकार करने का प्रसंग आ जायेगा । इसलिये उन गुण, जाति आदि को स्वीकार करते हुये कार्य
द्रव्य को अभ्रांत रूप स्वीकार करना चाहिये और वह कार्य परमाणुओं की परमाणुरूपता का त्याग
करके अवयवी स्कंध रूप को ग्रहण करने पर ही सम्भव है अन्यथा असंभव है ।

इसलिये उन परमाणुओं में अभिन्नता रूप एकांत संभव नहीं है । क्योंकि कार्य को उत्पत्ति
के होने पर कथंचित्-स्कंध की अपेक्षा से भिन्नता ही बनती है । अर्थात् परमाणु एक स्वभाव ही रहते,
अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य रूप परिणत नहीं होते हैं, यह बात गलत है । इसलिये सौगत मत के
समान वैशेषिकों के मत की सिद्धि भी नहीं हो सकती है ।



१ परमाणुकार्यमाश्रिताः । दि० प्र० । २ कर्तृ । व्या० प्र० । ३ अत्राह स्याद्वादी हे वै० तदुभयासंभवे कार्यकारणयोर-
सत्त्वे परमाणुवृत्तिः कार्यवृत्तिर्वा तवाङ्गीकर्तुं युक्ता । न च स्यात् युक्ता स्याच्चेत्तदा खपुष्पाभाचोपि पुष्पाश्रितसौर-
भाङ्गी कारः युक्तो भवतु इत्यारोपणम् = यत एवं ततस्तत्परमाणुलक्षणं कारणं मन्यमानेन त्वया कार्यद्रव्यमभ्रान्तमभ्युप-
गन्तव्यम् = तच्चकार्यं परमाणूनां परमाणुत्वत्यागेनावयविरूपत्वाङ्गीकारे सति निश्चीयते । दि० प्र० । ४ तस्मात् । दि०
प्र० । ५ एकत्व । दि० प्र० । ६ यत एवम् । दि० प्र० ।

परमाणु के अभिन्नैकांत खंडन का सारांश

किन्हीं का कहना है कि परमाणु सर्वदा नित्य ही हैं, संयोग एवं वियोग किसी भी अवस्था में अन्य स्वरूप न होकर एक-अनन्य स्वरूप ही रहते हैं। उनमें स्वरूपांतर परिणमन नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि जब वे परमाणु स्कंध रूप अवस्था में आते हैं तब वे यदि घट, पट आदि की तरह भिन्न-भिन्न ही रहेंगे पुनः ऐसी स्थिति में तो जो पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय भूत-चतुष्क स्कंध रूप ही हैं ये भ्रांत हो जायेंगे।

यदि आप परमाणुओं को अनन्यतैकांत रूप मानकर इन भूत चतुष्क को भ्रांति रूप मानोगे तब कार्य स्कंध के भ्रांत हो जाने से कारण रूप परमाणु भी भ्रांत हो जायेंगे तथा कार्य, कारण दोनों के ही भ्रांत रूप हो जाने से गुण, जाति, सत्त्व, क्रिया आदि का भी अभाव हो जायेगा। अतः इस बात को ही स्वीकार करना चाहिये कि परमाणु अपने परमाणु रूप स्वभाव का परित्याग करके ही स्कंध बनते हैं और तभी उस स्कंध के आश्रित गुण, जाति, सत्त्व आदि बन सकते हैं। कार्य की उत्पत्ति में वे परमाणु कथंचित् अन्य रूप परिणमन करते हैं इसलिये परमाणुओं का अनन्यतैकांत (नित्यैकांत) श्रेयस्कर नहीं है।

सार का सार—यदि प्रत्येक परमाणु संघात अवस्था में भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, अन्य रूप परिणत नहीं होते हैं। तब तो स्कंध की व्यवस्था समाप्त हो जावेगी। अतः परमाणु अपने स्वभाव का त्याग करके स्कंध रूप परिणत होते हैं यह मानना उचित है।



साङ्ख्यानानां^१ च कार्यकारणयोः^२—

एक^३ त्वेन्य^४ तराभावः^५ शेषाभावोविनाभुवः ।

द्वित्वसंख्याविरोध^६श्च^७ संवृत्तिश्चेन्मृषेव^८ सा ॥६६॥

[सांख्यः कार्यकारणयोः सर्वथा तादात्म्यं मन्यते तस्य निराकरणं]

कार्यस्य हि महदादेः कारणस्य च प्रधानस्य परस्परमेकत्वं तादात्म्यम् । तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेन्य^९तरस्याभावः स्यात् । ^{१०}ततः शेषस्याप्यविनाभुवोऽभावः । इति सर्वाभावः^{११}

उत्थानिका—सांख्यों के यहाँ भी कार्य कारण में सर्वथा एकत्व मानने पर व्यवस्था नहीं बनती है ।

कार्य और कारण में यदि एकत्व कहो तब एक रहे ।
चूँकि दोनों अविनाभावी अतः शेष भी नहीं रहे ॥
द्वित्व कथन भी विरुद्ध होता, यदि संवृत्ति से मानोगे ।
संवृत्ति तो यह मृषा कहाती अतः सभी मिथ्या होंगे ॥६६॥

कारिकार्थ—आप सांख्य आदि सर्वथा कार्य कारण में एकत्व स्वीकार करेंगे तब तो दोनों में से किसी एक का अभाव हो जायेगा । पुनः एक किसी का अभाव होने पर शेष दूसरे बचे हुए का भी अभाव हो जायेगा; क्योंकि उन दोनों में अविनाभाव नियम है । तथा च 'यह कार्य है और यह कारण है' इस तरह की दो की संख्या में भी विरोध हो जायेगा । यदि आप कहें कि संवृत्ति से ये सब कार्य कारण, द्वित्व संख्यादि हैं तब तो वह आपकी संवृत्ति तो सर्वथा असत्य ही है । ॥६६॥

[सांख्य कारण और कार्य में सर्वथा तादात्म्य मानता है, जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।]

महान्, अहंकार आदि तो कार्य हैं और प्रधान कारण इन दोनों में परस्पर में एकत्व का होना तादात्म्य है । इस प्रकार से दोनों में एकत्व के स्वीकार करने पर दो में से किसी एक का

१ मते । दि० प्र० । २ स्याद्वाद्याह । सांख्यानान्तु कार्यकारणयोः एकत्वाभ्युपगमे द्वयोर्मध्येऽन्यतरस्य कार्यस्य कारणस्याभावः स्यात् । एकतराभावे द्वितीयस्याप्यभावः । कस्मात् । शेषस्यान्यतरेण सहाविनाभावित्वात् अत्राह सांख्यः कार्यस्य कारणेऽनुप्रवेशात् कारणस्य नित्यत्वाच्च द्वयोरैक्यमेवेति चेत् । तदा सांख्यस्य द्वित्वसंख्याविरोधोपि स्यात् । पुनराह सांख्यः हे स्याद्वादिन् द्वित्वसंख्यास्मन्मते संवृत्तिर्व्यावहारिकव्यस्ति इत्युक्त स्याद्वाद्याह । तर्हि सा संवृत्तिः मृषासत्या ननु पारमार्थिकीति । दि० प्र० । ३ महदादिप्रधानलक्षणयोः कार्यकारणयोस्तादात्म्येऽंगीक्रियमाणे । दि० प्र० । ४ द्वयोर्मध्ये कुत उभयोः सर्वयैकत्वात् । दि० प्र० । ५ कारणस्य । व्या० प्र० । ६ अभावः । दि० प्र० । ७ किञ्च दूषणम् । दि० प्र० । ८ द्वित्वसंख्या कल्पनारूपेति चेत् । दि० प्र० । ९ अभावात् । दि० प्र० । १० सांख्यस्य । दि० प्र० । ११ सांख्यः । दि० प्र० ।

प्रसज्यते । यदि पुनः कार्यस्य कारणेनुप्रवेशात्पृथगभावेपि¹ कारणमेकमास्ते एव नित्यत्वादिति मतं² तदा द्वित्वसंख्याविरोधोपि, सर्वथैकत्वे तदसंभवात् कार्यकारणभावादिवत् ।³ संवृत्तिरेव द्वित्वसंख्या⁴ तत्रेति⁵ चेत्तर्हि मृषैव सा तद्वदेव⁶ प्रसक्ता । तथा च⁷ कुतः⁸ प्रधानस्याधिगतिः⁹ ? न तावत्प्रत्यक्षात्,¹⁰ तस्य तदविषयत्वात् । नाप्यनुमानात्, अभ्रान्तस्य लिङ्ग¹¹-स्याभावात्¹² । न चागमात्,¹³ शब्दस्यापि¹⁴ भ्रान्तत्वोपगमात् । न च भ्रान्ताल्लिङ्गादेर¹⁵ भ्रान्तसाध्य¹⁶ सिद्धिरतिप्रसङ्गात् । एवं पुरुषचैतन्ययोराश्रयाश्रयिणोरेकत्वे तदन्यतराभावः । पुरुषे

अभाव हो जायेगा, पुनः उस एक से अविनाभावी दूसरे शेष का भी अभाव हो जायेगा । इस प्रकार से तो सभी का अभाव हो जायेगा ।

सांख्य—महान् आदिकार्य प्रधान रूप कारण में अनुप्रवेश कर जाते हैं; अतः पृथक् भेद का अभाव होने पर भी कारण एक ही है; क्योंकि वह नित्य है ।

जैन—यदि आपका ऐसा मत है तब तो द्वित्व संख्या का भी विरोध हो जायेगा; क्योंकि कार्य कारण में सर्वथा एकत्व के मानने पर वह द्वित्व संख्या असंभव ही है; जैसे—सर्वथा एक वस्तु में कार्य कारण भाव आदि असंभव है । यदि ऐसा कहो कि वहाँ द्वित्व संख्या संवृत्ति रूप ही है । तब तो वह संवृत्ति तो उसी प्रकार असत्य ही हो जाती है और पुनः द्वित्व संख्या को असत्य मानने पर प्रधान का ज्ञान भी कैसे होगा ?

प्रत्यक्ष प्रमाण से तो हो नहीं सकता; क्योंकि वह प्रत्यक्ष ज्ञान प्रधान को विषय नहीं करता है, अनुमान से भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता है; क्योंकि भ्रान्ति सहित लिंग का अभाव है । आगम से भी वह प्रधान नहीं जाना जाता; क्योंकि शब्द को भी आपने भ्रान्त रूप स्वीकार किया है एवं भ्रान्त स्वरूप हेतु आगम और प्रत्यक्ष आदि से अभ्रान्त रूप साध्य की सिद्धि भी नहीं हो सकती है । अन्यथा अति प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् गोपाल घटिका के धूम से अग्नि के ज्ञान का प्रसंग आ जायेगा ।

एवं कार्य कारण प्रकार से पुरुष और चैतन्य रूप “आश्रय और आश्रयी में सर्वथा एकत्व के मानने पर दोनों में से किसी एक का अभाव हो जायेगा ।”

1 प्रागभावेपि । इति पा० । व्या० प्र० । 2 स्याद्वादी । दि० प्र० । 3 कल्पना । दि० प्र० । 4 सर्वथैकत्वे । दि० प्र० । 5 एकस्मिन् कारणे । दि० प्र० । 6 कार्यकारणभावादिवत् । दि० प्र० । 7 कार्यकारणादीनामेकत्वाङ्गीकारे द्वित्वसंख्यायाः संवृत्तौ सत्या सांख्यानां प्रधानं परमाणुरूपं कारणं कुतः प्रमाणात् सिद्धं स्याद्वादी वदति हे सांख्य इति मम धीवर्तते पुनः स्याद्वादी स्वयमेव खण्डयति प्रधानं न तावत्प्रत्यक्षादित्यादि । दि० प्र० । 8 प्रधानं स्यादिति मतिः । इति पा० । दि० प्र० । 9 प्रधानं तदेवेदमिति सांख्यस्य मतिस्तावत्प्रत्यक्षात् । दि० प्र० । प्रधानं महदादीनि द्वित्वस्याभावादित्येतत्कुतो द्वित्वसंख्याया मृषात्वात् । व्या० प्र० । 10 प्रत्यक्षस्य । दि० प्र० । 11 महदादेः । व्या० प्र० । 12 महदादेर्भ्रान्तत्वोपगमात् । व्या० प्र० । 13 कार्यत्मकस्य । दि० प्र० । 14 शब्दस्य महदाद्यन्तःपातित्वात् । व्या० प्र० । 15 आगम । व्या० प्र० । 16 प्रधान । दि० प्र० ।

चैतन्यानुप्रवेशे पुरुषमात्रस्य, तस्य ^१वा चैतन्यानुप्रवेशे चैतन्यमात्रस्य ^२प्रसक्तेः सिद्धस्तावत्त-
दन्यतरस्याभावः परेषाम् । ततः शेषाभावस्तत्स्वभावाविनाभावित्वाद्बन्ध्यासुतरूपसंस्थान-
वत् । यथैव हि बन्ध्यासुतरूपस्याभावे न ^३तस्य संस्थानं संस्थानिस्वभावा^४विनाभावित्वात् ।
तथा पुरुषस्याश्रयस्याभावे ^५चैतन्यस्याश्रयिणोप्यभावस्तदभावे^६ पुरुषस्याप्यभावः, तत्स्वभा-
वाविनाभावात् । तथा सति द्वित्वसंख्यापि^७ न स्यात्, पुरुषचैतन्ययोरेकत्वमिति । तत्र संवृत्ति-
कल्पना शून्यत्वं नातिवर्तते, परमार्थविपर्ययाद्वचलीकवचनार्थवत्,^८ परमार्थतः संख्यापाये
संख्येया^९व्यवस्थानात् सकलधर्मशून्यस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽसंभवात्^{१०} । ^{११}तत्र कार्यकारणादीनाम-
नन्यतैकान्तः^{१२} संभवत्यन्यतैकान्तवत्^{१३} ।

पुरुष में चैतन्य का अनुप्रवेश हो जाने पर पुरुष मात्र ही रह जायेगा, अथवा पुरुष का चैतन्य में अनुप्रवेश हो जाने पर चैतन्य मात्र ही रह जायेगा । तब तो आप सांख्यों के यहाँ दो में से किसी एक का अभाव सिद्ध ही हो जायेगा; तथा दो में से एक का अभाव हो जाने पर बचे शेष का भी अभाव हो जायेगा; क्योंकि पुरुष के साथ चैतन्य स्वभाव का अविनाभाव है । जैसे कि बंध्या के पुत्र का रूप और उसका संस्थान ।

जिस प्रकार से बंध्या सुत के रूप का अभाव हो जाने पर उसका संस्थान सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि संस्थानी बंध्या-सुत के रूप के स्वभाव से उसके संस्थान का अविनाभाव है । उसी प्रकार से पुरुष रूप आश्रय के अभाव में चैतन्य रूप आश्रयी का भी अभाव हो जायेगा और उसी आश्रयी के अभाव में पुरुष का भी अभाव हो जायेगा; क्योंकि उस पुरुष और चैतन्य में परस्पर में स्वभाव का अविनाभाव है ।

उस प्रकार से मानने पर द्वित्व संख्या भी नहीं हो सकेगी; क्योंकि आपने पुरुष और चैतन्य में सर्वथा एकत्व मान लिया है । द्वित्व की संख्या में संवृत्ति की कल्पना शून्यपने का उल्लंघन नहीं कर सकती है; क्योंकि वह संवृत्ति परमार्थ से विपरीत है—झूठे वचनों के झूठे अर्थ के समान ।

परमार्थ से संख्या के अभाव में संख्येय-संख्या रूप होने योग्य वस्तु की व्यवस्था भी नहीं हो सकती है; क्योंकि वे संख्येयत्वादि धर्म, सकल धर्म से शून्य किसी वस्तु में नहीं पाये जा सकते । इसलिए कार्य कारणादिकों में सांख्याभिमत अभिन्नैकांत संभव नहीं है; जैसे कि यौगाभिमत भिन्नतैकांत संभव नहीं है ।

- 1 पुरुषस्य । दि० प्र० । 2 अवस्थानात् । दि० प्र० । 3 बन्ध्यासुतस्य । दि० प्र० । 4 संस्थानस्य । व्या० प्र० ।
5 लक्षणम् । व्या० प्र० । 6 चैतन्यम् । व्या० प्र० । 7 किञ्च । व्या० प्र० । 8 नद्यास्तीरे मोदकराश्रयः सन्ति
धावध्वं माणवका इत्यादिवत् । दि० प्र० । 9 पदार्थः । दि० प्र० । 10 अधटनात् । दि० प्र० । 11 तस्मात्कार-
णात् । दि० प्र० । 12 सांख्योक्तः । दि० प्र० । 13 यथा सौगतस्य भेदः । दि० प्र० ।

सांख्याभिमत कार्य कारण के एकत्व का निकास

सांख्य का कहना है कि महान् अहंकार आदि कार्य है और प्रधान कारण है । इन दोनों में परस्पर में एकत्व है । इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि कार्य कारण में सर्वथा एकत्व के मानने पर तो दोनों में से किसी एक का अभाव हो जायेगा । पुनः बचे हुए शेष का भी अभाव अवश्यभावी है; क्योंकि उन दोनों में अविनाभाव है एवं यह कार्य है, यह कारण है ऐसी द्वित्व संख्या भी नहीं बनेगी । यदि आप द्वित्व संख्या को संवृत्ति से मानो तब तो वह संवृत्ति तो सर्वथा असत्य ही है । द्वित्व संख्या को संवृत्ति रूप मानने पर प्रधान का ज्ञान भी कैसे होगा ? प्रत्यक्ष तो प्रधान को ग्रहण नहीं करता है । अनुमान एवं आगम से भी ज्ञान नहीं होगा; क्योंकि लिंग एवं शब्द को आपने भ्रांति रूप माना है ।

कार्य कारण के प्रकार से पुरुष और चैतन्य, आश्रय-आश्रयी हैं । इन दोनों में सर्वथा एकत्व होने से पुरुष में चैतन्य का अनुप्रवेश हो जाने से पुरुषमात्र ही रहेगा या इसी तरह से चैतन्यमात्र ही रहेगा, पुनः एक के अभाव में उसके अविनाभावी दूसरे का भी अभाव हो जाने से सकल शून्यता आ जायेगी; अतएव सांख्याभिमत कार्य कारणादि में सर्वथा एकत्व श्रेयस्कर नहीं है ।



विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवा^१च्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

अव^२यवेतरादीनां व्यतिरेका^३व्यतिरेकैकान्तौ न द्वै यौगपद्येन संभविनौ विरोधात् ।
तथानभिला^४प्यतैकान्ते स्ववचनविरोधस्तदभिलाप्यत्वात् । अनभि^५लाप्यतैकान्तस्याप्यनभिला-
प्यत्वे कुतः परप्रतिपादनम् ? तद्वचनाच्चेत्कथमनभिलाप्यतैकान्तः ? परमार्थतो न कश्चिद्व-

यदि कार्य कारण में भेदाभेद उभय का ऐक्य कहो ।

स्याद्वादमत द्वेषी के यह कैसे होगा सत्य अहो ॥

यदि कार्य कारण का भेदाभेद "अवाच्य" कहे कोई ।

तब "अवाच्य" यह कथन असंगत स्याद्वाद बिन घटे नहीं ॥७०॥

कारिकार्थ—स्याद्वाद नीति के शत्रुओं के यहाँ अन्यता और अनन्यता रूप उभयैकात्म्य संभव नहीं है; क्योंकि वे दोनों परस्पर विरोधी हैं। यदि कोई कहे कि हम तत्त्व को अन्यत्व, अनन्यत्व से रहित "अवाच्य रूप" मानते हैं तब तो तत्त्व अवाच्य है। इस प्रकार से वाक्य द्वारा कथन भी नहीं कहा जा सकता है ॥७०॥

अवयव, अवयवी, गुण, गुणी सामान्य और सामान्यवान् में भिन्न और अभिन्न रूप एकांत युगपत् संभव नहीं है; क्योंकि परस्पर में इन दोनों का विरोध है। उसी प्रकार से अवक्तव्य रूप एकांत पक्ष में स्ववचन विरोध दोष आता है; क्योंकि "अवाच्य" इस शब्द के द्वारा आप वाच्य रूप कर रहे हैं, अर्थात् कह रहे हैं। अथवा यदि अवाच्य को भी एकांत से अवाच्य ही रखोगे तब तो पर का प्रतिपादन भी आप कैसे कर सकेंगे ?

यदि आप कहें कि "अवाच्य" इस शब्द से पर को प्रतिपादित किया जाता है तब तो एकांत से "तत्त्व अवाच्य है" यह बात कहाँ रही ?

शंका—परमार्थ से कोई पदार्थ या सिद्धान्त वचनों से प्रतिपादित नहीं किया जाता है, किन्तु संवृत्ति से ही प्रतिपादित किया जाता है ।

समाधान—तब तो आप सौगत को भी स्वयं उस अवाच्यता का ज्ञान कैसे होगा ?

सौगत - वस्तु में वाच्यपना उपलब्ध नहीं है; अतः वस्तु अवाच्य है ।

१ भेदाभेदैकान्तयोर्दूषणसद्भावाद्वाच्यतैकान्तो बौद्धः प्रत्यवतिष्ठते । व्या० प्र० । २ अवयवि । व्या० प्र० । ३ भेदा-
भेद । व्या० प्र० । ४ सौगतमते । दि० प्र० । ५ स्याद्वादी वदति हे अवाच्यवादिन् भवताभ्युपगतोऽनभिलाप्यतै-
कान्तोऽभिलाप्योऽनभिलाप्यो वेति प्रश्नोभिलाप्यत्वेऽनभिलाप्यतैकान्तः कुतः न कुतोपि अनभिलाप्यत्वे सति परं
शिष्यादिकं प्रति कथनं कुतः न कुतोपि—आह परोऽनभिलाप्यवचनादेव परप्रतिबोधनं घटते इति चेत् स्या० आह ।
तदानभिलाप्यतैकान्तः कथं न कथमपि । दि० प्र० । ६ अनभिलाप्यस्य । दि० प्र० ।

चनात्प्रतिपाद्यते इति चेत्स्वयमवाच्यताप्रतिपत्तिः कथम् ? वस्तुनि वाच्यतानुपलब्धेश्चेत्सा यदि दृश्या^१नुपलब्धिस्तदा सिद्धा क्वचिद्वाच्यता । नो चेन्नास्ति तदभावनिश्चयोतिप्रसङ्गात् । विकल्प^२प्रतिभासिन्यन्यापोहे प्रतिपन्नाया एव वाच्यतायाः स्वलक्षणे प्रतिषेधाददोष इति चेन्न, वस्तुवाच्यतायाः प्रतिषेधायोगात्, ^३तदन्यापोहमात्रवाच्यताया एव प्रतिषेधात् । न चान्यापोहवाच्य^४तैव ^५वस्तुवाच्यता तत्प्रतिषेधाविरोधात्^६ । निरस्तप्रायश्चायमवाच्यतैकान्त इत्यलं प्रसङ्गेन ।

स्याद्वादाभ्युपगमे तु न दोषः^७, कथंचित् तथाभावोपलब्धेः । सर्वं हि वस्तु ^८व्यञ्जनपर्यायात्मकतया वाच्यमर्थपर्यायात्मकत्वेनावाच्यमिति स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, अन्यथा प्रमाणाभावात् ।

जैन—यह अनुपलब्धि रूप हेतु, दृश्यानुपलब्धि है या अदृश्यानुपलब्धि रूप ? यदि आप दृश्यानुपलब्धि मानें तब तो कहीं न कहीं वाच्यता सिद्ध ही हो गयी । अर्थात् जिस देश में दृश्य—देखने योग्य है, उस जगह तो उसकी वाच्यता है ही । यदि ऐसा नहीं मानों तब तो उसके अभाव का भी निश्चय नहीं होगा । अर्थात् अदृश्यानुपलब्धि रूप दूसरा पक्ष मानों तब तो उसकी अदृश्यरूप उस वाच्यता को अनुपलब्धि भी कैसे कर सकेंगे । अन्यथा अति प्रसंग दोष आ जायेगा, अर्थात् परमाणु आदि के भी अभाव का प्रसंग आ जायेगा ।

सौगत—विकल्प प्रतिभासी अन्यापोह में प्रतिपन्न ही वाच्यता का निर्विकल्प विषयक स्वलक्षण में प्रतिषेध है; अतः कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना ! वस्तु की वाच्यता के प्रतिषेध का अभाव है; क्योंकि अन्यापोह मात्र वाच्यता का ही प्रतिषेध होता है न कि स्वलक्षण रूप वस्तु भूत वाच्यता का । अन्यापोह मात्र वाच्यता ही वस्तु की वाच्यता नहीं है । अन्यथा उसके प्रतिषेध का विरोध नहीं कर सकेंगे । इस तरह से इस अवाच्यतैकांत का प्रायः पहले भी खण्डन कर दिया है; अतः इस प्रसंग से बस होवे ।

१ स्याद्वादी वदति हे अवाच्यवादिन् ! भवदभ्युपगताऽनुपलब्धिः दृश्यानुपलब्धिरदृश्यानुपलब्धिर्वा इति प्रश्नः यदि सादृश्यानुपलब्धिलक्षणे घटादी वाच्यता सिद्धा । नोचेत्कोर्थः । अदृश्यानुपलब्धिर्यदि । तदा तस्यादृशस्य पिशाचादिवदभावनिश्चयो नास्तीति चेत्तदातिप्रसङ्गो जायते । दि० प्र० । २ अत्राह परः । शब्दगोचरेऽन्यापोहोऽत्मके घटादी वस्तुन्यङ्गीकृता वाच्यता तस्याः सकाशादेव स्वलक्षणा सर्वथा क्षणिकरूपे वाच्यतायाः प्रतिषेधोऽस्ति यतस्ततोदृशस्याभावनिश्चयाभ्युपगमेऽस्माकं न दोष इति चेत् । स्या० एवं न स्वलक्षणे वस्तुनि वाच्यतायाः प्रतिषेधस्याघटनात् । पुनोऽन्यापोहमात्रवाच्यवाच्यताया एव प्रतिषेधघटनात् । दि० प्र० । ३ स्वलक्षणे । दि० प्र० । ४ आह स्या० किञ्च घटद्यात्मकोऽन्यापोहवाच्यता एव स्वलक्षणरूपवस्तुवाच्यता न भवति । तस्याः स्वलक्षणरूपवस्तुवाच्यतायाः प्रतिषेधो विरुद्धयते यतः । दि० प्र० । ५ स्वलक्षण । व्या० प्र० । ६ अन्यापोहवाच्यतायाः स्वयमभ्युपगमात् । व्या० प्र० । ७ अवाच्यत्वाभावलक्षणः । व्या० प्र० । ८ स्थूलो व्यञ्जनपर्यायो वागम्यो नश्वरः स्थिरः । सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थगोचरः ! दि० प्र० ।

स्याद्वाद को स्वीकार करने पर तो हमारे यहाँ दोष नहीं है; क्योंकि कथंचित्-नय की अपेक्षा से तथाभाव-अवक्तव्यभाव की उपलब्धि पायी जाती है।

“सभी वस्तुएँ स्थूल-व्यंजन पर्याय रूप से वाच्य हैं तथा अर्थ पर्याय रूप से अवाच्य हैं। इस प्रकार से स्वाद्वादियों के द्वारा व्यवस्था की जाती है अन्यथा एकांत से वाच्यता या अवाच्यता रूप को सिद्ध करने में प्रमाण का अभाव है।



योग के उभयैकांत एवं बौद्ध के अवाच्यत्व का खंडन

योग ने परस्पर निरपेक्ष भिन्नाभिन्न रूप एकांत स्वीकार किया है। वह भी अवयव, अवयवी, गुण, गुणी, सामान्य, सामान्यवान् में भिन्न और अभिन्न रूप एकांत युगपत् संभव नहीं है; क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है।

बौद्धाभिमत अवाच्यतैकांत भी उचित नहीं है। यदि बौद्ध कहें कि वस्तु में वाच्यता है ही नहीं; अतः वस्तु अवाच्य है। तब उनसे हम ऐसा प्रश्न करते हैं कि वह अनुपलब्धि हेतु अदृश्यानुपलब्धि रूप है या दृश्यानुपलब्धि रूप? यदि दृश्यानुपलब्धि मानों तो जिस देश में दृश्य—देखने योग्य पदार्थ हैं, वहाँ वाच्यता है ही। यदि दूसरा पक्ष लेवो तब तो जो पदार्थ अदृश्य—देखने योग्य ही नहीं है उसकी अनुपलब्धि—अभाव भी आप कैसे कर सकेंगे?

अतएव स्याद्वाद के बल से सभी वस्तुएँ व्यञ्जन पर्याय की अपेक्षा से वाच्य हैं एवं अर्थ पर्याय की अपेक्षा से अवाच्य हैं, किन्तु एकांत रूप अवाच्य तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है।



¹तदेवमव²यवावयव्यादीनामन्यत्वाद्येकान्तं निराकृत्याधुना तदने³कान्तं सामर्थ्यसिद्ध-
मपि दुराशङ्कापनो दार्थं दृढतरं निश्चिषवः⁴ सूरयः प्राहुः ।

द्रव्य⁵पर्याय⁶योरेक्यं⁷ तयोरव्यतिरेकतः ।

परिणाम⁸विशेषाच्च⁹ शक्तिमच्छ¹⁰शक्तिभावतः ॥७१॥

¹¹संज्ञासंख्या¹²विशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः¹³ ।

प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा¹⁴ ॥७२॥

उत्थानिका—इस प्रकार से अवयव, अवयवी आदि के भिन्न, अभिन्न आदि एकांत का निराकरण करके इस समय तत्त्वोपल्लववादी की दुराशंका को दूर करने के लिए और सामर्थ्य से सिद्ध भी अनेकांत को दृढतर निश्चित करने की इच्छा रखते हुए आचार्यवर्य श्रीसमंत भद्र स्वामी कहते हैं ।

द्रव्य और पर्याय कथञ्चित् एकरूप हैं अभेद ही ।
क्योंकि उभय है अभिन्न उनका पृथक्करण है शक्य नहीं ॥
द्रव्य और पर्याय कथञ्चित् भिन्न कहे सर्वथा नहीं ।
चूँकि भिन्न परिणमन भेद से शक्तिमान् अरु शक्ति से भी ॥७१॥

नाम भेद से, संख्या से भी द्रव्य और पर्याय पृथक् ।
निज-निज लक्षण भेद उभय में इसीलिए हैं पृथक्-पृथक् ॥
दोनों का है भिन्न प्रयोजन अरु प्रतिभास भेद भी है ।
इसी अपेक्षा द्रव्य और पर्याय कथञ्चित् भिन्न रहें ॥७२॥

कारिकार्थ—द्रव्य और पर्याय में एकत्व है; क्योंकि वे दोनों सर्वथा भिन्न नहीं हैं तथा परिणाम विशेष से शक्तिमान्, शक्ति भाव से, संज्ञा, संख्या की विशेषता से, अपने-अपने लक्षणों की भिन्नता से एवं प्रयोजनादि के भेद से वे दोनों नाना—भिन्न-भिन्न भी हैं, किन्तु सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं । ॥७१॥ ॥७२॥

1 तत्त्वोपल्लवः । दि० प्र० । 2 तस्मात् । दि० प्र० । 3 भा । व्या० प्र० । 4 निश्चिकीर्षवः । इति पा० । निश्चयं कर्तुमिच्छवः । दि० प्र० । 5 गुणसामान्योपादानकारणानां द्रव्यशब्दात् ग्रहणम् । दि० प्र० । 6 गुणव्यक्तिकार्यद्रव्याणां पर्यायशब्दात् ग्रहणम् । दि० प्र० । 7 कथञ्चित् । दि० प्र० । 8 स्वरूपभेदात् । दि० प्र० । 9 भेदात् । दि० प्र० । 10 अयं शक्तिमान् इयं शक्ति । दि० प्र० । 11 इदं द्रव्यमयं पर्याय इति नाम संज्ञा । दि० प्र० । 12 एकं द्रव्यम् अनेकपर्यायः । दि० प्र० । 13 भेदात् । दि० प्र० । 14 एकान्ते न । दि० प्र० ।

[द्रव्यपर्याययोः कथंचित् भेदाभेदो स्तः]

गुणिसामान्यो¹पादानकारणानां द्रव्यशब्दाद्ग्रहणम् । गुणव्यक्ति²कार्यद्रव्याणां³ पर्याय-
शब्दात् । ⁴तदेव⁵ ⁶द्रव्यपर्यायावेकं वस्तु, प्रतिभा⁷सभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वात्⁸ । यत्प्रतिभा⁹-
सभेदेऽप्यव्यतिरिक्तं तदेकं, यथा वेद्यवेदकज्ञानं रूपादिद्रव्यं वा¹⁰ मेचकज्ञानं वा । तथा च
द्रव्यपर्यायो न व्यतिरिच्येते । तस्मादेकं वस्त्विति मन्तव्यम् । पर्यायाद¹¹वास्तवाद्द्रव्यतिरिक्त-
मेव द्रव्यं वास्तवमेकेषाम् । द्रव्यादवास्तवाद्द्रव्यतिरिक्त एव पर्यायो वास्तवः परेषाम् । ततोऽ-

[द्रव्य और पर्याय में कथंचित् भेद और अभेद दोनों सिद्ध हैं]

गुणी, सामान्य और उपादान कारणों को द्रव्य शब्द से ग्रहण किया गया है एवं पर्याय शब्द से गुण, व्यक्ति, कार्य, द्रव्यों को ग्रहण किया है । इस प्रकार से द्रव्य पर्यायरूप एक वस्तु है; क्योंकि प्रतिभास भेद होने पर भी ये दोनों अभिन्न हैं, भिन्न नहीं हैं ।

जो प्रतिभास भेद होने पर भी अभिन्न हैं वे एक हैं; जैसे—वेद्य वेदकज्ञान अथवा रूपादि द्रव्य या मेचक-चित्रज्ञान । और उस प्रकार से द्रव्य पर्याय भिन्न-भिन्न नहीं हैं । इसलिए वे एक वस्तु हैं, ऐसा मानना चाहिये । अद्वैतवादी-पर्यायों अवास्तविक हैं, उन पर्यायों से भिन्न द्रव्य एक है वही वास्तविक हैं । ऐसा हम ब्रह्माद्वैतवादी मानते हैं ।

सौगत—द्रव्य नाम की कोई चीज वास्तविक नहीं है, किन्तु पर्यायों ही वास्तविक हैं इस प्रकार से हम सौगतों की मान्यता है ।

अद्वैतवादी और सौगत—इसलिए 'प्रतिभासभेदेऽव्यतिरिक्तत्वात्' आपका यह हेतु असिद्ध है ।

जेन—ऐसा नहीं करना चाहिये । उन द्रव्य और पर्याय में से किसी एक का आभाव करने पर अर्थक्रिया लक्षण कार्य नहीं बन सकता है । तथाहि । 'पर्याय निरपेक्ष केवल द्रव्य अर्थक्रिया निमित्तक

1 द्रव्यसामान्यमूढंतेत्यर्थः । व्या० प्र० । 2 खण्डमुण्डादि । व्या० प्र० । 3 घटादि । व्या० प्र० । 4 तस्मात् । व्या० प्र० । 5 एवविद्यद्रव्यपर्यायो । दि० प्र० । 6 इन्द्रः । व्या० प्र० । 7 अव्यतिरिक्तमसिद्ध प्रतिभासभेदसद्भावादि-
त्याशंकापनोदायार्थमिदं विशेषणम् । दि० प्र० । 8 विवेचयितुमशक्यत्वात् । दि० प्र० । 9 द्रव्यपर्यायो पक्षः, एकं वस्तु
भवतीति साध्यो धर्मः प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वात् । ययोः प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वं तयोरेक्यं यथा वेद्यवेदकावे-
कमेव ज्ञानं रूपरसादयो एकमेव द्रव्यं वा द्रव्यपर्यायो न व्यतिरिच्येते च तस्मादेकं वस्तु स्याद्वादी वदति हे भेदवादिन् !
इत्यनुमानेनाभेदात्मकं वस्तु ज्ञातव्यम् । दि० प्र० । 10 रूपादिद्रव्यं वा तथा च । द्रव्यपर्यायो । इति पा० । व्या० प्र० ।
11 असत्यभूतात्पर्यायात् सत्यभूतं द्रव्य भिन्नमेव । एकेषां सांख्यानां मतम् = असत्यभूतात्द्रव्यात्सत्यभूतः पर्यायो
भिन्न एव परेषां सौगतानामिति मतं स्याद्वाद्याह यत एव ततः हे अभेदवादिन् ! प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वादिनि-
हेतुः असिद्धो न ज्ञेयः किन्तु सिद्ध एव कुतः तयोर्द्रव्यपर्याययोर्मध्ये एकतरस्याभावेऽर्थक्रिया तोष्यते यतः । दि० प्र० ।

सिद्धो हेतुरिति न मन्तव्यं, तद्व्यतरापायेर्षस्थानुपपत्तेः । तथा¹ हि न द्रव्यं केवलमर्थक्रियानिमित्तं क्रमयोग²पद्यविरोधात् केवलपर्यायवत् । पर्यायो वा न केवलार्थक्रियाहेतुस्तत एव केवलद्रव्यवत् । क्रमयोग³पद्यविरोधस्तत्रासिद्ध इति चेन्न, द्रव्यस्य⁴ पर्यायस्य वा सर्वथैकस्वभावस्य क्रमयोगपद्यादर्शनात्, अनेकपर्यायात्मन एव द्रव्यस्य तदुपलम्भात्⁵ ।

[यौगो द्रव्यपर्याययोः सर्वथा भेदं मन्यते किंतु जैनाचार्याः कथञ्चित् तयोरभेदं साध्यन्ति]

‘वास्तवत्वेपि⁷ द्रव्यपर्याययोरव्यतिरेकोऽसिद्धः, कुटादिद्रव्याद्रूपादिपर्यायाणां ज्ञानप्रति-

नहीं है; क्योंकि केवल पर्याय के समान क्रम और युगपत् का विरोध है ।’ अथवा द्रव्य निरपेक्ष केवल पर्यायों भी अर्थ क्रिया हेतुक नहीं हैं; क्योंकि केवल द्रव्य के समान उनमें भी क्रम या युगपत् से अर्थ क्रिया का विरोध है ।

शंका—केवल द्रव्य या पर्याय में क्रम योगपद्यविरोध हेतु असिद्ध है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना; क्योंकि सर्वथा-परस्पर निरपेक्ष एक स्वभाव वाले द्रव्य अथवा पर्याय में क्रम अथवा युगपत् नहीं देखा जाता है, किंतु अनेक पर्यायात्मक द्रव्य में ही वह क्रम, युगपत् उपलब्ध होता है ।

[द्रव्य और पर्यायों को योग सर्वथा भिन्न मानता है, किन्तु जैनाचार्य द्रव्य पर्याय में अभेद सिद्ध कर रहे हैं ।]

योगाशंका—वास्तविक होने पर भी द्रव्य और पर्याय में अभेद मानना असिद्ध है; क्योंकि घटादि द्रव्यों से उनकी रूपादि पर्यायों में ज्ञान के द्वारा प्रतिभास भेद देखा जाता है । घट पटादि के भेद के समान ।

1 कथमर्थक्रिया नोत्पद्यत इत्युक्ते सति स्याद्वादी सांख्यप्रत्यनुमानं रचयति । केवलं द्रव्यं पक्षोर्थक्रियानिमित्तं न भवतीति साध्यो धर्मः क्रमयोगपद्यविरोधात् यत् क्रमयोगपद्ये न विरुद्धचते तदर्थक्रियानिमित्तं न भवति । यथा केवल-पर्यायः क्रमयोगपद्यविरुद्धं चेदं तस्मादर्थक्रियानिमित्तं न भवति इदानीं सौगतं प्रत्यनुमानं रचयति केवलः पर्यायः पक्षोर्थक्रियाहेतुर्न भवतीति साध्यो धर्मः क्रमयोगपद्यविरोधात् केवलपर्यायवत् । दि० प्र० । 2 भा । व्या० प्र० । 3 अत्राह परस्तत्र द्रव्यपर्याययोः केवलयोरनर्थक्रियानिमित्तत्वसाधकानुमाने क्रमयोगपद्यविरोधादिति स्याद्वादिनो हेतुर-सिद्ध इति चेत् । दि० प्र० । 4 आहारहतः क्रमयोगपद्यविरोधादिति हेतुरसिद्धो न कुतः सर्वथा केवलस्य द्रव्यस्य पर्यायस्य वा क्रमयोगपद्ययोरदर्शनात् यथानन्तपर्यायात्मकसर्वैवद्रव्यस्य क्रमयोगपद्यदर्शनाच्च । दि० प्र० । 5 क्रमयोग-पद्यदर्शनात् । दि० प्र० । 6 उक्तग्रन्थेन द्रव्यपर्यायोः वास्तवत्वं समर्थयति नैयायिको वक्तीति । व्या० प्र० । 7 अत्राह परः पक्षीकृतो द्रव्यपर्यायो सत्यो भवतस्तथाप्यव्यतिरेको हेतुरसिद्ध इत्यनुमानात् कुटादिद्रव्यरूपादिपर्यायो पक्षो भिन्नो भवत इति साध्यो धर्मः ज्ञानं प्रतिभासभेदात् यौ प्रतिभासेन भिद्येते तौ भिन्नौ यथा घटपटादिव्यादिवदिति चेत् = स्या० आह न । कुतः सप्रतिभासो द्रव्यपर्याययोरेकत्वं न विरोधयति = योगः प्राह । दि० प्र० ।

भा^१सभेदाद् घटपटादिवदिति चेन्न, तस्यैकत्वा^२विरोधित्वात्^३ । ^४उपयोगविशेषाद्गूपादिज्ञान-
निर्भासभेदः^५ । ^६स्वविषयैकत्वं न वै निराकरोति, सामग्रीभेद^७ युगपदेकार्थोपनिबद्धविशदेतर-
ज्ञानवत् । ^८ततो नासिद्धो हेतुः । नापि विशेषणविरुद्धः, प्रतिभासभेदस्य विशेषणस्याव्यति-
रिक्तहेतुना विरोधासिद्धेः । स्यान्मतम् 'अव्यतिरिक्तमैक्यमेवोच्यते । ततोयं साध्याविशिष्टो
हेतुरनित्यः शब्दो निरोधधर्मकत्वादिति यथा । ^९ततो न गमक' इति तदसत्, कथंचिदप्यशक्य-
विवेचनत्वस्याव्यतिरिक्तस्य हेतुत्वेन प्रयोगात् । व्यतिरेचनं व्यतिरिक्तं विवेचनमिति या-
वत्^{१०} । न विद्यते व्यतिरिक्तमनयोरित्यव्यतिरिक्तौ । तयोर्भावोऽव्यतिरिक्तत्वमशक्यविवेचन-

जैन—ऐसा नहीं कहना; क्योंकि उन द्रव्य और पर्यायों का जो प्रतिभास भेद है वह एकत्व के साथ विरोधी नहीं है ।

चक्षु आदि व्यापार रूप उपयोग विशेष से रूपादि ज्ञान में प्रतिभास भेद होकर भी स्वविषयक एकत्व का निराकरण नहीं करता है; जैसे कि दूर, निकट आदि देश रूप सामग्री के भिन्न होने पर युगपत् एक पदार्थ में उपनिबद्ध विशद् एवं अविशद् ज्ञान । अर्थात् विशद्, अविशद् ज्ञान में होने वाला प्रतिभास भेद स्वविषयक एकत्व का निराकरण नहीं करता है ।

इसलिए "प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वात्" यह हमारा हेतु असिद्ध भी नहीं है तथा "प्रतिभासभेदेपि" यह विशेषण विरुद्ध भी नहीं है; क्योंकि प्रतिभास भेद रूप विशेषण का अभिन्न हेतु से विरोध असिद्ध है अर्थात् प्रतिभास भेद होकर भी किसी जगत् अभिन्नता रह सकती है ।

यौग—ऐक्य ही अव्यतिरिक्त कहलाता है इसलिए यह आपका हेतु साध्य-समदोष से दूषित है; जैसे कि किसी ने कहा है कि "शब्द अनित्य है; क्योंकि निरोध धर्म वाला है । अर्थात् अनित्य धर्म वाला है । यह हेतु साध्यसम है । इसलिए आपका हेतु "गमक" नहीं है ।

जैन—आपका यह कहना असत् है । कथंचित्—(द्रव्यपर्याय रूप से) भी अशक्य विवेचन रूप अभिन्नत्व ही हेतु रूप से प्रयुक्त किया गया है । यहाँ व्यतिरेचन और व्यतिरिक्त का विवेचन यह अर्थ करना, जिसका मतलब भेद है ।

१ ग्रहणाकारस्य । व्या० प्र० । २ सहार्थे भा । व्या० प्र० । ३ एकत्वाविरोधित्वं कथमिति दर्शयन्नाह । व्या० प्र० । ४ कारणविशेषः । व्या० प्र० । ५ ज्ञाननिर्भासभेदेपि । इति पा० । दि० प्र० । ६ स्वार्थस्य । दि० प्र० । ७ भेदात् । इति पा० । दि० प्र० । ७ आह स्याद्वादी यत् एवं ततोव्यतिरिक्तत्वादिति हेतुरसिद्धो नास्ति = तथायमपि हेतुः प्रतिभासभेदेपिति विशेषणेन विरुद्धः कस्मात्प्रतिभासभेदस्य विशेषणस्याव्यतिरिक्तत्वादिति हेतुना सह विरोधासभवात् = अत्राह परः यौगादिः कश्चित् हे स्याद्वादिन् ! तदाभिप्राय एवं किल ऐक्यमेव अव्यतिरिक्तत्वं यतः ततोयं हेतुः साध्येनाभिन्नः कोर्थः साध्यसाधनयोः विशेषो नास्ति यथा शब्दः पक्षो नित्यो भवत्यनित्यत्वात्तस्माद्द्रव्यपर्याययोरैक्यं इत्येतस्याव्यतिरिक्तत्वादिति हेतुः व्यवस्थापको न स्यादिति चेत् । स्या० यदुक्तं त्वया तदुक्तं तदसत्यं कस्मात्कथञ्चित्-प्रकारेणाशक्यविवेचनत्वस्याव्यतिरिक्तत्वस्य हेतुत्वेन प्रयोजनात् । दि० प्र० । ८ साध्यविशिष्टो यतः । व्या० प्र० । ९ एकार्थः । दि० प्र० । १० निर्वचनात् । दि० प्र० ।

त्वम् । इति ^१व्युत्पादनात्तयोरैक्यमेव वस्तुत्वमिति साध्यस्येष्टत्वान्न साध्यमेव हेतुर्यतो न ^२गमकः स्यात् । न ^३चैतदसिद्धमशक्यविवेचनत्वं, विवक्षितद्रव्य^४पर्यायाणां द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यत्वस्य सुप्रतीतत्वाद्देद्यवेदकाकारज्ञानवत् तदाकारयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यत्वस्यैव तस्याभिमतत्वात् । तयोरयुतसिद्धत्वादेवमिति चेत्किमिदमयुतसिद्धत्वं नाम ? न तावद्देशाभेदः, पवनात्पयोस्तत्प्रसङ्गात् । नापि कालाभेदस्तत एव । स्वभावाभेद इति चेन्न सर्वथासौ युक्तो विरोधात् । कथञ्चिच्चैतदेवाशक्यविवेचनत्वम् । स एवाविष्वग्भावः समवायइति परमतसिद्धिः, अन्यथा तस्याघटनात् । पृथगनाश्रयाश्रयित्वं पृथग^५गतिमत्त्वं चायुतसिद्धत्वमित्यपि

जिन द्रव्य और पर्याय में व्यतिरिक्त-भेद नहीं है वह अव्यतिरिक्त है । उन दोनों का भाव अव्यतिरिक्तत्व-अर्थात् अशक्य विवेचनत्व है । इस प्रकार का व्युत्पत्ति अर्थ होने से उन द्रव्य और पर्याय में ऐक्य ही वास्तविक है । वह साध्य रूप से इष्ट है; अतः साध्य ही हेतु नहीं है कि जिससे यह हेतु 'साध्यसम' होकर साध्य का गमक न हो सके । अर्थात् यह हेतु साध्य को सिद्ध करने वाला है ।

हेतु का यह अशक्य विवेचनत्व अर्थ असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि विवक्षित द्रव्य पर्यायों को द्रव्यांतर रूप प्राप्त कराना अशक्य है, ऐसा ही प्रतीति में आ रहा है । जैसे—वेद्यवेदकाकार ज्ञान को भिन्न ज्ञान रूप पृथक्-पृथक् करना अशक्य है, तथैव उन द्रव्य और पर्याय को पृथक्-पृथक् रूप से करना अशक्य है । वेद्याकार और वेदकाकार ज्ञान को भिन्न ज्ञान रूप कराना अशक्य है ऐसा आपने स्वयं स्वीकार किया है ।

शंका—वे वेद्य, वेदकाकार अयुत् सिद्ध-अपृथक् रूप हैं; अतः उनका भिन्न द्रव्य रूप होना अशक्य है ।

समाधान—यदि ऐसा है तब तो यह बताओ, वह अयुत सिद्धत्व है क्या ? अर्थात् क्या यह अयुतसिद्धत्व-देश से अभेद रूप है या काल से अभेद रूप है या स्वरूप से अभेद है ?

१ अशक्यविवेचनत्वादिति हेतुद्रव्यपर्याययोरैक्यमित्येतस्य व्यवस्थापको यतः कुतो न स्यादपितु स्यात् । दि० प्र० ।
 २ किञ्च स्या० वदति । एतदशक्यविवेचनत्वमसिद्धं न कुतः विवक्षितघटादिद्रव्यात् । तदघटरूपादिपर्यायाः अन्यस्मिन् घटादिद्रव्ये नेतुं शक्यते इति सुप्रसिद्धत्वात् = यथादेवदत्तज्ञाने वर्तमानौ वेद्यवेदकाकारौ देवदत्तज्ञानाद्यज्ञदत्तज्ञाने प्रापयितुं न शक्येते इत्येतस्य इष्टत्वात् । दि० प्र० । ३ ता । व्या० प्र० । ४ पृथगनाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिनिश्चानाञ्च पृथगगतिमत्त्वमिति पराभ्युपगतयुतसिद्धिप्रतिषेधरूपतयोक्तमिदमवगन्तव्यम् । व्या० प्र० । ५ यत एवं ततः वेद्यवेदकाकारज्ञानवदिति दृष्टान्तः वेद्यवेदकाकारयोरैक्यमिति साध्यं प्रतिभासभेदेपि वेद्यवेदकाकारयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यत्वादिति साधनं एवं विद्यसाध्यसाधनाभ्यां न विकलः = रूपादिद्रव्यं वैत्यपि दृष्टान्तः प्रमाणोपपन्न एव कुतः प्रतीत्याबाधित-प्रमाणेन सिद्धत्वात् । दि० प्र० ।

नाशक्यविवेचनत्वादन्त्यप्रतिभाति । ततो^१ न साध्यसाधनशून्यमुदा^२हरणमपि । रूपादिद्रव्यं वेत्यप्युदाहरणमुपपन्नं, प्रतीतिसिद्धत्वात्, रूपादिद्रव्ययोः समवाय^३स्याशक्यविवेचनत्वस्यैवाव्यतिरिक्तत्वस्य साधनस्य सद्भावादक्यस्य चैकवस्तुत्वस्य साध्यस्य निर्णतिः । धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाधनात्कालात्यया^४पदिष्टो हेतुरित्यपि न सत्यं, 'तेन^६ धर्मिणोः^७ कथञ्चिद्भिन्नयोरेव ग्रहणात्^८, सर्वथा भिन्नयोर्द्रव्यपर्यायत्वासंभवात् सद्भाविन्ध्यवत् । ननु द्रव्यपर्याययोर्भिन्नयोः कथमभेदो विरोधादिप्रसङ्गादिति चेन्न, तथोपलम्भान्मेचकज्ञानवत् सामान्यविशेषवद्वा । न हि

देश से अभेद होना ही अयुत् सिद्धत्व है ऐसा तो आप कह नहीं सकते अन्यथा से पवन और आतप में भी अयुत् सिद्धत्व हो जायेगा । काल से भी अभेद नहीं है अन्यथा उसी प्रकार से पवन और आतप अयुत् सिद्ध मानने पड़ेंगे ।

यदि आप स्वभाव से अभेद कहो तो भी सर्वथा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि परस्पर विरोध है । हाँ, यदि कथञ्चित् कहो तब तो उसी कथञ्चित् अभेद का नाम ही तो अशक्य विवेचन है और वही-कथञ्चित् स्वभाव से अभेद ही अविष्वग्भाव-अपृथक् भाव रूप समवाय है, इस प्रकार हम जैनियों के मत की ही सिद्धि हो जाती है । अन्यथा-कथञ्चित्पने का अभाव होने से वह समवाय घटित ही नहीं हो सकता है ।

योग—पृथक् रूप से आश्रय-आश्रयी भाव का न होना और पृथक् रूप से अगतिमान् ही अयुत् सिद्धत्व है ।

जैन—यह आपका कथन भी अशक्य विवेचन से कुछ अन्य प्रतिभासित नहीं होता है, अर्थात् यह आपका अयुत्सिद्धत्व, अशक्य विवेचन रूप ही है । इसलिए हमारा उदाहरण भी साध्य साधन शून्य नहीं है । अथवा "रूपादि द्रव्य" यह उदाहरण भी व्यवस्थित ही है; क्योंकि प्रतीति

१ द्रव्यपर्यायो एकं वस्तु प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वात् । यत्प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तं तदेकं यथा वेद्यवेदकज्ञानं रूपादिद्रव्यं वा तथा च द्रव्यपर्यायो न व्यतिरिच्येते । व्या० प्र० । २ कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणस्य । दि० प्र० । ३ अत्राह सौगतः योगो वा हे स्याद्वादिन् ! द्रव्यमनुगताकारेणैव भाति पर्यायः व्यावृत्त्याकारेणैव भातीति पृथक्ग्राहकप्रमाणेन बाधितो हेतुः कालात्ययापदिष्ट इति । स्याद्वाद्याह । इत्यपि न । कुतस्तेनाशक्यविवेचनत्वादिति हेतुना द्रव्यपर्यायो कथञ्चिद्भिन्नो एव गृह्यते यतः । दि० प्र० । ४ धर्मिग्राहकप्रमाणेन । दि० प्र० । ५ भेदाभेदप्रकारेण । दि० प्र० । ६ द्रव्यपर्याययोः । दि० प्र० । ७ स्याद्वादी वदति विवादापन्नो पक्षः द्रव्यपर्यायो न भवतः सर्वथा भिन्नत्वात् यो सर्वथा भिन्नो तो न द्रव्यपर्यायो यथा सप्तवन्धयो सर्वथा चैमो तस्मान्न द्रव्यपर्यायो । दि० प्र० । ८ अत्राह भेदवादी योगः सर्वथाभिन्नयोर्द्रव्यपर्याययोरभेदः कथमप्यभेदो भवति चेत्तदा विरोधादयोऽष्टौ दोषाः प्रसज्यन्ते इति चेन्न कुतः तथोपलम्भान् द्रव्यपर्याययोरभेदः प्रत्यक्षप्रमाणेन दृश्यते । यतः तथा चित्रज्ञानज्ञानयोः कथञ्चिदभेदः । चासामान्य-विशेषयोर्दोषाः कथञ्चिदभेदो दृश्यते तत्र द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेदोपगमे विरोधादयो दोषा न संभवन्ति कुतः ते दोषाः अबाधितप्रमाणेन निषिद्धा यतः = आह परः तथा प्रतीतिरसत्या इत्युक्ते स्या० आह । द्रव्यपर्याययोः तथा प्रतीतिरसत्या न कुतः सर्वदा कथञ्चिदभेदमन्तरेणान्यथा प्रतीतिरसंभवात् । दि० प्र० ।

तत्र विरोधैयधिकरण्यसंशयव्यतिकरसंकरानवस्थाऽप्रतिपत्त्यभावाः प्रसज्यन्ते, तेषां तथा प्रती-
त्यापसारितत्वात् । न च प्रकृतयोस्तथा प्रतीतिरसत्या सर्वदान्यथा^१ प्रतीत्यभावात् । तदेवं
सति^२ ^३विरोधाद्युपालम्भश्चतुरस्रधियां मनो मनागपि न ^४प्रीणयति ^५वर्णादिरप्यभावप्रस-
ङ्गात्^६ । ^७द्रव्यमेवैकं^८, न वर्णादयो, विचारासहत्वाद्दर्णाद्येव^९ वानेकं, न द्रव्यं नाम, तस्य विचा-

से सिद्ध है । रूपादि और द्रव्य इन दोनों में अव्यतिरिक्त, साधन, अशक्य विवेचन समवाय रूप मौजूद हैं और वह साधन, ऐक्य और एक वस्तु रूप साध्य का निर्णय करता है ।

शंका—धर्मी-द्रव्य और पर्याय में भेद को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाधा आने से आपका अव्यतिरिक्तत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट है ।

समाधान—यह कहना भी सत्य नहीं है । वह प्रत्यक्ष प्रमाण कथंचित् भिन्न रूप ही धर्मी-द्रव्य और पर्यायों को ही ग्रहण करता है । क्योंकि सर्वथा भिन्न दो वस्तुओं में द्रव्य और पर्याय का लक्षण ही असंभव है । जैसे कि सर्वथा भिन्न सहाचल और विध्याचल में द्रव्य और पर्यायपना असंभव है ।

शंका—पुनः भिन्न-भिन्न द्रव्य और पर्याय में अभेद कैसे हो सकता है ? विरोधादि दोषों का प्रसंग आ जावेगा ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना ! क्योंकि उस प्रकार भेदाभेद रूप से ही उपलब्धि होती है ।
मेचक—चित्र ज्ञान के समान, अथवा सामान्य-विशेष के समान । उन द्रव्य और पर्याय में विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, व्यतिकर, संकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दोषों का प्रसंग नहीं आता है । क्योंकि जिस प्रकार से चित्र ज्ञान में भेदाभेद रूप दोनों की प्रतीति आती है, उसी प्रकार से द्रव्य और पर्याय में भेदाभेद रूप प्रतीति के होने से इन दोषों का निराकरण हो जाता है ।

इन द्रव्य और पर्याय में होने वाली भेदाभेद रूप प्रतीति असत्य भी नहीं है । क्योंकि हमेशा ही भेदाभेद-प्रतीति को छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार की प्रतीति का अभाव है ।

१ भेदाभेदव्यतिरेकेण । दि० प्र० । २ आह स्याद्वादी एवं सत्यभेदोपलम्भन्ते सत्यपि विरोधाद्यष्टदोषदर्शनमारोप्यते चेत्यरेण स्यात्तदाविरोधाद्युपलम्भो विदुषां मनो न परितोषयति प्रीणयति चेत्तदा प्रत्यक्षदृश्यमानां योगसौगताभ्युपगतानां वर्णादिर्यायाणामभावः प्रसजति सांख्यः सौगतमाह । एकमेव द्रव्यं भाति न वर्णरसादयः । कुतो विचाराक्षमत्वात् = तथा सौगतः सांख्यमाह । अनेकं वर्णाद्येव भाति न तु द्रव्यं कुतः तद्द्रव्यं विचार्यमाणं सत् सर्वथा नोत्पद्यते यतः । एवं सर्वथैकत्वानेकत्वव्यवस्थापको सांख्यसौगतौ परस्परं न वर्तेते । कुतः । उभयत्र दूषणसमाधानयोः तुल्यत्वात् । द्वयोर्द्रव्यपर्याययोरपि अर्थस्वभावे न संबन्धात् = द्रव्यमर्थधर्मः पर्यायोऽर्थधर्मः । दि० प्र० । ३ दोषः । दि० प्र० । ४ तुष्टि न नयति । व्या० प्र० । ५ रसादि । व्या० प्र० । ६ न केवलं द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदेकत्वस्य । व्या० प्र० । ७ एतदेव भावयन्नाह । दि० प्र० । ८ ब्रह्माद्वैतवादी । व्या० प्र० । ९ सौगतः । दि० प्र० ।

यमाणस्य 'सर्वथानुपपत्तेरित्येकत्वानेकत्वैकान्तौ^३ नान्योन्यं विजयेते, दूषणसमाधानयोः समानत्वात्^४, द्वयोरपि भावस्वभावप्रतिबन्धात् । द्रव्यैकत्वस्य 'भावस्वभावस्यैकान्तिकस्य प्रत्यक्षादिविरोधात् वर्णादिपर्यायैकान्तस्वभावस्य 'चाबाधितप्रत्यभिज्ञाननिराकृतत्वात्^५ सिद्धं द्रव्यपर्याययोः कथंचिदैक्यम् ।

इस प्रकार से द्रव्य और पर्याय में ऐक्य के सिद्ध हो जाने पर यह विरोध वैयधिकरण्य आदि दोष रूप उपालंभ चतुत्रबुद्धि सहित बुद्धिमान् पुरुषों के ज्ञान को किञ्चित्मात्र भी संतुष्ट नहीं कर सकते हैं, अन्यथा वर्णादि पर्याय वाले वर्णादिमान् द्रव्य के भी अभाव का प्रसंग आ जायेगा ।

भावार्थ—कवि—नूतन संदर्भ-रचना करने वाला कवि है । गमकी-शास्त्रबोधक कृतियों में भेद करने वाला है । वादी-वाक् प्रवृत्ति से अन्य प्रतिवादियों को जीतने वाला है और वाग्मी-जनों को अनुरजित करने वाला वाग्मी कहलाता है । ये कवि, गमक, वादी और वाग्मी रूप अस्त्र अवयव, वे अवयव ही बुद्धि हैं जिनके वे चतुस्त्रधी सहित विद्वान् कहलाते हैं । ऐसे बुद्धिमान् लोग प्रत्येक द्रव्य पर्यायों को कथंचित् भेद रूप और कथंचित् अभेद रूप ही अनुभव करते हैं ।

कोई कहे कि द्रव्य ही एक है, वर्णादि रूप अनेक पर्यायों नहीं हैं । क्योंकि वे विचार की कसीटी पर नहीं उतरती हैं ।

अथवा कोई कहे कि—वर्णादि रूप पर्यायों ही अनेक हैं, द्रव्य नाम की कोई एक चीज नहीं है । क्योंकि उस एक द्रव्य का विचार करने पर सर्वथा सिद्धि नहीं हो पाती है ।

इस प्रकार से द्रव्यैकत्व रूप एकांत मानने वाले और पर्याय रूप अनेकत्व को मानने वाले ब्रह्माद्वैतवादी और सौगत दोनों ही परस्पर में एक-दूसरे को जीत नहीं सकते हैं । क्योंकि दूषण और समाधान दोनों जगह ही समान रूप हैं । कारण कि निरपेक्ष रूप द्रव्य और पर्याय दोनों भी भाव स्वभाव के प्रतिबंधी हैं । एकांत रूप से भाव स्वभाव रूप द्रव्यैकत्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है । एकांत स्वभाव रूप वर्णादि पर्यायों का भी अबाधित प्रत्यभिज्ञान से खण्डन कर दिया गया है । अर्थात् जो मैंने पूर्व में देखा था, उसी का स्पर्श कर रहा है । इस प्रकार का अबाधित प्रत्यभिज्ञान पूर्वोत्तरवर्ती एक ही पदार्थ को विषय करता है । अतएव द्रव्य और पर्याय में कथंचित् एकत्व सिद्ध हो जाता है ।

1 इति किं भवतीत्याह । व्या० प्र० । 2 द्रव्यत्व । व्या० प्र० । 3 पर्यायत्व । दि० प्र० । 4 त्वन्मतामृतबाह्याना-मित्येतकारिकाव्याख्याने चित्रज्ञानवत्कथञ्चिदसंकीर्णविशेषकात्मन इति भाष्यविवरणावसरे वेदान्तनिराकरणावसरे चैकत्वस्य निराकृतत्वात् सर्वात्मकं तदेकं स्यादिति कारिकाव्याख्याने द्रव्यमेव स्यान्न रूपादयो द्रव्यादिनानेकत्वस्य निराकृतत्वाद्ब्रह्मसंक्षेपेणोक्तम् । दि० प्र० । 5 स्या० एकान्तेन भावस्वभावः द्रव्यैकत्वं प्रत्यक्षप्रमाणेन विरुद्धत इति सांख्यं प्रति = तथैकान्तेन रूपादिपर्यायाभावः स्वभावाः प्रमाणोपन्नप्रत्यभिज्ञानेन निराकृता यतः । इति सौगतं प्रति = यत एवं ततो द्रव्यपर्याययोः कथंचिदैक्यसिद्धम् = आह परः तर्हि भेदः कथं सिद्ध इत्युक्त आह । दि० प्र० । 6 भा । दि० प्र० । 7 ततश्च । दि० प्र० ।

[द्रव्यपर्यायोः कथञ्चित् भेदोऽपि वर्तते जैनाचार्याः साधयन्ति ।]

भेदः कथं सिद्धः ? इत्युच्यते, ¹यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं तद्भिन्नलक्षणं, यथा रूपादि, तथा च द्रव्यपर्यायो, ²तस्माद्भिन्नलक्षणावित्यनुमानात् ³परस्परविविक्तस्वभावपरिणामौ हि द्रव्यपर्यायो, द्रव्यस्यानाद्यनन्तैकस्वभाववैश्रसिकपरिणामत्वात् पर्यायस्य च ⁴साद्यन्तानेकस्वभावपरिणामत्वात् । ततो नासिद्धः परिणामविशेषादिति हेतुः । ⁵एतेन ⁶शक्तिमच्छक्तिभावः⁷ सिद्धः कथितः । परस्परविविक्तस्वभावसंज्ञासंख्याविशेषौ च द्रव्यपर्यायो, द्रव्ये ⁸द्रव्यमिति, पर्याये पर्याय⁹ इत्यन्वर्थसंज्ञायाः प्रसिद्धेः, एकं द्रव्य-

[जैनाचार्य द्रव्य और पर्यायों में कथञ्चित् भेद को भी सिद्ध कर रहे हैं ।]

शंका—पुनः इन दोनों में भेद कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—जो परस्पर में भिन्न स्वभावरूप परिणाम, संज्ञा, संख्या, प्रयोजन आदि हैं वे भिन्न-भिन्न लक्षण हैं । जैसे—रूपादि एवं उसी प्रकार से द्रव्य और पर्याय हैं । इसलिए वे भिन्न लक्षण वाले हैं ।

इस अनुमान से परस्पर भिन्न स्वभाव-रूप परिणाम वाले ही द्रव्य और पर्याय हैं, यह सिद्ध किया है । क्योंकि द्रव्य तो अनादि अनंत एक स्वभावरूप वैश्रसिक परिणाम वाला है और पर्यायों सादि सांत रूप अनेक स्वभाव रूप परिणाम वाली हैं । इसलिये उपर्युक्त अनुमान में “परिणाम विशेषात्” यह हेतु असिद्ध भी नहीं है । यह हेतु कारिका में दिया गया है । इसी कथन से द्रव्य पर्याय में शक्तिमान् शक्तिभाव भी सिद्ध है ऐसा कहा गया है । द्रव्य और पर्याय परस्पर में भिन्न-भिन्न स्वभाव संज्ञा, संख्या विशेष रूप हैं । क्योंकि द्रव्य में ‘द्रव्य’ एवं पर्याय में ‘पर्याय’ इस प्रकार की अन्वर्थ संज्ञा-नाम प्रसिद्ध ही है । द्रव्य ‘एक है’ इस प्रकार से एकत्व संख्या तथा पर्यायों बहुत हैं, इस

1 वसः । व्या० प्र० । 2 द्रव्यपर्यायो पक्षः कथञ्चिद्भिन्नौ भवत इति साध्यो धर्मः परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकत्वात् । यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं तद्भिन्नलक्षणं यथारूपरसादिकं परस्परं परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं द्रव्यपर्यायो तस्माद्भिन्नो इत्यनुमानाद्द्रव्यपर्यायोर्भेदेः सिद्धः । दि० प्र० । 3 द्रव्यपर्यायो पक्षः कथञ्चिद्भिन्नौ भवत इति साध्यो धर्मः परस्परविविक्तस्वभावपरिणामत्वात् यथा रूपादि—परिणामविशेषादिति हेतुरसिद्धो न कुतोनाद्यनन्तैकस्वभाववैश्रसिकपरिणामं यतः । पर्यायः सादिसान्तोऽनेकस्वभावपरिणामो यतः । दि० प्र० । 4 आद्यन्ताभ्यां सह वर्तते इति साद्यन्तः । दि० प्र० । 5 असिद्धत्वनिराकरणेन । व्या० प्र० । 6 एतेन परिणामविशेषादिति हेतुना द्रव्यपर्यायोर्भिन्नत्वव्यवस्थापनद्वारेण शक्तिमच्छक्तिभावत्वादिति हेतुरसिद्धोऽभाषि द्रव्यपर्यायो कथञ्चिद्भिन्नौ परस्परविविक्तस्वभावसंज्ञासंख्याविशेषत्वादिति हेतुद्वयम् । दि० प्र० । 7 समनन्तरोक्तपरिणामवतो द्रव्यस्य शक्तिमत्त्वात् समनन्तरोक्तं परिणामवतः पर्यायस्य च शक्तित्वात् । दि० प्र० । 8 द्रवति द्रोष्यत्यदुद्बुद्धिदिति द्रव्यम् । व्या० प्र० । 9 पर्यनुक्रमेणायाति वर्तते तस्येति पर्यायः । व्या० प्र० ।

मित्येकत्वसंख्यायाः, पर्याया बहव इति बहुत्वसंख्यायाश्चनुपचरितायाः प्रसाधनात् । ततः संज्ञा-
संख्याविशेषाच्चेत्यपि नासिद्धं साधनम् । ¹द्रव्यस्यैकत्वान्वयज्ञानादिकार्यत्वात् पर्यायस्यानेक-
त्वव्यावृत्तिप्रत्ययादिकार्यत्वान्न तयोः परस्परविविक्तस्वभावप्रयोजनत्वमसिद्धम् । द्रव्यस्य
त्रिकालगोचरत्वात्² पर्यायस्य वर्तमानकालत्वाद्भिन्नकालत्वमपि न तयोरसिद्धं भिन्नप्रतिभा-
सवत् । ततः प्रसिद्धाद्धेतोर्भिन्नलक्षणत्वं ³तयोः सिध्यत्येव । इति स्वलक्षणविशेषतस्तन्नानात्वं
सिद्धम् । ⁴स्वमसाधारणं लक्षणं स्वलक्षणम् । तस्य विशेषो लक्ष्याविनाभावित्वं, ⁵तत एव
तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः ।

प्रकार से बहुत्व संख्या अनुपचरित-प्रधान रूप हैं, यह बात प्रथम परिच्छेद के अंत में सिद्ध की गई है। इसलिये “संज्ञा, संख्या विशेषाच्च” कारिका में कहा गया यह हेतु भी असिद्ध नहीं है। क्योंकि द्रव्य एकत्व, अन्वय और ज्ञानादि कार्य रूप हैं और पर्यायों अनेकत्व, व्यावृत्ति प्रत्यय कार्य रूप हैं। इन दोनों द्रव्य पर्यायों में परस्पर भिन्न स्वभाव प्रयोजनत्व हेतु असिद्ध नहीं है।

द्रव्य त्रिकाल गोचर रूप है और पर्यायों वर्तमान काल वाली हैं। इसलिये भिन्न प्रतिभास के समान भिन्न कालत्व भी इन दोनों का असिद्ध नहीं है। अतः इस प्रसिद्ध हेतु से इन दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण सिद्ध ही हो जाता है और स्वलक्षण विशेष से उन दोनों में नातापना भी सिद्ध ही है।

स्व-असाधारण लक्षण को स्वलक्षण कहते हैं। द्रव्य पर्याय रूप लक्ष्य के साथ अविनाभावी-पना ही उसका विशेष है। इसलिये ही उसका लक्षण बन जाता है।

1 द्रव्यपर्यायो पक्षः स्यादिभ्रमो भवत इति साध्यम् । प्रयोजनभेदादिति हेतुः । द्रव्यमेकत्रान्वयज्ञानादिकं जनयति । इति द्रव्यप्रयोजनं पर्यायोनेकत्वव्यावृत्तिज्ञानादिकं जनयति । इति पर्यायप्रयोजनम् । एवं द्रव्यपर्याययोः परस्परवि-
विक्तस्वभावप्रयोजनत्वं ससन्देहं नास्ति = द्रव्यपर्यायो स्यादिभ्रमो भवतः भिन्नकालात् । द्रव्यं त्रिकालगोचरपर्यायो । वर्तमानविषयोतो भिन्नकालादिति हेतुरसिद्ध । यथा भिन्नप्रतिभासो हेतुः = द्रव्यपर्यायो पक्षः कथञ्चिदिभ्रमो भवत इति साध्यो धर्मः भिन्नप्रतिभासादिति हेतुः द्रव्यं द्रव्यरूपेण प्रतिभासते पर्यायः पर्यायरूपेण । दि० प्र० । 2 प्रयोजनादि-
भेदादित्यत्रादिशब्देन लभ्यमेतत् । व्या० प्र० । 3 द्रव्यपर्याययोः । दि० प्र० । 4 द्रव्यपर्यायो पक्षः भिन्नो भवतः स्वलक्षणविशेषत इति हेतुः अतः परं स्याद्वादी स्वलक्षणविशेषं व्याख्याति स्व इत्यसाधारणं लक्षणं स्वलक्षणं तस्य स्वलक्षणस्य विशेषलक्ष्याविनाभावित्वम् । तत एव लक्ष्याविनाभावित्वादेव तस्य स्वलक्षणस्य लक्षणत्वमुपपद्यते = यथोपयोगो लक्षणं जीवस्येति वचनादुपयोगः स्वलक्षणं तस्य लक्ष्यभूतेन जीवेन सह अविनाभावित्वमिति विशेषः । दि० प्र० : 5 लक्ष्येषु सर्वत्रवर्तमानं । ननु लक्ष्यैकदेशे वर्तमानस्य साधारणत्वेपि लक्षणत्वायोगात् । व्याप्तिसद्भावात् प्रदीपप्रभामण्डले प्रवर्तमानाग्नौवन्यवत् । दि० प्र० ।

[वस्तुनो लक्षणमसाधारणरूपमिति साध्यमिति जैनाचार्याः ।]

¹नन्वसाधारण² रूपं ³वस्तुनो लक्षणमित्युच्यमाने सर्वं भिन्नं प्रमेयत्वादित्यनुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वप्रसङ्ग इति चेन्न, ⁴कर्मतया⁵ प्रमितिजनकत्वस्य प्रमेयत्वस्यानुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वाविरोधात् सत्त्ववत् । सद्वस्तुलक्षणम्, “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” इति वचनात् । ननु च ⁶यन्न सन्न तद्वस्तु, यथा शशविषाणमिति विपक्षस्यासत्⁷ सिद्धेनानुपसंहार्यं सत्त्वं सपक्षविपक्षरहितस्य पक्षव्यापिनोनुपसंहार्यत्वादिति चेत् तत एव प्रमेयत्वमप्यनुपसंहार्यं मा भूत्, खरविषाणस्यासतो ⁸भिन्नत्वानाश्रयस्य कर्मत्वेन प्रमित्यजनकस्याप्रमेयस्य विपक्षस्य भावात् । सर्वशब्देन सतोसतश्च ग्रहणान्न तस्य विपक्षत्वमिति चेत्तर्हि सद्ग्रहणेन भावस्य भावा-

[वस्तु का लक्षण असाधारण रूप है, ऐसा जैनाचार्य सिद्ध करते हैं]

शंका—वस्तु का लक्षण असाधारण रूप होता है ऐसा कहने पर तो “सभी भिन्न हैं क्योंकि प्रमेय हैं ।” इस प्रकार से सपक्ष-विपक्ष से रहित अनुपसंहार्य हेतु भी लक्षण हो जावेगा । अर्थात् सभी को पक्ष में ले लेने से सपक्ष और विपक्ष दोनों का ही अभाव हो गया और असाधारणपने का सद्भाव होने से वह लक्षण बन जायेगा, तथा लक्ष्य का गमक भी हो जावेगा, किन्तु ऐसा नहीं है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना; क्योंकि कर्म रूप से प्रमिति को उत्पन्न करने वाला अनुपसंहार्य (सपक्ष-विपक्ष रहित) भी प्रमेयत्व हेतु लक्षण हो सकता है ।

इसमें कोई विरोध नहीं है, जैसे कि सत्त्व हेतु वस्तु का लक्षण हो जाता है । वस्तु का लक्षण सत् है और वह “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” ऐसा सूत्रकार का वचन है ।

यौग—जो सत् नहीं है वह वस्तु भी नहीं है । जैसे—खरगोश का सींग । सत् का विपक्ष असत् सिद्ध है इसलिये सत्त्व हेतु अनुपसंहार्य नहीं है । क्योंकि जो हेतु सपक्ष और विपक्ष से रहित है तथा पक्ष में व्यापी है वह अनुपसंहार्य कहलाता है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो उसी प्रकार से प्रमेयत्व हेतु भी अनुपसंहार्य मत होवे । भिन्न

1 स्वसाधारणरूपम् । इति पा० । दि० प्र० । 2 आह परः स्वमिति वस्तुनः साधारणरूपं लक्षणं स्वलक्षणं सर्वं पक्षो भिन्नं भवतीति साध्यं प्रमेयत्वात् = उपसंहृतुं योग्यमुपसंहार्यं नोपसंहार्यमनुपसंहार्यं पृथक्कर्तुमशक्यं प्रमेयत्वादित्यनुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वं प्रसजतीति चेत् । दि० प्र० । 3 स्वरूपम् । दि० प्र० । 4 स्याद्वाद्याह हे पर यदुक्तं त्वया तन्न कुतः प्रमेयत्वं प्रमिति स्वार्थनिश्चितं फलज्ञानमुत्पादयत्यतः प्रमेयत्वं कार्यरूपं जातं कार्यत्वेन कृत्वाऽनुपसंहार्यस्यापि प्रमेयत्वस्य लक्षणत्वं न विरुद्धयते यतः यथा सत्त्वस्य कार्यतयाऽनुपसंहार्यस्य लक्षणत्वं न विरुद्धयते उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदित्यागमात्सद्वस्तुलक्षणम् = आह = परः अहो स्याद्वादिन् यत्सन्नास्ति तद्वस्तु नास्ति यथा शशविषाणमिति विपक्षस्यासत्त्वस्य संभवात् । न चाभ्युपगतं सत्त्वमनुपसंहार्यं न भवति कुतः सपक्षविपक्षाभ्यां रहितस्य पक्षव्यापकस्यानुपसंहार्यत्वं सिद्धयति यत इति चेत् । दि० प्र० । 5 प्रमाणविषयभूततया = साध्यस्य । दि० प्र० । 6 ननु यन्न इति पा० । दि० प्र० । 7 अभावरूपस्य । व्या० प्र० । 8 साध्यस्य । व्या० प्र० ।

न्तरस्वभावप्रागभावादेश्च स्वीकरणात् कस्यचित् तद्विपक्षत्वं मा भूत् । ¹पराभ्युपगतस्या-
नुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तस्य विकल्पबुद्धिप्रतिभासिनो विपक्षत्वे सदसद्वर्गाभावस्य पराभ्युपगतस्या-
प्रमाणविषयस्य विपक्षत्वमस्तुसर्वथा विशेषाभावात् । इति नानुपसंहार्यस्य संभवो, यतः पक्ष-
व्यापिन एवासाधारणस्य ²वस्तुलक्षणत्वं न स्यात्, विद्यमानयोरविद्यमानयोर्वा सपक्षविपक्ष-
योरसतः पक्षव्यापिनोसाधारणत्ववचनात् । एतेन पक्षाव्यापकस्यासाधारणत्वं प्रत्युक्तं, ³तस्या-
साधारणैकदेशत्वाल्लक्षणत्वायोगादग्नेरुष्णत्ववत्⁴ । न हि तत् सकलाग्निव्यक्तिष्वस्ति प्रदीप-
प्रभादिष्वनुद्भूतोष्णस्पर्शेष्वभावात्⁵ । न ⁶चानुद्भूतमपि लक्षणं युक्तमप्रसिद्धत्वात् । यदि
पुनरुष्णस्पर्शयोग्यत्वं पावकस्य लक्षणं स्यान्न कश्चिद्दोषः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्वसिद्धेः ।

रूप साध्य के आश्रय से रहित असत् रूप खर-विषाण कर्म रूप से (प्रमाण के विषय रूप से) प्रमिति
को उत्पन्न करने वाला न होने से अप्रमेय रूप जो विपक्ष है उसका सद्भाव देखा जाता है ।

शंका—“सभी भिन्न हैं” क्योंकि प्रमेय रूप है इसमें ‘सर्व शब्द’ के द्वारा सत्, असत् दोनों का
ग्रहण ही जाता है । इसलिये उस खरविषाण का कोई विपक्ष नहीं है ।

समाधान—यदि ऐसा कहो तब तो ‘सत्’ के ग्रहण करने से भाव और भावांतर स्वभाव
वाले प्रागभाग आदि का ग्रहण ही जाता है । पुनः कोई भी असत् उस सत्त्व का विपक्ष नहीं
हो सकेगा ।

शंका—पर के द्वारा स्वीकृत उत्पाद व्यय ध्रौव्य से रहित सत्त्व विकल्प बुद्धि में प्रतिभासित
होता है । वह विपक्ष है । अर्थात् सांख्यों ने सत्त्व को उत्पाद व्यय से रहित माना है और सौगत
ने सत्त्व को ध्रौव्य से रहित माना है । ये पराभ्युगत सत्त्व विकल्पबुद्धि यानि असत्य बुद्धि में ही
प्रतिभासित होते हैं । अतः पर के द्वारा स्वीकृत अनुत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् विकल्प बुद्धि में
प्रतिभासित होने वाला है । वे ही पदार्थ सत्त्व हेतु के विपक्षी हैं ऐसा स्वीकार किया गया है ।

जैन—तब तो सद्वर्ग, असत्वर्ग से रहित अर्थात् वैशेषिक के यहाँ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य
विशेष और समवाय, ये सद्वर्ग कहलाते हैं और प्रागभावादि असद्वर्ग कहलाते हैं । उन दोनों के
अभाव रूप तुच्छा भाव हैं जो कि तत्त्वोपप्लववादी के द्वारा मान्य हैं एवं प्रमाण का विषय नहीं हैं
वही प्रमेयत्व की अपेक्षा से विपक्ष रूप हो जावे क्या बाधा है ? क्योंकि सत्त्व और प्रमेयत्व में इस
प्रकार से कोई अन्तर नहीं है ।

अतएव अनुपसंहार्य दोष संभव नहीं है कि जिससे पक्ष व्यापी हेतु ही असाधारण रूप से
वस्तु का लक्षण न हो सके । अर्थात् होगा ही ।

- 1 सांख्यैः सौगतैश्च । व्या० प्र० । 2 सर्वं वस्तु लक्ष्यं प्रमेयत्वात् । व्या० प्र० । 3 एकदेशेन पक्षाव्यापकस्य लक्षणस्य
व्या० प्र० । 4 यस्त् । व्या० प्र० । साधारणैकदेशत्वायोगात् । इति पा० । दि० प्र० । 5 उष्णत्व लक्षणस्य ।
व्या० प्र० । 6 प्रदीपप्रभावामनुद्भूतमौष्णमस्तीत्युक्ते सत्याह । व्या० प्र० ।

एतेनाविद्यमाने ¹विपक्षोऽसतोऽसंभवत्सपक्षस्यासाधारणत्वमुपदर्शितं प्रत्येयम् । विद्यमाने च ²सपक्षोऽसतोऽसंभवद्विपक्षस्य पक्षव्यापिनोऽसाधारणस्य लक्षणत्वमविरुद्धं शब्दस्यानित्यत्वे श्रावणत्ववत् । न हि तद् घटादावनित्ये सपक्षे विद्यमानेप्यस्ति । नाप्यस्य विपक्षो नित्यैकान्तः संभवति, शब्दत्वस्यापि सदृशपरिणामलक्षणस्य कथंचिदनित्यत्वात्, शब्दाभावस्य च शब्दान्तरस्वभावस्येतरैतराभावप्रध्वंसाभावरूपस्यानित्यत्वात् पक्षादन्यत्वानुपपत्तेः । अशब्दात्मनोऽश्रावणत्वात्³ साधीय एव श्रावणत्वं शब्दस्य लक्षणं, शब्दात्मकत्वाभावेऽनुपपद्यमानत्वात् । इत्यन्यथानुपपद्यमानरूपं पक्षव्यापि लक्षणमनवद्यत्वात् ।

सपक्ष और विपक्ष विद्यमान हैं अथवा अविद्यमान हैं । उन दोनों में रहने वाला असत् हेतु जो कि पक्ष व्यापी है उसे असाधारण कहा गया है । इस कथन से जो पक्ष में अव्यापक हेतु को वस्तु असाधारण लक्षण कहते हैं । उनका खण्डन कर दिया गया है । क्योंकि वह पक्ष के एक देश में व्यापक होने से असाधारण का एक देश रूप है ; अतः वह लक्षण नहीं बन सकता है । जैसे कि उष्णत्व अग्नि का असाधारण होते हुए भी लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि लक्ष्य के एक देश में उसकी वृत्ति है ।

वह उष्णत्व सम्पूर्ण अग्नि विशेषों में नहीं है । प्रकट नहीं हुआ है । उष्ण स्पर्श जिनमें ऐसे प्रदीप की प्रभा आदिकों में उष्णत्व का अभाव है । एवं अनुद्भूत भी उष्णत्व को लक्षण कहना युक्त नहीं है क्योंकि अप्रसिद्ध है ।

यदि पुनः उष्ण स्पर्श की योग्यता ही अग्नि का लक्षण किया जावे तब तो पक्षी व्यापी नाम का कोई दोष नहीं आ सकता है क्योंकि वही पक्ष व्यापी असाधारण लक्षण बन जायेगा ।

इसी कथन से विपक्ष से अविद्यमान के होने पर असत् रूप हेतु में सपक्ष असंभव है अतः वह असाधारण है ऐसा कहा गया समझना चाहिये और सपक्ष के विद्यमान रहने पर असत् हेतु में विपक्ष असंभव है अतः वह भी पक्ष में व्यापी होने से असाधारण लक्षण अविरुद्ध है । जैसे शब्द का अनित्यत्व साध्य करने में श्रावणत्व हेतु देना । इस हेतु में सपक्ष, विपक्ष का अभाव होने पर भी पक्ष में व्यापकत्व सिद्ध है । अतः यह लक्षण बन जाता है । वह श्रावणत्व हेतु घटादि अनित्य सपक्ष के विद्यमान रहने पर भी उनमें नहीं है और नित्यैकांतरूप विपक्ष भी इसका संभव नहीं है । क्योंकि सदृश परिणाम-लक्षण सामान्य शब्दत्व भी कथंचित्—पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है ।

यदि आप कहें कि शब्द का अभाव विपक्ष हो सकता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि वह शब्दाभाव या तो शब्दान्तर स्वभाव होगा या इतरैतराभाव रूप होगा, या प्रध्वंसाभाव रूप होगा, कैसे भी क्यों न हो वह अनित्य रूप ही होगा पुनः अनित्य पक्ष से भिन्न नहीं हो सकता है ।

यदि शब्दाभाव को सर्वथा तुच्छाभाव रूप अशब्दात्मक कहोगे तब तो वह अश्रावणत्व हो

1 लक्षणस्य । व्या० प्र० । 2 लक्षणस्य । दि० प्र० । 3 ततश्च । व्या० प्र० ।

[द्रव्यपर्याययोर्लक्षणं भिन्नमेवेति स्पष्टयन्ति जैनाचार्याः ।]

तत्र द्रव्यस्य लक्षणं गुणपर्ययवत्त्वं, “गुणपर्ययवद्द्रव्यम्” इति वचनात्, क्रमाक्रमभाविवचित्रपरिणामाभावे द्रव्यस्य लक्षयितुमशक्तेः, द्रव्यस्थापाये गुणपर्ययवत्त्वस्यानुपपत्तेः कार्य-द्रव्ये घटादिविशेषे गुणवत्त्वस्य^१ भावान्नवपुराणादिपर्याययोगित्वस्य च^२ भावान्नाव्याप्तिर्लक्षणस्य ।^३ नाप्यतिव्याप्तिः, ^४स्पर्शादिविशेषेषु क्रमजन्मसु पर्यायेषु स्पर्शादिसामान्येषु सहभाविषु गुणेषु चाभावात् । तथा पर्यायस्य तद्भावो लक्षणं, “तद्भावः परिणाम” इति वचनात् । तेन तेन प्रतिविशिष्टेन^५ रूपेण भवनं हि परिणामः, सहक्रमभाविष्वशेषपर्यायेषु तस्य^६ भावादव्या-

जायेगा, जो कि शब्द का लक्षण ही नहीं बनेगा अतः श्रावणत्व ही शब्द का लक्षण है ऐसा सिद्ध हो जाता है । क्योंकि शब्दात्मकत्व के अभाव में वह श्रावणत्व लक्षण बन ही नहीं सकता है । इसलिये अन्यथानुपपत्ति रूप, पक्षव्यापी ही लक्षण है क्योंकि वह निर्दोष है । यह बात सिद्ध हो गई है ।

[द्रव्य और पर्याय इन दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं । इस बात को जैनाचार्य स्पष्ट करते हैं]

अब द्रव्य और पर्याय इन दो में से द्रव्य का लक्षण कहते हैं । द्रव्य का लक्षण गुण, पर्यायवान् है “गुणपर्ययवद् द्रव्य” इस प्रकार से भी सूत्रकार का वचन है । क्रम एवं अक्रम से होने वाले विचित्र परिणाम के अभाव में द्रव्य का लक्षण करना अशक्य है एवं द्रव्य के अभाव में “गुण पर्ययवत्त्व” उसका लक्षण भी नहीं बन सकेगा । क्योंकि कार्य द्रव्य घटादि विशेष में ही गुणवत्त्व का सद्भाव है और नयी-पुरानी आदि पर्यायों का योग भी मौजूद है । अतः यह लक्षण अव्याप्त नहीं है । अतिव्याप्ति दोष भी इसमें नहीं है । क्योंकि स्पर्शादि विशेष रूप क्रमवर्ती पर्यायों में और स्पर्शादि सामान्य रूप सहभावी गुणों में इस “गुण पर्ययवत्त्व” लक्षण का अभाव है ।

इस प्रकार से पर्याय का ‘उस रूप होना’ यह लक्षण है, “तद्भावः परिणामः” यह सूत्रकार का वचन है । उस-उस प्रतिविशिष्ट रूप में होना ही परिणाम है । सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायों कहलाती हैं । इन सहक्रम भावी अशेष गुण पर्यायों में यह तद्भाव लक्षण मौजूद है । अतः इस लक्षण में अव्याप्ति दोष असंभव है । क्योंकि उस लक्षण के अभाव में द्रव्य में वे परिणाम विशेष (सहभावी क्रमभावी) हो ही नहीं सकते हैं ।

१ रूपादि । व्या० प्र० । २ लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्य वृत्तिरव्याप्तिः । व्या० प्र० । ३ लक्ष्यवृत्तिर्लक्ष्यान्तरगमनमतिव्याप्तिः । व्या० प्र० । ४ स्या० वदति क्रमभाविषु स्पर्शादिविशेषेषु पर्यायेषु तथा सहभाविषु स्पर्शादिसामान्येषु गुणेषु च द्रव्य-लक्षणस्याभावादिति व्याप्तिर्नामदोषो नास्ति = द्रव्यस्य गुणपर्यायवद्द्रव्यमिति लक्षणं प्रतिपाद्य पर्यायलक्षणमाह । तद्भावः पर्यायस्य लक्षणं तद्भावः परिणाम इति सूत्रकारमतात् । तद्भाव इति कोर्थस्तेन तेन रूपरसादिभेदभिन्नेन रूपेण भवनं भावस्तद्भाव इति परिणामः पर्यायं कुतः सहक्रमभाविषु सकलपर्यायेषु तस्य परिणामस्य सद्भावात् । अव्याप्तिनामा दोषो न संभवति यतः = द्रव्ये द्रव्यविषये तत्रस्य परिणामस्याभावे सति तत्तस्यातिव्याप्तैरनुत्पादात् । दि० प्र० । ५ नियतेनासाधारणेनेति । दि० प्र० । ६ परिणामस्य । दि० प्र० ।

प्यसंभवात्^१, ^२तदभावे च द्रव्ये तदनुपपत्तेः । इति ^३प्रमाणसिद्धं^४ भिन्नलक्षणत्वं द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिन्नानात्वं साधयति, रूपाद्युदाहरणस्यापि साध्यसाधनवैकल्याभावात्, कथञ्चिन्ना^५नात्वेन व्याप्तस्य भिन्नलक्षणत्वस्य परस्परविविक्तस्वभावपरिणामादित्वेन साधनात् । रूपादेर्हि लक्षणं ^६रूपादिबुद्धिप्रतिभासयोग्यत्व^७ भिन्नं प्रसिद्धं ^८कथञ्चित्तन्नानात्वं चेति^९ निरवद्यमुदाहरणम् । ननु च भिन्नलक्षणत्वं स्यान्नानात्वं च न स्याद्विरोधाभावात्^{१०} । ततः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुरिति न शङ्कनीयं, ^{११}विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभ्यां च वस्तु-

इस प्रकार से प्रमाण से सिद्ध भिन्न लक्षणत्व, द्रव्य और पर्याय को कथञ्चित् भिन्न-भिन्न सिद्ध कर देता है । हमारा “रूपादि” उदाहरण भी साध्य साधन से विकल नहीं है । कथञ्चित् नानापने से व्याप्त ऐसे भिन्न लक्षणत्व व्याप्य को परस्पर भिन्न स्वभाव, परिणाम, संज्ञा, संख्या, प्रयोजनादि रूप से सिद्ध कर देता है ।

रूपादि ज्ञान में प्रतिभास की योग्यता, यह रूपादि का भिन्न लक्षण प्रसिद्ध है और कथञ्चित् वे रूपादि नाना रूप हैं । यह भी प्रसिद्ध है । इसलिये यह उदाहरण निर्दोष है ।

सांख्य—द्रव्य और पर्याय में भिन्न लक्षण होवे, किन्तु परस्पर में उनमें भेद नहीं होवे । इसमें कोई विरोध नहीं है । अतः आपके परिणाम—विशेषाच्च इत्यादि हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक हैं ।

जैन—आपको ऐसी शंका नहीं करना चाहिये । विरुद्ध धर्माध्यास और अवाध्यमान् बुद्धि के प्रतिभास भेद से वस्तु में स्वभाव भेद सिद्ध है । अन्यथा नाना रूप से रहित यह जगत् एक रूप हो जायेगा । इस प्रकार से स्वीकार करने पर तो भिन्न पक्ष असंभव ही है ।

अर्थात् विरुद्ध धर्माध्यास और अस्खलित बुद्धि प्रतिभास भेद—इन दो को छोड़कर और तीसरा प्रकार असंभव ही है ।

1 त्रिबाहुपुरुषद्रव्यादिरसम्भवः । व्या० प्र० । 2 पर्यायरहिते । व्या० प्र० । 3 परिणामविशेषादित्यादि हे चतुष्टयरूपः । व्या० प्र० । 4 इति द्रव्यपर्याययोः प्रमाणसिद्धं भिन्नलक्षणत्वं कथञ्चिन्नानात्वं साधयति = रूपादिदृष्टान्तस्यापि प्रमाणसिद्धं भिन्नलक्षणत्वं कथञ्चिन्नानात्वं साधयति कस्मात्साध्यसाधनविकलत्वासंभवात् । रूपादयः पक्षः कथञ्चिन्नाना भवन्तीति साध्यो धर्मः परस्परविविक्तस्वभावपरिणामादिविशेषात् = भिन्नलक्षणत्वं कथञ्चिन्नानात्वेन व्याप्तं सम्बद्धं कोर्थः कथञ्चिन्नानात्वाभावे भिन्नलक्षणत्वं न संभवतीति निरवद्यमुदाहरणम् । दि० प्र० । 5 नानात्वेन व्यापकेन । व्या० प्र० । 6 आदिशब्देन परस्परविविक्तस्वभावसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं ग्राह्यम् । दि० प्र० । 7 ज्ञानम् । दि० प्र० । 8 रूपादीनाम् । दि० प्र० । 9 साधयति । 10 अत्राह यौगः हे स्याद्वादिन् । द्रव्यपर्याययोर्भिन्नलक्षणत्वमस्ति नानात्वं नास्ति एकत्वमेव । कुतो विरोधात् = तस्मात् हे स्याद्वादिन् ! द्रव्यपर्याययोर्नानात्वव्यवस्थापकः परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्यास्वलक्षणप्रयोजनभेदादिति हेतुर्भवदङ्गीकृतः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोस्ति इति चेत्स्याद्वाद्याह हे सांख्य ! इति त्वया न करणीयम् । दि० प्र० । 11 साहित्यम् । दि० प्र० ।

स्वभावभेदसिद्धेः । अन्यथाऽनानैकं जगत्स्यात्, 'तदभ्युपगमे पक्षान्तरासंभवादिति,² विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्निश्चितव्यतिरेकत्वात् साधनस्य द्रव्यपर्याययोः सर्वथैकत्वे विरुद्धधर्माध्यासस्यास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदस्य चायोगाद्भिन्नलक्षणत्वस्यानुपपत्तेः, व्यापकस्य ग्राहकस्य चाभावे व्याप्यस्य विषयस्य चाव्यवस्थितेः ।³ व्यवस्थितौ वा भिन्नलक्षणत्वस्य⁴ न किञ्चिदेकं जगति स्यात् । नापि नाना, विरुद्धधर्माध्यासाद्यभावेपि नानात्वस्य सिद्धौ तस्य 'तत्साधनत्वायोगात्, न चासाधना⁶ कस्यचित्सिद्धिरतिप्रसङ्गात् । न च नानात्वैकत्वाभ्युपगमे

सर्वथा एकत्व रूप विपक्ष में बाधक प्रमाण का सद्भाव है । एवं नानात्व का अभाव लक्षण विपक्ष से व्यावृत्ति भी निश्चित है । द्रव्य और पर्यायों को भिन्न करने वाला भिन्न लक्षणत्व हेतु है और उन दोनों में सर्वथा एकत्व के मानने पर विरुद्ध धर्माध्यास और अबाधित बुद्धि का प्रतिभास भेद है । इन दोनों का अभाव हो जावेगा, पुनः हेतु का भिन्न-लक्षणपना नहीं बन सकता है ।

क्योंकि व्यापक और ग्राहक के अभाव में व्याप्य और विषय इनकी व्यवस्था भी नहीं बन सकती है । अर्थात् विरुद्ध धर्माध्यास व्यापक है और भिन्न लक्षण हेतु व्याप्य है । अस्खलत, बुद्धि प्रतिभास ग्राहक है और विषय ग्राह्य है । व्यापक और ग्राहक के अभाव में व्याप्य और विषय असंभव हैं । अथवा भिन्न लक्षणपने की व्यवस्था यदि मान लेंगे तब तो जगत् में "एक" नाम से कोई चीज ही नहीं रहेगी एवं नाना रूप भी कुछ सिद्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यासादि के अभाव में भी नानात्व भिन्न-भिन्न वस्तु को सिद्धि मान लेने पर तो वह भिन्न लक्षण हेतु उन नानापने को सिद्ध करने वाला नहीं हो सकेगा और हेतु के बिना किसी की भी सिद्धि नहीं हो सकती है, अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा ।

नानात्व और एकत्व को स्वीकार करने में विरुद्ध धर्माध्यास और अस्खलत बुद्धि प्रतिभास भेद को छोड़कर अन्य कोई तीसरा प्रकार भी नहीं है कि जिससे यह जगत् नाना से रहित एक रूप नहीं हो जावे । अर्थात् एक रूप ही हो जायेगा । विरुद्ध धर्माध्यास और इतर से भिन्न नाना और एकत्व स्वरूप अन्य कुछ भी नहीं है एवं अस्खलद् बुद्धि प्रतिभास भेद और अभेद के सिवाय अन्य कोई उसका हेतु भी नहीं है । जो कि भिन्न प्रकार हो सके । अतः द्रव्य और पर्याय में कश्चित् नानापना और एकपना सिद्ध हो गया ।

1 नानैकत्व । दि० प्र० । 2 अनेन प्रकारेण । दि० प्र० । 3 विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभावेपि । व्या० प्र० । 4 नानात्वाभावेपि भिन्नलक्षणत्वं व्यवतिष्ठते चेत्तदा जगति किञ्चिद्वस्तु एकं न स्यात् । नानात्वमेव सर्वं = तथैकत्वाभावेऽशक्यविवेचनत्वं व्यतिष्ठते चेत्तदा जगति किञ्चिन्नाना न सर्वमेकमेव । दि० प्र० । 5 तस्य विरुद्धधर्माध्यासस्य नानात्वसाधनत्वं न संभवति यतः = कस्यचिद्वस्तुनः साधनरहिता सिद्धिर्न स्यात् भवति चेत्तदातिप्रसङ्गः सर्वानुमानोच्छेदः स्यात् । दि० प्र० । 6 न चासाधनात् । इति पा० । साधनरहिता । दि० प्र० ।

प्रकारान्तरमस्ति, ^१यतो जगदनानैकं न स्यात् । न हि विरुद्धधर्माध्यासेतराभ्यामन्यन्नानात्वै-
कत्वस्वरूपम्^२ । नाप्यस्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभेदाभ्यामन्यत्तत्साधनं, यत्प्रकारान्तरं स्यात् ।
ततः कारिकाद्वयेन सामान्यविशेषात्मानमर्थं संहृत्य ^३तत्रापेक्षानपेक्षैकान्तप्रतिक्षेपायाह भगवान्
वास्तवमेव । इति स्यान्नानात्वमेव स्वलक्षणभेदात्^४ । स्यादेकत्वमेवाशक्यविवेचनत्वात् ।
स्यादुभयमेव क्रमापितद्वयात्^५ । स्यादवक्तव्यमेव सहापितद्वयाद्वक्तुमशक्यत्वात् । स्यान्ना-
नात्वावक्तव्यमेव विरुद्धधर्माध्याससहापितद्वयात् । स्यादेकत्वावक्तव्यमेव, अशक्यविवेचन-
सहापितद्वयात् । ^६स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमापितद्वयात्^७ । इति^८ सप्तभङ्गीप्रक्रिया
दृष्टेष्टाविरुद्धावबोद्धव्या पूर्ववत् ।

इसीलिये दो कारिकाओं के द्वारा सामान्य विशेषात्मक (द्रव्य पर्याय रूप) पदार्थ का संहार करके उसमें अपेक्षैकान्त और अनपेक्षैकान्त का खण्डन करने के लिये भगवान्-श्री संमतभद्राचार्य वर्ग वास्तविक स्वरूप को ही (आगे ७३वीं कारिका में) कहते हैं ।

इस प्रकार से द्रव्य और पर्याय में कथंचित् नानापना ही है क्योंकि उनमें असाधारण स्व-
लक्षण के भेद से भेद देखा जाता है । दोनों में कथंचित् एकत्व ही है क्योंकि दोनों का पृथक्-पृथक्
विवेचन करना अशक्य है ।

ये दोनों द्रव्य और पर्याय कथंचित् उभयात्मक हैं क्योंकि क्रम से दोनों नयों की अर्पणा की जाती है । कथंचित् दोनों अवक्तव्य ही हैं, क्योंकि एक साथ दोनों नयों की अर्पणा करके कहना अशक्य है । कथंचित् द्रव्य पर्याय नाना रूप और अवक्तव्य ही हैं । क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास विवक्षित है और एक साथ दोनों की अर्पणा करना अशक्य है । कथंचित् एक रूप और अवक्तव्य ही है क्योंकि दोनों का विवेचन अशक्य विवक्षित और एक साथ दोनों की अर्पणा करने से कहना शक्य नहीं है ।

कथंचित् द्रव्य पर्याय नाना एक रूप और अवक्तव्य ही हैं । क्योंकि क्रम से विरुद्ध धर्माध्यास और अशक्य विवेचन की विवक्षा है और एक साथ दोनों को कहना अशक्य है ।

इस प्रकार से पूर्ववत्, प्रत्यक्ष, परोक्ष, प्रमाण से अविरुद्ध सप्तभंगी प्रक्रिया को समझ लेना चाहिये ।

१ कुतः । दि० प्र० । २ विरुद्धधर्माध्यासं विहाय अन्यत्किञ्चिन्नानात्वस्वरूपं नास्ति तथा स्खलति बुद्धिप्रतिभासभेदं विहायान्यत्नानात्वस्वरूपं नास्त्यस्खलद्बुद्धि प्रतिभासाभावेऽभेदं त्यक्त्वापरमेकत्वस्वरूपं नास्ति यत्प्रकारान्तरं भवेत् । दि० प्र० । ३ अर्थे । व्या० प्र० । ४ स्वलक्षणभेदात्स्यान्नानात्वमेवाशक्यविवेचनत्वात् स्यादेकत्वमेवेत्यादि सप्तभंग्यात्मकं वस्तुवास्तवमेव पारमाथिकमेव । दि० प्र० । ५ विवक्षित । व्या० प्र० । ६ नानात्वैकत्व । व्या० प्र० । ७ नानात्वैकत्वद्वयात् । व्या० प्र० । ८ अनेन प्रकारेण । दि० प्र० ।

कथंचित् अन्यत्व अनन्यत्व की सिद्धि का सारांश

अद्वैतवादी का कहना है कि द्रव्य एक है, वास्तविक है। पर्यायों अनेक हैं, वे अवास्तविक हैं। द्रव्य उन पर्यायों से भिन्न है।

सौगत का कहना है कि वर्णादि रूप अनेक पर्यायों ही वास्तविक हैं, किन्तु द्रव्य नाम की कोई चीज ही नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि द्रव्य और पर्यायों में कथंचित् एकत्व है क्योंकि उन दोनों को पृथक्-पृथक् करना अशक्य है। तथैव द्रव्य और पर्याय में कथंचित् भिन्नपना भी है, क्योंकि दोनों में परिणाम विशेष पाया जाता है तथा शक्तिमान् शक्ति के निमित्त से अपने-अपने लक्षणों के भेद से एवं प्रयोजन आदि के भेद से भी दोनों में भेद पाया जाता है। अतएव द्रव्य और पर्याय एक वस्तु हैं क्योंकि प्रतिभास भेद के होने पर भी ये दोनों अभिन्न हैं। जैसे चित्र ज्ञान एक हैं। पर्याय निरपेक्ष केवल द्रव्य अथवा द्रव्य निरपेक्ष केवल पर्यायों अर्थ क्रियाकारी नहीं हैं क्योंकि केवल इन एक द्रव्य का या पर्याय मात्र में युगपत् या क्रम से अर्थ क्रिया सम्भव नहीं है।

कथंचित् लक्षण आदि भेद से दोनों भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य का “सत्द्रव्यलक्षणम्” अथवा “गुणपर्ययवद्द्रव्यम्” ऐसा लक्षण पाया जाता है। सत् का लक्षण “उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्” है।

पर्याय का लक्षण है “तद्भावः परिणामः” उस उस प्रतिविशिष्ट रूप से होना ही परिणाम है। सहभावी गुण होते हैं और क्रमभावी पर्यायें होती हैं। यह तद्भाव लक्षण इन सम्पूर्ण गुण-पर्याय रूप परिणामों में व्याप्त है। द्रव्य तो अनादि अनन्त एक स्वभाव रूप है और पर्यायें सादि सांत अनेक स्वभाव रूप परिणाम वाली हैं। द्रव्य तो शक्तिमान् है और पर्यायें शक्तिभाव रूप हैं। द्रव्य एक हैं, पर्यायें अनेक हैं।

अतएव संज्ञा, संख्या विशेष से परिणाम विशेष से स्वलक्षण विशेष से इन पर्यायों में भेद है। दोनों का प्रयोजनादि कार्य भी अलग-अलग है यथा द्रव्य एकत्व-अन्वय ज्ञानादि कार्य रूप हैं। पर्यायें अनेकत्व, व्यावृत्ति प्रत्यय कार्य रूप हैं। द्रव्य त्रिकाल गोचर हैं, पर्यायें वर्तमान काल वाली हैं।

सप्तभंगी प्रक्रिया—

१. द्रव्य और पर्याय का पृथक्-पृथक् विवेचन करना अशक्य होने से दोनों में कथंचित् एकत्व है ।
२. असाधारण स्वरूप, स्वलक्षण के भेद से कथंचित् दोनों में नानापना सिद्ध है ।
३. क्रम से दोनों नयों की अर्पणा करने से दोनों कथंचित् उभयात्मक हैं ।
४. युगपत् दोनों नयों की अर्पणा करने से कहना अशक्य है अतः कथंचित् दोनों अवक्तव्य हैं ।
५. विरुद्ध-धर्मध्यास और एक साथ दोनों नयों की अर्पणा करने से कथंचित् नानात्व अवक्तव्य हैं ।
६. अशक्य विवेचन और एक साथ दोनों नयों की अर्पणा करने से कथंचित् एकत्व अवक्तव्य हैं ।
७. क्रम तथा अक्रम से अपित् दोनों नयों से कथंचित् द्रव्य पर्याय नानैकत्वावक्तव्य ही हैं ।

इस प्रकार से द्रव्य पर्याय में प्रमाण और नय से अविरुद्ध सप्तभंगी सुघटित है ।

सार का सार—यहाँ जैनाचार्यों ने द्रव्य और पर्यायों को कथंचित् एकरूप सिद्ध किया है एवं भिन्न-भिन्न भी कह दिया है क्योंकि अपेक्षाकृत सभी व्यवस्था सुघटित है, निरपेक्षता से नहीं ।



चतुर्थ परिच्छेद का निष्कर्ष

इस चतुर्थ परिच्छेद में पहले वैशेषिक मत संमत भेदैकांत का खण्डन किया गया है। उसमें पहले इकसठवीं कारिका में उनका पूर्व पक्ष दिखाया गया है। तथाहि कार्य-कारणादि, गुण-गुणी आदि परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि भिन्न लक्षण वाले हैं एवं उनका भेद रूप से प्रतिभास होता है। सर्वथा उनको अभिन्न मान लेने पर कार्य, कारण आदि स्वरूप नहीं घटित होता है क्योंकि कार्य तो उसके उत्तर समयवर्ती है और उसके पूर्व अव्यवहित समय में ही रहता है एवं जिनमें परस्पर में भेद नहीं है उनका देश अथवा काल भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकेगा।

कार्य और कारण के देशकाल भिन्न-भिन्न हैं। अतएव ये भिन्न-भिन्न ही हैं। इस प्रकार से पूर्व पक्ष का समर्थन करके बासठवीं कारिका से उसका खण्डन किया गया है।

यथा च अन्यत्वैकांत में भी एक कार्य की अनेक कारण आदि में प्रवृत्ति स्वीकार करना ही चाहिये। यदि स्वीकार नहीं करेंगे तब तो कार्य कारण आदि भावों का ही विरोध हो जायेगा और यदि सर्वात्म रूप से या एक देश से कार्य की वृत्ति कारणादि में मानोगे तब तो एक कार्य भी बहुत रूप हो जायेगा अथवा वह बहुप्रदेशी हो जायेगा।

परन्तु उस प्रकार से भेदैकांत में सम्भव नहीं है और ऐसा मान लेने पर तो एकांतवाद ही विघटित हो जायेगा।

पूर्व में कारण दशा में अनेक को कार्य रूप मान लेने पर एकत्व संभव होने से सर्वथा अन्यत्व घटित नहीं हो सकेगा एवं समवाय से भी वृत्ति घटित नहीं होती है क्योंकि उसका पहले ही निराकरण किया जा चुका है। अदृष्ट के निमित्त से वृत्ति की कल्पना करने पर तो प्रत्यक्ष सिद्ध कथंचित् भेद ही क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हो ?

इत्यादि प्रकार से वैशेषिक का निराकरण किया गया है। पुनः सड़सठवीं कारिका से बौद्धमत का खण्डन किया गया है। अनंतर उन्सठवीं कारिका से सांख्यमत का निषेध है।

एवं सत्तरवीं कारिका का स्याद्वाद का विधान करते हुए सभी बातें सुघटित रूप से घटित की हैं।

इस प्रकार से इस चतुर्थ परिच्छेद का निष्कर्ष समझना चाहिये।



¹कायदिर्भेद एव स्फुटमिह नियतः² सर्वथा ³कारणादे-
रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः⁴ शान्ततामाश्रयन्ति ।
⁵प्रायो 'यस्योपदेशादविघटित'नयान्मानमूलादलङ्घ्यात्⁸,
स्वामी जीयात् स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः⁹ ॥

इत्याप्तमीमांसासालंकृतौ चतुर्थः परिच्छेदः । ४ ।

श्लोकार्थ—कार्य और कारणादि में सर्वथा स्फुट रीति से भेद ही है इत्यादि रूप से एकांतवाद से उद्धतमति को धारण करने वाले वैशेषिक, बौद्धादि मिथ्यावादी जन जिनके प्रमाण मूलक, अलंघ्य एवं अविघटित नय रूप उपदेश से प्रायः शांति को प्राप्त हो जाते हैं ऐसे अकलंक—निर्दोष, महान् कीर्तिमान् शाश्वत् प्रसिद्धतर यतियों के ईश श्री स्वामी संमतभद्राचार्यवर्य इस पृथ्वी पर सदैव जयश्रील हों ।

दोहा

भेदस्वरूप अभेद या, तत्त्व कहे एकांत ।
इन्हें छोड़ जिनवचन में, प्रीति करे भव अंत ॥१॥

इस प्रकार श्री विद्यानंद आचार्य कृत 'आप्तमीमांसासालंकृति'
अपरनाम 'अष्टसहस्री' ग्रंथ में आर्यिका ज्ञानमती
कृत भाषा अनुवाद, पद्यानुवाद भावार्थ,
विशेषार्थ और सारांश सहित
इस 'स्याद्वाद चिंतामणि'
नामक टीका में यह
चतुर्थ परिच्छेद
पूर्ण हुआ



1 ता । व्या० प्र० । 2 व्यवस्थितः । व्या० प्र० । 3 का । दि० प्र० । 4 अभेदः । व्या० प्र० । 5 अतिशयेन ।
दि० प्र० । 6 स्वामिनः । दि० प्र० । 7 युक्ति । दि० प्र० । 8 परमताश्रयैर्वादिभिः । दि० प्र० । 9 अकलंका
उरूर्गारिष्ठा कीर्तियस्य सः । दि० प्र० ।

अथ पञ्चमः परिच्छेदः ।

ज्ञानंकरूपं परमात्मसंज्ञं, स्वायंभुवं स्वात्मगुणोपतृष्टम् ।
कर्मारिनाशाय वयं निजानां, तं देवदेवं प्रणुमः सुभक्त्या ॥१॥

स्फुटमकलङ्कपद¹ या प्रकटयति पटिष्ठचेतसामसमम् ।
दशितसमन्तभद्रं² साष्टसहस्री सदा जयतु³ ॥१॥

⁴यद्या⁵पेक्षिकसिद्धिः⁶ स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते ।

⁷अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता⁸ ॥७३॥

पंचम परिच्छेद

ज्ञान ही है एक स्वरूप जिनका, जो 'परमात्मा' इस नाम को धारण करने वाले हैं, 'स्वयंभू' भगवान हैं और जो अपने आत्मा के गुणों के समूह से संतुष्ट हो चुके हैं, हम अपने कर्म शत्रुओं को नष्ट करने के लिये ऐसे देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं। (यह हिन्दी टीकाकर्त्री द्वारा रचित श्लोक है।)

श्लोकार्थ— जो बुद्धिमान पुरुषों के लिये अनुपम, अकलंक—निर्दोष पद को प्रकट करने वाली है अथवा जो भट्टाकलंक देव के द्वारा की गई अष्टशती के अनुपम पदों को स्फुट करने वाली है। एवं जो समंत—चारों तरफ से भद्र—कल्याण को दिखलाने वाली है अथवा श्री स्वामी समंतभद्राचार्य कृत देवागमस्तोत्र नामक मूल स्तुति को दिखाने वाली है। ऐसी श्री विद्यानिधि आचार्य द्वारा विरचित अष्टसहस्री सदा जयशील होवे ॥१॥

धर्म और धर्मी आपस में यदि आपेक्षिक सिद्ध रहें ।
एक दूसरे के अभाव से दोनों ही तब नष्ट हुये ॥
यदी परस्पर अनपेक्षा से दोनों सिद्ध कहे जाते ।
तब सामान्य विशेष उभय भी एक बिना नहीं रह सकते ॥73॥

1 स्फुटमित्यादि अकलंकपदं देवागमस्तोत्रम् । कलङ्करहितपदमिति व्युत्पत्तेः किं विशिष्टं तत् दशितसमन्तभद्रं दशितानि समंताद्भद्राणि येन तत् पश्चान्तरे अकलङ्कपदं वृत्तिग्रन्थं किं विशिष्टं दशितसमन्तभद्रं दशितदेवागमस्तोत्रम् । दि० प्र० । 2 वसः । व्या० प्र० । 3 सर्वोत्कर्षेण वर्तताम् । दि० प्र० । 4 जयति । इति पा० । दि० प्र० । 5 चेत् । दि० प्र० । 6 कारिकाद्वयेन सामान्यविशेषात्मानमर्थं संहृत्य तथापेक्षानपेक्षकान्ते प्रतिक्षेपयन्नाह । दि० प्र० । 7 अपेक्षया बुद्ध्या विकल्पज्ञानेन जनिता न पारमाथिकी धर्मधर्मिणोः सिद्धि रित्युक्ते विशेष्यविशेषत्वादेः कार्यं निष्पत्तिं प्रति विकल्प-ज्ञानादेवसिद्धिर्नतु परमार्थतोयं धर्मोयं धर्मीति विकल्पोर्नैव । दि० प्र० । 8 सर्वथा । दि० प्र० ।

[बौद्धो धर्मधर्मिणो अपेक्षाकृतौ एव मन्यते तस्य पूर्वपक्षः ।]

¹धर्मधर्मिणोरापेक्षिकी² सिद्धिः, प्रत्यक्षबुद्धौ³ तदनवभासनाद्दूरेतरादिवत्⁴ । न हि⁵ प्रत्यक्षबुद्धौ धर्मो धर्मो वा प्रतिभासते, तत्पृष्टभावविकल्पोपकल्पितत्वात्, तस्य स्व-लक्षणस्यैव तत्र⁶ प्रतिभासनात्, शब्दापेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेपि ज्ञेयत्वापेक्षायां⁷ धर्मित्वव्य-वहरणात्⁸, तदपेक्षया ज्ञेयत्वस्य धर्मत्वेऽप्यभिधेयत्वापेक्षायां धर्मित्वव्यवहारात्, तदपेक्षया चाभिधेयत्वस्य⁹ धर्मत्वे प्रमेयत्वापेक्षायां¹⁰ धर्मित्वप्रसिद्धेः । इति न क्वचिद्धर्मो¹¹ धर्मो¹² वा व्यवतिष्ठते । ततो न तास्विकोसौ । न हि नीलस्वलक्षणं संवित्स्वलक्षणं वा¹³ प्रत्यक्षमवभा-

कारिकार्थ—यदि धर्म और धर्मो की सिद्धि सर्वथा अपेक्षाकृत ही मानी जावें तब तो इन दोनों की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी क्योंकि एक के द्वारा एक का विघात हो जावेगा । यदि दोनों की सिद्धि सर्वथा अनापेक्षिक ही मानी जावें तब तो इस स्थिति में सामान्य और विशेष भाव सिद्ध नहीं हो सकेंगे ॥७३॥

[बौद्ध धर्म और धर्मो को अपेक्षाकृत ही मानते हैं, उनका पूर्व पक्ष ।]

बौद्ध— धर्म और धर्मो की सिद्धि आपेक्षिक अर्थात् कल्पित ही है । वास्तविक नहीं है । क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान में वह प्रतिभासित नहीं होती है । जैसे कि दूर और निकट आवि व्यवहार आपेक्षिक सिद्ध हैं । वे निर्विकल्प प्रत्यक्ष में प्रतिभासित नहीं होते हैं । वहाँ निर्विकल्प प्रतिभास में वस्तु एकत्व रूप ही प्रतिभासित होता है ।

प्रत्यक्ष ज्ञान में धर्म अथवा धर्मो प्रतिभासित नहीं होते हैं । क्योंकि वे निर्विकल्प ज्ञान के

1 अङ्गीक्रियमाणायाम् सामान्यविशेषो न स्तः । दि० प्र० । 2 सौगतोनुमानं रचयति स्याद्वाद्यभिमतयोः धर्मधर्मिणोः पक्ष आपेक्षिकी सिद्धिर्भवतीति साध्यो धर्मः प्रत्यक्षबुद्धौ तदनवभासनात् ययोः प्रत्यक्षबुद्धौ तदनवभासनं तयोरापेक्षिकी-सिद्धिः यथा दूरासन्नयोः प्रत्यक्षबुद्धौ तदनवभासनञ्च तस्मादापेक्षिकी सिद्धिः । दि० प्र० । 3 सौगती वदति हे स्याद्वादिन् धर्मधर्मिणोः द्वयोः परस्परमपेक्षयासिद्धघटते न तु स्वरूपतः । कस्मात् निर्विकल्पकदर्शने तयोर्धर्मधर्मिणोर प्रकाशनात् यथादूषयन्नयोः परस्परं सापेक्षिकी सिद्धिरस्ति । दि० प्र० । 4 दूरा पेक्षया समीपं समीपापेक्षया दूरं यथा । व्या प्र० । 5 निर्विकल्पकदर्शने धर्मो न प्रतिभासते धर्मो वा न प्रतिभासते कुतः । तस्य धर्मस्य धर्मिणो वा निर्विकल्पक-दर्शनान्तरं समुत्पन्नसविकल्पकज्ञानसंपादितत्वात् । पुनः कस्मात्क्षणक्षयिनिरन्वयिपरमाणुलक्षणं स्वलक्षणं निर्विकल्प-कदर्शने केवलं प्रतिभासते यतः । दि० प्र० । 6 प्रत्यक्षबुद्धौ । दि० प्र० । 7 ज्ञेयत्वापेक्षया । इति पा० । दि० प्र० । 8 सत्त्वादेरेव धर्मरूपस्य । दि० प्र० । 9 वाच्यत्वस्य । दि० प्र० । 10 ज्ञेयत्व । दि० प्र० । 11 सत्त्वादी । दि० प्र० । 12 सौगत आहेति विचार्यमाणे सति धर्मः क्वचिन्न व्यवतिष्ठते धर्मो च न व्यवतिष्ठते = यत एवं ततोसौ धर्मो धर्मो वा पारमार्थिको न । अपेक्षा सिद्धत्वात् व्यावहारिक एव = सौगतः बहिः नीलस्वलक्षणमन्तर्नीलज्ञानं स्वलक्षणं वा व्यक्तमवभासमानं सत् किञ्चिद्द्वयोरेकतरमपेक्षासिद्धं दृष्टं न हि कस्मादनुभवात् प्रत्यक्षेण प्रतीयमानत्वात् । दि० प्र० । 13 क्रियाविशेषमेतत् । व्या० प्र० ।

समानं किंचिदपेक्ष्यान्यथाभावमनुभवदुपलब्धम्^१ । केवलमपेक्षाबुद्धौ विशेषणविशेष्यत्वं सामान्यविशेषत्वं गुणगुणित्वं क्रियाक्रियावत्त्वं कार्यकारणत्वं साध्यसाधनत्वं ग्राह्यग्राहकत्वं वा प्रकल्प्यते^२ दूरेतरत्वादिवत्^३ ।

[जैनाचार्याः बौद्धस्यापेक्षिकं कांतं निराकुर्वन्ति ।]

इति यद्यापेक्षिकसिद्धिः^४ स्यात्तदा न द्वयं व्यवतिष्ठते नीलस्वलक्षणं^५ तत्संवेदनं चेति, तयोरप्यापेक्षिकत्वाद्विशेषणविशेष्यत्वादिवत् । तथा हि । ययोः सर्वथा परस्परापेक्षाकृता

अनंतर होने वाले विकल्प ज्ञान के द्वारा कल्पित किये गये हैं । उस निर्विकल्प ज्ञान में तो वस्तु का स्वलक्षण ही प्रतिभासित होता है ।

शब्द की अपेक्षा से सत्त्वादि धर्म हैं फिर भी ज्ञेयत्व की अपेक्षा से वे ही धर्मों हैं ऐसा व्यवहार देखा जाता है । एवं उसकी अपेक्षा से ज्ञेयत्व को धर्म मानने पर भी अभिधेय की अपेक्षा से उसमें धर्मपिने का व्यवहार है । और शब्द की अपेक्षा से अभिधेय को धर्म मानने पर प्रमेय की अपेक्षा से उसी में धर्मपिना प्रसिद्ध है । इस प्रकार से कहीं पर भी धर्म अथवा धर्मों की व्यवस्था बन नहीं सकती है । इसलिये धर्म और धर्मों वास्तविक नहीं हैं । किन्तु काल्पनिक ही हैं ।

नील स्वलक्षण अथवा ज्ञान स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष में अवभासित होते हैं और वे किंचित् पीतादि की अपेक्षा करके अन्यथाभावरूप अर्थात् नील स्वलक्षण पीतरूप से अनुभाव में आते हुये उपलब्ध नहीं हैं ।

केवल अपेक्षा से उत्पन्न हुयी विकल्प बुद्धि में ही विशेषण-विशेष्य, सामान्य-विशेष, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, कार्य-कारण, साध्य-साधन अथवा ग्राह्य-ग्राहक भाव कल्पित होते हैं, जैसे-दूर की अपेक्षा से दूर आदि आपेक्षिक सिद्ध हैं ।

[जैनाचार्य बौद्ध के आपेक्षिक एकांत का निराकरण करते हैं ।]

जैन—यदि आप बौद्ध विशेषण विशेष्यत्व आदि में आपेक्षिक सिद्धि ही मानोगे तब तो दोनों की भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी । न नील स्वलक्षण ही सिद्ध होगा, न नील संवेदन ही । क्योंकि वे दोनों भी आपेक्षिक ही हैं । विशेषण-विशेष्य आदि की तरह ।

तथाहि ! जिन दो की सर्वथा परस्पर अपेक्षाकृत सिद्धि होती है उन दोनों की व्यवस्था ही नहीं हो सकती है । जैसे नदी में परस्पर के आश्रय से बहने वाली दो चीजें । उसी प्रकार से नील

१ नीलस्वलक्षणस्य संवित्स्वलक्षणस्य च तात्त्विकत्वं नापरस्य धर्मस्य धर्मिणो वा । व्या० प्र० । २ दूरदूरेतरत्वादिति । इति पा० । व्या० प्र० । ३ दूरदूरेतरत्वादिकमपेक्षा बुद्धौ प्रकल्प्यते यथा । व्या० प्र० । ४ स्या० वदति सीगत ! यदि धर्मधर्मिणोरपेक्षिकसिद्धिर्भवेत् । तदा नीलस्वलक्षणं नीलसंवेदनञ्च द्वयमपि न व्यवतिष्ठते । कुतस्तयोः नीलस्वलक्षणं नीलसंवेदनयोरपि परस्परसापेक्षिकत्वात् । यथा विशेषणविशेष्यत्वाद्योः सापेक्षकत्वम् । दि० प्र० । ५ स्वाद्धावी वदति कार्यकारणयोरपेक्षाभावे नीलतत्संवेदनयोरपि तदभावो भवतु । दि० प्र० ।

सिद्धिस्तयोर्न व्यवस्था । यथा परस्पराश्रययोः^१ सरिति प्लवमानयोः^२ । तथा^३ च नीलतद्वेदनयोः सर्वथापेक्षाकृता सिद्धिः । इति तद्द्वयमपि न व्यवतिष्ठते । न हि नीलं नीलवेदनानपेक्षं^४ सिध्यति^५, तस्यावेद्यत्वप्रसङ्गात् संविनिष्ठत्वाच्च वस्तु व्यवस्थानस्य । नापि नीलानपेक्षं नीलवेदनं, तस्य तस्मादात्मलाभोपगमादन्यथा निर्विषयत्वापत्तेः । ^६इत्यन्यतराभावे ^७शेषस्याप्यभावाद्द्वयस्याव्यवस्थान स्यात् । एतेन नीलवासनातो नीलवेदनमित्यस्मिन्नपि दर्शने द्वयाव्यवस्थितिरुक्ता^८ तयोरन्योन्यापेक्षैकान्ते स्वभावतः ^९प्रतिष्ठितस्यंकरस्याप्यभावेन्यतराभावाद्-

स्वलक्षण और नील संवेदन की सर्वथा अपेक्षाकृत सिद्धि है, इसलिये वे दोनों भी व्यवस्थित नहीं होते हैं ।

नील ज्ञान से निरपेक्ष नील भी सिद्ध नहीं होता है । अन्यथा वह अवेद्य-अज्ञेय हो जायेगा । क्योंकि वस्तु की व्यवस्था ज्ञान से ही होती है । एवं नील की अपेक्षा से रहित नील ज्ञान भी नहीं है । क्योंकि वह नील ज्ञान उस पदार्थ से ही आत्म लाभ करता है । अर्थात् “नाकारणं विषयः” ऐसा आपने स्वीकार किया है । अन्यथा यह नील ज्ञान निर्विषयक हो जायेगा ।

इस प्रकार से इन दोनों में से किसी एक का अभाव होने पर शेष बचे हुये दूसरे का भी अभाव हो जाता है । अतः दोनों की व्यवस्था नहीं बन सकती है ।

इसी कथन से नील की वासना से नील ज्ञान उत्पन्न होता है । इस मत में भी दोनों की व्यवस्था नहीं बन सकती है ऐसा कह दिया गया है ।

उन दोनों का अन्योन्यापेक्ष एकांत स्वीकार करने पर स्वभाव से प्रतिष्ठित किसी एक-नील वासना अथवा नील रूप का अभाव हो जाने पर बचे हुये दूसरे का भी अभाव अवश्यंभावी है । पुनः नील ज्ञान और नील वासना इन दोनों की भी कल्पना नहीं हो सकेगी ।

१ स्याद्वाद्यनुमानं रचयति । सौगताभिमतयोर्नीलवत्संवेदनयोः पक्षः व्यवस्था नास्तीति साध्यो धर्मः परस्परसापेक्षाकृतसिद्धत्वात् । ययोः सर्वथापरस्परापेक्षाकृतसिद्धिस्तयोर्न व्यवस्था । यथा परस्पराश्रययोः तदां प्लवमानयोर्नीलानात्रिकयोर्व्यवस्था न नीलनीलज्ञानयोः सर्वथापेक्षाकृता सिद्धिश्च तस्मात्तद्वयमपि न व्यवतिष्ठते । दि० प्र० । २ पुरुषयोः । ब्या० प्र० । ३ प्लवमानयोरव्यवस्था च । ब्या० प्र० । ४ स्याद्वाद्याह नीलज्ञानानपेक्षं सत् नीलरूपं केवलं न घटते । घटते चेत्तदा तस्य नीलरूपस्याज्ञेयत्वमायाति तथा वस्तुव्यवस्थितिः संज्ञानेन सह संबद्धायतः = नीलरूपमनपेक्षं सम्नीलज्ञानं लोके नास्ति कस्मात्तस्य नीलज्ञानस्य नीलरूपात् स्वरूपलाभाङ्गीकारं क्रियते यतोऽन्यथा नीलरूपाभावेपि तदज्ञानं जायते चेत्तदा तस्य नीलज्ञानस्य निर्विषयत्वमायाति = एवं द्वयोर्मध्य एकस्याभावे द्वितीयस्याप्यभावस्तद्द्वयोरन्योन्यामविनाभावित्वात् । एवं सति नीलनीलज्ञानस्य द्वयस्याव्यवस्थितिर्भवेत् । दि० प्र० । ५ अन्यथा । दि० प्र० । ६ नीलस्य तद्वेदनस्य वाभावे । दि० प्र० । ७ नीलस्य तद्वेदनस्य । ब्या० प्र० । विशेषस्यापि । इति पा० । ब्या० प्र० । ८ द्वयाव्यवस्थितिरुक्ता कथमिति दर्शयन्नाह । ब्या० प्र० । ९ स्थितस्य । ब्या० प्र० ।

भयं न प्रकल्पेत, नीलवेदनाभावे ¹तद्वासनाविशेषस्याव्यवस्थितेरन्यथातिप्रसक्तेः², ³तद्वासनाविशेषमन्तरेण नीलवेदनस्याव्यवस्थितेरन्यथा निर्निमित्तत्वापत्तेः । स्यान्मतं, नीलवेदनस्य स्वतः प्रकाशनात्नायं⁴ दोष⁵ इति तदसत्, परस्परापेक्षैकान्तविरोधात्, दण्डादेर्विशेषणस्य स्वबुद्धौ स्वतः सिद्धेः सामान्यादेरपि स्वग्राहिणि ⁶ज्ञानेऽन्यानपेक्षस्य ⁷प्रतिभासनाद्विशेष्यविशेषणादेरपि तथा प्रसिद्धेर्द्वयाभावानवकाशात् । तत एव⁸ दूरेतरादिदृष्टान्तोपि ⁹साध्यसाधनधर्मविकलः¹⁰ स्यात्, ¹¹दूरासन्नभावयोरपि ¹²स्वभावविवर्तविशेषाभावे ¹³समानदेशादेरपि प्रसङ्गात् । न च समानदेशकालस्वभावयोरन्योन्यापेक्षयापि दूरासन्नभावव्यवहारः, खरविषाण-

नील ज्ञान के अभाव में उसके वासना विशेष की व्यवस्था भी नहीं हो सकती है । अन्यथा अतिप्रसंग आ जायेगा । अर्थात् धूम लक्षण लिंग के अभाव में भी पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करने का प्रसंग आ जावेगा । उसकी वासना विशेष के बिना नील ज्ञान अव्यवस्थित है अन्यथा वह निर्निमित्तक हो जायेगा ।

बौद्ध—नील ज्ञान स्वतः प्रकाशित होता है अतः हमारे यहाँ यह दोष नहीं है ।

जैन—आपका यह कथन असत् रूप है । क्योंकि परस्परापेक्ष एकान्त में विरोध आ जावेगा । दण्डादि विशेषण स्वबुद्धि-विशेषण ज्ञान में विशेष्य की अपेक्षा के बिना स्वतः सिद्ध है । एवं सामान्य, क्रिया, गुण आदि भी स्वग्राही ज्ञान में अन्य की अपेक्षा से रहित स्वतः प्रतिभासित हो रहे हैं । विशेषण, विशेष्य आदि स्वतः रूप से उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं इसलिये हम जैनों के यहाँ दोनों का अभाव ही जाने को अवकाश नहीं है । और इसलिये आपका दूरेतरादि दृष्टान्त भी साध्य-साधन धर्म से विकल ही है ।

1 नील । दि० प्र० । 2 अन्यथा नीलवेदनाभावेपि नीलवासना व्यवतिष्ठते चेत्तदातिप्रसङ्गः स्यात् । कोथं: शब्दापेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेपि ज्ञेयत्वापेक्षया घातित्वं तस्यैवेत्यादिकं न स्यात् । अथवा कारणाभावेपि कार्यं जायताम् । दि० प्र० । 3 अथवा नीलवासनां विना नीलज्ञानमवतिष्ठते चेत्तदालोके सर्वं निष्कारणमापद्यते यतः । दि० प्र० । 4 उभयं न प्रकल्पेत इत्ययं दोषः । दि० प्र० । 5 सौगत-नीलज्ञानं स्वयमेव प्रकाशते तद्वासनया किमस्माकं न किमपि अयं दोषो न इत्युक्ते स्याद्वाद्याह ।—हे सौ० यदुक्तं त्वया तदसत्यं कुतः विशेषण विशेष्यत्वसामान्यविशेष्यत्वगुणगुणित्वादिकस्य परस्परापेक्षैकान्तं विरुद्ध्यते यतः = कथं विरुद्ध्यते इत्युक्तं आह । दण्डादिकं सर्वं विशेषणं दण्डादिविशेषणज्ञाने विशेष्यं विनापि स्वयमेव प्रकाशते यतः = सामान्यादिकमपि विशेषणायपेक्षारहितं सामान्यादिप्राहके ज्ञाने प्रतिभासते यतः । दि० प्र० । 6 विशेषः । व्या० प्र० । 7 तद्योभयरूपं विशेषणविशेष्यादिकञ्चोभयग्राहके ज्ञाने स्वयमेव प्रसिद्ध्यति यत एव सति यदुक्तं प्राक् विशेष्यविशेषणादीनां मध्य एकतराभावेऽन्यतरस्याप्यभावः । अन्यतराभावे उभयाभावः तद्द्वयस्याभावोत्र न घटेत् । दि० प्र० । 8 स्वबुद्धौ स्वतः प्रतिभासमानादेव । व्या० प्र० । 9 आपेक्षिकत्वम् । दि० प्र० । 10 प्रत्यक्षबुद्धौ अप्रतिभासन । दि० प्र० । 11 यथा दूरासन्नादिस्वभावरहितयोः खरशृङ्गयोः दूरासन्नसमादित्वं न घटते यतः । दि० प्र० । 12 निजभूतः । व्या० प्र० । 13 काल । दि० प्र० ।

योरिव¹ तत्स्वभावशून्ययोस्तदयोगात्² । ³तदिमौ ⁴स्वभावतः स्तामन्यथेतरैतराश्रयदोषानु-
षङ्गात् । एतेन स्वाश्रयशब्दाद्यपेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेन स्वधर्मपेक्षायां धर्मित्वं नाव्यवस्थाकारि-
त्वेनायुक्तमिति⁵ प्रकाशितं, ⁶तथाविधस्वभावविशेषाभावे परापेक्षयापि धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः,
अनन्तत्वाच्च धर्माणां ⁷तदपेक्षिणामप्यपर्यन्तत्वात्⁸, ⁹अन्यथाभिप्रेतधर्मधर्मिणोरप्यव्यवस्था-
पत्तेः । इति नापेक्षकान्तः श्रेयान् ।

दूर और निकटवर्ती दो पदार्थों में भी स्वभाव पर्याय विशेष के अभाव होने पर तो समान
देशवर्ती आदि पदार्थों में भी दूर-आसन्नान्नादि भाव का प्रसंग आ जायेगा ।

समान देश काल भाव वाले दो पदार्थों में परस्पर की अपेक्षा से भी दूर और निकट का
व्यवहार नहीं है ।

दूरासन्न स्वभाव से शून्य दो खर विषाण में वह दूर-निकट व्यवहार नहीं देखा जाता है ।

अतएव ये दोनों दूर और आसन्न भाव स्वभाव से ही हैं अन्यथा इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग
आ जायेगा ।

इसी कथन से स्वाश्रयभूत शब्दादि की अपेक्षा से सत्त्वादि धर्म रूप हैं और स्वधर्म की
अपेक्षा करने पर वे ही सत्त्वादि धर्म हैं । इसलिये अव्यवस्थाकारी होने से अयुक्त है । यह कहना ठीक
नहीं है । यहाँ यह प्रकाशित किया गया है । तथाविध स्वभाव विशेष का (वास्तविक धर्म-धर्मों
स्वरूप का) अभाव होने पर तो पर की अपेक्षा से भी धर्म-धर्मों भाव बन नहीं सकता है । क्योंकि
धर्म अनंत रूप है और उन धर्मों का अपेक्षी धर्मों भी अनंत हो जायेगा । अन्यथा—सभी धर्म और धर्मों
की स्वतः सिद्धि न मानने पर अपने को इष्ट धर्म और धर्मों की भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी ।
इसलिये आपेक्षिककृत एकांत भी श्रेयस्कर नहीं है ।

1 अतिप्रसङ्गो भवति स च नास्ति यतः । दि० प्र० । 2 अर्थयोः । दि० प्र० । 3 तत्तस्मादिमौ धर्मधर्मिणौ स्वरूपेण
भवतामन्यथा स्वरूपेण न स्याच्चेत्तदा धर्ममपेक्ष्य धर्मिणो धर्मिणमपेक्ष्य धर्मं वर्तते इति लक्षण इतरेतराश्रयदोषः
संभवति । दि० प्र० । 4 सत्त्वस्य । दि० प्र० । 5 ज्ञेयत्व । दि० प्र० । 6 धर्मधर्मिणोः स्वरूपसिद्धत्वाभावेपीति केवलं
परापेक्षया धर्मधर्मित्वं नोत्पद्यते = वस्तुनोद्य मानन्तास्तेषामपेक्षया धर्मिणोप्यनन्ताः अन्यथाभयोरनन्तत्वानङ्गीकारे
विवक्षितौ धर्मधर्मिणावपि न व्यवतिष्ठेते क्रोधः शून्यतामापद्यते = इति हेतुर्धर्मधर्मिणोः सर्वथापेक्षत्वं न श्रेयस्करम् ।
दि० प्र० । 7 तदपेक्षाधर्मिणामप्यपर्यन्तत्वात् । इति पा० । दि० प्र० । 8 अपि शब्दो हेत्वन्तरस्रोतकः । दि० प्र० ।
9 सत्त्वशब्दलक्षणयोः । दि० प्र० ।

[योगो धर्मधर्मिणो सर्वथानापेक्षिको एव मन्यते, किंतु जैनाचार्याः तस्य निराकरणं कुर्वन्ति ।]

योप्याह ^१‘धर्मधर्मिणोः सर्वथा नापेक्षिकी सिद्धिः, प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वान्नीलादिस्वरूपवत्, ^२सर्वथानापेक्षिकत्वाभावे प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वानुपपत्तेः ^३खपुष्पवत्’ इति, ^४‘तस्यानपेक्षापक्षेपि नान्वयव्यतिरेको स्यातां, भेदाभेदयोरन्योन्यापेक्षात्मकत्वाद्विशेषेतरभावस्य । अन्वयो हि सामान्यं, व्यतिरेको विशेषः । तौ च परस्परापेक्षौ व्यवतिष्ठेते । ^५तयोरनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता^६ । प्रतिनियतबुद्धिविषययोरपि^७ प्रतिनियतपदार्थता^८ स्यान्नीलपीतवत्^९ । न ह्यभेदो^{१०} भेदनिरपेक्षः प्रतिनियतान्वयबुद्धिविषयोस्ति, नापि भेदो जातुचिदभेदनिरपेक्षः^{११} प्रतिनियतव्यतिरेकबुद्धिविषयः^{१२} संभाव्यते ^{१३}क्वचिदेकव्यक्तेरपि^{१४} प्रथमदर्शन-

[योग धर्म और धर्मी को सर्वथा अनपेक्ष ही मानता है । किन्तु जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।]

योग—धर्म और धर्मी सर्वथा आपेक्षिक सिद्ध नहीं हैं । क्योंकि ये दोनों प्रतिनियत बुद्धि के विषय हैं जैसे कि नील और नील का स्वरूप अनापेक्षिक सिद्ध है । और सर्वथा अनापेक्षिकत्व का अभाव मान लेने पर तो प्रतिनियत बुद्धि का विषय होना नहीं बन सकता है । आकाश पुष्प के समान !

जैन—आपके यहाँ सर्वथा अनपेक्ष पक्ष में भी अन्वय और व्यतिरेक नहीं बन सकते हैं । क्योंकि विशेष और सामान्य भाव में भेद और अभेद अन्योन्यापेक्षी हैं ।

सामान्य को अन्वय कहते हैं । व्यतिरेक को विशेष कहते हैं । दोनों परस्पर में आपेक्षिक ही व्यवस्थित हैं । एवं उन दोनों की अनापेक्षिक सिद्धि मानने पर सामान्य और विशेषणना सिद्ध नहीं होता है । अन्यथा प्रतिनियत बुद्धि और उसके विषय में भी प्रतिनियत पदार्थता हो जायेगी । जैसे कि नील और पीत को अनापेक्षित मानने पर यह नील है यह पीत है यह निश्चय नहीं हो सकता है ।

भेद निरपेक्ष अभेद प्रतिनियत अन्वय बुद्धि का विषय नहीं है । एवं भेद भी कदाचित् अभेद

१ योप्यन्यः कश्चिदाह धर्मधर्मिणोः पक्षः सर्वथानापेक्षिकी सिद्धिर्भवतीति साध्यो धर्मः प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वं तयोर्न सर्वथापेक्षिकी सिद्धिः । यथा नीलपीतादिस्वरूपयोः प्रतिनियतबुद्धिविषयश्चानयोस्तस्मात्सर्वथानापेक्षिकी सिद्धिः = सर्वथानापेक्षिकत्वाभावे । धर्मधर्मिणोर्भिन्नज्ञानविषयत्वं नोपपद्यते यथा खपुष्पस्य । दि० प्र० । २ प्रसज्योयम् । दि० प्र० । ३ अत्र दूषणमाह । दि० प्र० । ४ योगस्य । व्या० प्र० । ५ धर्मधर्मिणोः । दि० प्र० । ६ तर्हि किं स्यादित्युक्तमाह । व्या० प्र० । ७ सामान्यविशेषयोः । व्या० प्र० । ८ प्रतिनियतौ च पदार्थौ च सामान्यविशेषौ च । व्या० प्र० । ९ ननु च प्रतिनियतपदार्थता कुतो यावतास्य विशेषस्येदं सामान्यमस्य सामान्यस्य कथं विशेषइति प्रतिनियतान्वयव्यतिरेकबुद्धिविषयत्वात्तयोः सामान्यविशेषयोः । सामान्यविशेषरूपता स्यादित्याशङ्क्यायामाह । व्या० प्र० । १० षटाविषु-मृदन्वयः । व्या० प्र० । ११ सामान्य । दि० प्र० । १२ भेदः । व्या० प्र० । १३ देशे । दि० प्र० । १४ संभाव्यते चेत्तदा वस्तुनः क्वचित्सामान्यावलोकनकाले एकविशेषस्यापि एकज्ञानविषयत्वं प्रसजति = तस्मादनेन भेदाभेदयोरनपेक्षा-निराकरणद्वारेण प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वादित्ययं हेतुः द्विपक्षे वर्तमानत्वाद्विरुद्धः प्रतिपादितः । कस्मात्तस्य हेतोः कश्चिदनापेक्षिकत्वेन व्याप्तत्वात्कीर्थः कश्चिदापेक्षिकत्वाभावे प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वं नोत्पद्यते । दि० प्र० ।

काले तद्बुद्धिविषयत्वप्रसङ्गात् । 'तदनेन प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वस्य हेतोर्विरुद्धत्वं प्रतिपादितं तस्य कथञ्चिदापेक्षिकत्वेन व्याप्तत्वात् प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्ववत्^२ । ततो^३ नैतावेकान्तौ घटते, वस्तुव्यवस्थानाभावानुषङ्गात् ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७४॥

अनन्तरैकान्तयोर्युगपद्विवक्षा^४ मा भूद्विप्रतिषेधात् सदसदेकान्तवत् स्याद्वादानाश्रय-
णात्^५ । 'तथानभिधेयत्वैकान्तेपीति^७ कृतं^८ विस्तरेण, सदसत्त्वाभ्यामनभिधेयत्वैकान्तवत् ।

निरपेक्ष प्रतिनियत व्यतिरेक बुद्धि का विषय संभव नहीं है । अन्यथा किसी एक घटादि व्यक्ति में भी प्रथम दर्शन काल में उस अन्वय बुद्धि और व्यतिरेक बुद्धि के विषय का प्रसंग आ जायेगा ।

इसी कथन से प्रतिनियत बुद्धि विषयत्व हेतु सापेक्षिकत्व को सिद्ध करने वाला होने से विरुद्ध है ऐसा प्रतिपादित किया गया है । क्योंकि वह हेतु कथञ्चित् आपेक्षिकत्व से व्याप्त है जैसे कि दूर और निकट आदि का प्रत्यक्ष बुद्धि में प्रतिभासित न होना रूप हेतु कथञ्चित् आपेक्षिकपने के साथ व्याप्त है । अतएव आपेक्षिक ही होना और अनापेक्षिक ही होना ये एकांत रूप से घटित नहीं हो सकते हैं । अन्यथा वस्तु की व्यवस्था का ही अभाव हो जायेगा ।

यदि आपेक्षिक सिद्धि अनापेक्षिक सिद्धि का ऐक्य कहें ।
स्याद्वाद बिन नहीं -घटेगा चूँकि परस्पर विरुद्ध है ॥
इन दोनों का "अवक्तव्य" एकांतरूप से यदि मानों ।
तब तो "अवक्तव्य" यह कहना स्ववचन बाधित ही जानो ॥७४॥

कारिकार्थ—स्याद्वाद न्याय के विद्वेषियों के यहाँ एकांत से आपेक्षिक और अनापेक्षिक रूप उभयैकात्म्य भी सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि परस्पर में विरोध आता है । एकांत से अवाच्यता को ही मानने पर तो "अवाच्य" इस प्रकार से कथन भी नहीं बन सकता है ॥७४॥

अनन्तरैकांत—आपेक्षिक, अनापेक्षिक को एक साथ विवक्षा नहीं हो सकती है । सत्, असत्—
एकांत के समान उनमें भी परस्पर में विरोध आता है । क्योंकि स्याद्वाद का आश्रय नहीं लिया गया है ।

1 तस्मात् । व्या० प्र० । 2 दूरतरादिप्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्वं यथा कथञ्चिदापेक्षिकत्वेन व्याप्तम् । दि० प्र० ।
3 यत एवं ततोपेक्षकान्तानपेक्षकान्तौ एतौ न घटते चेत्तदा वस्तुवस्तुव्यवहारो न भवतः । दि० प्र० । 4 अनन्तरं
पूर्वमुक्त्वा एकांतौ यो तौ अनन्तरैकान्तौ तयोरनन्तरैकान्तयोः सर्वथानपेक्षयोः । दि० प्र० । 5 कथञ्चित् । दि० प्र० ।
6 अवाच्यता । व्या० प्र० । 7 पूर्यताम् । दि० प्र० । 8 अलम् । व्या० प्र० ।

इति कथंचिदापेक्षिकत्वेतरानेकान्तं प्रतिपक्षप्रतिक्षेपसामर्थ्यात्सिद्धमपि¹ दुरारेकापाकर-
णार्थमाचक्षते,—

धर्मधर्मिणाविनाभावः² सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया³ ।

न⁴ स्वरूपं स्वतो ह्येतत्⁵ कारकज्ञापकाद्भवत् ॥७५॥

[धर्मधर्मिणो कथंचित् स्वतः सिद्धोस्तः कथंचिदपेक्षाकृती सिद्धोस्तः ।]

धर्मधर्मिणोरविनाभावोन्योन्यापेक्षर्यैव सिध्यति, न तु स्वरूपं, तस्य⁶ पूर्वसिद्धत्वात् ।
स्वतो ह्येतत्सिद्ध⁷ सामान्यविशेषवत् । सामान्यं हि स्वतः सिद्धस्वरूपं भेदापेक्षान्वयप्रत्ययाद-

उसी प्रकार अवाच्यकांत में भी विरोध आता है । इसलिये विस्तार से बस होवे । जैसे कि
सत्-असत् का अवाच्यतारूप एकांत सिद्ध नहीं होता है ।

उत्थानिका—इस प्रकार से प्रतिपक्ष-सर्वथा आपेक्षिक-अनापेक्षिक रूप एकांत के खण्डन की
सामार्थ्य से कथंचित् रूप आपेक्षिक-अनापेक्षिक की सिद्धि हो जाने पर भी सकल शून्यता—अथवा
तत्त्वोपप्लववाद की कुशंका को दूर करने के लिये श्री स्वामी समंतभद्राचार्य वर्य कहते हैं—

धर्म और धर्मी का अविनाभावरूप सम्बन्ध सदा ।

आपस में सापेक्ष कथंचित् आपेक्षिक है कहलाता ।

किन्तु धर्म-धर्मी दोनों का निज स्वरूप है स्वतः प्रसिद्ध ।

कारक, ज्ञापक अवयव सदृश, नहि स्वभाव है आपेक्षिक ॥७५॥

कारिकार्थ—धर्म और धर्मी का अविनाभाव ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है ।
किन्तु वह इनका स्वरूप नहीं है । क्योंकि कारक और ज्ञापक के अंगों के समान यह स्वरूप तो
स्वतः ही सिद्ध है ॥७५॥

[धर्म और धर्मी कथंचित् स्वतः सिद्ध हैं, कथंचित् अपेक्षा से सिद्ध है ।]

धर्म और धर्मी का अविनाभाव परस्पर की अपेक्षा से ही सिद्ध होता है, किन्तु स्वरूप नहीं,
क्योंकि वह स्वरूप तो धर्म-धर्मी की विवक्षा के पहले से ही सिद्ध है । स्वकारण कलाप से ही स्वरूप
स्वतः सिद्ध है । सामान्य विशेष के समान । सामान्य स्वतः सिद्ध स्वरूप वाला है । वह भेद—
व्यतिरेक की अपेक्षा करके अन्वय प्रत्यय से जाना जाता है । विशेष भी स्वतः स्वरूप से सिद्ध है ।
वह सामान्य की अपेक्षा करने वाले व्यतिरेक प्रत्यय से निश्चित किया जाता है ।

1 प्रतिवादिनिराकरणबलात् । दि० प्र० । 2 अयमस्य धर्मोयमस्य धर्मीति सम्बन्धः । व्या० प्र० । 3 अपेक्षया ।
व्या० प्र० । 4 अन्योन्यवीक्षया न सिध्यति धर्मधर्मिणोः स्वरूपम् । दि० प्र० । 5 करोतीति कारकः ज्ञापयतीति
ज्ञापकः । दि० प्र० । 6 स्वरूपस्य । दि० प्र० । 7 स्वरूपम् । दि० प्र० ।

वगम्यते । विशेषोपि स्वतः सिद्धस्वरूपः सामान्यापेक्षव्यतिरेकप्रत्ययादवसीयते¹ । न केवलं सामान्यविशेषयोः² स्वलक्षणमपेक्षितपरस्पराविनाभावलक्षणं³ स्वतःसिद्धलक्षणमपि तु धर्म-धर्मिणोरपि⁴ गुणगुण्यादिरूपयोः⁵, कर्तृकर्मबोध्यबोधकवत् [कारकाङ्गकर्तृकर्मवत् ज्ञापकाङ्ग-बोध्यबोधकवच्च] । न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्⁶, उभयासत्त्व-प्रसङ्गात्⁷ । नापि कर्तृत्वव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परापेक्षः, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्च-यावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात् । एतेन बोध्यबोधकयोः प्रमेय-प्रमाणयोः स्वरूपं स्वतःसिद्धं ज्ञाप्यज्ञापकव्यवहारस्तु परस्परापेक्षासिद्धं⁸ इत्यभिहितम् । तद्व-त्सकलधर्मधर्मिभूतानामर्थानां '(१) स्यादापेक्षिकी सिद्धिः, तथा⁹ व्यवहारात् । (२) स्या-

केवल सामान्य-विशेष का स्वलक्षण, परस्परापेक्षित अविनाभाव लक्षण रूप नहीं है । किन्तु धर्म-धर्मों का स्वतः सिद्ध लक्षण (स्वरूप) भी, परस्परापेक्षित अविनाभाव लक्षण रूप नहीं है । अर्थात् जैसे सामान्य और विशेष का स्वलक्षण स्वतः सिद्ध है । क्योंकि स्वरूप परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है । वैसे ही धर्म और धर्मों का स्वरूप स्वतः सिद्ध है । वह एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है । गुण-गुणी आदि रूप धर्म-धर्मों का स्वरूप सिद्ध है । अर्थात् धर्म गुण कहलाते हैं और धर्मों गुणी कहलाता है । प्रत्येक गुण का स्वरूप स्वतः सिद्ध है और अनंत गुण सहित गुणी का स्वभाव भी स्वतः सिद्ध है । कर्त्ता-कर्म और बोध्य-बोधक के समान ।

जैसे कि कारक के अंग कर्त्ता और कर्म स्वतः सिद्ध हैं । एवं ज्ञापक के अंग बोध्य और बोधक ज्ञान स्वतः सिद्ध हैं । कर्त्ता का स्वरूप कर्म की अपेक्षा रखे, अथवा कर्म का स्वरूप कर्त्ता की अपेक्षा रखे ऐसा नहीं है । अन्यथा—जब कर्त्ता का स्वरूप कर्म की अपेक्षा रखेगा तब कर्त्ता के स्वरूप का अभाव हो जाने से एक-दूसरे के आश्रित होने से दोनों के ही अभाव का प्रसंग आ जायेगा ।

उसी प्रकार से कर्त्ता का व्यवहार अथवा कर्म का व्यवहार परस्पर में अनपेक्ष हो ऐसा भी नहीं है । क्योंकि जो कर्त्ता है, वह कर्म के निश्चयपूर्वक ही जाना जाता है । एवं कर्म भी कर्त्ता की प्रति-पत्ति पूर्वक ही जाना जाता है । इसी कथन से बोध्य, बोधक प्रमेय प्रमाण का स्वरूप स्वतः सिद्ध है, किन्तु ज्ञाप्य, ज्ञापक व्यवहार तो परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध है । ऐसा कहा गया समझना चाहिये ।

उसी प्रकार से सकल धर्म-धर्मों पदार्थों में सप्तभंगी घटित कर लेना चाहिये । यथा—

१. कथञ्चित् आपेक्षिक धर्म-धर्मों आदि की सिद्धि है क्योंकि वैसा व्यवहार देखा जाता है ।

1 बसः । व्या० प्र० । 2 व्यवहारः । दि० प्र० । 3 भवतोत्यध्याहारः । दि० प्र० । 4 न केवलं सामान्यविशेषयोः स्वलक्षणमपेक्षितपरस्पराविनाभावलक्षणं स्वतः सिद्धलक्षणमपि तु धर्मधर्मिणोरपि तथा । व्या० प्र० । 5 आदिशब्देन विशेष्यविशेषणसाध्यसाधनवाच्यवाचकग्राह्याग्राहकादिकं ज्ञेयम् । दि० प्र० । 6 अन्यथा । दि० प्र० । 7 सर्वथा सापेक्षे भवतश्चेत्तदोभयोः कर्तृकर्मणोरसत्त्वं प्रसजति । दि० प्र० । 8 भा । व्या० प्र० । 9 धर्मधर्मित्वप्रकारेण । व्या० प्र० ।

दनापेक्षिकी पूर्वप्रसिद्धस्वरूपत्वात् । (३) स्यादुभयी क्रमापितद्वयात् । (४) स्यादवक्तव्या, सहार्पितद्वयात् । (५) स्यादापेक्षिकी चावक्तव्या च, तथा निश्चयेन सहार्पितद्वयात् । (६) स्यादनापेक्षिकी चावक्तव्या च, पूर्वसिद्धत्वसहार्पितद्वयात् । (७) स्यादुभयी चावक्तव्या च, क्रमाक्रमार्पितोभयात् ।' इति सप्तभङ्गीप्रक्रियां योजयेन्नयविशेषवशादविरुद्धां पूर्ववत् ।

२. कथंचित् स्वरूप की अपेक्षा धर्म-धर्मी की सिद्धि अनापेक्षिक है क्योंकि इसका स्वरूप पूर्व से ही प्रसिद्ध है ।

३. कथंचित् उभय रूप से सिद्धि है क्योंकि अपेक्षा, अनपेक्षा रूप दोनों धर्मों की कर्म से विवक्षा की गई है ।

४. कथंचित् अवक्तव्य है क्योंकि एक साथ दोनों की अपेक्षा है ।

५. कथंचित् आपेक्षिक और अवक्तव्य है क्योंकि धर्म-धर्मी क्रम के प्रकार से निश्चय से आपेक्षिक की अर्पणा है, और दोनों की युगपत् अर्पणा है ।

६. कथंचित् अनापेक्षिक और अवक्तव्य सिद्धि है, क्योंकि दोनों के स्वरूप पूर्व से प्रसिद्ध हैं एवं एक साथ दोनों की अर्पणा है ।

७. कथंचित् आपेक्षिकी, अनापेक्षिकी और अवक्तव्य है क्योंकि कर्म से दोनों की अर्पणा है और अक्रम से भी अर्पणा है, ऐसे दोनों ही विवक्षित हैं ।

इस प्रकार से नय विशेष के वश से पूर्व के समान अविरुद्ध सप्तभङ्गी प्रक्रिया को घटित करना चाहिये ।



एकांतरूप अपेक्षा-अनपेक्षा का खण्डन व स्याद्वाद सिद्धि का सारांश

बौद्ध का ऐसा कहना है कि धर्म और धर्मी परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा से ही सिद्ध होते हैं। जैसे कि मध्यमा, अनामिका अंगुली। अतः ये कल्पित हैं, वास्तविक नहीं। क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान में ये धर्म अथवा धर्मी प्रतिभासित नहीं होते हैं निर्विकल्प के अनंतर होने वाले विकल्प ज्ञान से ही कल्पित किये गये हैं। कारण निर्विकल्प तो स्वलक्षण को ही विषय करता है। अतः केवल अपेक्षा से ही विकल्प ज्ञान में सामान्य-विशेष, गुण-गुणी, कार्य-कारण आदि भाव झलकते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि इस तरह से विशेषण, विशेष्य आदि सभी को अपेक्षाकृत ही माना जायेगा तब तो दोनों की ही सिद्धि नहीं होगी। नील स्वलक्षण और नील ज्ञान यदि दोनों एक-दूसरे की अपेक्षा से ही होंगे तो नील की अपेक्षा से रहित नील ज्ञान सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि वह ज्ञान तो उस पदार्थ से ही उत्पन्न हुआ है और इन दोनों में से किसी एक का अभाव होने से बचे हुये दूसरे का भी अभाव हो जायेगा। एवं समान देश-काल स्वभाव वाले दो पदार्थों में परस्परापेक्षाकृत दूर और निकट व्यवहार नहीं है अन्यथा गधे के दो सींग में भी दूर-निकट आदि व्यवहार हो जाना चाहिये। अतः ये दूरासन्न आदि भाव स्वभावकृत हैं। अतः एकांत से आपेक्षिक सिद्धि नहीं होती है।

योग का पूर्व पक्ष—धर्म और धर्मी सर्वथा अनापेक्षिक ही हैं क्योंकि ये दोनों प्रतिनियत वस्तु के विषय हैं। जैसे नील और नील का स्वरूप सर्वथा एक-दूसरे की अपेक्षा से रहित हैं।

जैन—सर्वथा अनपेक्ष में भी अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता है। सामान्य को अन्वय एवं विशेष को व्यतिरेक कहते हैं। ये दोनों परस्पर आपेक्षिक ही हैं। भेद निरपेक्ष अभेद अन्वय बुद्धि का विषय नहीं है। एवं अभेद निरपेक्ष भेद भी व्यतिरेक बुद्धि के विषय नहीं हैं। अतएव कथंचित् आपेक्षिक ही वस्तुसिद्ध है। यदि कोई परस्पर निरपेक्ष दोनों को स्वीकार करे तो वह भी असंभव है। अवाच्य एकांत भी ठीक नहीं है। क्योंकि स्याद्वाद के अभाव में दोनों बातें घटित नहीं होती हैं।

अतः जैनाचार्य स्याद्वाद की सिद्धि करते हैं कि—“सामान्य और विशेष के समान धर्म और धर्मी का स्वरूप स्वतः सिद्ध है। किन्तु दोनों का अविनाभाव परस्पर की अपेक्षा ही सिद्ध होता है। जैसे कारक के अंग—कर्ता और कर्म स्वतः सिद्ध हैं। एवं ज्ञापक के अंग ज्ञेय और ज्ञान स्वतः सिद्ध हैं।

कर्त्ता का स्वरूप कर्म की अपेक्षा नहीं रखता, अन्यथा कर्त्ता के स्वरूप का अभाव हो जाने से कर्म के स्वरूप का भी अभाव हो जायेगा। एवं कर्त्ता का व्यवहार कर्म के व्यवहार की अपेक्षा अवश्य रखता है। क्योंकि कर्म के निश्चयपूर्वक ही कर्त्ता जाना जाता है। इत्यादि—सप्तभंगी प्रक्रिया—

१. कथंचित् धर्म-धर्मी आपेक्षिक हैं क्योंकि वैसा व्यवहार देखा जाता है।

२. कथंचित् धर्म-धर्मी स्वरूप की अपेक्षा से अनापेक्षिक सिद्ध हैं क्योंकि इनका स्वरूप पूर्व से ही प्रसिद्ध है।

३. कथंचित् उभयात्मक हैं क्योंकि अपेक्षा-अनापेक्षा दोनों ही विवक्षित हैं।

४. कथंचित् अवक्तव्य हैं क्योंकि युगपत् दोनों की अपेक्षा है।

५. कथंचित् आपेक्षिक और अवक्तव्य है क्योंकि क्रम से अपेक्षा की एवं युगपत् की विवक्षा है।

६. कथंचित् अनापेक्षिक अवक्तव्य हैं क्योंकि स्वरूप की अपेक्षा एवं युगपत् दोनों की विवक्षा है।

७. कथंचित् आपेक्षिक, अनापेक्षिक अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम और अक्रम से उभय की अपेक्षा है।

इस तरह से कथंचित् अपेक्षा अनापेक्षाकृत सिद्धि होती है।

इस प्रकार से पाँचवाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ।

सार का सार—बौद्ध धर्म और धर्मी को अपेक्षाकृत ही सिद्ध मानता है। और योग धर्म-धर्मी को अपेक्षा रहित अलग-अलग ही मानता है। जीव धर्मी है और ज्ञान आदि उसके धर्म हैं। ये धर्म-धर्मी परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा लेकर ही धर्म-धर्मी कहलाते हैं। धर्म न हो तो धर्मी कैसे बनेगा और धर्मी न हो तो उसका धर्म कहाँ से आयेगा। किन्तु ये ही धर्म-धर्मी अपने-अपने स्वरूप से स्वतः सिद्ध हैं। जीव का स्वरूप है चैतन्य और ज्ञान का स्वरूप है जानना। इन अपने-अपने स्वरूप से दोनों-एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हैं। अतः स्याद्वाद में दोनों बातें ठीक हैं।

अपेक्षकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी¹ ²प्रवृद्धानेकान्ता³मृतरस⁴निषे⁵कानवरतम⁶ ।
प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः⁷ ⁸समन्ताद्भद्रं⁹ वो विशतु¹⁰ मुनिपस्याऽमलमतेः¹¹ ॥

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ पञ्चमः परिच्छेदः ।

श्लोकार्थ — अमल-निर्दोष बुद्धि के धारक श्री मुनिराज संमतभद्र स्वामी की वाणी सकलादेश रूप पदार्थ का विषय करने वाली है — प्रमाणाधोन है और विकलादेश रूप-वस्तु के एक देश को कहने वाली होने से नयाधीन है ।

इस प्रकार के प्रमाण और नय के निमित्त से जो प्रवृत्त हुई है और अपेक्षैकांत, अनपेक्षैकांत आदि रूप प्रबल विष के उद्रेक को दलन करने वाली है । हमेशा ही बढ़ते हुये अनेकांत रूप अमृतरस के निषेक रूप है अर्थात् अनेकांतमय अमृतरस को झराने वाली है । ऐसी श्री संमतभद्र स्वामी की वाणी तुम सभी को "संमतात्" सब तरफ से "भद्रं" कल्याण को प्रदान करे ।

सार — इस परिच्छेद में सभी वस्तुओं की और उनमें होने वाले धर्मों की कथंचित् आपेक्षिक एवं कथंचित् अनापेक्षिक सिद्धि दिखाई गई है और उस-उस अपेक्षावाद अनपेक्षावाद रूप एकांत का निरसन किया गया है ।

दोहा—स्याद्वाद वाणी नमूं, सर्वसिद्धि सुख हेतु ।

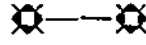
भवसमुद्र से भव्य को, पार करन यह सेतु ॥१॥

इस प्रकार श्रीविद्यानंदि आचार्य विरचित अष्टसहस्री ग्रंथ में ज्ञानमती आर्थिकाकृत कारिका पद्यानुवाद, अर्थ, भावार्थ, विशेषार्थ और सारांश से सहित इस स्याद्वाद चिंतामणि नामक हिन्दी भाषा टीका में यह पाँचवाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ ।



1 उत्कर्ष । दि० प्र० । 2 यसः । दि० प्र० । 3 एव । दि० प्र० । 4 भा । दि० प्र० । 5 अनेकान्तामृतरसेन निषेको यस्या वाचः सा । दि० प्र० । 6 निरन्तरम् । दि० प्र० । 7 प्रतिपादन । दि० प्र० । 8 सामस्त्येन । दि० प्र० । 9 कल्याणरूपं सुखम् । दि० प्र० । 10 प्रयच्छतु । दि० प्र० । 11 निर्मलबुद्धेः । दि० प्र० ।

अथ षष्ठः परिच्छेदः ।



जैनैर्द्रववत्रांबुजनिर्गता या, भव्यस्य माता हितदेशनायां
अनंतदोषान् क्षपितुं क्षमापि, तनोतु सा मे वरबोधिलब्धिम् ॥१॥

¹पुष्यदकलङ्कवृत्ति² समन्तभद्रप्रणीततत्त्वार्थाम् ।

निर्जितदुर्णयवादामष्टसहस्रीमवंति³ सद्दृष्टिः⁴ ॥

सिद्धं⁵ चेद्धेतुतः⁶ सर्वं⁷ न प्रत्यक्षादितो⁸ गतिः ।

सिद्धं⁹ चेदागमात्सर्वं¹⁰ ¹¹विरुद्धार्थम¹² ता¹³ न्यपि¹⁴ ॥७६॥

अर्थ—जिनैर्द्रववत्रांबुजनिर्गता है वह भव्य जीवों को हितकर उपदेश देने में माता के समान ही है। वह भव्यों के अनंत दोषों को भी नष्ट करने में समर्थ है ऐसी वह जिनवाणी मुझे उत्तम बोधि—रत्नत्रय का लाभ प्रदान करे। (यह मंगलाचरण श्लोक अनुवादकर्त्री द्वारा रचित है)

श्लोकार्थ—अकलंक—निर्दोष अर्थ को पुष्ट करने वाली अथवा अकलंकदेव द्वारा रचित अष्टशती नाम की टीका को पुष्ट करने वाली, एवं समंतभद्र—कल्याण स्वरूप तत्त्वों के अर्थ का प्रणयन करने वाली अथवा श्री समंतभद्रस्वामी द्वारा रचित देवागमस्तोत्र से तत्त्वों के अर्थ का प्रतिपादन करने वाली इस अष्टसहस्री नाम की टीका को सम्यग्दृष्टिजन दुर्णयवाद को जीतने वाली समझते हैं ॥१॥

1 पुष्यन्ती पुष्टा भवन्तीत्यर्थः । व्या० प्र० । 2 ता । वसः । व्या० प्र० । 3 अवंतु । इति पा० । व्या० प्र० । 4 साक्षात्सम्यग्दृष्टिरेव जानाति न तु मिथ्यादृष्टिः । दि० प्र० । 5 इह हीत्याचारभ्य चार्वाकादिवदित्यन्तो ग्रन्थः कारिकायावतारो दृष्टव्यः । दि० प्र० । 6 अनुमानादेव । दि० प्र० । 7 उपादेयत्वम् । दि० प्र० । 8 आदिभूतात्प्रत्यक्षादिति संबन्धो ज्ञेयानुमानात्प्रथमकथिता । दि० प्र० । 9 शास्त्रोपदेशादेव । दि० प्र० । 10 उपादेयत्वम् । दि० प्र० । 11 परस्पर । दि० प्र० । 12 बौद्धनैयायिकसांख्य्यादीनामागमादेव सिद्धानि भवेयुः ननु प्रत्यक्षादिना । दि० प्र० । 13 अपि सम्भावनायाम् । दि० प्र० । 14 स्याद्वादी वदति । हे हेतुवादिन् ! यदि सर्वं लौकिकोपायतत्त्वं परीक्षिकोपायतत्त्वञ्चानुमानात्सिद्धं तदा तव प्रत्यक्षागमादिदर्शनाभावेऽनुमानं नोदेति । अथवा हे आगमवादिन् यदि आगमवलात्सर्वं सिद्धं तदा चार्वाकादीनि विरुद्धार्थमतानि अपि सिद्धानि सर्वेषां स्वस्वागमप्रतिपादकत्वात् । दि० प्र० ।

इह हि सकललौकिकपरीक्षकैः उपेयतत्त्वं¹ व्यवस्थाप्योपायतत्त्वं² व्यवस्थाप्यते, कृष्यादिषु प्रवर्तमानानां³ व्यवस्थितसस्याद्युपेयानामेव⁴ ⁵तदुपायव्यवस्थापनप्रयत्नोपलम्भात्, 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इति प्रसिद्धेः, मोक्षार्थिनां च प्रेक्षावतां⁶ व्यवस्थितोपेय-मोक्ष⁷स्वरूपाणामेव⁸ ⁹तदुपायव्यवस्थापनव्यापारदर्शनात्¹⁰, ¹¹अव्यवस्थितमोक्षतत्त्वानां¹² तदु-पायव्यवस्थापनपराङ्मुखत्वाच्चार्वाकादिवत्¹³ ।

यदी हेतु से सभी तत्त्व की, सिद्धी मानी जाय सही ।
तब प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से, वस्तुस्थिति अरु ज्ञान नहीं ॥
यदि आगम से सभी तत्त्व को सच्चे सिद्ध कोई करते ।
तब विरुद्ध मत वाले आगम, से विरुद्ध मत सच होंगे ॥७६॥

कारिकार्थ—यदि सभी तत्त्व एकांत से हेतु से ही सिद्ध होते हैं तब तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से किसी तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी । यदि सभी तत्त्व आगम से ही सिद्ध माने जायेंगे तब तो विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने वाले मत भी आगम से सिद्ध हो जावेंगे ॥७६॥

यहाँ पर सकल लौकिक और परीक्षकजनों के द्वारा 'उपेय तत्त्व की व्यवस्था करके उपाय तत्त्व की व्यवस्था की जाती है ।'

कृषकजन कृषि आदि कार्यों में प्रवृत्ति करते हुए निश्चित सस्य आदि उपेय रूप वस्तु को जानकर ही उपायभूत कृषि आदि कर्म की व्यवस्था में प्रयत्नशील देखे जाते हैं । क्योंकि प्रयोजन-मनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते" प्रयोजन के बिना मूर्ख अथवा आलसी भी किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करते हैं । ऐसी बात लोक में भी प्रसिद्ध है । एवं बुद्धिमान मोक्षार्थी पुरुष भी व्यवस्थित मोक्षस्वरूप उपेय तत्त्व का निश्चय करके ही उस मोक्ष प्राप्ति के उपायभूत तत्त्वों की व्यवस्था में व्यापार करते हैं ऐसा देखा जाता है क्योंकि जिन्हें उपेयरूप मोक्ष तत्त्व का निश्चय नहीं हुआ है वे उसके उपाय की व्यवस्था में भी पराङ्मुख ही हैं, जैसे कि चार्वाक आदि ।

कोई बौद्ध लोग हेतुवाद को ही मानते हैं उसी का स्पष्टीकरण—

1 उपादेयत्वम् । दि० प्र० । 2 कारण । व्या० प्र० । 3 निर्णीति । दि० प्र० । 4 एव । दि० प्र० । 5 कारण । दि० प्र० । 6 उपेयञ्च तन्मोक्षस्वरूपञ्च तन्निश्चितं यैस्तेषाम् । व्या० प्र० । 7 व्यवस्थितमोक्षस्वरूपाः पुरुषाः पक्षस्तदुपाये प्रवर्तन्त इति साध्यो धर्मो व्यवस्थितमोक्षतत्त्वानां तदुपायपराङ्मुखत्वात् । ये अव्यवस्थितमोक्षतत्त्वेन यदुपायपराङ्मुखास्ते तदुपाये न प्रवर्तन्ते यथा चार्वाकादयः । दि० प्र० । 8 निश्चयेन । दि० प्र० । 9 रत्नत्रय । दि० प्र० । 10 निश्चयेन । व्या० प्र० । 11 अनिश्चित । व्या० प्र० । 12 मोक्ष । व्या० प्र० । 13 कारण । व्या० प्र० ।

[केचित् बौद्ध हेतुना एव सर्वतत्त्वसिद्धि मन्व्यते, जैनाचार्याः तदेकांतं निराकुर्वन्ति ।]

तत्र हेतुत एव सर्वमुपेयतत्त्वं सिद्धं, न प्रत्यक्षात्, तस्मिन्सत्यपि विप्रतिपत्तिसम्भवात्, युक्त्या यन्न घटामुपति तदहं दृष्टवापि न श्रद्धे इत्यादेरेकान्तस्य^१ बहुलं दर्शनात्, ^२अर्थानर्थविवेचनस्यानुमाना^३श्रयत्वात्तद्वि^४प्रतिपत्ते^५स्तद्व्यवस्थापनायाहेरवादिवचनात्^६। प्रत्यक्षतदाभासघोरपि^७ व्यवस्थितिरनुमानात्, अन्यथा संकरव्यतिकरोपपत्तेरर्थानर्थविवेचनस्य ^८प्रत्यक्षाश्रयत्वासंभवात् । इति केचित्तेषां ^९प्रत्यक्षाद्गतिरनुमानादादितोपि^{१०} न स्यात् । न च धर्मिणः साधनस्योदाहरणस्य च प्रत्यक्षादगतौ कस्यचिदनुमानं प्रवर्तते । अनुमानान्तरात्तद्गतौ

[कोई बौद्ध हेतुमात्र से ही सभी तत्त्वों की सिद्धि मानते हैं किन्तु जैनाचार्य इस एकांत का परिहार करते हैं ।]

बौद्ध—“सभी उपेय तत्त्व हेतु से ही सिद्ध हैं प्रत्यक्ष से नहीं । क्योंकि प्रत्यक्ष के होने पर भी विसंवाद संभव है । युक्ति से जो घटित नहीं होता है उसको हम देखकर भी श्रद्धा नहीं करते हैं ।

जैन—यह आप बौद्ध का कथन ठीक नहीं है । हेतुवाद इत्यादि बहुत प्रकार से एकान्त मत देखे जाते हैं । अर्थ और अनर्थ का विवेचन अनुमान के आश्रित है फिर भी उसमें विसंवाद हो जाने पर उनकी व्यवस्था करने के लिये अहेतु आदि आगम आदि वचन देखे जाते हैं ।

बौद्ध—प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षाभास की व्यवस्था भी अनुमान से ही होती है क्योंकि प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक है । अन्यथा प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास में संकर व्यतिकर दोष आ जावेंगे । अतएव अर्थ और अनर्थ का विवेचन भी प्रत्यक्ष के आश्रित नहीं हो सकता है ।

जैन—यदि आप अनुमानवादी बौद्ध ऐसा कहते हैं, तब तो आपके यहां प्रत्यक्ष होने वाले आदि के (प्रथम) के अनुमान से भी उपेय तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकेगा । क्योंकि अनुमान की उत्पत्ति के लिये धर्मी, साधन और उदाहरण का प्रत्यक्ष दर्शन अवश्यम्भावी है और ऐसा न मानने पर तो किसी को अनुमान ज्ञान ही नहीं सकेगा । यदि अनुमानान्तर से धर्मी आदि का ज्ञान माना जावे तब तो वह अनुमानान्तर भी धर्मी, साधन और उदाहरणपूर्वक ही होगा । एवं पुनः उसके लिये अनुमानान्तर की अपेक्षा करनी पड़ेगी और अनवस्था दोष आ जावेगा ।

१ अभिनिवेशस्य । व्या० प्र० । २ अर्थानर्थो हिताहिते । व्या० प्र० । ३ च । दि० प्र० । ४ मोक्ष । दि० प्र० । कुतोनुमानमित्युक्त आह । व्या० प्र० । ५ प्रत्यक्ष । दि० प्र० । ६ हेत्वाख्यं प्रकरणम् । व्या० प्र० । ७ किञ्च । व्या० प्र० । ८ प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वात् । व्या० प्र० । ९ आह स्याद्वादी तेषामनुमानवादिनामुपेयादितत्त्वस्य प्रत्यक्षप्रमाणादेव निश्चितिः । केवलं हेतूपदेशाभ्यां न स्यात् = पर्वतादेर्द्धर्मिणः धूमत्वादेः साधनस्य महानसादेरुदाहरणस्य प्रत्यक्षादनिश्चितौ सत्यां कस्यचित्पुंसोनुमानं न प्रवर्तते = धर्मिसाधनोदाहरणादीनामनुमानान्निश्चितौ सत्यां तदप्यनुमानं धर्मिप्रमुखनिर्णयपूर्वकेन तदप्यन्यमनुमानमपेक्षत इत्यनवस्था । दि० प्र० । १० धर्म्यादि । दि० प्र० ।

तस्यापि¹ धर्म्यादिगतिपूर्वकत्वाद्नुमानान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था स्यात् । ततः कथंचित्-
साक्षात्करणमन्तरेण² धर्म्यादीनां न³ क्वचिदनुमानं⁴ प्रवर्तेत । किं पुनः शास्त्रोपदेशात्⁵ ?
इति प्रत्यक्षादपि सिद्धिरभ्यस्तविषयेभ्युपगन्तव्या, अन्यथा शब्दलिङ्गादिप्रतिपत्तेरयोगात् परा-
थानुमानरूपाणामपि शास्त्रोपदेशानामप्रवृत्तेः ।

[वेदांती आगमादेव तत्त्वसिद्धिं मन्यते, जैनाचार्याः तदेकांतं निराकुर्वन्ति ।]

ये त्वाहुः—‘आगमादेव⁶ सर्वं सिद्धं, तमन्तरेण प्रत्यक्षेपि माणिक्यादौ यथार्थनिर्ण-
यानुपपत्तेः⁷, अनुमानप्रतिपन्नेपि⁸ चिकित्सितादावागमापेक्षणात्⁹, आगमबाधितपक्षस्यानुमा-
नस्यागमकत्वाच्च, ¹⁰परब्रह्मणः ¹¹शास्त्रादेव सिद्धेः, ¹²प्रत्यक्षानुमानयोरविद्याविवर्तविषयत्वादा-

अतएव धर्मी, साधन, उदाहरण का कथंचित् साक्षात्कार किये बिना कहीं पर भी अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकता है । पुनः शास्त्र के उपदेश से भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ।

इसलिये अभ्यस्त विषय में प्रत्यक्ष से भी सिद्धि स्वीकार करना चाहिये अन्यथा शब्द और लिगादि से भी ज्ञान नहीं हो सकेगा । पुनः परार्थानुमान रूप शास्त्रोपदेश की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकेगी ।

[वेदांती सभी तत्त्वों की सिद्धि आगम से ही मानते हैं किन्तु जैनाचार्य एकांत का निराकरण करते हैं ।]

ब्रह्माद्वैतवादी—आगम से ही सभी तत्त्व सिद्ध होते हैं क्योंकि आगम के बिना प्रत्यक्ष माणिक्य आदि में भी यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता है । अनुमान से प्रतिपन्न भी चिकित्सा आदि वैद्यकशास्त्र में आगम की अपेक्षा देखी जाती है । आगम से बाधित पक्ष वाला अनुमान भी आगमक ही है । अर्थात् जैसे “ब्राह्मण को मदिरा पीना चाहिये क्योंकि वह द्रव द्रव्य है, दूध के समान है” इत्यादि अनुमान वाक्यों में “न सुरां पिबेत् न पलाण्डुं भक्षयेत्” मदिरा नहीं पीना चाहिये, प्याज नहीं खाना चाहिये इत्यादि आगम वाक्यों से बाधा आने से पक्ष बाधित हैं ।

इस प्रकार से लौकिक तत्त्व ही आगम से सिद्ध हो ऐसी बात नहीं है किन्तु पारमार्थिक तत्त्व भी आगम से ही सिद्ध होते हैं । परम ब्रह्म भी आगम से ही सिद्ध है क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण तो अविद्या की पर्याय को ही विषय करते हैं किन्तु आगम के विषयभूत, सन्मात्रस्वरूप, परमात्मा में ही प्रमाणपने का व्यवहार देखा जाता है एवं ये शास्त्र के उपदेश अबाधित ही हैं

1 अनुमानस्य । दि० प्र० । 2 स्वरूपापेक्षया न पररूपापेक्षया । व्या० प्र० । 3 साध्ये । व्या० प्र० । 4 स्वार्थानुमानम् । व्या० प्र० । 5 परार्थानुमानम् । व्या० प्र० । 6 ब्रह्माद्वैतवादिनः । दि० प्र० । 7 उपेयतत्त्वम् । व्या० प्र० । 8 अनुभवप्रतिपन्नेपि । इति पा० । दि० प्र० । 9 रोगप्रतीकारावीषधे । व्या० प्र० । 10 परमब्रह्मणः । इति पा० । व्या० प्र० । 11 परार्थानुमानात् । व्या० प्र० । 12 अविद्यारूपाश्च ते विवर्तयिच । व्या० प्र० ।

गमविषये सन्मात्रात्मनि परमात्मन्येव प्रमाणत्वव्यवहरणात् । 'अबाधिताश्चैते शास्त्रोपदेशाः
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादयः, 'प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात्' इति,
तेषां विरुद्धार्थमतान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः सिध्यन्तु, 'विशेषाभावात् । सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्त्वसि-
द्धिरिति^१ चेत्तर्हि युक्तिरपि तत्त्वसिद्धिनिबन्धनं, तत एव तेषां सम्यक्त्वनिर्णयात्, अदुष्ट-
कारणजन्यत्वबाधवर्जितत्वाभ्यां तदुपगमात् । न चैते युक्तिनिरपेक्षाः, परस्परविरुद्धार्थतत्त्व-
सिद्धिप्रसङ्गात्, परब्रह्मण एवापीरुषेयादागमात्सिद्धिर्न पुनः 'कर्मकाण्डस्येश्वरादिप्रवादस्य चेति

“सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि शास्त्र के उपदेश बाधा रहित हैं । प्रत्यक्ष और अनुमान उस आगम को विषय न करने से उस आगम को बाधित नहीं कर सकते हैं ।

जैन—इस प्रकार से तो आपके यहाँ विरुद्ध अर्थ को कहने वाले सिद्धांत भी आगम के उपदेश से सिद्ध हो जावेंगे क्योंकि आपके और उन विरुद्ध मतावलंबियों के आगम में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् अपने-अपने आगम को सभी प्रमाण मानते हैं ।

ब्रह्माद्वैतवादी—सम्यक्-समीचीन उपदेश से ही तत्त्व की सिद्धि होती है ।

जैन—तब तो युक्ति भी तत्त्व की सिद्धि में कारण हो गई क्योंकि युक्ति से ही उन आगमों में समीचीनता का निर्णय किया जाता है । कारण कि अदुष्टकारण से जन्म होने से और बाधाओं से रहित होने से ही उनमें समीचीनता मानी गई है ।

ये आगम के उपदेश युक्ति से निरपेक्ष नहीं हैं अन्यथा परस्पर विरुद्ध अर्थरूप तत्त्वों की सिद्धि का भी प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् “उपदेशाः सम्यक् संति अदुष्टकारण जन्यत्वात् बाधवर्जित्वाच्च” उपदेश सच्चे हैं क्योंकि निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुए हैं और बाधारहित हैं । ये आगम इस प्रकार के अनुमान से निरपेक्ष माने जावेंगे तब तो परस्पर विरुद्ध आगम वाक्य भी प्रामाणिक मानने पड़ेंगे ।

१ सर्वं खल्विदं ब्रह्मकमेव परं ब्रह्मेत्यादय एते शास्त्रोपदेशा वेदवाक्यान्यबाधिताः प्रमाणोपपन्ना इति । दि० प्र० । २ अपरेण प्रत्यक्षानुमानाभ्यां शास्त्रोपदेशा बाधिता इत्युक्ते अहेतुवाद्याह अहो प्रत्यक्षानुमाने द्वे ब्रह्मस्वरूपागोचरत्वेन कृत्वा तेषां ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकशास्त्रोपदेशानां बाधक इति न घटते यतः इति स्या० आह । तेषामेववादिनां अभिनेष्टोमेन यजेत इत्यादि कर्मकाण्डः सर्ववित्सलोकविदित्यादीश्वरप्रवादवाक्यान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः सकाशात्सिद्धानि भवन्तु । कस्मादुभयनारीरुषेयप्रतिपादितत्वेन विशेषासंभवात् । दि० प्र० । ३ शास्त्राणाम् । व्या० प्र० । ४ अत्राह हेतुवादी हे युक्तिवादिन् ब्रह्मप्रतिपादका उपदेशाः सत्यभूता न तु विरुद्धार्थमतोपदेशकाः अतः सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्त्वसिद्धिर्जायते नेतरेभ्यः इति चेत् । स्था० वदति तदा युक्तिविचाररूपापि तत्त्वसिद्धिकारणं भवतु कुतः । ततो युक्ते सकाशादेव तेषामुपदेशानां सत्यत्वनिश्चयघटनात् = तथावेदान्तवादिभिरदुष्टकारणजन्यत्वबाधवर्जितत्वपरीक्षाभ्यां कृत्वा युक्तिप्रमाणस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते यतः । पुनराह स्याद्वादी एते शास्त्रोपदेशायुक्तिरहिता न । युक्तिनिरपेक्षा भवन्ति चेत्तदा परस्परविरुद्धस्वरूपं तत्त्वं सिद्धयति = कस्मात् । अपीरुषेयाद्वेदवाक्यात्परमब्रह्मण एव सिद्धिः स्यात्— ‘अभिनेष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम’ इत्यादि कर्मकाण्डः विश्वतश्चक्षुर्विश्वतःपादित्यादीश्वरस्तुतिप्रवादस्यापीरुषेयाद्वेदवाक्यात्सिद्धिर्न स्यात् । इति निश्चायकप्रमाणासंभवात् । दि० प्र० । ५ कथनस्य । व्या० प्र० ।

नियामकाभावात् । कथं च ¹श्रौत्रप्रत्यक्षस्याप्रमाणत्वे² वैदिकशब्दस्य ³प्रतिपत्तिर्यतस्तदर्थ-
निश्चयः स्यात् ? ⁴प्रमाणत्वे कुतोनुमानाभावे ⁵संवादविसंवादाभ्यां प्रमाणेतरसामान्याधि-
गमो यतः किञ्चिदेव श्रौत्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं ⁶नान्यदिति व्यवतिष्ठेत ? ⁷ततः कुतश्चिदागमात्-
त्वसिद्धिमनुरुध्यमानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्त्वसिद्धिरनुमन्तव्या, अन्यथा तदसिद्धेः ।

तथा च परमब्रह्म की ही अपौरुषेय रूप आगम से सिद्धि होती है किन्तु कर्मकाण्ड-यज्ञादि क्रियाओं के प्रकरण की एवं ईश्वर आदि के प्रवाद की सिद्धि नहीं होती है इस प्रकार का नियम भी कोई नहीं दिख रहा है । एवं श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाले श्रावण प्रत्यक्ष को अप्रमाण मान लेने पर वैदिक शब्दों का ज्ञान भी कैसे हो सकेगा कि जिससे उन वेदों के अर्थ का निश्चय हो सके अर्थात् वेद वाक्यों के अर्थ का भी निश्चय नहीं हो सकेगा क्योंकि आपने तो सभी प्रत्यक्ष को अप्रमाण मान लिया है ।

यदि आप उस श्रोत्रेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष को प्रमाण मान लेंगे तब तो अनुमान के अभाव में संवाद के होने से यह प्रमाण है और विसंवाद के होने से यह अप्रमाण है इस प्रकार का प्रमाण अप्रमाण रूप सामान्य ज्ञान भी कैसे हो सकेगा कि जिससे कोई वेद को ग्रहण करने वाला या ब्रह्म-वाचक शब्द को ग्रहण करने वाला श्रावण प्रत्यक्ष ही प्रमाण हो सके और अन्य इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण न हो सके, यह व्यवस्था भी कैसे बन सकेगी ? अर्थात् “इदं श्रौत्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं संवादकत्वात् इदं त्वप्रमाणं विसंवादकत्वात्” ‘यह श्रोत्र इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रमाण है क्योंकि यह विसंवादक है किन्तु यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष अप्रमाण है क्योंकि यह विसंवादक है’ इस प्रकार के अनुमान के अभाव में श्रावण प्रत्यक्ष को ही प्रमाणता कैसे बन सकेगी ? इसलिये किसी आगम के द्वारा तत्त्वसिद्धि को स्वीकार करते हुये आप ब्रह्माद्वैतवादियों को प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा भी तत्त्व की सिद्धि स्वीकार करना चाहिये । अन्यथा केवल आगम को ही प्रमाणिक मानोगे तब तो वह आगम भी सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

1 पुनराह स्याद्वादी श्रोत्रयोरिदं श्रोत्रं श्रौत्रञ्च तत्प्रत्यक्षञ्च श्रौत्रप्रत्यक्षं तस्य सत्त्वे सति वेदशब्दानां निश्चितिः कथं स्यात् तस्य वैदिकशब्दस्यार्थनिर्णयः यतः कुतः स्यान्न कुतोपि । दि० प्र० । 2 शब्दग्राहकस्य । श्रौत्रप्रत्यक्षस्य । दि० प्र० । 3 वैदिकशब्दः । दि० प्र० । 4 आह परः श्रौत्रप्रत्यक्षं प्रमाणमस्तीति स्यात् व० श्रौत्रप्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वे जाते सत्यनुमानमपि प्रमाणम् । अन्यथानुमानस्थानङ्गीकारे संवाद-विसंवादाभ्यां कृत्वेदं प्रमाणमिदमप्रमाणमिति सामान्यपरिज्ञानं कुतो न कुतोपि श्रौत्रप्रत्यक्षमेवप्रमाणम् । अन्यत्र नेत्र-प्रत्यक्षरसनाप्रत्यक्षानुमानादिकं न । इति यतः कुतो व्यवतिष्ठेत । न कुतोपि । दि० प्र० । 5 प्रमाणत्वाप्रमाणत्व । दि० प्र० । 6 ईश्वरादिशब्दग्राहिश्रौत्रप्रत्यक्षम् । दि० प्र० । 7 न व्यवतिष्ठते यतः । न्या० प्र० ।

[केचित् वैशेषिकाः सौगताश्च प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धिं मन्यन्ते किंतु जैनाचार्यास्तदपि निराकुर्वन्ति ।]

प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धिर्नागमादित्यपरे तेषु न सत्यवादिनः, ग्रहोपरागा-
देस्तत्फलविशेषस्य च ^१ज्योतिःशास्त्रादेव सिद्धेः । न च ^२प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्तरेणोपदेशं
ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः । सर्वविदः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तिरनुमानविदां ^३पुनरनुमानादपीति^४
चेन्न, सर्वविदामपि ^५योगिप्रत्यक्षात्पूर्वमुपदेशाभावे^६ ^७तदुत्पत्त्ययोगादनुमानाभाववत् । ^८ते
हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं ^९प्रापयन्तोतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात्कुर्वन्ते,
नान्यथा । तथानुमानविदामपि नात्यन्तपरोक्षेष्वर्थेषु परोपदेशमन्तरेण साध्याविनाभाविसाधन-

[कोई वैशेषिक और सौगत प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो से ही तत्त्वसिद्धि मानते हैं किन्तु आगम से नहीं मानते हैं । जैनाचार्य इनका भी निराकरण करते हैं ।]

वैशेषिक—सौगत—प्रत्यक्ष और अनुमान से ही तत्त्वों की सिद्धि होती है आगम से नहीं होती है ।

जैन—ऐसा कहने वाले आप लोग भी सत्यवादी नहीं हैं क्योंकि ग्रहों का संचार एवं चन्द्र-ग्रहण आदि तथा उनका फल विशेष भी ज्योतिष शास्त्र से ही सिद्ध होता है ।

उपदेश-आगम के बिना केवल प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ही ज्योतिष ज्ञानादि का बोध नहीं हो सकता है ।

शंका—सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष से ही उन ज्योतिर्ज्ञानादि का बोध होता है एवं अनुमानवेत्ताओं को अनुमान से ज्ञान हो जाता है ।

समाधान—ऐसा नहीं करना चाहिये क्योंकि सर्वज्ञों को भी योगि प्रत्यक्ष से पूर्व-पहले उपदेश (आगम) के अभाव में उन ज्योतिर्ज्ञानादि का अभाव है जैसे कि स्वार्थानुमान के अभाव में योगि प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता है ।

वे योगिजन श्रुतमयी-परार्थानुमानरूप एवं चिन्तामयी-स्वार्थानुमानरूप या आगमरूप ही भावना को चरम सीमा पर्यंत प्राप्त होते हुये अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को आत्मसात् करते हैं, अन्यथा नहीं करते हैं । उसी प्रकार से अनुमानवेत्ताओं को भी अत्यंत परोक्षरूप ग्रहोपरागादि पदार्थों के जानने

१ शास्त्रादेश्च । इति पा० । दि० प्र० । २ पुनः प्रमाणद्वयवाद्याह । प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां विना उपदेशज्योतिर्ज्ञानादिपरिज्ञानं न संभवति कथमित्युक्ते विवृणोति । सर्वज्ञस्य प्रत्यक्षप्रमाणादेवोपदेशज्योतिर्ज्ञानादिपरिज्ञानमनुमानवादिनं छद्मस्थानामनुमानाद्विचारात्तत्परिज्ञानं घटते चेत् इति = आगममवलम्ब्य स्या० वदत्येवं न सर्वज्ञानामपि योगिप्रत्यक्षात् केवलज्ञानात्प्राक्जन्मान्तरादी गुरुपदेशाभावे सति तस्य योगिप्रत्यक्षस्योत्पत्तिसंभवात् यथानुमानवादिनां पूर्वमनभ्यास-दशयां परोपदेशाभावेऽनुमानस्यासंभवो यतः । दि० प्र० । ३ स्वग्रहणं भविष्यत्येवंविधफलकांकदर्शनात्संप्रतिपन्नफलकांकवत् । दि० प्र० । ४ तत्प्रतिपत्तिः । दि० प्र० । ५ अतीन्द्रियज्ञान । दि० प्र० । ६ परार्थानुमान । व्या० प्र० । ७ योगिप्रत्यक्षम् । व्या० प्र० । ८ सर्वविदः । व्या० प्र० । ९ सन्तः । दि० प्र० ।

धर्मप्रतिपत्तिः संभवति, सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । इति चिन्तितमन्यत्र । ततो नैतावप्येकान्तौ युक्तौ^२ ।

^३विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तितर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७७॥

^४युक्तीतरैकान्तद्वयाभ्युपगमोपि मा भूत्, ^५विरुद्धयोरेकत्र ^६सर्वथासंभवात्, ^७स्याद्वा-
दन्यायविद्विषांकथञ्चित्तदनभ्युपगमात्^८ । ^९तदवाच्यत्वेपि^{१०} पूर्ववत् स्ववचनविरोधप्रसङ्गः ।

में परोपदेश के बिना, साध्याविनाभावी साधन धर्म का ज्ञान संभव नहीं है, अन्यथा वे अनुमानवेत्ता भी सर्वज्ञ ही हो जावेंगे । इस प्रकार से अन्यत्र-श्लोकवातिक ग्रंथ में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है । इसलिये ये दोनों भी एकांत युक्त नहीं हैं ।

हेतु-आगम दोनों का, एकात्म्य बने नहीं परमत में ।

स्याद्वाद विद्वेषी जन के, दिखे विरोध परस्पर में ॥

यदि दोनों का “अवक्तव्य” है, यह एकांत लिया जावे ।

तब तो “अवक्तव्य” पर से भी, वयों वक्तव्य किया जावे ॥७७॥

कारिकार्थ—स्याद्वादन्याय के द्वेषी जनों के यहाँ हेतुवाद और आगमवादरूप उभयैकात्म्य भी नहीं बन सकता है क्योंकि परस्पर में विरोध आता है । तथा इन दोनों के अवक्तव्यैकांत को स्वीकार करने पर तो “अवाच्य” इस प्रकार का शब्द प्रयोग भी नहीं किया जा सकता है ॥७७॥

युक्ति-हेतु और आगम इन दोनों को भी उभय एकांत से स्वीकार नहीं किया जा सकता है वयोंकि दो विरुद्ध धर्मों का एकत्र रहना सर्वथा असंभव है । कारण कि स्याद्वादन्याय के विद्वेषीजन ‘कथञ्चित्’ रीति से उन दोनों को स्वीकार नहीं करते हैं । इन दोनों को अवाच्यैकांत रूप स्वीकार करने पर तो पूर्ववत् स्ववचन विरोध का प्रसंग आता है ।

1 हेतुत एव सर्वं सिद्धं तथागमादेव सर्वं सिद्धमित्येकान्तौ । दि० प्र० । 2 तर्ह्युभयैकात्म्यमस्त्वित्याह । दि० प्र० । 3 हेत्वागमयोः । दि० प्र० । 4 ऐकात्म्य । व्या० प्र० । 5 उपेयतत्त्वे । व्या० प्र० । 6 तर्हि हेत्वहेतुभयैकान्त्यं युक्तं भवतु । इति कश्चिदुभयवादी = स्या० कथञ्चित्तदनङ्गीकुर्वतां तदपि युक्तं न कस्मात् युगपदेकत्र निबध्नात् । दि० प्र० । 7 एकान्तवादिनाम् । व्या० प्र० । 8 युक्त्यागम । व्या० प्र० । 9 तर्ह्युभयैकात्म्यमपि मास्त्ववाच्यमेवार्थतत्त्वमिति कश्चिदवाच्यवाद्याह = तं प्रति स्याद्वाद्याह तस्योभयस्य सर्वथावाच्यत्वे सत्यवाच्यं तत्त्वमिति वचनं न युज्यते । पूर्वं यथा तथा स्ववचनविरोधमायाति । दि० प्र० । 10 तत्त्वस्य । दि० प्र० ।

सम्प्रति युक्तीतरानेकान्तमुपदर्शयन्ति^१ ।

^२वक्तयनाप्ते^३ ^४यद्धेतोः^५ साध्यं तद्धेतुसाधितम् ।

^६आप्ते वक्तरि^७ तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितम्^८ ॥७८॥

[आप्तानाप्तबोलक्षणं ।]

कः पुनराप्तोनाप्तश्च ? यस्मिन् सति वाक्यात्साधितं^९ साध्यमर्थतत्त्वमागमात् साधितं स्याद्धेतोस्तु यत्साध्यं तद्धेतुसाधितमिति विभागः सिध्यतीति चेदुच्यते,—यो यत्राविसंवादकः स^{१०} तत्राप्तस्ततोपरोनाप्तः । कः पुनरविसंवादो येनाविसंवादकः स्यात् ? तत्त्वप्रतिपादनमवि-

उत्थानिका—अब युक्ति और आगम के अनेकांत को दिखलाते हैं—

वक्ता आप्त नहीं होने से, हेतु से जो सिद्ध हुआ ।

युक्तसिद्ध वह तत्त्व सदा ही, हेतु साधित कहा गया ॥

वक्ता आप्त यदी होवे तो, उनके वचनों से साधित ।

सभी तत्त्व निर्बाधरूप से, कहलाते आगम साधित ॥७८॥

कारिकार्थ—वक्ता के आप्त न होने पर जो हेतु से साध्य होता है वह हेतु साधित है और वक्ता जब आप्त होता है तब उसके वाक्य से जो सिद्ध होता है वह आगम साधित है ॥७८॥

[आप्त और अनाप्त का लक्षण]

शंका—आप्त कौन है, और अनाप्त कौन है । कि जिस आप्त के होने पर वाक्य से साधित साध्य, अर्थतत्त्व आगम से साधित होता है एवं जिस आप्त के न होने पर तो जो हेतु साध्य है वह हेतु साधित होता है । इस प्रकार का विभाग सिद्ध हो जाता है ।

समाधान—आपकी इस शंका का समाधान करते हैं कि जो जहां पर अविसंवादक है वही वहां पर आप्त है एवं इससे भिन्न अनाप्त है ।

शंका—अविसंवाद क्या चीज है कि जिससे वक्ता अविसंवादक आप्त हो सके ?

समाधान—तत्त्वों का प्रतिपादन ही अविसंवाद है क्योंकि उसके अर्थ का ज्ञान देखा जाता है । वह अर्थज्ञान प्रस्फुट, अबाधित और निश्चय रूप है । साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से जाना

1 सूरयः । दि० प्र० । 2 इदानीं हेत्वहेत्वनेकान्तं प्रतिपादयन्ति सूरयः = उपदेष्टव्यं सर्वज्ञे सत्यनुमानाद्यत् किञ्चित्साध्यं साधितं तद्धेतुसाधितमुच्यते । उपदेशके सर्वज्ञे सति तद्वचनात् । यत्किञ्चित्साध्यं साधितं तदागमसाधितमुच्यते = एवं कथञ्चिद्धेतुसिद्धं कथञ्चिद्धेतुसिद्धं वस्तुतत्त्वं ज्ञातव्यमिति । दि० प्र० । 3 अर्थाविसंवादिनि । दि० प्र० । 4 का । दि० प्र० । 5 अनुमानात् । दि० प्र० । 6 अविसंवादार्थनिरूपके । दि० प्र० । 7 यदुपेयतत्त्वं तत् । दि० प्र० । 8 साध्येयतत्त्वं भवेत् । दि० प्र० । 9 यस्मिन्नाप्ते सति । दि० प्र० । 10 आप्तात् । दि० प्र० ।

संवादः, तदर्थज्ञानात् । ¹तदर्थज्ञानं ²पुनः प्रस्फुटव्यवसायरूपं ³साक्षाद⁴साक्षाद्वावसीयते⁵, परमार्थतस्तस्य संशयविपर्यासान्ध्यवसायव्यवच्छेदफलत्वात् । ⁶तत्राविसंवादक एवाप्त इत्यवधार्यते । अनाप्तस्तु कदाचिदपि ⁷विसंवादक उच्यते, ⁸यथार्थज्ञानादिगुणस्य विसंवादकत्वायोगात् । तेनातीन्द्रिये जैमिनिरन्यो वा ⁹श्रुतिमात्रावलम्बो नवाप्तस्तदार्थापरिज्ञानात्तथागतवत् । नात्र निदर्शनं ¹⁰साधनधर्मविकलं, तथागतस्य श्रुत्यर्थधर्मापरिज्ञानात् 'बुद्धादेर्धर्माद्युपदेशो व्यामोहादेव केवलात्' इति ¹¹स्वयमभिधानात् । न चासिद्धो हेतुर्जैमिनेर्ब्रह्मादेर्वा¹² श्रुत्यर्थपरि-

जाता है। अर्थात् स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच प्रकार के परोक्ष ज्ञान असाक्षात् कहलाते हैं। मतिज्ञान सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष, अवधि, मनःपर्ययज्ञान, पारमाथिक, विकल्प-प्रत्यक्ष और केवलज्ञान पारमाथिक सकल प्रत्यक्ष हैं। परमार्थ से वह अर्थज्ञान संशय विपर्यय और अनध्यवसाय के व्यवच्छेद करने रूप फल वाला है। उस अविस्वादा लक्षण होने पर अविस्वादाक ही आप्त है ऐसा निश्चित किया जाता है किन्तु अनाप्त तो कदाचित् विसंवादक भी कहा जाता है क्योंकि यथार्थज्ञान गुण वाला पुरुष विसंवादक नहीं हो सकता है।

इस कारण अतीन्द्रिय—धर्मादि पदार्थों को जानने में जैमिनि, ब्रह्मा, वेदांती, व्यास अथवा अन्य कोई भी श्रुतमात्र का अवलम्बन लेने वाले होने से आप्त नहीं क्योंकि बुद्ध के समान वे भी अतीन्द्रिय धर्मादि पदार्थों को जानने वाले जानी नहीं हैं। इस अनुमान वाक्य में उदाहरण साधन धर्म से विकल नहीं है क्योंकि बुद्ध भगवान् को श्रुति के द्वारा धर्मादि अर्थ का ज्ञान नहीं है। बुद्धादिकों का धर्मादि विषयक उपदेश केवल व्यामोह से ही है। ऐसा स्वयं आप मीमांसकों ने कहा है। हमारा यह हेतु भी असिद्ध नहीं है क्योंकि जैमिनी-मीमांसक अथवा ब्रह्मादिकों को श्रुत्यर्थ

1 शास्त्रोपदेशार्थं । व्या० प्र० । 2 किमित्युक्त आह । दि० प्र० । 3 तत्त्वस्वरूपं सर्वज्ञेन साक्षात् ज्ञायते । असर्वज्ञेनासाक्षात् परोक्षरूपेण ज्ञायते । दि० प्र० । 4 सांख्यव्यवहारिकप्रत्यक्षं मुख्यं प्रत्यक्षञ्च । व्या० प्र० । 5 प्रस्फुटव्यवसायरूपस्य तदर्थज्ञानस्य । दि० प्र० । 6 तत्रार्थे । दि० प्र० । 7 असत्यप्रतिपादकः । दि० प्र० । 8 यथार्थज्ञानादिगुणो- विसंवादोऽसत्यभूतो न भवति । येन एवं तेन कारणेनातीन्द्रियज्ञानग्राह्ये धर्माधर्मादिश्रुतमात्रावलम्बको भद्रो ब्रह्मा- दिर्वाप्तो न । कथं जैमिनि ब्रह्मादिर्वाप्तो न भवतीति साध्यो धर्मः तदार्थापरिज्ञानात् । यस्तदार्थापरिज्ञानी स आप्तो न यथा सुमतः—अत्रानुमाने तथागतवदिति साधनेन रहितं न । कस्माद्बुद्धस्य वेदार्थधर्माधर्मपरिज्ञानाभावात्—यत् बुद्धादेर्धर्माद्युपदेशः स्यात्तत्केवलं व्यामोहादिति स्वयं मीमांसकैः कथ्यते ।—अत्राह स्याद्वादी हे वेदान्तवादिन् ब्रह्मा- देर्यद्वेदार्थपरिज्ञानं तत्प्रतिपक्षरूपं श्रुतजनितं वेति प्रश्नः । न तावत्प्रत्यक्षात् कस्मात्तस्य ब्रह्मादेरसर्वज्ञत्वात् पुनः कस्मात् स ब्रह्मादिः वेदकदेशमात्रमवलम्बते यतः “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम” इत्यङ्गीकरोति “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इति तादृशः श्रुतमात्रावलम्बिनो ब्रह्मादेरतीन्द्रियविषयधर्माधर्मपरिज्ञानं नास्ति । कस्मात् दोषावरणहानेरति- शयाभावात्—स्थूलसनिहितवर्तमानग्राहिणि दोषावरणक्षयोपशममात्रे भवति सत्यपि तस्य ब्रह्मादेर्धर्माधर्मादीनां प्रत्यक्षकरणं युक्तं नहि । कस्मात्तस्य धर्मादिसाक्षात्करणस्य दोषावरणहानेरतिशयहेतुत्वेनैव निश्चयो जायते । दि० प्र० । 9 वेद । व्या० प्र० । 10 श्रुत्यर्थपरिज्ञानरूपम् । व्या० प्र० । 11 तदार्थापरिज्ञानादिति हेतुरसिद्धो न कुतः भद्रस्य ब्रह्मादेर्वा वेदार्थपरिज्ञानं सर्वथापि न संभवति । दि० प्र० । 12 आदिशब्देन वेदान्तकर्ता वेदव्यासः । दि० प्र० ।

ज्ञानस्य सर्वथाप्यसंभवात् । ¹तद्धि प्रत्यक्षं ²वा श्रौतं वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षं तस्यासर्व-
ज्ञत्वात् श्रुतिमात्रावलम्बितत्वाच्च³ । न हि तादृशोतीन्द्रियार्थज्ञानमस्ति दोषावरणक्षयाति-
शयाभावात्⁴ । न हि प्रतिनियतदोषावरणक्षयमात्रे सत्यपि धर्माधर्मादिसाक्षात्करणं युक्तं,
तस्य तत्परिक्षयातिशयहेतुकत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । नापि श्रौतं तदर्थपरिज्ञानं श्रुत्यविसंवा-
दात्पूर्वमसिद्धेः⁵ ।

[मीमांसकः श्रुतिज्ञानात् परमार्थज्ञानं मन्यते किंतु जैनाचार्याः तन्निराकुर्वन्ति ।]

श्रुतेः ⁶परमार्थवित्त्वं ततः श्रुतेरविसंवादनमित्यन्योन्यसंश्रितम् । न ह्यप्रसिद्धसंवा-
दायाः श्रुतेः ⁷परमार्थपरिज्ञानं जैमिन्यादेः संभवति, अतिप्रसङ्गात् । नापि ⁸परमार्थवित्त्वमन्तरेण

का परिज्ञान सर्वथा ही असंभव है । अच्छा ! हम आप से पूछते हैं कि वह श्रुत्यर्थ परिज्ञान प्रत्यक्ष रूप है या श्रुति—आगम से ही हुआ है ! प्रत्यक्ष तो आप कह नहीं सकते क्योंकि आप जैमिनि आदि असर्वज्ञ हैं और श्रुतिमात्र का ही अवलंबन लेने वाले हैं ।

असर्वज्ञ जैमिनि आदिकों को उस प्रकार के अतीन्द्रिय अर्थ को जानने वाला ज्ञान संभव नहीं है । क्योंकि उनमें रागादि दोष एवं ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप आवरण के क्षय से उत्पन्न होने वाले अतिशय का अभाव है । प्रतिनियत दोष और आवरण के क्षय मात्र होने पर भी धर्माधर्मादि का साक्षात्कार करना युक्त नहीं है क्योंकि वह धर्माधर्मादि का ज्ञान उन दोषावरण के परिपूर्णतया क्षय से होने वाले अतिशय हेतुक होने से व्यवस्थापित किया गया है । यदि आप दूसरा विकल्प लेवें कि श्रुति से होने वाला श्रौतज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों को जानता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति के अविसंवाद के पहले वह अर्थज्ञान असिद्ध ही है । यदि आप कहें कि—

[मीमांसक श्रुति के द्वारा वास्तविक ज्ञान होता मानते हैं, जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।]

श्रुति से परमार्थज्ञान होता है अतएव उस श्रुति में अविसंवाद है यह कथन भी अन्योन्याश्रय दोष से दूषित है ।

संवाद की प्रसिद्धि से रहित श्रुति-वेद से जैमिनी आदि को परमार्थज्ञान संभव नहीं है

1 श्रुत्यर्थपरिज्ञानं, श्रुतमात्रावलम्बितः । दि० प्र० । 2 आगमरूपम् । व्या० प्र० । 3 जैमिनेर्ब्रह्मादेर्वा धर्माधर्माद्यर्थपरिज्ञानं श्रुताभ्यासजनितमपि नास्ति कस्मात्वेदसत्त्वात् पूर्वं तदर्थपरिज्ञानं न सिद्ध्यति यतः कोथं श्रुतेरेवासत्यासदर्थपरिज्ञानं कथं सत्यम् । दि० प्र० । 4 जैमिन्यादेः । दि० प्र० । 5 तदर्थपरिज्ञानस्य । तद्धि श्रुत्यविसंवादात्सदर्थपरिज्ञानं भविष्यतीत्याशंकायामाह । व्या० प्र० । 6 जैमिनेः । व्या० प्र० । 7 धर्मादि । दि० प्र० । 8 परमार्थविज्ञानत्वं दिना तत्त्वप्रतिपादनस्वरूपमविसंवादनं न कुतः । अन्योन्याश्रयं न स्यात् । अपितु स्यात् । दि० प्र० ।

तत्त्वप्रतिपादनलक्षणमविसंवादनं यतोऽन्योन्याश्रयणं न स्यात् । ननु न श्रुतेरविसंवादात्प्रामाण्यम् । किं तर्हि ? स्वत एव । ततो न दोष इति चेत्, 'स्वतः श्रुतेर्न वै प्रामाण्यमचेतनत्वाद् घटवत् । सन्निकर्षादिभिरनैकान्तिकत्वमयुक्तं तत्प्रामाण्यानभ्युपगमान्मुख्यरूपतः । अथापि कथंचित् तत्प्रमाणत्वं स्यादविसंवादकत्वात् । सन्निकर्षादिरविसंवादकज्ञानकारणत्वेन² तथोपचारसिद्धिरिति मन्येमहि । तथापि श्रुतेरयुक्तमेव, तदभावात् । ³तेनोपचारमात्रमपि⁴ न स्यात्, तदर्थबुद्धिप्रामाण्यासिद्धेः । न हि ⁵श्रुतिरविसंवादिज्ञानस्य⁶ कारणं येनोपचारतः प्रमाणं स्यादिति निवेदितं प्राग्-भावनादिश्रुतिविषयाविसंवादकत्वनिराकृतिप्रस्तावे । आप्तवचनं

अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जावेगा अर्थात् अंगुलि के अग्रभाग पर सौ हाथी हैं इत्यादि वाक्यों से भी स्व-विषयज्ञान हो जावेगा ।

परमार्थवेदी के बिना भी तत्त्व प्रतिपादन लक्षण अविसंवादन शक्य नहीं है कि जिससे अन्योन्याश्रय दोष न आवे अर्थात् आता ही है ।

मीमांसक—श्रुति अविसंवाद रूप होने से प्रमाण है ऐसा नहीं है ।

जैन—तो कैसे है ?

मीमांसक—वह स्वतः ही प्रमाण है । इसीलिये कोई दोष नहीं है ।

जैन—“श्रुति स्वतः प्रामाणिक नहीं है क्योंकि वह अचेतन है घटादि के समान” सन्निकर्षादि से भी व्यभिचार दोष देना अयुक्त है क्योंकि हम जैनियों ने तो उन सन्निकर्षादिकों को मुख्य रूप से प्रामाणिक माना ही नहीं है । कथंचित्—उपचार से वे प्रामाणिक हो सकते हैं, यदि वे सत्य रूप—अविसंवादक हैं ।

सन्निकर्षादि को अविसंवादक ज्ञान का कारण होने से उपचार से ही हम लोग प्रमाण मान लेते हैं । उसी प्रकार यदि आप कहें कि श्रुति भी अविसंवाद ज्ञान का कारण होने से प्रमाण हो जावे सो ठीक नहीं है । उस प्रकार से भी श्रुति को अविसंवादक प्रमाण कहना अयुक्त ही है क्योंकि वह अविसंवादी ज्ञान का कारण भी नहीं है इसलिये उपचार मात्र से भी वह प्रमाण नहीं हो सकती है । श्रुति के अर्थज्ञान में प्रमाणता असिद्ध ही है ।

श्रुति अविसंवादी ज्ञान का कारण भी नहीं है कि जिससे वह उपचार से भी सिद्ध हो सके

1 पुनः इति० पा० । दि० प्र० । 2 अविसंवादकत्व यदि तर्हि । दि० प्र० । 3 प्रामाण्यं युक्तं न भवतीति येन कारणेन । दि० प्र० । 4 श्रुतेः । दि० प्र० । 5 श्रुत्यर्थज्ञानम् । = एव । व्या० प्र० । 6 स्याद्वाद्याह यदविसंवादिज्ञानस्य निमित्तमात्रकारणं तदेवोपचारतः प्रमाणं स्यात् । इति श्रुतेः पूर्वं निवेदितं नहि । न्व । भावनानियोगविधीत्येतेषां वेदविषयाविसंवादकत्वनिराकरणावसरे । दि० प्र० ।

'तु प्रमाणव्यपदेशभाक्, ²तत्कारणकार्यत्वात्³ । ⁴प्रमाणकारणकं हि तत्, ⁵तदतीन्द्रियार्थदर्शनो-
त्पत्तेस्तदर्थज्ञानोत्पादनाच्च ⁶प्रमाणकार्यकम् । ⁷नैतत् श्रुतेः संभवति, सर्वथाप्तानुवतेः
पिटकत्रयवत् । ⁸वक्तृदोषात्तादृशोऽप्रामाण्यं⁹ तदभावाच्छ्रुतेः प्रामाण्यमिति चेत् ¹⁰कुतोयं
विभागः सिध्येत् ?

[वेदस्यापौरुषेयत्वनिराकरणं]

पिटकत्रयादेः पौरुषेयत्वस्य स्वयं सौगतादिभिरभ्युपगमाद्वेदवादिभिश्च श्रुतेरपौरुषे-

अर्थात् वेद उपचार से भी प्रमाण नहीं हैं । इस कथन को हमने भावनादि श्रुति के विषय में
अविस्रवादक को निराकरण के प्रकरण में पहले ही स्पष्ट कर दिया है ।

“आप्त के वचन ही ‘प्रमाण’ इस व्यपदेश को प्राप्त होते हैं क्योंकि वे प्रमाण के कारण एवं
कार्य हैं ।” अर्थात् आप्त के वचन से प्रमाणभूत केवलज्ञान उत्पन्न होता है एवं प्रमाण से आप्त वचन
उत्पन्न होते हैं इसलिये ये परस्पर में कार्यकारण रूप हैं । एतावता इनमें अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं
आता है क्योंकि बीज और वृक्षादि को परंपरा के समान इनकी परंपरा अनादि सिद्ध है । वे वचन
प्रमाण कारणक हैं क्योंकि वे अतीन्द्रिय पदार्थ के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न हुये हैं एवं अतीन्द्रिय पदार्थों का
ज्ञान उत्पन्न कराने वाले हैं अतः प्रमाण के कार्य भी हैं, किन्तु यह बात श्रुति में संभव नहीं है कारण
वे बौद्धाभिमत पिटकत्रय के समान सर्वथा ही आप्त के द्वारा नहीं कहे गये हैं ।

मीमांसक—वे पिटकत्रय वक्ता बुद्ध के दोष से अप्रामाणिक हैं, किन्तु वक्ता के दोष का अभाव
होने से श्रुति-वेद प्रामाणिक हैं ।

जैन—यदि आप ऐसा कहें कि तब तो यह प्रमाण-अप्रमाण का विभाग भी कैसे सिद्ध
होता है ?

[वेद के अपौरुषेयपने का निराकरण]

मीमांसक—पिटकत्रय आदि ग्रंथों को तो बौद्धों ने स्वयं ही पौरुषेय माना है किन्तु वेदवादियों
ने तो श्रुति को अपौरुषेय रूप स्वीकार किया है ।

1 तु विशेषं आप्तवचनं प्रमाणं भवति । कस्मात्प्रमाणकारणत्वात् । प्रमाणकार्यत्वात् कथमित्युक्ते
वदति । तदाप्तवचनं प्रमाणस्य कारणं भवति । कस्मात्प्रमाणकारणभूतसामान्यग्राहकलक्षणदर्शनोत्पादात् । तथाप्त-
वचनं प्रमाणस्य कार्यं भवति । कस्मात् । प्रमाणनिमित्तभूतविशेषग्राहकलक्षणज्ञानजनकत्वात् । दि० प्र० । 2 प्रमाणम् ।
दि० प्र० । 3 सर्वज्ञानम् । दि० प्र० । 4 प्रमाणकारणं यस्येति वसः सर्वज्ञानकारणमाप्तवचनं कार्यमितिभावः ।
दि० प्र० । 5 ज्ञानातिशयवतोवचनातिशयदर्शनात् । व्या० प्र० । 6 प्रमाणकार्यं । इति पा० । शिष्यादिज्ञानलक्षणं
कार्यं यस्याप्तवचनस्य । दि० प्र० । 7 एतत्प्रमाणकारणकार्यत्वं वेदस्य न घटते । सर्वथाप्तप्रणीताभावात् । यथा
सौगतमतसिद्धान्तानामपि पिटकत्रयस्य । दि० प्र० । 8 अयं वेदवादी आह वक्तृपुरुषदोषात्तादृशः पिटकत्रयस्या-
प्रामाण्यं घटते पुरुषदोषाभावाद्वेदस्य प्रामाण्यं घटत इति चेत् स्या० आह अयं भेदः कुतः सिद्धः चेत् = वेदवाद्याह
सौगताद्यैः पिटकत्रयादिशास्त्रस्य पौरुषेयत्वमङ्गीक्रियते यतोऽस्माभिर्वेदस्यापौरुषेयत्वाङ्गीकरणत्वाच्च । दि० प्र० ।
9 आप्तवचनस्य । व्या० प्र० । 10 पिटकत्रये वक्तृदोषो न तु वेद इति । व्या० प्र० ।

यत्वोपगमादिति चेत् ¹सोयमभ्युपगमानभ्युपगमाभ्यां क्वचित्पौरुषेयत्वमन्यद्वा व्यवस्थापय-
तीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम् । एतेन कर्तृस्मरणाभावादयः प्रत्युक्ताः । स हि श्रुतौ ²कर्तृ-
स्मरणादिमत्त्वदृष्टकर्तृकसमानत्वाद्यभावमभ्युपगममात्राद्व्यवस्थापयति³ तद्भावं चेतरेत्रानभ्यु-
पगमात् । न च तथा तत्त्वं व्यवतिष्ठते, ⁴वेदेतरयोरविशेषात् । ⁵इतरत्र बुद्धो वक्तेति चेत्
तत्र ⁶कमलोद्भवादिरिति⁷ कथं न समानम् ? यथैव हि पिटकत्रये बुद्धो वक्तेति सौगताः
प्रतिपाद्यन्ते तथा ⁸वेदेपि ते अष्टकान् काणादाः, पौराणिकाः कमलोद्भवं, जैनाः कालासुरं

जैन—यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो आप केवल निजी स्वीकृति और अस्वीकृति के द्वारा ही पिटकत्रय को पौरुषेय एवं वेदों को अपौरुषेय व्यवस्थापित करते हैं । शायद इसलिये ही उसका तत्त्व सुव्यवस्थित है । अर्थात् प्रमाण के बिना आप मीमांसक पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व की व्यवस्था कर रहे हैं इसलिये तत्त्व की व्यवस्था सुस्थित नहीं है । अष्टशती भाष्य में जो “सुव्यवस्थितं तत्त्वं” वचन है वह उपहास वचन है ऐसा समझना । इसी कथन से “वेद अपौरुषेय हैं क्योंकि उनके कर्ता के स्मरण का अभाव है” इत्यादि हेतुओं के कथन का भी खण्डन कर दिया गया समझना चाहिये क्योंकि आप मीमांसक श्रुति के विषय में कर्ता के स्मरणादि के अभाव को एवं देखे गये कर्ता के समान पुरुष आदि के अभाव को केवल स्वीकृति मात्र से ही व्यवस्थापित करते हैं और अन्यत्र पिटकत्रयादि ग्रंथों के विषय में कर्तादि भाव को स्वीकार करते हैं । अर्थात् कर्ता के स्मरण आदि के अभाव को स्वीकार न करके ही उसे पौरुषेय सिद्ध करते हैं । इस स्वीकृति, अस्वीकृति मात्र से ही आपका तत्त्व व्यवस्थित नहीं हो सकता है क्योंकि वेद और पिटकत्रय ये दोनों ही समान हैं ।

मीमांसक—पिटकत्रय का कर्ता बुद्ध है अतएव वे अप्रमाण हैं ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो उन वेदों के भी तो कर्ता कमलोद्भव-ब्रह्मा आदि हैं फिर क्यों समानता नहीं होगी ?

जिस प्रकार से सौगत पिटकत्रय का वक्ता बुद्ध को कहते हैं उसी प्रकार से काणादजन अष्टक ऋषि को वेद का कर्ता मानते हैं । पौराणिकजन ब्रह्मा को तथा हम जैन कालासुर को वेदों का वक्ता स्वीकार करते हैं । इसलिये आप श्रुतिवादी मीमांसक बहुत दूर भी जाकर उस वेद के वक्ता की

- 1 स्या० वदति सोयं वेदवाङ्मयीकाराद्वेदे अपौरुषेयत्वमनङ्गीकारात् पिटकत्रयादौ अपौरुषेयत्वं व्यवस्थापयतीति तन्मते तत्त्वं प्रमाणाभावान्निश्चितम् । एतेनान्गीकारान्गीकारमात्रेण वेदे कर्तृस्मरणाभाव इत्यादिविकल्पानिराकृता । दि० प्र० ।
- 2 स्या० वदति स हि वेदवादी वेदे विधातृस्मरणादिमत्त्वस्यप्रत्यक्षदृष्टकालिदासादिकवीश्वरसमानत्वस्य चाभावमङ्गीकार-
मात्रबलाद्व्यवस्थापयतीतरत्र पिटकत्रयादौ तयोः कर्तृस्मरणादिमत्त्वदृष्टकविसमानत्वयोः सद्भावं व्यवस्थापयति । अनङ्गी-
कारमात्रादेव न तु प्रमाणात् । — यथात्वेन वेदान्तवादिना प्रतिपाद्यते । तथात्वं न च भवति कस्मात् वेदपिटकत्रया-
दिकथोः पदवाक्यादिप्रबन्धमार्द्यपदेशद्वारेणोभयोर्विशेषादर्शनात् । दि० प्र० । 3 वेदस्य । व्या० प्र० । 4 पिट-
कत्रय । व्या० प्र० । 5 वेदवाद्याह पिटकत्रये सुगतो वक्तास्तीति चेत् । दि० प्र० । 6 स्याद्वाद्याह । तत्र वेदे
ब्रह्मेश्वरकालासुरादिभिः कृत्वा कर्तृत्वेन कथं तुभ्यं न । अपितु तुभ्यमेव । दि० प्र० । 7 ब्रह्मादि । दि० प्र० ।
- 8 कमलोद्भवाद्यो वक्ता इति तद्भक्ताः प्रतिपाद्यन्ते । दि० प्र० ।

वक्तारमनुमन्यन्ते । सुदूरमपि ^२गत्वा ^३तदङ्गीकरणेतरमात्रे ^४व्यवतिष्ठेत श्रुतिवादी,
प्रमाणबलात्तदवक्तृकस्य साधयितुमशक्तेः । स्यान्मतं

५“यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनवाच्यत्वाद्बधुनाध्ययनं यथा इति”

प्रमाणाद्वेदे वक्तुरभावो, न पुनरभ्युपगममात्रात् इति तदयुक्तं, ^६पिटकत्रयादावपि
तत एव वक्रभावप्रसङ्गात् । वेदाध्ययनवदितरस्यापि ^७सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रकल्पन्ती
न वक्रं वक्ती भवति, ^८यतो विद्यमानवक्तृकेपि ^९भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्वं न

स्वीकृति और अस्वीकृति मात्र से व्यवस्थित होंगे । क्योंकि प्रमाण के बल से “वेद का कोई वक्ता नहीं है” यह बात सिद्ध करना शक्य नहीं है ।

मीमांसक—इलोकार्थं—“जो कुछ भी वेद का अध्ययन है वह सभी गुरु के अध्ययनपूर्वक ही है । क्योंकि वह वेद का अध्ययन वाच्य रूप है जैसे कि वर्तमान का अध्ययन ।” इस प्रकार के प्रमाण से वेद के विषय में वक्ता का अभाव हम लोग सिद्ध करते हैं, किन्तु स्वीकृति मात्र से ही सिद्ध नहीं करते हैं ।

जैन—आपका यह कथन अयुक्त है । इस प्रकार से तो पिटकत्रयादि के विषय में भी वक्ता का अभाव सिद्ध हो जावेगा ।

वेदाध्ययन के समान इतर पिटकत्रय के अध्ययन भी सर्वदा अध्ययनपूर्वक ही हैं । इस प्रकार से अध्ययनपूर्वक अध्ययन की कल्पना करने पर तो किसी का मुख वक्र नहीं हो सकता है कि जिससे विद्यमान वक्ता वाले पिटकत्रय में भी हेतु का सद्भाव होने से आपका “अध्ययन वाच्यत्वात्” हेतु अनैकान्तिक नहीं हो जावे अर्थात् आपका हेतु अनैकान्तिक ही हो जाता है ।

भावार्थ—मीमांसक कहता है कि वेद अपौरुषेय हैं इसलिये प्रमाण हैं ‘सभी वेदों का अध्ययन गुरुओं की परंपरा से उस वेद के अध्ययनपूर्वक ही चलता रहता है क्योंकि वेद के अध्ययन का वाच्य है जैसे वर्तमान का वेदों का अध्ययन । इस प्रकार से मीमांसक के कहने पर जैनाचार्य कहते

1 ततश्च । व्या० प्र० । 2 स्याद्वाद्याहातिदूरं गत्वा वेदवादी वेदे पिटकत्रयादी च कर्तृस्मरणाद्यभावसद्भावयोरंगीकारानंगीकारमात्रे सन्तिष्ठते कस्मात्प्रमाणवेदस्यावक्तृत्वं साधयितुं न शक्नोति यतः । दि० प्र० । 3 कर्तृत्वादि । पिटकत्रय दि० प्र० । 4 नत्वनुमानेन साधितम् । व्या० प्र० । 5 अत्राह वेदवादी वेदाध्ययनं पक्षः सर्वदा वेदाध्ययनपूर्वकं भवतीति साध्यो धर्मः वेदाध्ययनवाच्यत्वात् । यद्वेदाध्ययनवाच्यं तत्सर्वदा तदध्ययनपूर्वकं यथा वेदस्याद्युनाध्ययनं वेदाध्ययनवाच्यं चेदं तस्मात्तदध्ययनपूर्वकमेव । इत्यनुमानाद्वेदे वक्तुः पुरस्याभावोङ्गीकारमात्रादेव नेति स्याद्वाद्याह हे वेदवादिन् यदुक्त-त्वया तदयुक्तं कुतः पिटकत्रयादिशास्त्रेपि तस्मादेवानुमानाद्बक्तुरभावः प्रसजति यतः । दि० प्र० । 6 स्याद्वाद्याह पिटकत्रयाध्ययनं पक्षः सर्वदा पिटकत्रयाध्ययनपूर्वकं भवतीति साध्यो धर्मः पिटकत्रयाध्ययनवाच्यत्वात् यत्पिटकत्रयाध्ययनं वाच्यं तत्पिटकत्रयाध्ययनपूर्वकमेव । यथा वेदाध्ययनं पिटकत्रयाध्ययनवाच्यं चेदं तस्मात्तदध्ययनपूर्वकम् = एवमनुमान-रचनाकरणे वक्तुर्वक्तुं वक्ती न भवत्येयं पिटकत्रयादी विद्यमानवक्तृर्यपि सद्भावात् हे वेदवादिन् तव कृतहेतोरध्ययन-वाच्यत्वादित्येतस्य व्यभिचारित्वं कुतो न स्यादपितु स्यात् । दि० प्र० । 7 पूर्वाध्ययनवाच्यत्वप्रकल्पन्ती । इति० पा० । दि० प्र० । 8 ततश्च । व्या० प्र० । 9 यदध्ययनवाच्यं तत्तदकर्तृकमिति व्याप्तैरभावात् । व्या० प्र० ।

स्यात् । वेदविशेषणस्याध्ययनवाच्यत्वस्यान्यत्राभावान्नानैकान्तिकतेति चेत्तर्हि पिटकत्रयादिविशेषणस्य वेदादावसंभवादव्यभिचारिता कथं न भवेत् ? तथा च वेदवदवेदस्याध्यपीरुषेयत्वं प्रामाण्यनिबन्धनं याज्ञिकानां प्रवर्तकं 'स्यान्न वा वेदेपि, विशेषाभावात् ।

[वेदे दुर्भणनत्वादितिशयो वर्तते अतः उभयत्र समानता नास्तीति कथने आचार्याः उत्तरयन्ति]

दुर्भणनदुःश्रवणादीनामस्मदाद्युपलभ्यानां ^२तदतिशयान्तराणां च ^३शक्यक्रियत्वादि-तरत्रापि, परोक्षया मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात् । न ह्याथर्वणानामेव मन्त्राणां शक्तिरुपलभ्यते, न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं, ^४प्रमाणबाधनात् ।

हैं कि ऐसे बुद्ध के बनाये गये पिटकत्रय में भी कहा जा सकता है कि 'पिटकत्रय का अध्ययन भी परंपरा से गुरु के अध्ययनपूर्वक ही है क्योंकि वह पिटकत्रय के अध्ययन का वाच्य है वर्तमान के अध्ययन के समान' । ऐसा पिटकत्रयों के विषय में कहते हुये किसी का मुख बक्र तो नहीं होता है । अर्थात् बुद्ध के शास्त्रों के विषय में गुरु अध्ययनपूर्वक कल्पना करने में किसी का मुख टेढ़ा तो नहीं होता है । उसके विषय में भी ऐसा ही कहने से क्या बाधा आती है ?

मीमांसक—'वेदाध्ययन वाच्यत्वात्' हेतु में अध्ययन वाच्यत्व के साथ 'वेद' शब्द को विशेषण में लिया है वह अन्यत्र असंभव है अतएव हमारा हेतु अनैकान्तिक नहीं है ।

जैन—तब तो पिटकत्रयादि विशेषण वाला अध्ययन वाच्यत्व हेतु वेदादि में भी असंभव है इसलिये वहां भी अव्यभिचारीपना क्यों नहीं होगा ? पुनः उस प्रकार से वेद के समान अवेद-पिटकत्रय भी आप याज्ञिकों के यहां अपीरुषेय सिद्ध होकर प्रमाणता के कारण हो जावेंगे और पिटकत्रय ही आपके लिये ज्ञान, चैत्य और वंदन रूप अनुष्ठान में प्रवर्तक हो जावेंगे अथवा वेद भी प्रामाणिक और क्रियानुष्ठान में प्रवर्तक नहीं हो सकेंगे क्योंकि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं है ।

[दुर्भणनत्वादिलक्षण अतिशय वेदों में विद्यमान है अतएव दोनों में समानता नहीं है, ऐसा कहने पर आचार्य उत्तर देते हैं ।]

मीमांसक—हम लोगों को उपलभ्य दुर्भणन, दुःश्रवण आदि की ओर उनके अतिशयान्तरों की क्रिया शक्य है ।

जैन—पिटकत्रयादि में भी ये क्रियायें शक्य हैं । इन ग्रंथों में परोक्षभूत मंत्र शक्ति भी देखी जाती है । अथर्णव वेद के मंत्रों की ही शक्ति उपलब्ध हो किन्तु सौगत आदि के यहाँ मंत्रों की शक्ति नहीं ही ऐसा भी कहना शक्य नहीं है क्योंकि प्रमाण से बाधा आती है ।

1 तत्रापीरुषेयत्वं नो चेत् । व्या० प्र० । 2 वेद । व्या० प्र० । 3 पिटकत्रयेपि । व्या० प्र० । 4 प्रत्यक्ष । व्या० प्र० ।

[मंत्राणामुत्पत्तिर्जनेन्द्रवचनादेव न चान्यस्मात्]

वैदिका एव मन्त्राः परत्रोपयुक्ताः^१ शक्तिमन्त इत्यप्ययुक्तं, प्रावचनिका^२ एव वेदेपि प्रयुक्ता इत्युपपत्तेस्तत्र^३ ^४भूयसामुपलम्भात् समुद्राद्याकारेषु रत्नवत् । न हि कियन्त्यपि रत्नानि ^५राजकुलादावुपलभ्यमानानि तत्रत्यान्येव, तेषां रत्नाकरादिभ्य एवानयनात् तद्भवत्व-सिद्धेर्भूयसां तत्रोत्पत्तिदर्शनात् । तद्वत्प्रवचनैकदेशविद्यानुवादादेव सकलमन्त्राणां समुद्भूति-विस्तीर्णात्, न पुनर्वेदात्तल्लवमात्रादिति युक्तमुत्पश्यामः । वेदस्यानादित्वादपौरुषेयत्वाच्च तन्मन्त्राणामेवाविसंवादकत्वं संभवतीति चायुक्तं, तदप्रसिद्धेः । सिद्धेपि तदनादित्वे पौरुषे-यत्ज्ञाभावे व ^६कथमविसंवादकत्वं प्रत्येतद्व्यम् ? ^७म्लेच्छव्यवहारादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात्

[मंत्रों की उत्पत्ति जिनेन्द्र भगवान के वचनों से ही होती है अन्य वचनों से नहीं ।]

मीमांसक—वैदिक मंत्र ही अन्यत्र प्रयोग में लाने पर शक्तिमान देखे जाते हैं ।

जैन—यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि वे मंत्र प्रावचनिक—जिनागम में ही कहे गये हैं और वे ही वेद में भी प्रयुक्त हैं यह बात व्यवस्थित है क्योंकि हमारे यहां जिन प्रवचन में बहुत रूप से वे मंत्र उपलब्ध हो रहे हैं जैसे कि समुद्रादि खानों में ही रत्नों की उपलब्धि होती है । कितने ही रत्न राजकुल आदि में उपलब्ध होते हैं वे वहीं के नहीं हैं किन्तु वे रत्नाकर अर्थात् समुद्र आदि से ही लाये जाते हैं समुद्रादि में ही उनकी उत्पत्ति सिद्ध है, बहुलता से ही वहां पर उनकी उत्पत्ति देखी जाती है । उसी प्रकार से जिन प्रवचन के एक देश-अंशरूप विद्यानुवाद नामक दशवें पूर्व से ही संपूर्ण मंत्रों की उत्पत्ति होती है किन्तु उसके लव मात्र वेद से उन मंत्रों की उत्पत्ति नहीं है । इस प्रकार से ही हम युक्ति युक्त समझते हैं ।

मीमांसक—वेद अनादि हैं और अपौरुषेय हैं अतः उन देवों के मंत्र ही अविसंवादक रूप हो सकते हैं ।

जैन—यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि वे वेद अनादि एवं अपौरुषेय हैं यह बात ही असिद्ध है । अथवा उन देवों को अनादि और अपौरुषेय रूप सिद्ध मान लेने पर उनका अविसंवादकत्व कैसे जाना जावेगा ? क्योंकि म्लेच्छ व्यवहारादि भी बहुलता से उस प्रकार के देखे जाते हैं । अर्थात् द्वीपांतर निवासी म्लेच्छों का व्यवहार मातृ विवाहादि लक्षण नास्तिकता आदि देखा जाता है एवं

१ षिटकत्रयादौ । दि० प्र० । २ स्या० सैद्धान्तिका एवं मन्त्रा वेदे निक्षिप्ताः सन्ति इति घटनात् । दि० प्र० ।

३ स्याद्वाद्याह तत्र प्रवचने बहूनां मन्त्राणां दर्शनात् यथा समुद्राद्याकारेषु रत्नानां दर्शनमस्ति—राजकुलादौ कति-

विदपिरत्नानि दृश्यमानानि यानि सन्ति तानि राजकुलोद्भवान्येव न हि सन्ति । तेषां रत्नानां रत्नाकरादिभ्य आनय-

नात् । तथा तत्र समुद्राद्याकारेष्वस्तित्वं सिद्धयति यतो भूयसां रत्नानां तत्र रत्नाकरादौ उत्पत्तिवीक्षणात् । दि० प्र० ।

४ मन्त्राणाम् । व्या० प्र० । ५ राजगृह । व्या० प्र० । ६ वेदस्य । व्या० प्र० । ७ अनादेरपौरुषेयस्य विसंवादिनः ।

व्या० प्र० ।

तेन¹ तस्य² व्यभिचारात् ।³ एतेन वेदैकदेशेन स्वयमप्रमाणतयोपगतेनानादित्वस्यापौरुषेयत्वस्य चानैकान्तिकत्वमुक्तम् । किं च कारणदोषनिवृत्तेः कार्यदोषाभावकल्पनायां पौरुषेयस्यैव वचनस्य⁴ दोषनिवृत्तिः कर्तुर्वीतदोषस्यापि संभवात् 'दोषावरणयोर्हीनिः' इत्यादिना संसाधनात्, न पुनरपौरुषेयस्य,⁵ तदध्येतृव्याख्यातृश्रोतृणां रागादिमत्त्वाद्दीतरागस्य कस्यचिदनभ्युपगमात्,⁶ सर्वथाप्यपौरुषेयस्य तदुपगमेन विरोधात् । नेतरस्य,⁷ कथंचित्पौरुषेयस्य⁸ तदविरोधात् । इति निश्शङ्कं नश्चेतः, त्रिविक्रकटस्यापि⁹ निर्णयोपायप्रतिपादनादिति ।¹⁰ वक्तृगुणापेक्षं¹¹ वचनस्याविसंवादकत्वं चक्षुर्ज्ञानदत्, ¹²विसंवादस्य तद्दोषानुविधानात् ।

वह भी अनादि तथा अपौरुषेय है फिर भी उसमें अविसंवादकता नहीं है इसलिये अनादित्व और अपौरुषेयत्व हेतु व्यभिचरित हो जाते हैं । इसी कथन से वेद के एक देश को स्वयमेव अप्रमाण रूप से स्वीकार करने से ये अनादित्व और अपौरुषेयत्व हेतु व्यभिचरित है ऐसा कहा गया है । अर्थात् "अग्निमीडे पुरोहितं आपः पवित्रं" इत्यादि स्वरूप के निरूपक वाक्यों को उन्होंने स्वयं अप्रमाण माना है और "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गं कामः" इत्यादि रूप से कार्य के अर्थ में उन वेद वाक्यों को प्रमाण माना है अतः उन्हीं वेदों में कुछ अंश प्रमाण एव कुछ अंश अप्रमाण होने से दोनों हेतु व्यभिचरित सिद्ध हो जाते हैं ।

दूसरी बात यह है कि कारण दोष का अभाव होने से ही कार्य में दोषों का अभाव होता है ऐसी कल्पना करने पर तो पौरुषेय वचन में ही दोषों का अभाव हो सकता है क्योंकि दोषों से रहित कर्ता भी संभव हैं ।

"दोषावरणयोर्हीनिः" इत्यादि कारिका के द्वारा निर्दोष कर्ता की सिद्धि की जा चुकी है । किन्तु अपौरुषेय वचनों में दोषों का अभाव सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि उन अपौरुषेय वेदों के अध्येता, व्याख्याता और श्रोता रागादिमान् हैं । आप मीमांसक ने तो किसी को वीतराग स्वीकार ही नहीं किया है । एवं वीतराग को स्वीकार करने पर तो सर्वथा अपौरुषेयत्व विरुद्ध हो जाता है ।

किन्तु पौरुषेय वचन में विरोध नहीं आता है क्योंकि किसी को वीतराग स्वीकार कर लेने पर वेद वचनों को कथंचित् पुरुषकृत मानना ठीक है, और इसीलिये मुक्त-अकलंक देव का मन

1 म्लेच्छव्यवहारादिना । व्या० प्र० । 2 दर्शनात् । व्या० प्र० । 3 व्यभिचारदर्शनेन । व्या० प्र० । 4 एषाञ्च पुनः पौरुषेयस्य वचनस्य दोषनिवृत्तिः । व्या० प्र० । 5 वेद । व्या० प्र० । 6 वेदस्य । दि० प्र० । 7 वचनस्य । दि० प्र० । 8 दोषनिवृत्तिः । दि० प्र० । 9 स त्वमेवासि निर्दोष इत्यादि सूक्ष्मान्तरितदूरार्था इत्यादि च । दि० प्र० । 10 वचनं पक्षो विसंवादं भवतीति साध्यो घर्मः—वक्तृगुणापेक्षित्वात् । यद्वक्तृगुणापेक्षं तदविसंवादं यथा चक्षुर्ज्ञानं करणं पुरुषः कार्यं तद्वचनं कारणस्य निर्दोषत्वे कार्यस्य निर्दोषता याति—असत्यं वचः दोषवद्वक्तारमनुकरोति कथमित्युक्तिं अग्नेदृष्टान्तेन ब्रह्मति । दि० प्र० । 11 अर्थाव्यभिचारित्वम् । व्या० प्र० । 12 वचनस्य । व्या० प्र० ।

यथैव हि चक्षुर्ज्ञानस्य ¹ज्ञातृगुणं ²सम्यग्दर्शनादिकमपेक्ष्याविसंवादकत्वं, तद्विषं मिथ्यादर्शनादिकमपेक्ष्य विसंवादकत्वं चोपपद्यते तथा वक्तुर्गुणं यथार्थज्ञानादि दोषं च मिथ्याज्ञानादिकमपेक्ष्य संवादकत्वं विसंवादकत्वं चेति निश्चितं महाशास्त्रे । ³ततोऽनाप्तवचनान्तार्थज्ञानमन्धरूपदर्शनवत् । न हि जात्यन्धो रूपं दर्शयितुमीशः परस्मै । तथानाप्लोपि नार्थं ⁴ज्ञापयितुमति-

निःशंक है क्योंकि हमारे यहां तीन प्रकार के दूरवर्ती पदार्थों के भी निर्णय का उपाय प्रतिपादित किया गया है ।

अतएव “वचन का अविसंवादकपना वक्ता के गुणों की अपेक्षा रखता है जैसे चक्षुर्इन्द्रिय का ज्ञान और वचनों का विसंवाद उस वक्ता के दोषों का अनुसरण करता है । जिस प्रकार से चक्षु इन्द्रिय का ज्ञान ज्ञाता के सम्यग्दर्शन आदि गुणों की अपेक्षा रखकर ही अविसंवादक है और ज्ञाता के मिथ्यादर्शनादि दोषों की अपेक्षा करके विसंवादक होता है । तथैव वक्ता के यथार्थ ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा करके अविसंवादकपना और मिथ्यादर्शनादि दोषों की अपेक्षा करके विसंवादकपना देखा जाता है इस प्रकार से महाशास्त्र श्री तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की श्लोकवातिक टीका में मैंने (श्री विद्यानंद स्वामी ने) निर्णय किया है ।

इस प्रकार से वक्ता के गुणों की अपेक्षा से हो संवादकता के निश्चित हो जाने से अनाप्त के वचनों से अर्थज्ञान नहीं हो सकता है जैसे कि अंधा मनुष्य रूप का दर्शन नहीं करा सकता है । अर्थात् जैसे जात्यन्ध कोई मनुष्य दूसरे को रूप दिखाने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार से अनाप्त भी अर्थ को प्रकाशित करने के लिये—बतलाने के लिये समर्थ नहीं है, अन्यथा अति प्रसंग दोष आ जावेगा । अर्थात् पागल पुरुष भी पदार्थों को बतलाने लगेगा ।

इस प्रकार से अपौरुषेय वचन और गुणवान् वक्ता के द्वारा कहे गये पौरुषेय वचन इन दोनों में कारण दोष का अभाव होने से निर्दोषपना दोनों जगह समान है क्योंकि अपौरुषेय और पौरुषेय दोनों प्रकार के वचनों में किसी भी प्रकार का अभेद असंभव है ।

उन दोनों ही वचनों में जो वचन युक्ति-नय प्रमाण से युक्त हैं वे ही वचन समझने अथवा समझाने के लिये शक्य हैं । वे कथंचित् पौरुषेय ही हैं किन्तु सर्वथा अपौरुषेय वचन ऐसे नहीं हैं क्योंकि वे युक्ति-युक्त नहीं हैं कारण उनकी युक्तियाँ युक्ताभ्यास रूप से समर्थन की गई हैं ।

अथवा उन अपौरुषेय वेद में भी जो वचन युक्ति-युक्त हैं वे ही वचन समझने या समझाने के लिये शक्य है जैसे कि ‘अग्नि हिम को औषधि है’ बारह महीने का संवत्सर होता है इत्यादि वचन युक्ति-युक्त होने से ठीक ही हैं किन्तु अग्निहोत्रादि के वाक्य समझने या समझाने लिये शक्य नहीं हैं क्योंकि वे नय प्रमाण की युक्ति से विरुद्ध हैं ।

इस प्रकार से आप्त वचन के सिद्ध हो जाने पर जैसे हेतुवाद प्रमाण है वैसे ही आज्ञावाद भी प्रमाण है क्योंकि उन दोनों में आप्त वचन, अविरोध रूप से पाया जाता है ।

1 पुरुष । व्या० प्र० । 2 अविसंवादकत्वम् । इति पा० । व्या० प्र० । 3 का । व्या० प्र० । 4 यदानाप्लोऽर्थं ज्ञापयितुं समर्थस्तदेति लक्षणोक्तिप्रसंगो जायते । दि० प्र० ।

प्रसङ्गात् । एवमपौरुषेयस्य वचनस्य पौरुषेयस्य च गुणवद्वक्तृकस्य ¹कारणदोषाभावात्त्रिदोषत्वं समानमतिशयासंभवात् । तत्र यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं कथंचित्पौरुषेयत्वं, ²न तु सर्वथापौरुषेयत्वं, ³तस्य युक्तियुक्तत्वाभावात् तद्युक्तीनां ⁴तदाभासत्वसमर्थनात्⁵ । तत्रापौरुषेयत्वेपि वा वेदे यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं वचनमग्निहिंस्य भेषजं द्वादश मासाः संवत्सर इत्यादिवत् । ⁶नाग्निहोत्रादिवाक्यसाधनं, ⁷तस्य ⁸युक्तियुक्तत्वविरोधात् । सिद्धे पुनराप्तवचनत्वे यथा ⁹हेतुवादस्तथाज्ञावादोपि¹⁰ प्रमाणं, तदाप्तवचनत्वाविरोधात् । ननु ¹¹चापौरुषेयत्ववदाप्तशासनमप्यशक्यव्यवस्थं, तस्यैव ज्ञातुमशक्तेः, सरागस्यापि वीतरागवच्चेष्टोपलम्भादयमाप्त इति प्रतिपत्त्युपायासत्त्वात्

मीमांसक—अपौरुषेय आगम के समान आप्त के शासन की व्यवस्था करना भी शक्य नहीं है । क्योंकि उस आप्त को ही जानना अशक्य है । सराग भी वीतराग के समान चेष्टा करते हुये उपलब्ध होते हैं अतः “यह आप्त है” इस प्रकार के ज्ञान के उपाय का ही अभाव है इसलिये उस आप्त के शासन की व्यवस्था करना ही अशक्य है ।

जैन—इस विषय में तो हमने पहले ही कह दिया है कि सर्वथा एकांतवादों का स्याद्वाद के द्वारा खण्डन कर दिया जाता है । युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाले होने से ये “आप्त निर्दोष हैं” ऐसा निर्णय करना शक्य है और ये दोषवान् हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध वचन वाले हैं ऐसा भी निर्णय करना शक्य है ।

इनमें वचन विशेष जिनके निश्चय नहीं है ऐसे किसी व्यक्ति में वीतराग और सराग संदेह होने पर भी जिनके वचन विशेष निश्चित हैं उन्हें आप्त व्यवस्थापित करना शक्य है । उन आप्त विशेष में जो आप्तपना है वह पदार्थ को साक्षात्कार करने आदि गुणों की अपेक्षा से ही है ।

इस प्रकार से आप्त—सर्वज्ञ को “सूक्ष्मांतरितदूरार्थः कस्यचित्प्रत्यक्षाः” इत्यादि कारिका के द्वारा सिद्ध कर दिया है । अथवा सम्प्रदाय का विच्छेद न होना भी आप्त (सर्वज्ञपना) है । सर्वज्ञ से आगम की सिद्धि होती है और उस आगम के अर्थ का अनुष्ठान करने से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है । इस प्रकार से सुनिश्चित असंभवद्र्बाधक प्रमाण से प्रवचन के अर्थ का सम्प्रदाय अविच्छेद रूप सिद्ध ही है ।

1 उभयत्र निर्दोषत्वाविशेषात् । व्या० प्र० । 2 तत्रो । इति पा० । दि० प्र० । 3 अपौरुषेयपौरुषेयवचनयोर्मध्ये । दि० प्र० । 4 सर्वदाज्ञपौरुषेयत्वस्य । दि० प्र० । 5 युक्तियुक्तत्व । पूर्व । दि० प्र० । 6 धर्मसाधकं सत् पूर्वोक्त-प्रकारेण । व्या० प्र० । 7 अग्निहोत्रादिवाक्यस्य । व्या० प्र० । 8 ततश्च । व्या० प्र० । 9 अनुमान । व्या० प्र० । 10 आगमः । उपदेशवादागमः । दि० प्र० । 11 आगम । व्या० प्र० ।

त्स्य¹ शासनमिति व्यवस्थापयितुमशक्तेरित्यपरे । ²उक्तमत्र³ सर्वथैकान्तवादानां⁴ स्याद्वाद-
प्रतिहतत्वादिति⁵ । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वाद्विनिर्दोषोयमिति शक्यं निर्णेतुं, दोषवानयमिति
च, दृष्टेष्टविरोधवचनत्वात् । तत्रानिश्चितवचनविशेषस्य कस्यचिद्वीतरागत्वेतराभ्यां सदेहेपि
निश्चितवचनविशेषस्य शक्यमाप्तत्वं व्यवस्थापयितुम् । तत्रापि: 'साक्षात्करणादिगुणः'⁷
'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा' इत्यादिना⁸ साधितः । ⁹संप्रदायाविच्छेदो वा । सर्वज्ञा-
दागमस्तदर्थानुष्ठानात्¹⁰ सर्वज्ञ इति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सिद्धः प्रवचनार्थस्य,
अन्यथान्धपरम्परया प्रतिपत्तेः । न ह्यन्धेनाकृष्यमाणोन्धः स्वेष्टं मार्गमास्कन्दति¹¹ नाम ।
न चैवं संप्रदायाविच्छेदे परस्पराश्रयणं, कारकपक्षे बीजांकुरादिवदनादित्वात्तस्यानवतारात् ।
ज्ञापकपक्षेपि परस्मात् स्वतःसिद्धात्, पूर्वस्य ज्ञप्तेर्नतरेतराश्रयणं, प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य साधनात् ।

अन्यथा—यदि आप्तपना, साक्षात्करण आदि गुणों से या संप्रदाय के अविच्छेद से सुनिश्चित
असंबन्धद्बाधक प्रमाण से सिद्ध न होवे तब तो अंधपरंपरा से ही उसका ज्ञान मानना पड़ेगा । अंधे के
द्वारा आकृष्यमाण अंध पुरुष अपने इष्ट मार्ग को नहीं प्राप्त कर सकते हैं । सर्वज्ञ से आगम तथा
आगम के अर्थ के अनुष्ठान से सर्वज्ञ की सिद्धि होने से संप्रदाय (आगम) का अविच्छेद होता है अतः
इसमें परस्पराश्रय दोष आता है ऐसा भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि कारक पक्ष में बीजांकुर आदि
के समान ये दोनों सर्वज्ञ और आगम अनादि हैं अतः परस्पराश्रय दोष का प्रसंग नहीं आता है ।
ज्ञापक पक्ष में भी पर से—कार्यभूत आगम के स्वतः सिद्ध होने से पूर्व—आगम कारण सर्वज्ञ की
ज्ञप्ति होने से परस्पराश्रय दोष नहीं आता है क्योंकि प्रसिद्ध आगम से अप्रसिद्ध सर्वज्ञ की सिद्धि
की जाती है ।

भावार्थ—ज्ञप्ति पक्ष में विचार करते हैं । कोई मनुष्य स्नानपानादि के लिये परिचित जलाशय
में पहुंचकर जलादिग्रहण कर लेते हैं । कोई मनुष्य अपरिचित दशा में पर—जलज्ञान से पहले पथिक
का उपदेश, घट सहित पनिहारियों का देखना, मेंढक की आवाज आदि से जलज्ञान करके लाभ ले
लेते हैं । अतएव सभी वस्तुयें कथंचित् हेतु से सिद्ध हैं क्योंकि इन्द्रिय और आप्त वचन की अपेक्षा

1 आप्तस्य । दि० प्र० । 2 समाधानं । व्या० प्र० । 3 अस्मिन् चोद्ये । व्या० प्र० । 4 अनेकान्त । भा । दि० प्र० ।
5 निराकृतत्वात् । व्या० प्र० । 6 उभयोर्ज्ञातुं शक्यत्वे । दि० प्र० । 7 यत्तः । दि० प्र० । 8 अनुमानेन । दि० प्र० ।
9 संप्रदायाविच्छेदाप्तित्त्वं यदि । साधितम् । दि० प्र० । 10 आगम । दि० प्र० । 11 आयाति । दि० प्र० ।

तदेवं^१ स्यात्सर्वं हेतुतः सिद्धं करणाप्तवचनानपेक्षणात् । स्यादागमात्सिद्धमक्षलिङ्गान-
पेक्षणात् । स्यादुभयतः सिद्धं, क्रमार्पितद्वयात् । स्यादवक्तव्यं, सहार्पितद्वयात् । शेषभङ्गत्रयं
च पूर्ववत् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजनीया ।

नहीं करती हैं। सभी वस्तुयें कथंचित् आगम से सिद्ध हैं क्योंकि इन्द्रिय और हेतु की अपेक्षा नहीं करती हैं। कथंचित् उभय रूप से सिद्ध हैं क्योंकि क्रम से दोनों हेतुओं की अपेक्षा है। कथंचित् अवक्तव्य है क्योंकि एक साथ दोनों हेतुओं की अर्पणा है। शेष तीन भंग भी पूर्ववत् लगा लेना चाहिये। इस प्रकार से सप्तभङ्गी प्रक्रिया को घटित कर लेना चाहिये।

सारांश

“ऐकांतिक हेतुवाद अथवा आगमवाद का खंडन, स्याद्वादसिद्धि”

बौद्ध हेतु से ही तत्त्व की सिद्धि मानते हैं। ब्रह्माद्वैतवादी आगम से ही परमब्रह्म को सिद्ध करते हैं। वैशेषिक एवं सौगत प्रत्यक्ष और अनुमान से ही तत्त्वों की सिद्धि मानते हैं। इन सबका आचार्य खंडन करते हैं।

बौद्ध का पक्ष—सभी उपेयतत्त्व हेतु से ही हैं प्रत्यक्ष से नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष होने के पर विसंवाद संभव हैं। कारण जो युक्त से घटित नहीं होता उसे हम देखकर भी श्रद्धा नहीं करते हैं। प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षाभास की व्यवस्था भी अनुमान से ही होती है क्योंकि प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक है।

जैन—अनुमान की उत्पत्ति के लिये धर्मी, साधन और उदाहरण का देखना अवश्यम्भावी है। धर्मी-पर्वत, साधन-धूम और उदाहरण—रसोईघर को देखकर तथा अग्नि को नहीं देखकर ही अनुमान होता है। आपके यहाँ हेतु को ही प्रमाण मानने पर तो प्रत्यक्ष आदि अप्रमाण हो जावेंगे पुनः अनुमान उत्पन्न नहीं हो सकेगा। शास्त्र के उपदेश से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा किन्तु अभ्यस्त विषय में प्रत्यक्ष से भी तत्त्व की सिद्धि होती है क्योंकि शब्द और हेतु आदि से भी ज्ञान देखा जाता है तथा परार्थानुमान रूप शास्त्रोपदेश की प्रवृत्ति भी स्पष्टतया देखी जाती है। अतः केवल हेतुवाद श्रेयस्कर नहीं है।

१ तस्मात् । दि० प्र० ।

ब्रह्माद्वैतवादी का पूर्वपक्ष—सभी तत्त्व आगम से ही सिद्ध होते हैं अनुमान से सिद्ध भी वाक्य यदि आगम से बाधित हैं तो अप्राह्य हैं जैसे “ब्राह्मण को मदिरा पीना चाहिये क्योंकि वह द्रव द्रव्य है दूध के समान” । यह अनुमान से सिद्ध है किन्तु ‘ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्’ इत्यादि आगम से बाधित है । परम ब्रह्म भी आगम से ही सिद्ध है क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि तो अविद्या की पर्याय को ही विषय करते हैं ।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि—इस प्रकार से तो आपके यहां विरुद्ध अर्थ के कहने वाले सभी आगम ही प्रमाण हो जावेंगे । आगम-आगम से तो सभी समान हैं । यदि अपने आगम समीचीन कहो तो समीचीनता का निर्णय युक्ति-हेतु से ही किया जावेगा तथा अदृष्टकारण से जन्य और बाधा से रहित होने से ही समीचीनता आती है । अतः आपका आगम भी हेतु सापेक्ष ही रहा ।

दूसरी बात यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाले श्रावण प्रत्यक्ष को यदि आप प्रमाण मानेंगे तो प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार कर लिया । यदि नहीं मानोगे तो बिना सुने वेदों के अर्थ का निश्चय कैसे होगा ? इत्यादि रीति से आगमों पर अज्ञ एवं अनुमान भी प्रमाण मानने होंगे ।

वैशेषिक और सौगत कहते हैं कि—प्रत्यक्ष और अनुमान से ही तत्त्वों की सिद्धि होती है आगम से नहीं । किन्तु यह कथन भी सारहीन है क्योंकि ग्रहों का संचार एवं चन्द्रग्रहण आदि ज्योतिष शास्त्र से ही सिद्ध हैं । अतः हेतु, आगम, प्रत्यक्ष और अनुमान से ही उपेय तत्त्व सिद्ध होते हैं ।

इन दोनों का निरपेक्ष उभयैकात्म्य भी श्रेयस्कर नहीं है । तथैव स्याद्वाद के अभाव में अवाच्य तत्त्व कहना भी असंभव ही है । अब स्याद्वाद को सिद्ध करते हैं । वक्ता के आप्त न होने पर जो हेतु से सिद्ध होता है वह हेतु साधित है एवं वक्ता जब आप्त होता है तब उसके वाक्य से जो सिद्ध होता है वह आगम साधित है एवं जो जिस विषय में अविस्वादक है वह आप्त है इससे भिन्न अनाप्त हैं ।

अपौरुषेय वेद का खण्डन

मीमांसक—वेद अपौरुषेय हैं इसीलिये वे प्रमाण हैं क्योंकि उनके कर्ता का स्मरण नहीं है । उन वेद वाक्यों से ही धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है अतः सर्वज्ञ कोई नहीं है । अतएव जैमिनि, ब्रह्मवादी, वेदांती, मीमांसक या अन्य कोई भी अपौरुषेय श्रुतमात्र का अवलम्बन

लेने वाले होने से अतीन्द्रिय धर्मादि पदार्थ के ज्ञाता नहीं हैं क्योंकि वे असर्वज्ञ हैं, किन्तु अर्हंत, भगवान ही सम्पूर्ण दोष और आवरण के श्रय हो जाने से सर्वज्ञ आप्त कहलाते हैं ।

जौनाचार्य— यदि आप वेदशास्त्र को अविसंवादक प्रमाण मानें तो शक्य ही नहीं है क्योंकि उसका व्याख्याता रागी है या वीतरागी ? इत्यादि अनेक प्रश्नों से वह अविसंवादक सिद्ध नहीं होता है । यदि व्याख्याता रागी है तो विपरीत अर्थ भी कर देगा । यदि वीतरागी कहो तो आप सर्वज्ञ मानते नहीं हैं इत्यादि रूप से वेद प्रमाणिक नहीं है अचेतन होने से घटादि के समान । आप वेद को प्रमाणिक एवं बौद्धों के पिटकत्रय को अप्रमाणिक भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि जैसे पिटकत्रय के कर्ता बुद्ध हैं वैसे ही आपके वेद के कर्ता भी आपके यहां ही माने हैं । कणाद लोग अष्टक ऋषि को वेद का कर्ता एवं पौराणिक लोग ब्रह्मा को तथा जैन कालासुर को वेद का कर्ता मानते हैं अतः वेद अपौरुषेय नहीं है ।

यदि आप कहें कि वेद में विशेष शक्तिशाली मंत्रादि पाये जाते हैं । इस पर हम लोगों का यही उत्तर है कि उन मंत्रों की उत्पत्ति हम जैनों के विद्यानुवाद पूर्व से ही हुई है । अनेक रत्न राजा के भण्डार में हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति समुद्र, खान आदि से ही हुई है तथैव मंत्रों की उत्पत्ति हमारे जिनागम से ही सिद्ध है ।

दूसरी बात यह है कि यदि अपौरुषेय से ही वेद प्रमाण हैं तो म्लेच्छों के यहाँ मातृ विवाह, मांसाहार आदि क्रियायें भी अपौरुषेय होने से प्रमाण हो जावें, किन्तु ऐसा नहीं है अतः सर्वज्ञ से ही आगम सिद्ध होता है एवं उसके अर्थ का अनुष्ठान करने से ही सर्वज्ञ बनते हैं इस प्रकार से बीजांकुर न्याय से सर्वज्ञ और आगम की सिद्धि होती है । अतएव—

१. कथंचित् सभी वस्तुयें हेतु से सिद्ध हैं क्योंकि उनमें इन्द्रिय और आप्त वचन की अपेक्षा नहीं है ।
२. कथंचित् सभी आगम से सिद्ध हैं क्योंकि इन्द्रिय और हेतु की अपेक्षा नहीं है ।
३. कथंचित् उभयरूप हैं क्योंकि क्रम से दोनों की विवक्षा है ।
४. कथंचित् अवक्तव्य हैं क्योंकि युगपत् दोनों की विवक्षा है ।

इसी प्रकार से आगे के तीन भंग भी लगा लेना चाहिये ।

इस अध्याय में वस्तु की सिद्धि के कारणभूत प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों की भी प्रसंगानुसार आवश्यकता है यह दिखाया गया है । कोई-कोई केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं ।

नैकान्ताद्धेतुवादः^१ प्रभवति सकलं^१ सत्त्वमुन्नेतुमेक—
^३स्तद्वन्नाहेतुवादः^४ प्रवद (भव)ति^५ विहिताशेषशङ्काकलापः ।
 इत्यार्याचार्यवर्या वदधति निपुणं^६ स्वामिनस्तत्त्वसिद्धि^७
 स्याद्वादोत्तुङ्गसौधे स्थितिमलधियां प्रस्फुटोपायतत्त्वे^८ । १ ।

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ षष्ठः परिच्छेदः ।

कोई केवल अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं । कोई केवल आगमवाद का ही आदर करते हैं । इन तीनों का ही निरसन किया गया है एवं आगमवादियों में एक वेदांती है जो केवल वेद को ही प्रमाण मानते हैं उनका विशेष रूप से विचार करके खण्डन किया गया है । इस प्रकार से इस परिच्छेद का तात्पर्य है ।

श्लोकार्थ—सर्वथा एकान्त से एक अकेला हेतुवाद सम्पूर्ण तत्त्वों की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं है, तथैव ईश्वरादि के विषय में अनेक शंकाओं को कराने वाला आगमवाद भी तत्त्वों की व्यवस्था में समर्थ नहीं है ।

अतएव श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यवर्य तत्त्वसिद्धि के लिए निपुणतया प्रस्फुट उपाय तत्त्वभूत, स्याद्वादमय ऊँचे महल में निर्मलबुद्धि वाले शिष्यों की स्थिति को करते हैं । अर्थात् मोक्षप्राप्ति के उपायभूत स्याद्वाद रूपी महल में शिष्यों को पहुँचाते हैं, स्थिर करते हैं ।

दोहा— चिच्चिन्तामणिरत्नं जिनं, चित्तितफलदातार ।
 तुम वचनामृतं भव्यं को, अजर अमर करतार ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यकृत “आप्तमीमांसालंकृति” अपरनाम “अष्ट-सहस्री” ग्रन्थ में आर्यिका ज्ञानमतीकृत भाषा अनुवाद, पद्यानुवाद, भावार्थ, विशेषार्थ और सारांश सहित इस “स्याद्वादचित्तमणि” नामक टीका में यह छठा परिच्छेद पूर्ण हुआ ।



१ अनुमानकथनम् । दि० प्र० । २ उपेयम् । ३ व्यवस्थापयितुम् । व्या० प्र० । ४ हेतुवादवत् । आगम एव । दि० प्र० । ५ उपेयतत्त्वम् । व्या० प्र० । ६ समन्तभद्राः । दि० प्र० । ७ स्याद्धेतुतः स्यादागमतः सिद्धिमिति । व्या० प्र० । ८ अनुमाने आगमे शास्त्रे देवानमे ।

अथ सप्तमः परिच्छेदः ।

अंतस्तत्त्वं बहिस्तत्त्वं, पश्यति ज्ञानचक्षुषा ।
स्याद्वादस्वामिनो वंदे, स्वात्मतत्त्वस्य सिद्धये ॥

निर्दिष्टो यः शास्त्रे हेत्वागमनिर्णयः¹ प्रपञ्चेन ।
²गमयत्यष्टसहस्री संक्षेपात्तमिह सामर्थ्यात् ॥१॥

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते³ बुद्धिवाक्यं मृषाखिलम् ।
प्रमाणाभासमेवातरस्तत्⁴ प्रमाणादृते कथम्⁵ ॥७६॥

“अथ सप्तम परिच्छेद”

अर्थ—जिन्होंने अपने ज्ञान नेत्र के द्वारा अंतरंग तत्त्व और बाह्य तत्त्व को देख लिया है ऐसे स्याद्वाद के स्वामी श्री जिनेन्द्रदेव की हम स्वात्मतत्त्व की सिद्धि के लिये वंदना करते हैं। (यह मंगलाचरण श्लोक अनुवादकर्त्री द्वारा रचित है।)

श्लोकार्थ—श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यवर्यं कृत मूल देवागमस्तोत्र में जो हेतु और आगम का निर्णय विस्तृतरूप से किया गया है उसी को अपनी शक्ति के अनुसार यह अष्टसहस्री संक्षेप से बतलाती है ॥१॥

स्वसंविदित जो ज्ञान तत्त्व है, अन्तरंग यदि अर्थ वही ।
तब बुद्धि-अनुमान, शास्त्र सब, बाह्य वस्तु है मृषा सही ॥
अतः प्रमाणाभास हुये ये, अनुमान आगम चूँकि मृषा ।
बिन प्रमाण के कहाँ प्रमाणाभास बनेगा सभी सफा ॥७६॥

कारिकार्थ—यदि अंतरंग-ज्ञानरूप पदार्थ को ही वास्तविक मानकर उसका एकांत स्वीकार किया जावे, तब तो सभी बुद्धि-अनुमान और वाक्य-आगम मिथ्या ही हो जावेगा। अतः वे बुद्धि और वाक्य प्रमाणाभास ही सिद्ध होंगे। पुनः वह प्रमाणाभास भी प्रमाण के बिना कैसे सिद्ध हो सकेगा ? ॥७६॥

1 विस्तारेण । दि० प्र० । 2 ज्ञापयति । व्या० प्र० । 3 परमार्थतो विज्ञानाद्वैतैकान्तेऽंगीक्रियमाणे सति । दि० प्र० ।
4 बुद्धिवाक्यम् । व्या० प्र० । 5 बुद्धिवाक्यं । मृषा यतः । सत्यरूपात् । दि० प्र० ।

[विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धः विज्ञानमात्रं तत्त्वं मन्यते तस्य निराकरणं ।]

अन्तरङ्गस्यैव स्वसंविदितज्ञानस्यार्थता^१ वस्तुता, न बहिरङ्गस्य जडस्य प्रतिभासानर्हस्येत्येकान्तोऽन्तरङ्गार्थतैकान्तः । तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेऽखिलं बुद्धिवाक्यं हेतुवादाहेतुवाद-निबन्धनमुपायतत्त्वं^२ मृषैव स्यात् । यतश्च मृषा स्यादत एव प्रमाणाभासमेव, प्रमाणस्य सत्यत्वेन व्याप्तत्वात्, मृषात्वेन प्रमाणाभासस्य^३ व्याप्तेः । तच्च प्रमाणाभासं प्रमाणादृते कथं संभवेत् ?^४ तदसंभवे^५ तद्व्यवहारमवास्तवमेवायं स्वप्नव्यवहारमिव^६ संवृत्यापि कथं प्रतिपद्यते ?^७ तज्जन्मकार्यप्रभवादि^८ वेद्यवेदकलक्षणमनैकान्तिकमादर्श^९ संवित्तिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना व्यवहाराय कल्प्यते इत्यभिनविशेषि प्रमाणं मृग्यम्^{११} । न हि प्रमाणाभावे

[विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध विज्ञान मात्र तत्त्व मानता है, उसका निराकरण]

अन्तरंग-स्वसंविदित ज्ञान ही वास्तविक है, किन्तु प्रतिभासित होने योग्य बहिरंग जड़ पदार्थ वास्तविक नहीं है । इस प्रकार के एकांत को 'अंतरंगार्थतैकान्त' कहते हैं । इस एकान्त को स्वीकार करने पर हेतुवाद और आगमवाद के निमित्तभूत सभी उपायतत्त्व बुद्धि और वाक्य असत्य ही हो जावेंगे और असत्य हो जाने से वे बुद्धि और वाक्य प्रमाणाभास ही सिद्ध होंगे क्योंकि प्रमाण तो सत्यपने से व्याप्त है और प्रमाणाभास की व्याप्ति असत्य से है तथा वह प्रमाणाभास भी प्रमाण के बिना कैसे संभव होगा ?

उस प्रमाणाभास के असम्भव होने पर उसके व्यवहार को अवास्तविक रूप से ही आप बौद्ध स्वप्न व्यवहार के समान संवृत्ति से भी कैसे जान सकेंगे ?

बौद्ध—तज्जन्म कार्य प्रभवादि, वेद्यवेदक लक्षण अनैकान्तिक को दिखाकर यह संवित्ति ही खण्ड-खण्ड रूप से प्रतिभासित होती हुई हम विज्ञानाद्वैतवादियों के द्वारा व्यवहार के लिये कल्पित की जाती है ।

जैन—इस प्रकार के अभिप्राय में भी तो प्रमाण को ढूँढना ही पड़ेगा क्योंकि प्रमाण के

१ परमार्थता । दि० प्र० । २ यतश्च मृषैव । इति पा । दि० प्र० । व्या प्र० । ३ यत्र सत्यं तत्र प्रमाणं यत्र मृषा तत्र प्रमाणाभासमिति व्याप्तिस्तदभावे तदभावात् । दि० प्र० । ४ बुद्धिवाक्यम् । प्रमाणम् । दि० प्र० । ५ स्याद्वाद्याह अयमन्तस्तत्त्ववादी योगाचारः प्रमाणाभावे सति यथा स्वप्नव्यवहारमसत्यं तथा प्रमाणप्रमेयादिग्राह्याग्राहकादिव्यवहारमसत्यं कल्पनया कृत्वा कथं निश्चिनोत्यपितु न निश्चिनोति = अत्राह योगाचारः । अस्मन्मते संवृत्तिरेव प्रमाणं कथमित्युक्त आह । तज्जन्मकार्यप्रभवादीनां वेद्यवेदकलक्षणानां व्यभिचारं दर्शयित्वा संवित्तिरेव तज्जन्मादी सर्वत्र विजृम्भ्याणा व्यवहाराय घटत इति मतम् = आहुः श्रीमदकलंकदेवा इत्याग्रहेपि त्वयान्तस्तत्त्ववादिना किञ्चित्प्रमाणमवलम्बनीयं प्रमाणं विना तव निर्वाहो नास्तीति भावः । दि० प्र० । ६ प्रमाणाभास । दि० प्र० । ७ योगापेक्षया इदं वचनं कार्यनिमित्तकारणत्वमित्यभिप्रायः । दि० प्र० । ८ कार्यकारणभाव इदं वचनं सांख्यापेक्षया । दि० प्र० । ९ एव । ग्राह्याग्राहक । दि० प्र० । १० विज्ञानाद्वैतवादी । दि० प्र० । ११ विज्ञानाद्वैतवादिना । दि० प्र० ।

तज्जन्मताद्रूप्यतदध्यवसायान्¹ प्रत्येकं वेद्यवेदकलक्षणं चक्षुषा² समानार्थसमनन्तरवेदनेन शुक्ति-
कायां रजताध्यवसायेन च व्यभिचारयितुमीशः, सह वा³ समानार्थसमनन्तरज्ञानेन कमला-
द्युपहतचक्षुषः शुल्के⁴ शङ्खे पीताकारज्ञानसमनन्तरज्ञानेन वा सौत्रान्तिकान्प्रति व्यभिचारि
प्रतिदर्शयेत् । कथं⁵ वा 'कार्यनिमित्तकारणत्व'⁷ तल्लक्षणं यौगान्प्रत्यनैकान्तिकं व्यवस्था-

अभाव में तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय रूप प्रत्येक को वेद्यवेदक भाव मानने पर चक्षु के द्वारा समानार्थ समनन्तर ज्ञान से एवं शुक्तिका में रजत के अध्यवसाय से व्यभिचार दोष देना शक्य नहीं है । अर्थात् बौद्धों ने पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानी है । पदार्थ वेद्य है और पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान वेदक है । ज्ञान में होने वाला नीलाकार वेद्य है, नीलाकार ज्ञान वेदक है । अध्यवसाय-निर्णय करने योग्य अर्थात् जानने योग्य पदार्थ वेद्य हैं और उसका अध्यवसाय—जानना वेदक है । इस प्रकार से तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय में वेद्य-वेदक भाव पाया जाता है ।

अथवा प्रमाण के अभाव में समानार्थ समनन्तर ज्ञान से एक साथ व्यभिचार दोष नहीं दे सकते, अथवा कामलादि दोषों से दूषित चक्षु का शुक्ल शंख में पीताकार ज्ञान—समनन्तर ज्ञान से सौत्रान्तिक बौद्धों के प्रति वेद्यवेदक रूप व्यभिचार दोष को नहीं दिखला सकते हैं ।

अथवा प्रमाण के अभाव में कार्य निमित्तकारणत्व वेद्य-वेदक लक्षण, यौगों के प्रति अनैकान्तिक को कैसे व्यवस्थापित करेंगे ? अर्थात् यौगों ने अर्थ को ज्ञान का निमित्त कारण माना है । इसलिये उन्हें चक्षु के द्वारा अनैकान्तिक दोष कैसे दिया जावेगा ? चक्षु तो ज्ञान में निमित्त कारण है और ज्ञान कार्य है । प्रमाण को न मानने पर यह व्यभिचार दोष कैसे दिया जावेगा ?

1 अत्राह स्याद्वादी नीलादिवस्तुनः सकाशाज्जातं ज्ञानं तज्जन्म इत्युच्यते बहिस्तत्त्ववादिभिस्तच्च वेद्यवेदकरूपं चक्षुर्नीलवस्तुभ्यां जातं नीलज्ञानं नीलं शृङ्गाति चक्षुः स्वरूपं न गृह्णातीति चक्षुषा कृत्वाऽन्तस्तत्त्ववादी प्रमाणाभावे सति बहिस्तत्त्ववाद्यंगीकृतस्य तज्जन्मनो व्यभिचारं प्रतिपादयितुं समर्थो नहि तथा ताद्रूपस्य सदृशार्थप्रवर्तमानपरिज्ञानेन व्यभिचारं प्रतिपादयितुं समर्थो न हि तथा तदध्यवसायस्यापि शुक्तिखण्डे रजताध्यवसाये न कृत्वा प्रमाणाभावे व्यभिचारं प्रतिपादयितुमीशो नहि अन्तस्तत्त्ववादी । दि० प्र० । 2 अनेकान्तः । व्या० प्र० । 3 वा अथवा । तज्जन्म-ताद्रूप्यतदध्यवसायानां युगपन्नीलादिसमानार्थाज्जातेन देवदत्तयज्ञदत्तादीनामुत्तरोत्तर लक्षणज्ञानेन कृत्वा प्रमाणाभावेऽन्तस्तत्त्ववादी व्यभिचारयितुमीशो नहि । दि० प्र० । 4 वा अथवा काचकामलादिदोषदुष्टचक्षुषः पुंसः श्वेतशंखे पीताकारपरिणतं ज्ञानमुत्तरक्षणसमुत्पन्नसविकल्पकज्ञानेन कृत्वा बहिस्तत्त्ववादिनः सौगतभेदान् प्रति प्रमाणाभावेऽन्त-स्वतत्त्ववादी व्यभिचारि नहि प्रदर्शयेत् । व्या प्र० । 5 प्रमाणाभाव । व्या० प्र० । 6 ज्ञानस्य । व्या० प्र० । 7 वा अथवा तनुभवनकारणादिक पक्षः बुद्धिमत्कारणकं भवतीति साध्यो धर्मः संनिवेशविशिष्टत्वात्कार्यत्वाद्वा यथा जीर्णप्रासादादि इत्याद्यनुमानसाधितं कार्यकारणलक्षणं महीमहीधरादिदर्शनेन कृत्वा यौगान् प्रति प्रमाणाभावेऽन्त-स्तत्त्ववादी व्यभिचारीति कथं सम्भावयेत् । दि० प्र० ।

पयेत् ? कथं^१ च^२ कार्यकारणभावाख्यं प्रभवं कांश्चन प्रति योग्यतां वा तल्लक्षणतया^३ व्यभिचारयेत्^४ ? कथं च संवित्तिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना वेद्यवेदकादिव्यवहाराय^५ प्रकल्पते इत्यभिनिवेशं वा विदधीत् ? यतो न प्रमाणं मृगयते । किञ्चास्य विज्ञानवादिनः संविदा^६ क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं^७ नानासंतानत्वमिति स्वतस्तावन्न सिध्यति, भ्रान्तेः^८ स्वप्नवत् । स्वसंवेदनात्स्वतः सिध्यतीति चेन्न, क्षणिकत्वेनानन्यवेद्यत्वेन नानासंतानत्वेन च नित्यत्वेन सर्ववेद्यत्वेनैकत्वेनेव^९ परब्रह्मणः स्वसंवेदनाभावात् । तथात्मसंवेदनेपि व्यवसायवैकल्ये प्रमाणा-
न्तरापेक्षयानुपलम्भकल्पत्वात्,^{१०} तस्य^{११} प्रमाणान्तरानपेक्षस्यैव व्यवसायात्मनः संवेदनस्यो-

अथवा प्रमाण के अभाव में कार्यकारणभाव नाम का प्रभव—वेद्य-वेदक लक्षण, किसी योग्यता के प्रति उस वेद्य-वेदक लक्षण रूप से कैसे व्यभिचरित कर सकेंगे ? अर्थात् अग्निरूप कार्य का अरणिकाष्ठ कारण है इत्यादि कार्यकारण नाम वाला वेद्यवेदक लक्षण भाव है उसे प्रभव कहते हैं । सांख्या अर्थ और ज्ञान में कार्यकारण भाव मानते हैं । जैन योग्यता को ज्ञान का कारण मानते हैं । प्रमाण के अभाव में सांख्य के प्रभव को और जैन योग्यता लक्षण को कैसे व्यभिचरित किया जावेगा ।

अथवा संवित्ति ही खण्डशः प्रतिभासित होती हुई वेद्यवेदक आदि व्यवहार के लिये कल्पित की जाती है । इस प्रकार का अभिप्राय भी कैसे कर सकेंगे जिससे कि प्रमाण का अन्वेषण न किया जावे । अर्थात् उपर्युक्त सभी में दूषण के लिये भी प्रमाण की खोज करनी ही पड़ेगी ।

दूसरी बात यह है कि—इस विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध के यहाँ ज्ञान में क्षणिकत्व, अनन्यत्व-वेद्यत्व और नानासंतानत्व यह सब स्वतः सिद्ध नहीं हो सकते हैं, भ्रान्त होने से स्वप्न के समान । अर्थात् विज्ञानाद्वैतवादी के यहाँ स्वकीयज्ञान से सभी ज्ञानों में क्षणिकादिपना सिद्ध नहीं होता है एवं पर ग्राहक को ग्राह्य ग्राहक भाव घटन पूर्वक भ्रान्तरूप स्वीकार किया गया है ।

ज्ञानाद्वैतवादी—स्वसंवेदन से वे सब स्वतः सिद्ध हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि क्षाणिक रूप से अनन्यवेद्य रूप से और नानासंतान रूप से स्वसंवेदन का अभाव है । जैसे कि नित्य रूप से, सर्ववेद्य रूप से और एकत्व रूप से परम ब्रह्म की सिद्धि नहीं होती है ।

उसी प्रकार से ज्ञान के स्वरूप संवेदन में भी व्यवसाय रहित होने से प्रमाणांतर की अपेक्षा होने से अनुपलम्भ के समान ही है । अर्थात् आप बौद्धों ने ज्ञान को निर्विकल्प माना है अतएव वह अपने स्वरूप का अनुभव करने में विकल्पज्ञान की अपेक्षा रखेगा तब तो उसका स्वयं

१ प्रमाणाभावे । व्या० प्र० । २ अथवा अग्नेः कार्यस्यारणिकाष्ठं कारणमित्यादि कार्यकारणत्वसंज्ञं प्रभवं कांश्चन कार्यकारणवादिनः प्रति अन्यस्मात्सूर्यकाम्तादेः अग्निकारणलक्षणतया कृत्वा प्रमाणाभावेऽस्तत्त्ववादी कथं व्यभिचारयेत् । दि० प्र० । ३ चक्षुषा । दि० प्र० । ४ प्रमाणाभावेऽस्तत्त्ववादीतीहापि संबन्धयः । दि० प्र० । ५ कल्पते । इति पा० । अर्था भवन्ति । दि० प्र० । ६ ज्ञानानाम् । दि० प्र० । ७ निर्विकल्पकत्वात्संविदाम् । दि० प्र० । ८ स्वप्रकाशकरूपत्वम् । दि० प्र० । ९ परमब्रह्मणः । इति पा० । दि० प्र० । १० विज्ञानावदिनोभिप्रायमनूद्य दूषयति । तव मते प्रमाणान्तरापेक्षा सर्वथानास्त्येव । व्या० प्र० । ११ अनुपलम्भकत्वं व्यवस्थापयति । व्या० प्र० ।

पलम्भत्वव्यवस्थितेः, ¹व्यवसायाभावे तु बुद्धीनामभ्यासादपि तथानुपलम्भात् । न हि तथा बुद्धयः संविद्व्रते ²यथा व्यावर्धन्ते, ³क्षणिकत्वाद्यात्मनान्यथैव ⁴तासां ⁵प्रतिभासनाभ्यास-सिद्धेः । नापि परतः ⁶क्षणिकत्वादि सिद्ध्यति, संबन्धप्रतिपत्तेरयोगात् । न हि ⁷सत्त्वादे-लिङ्गस्य क्षणिकत्वादिना व्याप्त्या ⁸संबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षतो युज्यते, तस्य सन्निहितविषय-बलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च । नाप्यनुमानादनवस्थानादिति प्रागेव ⁹प्ररूपणात् । ¹⁰स्वांशमात्रा-

का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि भिन्न प्रमाण की अपेक्षा से रहित व्यवसायात्मक ज्ञान की ही उपलब्धी देखी जाती है । ज्ञान में व्यवसायात्मक का अभाव मान लेने पर तो अभ्यास से भी उस प्रकार की उपलब्धि नहीं हो सकेगी । कारण क्षणिक रूप वस्तु उपलब्ध ही नहीं होती है क्योंकि जिस प्रकार से आप बौद्धों ने वर्णन किया है उस प्रकार से ज्ञानों का प्रतिभास नहीं देखा जाता है किन्तु क्षणिकत्वाद्यात्मक से भिन्न अन्यथा रूप (नित्यत्व आदि रूप) से ही ज्ञानों के प्रतिभासन का अभ्यास सिद्ध है ।

तथा पर-अनुमान से भी क्षणिकत्वादि की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि साध्य और साधन-के सम्बन्ध व्याप्तज्ञान का ही अभाव है । सत्त्वादि हेतु की क्षणिकत्वादि के साथ व्याप्ति होने से प्रत्यक्ष से अविनाभाव का ज्ञान हो जावेगा ऐसा कहना भी शक्य नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष तो सन्निहित पूरोवति विषय के बल से ही उत्पन्न होता है तथा वह निर्विकल्प होने से अविचारक-अव्यवसायात्मक ही है । अनुमान से भी उस क्षणिकत्व आदि की सिद्धि नहीं है क्योंकि व्यवस्था नहीं बन सकती है ऐसा हमने पहले ही “सत्त्वमेवासि निर्दोष” इत्यादि कारिका के व्याख्यान में निरूपण कर दिया है ।

स्वांशमात्र का अवलम्बन लेने वाले मिथ्याविकल्प से प्रकृत-क्षणिकत्वादि की व्यवस्था

1 आहान्तस्तत्त्ववादी हे स्या० संविदामभ्यासबलात् स्वस्य क्षणिकत्वादीनामनुभवोस्तीति उक्ते स्याद्वाद्याह निश्चया-भावे तु कृताभ्यासादपि तथा क्षणिकत्वं नोपलभ्यते । दि० प्र० । 2 संवित्तेः । इति पा० । दि० प्र० । 3 यथा क्षणिक-त्वाद्यात्मना परैर्व्यावर्धन्ते तथा न प्रतिभासन्ते । व्या० प्र० । 4 तासां बुद्धीनां ज्ञानाभ्यासघटनात् = यथाविज्ञानवादिनः संविदां क्षणिकत्वादि स्वतो न सिद्ध्यति तथाऽन्यप्रमाणादपि न । दि० प्र० । 5 ता । व्या० प्र० । 6 सर्वसंविदाम् । व्या० प्र० । 7 आह स्याद्वादी संविदां क्षणिकत्वादिकं परस्मात्प्रमाणादपि न सिद्ध्यति । अनुमानात्सिद्ध्यतीति चेत् । न । व्याप्तरेभावेऽनुमानाऽऽटनात् = संवेदनवादी आह । अस्माकं व्याप्तिरस्तीति चेत् । स्या० आह सा व्याप्तिः प्रमाणसिद्धा नास्ति । कथमित्युक्त आह । सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । इत्यादि तवानुमाने क्षणिकत्वादिना कृत्वा सत्त्वादेलिङ्गस्य व्याप्त्या प्रत्यक्षतो निर्विकल्पकदर्शनात्संबन्धप्रतिपत्तिर्न हि युज्यते । कस्मात्तस्य प्रत्यक्षस्यातिनिक टार्थबलादुत्पादात् । पुनर्विचाररहितत्वाच्च = तथानुमानादपि संबन्धप्रतिपत्तिर्न युज्यते । तदनुमानं व्याप्त्या सिद्ध्यति । सा प्रत्यक्षतः पूर्ववत्सिद्धा नानुमानादिति चेत्तस्यापि व्याप्तिप्रत्यक्षतः सिद्धा न । अनुमानादित्वाद्यनवस्थानादिति दोषः प्रागेव प्रतिपादितः । दि० प्र० । 8 सर्वसंविदाम् । साध्येन । दि० प्र० । 9 किञ्च । दि० प्र० । 10 अहनिमि स्वांशनिश्चयः । व्या० प्र० ।

बलम्बिना^१ ^२मिथ्याविकल्पेन ^३प्रकृततत्त्वव्यवस्थापने बहिरर्थेऽव्यविरोधात् ^४क्षणिकत्वा-
दिव्यवस्थापनमस्तु सौत्रान्तिकादीनाम्, अविशेषात् । ^५तथाहि । कथंचिदत्र वेद्यलक्षणं यदि
व्यवतिष्ठेत तदा तत्प्रकृतं संविदां ^६क्षणिकत्वादिसाधनं लैङ्गिकज्ञानेन कृतं स्यान्नान्यथा । न
^७चानुक्तदोषं^८ लक्षणमस्ति, वेद्यस्य विज्ञानवादिना तज्जन्मादेरनैकान्तिकत्वदोषवचनात् ।
संवित्क्षणिकत्वादावनुमानवेदनस्य तत्संभवे नान्यत्र बहिरर्थे तदसंभवोभिधेयः, सर्वथा विशेषा-
भावात् । ^९तत्स्वपरपक्षयोः सिद्धयसिद्ध्यर्थं ^{१०}किंचित्कथंचित्कुतश्चिदवितथज्ञानमादरणीय-

करने पर तो बाह्य पदार्थों में भी क्षणिकत्व अविरोध रूप से सिद्ध हो जायेगा । सौतांत्रिक, योग,
सांख्यों के यहाँ मानी गई क्षणिक, नित्य आदि पदार्थों की व्यवस्था को भी आप विज्ञानाद्वैतवादी
को स्वीकार कर लेना चाहिये क्योंकि योगाचार और सौतांत्रिक में तो कोई अन्तर नहीं रह
जाता है ।

तथाहि कथंचित्-तदुत्पत्ति आदि प्रकार से इन ज्ञानों में यदि वेद्य लक्षण व्यवस्थित हो
सके अर्थात् संवेदनाद्वैत यदि किसी प्रकार से वेद्य हो सके तब क्षणिकत्व, अनन्यवेद्यत्व एवं
नानासंतानत्व हेतु ज्ञान में अनुमान ज्ञान से सिद्ध किये जा सकें अन्यथा नहीं, किन्तु आप ज्ञाना-
द्वैतवादियों के यहाँ वेद्य का लक्षण दोषरहित नहीं है क्योंकि आप ज्ञानाद्वैतवादियों ने तज्जन्मादि
में अनैकान्तिक दोष कहे हैं ।

ज्ञान को क्षणिक आदि सिद्ध करने में अनुमान ज्ञान में उस वेद्य लक्षण के संभव होने पर
अन्यत्र-बाह्य पदार्थ में उस वेद्य लक्षण को असंभव नहीं कहना चाहिये क्योंकि सर्वथा भेद के नियामक
का अभाव है । अर्थात् जैसे आप विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार ज्ञान को क्षणिक सिद्ध करने के लिये

१ स्वस्वरूपविषयिणा । व्या० प्र० । २ अनुमानेन । व्या० प्र० । ३ अङ्गीक्रियमाणे विज्ञानाद्वैतवादिना । व्या० प्र० ।
४ तज्जन्मादीनां योग्यतया वा । दि० प्र० । ५ तथाहि । यदि अत्र संविदि केनचित्प्रकारेण क्षणिकत्वादिकं वेद्यलक्षण-
मस्ति । तदान्तरङ्गज्ञानानामनुमानेन कृतं क्षणिकत्वादि साधनमस्ति अन्यथानुमानानङ्गीकारे सति क्षणिकत्वादिसाधनं
न घटत एवं सति किमायातं विज्ञानवादिनां क्षणिकत्वादिकं वेद्यलक्षणं बहिस्तत्त्ववादिवत्पूर्वोक्तदोषसहितं भवति
कस्मात्तज्जन्मतादूप्यतदव्यवसायानां चक्षुरादिभिर्यत्रिचारित्वदोषकथनात् कोर्यः यथात्वयाऽतस्तत्त्ववादिना बहिरर्थ-
वादितं प्रति दूषणमुद्भावि तथा तवाप्यायातम् = पुनः स्याद्वादी संविदां क्षणिकत्वादी साध्येऽनुमानप्रमाणस्य क्षणिक-
त्वादिसंभवे सति तदान्यत्र बहिरर्थे तस्य क्षणिकत्वादेरसंभवः कार्यो न । कुत उभयत्र सर्वथाविशेषात् । दि० प्र० ।
६ सिद्धिः । व्या० प्र० । ७ केनचित्प्रकारेण वेद्यलक्षणं भविष्यतीत्याशंकायामाह व्या० प्र० । ८ विज्ञानवादिनो लक्षण-
मुक्तदोषमायातम् । व्या० प्र० । ९ आह स्याद्वादी यत एवं तत्तस्मात्स्वपक्षसाधनार्थं परपक्षनिराकरणार्थं किञ्च न
प्रमाणं केनचित्प्रकारेण कुतश्चित्स्वतो परतो वा सिद्धं यत्तस्यज्ञानं स्वार्थव्यवसायात्मकं तद्विचार्य विज्ञानवादिना
ग्राह्यम् । अन्यथा सत्यज्ञानग्रहणाभावे सौत्रान्तिकादीनां बहिरर्थविकल्पः सर्वो भ्रांत इति न सिद्ध्यति यतः । दि०
प्र० । १० अघ्रांतः । दि० प्र० ।

मन्यथाऽशेषविभ्रमासिद्धेः^१ । ^२ननु किञ्चित्संविदद्वैतं कथञ्चित्संविदात्मना ^३कुतश्चित्स्वतः सत्यप्रतिभासनमाद्रियत एव, स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचनादिति चेन्न, स्वरूपेपि ^४वेद्यवेदकलक्षणाभावे ^५तदघटनात् पुरुषाद्वैतवत् । एतेन यद्ग्राह्यग्राहकाकारं तत्सर्वं ^६विभ्रान्तं, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानं तथा च ^७प्रत्यक्षादिकमिति ^८प्रतिविहितं वेदितव्यं, भ्रान्तत्वप्रकृता-

अनुमान का प्रयोग करते हैं “संवित् क्षणिकासत्त्वात्” तो अनुमान ज्ञान से उस संवित् को वेद्य—ज्ञान का विषय मान ही लेते ही उसी प्रकार से आपको सौत्रांतिक के द्वारा माने गये ब्राह्म पदार्थों को भी वेद्य मान लेना चाहिये ।

अतः स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष की असिद्धि करने के लिये कथञ्चित्-स्वपक्ष साधन, परपक्षदूषण रूप से कुतश्चित्—किसी भिन्न प्रमाण से किञ्चित्—किसी प्रत्यक्ष या अनुमान रूप से अवितथ ज्ञान को मान ही लेना चाहिए अन्यथा अशेष—विभ्रम सिद्ध नहीं होगा ।

विज्ञानाद्वैतवादी—कथञ्चित्—संविदादिरूप से कुतश्चित् अर्थात् स्वतः ही हम किञ्चित् अर्थात् संवेदनाद्वैत को सत्यप्रतिभासन ज्ञान रूप स्वीकार करते ही हैं क्योंकि “स्वरूपस्य स्वतो गतिः” इस प्रकार का वचन हमारे यहाँ प्रसिद्ध है ।

जन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि स्वरूप में भी वेद्यवेदक लक्षण का अभाव मान लेने पर वह संवेदनाद्वैत रूप सत्य प्रतिभास घटित नहीं हो सकता है । जैसे कि पुरुषाद्वैत सिद्ध नहीं होता है । इसी कथन से जिनका यह कहना कि—“जो ग्राह्य और ग्राहकाकार हैं वे सभी भ्रान्त रूप हैं” जैसे कि

१ अवितथज्ञानाभावे । दि० प्र० । २ अत्राह संवेदनाद्वैतवादी हे स्याद्वादिन् किञ्चन संवेदनाद्वैतं केनचित्संवेदनस्वरूपेण कुतश्चित्स्वस्मादेव सत्यज्ञानं गृह्यतेऽस्माभिः कस्मात् । स्वरूपस्य निविकल्पकप्रत्यक्षस्य स्वस्मादेव गतिनिश्चय इति वचनात् । स्या० एवं न । कस्मात्संवेदनाद्वैते भवदभ्युपगतवेद्यवेदकलक्षणाभावे तस्य स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचनस्यासंभवात् । यथा विधिवाद्यभ्युपगतब्रह्माद्वैते वेद्यवेदकलक्षणाभावे सति स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति घटते । दि० प्र० । ३ स्वरूपात् । दि० प्र० । ४ गति । दि० प्र० । ५ अत्र सविन्मात्रवाद्यनुमानद्वारेण स्वमतं व्यवस्थापयति प्रत्यक्षादिकं पक्षः सर्वं विभ्रान्तं भवतीति साध्यो धर्मः ग्राह्यग्राहकाकारत्वात् यद्ग्राह्यग्राहकाकारं तत्सर्वं विभ्रान्तं यथा स्वप्ने इन्द्रजालज्ञानं ग्राह्यग्राहकाकारञ्च प्रत्यक्षादिकञ्च तस्माद्भिभ्रान्तम् = आह स्याद्वाद्येन स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचननिराकरणद्वारेणेत्यनुमानं निषिद्धं ज्ञातव्यं कस्मात्ग्राह्यग्राहकाकारलक्षणे साध्यसाधने त्वदङ्गीकृतेऽभ्रान्तरूपे भ्रान्तरूपे वेति विकल्पस्तयोरभ्रान्तत्वे सति तदा ताभ्यां ग्राह्यग्राहकरूपाभ्यामेव कृत्वा ग्राह्यग्राहकाकारत्वादिति हेतोर्ध्वंभिचारत् = तयोर्भ्रान्तत्वे सति तदा तस्मादनुमानात्पूर्वस्य प्रत्यक्षादेः भ्रान्तत्वं सिद्धयति यतः = आह परः । सर्वस्य भ्रान्तत्वेऽस्मन्मत्सिद्धिरिति चेन्न । कस्मात्स्याद्वादी वदति हे संवेदनाद्वैतवादिन् एवं न । कस्मात्साध्यसाधनविज्ञानमेव न संभवति यतः । यथा साध्यसाधनव्याप्तिज्ञानम् = पुनः साध्यसाधनविज्ञानं संभवति चेत्तदा सर्वस्य भ्रान्तत्वं न सिद्धयतीत्युभयथा त्वन्मतहानिः । दि० प्र० । ६ मिथ्या । दि० प्र० । ७ आदिशब्देनानुमानागमादिकं प्रमाणं ग्राह्यम् । दि० प्र० । ८ निराकृतम् । व्या० प्र० ।

नुमानज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकाकारयोरभ्रान्तत्वे ताभ्यामेव हेतोर्व्यभिचारात्, ¹तद्भ्रान्तत्वे ततः सर्वस्य ²भ्रान्तत्वप्रसिद्धेः, सर्वभ्रान्तौ ³साध्यसाधनविज्ञप्तेरसंभवात्तद्व्याप्तिविज्ञप्तिवत्, संभवे सर्वविभ्रमासिद्धेः ।

‘साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि ⁵विज्ञप्तिमात्रता⁶ ।

न साध्यं न च हेतुश्च ⁷प्रतिज्ञाहेतुदोषतः । ८० ।

स्वप्न और इन्द्रजालादि का ज्ञान और उसी प्रकार से “यह प्रत्यक्षादिक भ्रान्त रूप हैं” उसका भी निराकरण कर दिया गया है ऐसा समझ लेना चाहिए ।

भ्रान्तत्व और प्रकृत अनुमान ज्ञान में ग्राह्य और ग्राहकाकार को अभ्रान्त रूप स्वीकार करने पर तो उन ग्राह्य ग्राहकाकार रूप भ्रान्तत्व और प्रकृत अनुमान के द्वारा ही आपका हेतु व्यभिचरित हो जायेगा । अर्थात् उपर्युक्त अनुमान में कहा जाता है कि ग्राह्य-ग्राहकाकार भ्रान्त हैं इस अनुमान से भ्रान्तत्व को तो ग्राह्य बनाकर यह अनुमान आप ही तो ग्राहक बन बैठा है । यदि आप इन प्रकृत ग्राह्य-ग्राहकाकार को भ्रान्त कहेंगे तब इन्हीं दोनों के द्वारा आपका हेतु व्यभिचरित हो जावेगा । यदि आप इन दोनों को भ्रान्त मानोगे तब तो इस प्रकृत अनुमान से सभी भ्रान्त ही सिद्ध होंगे एवं सभी को भ्रान्ति रूप मान लेने पर तो जिस प्रकार से प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से साध्य-साधन व्याप्ति की विज्ञप्ति असंभव है तथैव साध्य-साधन की विज्ञप्ति भी असंभव हो जावेगी । यदि साध्य-साधन की विज्ञप्ति आप स्वीकार करेंगे तब तो सभी अंतर्बाह्य तत्त्व को विभ्रमरूप सिद्ध नहीं कर सकेंगे । इसी को अगली कारिका द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

साध्य हेतु का ज्ञान यदी बस ! ज्ञान मात्र माना जावे ।

सब तो साध्य नहीं होगा, हेतु दृष्टान्त नहीं होंगे ॥

चूँकि “प्रतिज्ञादोष” कहा जो, स्ववचन बाधित आवेगा ।

“हेतु दोष” है असिद्धादि ये, आते सब दूषित होगा ॥८०॥

कारिकार्थ—साध्य और साधन की विज्ञप्ति को यदि विज्ञान मात्र ही स्वीकार किया जावे, तब तो प्रतिज्ञा और हेतु के दोष से न साध्य ही सिद्ध होगा न हेतु एवं दृष्टान्त ही बन सकेंगे ॥८०॥

1 अनुमानात् । दि० प्र० । 2 किञ्च । व्या० प्र० । 3 साध्यसाधनयोः । दि० प्र० । 4 जानस्य । दि० प्र० । 5 केवलज्ञानरूपत्वम् । दि० प्र० । 6 अभ्युपगम्यते त्वया । दि० प्र० । 7 तावेव ज्ञानाद्वैतवादिनो नीलतद्द्वयोः पक्षरूपयोरभेदे साध्यरूपेऽगीक्रियमाणेसहोपलम्भनियमादिति हेत्वङ्गीकारे द्विचन्द्रदर्शनवदिति दृष्टान्ताभिधाने सति कथं ज्ञानाद्वैतं व्यवतिष्ठते कुतः प्रतिज्ञाहेतुसाध्यदृष्टान्ताद्यङ्गीकारात् स्ववचनविरोध एव प्रतिज्ञाहेतुस्तस्मात् । दि० प्र० ।

[यदि विज्ञानमात्रं तत्त्वं भवेत्तर्हि साध्यहेतु उभौ न संभवतः ।]

प्रतिज्ञादोषस्तावत्स्ववचनविरोधः साध्यसाधनविज्ञानस्य ¹विज्ञप्तिमात्रमभिलपतः² प्रसज्यते । तथाहि । सहोपलम्भनियमादभेदो ³नीलतद्वि⁴योद्विचन्द्रदर्शन⁵वदित्यत्रार्थ-संविदोः⁶ ⁷सहदर्शनमुपेत्यैकत्वंकान्तं साध्यन् ⁸कथमवधेयाभिलापः⁹ ? ¹⁰स्वोक्तधर्मधर्मिभेद-वचनस्य हेतुदृष्टान्तभेदवचनस्य चाद्वैतवचनेन ¹¹विरोधात्, संविदद्वैतवचनस्य च तद्भेद-वचनेन ¹²व्याघातात्, तद्वचनज्ञानयोश्च भेदे ¹³तदेकत्वसाधनाभिलापविरोधात्, तदभिलापे वा तद्भेदविरोधात् । इति ¹⁴स्ववचनयोर्विरोधाद्बिभ्यत्¹⁵ ¹⁶स्वाभिलापाभावं वा स्ववाचा प्रदर्श-यन्कथं स्वस्थः ? सदा मौनव्रतीकोहमित्यभिलापवत् स्ववचनविरोधस्यैव स्वीकरणात् । तथा

[यदि विज्ञान मात्र तत्त्व माना जावे तब तो साध्य और हेतु दोनों ही संभव नहीं होंगे ।]

साध्य-साधन विज्ञान को केवल विज्ञान मात्र कहने वालों के यहां प्रतिज्ञा दोष अर्थात् स्ववचन विरोध दोष आ जावेगा । तथाहि—नील और नीलज्ञान में अभेद है क्योंकि दोनों को एक साथ उपलब्धि का नियम देखा जाता है दो चंद्र के दर्शन के समान । इस प्रकार से पदार्थ और ज्ञान का एक दर्शन स्वीकार करके एकत्वंकान्त को सिद्ध करता हुआ अवधेय का अपलाप कैसे कर सकता है ? अर्थात् वाच्य-पदार्थों का लोप कैसे कर सकेगा और स्ववचन विरोधी कैसे नहीं होगा । अपने द्वारा कहे गये धर्म और धर्मी के भेद रूप वचन में एवं हेतु और दृष्टान्त के भेद वचन में अद्वैत वचन से विरोध आता है और संवेनाद्वैत के वचन में साध्य धर्मादि भेद रूप वचनों के साथ विरोध आता है । तद्वचन और ज्ञान (नीलशब्द और नीलज्ञान) में भेद कहने पर उनमें एकत्व को सिद्ध करने रूप वचन का विरोध है ।

अथवा यदि एकत्वरूप वचन को आप कहते हैं तब तो उनमें भेद का विरोध आ जाता है । इस प्रकार से अभेद और भेदरूप स्ववचन में विरोध से डरते हुये अथवा अपने वचनों के अभाव को अपने वचनों से ही प्रदर्शित करते हुये आप स्वस्थ कैसे कहे जा सकते हैं ?

1 अर्थशून्यत्वम् । व्या० प्र० । 2 संवेदनाद्वैतवादिना । दि० प्र० । 3 ज्ञानम् । व्या० प्र० । 4 सहो-पलम्भनियमादभेदो द्विचन्द्रयोरिव । व्या० प्र० । 5 अनुमाने । दि० प्र० । 6 आह सं० परः नीलनीलज्ञानयोः पक्षोभेदो भवतीति साध्यं युगपद्दर्शनं नियमात् । यथा द्विचन्द्रदर्शनस्याभेदः सहोपलम्भनियमाश्चायं तस्मादभेद इति = स्याद्वादी अत्रानुमाने नीलतद्विज्ञानयोः सह ग्रहणमङ्गीकृत्य सर्वथा संविदद्वैतं साध्यन्नन्तस्तत्त्ववादी कथमुपादेयवचनो भवत्यपितु न भवति कस्मात् । स्वप्रतिपादनपक्षवचनं हेतुदृष्टान्तभेदवचनञ्चाद्वैतवचसा विशुद्धयते यतः । दि० प्र० । 7 ताद्विः । व्या० प्र० । 8 नैव । दि० प्र० । 9 आदरणीयः । व्या० प्र० । 10 साध्यधर्मादिभेदः । दि० प्र० । 11 ज्ञानाद्वैतवादिना । दि० प्र० । 12 च । व्या० प्र० । 13 तद्वचनज्ञानयोरभेदः सहोपलम्भनियमा-दिति । व्या० प्र० । 14 सकात् । व्या० प्र० । 15 भीति गच्छन् । व्या० प्र० । 16 तर्हि भेदोऽभेदो वा मया नोच्यत इत्युक्त आहुः । व्या० प्र० ।

विज्ञानवादिनोऽप्रसिद्धविशेष्यत्वमप्रसिद्धविशेषणत्वं च ^१प्रतिज्ञादोषः स्यात्, नीलतद्विशेष्य-
विशेष्ययोस्तदभेदस्य च विशेषणस्य स्वयमनिष्टेः । पराभ्युपगमेन प्रसङ्गसाधनस्योपन्यासाद-
दोष इति चेन्न, तस्य ^२परासिद्धेस्तदभ्युपगमाप्रसिद्धेश्च प्रसङ्गसाधनासंभवात् । ^३साधनसाध्य-
धर्मयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि सत्यां परस्य व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनानन्तरीयको
यत्र प्रदर्शयते तत्प्रसङ्गसाधनम् । न चैतद्विज्ञप्तिमात्रवादिनः संभवति, ^४विरोधात् । ननु
स्याद्वादिनोपि तद्दोषोद्भावनमयुक्तं विज्ञप्तिमात्रवादिनं प्रति, तस्य तदसिद्धेः, विज्ञप्तिमात्र-
व्यतिरेकेण ^५दोषस्याप्यभावाद्गुणवत् । स्वाभ्युपगममात्रादेव तत्संभवः, परस्य विज्ञप्तिमात्र-

“मैं सदा मौनव्रती हूँ” इस प्रकार इस कथन के समान आप स्ववचन विरोध को ही स्वीकार करते हैं । उसी प्रकार से आप विज्ञानाद्वैतवादी के यहाँ अप्रसिद्ध विशेष्य और अप्रसिद्ध विशेषण रूप प्रतिज्ञा दोष भी आ जाता है क्योंकि नील और नीलज्ञान रूप विशेष्य में उसका अभेद रूप विशेषण स्वयं ही आप विज्ञानाद्वैतवादी को इष्ट नहीं है । अर्थात् आपने ज्ञान को छोड़कर और कोई अभेद स्वीकार ही नहीं किया है ।

विज्ञानाद्वैतवादी—आप जैन आदिकों ने जिसे स्वीकार किया है उसी के द्वारा प्रसंग को सिद्ध करने में हमें कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि आप विज्ञानवादी के यहाँ तो पर ही असिद्ध है, पुनः उनके द्वारा स्वीकृत बात भी असिद्ध ही है । अतः आपके द्वारा पर की स्वीकृति को लेकर प्रसंग को सिद्ध करना असंभव है । साधन और साध्य धर्म में व्याप्य-व्यापक भाव की सिद्धि के होने पर (हम जैनादि) के यहाँ व्याप्य-सहोपलम्भ की स्वीकृति है । वह व्यापक-ऐक्य की स्वीकृति के साथ अविनाभावी रूप है, वह जिस अनुमान में प्रदर्शित की जाती है उसे ही प्रसंग साधन कहते हैं और यह बात ज्ञान मात्र को ही मानने वाले आप विज्ञानाद्वैतवादी के यहाँ सम्भव ही नहीं है क्योंकि विरोध आता है ।

विज्ञानवादी—तब तो आप स्याद्वादियों को भी इसी प्रकार से हम विज्ञान मात्र मानने वाले अद्वैतवादियों के प्रति प्रतिज्ञा हेतु दोष का उद्भावन करना अयुक्त है क्योंकि हमारे यहाँ वे दोष सिद्ध नहीं हो सकते हैं । जैसे हमारे यहाँ विज्ञान मात्र को छोड़कर कोई गुण नहीं है वैसे ही विज्ञान मात्र को छोड़कर कोई दोष भी हमारे यहाँ नहीं है ।

जैन—हम जैनियों की स्वीकृति मात्र से ही आपके यहाँ ये दोष सम्भव हैं । आपके यहाँ विज्ञान मात्र को सिद्ध करने के पहले ही हम जैनों ने प्रतीति के अनुसार वस्तु की व्यवस्था कर दी है अर्थात् आपके यहाँ प्रतिज्ञा दोष, हेतु दोष सम्भव है ऐसा कह दिया है ।

१ साध्यधर्मादि । व्या० प्र० । २ ता । दि० प्र० । ३ व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च = सहोपलम्भः । दि० प्र० । ४ अभेदेन सह । दि० प्र० । ५ भावाद्गुणावस्था । इति पा० । दि० प्र० ।

साधनात्पूर्वं यथाप्रतीति वस्तुनो व्यवस्थानादिति समाधाने तत एव सौगतस्यापि तदेव समाधानमस्तु, विचारात्पूर्वं सर्वस्याविचारितरमणीयेन रूपेण ^१यथाप्रतीति साध्यसाधनव्यवहारप्रवृत्तेरन्यथा विचारात्पूर्वतेः । सिद्धे तु विज्ञप्तिमात्रे न कश्चित्साध्यसाधनव्यवहारं ^२प्रतनोति सौगतो, नापि परेषां ^३तद्दोषोद्भावनेवकाशोस्ति, इति ^४केचित्, तेषि ^५न विचारचतुरचेतसः, ^६किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्यान्यत्रानिर्णीतरूपे ^७तदविनाभाविनि विचारस्य प्रवृत्तेः, सर्वविप्रतिपत्तो तु क्वचिद्विचारणानवतरणात् । इति विचारात्पूर्वमपि विचारान्तरेण निर्णीते एव साध्यसाधनव्यवहारस्तद्गुणदोषस्वभावश्च निश्चीयते । न ^८चैवमनवस्था, संसारस्यानादित्वात् क्वचित्कस्यचित्कदाचिदाकांक्षानिवृत्तेर्विचारान्तरानपेक्षणात् । ततो युक्तमेव स्याद्वादिनः

विज्ञानाद्वैतवादी—ऐसा समाधान करने पर तो यथा-प्रतीति वस्तु की व्यवस्था करने से ही हम सौगत को भी वही समाधान हो जावे । अर्थात् जैसे आप जैनियों के यहाँ गुण और दोष हैं वैसे ही हम सौगतों के यहाँ भी विज्ञान मात्र ही तत्त्व होवे क्या बाधा है ? क्योंकि विचार के पहले सभी वादियों के यहाँ अविचारित रमणीय रूप से यथा-प्रतीति, साध्य-साधन व्यवहार की प्रवृत्ति होती है । अन्यथा—यदि ऐसा न मानों तो विचार ही प्रवृत्त नहीं हो सकेगा, किन्तु विज्ञान मात्र तत्त्व के सिद्ध हो जाने पर कोई भी बौद्ध साध्य-साधन व्यवहार को नहीं करता है एवं आप जैनियों को भी उन दोषों के उद्भावन करने के लिए अवकाश नहीं मिल सकता है ।

जैन—ऐसा कहने वाले भी आप बौद्ध विचारशील नहीं दिखते हैं क्योंकि किञ्चित् निर्णीत ही साध्य-साधन का आश्रय लेकर के उसके साथ अविनाभावी अनिर्णीत रूप में विचार प्रवृत्त होता है क्योंकि सर्वत्र विसंवाद साध्य-साधन आदि में सन्देह के होने पर तो विचार ही नहीं किया जा सकता है । अर्थात् जैसे अजैन का अविनाभावी जैन है, वैसे ही अनिर्णीत का अविनाभावी निर्णीत है । कहीं कुछ निर्णीत है, इस बात को मानने पर ही अनिर्णीत की परीक्षा की जा सकती है अन्यथा नहीं की जा सकती है ।

इस प्रकार से विचार के पहले भी विचारान्तर से निर्णीत में ही साध्य-साधन व्यवहार का और उस साध्य-साधन के गुण-दोष स्वभाव का निश्चय किया जाता है । इस प्रकार से हमारे यहाँ अनवस्था भी नहीं आती है क्योंकि संसार तो अनादि है, कहीं पर किसी (वीतरागादि) पुंस की किसी काल में आकांक्षा की निवृत्ति हो जाने से विचारान्तरों की अपेक्षा नहीं रहती है । अतः आपके यहाँ प्रतिज्ञा दोष को प्रकट करना और हेतु दोष को प्रकट करना हम स्याद्वादियों को युक्त ही है । अर्थात् हम स्याद्वादियों के द्वारा दिये गये प्रतिज्ञा दोष और हेतु दोष आप पर लागू हो जाते हैं । नील और नीलज्ञान में अभेद है, आपकी यह प्रतिज्ञा भी दूषित है एवं “सहोपलभनियमात्” अर्थ

- 1 वादिनः । दि० प्र० । 2 करोति । दि० प्र० । 3 साध्यसाधनदोषः । दि० प्र० । 4 प्रतिज्ञा । दि० प्र० । 5 विज्ञानवादिनः । दि० प्र० । 6 साध्यं साधनञ्चोद्धृत्वञ्च । व्या० प्र० । 7 निर्णीतः । दि० प्र० । 8 विचारान्तरेण पुनर्विचारान्तरेण भाव्यमिति । व्या० प्र० ।

प्रतिज्ञादोषोद्भावनं हेतुदोषोद्भावनंच । तथा हि । ¹अयं ²पृथगनुपलम्भाद्भेदाभावमात्रं साधये-
नीलतद्विधोः । तच्चासिद्धं, संबन्धासिद्धेरभावयोः खरभृङ्गवत् । सिद्धे हि धूमपावकयोः कार्य-
कारणभावे संबन्धे कारणाभावात्कार्यस्याभावः सिध्यति । सति च शिंशपात्ववृक्षत्वयोर्व्याप्य-
व्यापकभावे व्यापकाभावाद्व्याप्याभावो, नान्यथा । न चैवं ³भेदपृथगनुपलम्भयोः संबन्धः क्वचि-
त्सिद्धो, विरोधाद्विज्ञप्तिमात्रवादिनो यतः ⁴पृथगनुपलम्भाभावो भेदाभावं साधयेत् इति न
निश्चितो हेतुः । ⁵एतेनासहानुपलम्भाद्भेदसाधनं⁷ प्रत्युक्तं, भावाभावयोः संबन्धासिद्धेर-

और ज्ञान एक साथ उपलब्ध नहीं होते हैं' यह हेतु भी दूषित ही है । तथाहि ! आप बौद्ध नील एवं नीलज्ञान में भेद का अभावमात्र सिद्ध करते हैं तो क्या पृथक् उपलब्धि न होने से सिद्ध करते हैं ? यदि ऐसी बात है तब तो आपका यह "पृथगनुपलब्धि" हेतु भी असिद्ध ही है क्योंकि पृथक् उपलम्भाव तो हेतु है एवं भेदाभाव साध्य है । इन दोनों ही अभाव रूप साध्य-साधन में खरविषाण के समान सम्बन्ध ही असिद्ध है ।

[इस पर बौद्ध कहता है कि अभाव हेतु से अभाव साध्य को सिद्ध करना असिद्ध नहीं है जैसे कि अग्नि के अभाव से धुँये के अभाव को सिद्ध करना । इस शंका के होने पर जैन कहते हैं कि]

धूम और पावक में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध के सिद्ध होने पर ही कारण के अभाव में कार्य का अभाव सिद्ध हो सकता है । शिंशपात्व और वृक्षत्व में व्याप्य-व्यापक भाव के होने पर ही व्यापक के अभाव से व्याप्य का अभाव सम्भव है अन्यथा नहीं । इस प्रकार से भेद और पृथक् उपलब्धि का अविनाभाव सम्बन्ध कहीं पर भी सिद्ध नहीं है । क्योंकि आप अद्वैतवादियों के यहाँ विरोध आता है, इसलिये आपके यहाँ यह पृथक् उपलम्भाभाव हेतु भेद के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है । अतएव यह हेतु निश्चित नहीं है । इसी कथन से "असहानुपलम्भात्" हेतु से अभेद को सिद्ध करने वालों का भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि अभेद और पृथक् अनुपलब्धिरूप भाव अभाव में भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है, अविशेष होने से । तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप में (सह सम्बन्ध और क्रम सम्बन्ध) अर्थ स्वभाव निश्चित है ।

1 विज्ञानाद्वैतवादी । दि० प्र० । 2 पृथगनुपलम्भादित्यादिना विकल्पसमूहेन सहोपलम्भनियमादिति हेतुस्वरूपं विचारयति । व्या० प्र० । 3 एवं संविन्मात्रवादिनः भेदपृथगनुपलम्भयोः संबन्धः क्वचिद्वस्तुनि सिद्धो न कुतो विरोधात् । दि० प्र० । 4 स्या० वदति हे संबेदवादिन् ! अनुमानमन्वयव्यतिरेकसंबन्धाभ्यां सिद्धं सत् स्वसाध्यं सति यथा यत्राग्निस्तत्र धूमः । यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमो नास्ति इति व्यतिरेकः । तथा तत्र नीलतद्विधोर्भेदस्तत्र पृथगनुपलम्भयोर्व्यतिरेकलक्षणः संबन्धः क्वचिद्वस्तुनि तत्र विज्ञानमात्रवादिनः सिद्धो न । सिद्धो भवति चेत्तदा तत्र मतमभेदरूपं हीयते । दि० प्र० । 5 आह परः हे स्याद्वादिन् सहानुपलम्भादिति हेतुना भेदं साधयामि । स्या० वदति एतेन पृथगनुपलम्भाद्भेदसाधननिराकरणद्वारेण सहानुपलम्भाद्भेदसाधनञ्च निराकृतं कस्मात्तत्र नीलज्ञानं भावात्मकमिति भावाभावयोः संबन्धाघटनात् । कुतः संबन्धो न घटतेऽभावाभावयोरिवात्रापि भावाभावयोर्विशेषाभावात् । दि० प्र० । 6 पृथक् । दि० प्र० । 7 ऐक्यम् । व्या० प्र० ।

विशेषात्, ¹तादात्म्यतद्दुत्पत्तयोरर्थस्वभावनियमात्, ²तदन्यव्यावृत्तेरर्थास्वभावत्वादेकत्वेन भावस्वभावेन सह ³तदयोगात् । ⁴सिद्धेपि ⁵प्रतिषेधैकान्ते विज्ञप्तिमात्रं न सिध्येत्; तदसाधनात् । ⁶तत्सिद्धो तदाश्रयं दूषणमनुष्येत ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिलक्षणं तद्वद्वहिरर्थसिद्धिप्रसञ्जनं चाविशेषात् । ⁷तदेकोपलम्भनियमोप्यसिद्धः, साध्यसाधनयोरविशेषात् । साध्यं हि नीलतद्वियोरेकत्वम् । तदेकोपलम्भोपि तदेव, ज्ञानस्यैकस्योपलम्भादिति हेत्वर्थव्याख्यानात्, ⁸सहशब्दस्यैकपर्यायत्वात् ⁹सहोदरो ¹⁰भ्रातेत्यादिवत् । ¹¹तत्रैकज्ञानग्राह्यत्वं द्रव्यपर्यायपरमाणु-

अन्य व्यावृत्ति से अर्थ के अस्वभाव—तुच्छाभाव रूप हो जाने से उस अर्थ का भाव-स्वभाव रूप, एकत्व-साध्य के साथ सम्बन्ध का अभाव है । नील, नीलज्ञान में भेदाभाव मात्र—प्रतिषेधैकान्त के सिद्ध हो जाने पर भी विज्ञान मात्र तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि पृथक् अनुपलब्धि लक्षण हेतु विज्ञानमात्र साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है । उस विज्ञान मात्र के सिद्ध हो जाने पर तो उसके आश्रित दूषणों का प्रसंग आ ही जाता है ।

विज्ञान मात्र तो ग्राह्य है और अनुमान उसका ग्राहक है । इस प्रकार से विज्ञानाद्वैत में भी ग्राह्य-ग्राहक भाव सिद्ध हैं, तथैव बाह्य पदार्थों की भी सिद्धि का प्रसंग आ ही जाता है क्योंकि विज्ञान मात्र एवं बाह्य पदार्थ इन दोनों में ग्राह्य-ग्राहक भाव समान ही है । यदि आप कहें कि विज्ञान मात्र तत्त्व रूप एक की ही उपलब्धि का नियम है तो यह एकोपलब्धि का नियम भी असिद्ध है क्योंकि पुनः साध्य और साधन में अभेद मानना होगा किन्तु नील और नीलज्ञान का एकत्व तो आपको साध्य है एवं वह एकोपलम्भ हेतु भी एकत्व ही है ।

ज्ञान एक ही उपलब्ध होता है इस प्रकार से तो आपने हेतु के अर्थ का ही व्याख्यान कर दिया है । अर्थात् पूर्व में “सहोपलम्भनियमात्” इस हेतु का प्रयोग किया था अब “एकोपलम्भ-

1 स्वलक्षण । व्या० प्र० । 2 अत्राह परः मम नीलमर्थस्वभावोस्ति कस्मात्तदन्यव्यावृत्तः । कोर्यः । अनीलव्यावृत्तिः नीलम् = स्या० वदति तदभावात्मकं नीलमर्थस्वभावो न । कस्मात् । तस्याभावात्मकस्य नीलस्य भावस्वभावेन एकत्वेन संवेदनेन सह सम्बन्धघटनात् सिद्धेप्यभावेकान्ते विज्ञप्तिमात्रं न सिद्धयेतस्य संकिन्मात्रस्य प्रमाणाभावात् = परस्तस्य सिद्धिरस्ति । स्या० वदति तत्सिद्धौ सत्यां स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति ग्राह्यग्राहकभावलक्षणं विज्ञप्तिमात्राश्रयणं दूषणं घटेत् । दि० प्र० । 3 अश्रुपगम्योच्यतेऽधिकं दूषणम् । व्या० प्र० । 4 किञ्च । दि० प्र० । 5 भेदप्रतिषेधैकान्ते । दि० प्र० । 6 विज्ञप्तिमात्रसिद्धावनुमानात् । दि० प्र० । 7 अत्राह परः तदेकोपलम्भनियमादिति हेतोर्नीलतद्वियोरभेदं साधयामीत्युक्ते स्याद्वाचाहोयं हेतुरप्यसिद्धः कस्मात्साध्यसाधनयोर्द्वयोरपि विशेषाभावात् । कथमविशेष इत्युक्त आह । नीलतद्वियोरेकत्वं साध्यं यत् । तदेकोपलम्भोपि तदेवैकत्वं कुतः । ज्ञानमेकमेवोपलम्भयते यतः । इति हेत्वर्थव्याख्यानात् । सहशब्दएकार्थवाची कथमित्याह । सहैकोदरो यस्यासौ सहोदरो भ्रातेत्यादिशब्द-व्यवहारवत् । दि० प्र० । 8 एकशब्दः । दि० प्र० । 9 एकोदरः । दि० प्र० । 10 सहोदरप्रकारेण । दि० प्र० । 11 तत्रैकज्ञान । इति पा० । दि० प्र० ।

भिरनैकान्तिकम् । द्रव्यपर्यायी हि जैनानामेकमतिज्ञानग्राह्यौ, न च सर्वथैकत्वं प्रतिपद्येते । सौत्रान्तिकस्य च संचिता रूपादिपरमाणवश्चक्षुरादिज्ञानेनैकेन ^१ग्राह्याः, 'संचितालम्बनाः ^२पञ्च विज्ञानकायाः' ^३इति वचनात् । न चैक्यं प्रतिपद्यन्ते । तथा योगाचारस्यापि सकल-विज्ञानपरमाणवः सुगतज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, न चैकत्वभाजः । इति ^४तैरनैकान्तिकं साधनमनु-ष्यते । ^५नीलतद्वियोरैक्यमनन्यवेद्यत्वात् ^६स्वसंवेदनवदित्यत्रापि परेषामनन्यवेद्यत्वमसिद्धं, नीलज्ञानादत्यस्य नीलस्य वेद्यत्वात् ।

^७एतेनैकलोलीभावेनोपलम्भः सहोपलम्भश्चित्रज्ञानाकारवदशक्यविवेचनत्वं साधनमसिद्ध-मुक्तं, नीलतद्वेदनयोरशक्यविवेचनत्वासिद्धेरन्तर्बहिर्देशतया विवेकेन ^८प्रतीतेः । यदि पुनरेक-

नियमात्" कह रहे हैं । इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है । सह शब्द एक शब्द का पर्यायवाची ही है । जैसे सहोदर और भ्राता वे पर्यायवाची ही हैं ।

तथैव एक ज्ञान ग्राह्यत्व हेतु भी द्रव्य-पर्याय और परमाणु से अनैकान्तिक है । अर्थात् "नील और नीलज्ञान में एकत्व ही है क्योंकि वे दोनों एक ज्ञान से ग्राह्य हैं ।" यह एक ज्ञान ग्राह्यत्व हेतु भी व्यभिचरित है क्योंकि हम जैनियों के यहाँ द्रव्य और पर्याय दोनों ही एक मतिज्ञान के द्वारा ग्राह्य हैं । किन्तु दोनों सर्वथा एकरूप नहीं हैं । सौत्रान्तिक बौद्ध के यहाँ भी संचित—पिंड रूप हुए रूपादि परमाणु चक्षु आदि एक ज्ञान के द्वारा ग्राह्य हैं । "संचितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः" ऐसा वचन पाया जाता है । अर्थात् एक इन्द्रिय के विषयभूत पांच विज्ञान स्वरूप वे सब एक नहीं हो सकते हैं ।

उसी प्रकार आप योगाचार—विज्ञानाद्वैतवादी के यहाँ भी सभी विज्ञान परमाणु एक सुगतज्ञान के द्वारा ग्राह्य हैं किन्तु वे सब ज्ञान परमाणु एकरूप नहीं हैं । इस प्रकार से "एक ज्ञान ग्राह्यत्व लक्षण" हेतु इन द्रव्य, पर्याय और परमाणु के साथ व्यभिचरित हो जाता है ।

विज्ञानाद्वैतवादी—नील और नीलज्ञान में एकत्व है, क्योंकि इनमें अनन्यवेद्यत्व है, स्वसंवेदन के समान । अर्थात् नील पदार्थ का उसी के ज्ञान से भिन्नपना नहीं है, यही अनन्य-वेद्यत्व है ।

जैन—यह अनन्यवेद्यत्व हेतु का कथन भी हमारे लिये असिद्ध ही है । क्योंकि नील ज्ञान से भिन्न नील पदार्थ पाँच इन्द्रियों के द्वारा वेद्य होते हैं । इसी कथन से चित्रज्ञान के आकार के समान

१ सम्मति दर्शयति । व्या० प्र० । २ इन्द्रियपञ्चकापेक्षया । व्या० प्र० । ३ स्वरूप । व्या० प्र० । ४ उक्तस्त्रिभिः प्रकारैः । व्या० प्र० । ५ स्याद्वाद्याह हे संवेदनाद्वैतवादिन् नीलनीलज्ञानयोः पक्ष ऐक्यं भवतीति साध्यो धर्मः । अनन्यवेद्यत्वात् । यथा स्वसंवेदनमत्रानुमानेपि परेषां सीगतानामनन्यवेद्यत्वं साधनमसिद्धम् । कस्मान्नीलज्ञानाद्भिन्नं नीलं तथापि नीलज्ञानस्य वेद्यं यतः । दि० प्र० । ६ अनुमाने । व्या० प्र० । ७ अनन्यवेद्यत्वस्यासिद्धत्वेन । दि० प्र० । ८ भेदेन ।

दोपलम्भः सहोपलम्भ इति व्याख्यायते तदा एकक्षणवृत्तिसंवितीनां साकल्येन सहोपलम्भ-
नियमाद्व्यभिचारी^१ हेतुः, तासां तथोत्पत्तेरेव संवेदनत्वात् संविदितानामेवोत्पत्तेः । द्विचन्द्र-
दर्शनवदिति^२ दृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकलः, ^३तथोपलम्भाभेदयोरर्थे प्रतिनियमाद्भ्रान्ती
तदसंभवात्^४, संभवे^५ तद्भ्रान्तित्वविरोधात् । ननु^७ ^८चासहानुपलम्भमात्राभेदमात्र^९

एकलोली भाव—एकमेक रूप से उपलब्धि होने से सहोपलम्भ हेतु के द्वारा इन दोनों का पृथक्-पृथक्
विवेचन करना अशक्य है यह हेतु भी असिद्ध ही सिद्ध किया गया है, ऐसा समझना चाहिये क्योंकि
नील और नीलज्ञान का अशक्य विवेचन असिद्ध है । ये बाह्य देश एवं अन्तरंग देश से भिन्न-भिन्न
प्रतीत हो रहे हैं । यदि पुनः एक काल में उपलब्ध होना “सहोपलम्भ” है ऐसा अर्थ करें तब तो
एकक्षणवृत्ती नानापुरुषों के नाना ज्ञान भी सम्पूर्णतया सहोपलम्भ नियम रूप से एक साथ उपलब्ध
हो रहे हैं अतएव यह हेतु व्यभिचारी हो जावेगा क्योंकि ये भिन्न-भिन्न पुरुषों के ज्ञान एक काल में
उत्पन्न होते हुये ही अनुभव में आते हैं और संविदित—अनुभूत की ही उत्पत्ति होती है ।

तथैव “द्विचन्द्रदर्शनवत्” यह दृष्टान्त भी साध्य-साधन धर्म से विकल है क्योंकि वस्तुभूत
पदार्थ अथवा स्वलक्षण में ही तथोपलम्भ हेतु एवं अभेद रूप साध्य का प्रतिनियम निश्चित है किन्तु
द्विचन्द्ररूप भ्रान्तिज्ञान में अभेद एवं तथोपलम्भ रूप साध्य-साधन दोनों ही असंभव हैं । यदि सम्भव
है तो ऐसा मानें तब तो वह ज्ञान भ्रान्तिरूप ही नहीं रह सकेगा ।

विज्ञानाद्वैतवादी—असहानुपलम्भमात्र हेतु अभेदमात्र साध्य को सिद्ध करना सम्भव है ।
भ्रान्त रूप भी हेतु से साध्य को सिद्ध करना सम्भव है । द्विचन्द्र रूप अभाव में अभाव रूप साध्य-

१ ज्ञान । व्या० प्र० । २ पुनराह स्याद्वादी हे संवेदनाद्वैतवादिन् नीलनीलज्ञानयोरभेदसाधकानुमाने
द्विचन्द्रदर्शनवदिति दृष्टान्तः साध्यसाधनशून्योस्ति कुतः सहोपलम्भाभेदयोर्द्वयोः सत्यभूतार्थे प्रति नियमोस्ति
यतः । दि० प्र० । ३ सहोपलम्भः । दि० प्र० । ४ भ्रान्ती द्विचन्द्रदर्शनादित्यभ्रान्तरथरूपे ती सहोपलम्भाभेदो
न संभवतो भ्रान्ती सत्यामपि सहोपलम्भाभेदयोः संभवे सति तदा तस्य दृग्गतस्य भ्रान्तित्वमत्रर्थत्वं विरुद्ध्यते ।
दि० प्र० । ५ भ्रान्ती । दि० प्र० । ६ सहोपलम्भाभेदयोः । दि० प्र० । ७ आह योगाचारः स्वदृष्टान्तस्थापनां
कुर्वन्विशिष्टभेदसाधकात् । सहानुपलम्भाभावमात्राभ्रान्तरूपादेरपि साधनात्साध्यरूपं संभवति कस्मादभावभावयो-
र्द्वयोः संबन्धो न विरुद्ध्यते यतः तस्मात् साध्यसाधनरहितो द्विचन्द्रदर्शनवदिति दृष्टान्तो नास्तीति—स्याद्वादी
वदतीति तव वचः शक्यव्यवस्थं न कस्मात् । अर्थस्वभावो नावबुद्ध्यत इति प्रसङ्गात् । पुनः कस्मात् । सकलज्ञान-
परमाणुक्षणक्षयरहितसन्तानस्य विभ्रमस्वभावस्यानुमानात् सामस्येनैकत्वं प्रसजति यतः । अन्यापोहमात्रसाधना-
दन्यापोहमात्रं साध्यं सिद्ध्यति । कस्मात् । अर्थस्वभावानवबोधात्—किञ्च सकृदुपलम्भनियमाद्वैतोर्नीलतद्वि-
योरभेदं साधयामि । स्या० वदति सकृदुपलम्भनियमे हेत्वर्थे सत्यैकस्मिन्नर्थे नर्त्तनयादौ संगता प्राप्ता दृष्टियेषां
तएकार्थसंगतदृष्टयः पुरुषाः परकीयचित्तज्ञातारो वा पुरुषाः । एकार्थं परचित्तज्ञानं वा अवश्यं न जानन्तीति
हेतोर्सिद्धिर्न । कस्मान्नियमस्याघटनात् । दि० प्र० । ८ सहोपलम्भात्साधनात् । दि० प्र० । ९ साध्यरूपम् ।
दि० प्र० ।

साधनात्साध्यरूपं भ्रान्तादपि संभवति, अभावेऽभावयोः संभवाविरोधात् । ततो न साध्य-
साधनविकलो दृष्टान्त इति न शक्यप्रतिष्ठं, ¹कथंचिदर्थस्वभावानवबोधप्रसङ्गात् ²सर्व-
विज्ञानस्वलक्षणक्षणक्षयविविक्तसन्ततिविभ्रमस्वभावानुमितेः³ साकल्येनैकत्वप्रज्ञात्, तदन्या-
पोहमात्राद्धेतोरन्यापोहमात्रस्यैव सिद्धेरर्थस्वभावानवबोधात् । किं⁴ च ⁵सकृदुपलम्भनियमे
हेत्वर्थे सति एकार्थसंगतदृष्टयः परचित्तविदो वा नावश्यं⁶ तद्वर्द्धि तदर्थं वा संविदन्तीति
हेतोरसिद्धिः, नियमस्यासिद्धेः । किञ्च⁷ सहोपलम्भनियमश्च स्याद्भेदश्च स्यात् । किं

साधन अर्थात् सहानुपलम्भाभाव एवं भेदभाव रूप साध्य-साधन अविरोध रूप से सम्भव है ।
इसलिये हमारा दृष्टान्त साध्य-साधन धर्म से विकल नहीं है ।

जैन — ऐसी व्यवस्था करना भी शक्य नहीं है । इस प्रकार के अनुमान से तो किसी भी प्रकार
से पदार्थ के स्वभाव का ज्ञान नहीं हो सकेगा क्योंकि सर्वविज्ञान के स्वलक्षण क्षण क्षय एवं उससे
भिन्न संतति रूप विभ्रम स्वभाव का अनुमान के द्वारा ज्ञान हो जाने से संपूर्णतया दोनों में एकत्व का
प्रसंग जा जावेगा । कारण अन्यापोह मात्र हेतु से अन्यापोह मात्र ही साध्य की सिद्धि हो सकेगी, पुनः
उससे अर्थस्वभाव का ज्ञान नहीं हो सकेगा ।

दूसरी बात यह है कि नील और नीलज्ञान की सकृदुपलब्धि होती है ऐसा हेतु का अर्थ करने
पर एक पदार्थ में जिनकी दृष्टियां संलग्न हैं ऐसे पुरुष एकार्थ संलग्न पुरुष की बुद्धि को अथवा
परचित्त के वेत्ता परचित्त रूप अर्थ को अवश्य ही नहीं जान सकेंगे इसलिये ध्याप्ति की असिद्धि होने
से हेतु भी असिद्ध हो जावेगा । अर्थात् नियम से परचित्त को जानने वाले पुरुष पर चित्त के अर्थ को
नहीं जान सकेंगे किन्तु जानते हैं ऐसा व्यवहार देखा जाता है ।

दूसरी बात यह है कि सहोपलम्भनियम भी होवे तथा भेद भी होवे बाधा क्या है ? दोनों में

1 क्षणिकत्वादिसवभावेन । व्या० प्र० । 2 विज्ञानान्येव स्वलक्षणानि तेषां क्षणक्षयादि । व्या० प्र० । 3 भेद ।
व्या० प्र० । 4 नीलतद्विद्योरेक्यं सहोपलम्भनियमात् । यत्र सहोपलम्भनियमस्तत्रैक्यमित्याशंकायामाह । व्या० प्र० ।
5 युगपत् । व्या० प्र० । 6 नियमेन । व्या० प्र० । 7 किञ्च स्याद्वाद्याह । नीलतद्विद्योः पक्षोभेदो भवतीति साध्यो
धर्मः सहोपलम्भनियमात् । यत्र सहोपलम्भस्तत्राभेद इत्यन्वयासंदिग्धो हेतुः यत्राभेदाभावः कोषो भेदस्तत्र सहोपलम्भा-
भावः = इति न सहोपलम्भनियमश्च स्यात् । यथाग्नेरभावः स्याद्भूमसद्भावाः स्यादिति व्यतिरेकेण संदिग्धो
हेतुस्तव हे संवेदवादिन् = सहोपलम्भनियमाद्भेदः कथं सिद्धयतीत्युक्तमाह । एकस्मिन् ककटिकादौ रूपरसादीनां
पक्षः भेदो भवतीति साध्यो धर्मः सहोपलम्भः नियमादिति किं विरुद्ध्यते अपितु न कस्मात् । निजनिजावरणक्षयोप-
शमप्रतियोग्यात् । स्पर्शनेन्द्रियं स्पर्शं रसनेन्द्रियं रसं चक्षुरिन्द्रियं रूपमित्यादि युगपदिन्द्रिययाणि स्वस्वविषयं
गृह्णन्ति । दि० प्र० ।

विप्रतिषिध्येत¹ ? स्वहेतुप्रतिनियमसंभवात्² । इति सन्दिग्धव्यतिरेको हेतुर्न विज्ञप्तिमात्रतां साधयेत् । तस्मादयं विज्ञानवादी मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः संविदानो वा वचनं तत्त्वज्ञानं³ च प्रतिरुणद्धीति न⁴ किंचिदेतत्, असाधनाद्भवचनाददोषोद्भावनाच्च⁵ निग्रहार्हत्वात् । न ह्यस्य⁶ वचनं किंचित्साधयति⁷ दूषयति⁸ वा, 'यतस्तद्वचनं'¹⁰ साधनाद्ग¹¹ दोषोद्धानं¹² वा स्यात् । नापि किंचित्संवेदनमस्य सम्यगस्ति, येन मिथ्यादृष्टिर्न भवेत् । संविदद्वैतमस्तीति चेन्न, तस्य स्वतः परतो वा ब्रह्मवदप्रतिपत्तेर्यथासंवेदनं मिथ्यात्व-

ही अपने हेतुओं का प्रतिनियम सम्भव है । अतः यह सहोपलम्भ हेतु सन्दिग्ध व्यतिरेकी हेतु है यह विज्ञानमात्र तत्त्व को सिद्ध नहीं कर सकता है । अतः आप विज्ञानाद्वैतवादी के यहां अनुमान में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टांत को दूषित कर देने से आप विज्ञानाद्वैतवादी मिथ्यादृष्टि हैं । पर को समझाने के लिये शास्त्रों की रचना करते हुए स्ववचनों का ही निराकरण कर देते हैं अथवा जानते हुये परमार्थ से विज्ञानमात्र रूप तत्त्व का ही निराकरण कर देते हैं । इसलिये उसके यहां कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि आपके यहां बाह्य पदार्थ को सिद्ध करने में साधनांग वचन के न होने से एवं दोषों का उद्भावन भी न करने से आप सौगत निग्रह के ही योग्य हो जाते हैं ।

आपके वचन विज्ञान मात्र को एवं बाह्य पदार्थ को किसी को न सिद्ध कर सकते हैं न दूषित ही कर सकते हैं जिससे कि वे वचन साधनांग या दोषोद्भावन रूप हो सकें । अर्थात् नहीं हो सकते हैं । आपके यहां ज्ञान भी समीचीन रूप कुछ नहीं है कि जिससे आप मिथ्यादृष्टि न बन सकें । अर्थात् आप मिथ्यादृष्टि ही बन जाते हैं ।

विज्ञानाद्वैतवादी—हमारे यहां संवेदनाद्वैत रूप ज्ञान सम्यक् ही है ।

जैन—नहीं, क्योंकि वह संवेदनमात्र तत्त्व ब्रह्माद्वैत के समान न स्वतः ही सिद्ध है न पर से जाना जा सकता है । कारण संवेदन के स्वरूप का विचार करने पर तो वह निरंश विज्ञान मात्र सिद्ध नहीं हो पाता है प्रत्युत वह संवेदन अंश सहित, कथंचित् और नित्य रूप ही सिद्ध होता है । अतएव यह विज्ञानमात्र तत्त्व मिथ्यात्व रूप है यह बात सिद्ध हो जाती है । इसीलिये अन्तरंगार्थ रूप एकांत-विज्ञान मात्र तत्त्व को स्वीकार करने पर बुद्धि-ज्ञान अथवा वचन रूप सम्यक् उपाय तत्त्व सम्भव ही नहीं है यह बात स्थित हो गई ।

1 विरुद्धयेत् । व्या० प्र० । 2 ज्ञानार्थयोर्यो हेतुः कारणं तस्मात् । दि० प्र० । 3 तत्त्वस्य ग्राहकं ज्ञानम् । व्या० प्र० । 4 एतत् । व्या० प्र० । 5 साधनांगं यच्छास्त्रं न भवति । व्या० प्र० । 6 विज्ञानाद्वैतवादिनः । व्या० प्र० । 7 स्वेष्टम् । दि० प्र० । 8 स्वनिष्ठम् । दि० प्र० । 9 नैवम् । व्या० प्र० । 10 सौगतस्य । दि० प्र० । 11 स्वमतम् । दि० प्र० । 12 परमतस्य । दि० प्र० ।

सिद्धेः । तदेवं नान्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिर्वाक्यं वा सम्यगुपायतत्त्वं^१ संभवतीति स्थितम् ।

^२बहिरङ्गार्थतैकान्ते^३ प्रमाणाभासनिह्वात् ।

सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम्^४ ॥८१॥

[बहिरङ्गार्थतैकान्तमान्यतायां दोषानाहुः जैनाचार्याः ।]

यत्किञ्चित्चेतस्तत्सर्वं^५ साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धम् ।^६ यथाग्निप्रत्यक्षेतर-
वेदनम् । स्वप्नदर्शनमपि^७ चेतः, तथा विषयाकारनिर्भासात्^८ । साध्यदृष्टान्तौ पूर्ववद् ।
विवादापन्नं विज्ञानं साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धं, विषयाकारनिर्भासात् । यथाग्नि-

उत्थानिका—पुनः जो बहिरंग रूप ही पदार्थ को स्वीकार करते हैं उनकी भी एकांत मान्यता का निराकरण करते हुये आचार्य कहते हैं—

बाह्य अर्थ को ही यदि मानों, चेतन का बस नाश हुआ ।

तभी प्रमाणाभास-विपर्यय, संशय आदि समाप्त हुआ ॥

पुनः विरोधी कथनी वाले, सबके सभी विरोधी मत ।

सच्चे हो जावेंगे फिर तो, नहीं रहें मिथ्यात्वी जन ॥८१॥

कारिकार्थ—घट-पटादि बाह्य पदार्थ ही एकांत से हैं अंतरंग पदार्थ नहीं हैं, ऐसी एकांत मान्यता में तो संशयादि रूप प्रमाणाभास का निह्वान ही जाने से सभी विरुद्धार्थ को कहने वालों की भी कार्यसिद्धि हो जावेगी क्योंकि बाह्य पदार्थ सभी सत्य रूप ही हैं ॥८१॥

[बहिरंग अर्थ मात्र ही है ऐसी एकांत मान्यता में जैनाचार्य दोष दिखाते हैं ।]

जो कुछ चित्त (ज्ञान) है वह सभी साक्षात् अथवा परम्परा से बाह्य पदार्थ से सम्बन्धित है । जैसे अग्नि का प्रत्यक्ष एवं अनुमान ज्ञान । स्वप्नदर्शन भी चित्त (ज्ञान) है क्योंकि उसी प्रकार से विषयाकार का निर्भास होता है । यहां अनुमान में साध्य और दृष्टान्त पूर्ववत् हैं ।

विवादापन्न विज्ञान साक्षात् अथवा परम्परा से बाह्य अर्थ से प्रतिबद्ध है क्योंकि विषय के

१ कारणं प्रमाणम् । व्या० प्र० । २ अत्र बहिरर्थवाद्याहान्तरङ्गस्य परमार्थतमोस्तु तर्हि बहिरर्थस्य परमार्थता अस्तु इत्येकान्ताश्रयणमे सति सर्वेषां लोकसमयसंबन्धिपरस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकानां शब्दबुद्धिज्ञानानां कार्य-सिद्धिः स्वार्थसंबन्धः प्रसज्येत कस्माल्लोकेऽसत्यप्रमाणनिराकरणादिति कारिकार्थः । दि० प्र० । ३ बाह्यार्थं सत्य एव । दि० प्र० । ४ परस्पर । दि० प्र० । ५ ज्ञानम् । व्या० प्र० । ६ अनुमानं परं पर्यार्थसंबन्धम् । व्या० प्र० । ७ प्रत्यक्षेतरवेदनं तथा स्वप्नदर्शनया इति पा० । व्या० प्र० । ८ द्वितीयानुमानं विवृणोति । व्या० प्र० ।

प्रत्यक्षेतरवेदनम् । तथा स्वप्नदर्शनमपि¹ विषयाकारनिर्भासम् । तत्तथा² इति बहिरङ्गार्थतै-
कान्तः, सर्ववेदनानां बहिर्विषयत्वाभिनिवेशात् । अत्रापि³ लोकसमयप्रतिबद्धानां परस्पर-
विरुद्धशब्दबुद्धीनां स्वार्थसंबन्धः परमार्थतः प्रसज्येत । न चैवं,⁴ तृणाग्रे करिणां शतमित्यादि-
वचनानां स्वप्नादिबुद्धीनां च स्वार्थे संबन्धाभावात् तथा⁵ संवादासिद्धेः । स्यान्मतं 'द्विविधोर्थो,
लौकिकोऽलौकिकश्च । यत्र लोकस्य परितोषः स लौकिकः सत्यत्वाभिमतज्ञानविषयः । यत्र
न लोकस्य परितोषः शास्त्रविदां तु संतोषः सोलौकिकोर्थः स्वप्नादिबुद्धिविषयः, सर्वथाप्य-
विद्यमानस्य प्रतिभासवचनासंभवात्⁶ ⁷खरविषाणानुत्पन्नप्रध्वस्त⁸ विषयशब्द⁹ ज्ञानानां¹⁰-
मपि¹¹ लोकागोचरालौकिकार्थविषयत्वात्' इति तदेतदलौकिकमेव, जाग्रत्प्रत्यया¹² निरालम्बना

आकार का निर्भास देखा जाता है । जैसे अग्नि का प्रत्यक्ष एवं अनुमान ज्ञान । उसी प्रकार से स्वप्न दर्शन भी विषयाकार निर्भास रूप है क्योंकि वह उसी प्रकार से बाह्य पदार्थ से प्रतिबद्ध रूप है ।

इस प्रकार से बहिरंगार्थतैकांत माना गया है क्योंकि सभी ज्ञान बाह्य पदार्थ (विषयरूप) अर्थात् "यह अग्नि है" इस प्रकार से अग्नि का ज्ञान साक्षात् रूप प्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान है एवं 'यह पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस प्रकार का अनुमान ज्ञान परम्परा से अग्नि से सम्बन्धित है ।

इस विषय में हम जैनों का यह कहना है कि—लोक एवं समय-संकेत से प्रतिबद्ध ऐसे परस्पर विरुद्ध शब्द एवं ज्ञानों का भी अपने-अपने अर्थ के साथ पारमार्थिक सम्बन्ध हो जायेगा । अर्थात् पारमार्थिक संबंध मानने पर तो प्रमाण-प्रमाणाभास की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी किन्तु ऐसा तो है नहीं, तृण के अग्र भाग पर सैकड़ों हाथियों का समूह बैठा है इत्यादि शब्दों का एवं स्वप्नादि ज्ञान का अपने-अपने अर्थ से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उस प्रकार का संवाद नहीं पाया जाता है ।

बहिरर्थवादी—अर्थ दो प्रकार का है लौकिक एवं अलौकिक । जिस विषय में लोक को संतोष है वह सत्यरूप से अभिमत ज्ञान का विषय लौकिक अर्थ है । जहाँ लोक को संतोष नहीं है किन्तु शास्त्रवित्-

1 ज्ञानम् । दि० प्र० । 2 तस्मात् । व्या० प्र० । 3 सर्वथा बहिरर्थाङ्गीकारे । दि० प्र० । 4 स्याद्वादी । दि० प्र० । 5 तृणाग्रे करिणां शतमस्तीति वदतो ज्ञानस्य वचनस्य च तत्र तदभावग्राहकप्रत्यक्षादेशच परस्परविरुद्धस्ययोभयस्य लोकप्रतिबद्धस्य स्वार्थसंबन्धः प्राप्नोतीत्यभिप्रायः । दि० प्र० । 6 तादृहिः । व्या० प्र० । 7 अनागत । व्या० प्र० । 8 अतीत । व्या० प्र० । 9 वसः । व्या० प्र० । 10 मतम् । व्या० प्र० । 11 वाचकग्राहकाणि शब्दाश्चज्ञानानि च तेषाम् । दि० प्र० । 12 इदानीं समयप्रतिबद्धानामिति भाष्यपदं विवृण्वन्ति जाग्रत्प्रत्यया इति । स्याद्वाद्याह । जाग्रत्प्रत्ययाः पक्षः निरालम्बना निविषया भवन्तीति साध्यो धर्मः प्रत्ययत्वात् ज्ञानत्वात् । यथा स्वप्नप्रत्यय इत्यनुमानं रचयित्वा स्याद्वादी बहिरर्थवादिनमित्याह । अस्य परसंबोधनार्थं कृतानुमानस्यास्वार्थप्रतिबद्धत्वं स्वार्थ-प्रतिबद्धत्वं वेति प्रश्नः । स्वकीयग्राह्यबहिरर्थाप्रतिबद्धत्वे सति तेनैवानुमानेन कृत्वा त्वया कृतस्य चेतस्त्वात् विषयाकारनिर्भासाच्चेति हेतुद्वयस्य व्यभिचारो गृह्यते बहिरर्थप्रतिबद्धत्वे सति तदा सुप्तप्रमत्तमूर्च्छितबालसंसारियो-भ्यादीनां ज्ञानानि सालम्बनानि बहिरर्थप्रतिबद्धानि इति तवाभिप्रायो विरुद्धचते । दि० प्र० ।

एव प्रत्ययत्वात्^१ स्वप्नप्रत्ययवदिति परार्थानुमानप्रत्ययस्यास्वार्थप्रतिबद्धत्वे तेनैव चेतस्त्वस्य विषयाकारनिर्भासस्य च हेतोर्व्यभिचारात् स्वार्थप्रतिबद्धत्वे च सर्ववेदनानां^२ सालम्बनत्व-विरोधात् । अस्यालौकिकार्थालम्बनत्वान्न लौकिकार्थालम्बनत्वे साध्ये हेतोर्व्यभिचारो^३ विरोधो वेति^४ चेन्न, लौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यत्वानुमानेन हेतोर्व्यभिचारविरोधयोस्त-

बहिरर्थकांतवादी को संतोष है वह स्वप्नादि ज्ञान का विषयभूत अलौकिक अर्थ है क्योंकि सर्वथा भी अविद्यमान पदार्थ का प्रतिभास वचन ही असंभव है । न उत्पन्न हुए न नष्ट हुये ऐसे खरविषाण को विषय करने वाले शब्द एवं ज्ञान भी लोक के अगोचर होने से अलौकिक अर्थ को विषय करने वाले हैं । अर्थात् खरविषाण आदि शब्द एवं उनका ज्ञान भी अलौकिक अर्थ को विषय करने वाला होने से सर्वथा भी अविद्यमान नहीं है यह तात्पर्य समझना ।

जैन—आपकी यह सभी मान्यता अलौकिक ही है अर्थात् वाचक शब्द और ग्राहक ज्ञान ये सभी लौकिक ही हैं । देखिये ! “जाग्रत अवस्था के सभी ज्ञान निरालम्बन ही हैं क्योंकि वे प्रत्यय-ज्ञान रूप ही हैं, स्वप्न ज्ञान के समान” । प्रश्न यह होता है कि यह परार्थानुमान अपने अर्थ से प्रतिबद्ध है या अप्रतिबद्ध ? इस प्रकार से इस परार्थानुमान ज्ञान में प्रश्न के होने पर यदि अपने अर्थ से अप्रतिबद्ध मानें तब तो उसी के द्वारा ही चेतस्त्व और विषयाकार निर्भास हेतु व्यभिचरित हो जावेंगे । अर्थात् परार्थानुमान ज्ञान को चित्त रूप स्वीकार करने पर अपने अर्थ से प्रतिबद्धत्व का अभाव होने से व्यभिचार दोष आ जावेगा । यदि इस परार्थानुमान ज्ञान को अपने अर्थ से प्रतिबद्ध मानोगे तब तो सभी ज्ञान सावलम्बन रूप नहीं हो सकेंगे अर्थात् “प्रत्ययत्वात्” इस अनुमान में ज्ञान हेतु निरालम्बन रूप अर्थ से प्रतिबद्ध होने से बाह्य अर्थ से प्रतिबद्ध है यह तात्पर्य होता है ।

बाह्यर्थकावादी—“यह परार्थानुमान ज्ञान अलौकिक अर्थ का अवलम्बन लेने वाला है और जाग्रत अवस्था के ज्ञान लौकिक अर्थ का अवलम्बन लेने वाले हैं क्योंकि वे ज्ञान हैं ।” इस प्रकार के अनुमान में लौकिक अर्थ का अवलम्बन साध्य करने पर हमारा हेतु व्यभिचारी अथवा विरोधी नहीं है ।

जैन—“सभी ज्ञान निरालम्बन रूप हैं क्योंकि वे लौकिक एवं अलौकिक अर्थ के अवलम्बन से शून्य ज्ञान रूप हैं ।” इस प्रकार के लौकिक एवं अलौकिक अर्थ के अवलम्बन से शून्य रूप अनुमान के

१ ज्ञानत्वात् । व्या० प्र० । २ ता । व्या० प्र० । ३ पूर्वोक्तहेतुद्वयेन लौकिकार्थालम्बनत्वमन्तरेण बहिरर्थप्रतिबद्धत्व-मात्रसाधनालौकिकार्थालम्बनत्वे साध्ये जायमानो व्यभिचारो विरोधो वा हेतोर्न भवतीतिभावः । दि० प्र० । ४ आह बहिरर्थकावादी हे स्याद्वादिन् षटपटादिलौकिकार्थालम्बनत्वे साध्ये सति चेतस्त्वात् विषयाकारनिर्भासाच्च प्रत्ययस्य हेतोः स्वप्नादिविषयालौकिकार्थालम्बनत्वात् व्यभिचारो नास्ति विरोधश्च नास्तीति चेत् = स्या० एवं न । कस्माल्लौकिकार्थ-लौकिकार्थोभयविषयरहितत्वानुमानेन कृत्वा तव हेतौ व्यभिचारविरोधो अवसिष्ठेते घटेते यतः = तृणाम्रे करिणां शतमि-त्यादि वचनानां स्वप्नादिबुद्धीनाञ्च परस्परविरुद्धानामेवव्यभिचारिणां सकृदेकवारमपि स्वार्थसंबन्धस्य संबादत्वस्य न संभवतीति । दि० प्र० । ५ पूर्व । दि० प्र० ।

दवस्थत्वात्^१ । न चैवंविधार्थानां^२ परस्परविरुद्धानां सकृत्संभव इति न बहिरङ्गार्थतैकान्तः
श्रेयानन्तरङ्गार्थतैकान्तवत्^३ ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं^४ स्याद्वादन्यायविद्वेषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥८२॥

अन्तर्बहिर्ज्ञेयैकान्तयोः सहाभ्युपगमो विरुद्धः स्याद्वादन्यायविद्वेषामेव^५ । 'तदवाच्य-
तायामुक्तिविरोधः^७ पूर्ववत् । स्याद्वादाश्रयणे तु न कश्चिद्दोष इत्याहुः^८ ।

द्वारा हेतु में व्यभिचार एवं विरोध दोष ज्यों का त्यों विद्यमान ही है और इस प्रकार से परस्पर विरुद्ध लौकिक एवं अलौकिक अर्थों का होना एक साथ सम्भव नहीं है । अर्थात् इस प्रकृत अनुमान को अलौकिक अर्थ का अवलम्बन लेने वाला मानने पर स्वयं लौकिक अर्थ का अवलम्बन लेने रूप से अभिमत जाग्रत ज्ञान भी अलौकिक अर्थ का अवलम्बन लेने वाले सिद्ध हो जाते हैं । पुनः लौकिक एवं अलौकिक अर्थ एक साथ ही हो जावेंगे किन्तु उनमें परस्पर विरोध होने से उनका युगपत् होना सम्भव नहीं है । इसलिये अंतरंग अर्थ रूप एकान्त मान्यता के समान बहिरंगार्थ रूप एकान्त मत भी श्रेयस्कर नहीं है ऐसा समझना चाहिये ।

अंतरंग बहिरंग ज्ञेय का, जो ऐकांतिक "ऐक्य" कहा ।

स्याद्वाद विद्वेषी जन के, मत में सदा विरोध रहा ॥

ज्ञान और बाह्यार्थ वस्तु को, यदी अवाच्य कहा जिसने ।

तब तो बचनों से "अवाच्य" को, कैसे वाच्य किया उसने ॥८२॥

कारिकार्थ—स्याद्वादन्याय के विद्वेषियों के यहाँ एकान्त से इन दोनों का उभयैकात्म्य भी संभव नहीं है क्योंकि परस्पर में विरोध आता है एवं तत्त्व को अवाच्य रूप स्वीकार करने पर तो "अवाच्य" यह शब्द भी नहीं कहा जा सकता है ॥८२॥

स्याद्वादन्याय के बैरियों के यहाँ ऐकांत से अंतरंग एवं बहिरङ्ग रूप ज्ञेय पदार्थ को एक साथ मानना विरुद्ध ही है । इन दोनों की अवाच्यता को स्वीकार करने पर तो शब्द से कथन का ही विरोध आता है पूर्व के समान ।

- 1 अस्यालौकिकार्थालंबनत्वादित्येतदभिलष्य द्रूपणान्तरमाह । दि० प्र० । 2 यत्किञ्चित्सर्वं बहिरर्थप्रतिबद्धं सर्वे प्रत्यया लौकिकालौकिकार्थालंबनशून्याः प्रत्ययत्वादित्यादिप्रत्ययविषयभूतानां परस्परविरुद्धार्थानाम् । दि० प्र० । 3 आह स्या० यथाप्राक् प्रतिपादितोन्तरङ्गार्थैकान्तः श्रेयान्न तथा बहिरङ्गार्थतैकान्तश्च श्रेयान्नेति श्रुत्वा कश्चिद्बुधवादी सौगतविशेष आह तल्लुभयैकात्म्यं श्रेयस्करं भवतु । इत्युक्ते, आचार्या आहुनिषेधं कारिकायां व्यक्तम् । दि० प्र० । 4 अन्तरंगार्थबहिरंगार्थयोः । दि० प्र० । 5 अन्तर्बहिर्ज्ञेययोः सहाभ्युपगमो विरुद्धः । दि० प्र० । 6 तथैव । इति पा० । दि० प्र० । =तयोर्बहिर्ज्ञेययोः । दि० प्र० । 7 अन्तरङ्गार्थतैकान्तबहिरङ्गार्थतैकान्ताभ्यामवाच्यतायाम् । दि० प्र० । 8 ज्ञानस्वरूपमेव । व्या० प्र० ।

^१भावप्रमेयापेक्षायां ^२प्रमाणाभासनिःहवः^३ ।

बहिः^४ प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं^५ तन्निभं च ते ॥८३॥

सर्वसंवित्तेः^६ स्वसंवेदनस्य कश्चित् प्रमाणत्वोपपत्तेस्तदपेक्षायां सर्वं प्रत्यक्षं^७, न कश्चित्प्रमाणाभासः^८, सौगतानामप्यत्राविवादात्, सर्वचित्चैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति वचनात् । तन्निर्विकल्पकमित्ययुक्तं स्वार्थव्यवसायात्मत्वमन्तरेण प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः^९ समर्थ-

उत्थानिका—एवं स्याद्वाद का आश्रय लेने पर कोई दोष नहीं आता है । इस बात को अगली कारिका में बताते हैं—

भाव प्रमेयापेक्षा करके, नहीं प्रमाणाभास रहे ।

चूँकि ज्ञान स्व-स्वरूप, संवेदन से हि प्रमाण कहे ॥

बाह्य पदार्थ प्रमेयापेक्षा, कहे प्रमाण, प्रमाणाभास ।

अतः नाथ ! तव मत में अंतः बाह्य तत्त्व दोनों विख्यात ॥८३॥

कारिकार्थ—हे भगवन् ! आपके सिद्धान्त में भाव-ज्ञान को प्रमेय रूप से अपेक्षित करने पर प्रमाणाभास का लोप हो जाता है एवं बाह्य पदार्थ को प्रमेय रूप से अपेक्षित करने पर तो प्रमाण एवं प्रमाणाभास दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं ॥८३॥

सभी ज्ञान स्वरूप के संवेदन रूप होने से कश्चित्-सत्त्व, चेतनत्वादि आकार से प्रमाण रूप ही हैं । उस स्वसंवेदन की अपेक्षा सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । इसलिये प्रमाणाभास कुछ भी नहीं है । अर्थात् संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रूप सभी ज्ञान स्वरूप संवेदन से ज्ञान रूप ही हैं इसलिये प्रमाणाभास कुछ भी सिद्ध नहीं होता है । इस विषय में बौद्धों को भी किसी प्रकार का विवाद नहीं है । अर्थात् वे भी सभी ज्ञान को स्वसंवेदन रूप से प्रत्यक्ष मानते हैं । “सर्वचित्त चैतानामात्मसंवेदनम् प्रत्यक्षं” संपूर्ण चित्त और चैतों का आत्मसंवेदन होना ही प्रत्यक्ष है ऐसा उनका वचन है । अर्थात् ज्ञान को चित्त कहते हैं । जो उस चित्त में हर्षादिभाव होते हैं वे चैत कहलाते हैं । इन सभी चित्त एवं चैतों का स्वरूप संवेदन होना ही प्रत्यक्ष है । ऐसा उनका कथन है ।

१ ता । व्या० प्र० । २ शुक्तिकादौ रजतज्ञानं सत्यमेव स्यात् । दि० प्र० । ३ शुक्तिकाघटपटाद्यपेक्षायाम् । दि० प्र० । ४ ज्ञानं प्रत्यक्षादि वा । दि० प्र० । ५ सर्वज्ञानाम् । व्या० प्र० । ६ सत्यं प्रमाणं भवेत् । दि० प्र० । ७ सर्वज्ञानस्य स्वव्यवसायात्मकस्य कश्चित्प्रमाणत्वघटनात् तस्य स्वसंवेद्यस्यापेक्षायां सर्वं सत्यभूतं कश्चित्प्रमाणभासो न कस्मादत्र संवेदनस्यात्मसंवेदनप्रत्यक्षत्वयोर्व्यवस्थापने कृते सति सौगतानामपि विवादासंभवात् । कस्माद्विवादाभावः सर्वस्य ज्ञानस्य सन्तानलक्षणतत्पर्यायाणाञ्च स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमिति सौगतसिद्धान्तात् । तत्किमित्युक्ते सौगत आह । निर्विकल्पकम् स्या० वदतीति चायुक्तम् । कस्मात्संवेदनस्य स्वार्थव्यवसायात्मकं विना प्रमाणत्वं नोपपद्यत इति प्राग्बहुधा समर्थनात् । दि० प्र० । ८ ता । व्या० प्र० । ९ मीमांसकं प्रत्याहुः । व्या० प्र० ।

नात्¹ । तथानभ्युपगमेन्यत एव बुद्धेरनुमानं स्यात् । तच्चायुक्तं लिङ्गभावात् । तत्रार्थज्ञान-
मलिङ्ग² , तदविशेषेणासिद्धेः³ ।

[मीमांसकाभिमतप्रत्यक्षज्ञानस्य निराकरणं ।]

स्वयमप्रत्यक्षं ज्ञानं ह्यर्थपरिच्छेदादनुमीयते इत्यर्थज्ञानं⁴ कर्मरूपमर्थस्य प्राकट्यं
तल्लिङ्गमिष्यते स हि बहिर्देशसंबद्धः⁶ प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति

बौद्ध - वह प्रत्यक्ष ज्ञान तो निर्विकल्प है । अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प है बाकी
के सविकल्प ज्ञान प्रमाणाभास है अतः प्रमाणाभास का निन्हव कैसे किया जा सकेगा ?

जैन—यह आपका कथन अयुक्त है क्योंकि ज्ञान में स्वार्थ व्यवसायात्मक के बिना प्रत्यक्षपना
असंभव है ऐसा हमने प्रथम परिच्छेद में ही समर्थित कर दिया है ।

इस प्रकार से यदि आप सभी ज्ञान को स्वसंवेदन रूप से भी प्रत्यक्ष रूप स्वीकार नहीं करेंगे
तब तो अन्य ही (अर्थात् हेतु से) ज्ञान का अनुमान किया जावेगा ।

मीमांसक—हमें ऐसा इष्ट ही है इसलिये कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि परोक्ष ज्ञान को ग्रहण करने वाले हेतु का अभाव
है । उस बुद्धि में अर्थ की प्रकटता रूप ज्ञान हेतु से रहित है क्योंकि उस लिंग की सामान्य रूप से
असिद्धि है ।

[अप्रत्यक्ष ज्ञानवादी मीमांसक का खण्डन]

मीमांसक—ज्ञान तो स्वयं अप्रत्यक्ष ही है । वह अर्थ के परिच्छेदन से अनुमित किया जाता
है । इसलिये अर्थज्ञान कर्मरूप है एवं अर्थ की प्रकटता ही उस परोक्ष ज्ञान का लिंग है ऐसा हमने
माना है और वह पदार्थ ही बाह्य देश से संबन्धित होने से प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में आता है ।

1 पर आह तत्र बुद्धौ अर्थज्ञानं लिङ्गमस्ति=स्या० वदति तल्लिङ्गं न कस्मात् । तयोः स्वज्ञानार्थज्ञानयोः
परोक्षत्वेन समानत्वान् बुद्धेः लिङ्गस्यावटनात्=पर आह हि यस्मात् स्वज्ञानं स्वरूपेण परोक्षं बहिरर्थज्ञानाभिन्नधीयत
इति अर्थज्ञानं कर्मरूपमर्थजनितं तत्कर्ममर्थस्य प्रकटत्वं तद्बुद्धेलिङ्गं कथ्यते स हि बहिर्देशसंबद्धो घटपटाद्यर्थः साक्षा-
न्निश्चीयते । कस्माद्बहिरर्थं ज्ञाते सति पुरुषोऽनुमानबलात्ज्ञानं जानाति ममेदृशं ज्ञानमस्ति ईदृशं परिच्छेदान्वयानु-
पपत्ते इत्यस्मात्सिद्धात्तात् । दि० प्र० । 2 परोक्षज्ञानार्थज्ञानस्य । दि० प्र० । 3 प्रकाशक्रिया । दि० प्र० ।
4 अर्थस्यासिद्धत्वे न प्राकट्यमपि असिद्धं भविष्यतीत्याशंकायामाह स बहिर्देशेति । दि० प्र० । 5 बसः । व्या०
प्र० । 6 स्याद्वादी परमाह । तद्बहिरर्थप्रकटत्वमर्थधर्मो ज्ञानधर्मो वेति विकल्पः । अर्थधर्म इति प्रथमपक्षेऽर्थ-
निश्चायकात्मज्ञानात्सकाशात् इतरस्यार्थज्ञानस्य परोक्षेण कृत्वा विशेषाभावादर्थज्ञानं तस्या बुद्धेलिङ्गं न कुतो
घटनात् । =तयोः स्वार्थज्ञानयोः विशेषो न तस्य ज्ञानस्यास्वविदितत्वात् अर्थज्ञानं स्वस्वरूपं न जानात्यनुमा-
नाज्जानातीति चेत् । तदप्यनुमानं स्वं न जानात्यन्यप्रमाणमपेक्षते तदप्यन्यदेवमनवस्थाप्रसंगः स्यात् । दि० प्र० ।

वचनात् । तच्चार्थप्राकट्यमर्थधर्मो¹ ज्ञानधर्मो वा ?² प्रथमपक्षेऽर्थपरिच्छेदकज्ञानादविशेषेणोत्तर-
स्यासिद्धेर्नैतल्लिङ्गम् । तदविशेषस्तु,³ तस्यास्वसंविदितत्वादानुमानापेक्षत्वप्रसङ्गात् । न हि ज्ञाने⁴
परिच्छेदकेऽप्रत्यक्षे⁵ तत्कृतोर्थपरिच्छेदः⁶ प्रत्यक्षः स्यात्, संतानान्तरज्ञानकृतार्थपरिच्छेदवत्⁷ ।
बहिरर्थस्थ⁸ प्रत्यक्षत्वात्तद्धर्मस्य प्रत्यक्षत्वमिति चेन्न, अर्थस्यापि स्वतः¹⁰ प्रत्यक्षत्वा-
सिद्धेः । स्वज्ञाने प्रतिभासमानस्य¹¹ प्रत्यक्षत्वे संतानान्तरज्ञानेपि साक्षात्प्रतिभासमाने
प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः¹², तस्यानुमेयत्वाविशेषात् । बहिरर्थप्राकट्यस्य प्रमातुः स्वसंविदितत्वात्त-
ल्लिङ्गमेव ज्ञाने प्रसिद्धमिति चेत्कथमर्थधर्मः¹³ स्वसंविदितो नाम ? अर्थवत्¹⁴ । सोऽयं ज्ञानम-

“ज्ञानेत्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्” अर्थात् अनुमान से पदार्थ के जान लेने पर प्रमाता ज्ञान को जानता है । ऐसा हमारे यहां वचन है ।

जैन—अच्छा ! तो आप यह बतलाइये कि वह अर्थ की प्रकटता पदार्थ का धर्म है या ज्ञान का धर्म है ? यदि पहला पक्ष लेवें तब तो अर्थ परिच्छेद ज्ञान से भिन्न सामान्यतया अर्थ की प्रकटता असिद्ध ही है । अतएव वह हेतु नहीं हो सकती है किन्तु वह अविशेष ही है । क्योंकि वह ज्ञान अस्वसंविदित है अतएव उसमें अनुमान की अपेक्षा का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् मीमांसक के मत में ज्ञान भी अव्यवसायात्मक है तथा पदार्थ भी अव्यवसायात्मक है । दोनों ही समान हैं । अतः अस्वसंविदित ज्ञान को अनुमान के द्वारा ही जाना जावेगा न कि उसी ज्ञान से, क्योंकि ज्ञान स्वयं को जानता ही नहीं है ।

इस प्रकार से परिच्छेदक-ज्ञानने वाला ज्ञान तो अप्रत्यक्ष है तथा उसके द्वारा किया गया अर्थ का जानना प्रत्यक्ष है ऐसा कहना शक्य नहीं है । जैसे कि भिन्न संतान के ज्ञान से किया गया अर्थ का ज्ञान । अर्थात् जैसे देवदत्त ने अपने ज्ञान से जिस पदार्थ को जाना है जिनदत्त को उस पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है वैसे ही जानने वाला ज्ञान अप्रत्यक्ष है तब तो उस अप्रत्यक्ष ज्ञान से जाना गया पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं होगा ।

1 कारणरूपात् । व्या० प्र० । 2 अर्थप्राकट्यस्य । व्या० प्र० । 3 निश्चायके ज्ञाने परोक्षे सति तज्जनित-
मर्थज्ञानं प्रत्यक्षं नहि स्यात् यथा संतानान्तरज्ञानं तव परोक्षं तत्कृतार्थज्ञानञ्च परोक्षम् । दि० प्र० ।
4 कारणरूपे । व्या० प्र० । 5 परोक्षज्ञानकृतं । व्या० प्र० । 6 प्राकट्यम् । व्या० प्र० । 7 इन्द्रियस्या-
प्रत्यक्षत्वेपि तत्कृतस्यार्थप्राकट्यस्य प्रत्यक्षत्वाददर्शनाददोष इति न शङ्कनीयमर्थपरिच्छेदकस्य भावेन्द्रियस्य स्वसंविदि-
तत्वाभ्युपगमाद्द्रव्येन्द्रियस्य तु साक्षादर्थपरिच्छेदकत्वायोगात् । दि० प्र० । 8 आह परः बहिरर्थः प्रत्यक्षं तद्धर्मार्थं
प्राकट्यञ्च प्रत्यक्षमिति चेत् = स्या० व० एनं न भवति । दि० प्र० । 9 स्वस्मात् । दि० प्र० । 10 अर्थस्य ।
व्या० प्र० । 11 बहिरर्थस्य सति । दि० प्र० । 12 आक्षेपे = तावत्प्राकट्यस्य स्वसंविदितत्वे दोषमाहुः कथमर्थेति ।
दि० प्र० । 13 एतदेव भावयति । = स्याद्वाद्याह नाम अहो परोक्षज्ञानवादिनर्थधर्मः स्वसंविदितः कथं भवेत् । न
कथमपि यथा बहिरर्थः स्वसंविदितो न तथा तद्धर्मोपि = आत्मज्ञानं किल स्वं न जानाति अर्थज्ञानं स्वरूपं जानातीति
ब्रुवाणः सोऽयं परोक्षज्ञानवादी विरुद्धमतो भवेत् । दि० प्र० ।

स्वसंविदितं प्राकट्यमर्थस्वरूपं स्वसंविदितमित्याचक्षाणो विपरीतप्रज्ञः¹ । परिच्छिद्यमानत्वस्य ज्ञानजस्यार्थधर्मस्यार्थज्ञानस्य² कुतस्ततो विशेषो येन तल्लिङ्गं सिध्येत् ? पुंसः स्वसंविदितत्वेन ततो³ विशेषे वा⁴ तदन्यतरेणार्थपरिसमाप्तेः⁵ किं द्वितीयेन ? स्वसंविदितार्थपरिच्छेदादेव स्वार्थपरिच्छित्तिसिद्धेरप्रत्यक्षज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वात् । पुंसो वा स्वसंविदितार्थत्वेनार्थपरिच्छेदसिद्धेः किमनेन ? तस्य⁶ करणत्वान्नाकिञ्चित्करत्वमात्मनः कर्तृत्वादर्थस्य च कर्मत्वात्करणत्वविरोधात्, करणमन्तरेण क्रियायाः संभवाभावादिति चेत्तर्हि पुंसः स्वसंविदितौ किं करणम् ?

शंका—बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष हैं अतः अर्थ की प्रकटता रूप उसका धर्म भी प्रत्यक्ष है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना क्योंकि पदार्थ भी तो स्वतः प्रत्यक्ष नहीं हैं ।

[मीमांसक कहता है कि अर्थ स्वतः प्रत्यक्ष नहीं है तो न सही किन्तु अपने परोक्षज्ञान में प्रतिभासमान पदार्थ प्रत्यक्ष हो जावेंगे । इस पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं]

स्वज्ञान—अपने परोक्ष ज्ञान में प्रतिभासमान पदार्थ को यदि आप प्रत्यक्ष मानोगे तब तो भिन्न संतान के ज्ञान में भी पदार्थ साक्षात् प्रतिभासमान है उसे भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा । क्योंकि वह भिन्न संतान का ज्ञान भी अनुमेय रूप से परोक्ष ज्ञान के समान ही है कोई अन्तर नहीं है ।

मीमांसक—बाह्य अर्थ की प्रकटता एवं प्रमाता दोनों ही स्वसंविदित हैं अतः अर्थ की प्रकटता ही ज्ञान में हेतु है ।

जैन—यदि ऐसा कहते हो तब तो अर्थ का धर्म—अर्थात् अर्थ की प्रकटता स्वसंविदित कैसे हो सकती है ? जैसे कि अर्थ स्वसंविदित नहीं है । अर्थात् जैसे अर्थ स्वयं को जानने वाला नहीं है उसी प्रकार से अर्थ की प्रकटता भी स्वसंविदित नहीं है ।

इस प्रकार से आप मीमांसक ज्ञान को तो अस्वसंविदित मान रहे हैं तथा अर्थ की प्रकटता रूप अर्थ के स्वरूप को स्वसंविदित कह रहे हैं अतः आप विपरीत बुद्धि वाले ही हैं मीमांसक होकर

1 पक्ष इति पाठा० । दि० प्र० । 2 ज्ञेयमानस्य ज्ञानात्ज्ञातस्य बहिरर्थधर्मस्येदृशस्यार्थज्ञानस्य ततो बहिरर्थाद्विशेषः कुतो न कुतोपि येन केन तदर्थज्ञानं ज्ञानलिङ्गं घटेदपितु न केनापि—वाथवा पुंसः पुरुषस्यात्मनः स्वसंविदितेन कृतार्थज्ञानस्य ततोर्थाद्विशेषे सति द्वयोः पुरुषार्थज्ञानयोर्मध्य एकेनैवार्थो घटादिको निश्चीयते द्वितीयेन परोक्षरूपेण स्वज्ञानेन किं न किमपि कस्मात् स्वसंविदितरूपादर्थज्ञानादेव स्वग्राह्यबहिरर्थस्य निश्चयः सिद्ध्यति कस्मात्परोक्षज्ञानमकिञ्चित्करं यतः वा अथवा स्वसंविदितरूपात्पुरुषादर्थपरिच्छेदः सिद्ध्यति सतोनेन परोक्षज्ञानं किं न किमपि । दि० प्र० । 3 अर्थप्राकट्यस्य च । व्या० प्र० । 4 परोक्षज्ञानात् । व्या० प्र० । 5 स्वार्थपरिच्छेदात् । दि० प्र० । 6 पराह तत्परोक्षज्ञानं करणरूपमस्ति तस्मात्तस्याकिञ्चित्करत्वं न सकिञ्चित्करत्वमेव कुतः । आत्मा कर्ता अर्थः कर्म तयोः करणत्वं विरुद्ध्यते यतः स्याद्वाद्याह । तृतीयं करणमपि युज्यते कुतः करणं विना ज्ञप्ति क्रिया न संभवति यतः । स्याद्वाद्याह । तर्हि पुरुषस्य स्वसंवेदने सत्यस्यत् कारणं किमिति पृष्टे पराह पुरुषस्वरूप एव कारणमिति चेत् = स्या० तदा पुमानेवार्थज्ञानेपि करणकारकमस्तु कर्तुः पुंसः सकाशात् द्रव्यापेक्षयाऽभिन्नस्यापि करणस्य पर्यायापेक्षया तस्य यथा कथञ्चिद्विभक्तकर्तृत्वं तथा कथञ्चिदविभक्तकर्तृकत्वमस्ति । दि० प्र० ।

स्वात्मंवेति^१ चेत्स एवार्थपरिच्छित्तावपि करणमस्तु, कर्तुरनन्यस्यापि कथञ्चिदविभक्तकर्तृकस्य करणस्य सिद्धेर्विभक्तकर्तृकवत् । एतेनार्थपरिच्छेदस्यार्थधर्मस्य^२ स्वसंविता स्वात्मनः करणत्वे करणान्तरमकिञ्चित्करमुक्तम्^३ । ततः पुरुषार्थपरिच्छेदयोरन्यतरेण स्वात्मनैव करणेनार्थपरिसमाप्तेः^४ । किं द्वितीयेन करणेन परोक्षज्ञानेन ? यच्चेदमर्थज्ञानं^५ तच्चेदर्थस्वतक्षणं स्याद्द्व्यभिचारादहेतुः, अप्रत्यक्षे ज्ञाने साध्ये तस्यार्थस्वरूपस्य^६ तदभावेपि^७ भावादन्यथार्थाभावप्रसङ्गात् । न च ज्ञानस्याभावेऽर्थस्याभावः^८ । परिच्छिद्यमानत्वधर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्यार्थस्या-

भी सच्ची भीमांसा करना नहीं जानते हैं । परिच्छिद्यमानरूप (जाना गया) ज्ञान से उत्पन्न होने वाला अर्थ का धर्म और अर्थज्ञान इनमें उस परोक्षज्ञान से भेद कैसे सिद्ध होगा कि जिससे वह अर्थ प्रकटता हेतु हो सके ?

अथवा आत्मा को स्वसंविदित मान करके उसमें भेद स्वीकार करेंगे तब तो उन दोनों में से किसी एक आत्मा के द्वारा ही अर्थ का ज्ञान हो जावेगा । पुनः द्वितीय-परोक्ष ज्ञान की कल्पना से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि स्वसंविदित अर्थ की प्रकटता से ही अपने अर्थ का ज्ञान सिद्ध है इसलिये परोक्ष ज्ञान तो अकिञ्चित्कर ही रहता है । अथवा आप आत्मा को स्वसंविदित-अर्थ को जानने वाला मानेंगे तब तो उसी से अर्थ की परिच्छित्ति सिद्ध हो जाने से इस द्वितीय परोक्ष ज्ञान की कल्पना से क्या प्रयोजन है ?

भीमांसक—वह परोक्ष ज्ञान करण है इसलिये अकिञ्चित्कर नहीं है क्योंकि आत्मा तो कर्ता है और अर्थ कर्म है । ये दोनों करण नहीं हो सकते हैं और ज्ञान रूप करण के बिना अपने स्वरूप को जानने रूप अथवा पदार्थ को जानने रूप क्रिया ही संभव नहीं है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो आत्मा की स्वसंवेदन रूप क्रिया में करण क्या होगा ?

भीमांसक—आत्मा के स्वसंवेदन में तो वह आत्मा ही स्वतः है ।

१ स्वस्वरूपम् । दि० प्र० । २ एतेन कर्तृकरणयोः कथञ्चिद्विभक्तत्वव्यवस्थापनेनार्थज्ञानस्य अर्थधर्मरूपस्य स्वसंवेदने सति स्वरूपस्यैव करणत्वमायाति तदाव्यक्तरणमकिञ्चित्करं प्रतिपादितम्—यत एवं ततः पुरुषार्थज्ञानयोर्द्वयोर्मध्ये एकेन स्वरूपेणैव करणेनार्थः परिसमाप्यते निश्चयते तदा तदापरोक्षज्ञानेन द्वितीयेन करणेन किं न किमपि । दि० प्र० । ३ अर्थपरिच्छित्ता । परोक्षज्ञानम् । व्या० प्र० । ४ प्रयोजन । व्या० प्र० । ५ स्याद्द्वयाह हे परोक्षज्ञानवादिन् किञ्च विशेषः यदिदमर्थज्ञानं तद्यद्यर्थधर्म इत्यङ्गीक्रियते त्वया तदापरोक्षज्ञानवादिन् किञ्च विशेषः यदिदमर्थज्ञानं तद्यद्यर्थधर्म इत्यङ्गीक्रियते त्वया तदा परोक्षज्ञाने साध्यविषये व्यभिचारादहेतुः स्यात् कीर्थाज्ञानं साधनं परोक्षं न साधयति कुतस्तस्य परोक्षज्ञानस्याभावेपि अर्थरूपस्यार्थज्ञानस्य सद्भावात् अन्यथा परोक्षज्ञानाभावेऽर्थज्ञानस्यासद्भावे सति बहिरर्थाभावः प्रसजति यतः ज्ञानाभावे स चार्थाभावो न दृश्यते । कीर्थः ज्ञानमर्थमा गृह्णातु तथापि घटादिबहिरर्थं स्वरूपेण तिष्ठति । दि० प्र० । ६ परोक्षज्ञानाभावेऽप्यभावो यद्यर्थप्राकट्यस्य । व्या० प्र० । ७ परोक्षज्ञानम् । दि० प्र० । ८ दूरव्यवहितार्थस्य ज्ञानाभावेपि भावात् । दि० प्र० ।

भाव^१ एवेति चेन्न^२, तस्य ज्ञानासिद्धौ प्रतिपत्तिविरोधात्, विशेषणाप्रतीतौ^३ तद्विशिष्टत्वस्य^४ क्वचिदप्रतीतेरसिद्धत्वेन हेतुत्वायोगस्याभिधानात् । एतेनार्थमहं जानामीति प्रतीतेरात्मनोर्थ-ज्ञानं स्वसंविदितमर्थप्राकट्यं ज्ञानधर्मोऽप्रत्यक्षायां^५ लिङ्गबुद्धौ लिङ्गमित्येतदपास्तं, तस्य बुद्धेरप्रत्यक्षत्वे तथा प्रतीतेरयोगात् । इत्यविशिष्ट एव ज्ञानानपेक्षस्वभावोर्थस्तद्धेतुः स्यात् । स च व्यभिचार्येव । एतेनेन्द्रियादिप्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, तस्याप्यतीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षज्ञानादविशेषेणा-सिद्धेः । विशेषेण वा^६ तयोरन्यतरेण भावेन्द्रियादिना स्वसंविदितेनार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीये-

ज्ञेन—यदि ऐसा कहते हो तब तो वह आत्मा अर्थ की परिच्छिन्ति में भी स्वयं ही करण हो जावे क्या बाधा है ? क्योंकि कर्ता से अभिन्न भी कथंचित्-चित्स्वरूप से अर्थ की प्रकटता में अविभक्त-कर्तृक करण सिद्ध है जैसे कि कर्ता से भिन्न कुठार लक्षण करण सिद्ध है ।

इस प्रकार कर्ता से अभिन्नरूप करण के सिद्ध हो जाने से अर्थ परिच्छेद रूप (अर्थ प्रकटता-रूप) अर्थ धर्म की स्वसंविन्ति में स्वात्मा ही करण है ऐसा आप मीमांसक के द्वारा स्वीकार कर लेने पर तो भिन्न करण मानना अकिंचित्कर ही है ऐसा कहा गया है । ततः आत्मा और अर्थ-परिच्छेद इन दोनों में से किसी एक स्वात्मस्वरूप करण के द्वारा ही पूर्णतया अर्थ का ज्ञान हो जाने से पुनः परोक्ष ज्ञानरूप द्वितीय करण से क्या प्रयोजन ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ।

और जो यह अर्थ प्राकट्य रूप अर्थज्ञान है यदि वही घटादि पदार्थ का स्वलक्षण (स्वरूप) है तब तो व्यभिचार दोष आने से वह अहेतु है । अर्थात् अविनाभाव का अभाव होने से यह हेतु अनैकांतिक है । दूर एवं व्यवहित पदार्थ के ज्ञान के अभाव में भी मौजूद रहते हैं । क्योंकि अप्रत्यक्ष ज्ञान को साध्य करने पर वह अर्थस्वरूप उसके अभाव में भी विद्यमान है । अन्यथा—यदि परोक्ष ज्ञान के अभाव में उस अर्थ प्रकटता का भी अभाव मानोगे तब तो पदार्थ के ही अभाव का प्रसंग आ जायेगा, किन्तु प्रतिनियत देशादि रूप से ज्ञान का अभाव होने पर पदार्थ का अभाव तो है नहीं ।

शंका—परिच्छिद्यमान रूप धर्म से विशिष्ट पदार्थ रूप धर्मी का अभाव ही है ।

ज्ञेन—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि परोक्ष होने से ज्ञान ही असिद्ध है अतः ज्ञान की सिद्धि न होने पर उस पदार्थ का ज्ञान होना विरुद्ध ही है क्योंकि विशेषण की प्रतीति न होने पर तो उस

1 ज्ञानाभावात् । व्या० प्र० । 2 आह परोक्षज्ञानवादी ज्ञानेन ज्ञेयमानत्वधर्मेण विशेषणेन युक्तस्यार्थस्याभाव इति चेत्—स्या० एवं न । कुतः ज्ञानस्यासिद्धौ सत्यां तस्य ज्ञानविशेषणेन विशिष्टस्यार्थस्य निश्चयो विरुद्धयते यतः पुनर्विशेषणाभावे तेन विशेषणेन विशिष्टत्वस्यार्थस्य सर्वत्राभावात् पुनः साधनस्यासिद्धत्वे न हेतुत्वं न घटते इति वचनात् एतेनार्थप्राकट्यस्यार्थधर्मनिराकरणद्वारेण अहं कर्ता, अहं जानामीति प्रत्ययात्पुंसः अर्थबोधात् स्वसंविदित-मर्थप्राकट्यं ज्ञानधर्मः सन् परोक्षज्ञाने साध्ये साधनं स्यादित्यपि निषिद्धं कुतः ज्ञानस्य परोक्षत्वे सति तस्यार्थ-प्राकट्यस्य तथा प्रतीतेः इति कोर्थोर्थमहं जानामीति प्रत्ययस्याघटनात् । दि० प्र० । 3 परिच्छिद्यमानत्वमेव विशेषणम् । दि० प्र० । 4 विशेषणम् । दि० प्र० । 5 आत्मनः । दि० प्र० । 6 विशेषे वा ततोऽन्यतरेण । इति पा० । दि० प्र० ।

नाप्रत्यक्षज्ञानेन ? तस्यैव ज्ञानत्वात् । व्यभिचारी चेन्द्रियादिहेतुर्जानाभावेऽपि भावात् कारण-
स्येन्द्रियस्य मनसो वावश्यं कार्यवत्वानुपपत्तेः । ततः ^१प्रत्यक्षेतरबुद्ध्यवभासस्य^२ स्वसंवेदना-
त्प्रत्यक्षविरुद्धं, ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वमनुमानविरुद्धं च । तथा हि । सुखदुःखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे हर्ष-
विषादादयोऽपि^३ न स्युरात्मान्तरवत्^४ ।

विशेषण से विशिष्ट पदार्थ भी कहीं प्रतीत नहीं हो सकता है । अतः असिद्ध रूप होने से हेतुपने का ही अभाव सिद्ध है ऐसा कहा गया है ।

इसी कथन से “अर्थमहंजानामि” इस प्रकार की प्रतीति से आत्मा का अर्थज्ञान स्वसंविदित है । अर्थ की प्रकटता ज्ञान का धर्म है और अर्थ की प्रकटता अप्रत्यक्षरूप लिङ्गज्ञान में हेतु है इस कथन का भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि उस आत्मा के ज्ञान को कारण होने से अप्रत्यक्ष रूप मानने पर उस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती है ।

इसलिये परिच्छिद्यमानत्व धर्म रूप विशेषण से रहित एवं ज्ञान की अपेक्षा से रहित स्वभाव वाला पदार्थ ही परोक्ष ज्ञान में हेतु हुआ और वह हेतु व्यभिचारी ही है । अर्थात् जहाँ-जहाँ परोक्ष ज्ञान है वहाँ-वहाँ अर्थ की प्रकटता है इस प्रकार की व्याप्ति का अभाव होने से परोक्ष ज्ञान के अभाव में भी अर्थ का रूप देखा जाता है ।

“इसी कथन से इन्द्रिय, मन आदि प्रत्यक्ष हैं इसका भी खण्डन कर दिया गया है । अर्थात् मुझ में चक्षु आदि इन्द्रियां हैं क्योंकि रूपादि ज्ञान की अन्यथानुत्पत्ति है” यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि वह ज्ञान भी अतीन्द्रिय होने से परोक्ष ज्ञान के समान है अतः असिद्ध है । अथवा अप्रत्यक्ष ज्ञान से उसमें समानता मानों तब तो इन्द्रिय और परोक्ष ज्ञान में स्वसंविदित रूप किसी एक भावेन्द्रिय और भावमन आदि के द्वारा अर्थ का ज्ञान हो जाने पर द्वितीय अप्रत्यक्ष ज्ञान से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि वे भावेन्द्रिय ही ज्ञानरूप हैं । अर्थात् जैन मत में भावेन्द्रिय और भावमन को ज्ञानरूप ही माना है “लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्” लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय हैं ऐसा सूत्र में कहा है । ज्ञान के रोधक ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम होना लब्धि है । उसके अनन्तर पदार्थ को जानने के लिये चेतना का जो व्यापार है वह उपयोग है । अतः आप ‘इन्द्रियादि हेतु’ व्यभिचारी

१ स्या० व० हे सांख्यनैयायिकमीमांसादेर्ज्ञानस्य परोक्षत्वं यदुच्यते त्वया तत्प्रत्यक्षप्रमाणेन विरुद्धं कस्मात्प्रत्यक्षज्ञान-
परोक्षज्ञानप्रकाशस्य स्वसंवेदनात् । वाथवा ज्ञानस्य परोक्षत्वमनुमानप्रमाणेन च विरुद्धम् । कथमित्युक्त आह बुद्धिः
पक्षः प्रत्यक्षा भवतीति साध्यो घर्मः तत्कार्यहर्षविषादादिसाक्षात्करणात् सुखदुःखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे सति हर्षविषादादयो
न स्युः यथान्यपुरुषे निजापेक्षया बुद्धेः परोक्षत्वे हर्षादयो न स्युः—एतेन परोक्षज्ञानवादिनः सांख्यादेः ज्ञानस्य परोक्ष-
त्वनिराकरणेन क्षणक्षयि अंशं निर्विकल्पकदर्शनं प्रत्यक्षं स्यादिति सौमताभ्युपगतं निराकृतं कस्मात्प्रत्यक्षा प्रतिज्ञायते
सौमतेस्तथा लोके तु भावो नास्ति यतः पुनर्यथा तु भ्रूयते तथानङ्गीकारात् = कथमनुभव इत्याह सुखदुःखादिबुद्धिस्वरूपं
निश्चलं ज्ञानं पुरुषो वा प्रत्यक्षमनुभूयमानं हर्षविषादादिकमनुभवतीत्यनुभवः । दि० प्र० । २ अप्रत्यक्षस्य । व्या०
प्र० । ३ स्वस्य । व्या० प्र० । ४ आत्मान्तराप्रत्यक्षत्वे यथा हर्षादयः स्वस्य न स्युः । व्या० प्र० ।

[अनुभवमनुसृत्य ज्ञानं प्रत्यक्षमेव न च परोक्षं]

एतेन प्रतिक्षणं निरंशं संवेदनं प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, यथाप्रतिज्ञमनुभवाभावात्, यथानुभव-
मनभ्युपगमात्, स्थिरस्यात्मनः सुखदुःखादिबुद्ध्यात्मकस्य प्रत्यक्षमनुभूयमानस्य^१ हर्षविषादादेर-
नुभवात् । भ्रान्तोयमनुभव^२ इति चेन्न, बाधकाभावात् । सर्वत्र सर्वदा भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशे-
षात् परोक्षज्ञानवादानुषङ्गः^३ सौगतस्य । कथञ्चिद्भ्रान्तावेकान्तहानेः^४ स्याद्वादानुप्रवेशः । न
केवलं निर्विकल्पकैर्धर्षणैः परोक्षज्ञानादविशेषः^५ । किं तर्हि ? तद्व्यवस्थाहेतौ विकल्पस्वसंवेद-
नेपि, विकल्पानतिवृत्तेः, सर्वथा विकल्पस्य^६ भ्रान्तत्वे बहिरिव^७ स्वरूपेपि भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वा-

है। अर्थात् द्रव्येन्द्रियादि रूप हेतु व्यभिचारी है क्योंकि वह हेतु ज्ञान के अभाव में भी देखा जाता है। ज्ञानोत्पत्ति के प्रति कारण रूप इन्द्रिय अथवा मन अवश्य ही अर्थपरिच्छिन्ति रूप कार्य वाले हैं यह बात सुघटित है।

[इन्द्रियादि का भी ज्ञान परोक्ष सिद्ध नहीं होता है ।]

अतएव प्रत्यक्ष, इतर बुद्धि का अवभास स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष विरुद्ध है और ज्ञान का परोक्षत्व अनुमान से विरुद्ध है। तथाहि सुख-दुःखादि ज्ञान को परोक्ष रूप स्वीकार कर लेने पर हर्ष-विषादादि भी नहीं हो सकेंगे। जैसे भिन्न आत्मा में सुख-दुःखादि के होने पर अन्य को हर्ष-विषादादि नहीं होते हैं।

[अनुभव के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्ष ही है, परोक्ष नहीं है ।]

इसी कथन से “प्रतिक्षण, निरंश, संवेदन प्रत्यक्ष है” इस मान्यता का भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि प्रतिज्ञा के अनुसार हर्षादि के अनुभव का अभाव है और स्थिर एवं सांश रूप से जैसा अनुभव आ रहा है वैसा आपने स्वीकार ही नहीं किया यह भिन्न हेतु है।

सुख-दुःखादि बुद्ध्यात्मक, स्थिरभूत, आत्मा के ही प्रत्यक्ष से अनुभूयमान हर्ष-विषादादि देखे जाते हैं।

सौगत—यह अनुभव ही भ्रान्त है।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि इस अनुभव में बाधा का अभाव है। अच्छा ! हम आपसे

१ यथा भवति । व्या० प्र० । २ आह सौगतो हर्षविषादादीनामनुभवो भ्रान्त इति चेत् स्या० वदत्येवं न कस्मात् हर्षादीनामनुभवे बाधकप्रमाणं नास्ति यतः—पुनराह स्याद्वादी हे सौगत तवानुभवनं सर्वथा भ्रान्तं कथञ्चिद्भ्रान्तं वेति प्रश्नः सर्वत्र सर्वदा भ्रान्तं चेत्तदा प्रत्यक्षत्वसमानात् प्रत्यक्षज्ञानवादिनः सौगतस्य परोक्षज्ञानवादे प्रवेशः स्यात् । यथानु-
भवनस्य कथञ्चिद् भ्रान्तो सत्यां स्याद्वादमतप्रवेशः कस्मादेकान्तस्य हानित्वात्—सौगताभ्युपगते निर्विकल्पकदर्शने परोक्षज्ञानेन कृत्वा समानता केवलं न तर्हि किमित्युक्त आह निर्विकल्पकदर्शनस्य स्थापनाया निमित्तभूते विकल्प-
स्वसंवेदनेपि परोक्षसमानता कुतः विकल्पानुलंघनात् । दि० प्र० । ३ विकल्पज्ञानस्य । व्या० प्र० । ४ सुखदुःखादि-
बुद्ध्यात्मकस्यात्मनः संबन्धिनः सुखदुःखादेरनुभवस्य । व्या० प्र० । ५ निर्विकल्पकस्याकिञ्चित्करत्वात् । व्या० प्र० ।
६ निश्चयस्य । व्या० प्र० । ७ नीले यथा । व्या० प्र० ।

विशेषादभ्रान्त¹ प्रत्यक्षमिति वचनात्, कथंचिद्भ्रान्तत्वेनेकान्तसिद्धेरनिवारणात्² । तस्मात्स्व-
संवेदनापेक्षया न किञ्चिज्ज्ञानं सर्वथा प्रमाणम् । बहिरर्थपेक्षया तु प्रमाणतदाभासव्यवस्था,
तत्संवादकविसंवादकत्वात् क्वचित्स्वरूपे केशमशकादिज्ञानवत् । नभसि केशादिज्ञानं हि बहि-
विसंवादकत्वात्प्रमाणाभास³ स्वरूपे⁴ संवादकत्वात्प्रमाणम् । न चैवं विरोधः प्रसज्यते, जीव-
स्यैकस्यावरणविगमविशेषात्⁵ सत्येतराभाससंवेदनपरिणामसिद्धेः⁶ कालिकादिविगमविशेषा-
त्कनकादिजात्येतरपरिणामवत् ।

प्रश्न करते हैं कि यह अनुभव सर्वथा भ्रान्त है या कथंचित् ? यदि सर्वथा भ्रान्त पक्ष मानोगे तब तो सर्वत्र बाह्य पदार्थ में एवं स्वस्वरूप में सभी जगह सर्वदा-स्वप्न अवस्था के समान जागृत अवस्था में भी भ्रान्ति ही हो जावेगी क्योंकि अप्रत्यक्षपना दोनों जगह समान है । पुनः आप सौगत भी परोक्षज्ञान-वादी हो जावेंगे ।

यदि आप कहें कि कथंचित्-अर्थ में ही यह अनुभव भ्रान्त है किन्तु स्वरूप में भ्रान्त नहीं है तब तो एकांत मान्यता की हानि होने से आपका स्याद्वाद में अनुप्रवेश हो जावेगा । क्योंकि केवल निर्विकल्प अर्थ दर्शन में परोक्षज्ञान से समानता नहीं है ।

शंका—तो और कहां है ?

समाधान—उसकी व्यवस्था में हेतु भूत उस विकल्प-स्वसंवेदन में भी परोक्षज्ञान से समानता है । क्योंकि वह भी विकल्पों का उल्लंघन नहीं कर सकता है । अर्थात् यह विकल्प सर्वथा भ्रान्त है या कथंचित् इत्यादि प्रश्न किये जा सकते हैं ।

सर्वथा यदि विकल्प को भ्रान्तरूप मान लोगे तब तो बाह्य पदार्थ के समान स्वरूप में भी भ्रान्त हो जाने से परोक्षत्व समान रूप से ही हो जाता है 'पुनः प्रत्यक्ष अभ्रान्त है' ऐसा वचन सिद्ध हो जाता है । यदि कथंचित् उस विकल्प को भ्रान्त मानते हो तब तो आप अनेकांत की सिद्धि का निवारण नहीं कर सकेंगे ।

इसलिये स्वसंवेदन रूप अंतःप्रमेय की अपेक्षा से कोई भी ज्ञान सर्वथा अप्रमाण नहीं है किन्तु बाह्यार्थ की अपेक्षा से प्रमाण एवं प्रमाणाभास की व्यवस्था है क्योंकि वह प्रमाण तो संवादक है, एवं प्रमाणाभास विसंवादक है । कहीं—स्वरूप में केशमशकादि ज्ञान के समान ।

आकाश में केशादि का ज्ञान है वह बाहर में विसंवादक होने से प्रमाणाभास है एवं स्वरूप में संवादक होने से प्रमाण है । इस प्रकार से एक में ही प्रमाण एवं प्रमाणाभास की व्यवस्था करने से हमारे यहाँ विरोध का भी प्रसंग नहीं आता है क्योंकि एक ही जीव के आवरण का विगम-क्षयोपश-मादि विशेष होने से सत्य एवं असत्य संवेदन परिणाम सिद्ध हैं । जैसे—किट्ट कालिमा आदि के अभाव विशेष से सुवर्णादि में उत्कृष्ट एवं अनुत्कृष्ट परिणाम विशेष देखे जाते हैं ।

1 विकल्पस्य भ्रान्तत्वेपि प्रत्यक्षत्वं भविष्यतीत्याशंकायामाह । व्या० प्र० । 2 अर्थे एव न स्वरूपे । व्या० प्र० । 3 अर्थ । दि० प्र० । 4 केशादी । दि० प्र० । 5 विगमेतरविशेषात् । इति पा० । दि० प्र० । 6 अवभासवतः । दि० प्र० ।

सारांश

अन्तरंगार्थ एवं बहिरंगार्थ के एकान्त का खंडन एवं स्याद्वाद सिद्धि

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध कहता है कि अंतरंगार्थ-विज्ञान मात्र ही एक तत्त्व है, किन्तु प्रतिभासित होने योग्य बहिरंग पदार्थ वास्तविक नहीं है। ज्ञान तो स्वतः क्षणिक है, अनन्यवेद्य है एवं नाना संतान रूप स्वतः सिद्ध है क्योंकि "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" ऐसा नियम देखा जाता है। उस ज्ञान में जो ग्राह्य-ग्राहकाकार हैं वे सभी भ्रान्त रूप हैं जैसे इन्द्रजालिया के खेल एवं स्वप्नज्ञान। तथैव नील और नीलज्ञान में अभेद है क्योंकि दोनों एक साथ उपलब्ध हो रहे हैं जैसे द्विचन्द्रदर्शन। इस प्रकार से विज्ञान रूप ही एक तत्त्व है अन्य कुछ नहीं है।

इस पर जैनाचार्य का कहना है कि—आपकी इस एकान्त मान्यता से तो हेतु एवं आगम से सिद्ध मोक्ष के लिये उपाय तत्त्व एवं अनुमान तथा आगम सभी मिथ्या ही हो जावेंगे। पुनः अनुमान और आगम प्रमाणाभास कहे जावेंगे एवं प्रमाण के बिना प्रमाणाभास की सिद्धि असंभव ही है अतः दोनों का ही अभाव हो जावेगा पुनः आप संवृति से भी किसे जानेंगे? ज्ञान को आपने निर्विकल्प माना है। वह अपने स्वरूप को जानने में विकल्पज्ञान की अपेक्षा रखेगा तब उसका स्वयं का अस्तित्व ही कैसे सिद्ध होगा? और "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" यह कथन भी कैसे शोभेगा? कारण कि ज्ञान को आपने व्यवसायात्मक माना ही नहीं है।

यदि आप ग्राह्य-ग्राहकाकार को भ्रान्त मानते हैं तब तो "ग्राह्य-ग्राहकाकार भ्रान्त हैं" इस अनुमान से तो भ्रान्तत्व को ग्राह्य बनाकर यह अनुमान स्वयं ही ग्राहक बन बैठा है अतः आपका कथन स्ववचन बाधित हो गया। अथवा यदि आप इस प्रकृत अनुमान को अभ्रान्त कहो तो आपका हेतु व्यभिचरित हो जावेगा। भ्रान्त मान लेने पर तो सभी विज्ञान तत्त्व अभ्रान्त हैं यह कथन भी सिद्ध नहीं होगा। यदि साध्य-साधन के ज्ञान मात्र को आप स्वीकार करेंगे तो सभी अंतर्बाह्य तत्त्व को विभ्रम रूप सिद्ध नहीं कर सकेंगे एवं नील पदार्थ और नील ज्ञान में सर्वथा एकत्व मानना शक्य नहीं है क्योंकि आपने भी नील पदार्थ और नील ज्ञान रूप विशेष्य में एकत्व विशेषण नहीं माना है अर्थात् आपके यहाँ ज्ञान को छोड़कर एकत्व कोई चीज ही नहीं है। इस प्रकार से केवल अद्वैत को स्वीकार करने से आपके यहाँ प्रतिज्ञा दोष एवं हेतु दोष आते हैं क्योंकि विज्ञान मात्र को मानने पर साध्य, साधन रूप द्वैत कैसे हो सकेगा?

अतएव "नील और नीलज्ञान में अभेद है" यह प्रतिज्ञा दूषित है तथा "सहोपलम्भात्" यह हेतु भी दूषित है। यदि आप "सहोपलम्भ" हेतु का अर्थ एक ज्ञान ग्राह्यत्वात् करें तो भी द्रव्य, पर्याय से और परमाणु से व्यभिचार दोष आता है क्योंकि जंनों के यहाँ द्रव्य और पर्याय एक मतिज्ञान के द्वारा ग्राह्य हैं फिर भी एक नहीं हैं एवं सौत्रांतिक बौद्ध के यहाँ रूपादि परमाणु एक चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य हैं फिर भी एक नहीं हैं। आपके यहाँ भी सभी ज्ञान परमाणु एक सुगत ज्ञान के द्वारा ग्राह्य हैं फिर भी एक नहीं हैं। अतएव नीलज्ञान से भिन्न नील पदार्थ पंच इन्द्रियों के द्वारा

ग्राह्य हैं अतः आपका तत्त्व एकरूप सिद्ध नहीं होता है। विज्ञान मात्र ही तत्त्व को मानने से पर को समझाने के लिये आपके वचनों का प्रयोग भी मिथ्या रूप ही है।

कोई बाह्य पदार्थवादी का कहना है कि—जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे सभी ज्ञान से संबंधित हैं क्योंकि विषयाकार ही ज्ञान होता है। जैसे अग्नि का प्रत्यक्ष एवं अनुमान ज्ञान एवं स्वप्न ज्ञान भी विषयाकार ज्ञान रूप है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि—यदि सभी पदार्थों को ज्ञान से संबंधित ही मानेंगे तो प्रमाण, प्रमाणाभास ही समाप्त हो जावेगा “तृणाग्रे हस्तियूथशतमास्ते” इत्यादि शब्दों का ज्ञान एवं स्वप्न ज्ञान अपने-अपने पदार्थ से संबंधित नहीं है क्योंकि ज्ञानों में विसंवाद देखा जाता है।

यदि आप कहें कि खरविषाण आदि शब्दों का ज्ञान एवं स्वप्न ज्ञान अलौकिक अर्थ को विषय करता है यह कथन भी आपका अलौकिक ही है अतएव एकांत से बाह्य पदार्थ ही होते हैं यह मान्यता भी गलत ही है। इन दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानने वाले उभयात्मकतत्त्ववादी का कथन भी विरुद्ध ही है। तत्त्व को अवाच्य मानना भी एकांत से अघटित है किन्तु स्याद्वादी के यहां सभी सुघटित है। सभी ज्ञानस्वरूप संवेदन की अपेक्षा से एवं सत्वप्रमेयत्वादि की अपेक्षा से प्रमाण रूप ही हैं अतएव अंतःप्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणाभास कुछ भी नहीं है। किन्तु बाह्य प्रमेय की अपेक्षा से अर्थात् बाह्य पदार्थों को प्रमेय करने से ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं अतः अंतस्तत्त्व एवं बहिस्तत्त्व दोनों ही सिद्ध हैं।

अप्रत्यक्ष ज्ञानवादी मीमांसक का खण्डन

मीमांसक कहता है कि ज्ञान तो स्वयं परोक्ष है। पदार्थ को जानने से अनुमित किया जाता है अतः अर्थज्ञान कर्म रूप है। अर्थ की प्रकटता ही उस परोक्षज्ञान में हेतु है, वह पदार्थ ही बाह्य देश से संबंधित होने से प्रत्यक्षरूप से अनुभव में आता है। कहा भी है “ज्ञातेत्वनुमानादवगच्छति बुद्धि” अर्थात् अनुमान से पदार्थ को जान लेने पर ज्ञाता ज्ञान को जानता है। इस पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि पहले आप मीमांसक यह तो बतायें कि वह अर्थ की प्रकटता पदार्थ का धर्म है या ज्ञान का? यदि पहला पक्ष लेवें तो अर्थ परिच्छेदक ज्ञान से भिन्न अर्थ की प्रकटता असिद्ध ही है वह हेतु नहीं बनेगी क्योंकि वह अस्वसंविदित है। आपके यहाँ तो ज्ञान एवं पदार्थ दोनों ही अव्यवसायात्मक एवं अस्वसंविदित हैं। यदि आप कहें कि ज्ञान तो अप्रत्यक्ष है उसके द्वारा किया गया अर्थ ज्ञान प्रत्यक्ष है यह कथन भी शक्य नहीं है। अन्यथा भिन्न पुरुष के ज्ञान से भी पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाने चाहिये।

इस प्रकार से आप मीमांसक ज्ञान को तो अस्वसंविदित मान रहे हैं तथा अर्थ की प्रकटता रूप अर्थ के स्वरूप को स्वसंविदित कह रहे हैं अतः आप विपरीत बुद्धि वाले ही हैं, मीमांसक होकर भी सत्य मीमांसा करना नहीं जानते हैं। अथवा यदि आप आत्मा को स्वसंविदित अर्थ को जानने वाला मानोगे तब तो उसी ज्ञान से अर्थ का ज्ञान हो जाने से पुनः द्वितीय करण रूप परोक्ष ज्ञान

की कल्पना से क्या प्रयोजन है ? [क्योंकि आप आत्मा के स्वसंवेदन में स्वतः आत्मा को ही करण मानते हैं पुनः पदार्थ के ज्ञान में क्या बाधा है ? तथा कर्ता से अभिन्न भी अविभक्त कर्तृक करण सिद्ध है जैसे अग्नि उष्णता से काष्ठ को जलाती है तथैव आत्मा ज्ञान के द्वारा स्व-पर को जानता है । यदि आप अर्थ की प्रकटता को ज्ञान का धर्म कहें तो भी जहाँ-जहाँ परोक्ष ज्ञान है वहाँ-वहाँ अर्थ की प्रकटता है इस व्याप्ति के न होने से परोक्ष ज्ञान के अभाव में भी पदार्थ का स्वरूप देखा जाता है ।

दूसरी बात यह है कि सुखः-दुःखादि ज्ञान को परोक्ष मान लेने पर हर्ष-विषादि भी नहीं हो सकेंगे । इस पर यदि बौद्ध कहे कि सुख-दुःख आदि अनुभव ज्ञान भ्रांत है तब तो उनसे यह प्रश्न किया जाता है कि यह अनुभव कथंचित् भ्रांत है या सर्वथा ? यदि सर्वथा भ्रांत मानों तब तो सर्वत्र बाह्य पदार्थ में एवं स्वस्वरूप में सर्वदा स्वप्नवत् जाग्रत अवस्था के अनुभव भी भ्रांत हो जावेंगे । यदि कथंचित् कहें तो अर्थ में ही यह अनुभव भ्रांत रहा स्वस्वरूप में नहीं तब तो आप स्याद्वाद में अनुप्रवेश कर जावेंगे ।

अतएव स्वसंवेदनरूप अंतःप्रमेय की अपेक्षा से कोई भी ज्ञान अप्रमाण नहीं है किन्तु बाह्यार्थ की अपेक्षा से प्रमाण एवं प्रमाणाभास की अवस्था होती है क्योंकि वह प्रमाण संवादक एवं प्रमाणाभास विसंवादक है ।



न च¹ जीवो नास्त्येवेति² शक्यं वक्तुं तद्ग्राहकप्रमाणस्य भावात् । तथा हि ।

जीवशब्दः सबाह्यार्थः³ संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्⁴ ।

मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च⁵ मायाद्यैः⁶ स्वैः प्रमोक्षितवत्⁷ ॥८४॥

स्वरूपव्यतिरिक्तितेन⁸ शरीरेन्द्रियादिकलापेन⁹ जीवशब्दोर्थवान् । अतो न कृतः प्रकृतः स्यादिति विक्लबोह्लापमात्रं, लोकरूढेः समाश्रयणात् । का पुनरियं लोकरूढिः ? यत्रायं¹⁰ व्यवहारो जीवो¹¹ गतस्तिष्ठतीति वा । न हि शरीरेयं व्यवहारो रूढस्तस्याचेतन-

उत्थानिका—जीव नहीं है इस प्रकार से कहना शक्य नहीं है क्योंकि उसके ग्राहक प्रमाण का सद्भाव है । इस बात को आचार्यवर्य इस कारिका द्वारा बताते हैं—

जीव शब्द निज बाह्य अर्थ से, युक्त नित्य चैतन्य पुरुष ।

चूँकि संज्ञा रूप कहा है जैसे हेतु शब्द सुलभ ॥

माया आदि शब्द हैं दिखते, भ्रान्त रूप फिर भी वे सब ।

ज्ञान शब्दवत् अपना-अपना, अर्थ प्रकट करते संतत ॥८४॥

कारिकार्थ—संज्ञा रूप होने से 'हेतु' इस शब्द की तरह जीव यह शब्द भी जीव लक्षण अपने बाह्य अर्थ से सहित है । जैसे प्रमाण वचन अपने अर्थ से युक्त हैं तथैव मायादि, भ्रान्ति शब्द अपने मायादि अर्थों से सहित हैं ॥८४॥

शंका—चार्वाक—अपने स्वरूप से व्यतिरिक्त शरीर इन्द्रिय आदि कलापों से जीव शब्द अर्थ वाला है । इसलिये प्रकृत में आया हुआ जीव अनादि निधन है यह बात निश्चित नहीं है ।

समाधान—जैन—यह कथन तो विक्लव-विह्वलता से बकवाद मात्र ही है क्योंकि जीव शब्द ने लोकरूढि का ही आश्रय लिया है ।

शंका—यह लोकरूढि क्या है ?

समाधान—जहाँ यह व्यवहार है कि जीव गया अथवा रहता है उसे लोकरूढि कहते हैं किन्तु शरीर में यह व्यवहार प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि वह अचेतन है आत्मा के भोग का अधिष्ठान—आश्रय होने से ही वह लोक में प्रसिद्ध रूढि है । इन्द्रियों में भी यह व्यवहार नहीं है क्योंकि वे इन्द्रिया उपभोग के साधन रूप से प्रसिद्ध हैं । शब्दादि रूप विषय में भी यह जीव गया अथवा रहता है यह व्यवहार नहीं है क्योंकि शब्दादि विषय भोग्य रूप से माने गये हैं ।

1 चार्वाकः । व्या० प्र० । 2 कुतः । दि० प्र० । 3 अर्थसहितः । दि० प्र० । 4 जीवेति नाम कथनात् । दि० प्र० । 5 इन्द्रजालादि । व्या० प्र० । 6 सहिताः । व्या० प्र० । 7 यथा प्रमाणशब्दः प्रत्यक्षादिनार्थवान् तथेदमपि मायादि । दि० प्र० । 8 विषयः । व्या० प्र० । 9 आह चार्वाकः जीवस्वभावरहितेन शरीरेन्द्रियतद्विषयादिकलापेन जीव इति शब्दः सार्थकोस्ति संज्ञात्वादिति प्रारब्धो हेतुः सत्यो न । इत्युक्ते स्याद्वाद्याह चार्वाकस्येति वचो वा भूतजल्पनमात्रं स्यात् कुतो लोकोक्तेरपेक्षणात् । दि० प्र० । 10 लोकरूढौ । अर्थे । दि० प्र० । 11 आत्मनः । दि० प्र० ।

त्वाद्भोगाधिष्ठानत्वेन¹ रूढेः । नापीन्द्रियेषु, तेषामुपभोगसाधनत्वेन³ प्रसिद्धेः । न शब्दा-
दिविषये⁴ ; तस्य⁵ भोग्यत्वेन⁶ व्यवहारात् । किं तर्हि ? भोक्तव्येवात्मनि जीव इति रूढिः ।
⁷शरीरादिकार्यस्य⁸ चैतन्यस्य भोक्तृत्वमयुक्तं भोगक्रियावत्⁹ ।

[चार्वाकौ शरीरमेव भोक्तारमात्मानं मन्यते, किन्तु जैनाचार्यास्तस्य निराकरणं कुर्वन्ति ।]

ननु सुखदुःखाद्यनुभवनं भोगक्रिया । सा ह्यत्रान्वयिनि गर्भादिमरणपर्यन्ते चैतन्ये
¹⁰सर्वचेतनाविशेषव्यापिनि¹¹ भोक्तृत्व¹², शरीरादिविलक्षणत्वात्तस्येति¹³ ¹⁴चेतदेवात्मद्रव्यमस्तु,

शंका—तो किसमें जीव शब्द का व्यवहार है ?

समाधान—भोक्ता आत्मा में ही “जीव” इस प्रकार का शब्द रूढ—प्रसिद्ध है । शरीरादि
कार्य रूप चैतन्य को भोक्ता मानना अयुक्त है । जैसे भोग लक्षण क्रिया चैतन्य में घटित नहीं होती
है । अचैतन्य-शरीर कृत कार्य होने से वह अचेतन ही है ।

[चार्वाक शरीर को ही भोक्ता आत्मा मानता है, किन्तु जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।]

शंका—सुख-दुःखादि का अनुभव करना ही भोग क्रिया है । वह क्रिया, अन्वयी गर्भ से
लेकर मरण पर्यन्त, सर्व चेतना विशेष में व्यापी ऐसे चैतन्य में भोक्तृत्व रूप है क्योंकि वह शरीरादि
से विलक्षण है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो आप उसे ही आत्मद्रव्य मान लीजिये क्योंकि जन्म से पहले
एवं मरण के बाद भी अगली पर्याय में उसका सद्भाव देखा जाता है अन्यथा पृथ्वी आदि के समुदाय
रूप शरीर, इंद्रिय एवं विषयों से वह विलक्षण नहीं हो सकेगा और वह पृथ्वी आदि का कार्य पृथ्वी
आदि से अत्यन्त विलक्षण आदि नहीं हो सकता है क्योंकि उन पृथ्वी आदि कार्यों का रूपादि से
समन्वय देखा जाता है ।

चार्वाक—चैतन्य भी सत्त्वादि से समन्वित होने से भूत चतुष्टयों से अत्यन्त विलक्षण नहीं
है । अर्थात् चैतन्य भी सत् है एवं भूत चतुष्टय भी सत् है अतः सत् रूप से दोनों जगह समन्वय है ।

- 1 शरीरस्य । दि० प्र० । 2 इन्द्रियाणाम् । दि० प्र० । 3 रसमन्धादि । व्या० प्र० । 4 आत्मनः । व्या० प्र० ।
5 विषयस्य । दि० प्र० । 6 एव । दि० प्र० । 7 इष्टमेवैतत् शरीरादिकार्यस्य चैतन्यस्य भोक्तृत्वोपनमादित्या-
शंकायामाहुः शरीरादीति । दि० प्र० । 8 चार्वाकः । दि० प्र० । 9 भोगलक्षणा क्रिया चैतन्यस्य न घटते अचैतन्यकृत-
कार्यत्वेनाचेतनत्वात् = पृथिव्यादिकार्यभूता या चेतना तस्याः सकाशादेवोत्पद्यते या सर्वा चेतना तद्विशेषव्यापिनि ।
दि० प्र० । 10 पृथिव्यादीकार्यभूता या चेतना तस्याः सकाशादेवोत्पद्यते या सर्वा चेतना तद्विशेषव्यापिनि । व्या० प्र० ।
11 घटादिज्ञानम् । व्या० प्र० । 12 च । व्या० प्र० । 13 विलक्षणं वा तस्य चैतन्यस्येति । इति पा० । दि० प्र० ।
14 चैतन्यम् । दि० प्र० ।

जन्मनः पूर्वं मरणादूर्ध्वमपि तस्य^१ सद्भावोपपत्तेरन्यथा^२ ^३पृथिव्यादिसमुदयशरीरेन्द्रिय-
विषयेभ्यो^४ वैलक्षण्यासंभवात्^५ । न तत्कार्यं, ततोत्यन्तविलक्षणमस्ति, रूपादिसमन्वयात्^६
चैतन्यस्यापि सत्त्वादिसमन्वयान्नात्यन्तविलक्षणत्वमिति चेन्न, तत्त्वभेदेपि^७ तस्य भावात्^८ ।
^९पृथिव्यादितत्त्वभेदानामेकविकारित्वसमन्वयाभावाद्भेद^{१०} एव, केषांचित् प्रागभावादिभेदवदिति
चेत् किमिदानीं चैतन्यभूतयोरेकविकारिसमन्वयौस्ति ? येन तत्त्वान्तरत्वेन भेदो न स्यात् ।
तस्मादेकविकारिसमन्वयासत्त्वं^{११} वैलक्षण्यम् । तदेव च तत्त्वान्तरत्वमित्यनाद्यनन्ततां चैतन्यस्य
साधयति । तादृशचैतन्यविशिष्टे काये जीवव्यवहारश्चैतन्यकाययोरभेदोपचारादेव । क्षणिके^{१२}

जैन—ऐसा नहीं है क्योंकि तत्त्व के भेद में भी तो वह सत्त्वादि का समन्वय विद्यमान है । अर्थात् आपके माने गये पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत हैं वे भी सत् रूप से समन्वित होने से एक हो जावेंगे ।

चार्वाक—पृथ्वी आदि चार तत्त्वों में एक विकारी रूप समन्वय का अभाव है इसलिये ये पृथ्वी आदि सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं । जैसे कि नैयायिक के यहां प्रागभावादि परस्पर में अभाव रूप एक विकारी समन्वय रूप नहीं हैं अतः चारों भिन्न-भिन्न ही हैं ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो क्या चैतन्य एवं भूत चतुष्टय में एक विकारी समन्वय है ? कि जिससे उन पृथ्वी आदिकों से यह आत्मा भिन्न तत्त्व रूप से भिन्न न हो सके । अर्थात् आत्मा में पृथ्वी आदि से भेद ही है । इसलिये इन दोनों में एक विकारी समन्वय का अभाव होने से चार भूतों से आत्मा विलक्षण ही है और वह विलक्षणता ही तत्त्वान्तर रूप है जो कि चैतन्य को अनादि एवं अनन्त रूप सिद्ध कर देती है ।

१ आत्मद्रव्यस्य । दि० प्र० । २ असद्भावे । दि० प्र० । ३ ननु च पृथिव्यादिकार्यमपि चैतन्यं पृथिव्यादेरत्यन्तविलक्षणं भविष्यतीत्याशंकायामाह । दि० प्र० । ४ स्या० वदति भूतचतुष्टयजनितशरीरेन्द्रियविषयेभ्यो यदि चैतन्यं ज्ञायते तदा तत्कार्यमिन्युच्यते तत्कार्यं चैतन्यं ततः शरीरादितो विलक्षणं नास्ति । दि० प्र० । ५ कुतः । दि० प्र० । ६ आह चार्वाकः रूपादिसमुदायाच्चैतन्यमत्यन्तविलक्षणं न कस्मात् प्रसन्नकोपनादिदर्शनाच्चैतन्यविषये = स्या० वदत्येवं न कस्मात्पृथिव्यादितत्त्वभेदैरपि तस्य रूपादि समन्वयस्याभावात् कोर्धः पृथिव्यामप्सु तेजसि वायौ रूपरसगन्धस्पर्शाः समुदिता न दृश्यन्ते विक्षिप्ता दृश्यन्त इत्यर्थः पुनराह चार्वाकः केषाञ्चन पृथिव्यादिभूतानां भेद एवास्तु । कस्मात् । एक-सदृशकारणसमुदायाभावात्प्रागभावादेः सकाशात्कार्यस्य भेद एव कुशूलाद् घटस्येव चार्वाको वदति भूतानामन्योन्यं भेदे कास्माकं हानिरिति चेत् । दि० प्र० । ७ पृथिव्यादितत्त्वानां भेदेपि । व्या० प्र० । ८ तस्याभावात् । इति पा० । दि० प्र० । ९ पृथिव्यादिवस्तु भेदानाम् । इति पा० । दि० प्र० । १० विकारिसमन्वयात् । इति पा० । दि० प्र० । ११ स्या० वदति तर्हि चैतन्यभूतचतुष्टययोः एकसदृशकारणमस्ति किमपितु नास्ति येन केन तत्त्वान्तरत्वेन भेदो नास्त्यपि त्वास्तिकोर्धश्चैतन्यमन्यत् भूतमन्यत् = यस्मादेवं तस्मादेकसदृशकारणाभावश्चैतन्यभूतयोर्भिन्नलक्षणत्वं साधयति तदेव वैलक्षण्यं तत्त्वान्तरत्वं साधयति तत्त्वान्तरत्वं चैतन्यस्यानाद्यनन्ततां साधयत्यनाद्यनन्तचैतन्यविशिष्टे काये जीव इति व्यवहारो घटते चैतन्यकाययोरुपचारेणाभेदघटनात् । दि० प्र० । १२ सौम्य प्राह । व्या० प्र० ।

चित्तसंताने¹ जीवव्यवहार इत्यसारं तस्य² निराकृतत्वात् । ततः कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणनोप-
योगस्वभावेन जीवेन जीवशब्दः सबाह्यार्थ इति साध्यनिर्देशे सिद्धसाधनाभावः³ ।

[कश्चिद्वक्त्रे 'संज्ञात्वात्' हेतु विरुद्धस्तस्य समाधानं कुर्वति जैनाचार्याः ।]

संज्ञात्वादिति हेतुविरुद्धः सबाह्यार्थत्वविरुद्धाभिप्रेतमात्रसूचकत्वेन तस्य व्याप्तत्वादिति
चेन्न, संज्ञाया वक्राभिप्रायमात्रसूचकत्वस्य प्रमाणबाधितत्वात् । तथा हि । नात्र संज्ञाभिप्रेत-
मात्रं सूचयति, ततोर्थक्रियायां नियमायोगात् तदाभासवत् । न च तदयोगः संज्ञायाः,
तयार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्यार्थक्रियानियमस्य दर्शनात्करणप्रतिपत्तिवत्, करणप्रति-
पत्तीनां तदभावेऽनादरणीयत्वात्⁴ । ततः संज्ञात्वं जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वं साधयति हेतु-

उस प्रकार के अनादि अनन्त चैतन्य से विशिष्ट काय में जो 'जीव' शब्द का व्यवहार है
वह चैतन्य एवं कार्य में अभेद के उपचार से ही है ।

बौद्ध—क्षणिक रूप चित्त संतान में जीव शब्द का व्यवहार है ।

जैन—आपका यह कथन भी असार है "अन्येऽन्यशब्दोऽयं" इत्यादि कारिका में इसका
निराकरण कर दिया है इसलिये कर्तृत्व, भोक्तृत्व लक्षण एवं ज्ञान दर्शन रूप उपयोग स्वभाव
वाले जीव से "जीव शब्द" बाह्यार्थ सहित है इस प्रकार साध्य के निर्देश में सिद्ध-साधन दोष भी
नहीं आता है ।

[बौद्ध कहता है कि 'संज्ञात्वात्' हेतु विरुद्ध है, जैनाचार्य उसका समाधान करते हैं ।]

सौगत—"संज्ञात्वात्" यह हेतु विरुद्ध है क्योंकि बाह्यार्थ से सहित विरुद्ध अभिप्राय मात्र को
सूचित करने वाले मायादि शब्दों से व्याप्त है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि हेतु रूप संज्ञा केवल वक्ता के अभिप्रायमात्र साध्य की सूचक
है यह कथन प्रमाण से बाधित है । तथाहि यहाँ संज्ञा-नाम अभिप्रेत मात्र को (अभिप्राय मात्र को)
सूचित नहीं करता है क्योंकि अभिप्राय मात्र के सूचक नाम से अर्थ क्रिया का नियम नहीं बन सकता
है । जैसे मरीचिका में जल संज्ञा तदाभास रूप है एवं उस संज्ञा में उस नियम का अभाव भी नहीं
है । उस संज्ञा के द्वारा अर्थ को जान करके प्रवर्तमान हुये पुरुष के अर्थक्रिया का नियम देखा जाता
है । जैसे इन्द्रिय सम्बन्धी करण ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है ।

1 अत्रान्तरे छलमाही सौगतो वदति भूतजनितचैतन्यविशिष्टे जीवव्यवहारो भास्तु तर्हि क्षणिकवर्तिचित्तसन्ताने जीव
इति व्यवहारोऽस्ति । स्या० वदति हे सौगत इति ते वचो निरर्थम् । दि० प्र० । 2 अनादिनिघ्नो जीवः सिद्धो यतः ।
दि० प्र० । 3 चार्वाकं प्रति सिद्धसाधनं नास्ति । ज्य० प्र० । 4 इन्द्रियज्ञानानि तस्यार्थक्रिया नियमस्याभावे सति
अनादरणीयानि भवन्ति यतः = यत एवं ततः संज्ञात्वादिति हेतुः जीवशब्दस्य सार्थत्वं साधयति हेतुशब्दवत् = अन्यथा
हेतुशब्दस्य सबाह्यार्थत्वानङ्गीकारे सत्साधनासत्साधनयोर्विशेषो न संभवति = कुतस्तयोरविशेषोबाह्यार्थत्वेन वक्तु-
रभिप्रायमात्रप्रतिपादकत्वात् । दि० प्र० ।

शब्दवत् । सर्वेण हि हेतुवादिना हेतुशब्दः सबाह्यार्थोभ्युपगम्यते, साधनतदाभासयोरन्यथा विशेषासंभवात्, वक्राभिप्रायमात्रसूचकत्वादबाह्यार्थत्वाविशेषात्^१ । तद्विशेषमिच्छता^२ परम्परयापि परमार्थैकतानत्वं वाचः प्रतिपत्तव्यम् । क्वचिद्व्यभिचारदर्शनादनाश्वासे^३ चक्षुरादिबुद्धेरपि^४ कथमाश्वासः ? तदाभासोपलब्धेस्तत्राप्यनाश्वासे कुतो धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्तिः ? कार्यकारणभावस्य व्यभिचारदर्शनात् । न चेदमसिद्धं काष्ठादिजन्मनोग्नेरिव^५ मणिप्रभृतेरपि भावात् । सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति, तद्विशेषपरीक्षायां^६ सुविवेचितः शब्दोर्थं न व्यभिचरतीति^७ प्रसिद्धेरितरत्रापि तद्विशेषपरीक्षास्तु, विशेषाभावात् ।^८ क्वतुरभिसन्धिवैचि-

करण ज्ञान में अर्थक्रिया के नियम का अभाव मानने पर वह करण ज्ञान अनादरणीय-अकिञ्चित्कर ही है । इस प्रकार से यह “संज्ञात्वात्” हेतु विरुद्ध नहीं है । यह जीव शब्द को बाह्यार्थ सहित ही सिद्ध करता है । जैसे हेतु शब्द अपने वाच्य अर्थ को सिद्ध करता है क्योंकि सभी हेतुवादी ‘हेतु’ शब्द को बाह्यार्थ-धूमादि लक्षण सहित ही स्वीकार करते हैं । अन्यथा हेतु एवं हेत्वाभास में कोई अन्तर ही नहीं हो सकेगा क्योंकि वक्ता के अभिप्रायमात्र का सूचक होने से दोनों में ही बाह्यार्थ से रहित-शून्यता समान ही हो जाती है किन्तु ऐसा तो है नहीं ।

आप सौगत यदि इन दोनों में भेद स्वीकार करते हैं तब तो परम्परा से भी वचनों को परमार्थ के विषय करने वाले स्वीकार करना चाहिये । अर्थात् अर्थ के अनुभवपूर्वक वासना होती है एवं वासनापूर्वक शब्द होते हैं इस प्रकार से परम्परा से भी वचनों के सत्य अर्थ को विषय करने वाले स्वीकार करना चाहिये । कहीं पर मृग-मरीचिकादि में जलादि लक्षण शब्दों का व्यभिचार देखने से उसमें विश्वास न होने पर चक्षु आदि ज्ञान में भी विश्वास कैसे किया जायेगा ?

शुक्लिका में रजतज्ञान रूप तदाभास की उपलब्धि होने से सत्य में भी अविश्वास करने पर धूमादि से अग्नि आदि का ज्ञान भी कैसे हो सकेगा ? क्योंकि कायकारण भाव में व्यभिचार देखा जाता है यह बात असिद्ध भी नहीं है । जैसे काष्ठादि से अग्नि उत्पन्न होती है वैसे ही सूर्यकांतमणि आदि से भी अग्नि उत्पन्न होती हुई देखा जाती है ।

सौगत—सुविवेचित-सुनिश्चित कार्यकारण को व्यभिचरित नहीं करता है क्योंकि कार्यकारण की विशेष परीक्षा होने पर सुविवेचित शब्द अर्थ को व्यभिचरित नहीं करता है यह बात प्रसिद्ध है ।

१ ततश्च । व्या० प्र० । २ तयोःसत्साधनासत्साधनयोर्विशेष वाञ्छता सौगतेन साक्षात् परम्परयापि शब्दस्य सत्यत्वं ज्ञेयम् । दि० प्र० । ३ वाचि । दि० प्र० । ४ चक्षुरादीनां संबन्धिनीया बुद्धिरर्थे । दि० प्र० । ५ धूमोत्पात्तर्यथा । व्या० प्र० । ६ अग्निलक्षणकार्यम् । व्या० प्र० । ७ का । दि० प्र० । ८ ता । व्या० प्र० ।

त्र्यादभिधानव्यभिचारोपलम्भे¹, तदितराध्यक्षानुमानकारणसामग्रीशक्तिर्वचित्र्यं² पश्यतां कथ-
माश्वासः स्यात् ? तस्मादयमक्षलिङ्गसंज्ञादोषाविशेषेपि³ क्वचित्प्रत्यक्षेणुमाने च परितुष्यन्त-
न्यतमप्रद्वेषेणेश्वरायते, परीक्षाक्लेशलेशासहनात्⁴ ।

ननु चाभावोपादानत्वात्तदन्यतमायां संज्ञायां प्रद्वेषेण परीक्षक एव, न पुनरीश्वरायते,
तस्य परीक्षाऽक्षमत्वादिति चेन्न, तस्याः सर्वथा भावोपादानत्वाभावेऽभावोपादानत्वासिद्धेः ।
सर्वत्र⁵ भावोपादानसंभवे हि समाख्यानमितरोपादानप्रकृतिः । एतेनैतदपि प्रत्युक्तं यदुक्तं
सौगतेन ।

जैन—तब तो इतर शब्द में भी उन शब्दों की विशेष परीक्षा मानी जावे, क्योंकि कार्य
एवं शब्द में कोई अन्तर नहीं है । रागादिमान् वक्ता के अभिप्राय की विचित्रता से शब्दों में व्यभिचार
के हो जाने पर उस शब्द सामग्री से इतर-भिन्न प्रत्यक्ष एवं अनुमान के कारण सामग्री की शक्ति
विचित्रता को देखते हुये—मानते हुये आप बौद्धों के यहाँ प्रत्यक्ष एवं अनुमान में कैसे विश्वास हो
सकेगा ? इसलिये आप सौगत अक्षलिङ्ग और संज्ञा में अपने अर्थ के व्यभिचार लक्षण दोष के समान
होने पर भी किसी निबिकल्प प्रत्यक्ष एवं अनुमान में संतुष्ट होते हुये किसी एक में प्रद्वेष करने से
ईश्वर के समान आचरण कर रहे हैं क्योंकि परीक्षा के क्लेश के लेश को सहन करने में आप
समर्थ नहीं हैं ।

बौद्ध—अन्यापोह रूप उपादान—आश्रय जिसका है ऐसे अभाव रूप उपादान के होने से अक्ष,
लिंग, संज्ञा में से किसी एक संज्ञा में प्रद्वेष करने से हम लोग परीक्षक ही हैं, किन्तु ईश्वर के समान
नहीं हैं क्योंकि ईश्वर तो परीक्षा को सहन करने में असमर्थ ही है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । सर्वथा—स्वरूप एवं पर रूप दोनों के द्वारा भी यदि संज्ञा (नाम)
भाव रूप उपादान वाली नहीं है तब तो वह अभाव रूप उपादान वाली भी नहीं हो सकती है
क्योंकि सर्वत्र भावरूप उपादान के होने पर ही वे नाम अभावोपादान वाले भी हो सकते हैं । अर्थात्
घट लक्षण संज्ञा के द्वारा घट लक्षण पदार्थ का आश्रय संभव होने पर ही पर रूप से पटादि रूप से
अभाव संभव है स्वद्रव्य की अपेक्षा से भाव रूप उपादान होने पर ही पर द्रव्य की अपेक्षा से अभाव
उपादान घटित हो सकता है अन्यथा नहीं । संकल्पित मोदकों से क्षुधा की निवृत्ति या तृप्ति नहीं होती
है किन्तु वह तो वास्तविक बाह्यार्थ से प्रसिद्ध मोदकों से ही होती है ।

इसी कथन से सौगत द्वारा कथित श्लोक के अभिप्राय का भी निरसन कर दिया है ।

1 ता । व्या० प्र० । 2 इन्द्रियलिङ्ग । व्या० प्र० । 3 यस्मादेवं तस्मादयं सीमतः प्रत्यक्षानुमानशब्दानां पुरुषावरण-
लक्षणदोषेण कृत्वा विशेषाभावेपि कस्मिंश्चित्प्रत्यक्षज्ञानेऽनुमाने च निश्चिन्दन् शब्दस्य प्रद्वेषेण समर्थो भवन्ति कुतः
परीक्षादुःखलेशमात्रमपि न सहते यतः । दि० प्र० । 4 परीक्षायामक्षमत्वात् । दि० प्र० । 5 शब्दे संज्ञानाम् । दि० प्र० ।

‘अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः¹ । शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो² भावाभावाभयाश्रितः³’

इति, तत्त्वतो⁴ भावाश्रयत्वाभावे वासनोद्भूतभावाश्रयत्वानुपपत्तेः⁵ सर्वत्रानुभव-पूर्वकत्वाद्वासनायाः⁶ परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात्⁷ ।⁸ पूर्वपूर्ववासनात् एवोत्तरोत्तरवासनायाः समुद्भवाद्नादित्वादवस्त्वाश्रयत्वमेवेति⁹ चेन्न, शब्दवासनाया¹⁰ अप्यनादित्वे¹¹ परार्थानुमान-शब्दवासनायाः¹² साधनस्वलक्षणदर्शननिमित्तकत्वविरोधात्¹³ ।¹⁴ त्रिरूपहेतुवचनस्य परम्परया धूमादिवद्वस्त्वाश्रयत्वे हेतुशब्दवज्जीवशब्दस्य भावाश्रयत्वं युक्तम् । भावश्चात्र हर्षविषादाद्यने-

श्लोकार्थ—अनादिकालीन वासना से उत्पन्न हुये विकल्प से परिकल्पित रूप ही शब्दार्थ है । उस शब्दार्थ के धर्म तीन प्रकार के हैं भावाश्रित, अभावाश्रित एवं उभयाश्रित अर्थात् घट लक्षण शब्द में घट लक्षण अर्थ का आश्रय है पर रूप पटादि से अभाव संभव है एवं भावाभाव रूप उभयाश्रित है ॥१॥ यह कथन ठीक नहीं है यदि आप बौद्ध वास्तव में शब्द में भावाश्रय का अभाव मानोगे तब तो वासना से उत्पन्न हुये भी भाव का आश्रय बन नहीं सकता है । क्योंकि वासना तो सर्वत्र अनुभवपूर्वक ही होती है । एवं अनुभव परंपरा से अर्थ से प्रतिबन्ध (अविनाभाव) रूप है ।

बौद्ध—पूर्व-पूर्व की वासना से ही उत्तर-उत्तर वासना उत्पन्न होती है वह वासना अनादि है इसलिये वह अवस्तु-अभाव का ही आश्रय लेती है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । “इस अर्थ का वाचक यह शब्द है ।” इस शब्द वासना को भी यदि आप अनादि मान लेंगे तब तो परार्थानुमान रूप शब्द वासना साधन एवं स्वलक्षण दर्शन में निमित्त नहीं हो सकेगी क्योंकि वह वासना अनादि होने से अवस्तु का आश्रय लेने वाली है ।

यदि आप तीन रूप वाले हेतु शब्द को परंपरा से धूमादिवत् वस्तु का आश्रय लेने वाला मानते हो तब तो हेतु शब्द के समान जीव शब्द को भावाश्रित मानना युक्त ही है । और इस लोक

1 परिकल्पितः । व्या० प्र० । 2 अभावात्स्वरविषाणरूपाव्यावृत्त्याघटस्य भावरूपत्वं भावान्तरव्यावृत्त्या घटस्थाभावरूपत्वमुभयव्यावृत्त्यानुभयरूपत्वम् । दि० प्र० । 3 सन् । दि० प्र० । 4 वास्तवार्थस्यानुपपद्यमानत्वादेवानादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितार्थः परिकल्प्यते सौगतेन तन्निरस्तमेव प्रत्यक्षादिवच्छब्दस्यापि वास्तवार्थस्य समर्थितत्वात्तथापि प्रकारान्तरेण दूषयन्ति तस्वत इति । दि० प्र० । 5 अर्थे । व्या० प्र० । 6 संस्कार । व्या० प्र० । 7 संबन्धात् । व्या० प्र० । 8 आह सौगतः पूर्वपूर्ववासनात् उत्तरोत्तरवासना जायमाने ततस्तस्माननादित्वं ततोवस्थाश्रयत्वमिति चेन्न । दि० प्र० । 9 वासनायाः । व्या० प्र० । 10 शब्दवासनाप्यनादिश्चेत्ता शिष्यादिप्रतिबोधनार्थं सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । इत्याद्यनुमानशब्दवासनायाः साधनत्वं क्षणक्षयरूपवस्तुदर्शननिमित्तं स्यादिति विरुद्धघते । दि० प्र० । 11 न केवलमर्थवासनायाः । दि० प्र० । 12 रूप । व्या० प्र० । 13 पक्षे धर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तमिति सौगताभ्युपगतधूमादिहेतुशब्दवत् पारम्पर्येण वस्त्वाश्रयत्वे सति । यथा हेतुशब्दस्य तथा जीवशब्दस्य स्वाश्रयत्वं युक्तमेव = भावः क इत्युक्त आह अत्र जीवशब्दस्य स्वार्थत्वव्यवस्थापन्नानुमाने हर्षाद्यनेकरूपपर्यायः । आत्मानमात्मानं प्रतिवेद्यः प्रतिशरीरं कथञ्चिद्भिन्नो त्यागयोग्यो भाव आत्मानं जीवं निराकुर्वन्तं सौगतादिकं प्रति बोधयतीति पूर्यतां प्रयासेन । दि० प्र० । 14 अनेकाकाराश्च ते विवत्तश्चि हर्षविषादादयः अनेकाकारविवत्तस्य । दि० प्र० ।

काकारविवर्तः¹, प्रत्यात्म वेदनीयः प्रतिशरीरं² भेदात्मको³ प्रत्याख्यानाहः⁴ प्रतिक्षिपन्त-
मात्मानं⁵ प्रतिबोधयतीति⁶ कृतं प्रयासेन । तदनेन⁷ हेतोः⁸ कालात्ययापदिष्टत्वं प्रतिक्षिप्तं,
पक्षस्य प्रत्यक्षादिभिरबाधितत्वात् । तत्र निरतिशयस्यास्वसंविदितस्य⁹ सर्वशरीरेष्वभिन्नस्यैकस्य
प्रतिक्षणं¹⁰ भिन्नस्य चात्मनः प्रतिभासाभावात्तस्य प्रत्याख्यानाहत्वसाधनान्न तेन जीवशब्दः
सबाह्यार्थः ।

में हर्ष-विषादादि अनेकाकार पर्यायों ही भाव हैं जिसका कि प्रत्येक आत्मा अनुभव करता है । वह भाव शरीर-शरीर के प्रति भेद करने वाला है । त्याग या खण्डन करने के लिये अयोग्य है । तथा भावों का या अपनी आत्मा का ही खण्डन करने वाले वादी को प्रतिबोधित कर रहा है इसलिये इस विषय में अधिक प्रयास से बस हो ।

इस कथन से “हेतु कालात्ययपदिष्ट दोष से दूषित है” इसका भी निरसन कर दिया है क्योंकि हमारा पक्ष प्रत्यक्षादि से अबाधित है ।

[सांख्यदि के द्वारा परिकल्पित निरतिशय स्वभाव वाला एवं बौद्धाभिमत प्रतिक्षण भिन्न स्वभाव वाला जीव शब्द बाह्यार्थ कर सञ्चित हो सकता है ऐसी शंका करने पर आचार्य कहते हैं ।]

निरतिशय, अस्वसंविदित, सभी शरीरों में अभिन्न एक एव प्रतिक्षण भिन्न रूप आत्मा का प्रतिभास नहीं होता है क्योंकि ऐसी आत्मा निराकरण करने योग्य है ऐसा सिद्ध किया गया है इसलिये इन पर परिकल्पित जीव शब्दसे जीव शब्द बाह्यार्थ वाला नहीं है । अर्थात् सांख्य जीव को निरतिशय, नित्य कूटस्थ अपरिणामी मानते हैं । यौग अस्वसंविदित कहते हैं, ब्रह्मवादी कहते हैं कि जीवात्मा सभी शरीरों में अभिन्न एक है । तथा बौद्ध आत्मा को प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न ही मानता है इस सबके द्वारा माना गया जीव शब्द वस्तुतः बाह्यार्थ सहित नहीं है क्योंकि इन सबकी मान्यना केवल कपोल कल्पित असत्य ही है ।

1 भेदाभेदात्मकम् । इति पा० । व्या० प्र० । शक्यपेक्षयाभेदः आत्मापेक्षयाऽभेदः । व्या० प्र० । 2 इत्यनेन व्यापकत्व योगपरिकल्पितं निराकृतम् । व्या० प्र० । 3 अनिराकरणाहः । व्या० प्र० । 4 जीवम् । व्या० प्र० । 5 यथेयं विकल्पिका बुद्धिर्युगपदनेकाकारात्तथाह भावो जीवलक्षणः क्रमेणानेकाकार इति प्रति बोधयत्येव निराकुर्वन्तं वादिनम् । व्या० प्र० । 6 भाष्येण । व्या० प्र० । 7 संज्ञात्वादित्यस्य । व्या० प्र० । 8 प्रत्यक्षादिषु । दि० प्र० । 9 प्रतिशरीर-सभेदात्मकत्वविपरीतस्य सौगताभ्युपगतस्य । दि० प्र० । 10 अत्राह परः मायादिसंज्ञाभिभ्रान्तिसंज्ञाभिः स्वकीयार्थ-रहिताभिः संज्ञात्वादिति साधनं व्यभिचारे भवतीति चेत् । स्या० व० एवं न कस्मात् । मायादिभ्रान्ति संज्ञाभिः मायार्थः स्वकीयैरर्थसहितता एवेति घटनात् यथा प्रमाणवचनं स्वकीयार्थसहितं कथमित्युक्ते स्याद्वासानुमानं रचयति माया-दिसंज्ञाः पक्षः स्वार्थरहिता न भवन्तीति साध्यो धर्मः विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वात् यथा प्रमाणसंज्ञा = भ्रान्तिसंज्ञाबाह्यार्थ-भवन्ति चेत्तदा ताभ्यः संज्ञाभ्यः भ्रान्तिपरिज्ञानस्याघटनात् । भ्रान्तिपरिज्ञानाभावे भ्रान्तिसंज्ञानां प्रमाणत्वप्रतिपत्तिर-याति । दि० प्र० ।

[मायादिभ्रान्तशब्दः सत्योऽर्थो न कथ्यते अतः जीवशब्दोपि बाह्यार्थो न भवतीति बौद्धेनोच्यमाने जैनाचार्याः समादधते ।]

ननु च^१ मायादिभ्रान्तिसंज्ञाभिरबाह्यार्थाभिरनैकान्तिकं संज्ञात्वमिति चेन्न, तासामपि मायाद्यैः स्वैरर्थैः सबाह्यार्थत्वात् प्रमाणवचनवत् । न हि मायादिसमाख्याः स्वार्थरहिता विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वात् प्रमाणसमाख्यावत् ।^२ भ्रान्तिसमाख्यानामबाह्यार्थत्वे ततो^३ भ्रान्तिप्रतिपत्तेरयोगात् प्रमाणत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गान्न^४ विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वमसिद्धम् । प्रमाणशब्दस्य

[मायादि भ्रान्त शब्दों से सत्य अर्थ नहीं कहा जाता है अतः जीव शब्द भी बाह्यार्थ सहित नहीं है ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ।]

बौद्ध—बाह्यार्थ से शून्य—इन्द्र जालादि रूप माया आदि भ्रान्ति संज्ञाओं के द्वारा आपका “संज्ञात्वात्” हेतु अनैकान्तिक हो जाता है ।

जैन—नहीं । वे मायादि भ्रान्ति रूप शब्द भी अपने-अपने मायादि अर्थों से सहित होने से बाह्यार्थ सहित हैं । जैसे प्रमाण शब्द प्रमाण लक्षण-ज्ञान लक्षण बाह्यार्थ से सहित है ।

माया आदि शब्द अपने अर्थ से रहित नहीं है क्योंकि वे भ्रान्ति विषयक, विशिष्ट असाधारण रूप अपने ज्ञान को कराने में हेतु हैं, जैसे प्रमाण शब्द ।

यदि भ्रान्तिवाचक शब्द अपने भ्रान्ति रूप अर्थ को कहने वाले नहीं माने जावेंगे तब तो उन भ्रान्तिवाचक शब्दों से भ्रान्ति का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा । पुनः उन भ्रान्तिमान् शब्दों के द्वारा अभ्रान्ति—प्रमाण रूप ज्ञान का प्रसंग आजावेगा । अर्थात् जब भ्रान्ति शब्द भ्रान्ति को नहीं कहेंगे तब तो अभ्रान्ति को ही कहेंगे । इस प्रकार से सर्वभ्रान्ति का अभाव होने से सभी बाह्य स्वीकृतियां प्रमाणभूत हो जावेंगी, किन्तु ऐसा तो है नहीं । अतएव हमारा “विशिष्ट प्रतिपत्ति हेतुत्वात्” यह हेतु असिद्ध नहीं है ।

तथा यदि आप प्रमाण शब्द को ज्ञान लक्षण अपने अर्थ से अहित मानोगे तब तो भ्रान्तिज्ञान का प्रसंग आ जावेगा, किन्तु ऐसा न होने से वह प्रमाण शब्द अपने अर्थ विशेष से सहित ही है अतएव “विशिष्ट प्रतिपत्ति हेतुत्व” असिद्ध नहीं है कि जिससे हमारा उदाहरण साधन धर्म से विकल हो सके । अर्थात् उदाहरण साधन धर्मविकल नहीं है ।

इसी कथन से “खर विषाणादि शब्द भी अपने अभाव रूप अर्थ से रहित है” ऐसा कहने वालों का भी निरसन कर दिया गया है क्योंकि अभाव रूप से विशिष्ट असाधारण रूप ज्ञान हेतुत्व यहां भी विद्यमान है । अन्यथा—इनमें विशिष्ट प्रतिपत्ति हेतुत्व का अभाव मानने से ये खरविषाणादि

१ शब्दानाम् । व्या० प्र० । २ भ्रान्तेद्विचन्द्ररूपयोः । व्या० प्र० । ३ अतः विशिष्ट प्रतिपत्तिहेतुत्वादिति साधनमसिद्धं न सिद्धमेव—प्रमाणशब्दः स्वकीयार्थविशेषरहितो भवति चेत्तदा प्रमाणस्य प्रतिपत्तिरायाति यतः—उदाहरणेपि तत्साधनं सिद्धमेव । दि० प्र० । ४ नैव स्यात् । व्या० प्र० ।

स्वार्थविशेषरहितत्वे भ्रान्तिप्रतिपत्त्यनुषङ्गाच्च न तदसिद्धं, यतो निदर्शनं साधनधर्मविकलं स्यात् । एतेन^१ खरविषाणादिशब्दानामपि स्वार्थरहितत्वमपास्तं, विशिष्टप्रतिपत्तिहेतु-त्वाविशेषादन्यथा^२ भावशब्दत्वप्रसङ्गात्^३ । ततो न तैरपि व्यभिचारः ।^४ किञ्च,—

‘बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्त्रो^५ बुद्ध्यादिवाचिकाः^६ ।

तुल्या^७ बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः^८ ॥८५॥

[मीमांसकः ‘संज्ञात्वाद् हेतुं व्यभिचरति, किन्तु जैनाचार्या इमं हेतुं निर्दोषं साधयति ।]

येष्याहः ‘अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामान इति—जीवार्थस्य जीव इति संज्ञा,

शब्द भी भाववाची शब्द हो जावेंगे, किन्तु ऐसा है नहीं इसलिये इन अभाव शब्दों से भी “संज्ञा-त्वात् हेतु व्यभिचरित नहीं है । अर्थात् भावशब्द अपने भाव स्वरूप अर्थ को कहने वाले हैं, तथैव मायादि भ्रान्त शब्द एवं खरविषाणादि अभाव शब्द अपने-अपने भ्रान्त स्वरूप एवं अभाव स्वरूप अर्थ को कहने वाले हैं ।

उत्थानिका—दूसरी बात यह है कि—

बुद्धी, शब्द, अर्थ ये तीनों, संज्ञा नाम कहे जाते ।

निज से पृथक् बुद्धि अरु शब्द, अर्थ वस्तु को ये कहते ॥

अतः तुल्य है तथा नाम त्रय के प्रतिबिम्बक भी तीनों ।

बुद्धि शब्द अरु अर्थ ज्ञान ये, बाह्य वस्तु व्यञ्जक तीनों ॥८५॥

कारिकार्थ—ज्ञान, शब्द एवं अर्थ इन तीनों की संज्ञायें बुद्धि आदि पदार्थ को कहने वाली हैं । अतः वे तुल्य हैं तथा बुद्धि, शब्द और अर्थ रूप ज्ञान हैं वे भी तीनों बुद्धि आदि विषय के प्रति-बिम्बक हैं ॥८५॥

[मीमांसक ‘संज्ञात्वात्’ हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करना चाहता है किन्तु जैनाचार्य उसे निर्दोष सिद्ध कर रहे हैं ।]

मीमांसक—अर्थ, शब्द और ज्ञान तुल्य नाम वाले हैं । इसलिये जीव अर्थ की “जीव” यह संज्ञा है । ‘जीव’ इस शब्द की भी जीव यह संज्ञा है तथैव ‘जीव’ इस बुद्धि की भी ‘जीव’ यही

1 विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वाभावेऽभावलक्षणस्वार्थरहितत्वं यदि । व्या० प्र० । 2 भाववाचकशब्दः । दि० प्र० । 3 अपास्तं यतः । दि० प्र० । 4 प्रकारान्तरेणाहेतत् । दि० प्र० । 5 बुद्धिर्घटविषयज्ञानं शब्दश्च घट इत्यभिधा-नमर्थश्च पृथुबुधनोदराकारोत्रयस्तु रूप एतेषां प्रत्येकं शब्दाः । व्या० प्र० । 6 वाचका संज्ञाशब्दाः । व्या० प्र० । 7 स्युःकुतः । (व्या० प्र०) 8 बोधा सन्तः । सत्यः । (व्या० प्र०) 9 ग्राहकाः । दि० प्र० ।

जीव इति शब्दस्य च, जीव इति बुद्धेश्चेति । तत्रार्थपदार्थक एव जीवशब्दः सबाह्यार्थः¹ सिद्धो, न बुद्धिशब्दपदार्थकः² । ततोनेन³ हेतोर्व्यभिचारः संज्ञात्वस्य⁴ सामान्येन हेतुवचनात्⁵ इति, तेषां न सम्यगुक्तयः, सर्वत्र⁶ बुद्धिशब्दार्थसंज्ञानां⁷ तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तबुद्ध्यादिपदार्थवाचकत्वात्⁸ । यस्माद्बुद्धि शब्दादुच्चारितादव्यभिचारेण यत्र⁹ बोधः प्रजायते स¹⁰ एव तस्यार्थः स्यात्¹¹, अन्यथा शब्दव्यवहारविलोपात्¹² । यथा च जीव-शब्दार्थपदार्थकाज्जीवो न हन्तव्य इत्यत्र जीवार्थस्य प्रतिबिम्बको¹³ बोधः प्रादुर्भवति¹⁴ तथा बुद्धिपदार्थकाज्जीव¹⁵ इति बुद्ध्यत¹⁶ इत्यादेर्बुद्ध्यर्थस्य प्रतिबिम्बको, जीव इत्याहेति¹⁶ शब्द-

संज्ञा है। इन तीनों को जीव संज्ञा हो जाने पर अर्थ पदार्थ को कहने वाला जीव शब्द ही बाह्यार्थ सहित सिद्ध हो जाता है किन्तु बुद्धि पदार्थक और शब्द पदार्थक, जीव शब्द बाह्यार्थ सहित नहीं है। अतः इस कथन से आपका संज्ञात्वात् हेतु व्यभिचारित हो जाता है क्योंकि आपने "संज्ञात्व" को सामान्य रूप से ही हेतु माना है।

जैन—ऐसा कहने वाले आप सीमांसक विचारशीलन नहीं हैं क्योंकि सर्वत्र बुद्धि, शब्द एवं अर्थ तीनों भी नाम अपने से भिन्न बुद्धि, शब्द एवं अर्थ रूप पदार्थ के वाचक हैं। देखिये! उच्चारित किये गये जिस शब्द से अव्यभिचार रूप से जहाँ पर ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वहीं ज्ञान उसका अर्थ कहलाता है अन्यथा—ऐसा नहीं मानोगे तब तो शब्द व्यवहार का ही लोप हो जावेगा। जिस प्रकार से अर्थ पदार्थवान् जीव शब्द से "जीवो न हन्तव्यः" जीव को नहीं मारना चाहिये इस वाक्य में जीव अर्थ को प्रकट करने वाला ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार से बुद्धि पदार्थ वाले जीव शब्द से "जीव इति बुद्ध्यते" जीव इस प्रकार से जाना जाता है इत्यादि बुद्धि स्वरूप वाले जीव शब्द से जीव के ज्ञान रूप अर्थ का प्रतिबिम्बक ज्ञान होता है एवं "जीव इत्याह" इस शब्द पदार्थ वाले जीव शब्द से जीव शब्द का प्रतिबिम्बक ज्ञान प्रकट होता है। इस प्रकार से तीनों प्रकार का ज्ञान प्रकट हो जाता है। अतएव तीनों ही संज्ञाओं के तीन प्रकार के अर्थ जाने जाते हैं क्योंकि उन तीन प्रकार के शब्दों से प्रकट होने वाले ज्ञान तीन प्रकार के ही होते हैं।

1 संज्ञात्वस्य हेतोः । व्या० प्र० । 2 अभावरूपो यतः । व्या० प्र० । 3 बुद्ध्यादिश्लोकेन प्रकृतेन । व्या० प्र० । 4 संज्ञात्वं विद्यते न तु स बाह्यार्थत्वम् । व्या० प्र० । 5 बुद्ध्याद्यर्थत्रयेण । व्या० प्र० । 6 तेषां वाचिकानाम् । व्या० प्र० । 7 स्याद्वाद्याह येषां सौगतार्थपदार्थात् जीवसंज्ञायाः स बाह्यार्थत्वसाधनेन बुद्धिशब्दाभ्यां जीवसंज्ञायाः सबाह्यार्थत्वनिराकरणेन कृत्वा जीवशब्दः स बाह्यार्थो भवति संज्ञात्वादिति स्याद्वाद्यभ्युपगतस्य हेतोर्व्यभिचारः स्यात् । एवं वदन्ति । तेषां सौगता न सम्यग्वचना भवन्ति । कस्माद्बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तिस्त्रोपि स्वकीयशब्दाद्भिन्नानां बुद्ध्याद्यर्थानां वाचिका भवन्ति यतः । दि० प्र० । 8 अर्थः । व्या० प्र० । 9 बोधः । व्या० प्र० । 10 यतः । व्या० प्र० । 11 पूर्वस्माद्धैपरीत्येन लोके शब्दव्यवहारो न स्यात् । दि० प्र० । 12 ग्राहकः । व्या० प्र० । 13 बोधः प्रादुर्भवति स एव तस्यार्थः स्यादिति संबन्धः कार्यः । दि० प्र० । 14 जीवशब्दात् । व्या० प्र० । 15 जानाति । व्या० प्र० । 16 असौ किमाह इत्युक्त आह । दि० प्र० ।

पदार्थकाच्छब्दस्य ¹प्रतिबिम्बकः स्यात्² । ³तत्सयोर्थास्तिसृणां⁴ संज्ञानामवगम्यन्ते
⁵तत्प्रतिबिम्बकबोधानां⁶ त्रयाणामेव भावात् । तदनेनाचार्यो हेतुव्यभिचाराशङ्का⁷
 प्रत्यस्तमयति⁸, बुद्ध्यधादिसंज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तवस्तुसंबन्धदर्शनात् तद्बुद्धीनां⁹ च
 तिसृणां तन्निर्भासनात्तद्विषयतोपपत्तेः । सामान्यतो जीवशब्दस्य धर्मित्वात् स्वव्यतिरिक्तार्थ-
 स्य च सबाह्यार्थत्वस्य साध्यत्वाद् व्यभिचारविषयस्यासत्त्वाद् व्यभिचारी हेतुः ।

ननु¹⁰ च विज्ञानवादिनां प्रति संज्ञात्वादित्यसिद्धो हेतुः, संज्ञाया विज्ञानव्यतिरेकेणा-
 सत्त्वात् । दृष्टान्तश्च साधनविकलो, हेतुशब्दस्य ¹¹तदाभासवेदनादन्यस्याविद्यमानत्वात् ।

इस श्लोक के द्वारा आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी हेतु के व्यभिचार दोष की शंका को अस्त
 कर देते हैं । बुद्धि आदि के वाचक तीनों नामों का भी अपने से व्यतिरिक्त वस्तु से सम्बन्ध देखा
 जाता है एवं उन बुद्धि आदि तीनों में भी उस बुद्धि आदि का प्रतिभास होने से वे बुद्धि आदि अर्थ
 उन शब्दों के विषय बन जाते हैं इसलिये हमारा हेतु अव्यभिचारी है । सामान्य से जीव शब्द धर्मि
 है । अपने से व्यतिरिक्त अर्थरूप बाह्यार्थ सहितपना साध्य है । व्यभिचार का विषय न होने से
 'संज्ञात्वात्' यह हेतु अव्यभिचारी—निर्दोष है ।

उत्थानिका—हम विज्ञानाद्वैतवादी के प्रति यह आपका "संज्ञात्वात्" हेतु असिद्ध है क्योंकि
 विज्ञान से भिन्न कोई संज्ञा ही नहीं है । आपका दृष्टान्त भी साधन विकल है क्योंकि 'हेतु शब्द'
 तदाभास वेदन रूप है । ज्ञान से भिन्न अन्य कोई हेतु शब्द है ही नहीं ।

संज्ञाभास ज्ञान को हेतु मानने पर तो शब्दाभास स्वप्नज्ञान से हेतु व्यभिचारी हो जावेगा
 अर्थात् संज्ञा के अवभासन में जो ज्ञान है वह संज्ञावभासन ज्ञान है "जीव शब्द बाह्यार्थ सहित है क्योंकि
 संज्ञाभास-शब्दाकार ज्ञानरूप है ।" इसमें "संज्ञाभास ज्ञानत्वात्" है क्योंकि शब्दाकार स्वप्नज्ञान में

1 प्रकाशकः । दि० प्र० । 2 बोधः प्रजायते स एव तस्यार्थः स्यादिति सम्बन्धः कार्यः । दि० प्र० । 3 अर्था-
 भिधानप्रत्ययरूपाः । दि० प्र० । 4 पृथग्भूतानाम् । दि० प्र० । 5 अर्थः । दि० प्र० । 6 बुद्ध्यदित्रय । दि०
 प्र० । 7 पूर्वकारिकोक्तसंज्ञात्वादिति हेतुः । दि० प्र० । 8 प्रत्यस्तमयन्ते । इति पा० । दि० प्र० । 9 बुद्ध्यदि-
 संज्ञाजनितः । व्या० प्र० । 10 अवतारिका—आह संवेदनाद्वैतवादी हे स्याद्वादिन् संज्ञात्वादिति हेतुस्तव असिद्धः
 कस्मात् । अस्मदभ्युपगतविज्ञानाद्विना द्विज्ञान्या संज्ञा नास्ति यतः—तथा हेतुशब्दवदिति दृष्टान्तः संज्ञात्वादिति
 साधनेन कृत्वा शून्यः । कस्मात् । विज्ञानवाद्यभ्युपगतहेतुः प्रकाशविज्ञानाद्विनाऽन्यः कश्चिद्धेतुशब्दो न विद्यते यतः—
 स्याद्वाद्यभ्युपगतसंज्ञात्वादिति अस्मदभ्युपगतसंज्ञाभाससंज्ञानत्वस्य हेतुत्वे सति शब्दप्रकाशात्मकस्वप्नज्ञानेन कृत्वा तव
 हेतुर्व्यभिचारी कोर्थः स्वप्नज्ञानेपि संज्ञा वर्तते । सा बाह्यार्थास्ति इति कश्चित्संवेदनवाद्याह तं प्रतिस्वामिभिः
 प्रतिपाद्यते । दि० प्र० । 11 अवभासः । हेतुशब्दकारः । व्या० प्र० ।

संज्ञाभासज्ञानस्य हेतुत्वे शब्दाभासस्वप्नज्ञानेन व्यभिचारी हेतुः । इति कश्चित् तं प्रत्यभिधीयते ।

**वक्तृश्रोतृप्रमातृणां बोधवाक्यप्रमाः^१ पृथक् ।
भ्रान्तावेव^२ ^३प्रमाभ्रान्तौ^४ बाह्याथौ^५ तादृशेतरौ ॥६६॥**

[विज्ञानाद्वैतवादस्य निराकरणं ।]

वक्तुरभिधेयबोधाभावे^६ कुतो वाक्यं प्रवर्तेत ? तस्याभिधेयबोधनिबन्धनत्वात् । वाक्याभावे^७ च श्रोतुरभिधेयज्ञानासंभवस्तस्य तन्निमित्तकत्वात् । प्रमातुः प्रमित्यभावे^८ च

बाह्यार्थं शून्यता है । इस प्रकार से विज्ञानाद्वैतवादी के द्वारा शंका के करने पर श्री आचार्यवर्य समन्त-भद्र स्वामी अगली कारिका द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं—

वक्ता, श्रोता और प्रमाता, इनके ज्ञान अरु वाक्य प्रमाण ।
पृथक्-पृथक् हैं यदि ज्ञानादिक, भ्रान्त रूप ही कहे तमाम ॥
प्रमा भ्रान्त होने से तो फिर, इष्ट अनिष्ट पदार्थ सभी ।
तथा प्रमाण अरु अप्रमाण ये, भ्रान्त रूप हो जायं सही ॥६६॥

कारिकार्थ—वक्ता, श्रोता एवं प्रमाता के बोध वाक्य एवं प्रमा ये शब्द भिन्न-भिन्न ही अवभासित होते हैं । यदि बोध, वाक्य और प्रमा को भ्रान्ति रूप ही माना जावे तब तो प्रमाण भी भ्रान्त रूप हो जायेगा, पुनः तादृश-भ्रान्त-अप्रमाण एवं इतर-अभ्रान्त-प्रमाण रूप वे इष्ट और अनिष्ट बाह्य पदार्थ भी भ्रान्त ही मनाने पड़ेंगे ॥६६॥

[विज्ञानाद्वैतवाद का निराकरण]

वक्ता के अभिधेय ज्ञान का अभाव मानने पर वाक्य कैसे प्रवृत्त होंगे ? क्योंकि वे तो वाच्य रूप ज्ञान के निमित्त से होते हैं अर्थात् वक्ता में वाक्य, श्रोता में ज्ञान, प्रमाता में प्रमाण, इस प्रकार से

१ वाक्यबोधप्रमा पृथगिति । पाठान्तरम् । व्या० प्र० । २ यथासंख्यभिन्नाः । दि० प्र० । ३ प्रमाणम् । दि० प्र० । ४ प्रमाणस्य भ्रान्तत्वे । दि० प्र० । ५ प्रमाणाप्रमाणरूपी प्रमेयावन्तर्बहिर्ज्ञेयरूपी पदार्थावस्थानेति भावः । दि० प्र० । ६ वाच्यस्य । व्याख्यातुरर्थज्ञानाभावे सति वाक्प्रबन्धः कुतो भवति न कुतोपि कस्मात् वाक्यस्यार्थज्ञानकारणत्वात् कोर्थः । अर्थज्ञानं कारणं वाक्यं कार्यम्—तथा शिष्यस्य गुरुक्तवाक्याभावेऽर्थज्ञानं न संभवति कुतोर्थज्ञानस्य वाक्यकारणत्वात् । कोर्थः । गुरुवाक्यं कारणमर्थपरिज्ञानं कार्यं तथापरिच्छेदकपुरुषस्यार्थपरिच्छित्तेरभावे सति प्रमेयभूतो शब्दाथौ न व्यक्तिष्ठेते—एवं सति संवेदाद्वैतवादिनः इष्टतत्त्वस्थ सिद्धिर्न स्यात्—वक्त्रादित्रयस्य बोधवाक्यप्रमात्रयं पृथग्भूतमंगोकार्यम्—एवं सति संज्ञात्वादिति हेतोरसिद्धत्वादिदोषो न । दि० प्र० । ७ वक्तुः । दि० प्र० । ८ प्रमाणाभावे । दि० प्र० ।

शब्दार्थयोः प्रमेययोरव्यवस्थानादिषु तत्त्वानुपपत्तेर्वक्त्रादित्रयस्य¹ बोधादित्रयं पृथग्भूतमुपेयम् । तथा सति न हेतोरसिद्धतादिदोषो², दृष्टान्तस्य वा साध्यादिवैकल्यं³ प्रसज्यते । स्यान्मतं 'बहिरर्थाभावाद्ब्रह्मादित्रयं न बुद्धेः⁴ पृथग्भूतं, वक्त्राद्याभासाया बुद्धेरेव वक्त्रादित्वव्यवहारात्⁵, वाक्यस्यापि बोधव्यतिरेकेणासत्त्वात्⁶, प्रमाया बोधात्मकत्वात् । ततोऽसिद्धतादिदोषः साधनस्य हेतुदृष्टान्तलक्षणस्य' इति तन्न, रूपादेर्ग्राहकस्य तद्व्यतिरिक्तविज्ञानसंतानकलापस्य च स्वांशमात्रावलम्बिनः प्रमाणस्य विभ्रमकल्पनायां साकल्येनासिद्धेरन्तर्ज्ञेयाभ्युपगमविरोधात् । न हि रूपादेरभिधेयस्य ग्राहकस्य वक्तुः श्रोतुश्च विभ्रमकल्पनायां व्यतिरिक्तविज्ञानसंतानकलापः स्वांशमात्रावलम्बी सिध्यति परस्परमसंचारात्⁷, येनाभिधानाभिधेयज्ञान-

युक्ति से वक्ता, श्रोता और प्रमाता के बोध वाक्य और प्रमा भिन्न-भिन्न है यह तात्पर्यार्थ है । वाक्य के अभाव में श्रोता को अभिधेय (वाच्य) का ज्ञान हो नहीं सकता क्योंकि वह ज्ञान वाक्य निमित्तक है और प्रमिति के अभाव में प्रमाता को शब्द एवं अर्थ रूप प्रमेय का ज्ञान नहीं हो सकने से इष्ट तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है । अतएव वक्ता, श्रोता और प्रमाता के ज्ञान, शब्द और प्रमाण ये तीनों ही पृथक् भूत हैं ऐसा समझना चाहिये । ऐसा मानने पर हेतु में असिद्ध, विरुद्ध आदि नहीं आ सकते हैं अथवा दृष्टान्त भी हेतु शब्द के समान साध्य, साधन से विकल नहीं हैं ।

सौगत—(विज्ञानाद्वैतवादी)—बाह्य पदार्थों का अभाव होने से वक्ता आदि तीनों ही बुद्धि से पृथग्भूत नहीं हैं क्योंकि वक्ता, श्रोता और प्रमाता के आकार रूप बुद्धि ही वक्ता आदि के व्यवहार को प्राप्त हो जाती है क्योंकि वाक्य भी ज्ञान से भिन्न कुछ है ही नहीं एवं प्रमा भी ज्ञानात्मक ही है । इसलिये आपका हेतु असिद्धादि दोषों से दूषित ही है । हेतु का दृष्टान्त भी असिद्ध आदि दोषों से सहित है ।

जैन—यह आपका कथन सम्यक् नहीं है क्योंकि रूपादि के ग्राहक, वक्ता और श्रोता एवं उससे भिन्न विज्ञान संतान का समुदाय तथा अपने अंशमात्र (स्वरूप मात्र) का अवलम्बन लेने वाला प्रमाण, इन सबको भ्रान्त रूप कल्पित करने पर तो ये रूपादि सर्वथा ही सम्पूर्ण रूप से असिद्ध हो जावेंगे । पुनः अंतर्ज्ञेय-ज्ञानाद्वैत की स्वीकृति ही विरोध रूप हो जावेगी ।

रूपादि अभिधेय (वाच्य) ग्राहक, वक्ता एवं श्रोता इन चारों को भ्रान्त रूप कल्पित करने पर इन सभी से भिन्न अपने स्वरूप मात्र का अवलम्बन लेने वाले ज्ञान संतान कलाप सिद्ध नहीं हो सकते हैं क्योंकि ये परस्पर में संचार नहीं करते हैं अर्थात् ज्ञान स्वांशमात्रावलम्बी है अतः वे स्वरूप के भी गमक नहीं हैं । इसलिये शब्द, अर्थ और ज्ञान में आपके यहां भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता है ।

1 च । व्या० प्र० । 2 संज्ञात्वादित्यस्य । व्या० प्र० । 3 सवाह्यार्थत्व । व्या० प्र० । 4 का । व्या० प्र० ।

5 बाह्यमस्ति तत्त्वतः कथं बहिरर्थाभाव इत्याह । दि० प्र० । 6 प्रमाणमस्ति नन्वित्याशंकायामाह । दि० प्र० ।

7 अन्योन्यमननुप्रवेशात् । दि० प्र० ।

भेदः स्यात् । तस्यापि विभ्रमकल्पनायां न प्रमाणसिद्धिरभ्रान्तस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वव्यव-
स्थितेः । प्रमाणस्यापि विभ्रमकल्पनायां कथमन्तर्ज्ञेयमेव तत्त्वमित्यभ्युपगमो न विरुध्यते ?
प्रमाणमन्तरेण तदभ्युपगमे^१ सर्वस्य^२ स्वेष्टाभ्युपगमप्रसङ्गात् । प्रमाणभ्रान्तौ बाह्यार्थयोस्ता-
दृशान्यादृशयोः प्रमेययोरन्तर्ज्ञेयबहिर्ज्ञेययोरिष्टानिष्टयोर्विवेचनस्यापि^३ भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । तौ
हि ग्राहकापेक्षया बाह्यार्थौ भ्रान्तावेव ग्राहकप्रमाणभ्रान्तेः^४ । इति कुतस्तत्र हेयोपादेयविवेकः
स्यादन्तर्ज्ञेयकान्ते ? यतस्तदभ्युपगमो न विरुद्धो भवेत् । यदि^६ पुनः प्रमाणमभ्रान्तमिष्यते^७
तदा^८ बाह्यार्थोभ्युपगन्तव्यः, तदभावे^९ प्रमाणतदाभासव्यवस्थित्ययोगात्^{१०} ।

तथा हि,—

यदि आप अपने अंशमात्र के अवलम्बी ज्ञान को भी भ्रान्त कल्पित करोगे तब तो प्रमाण की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी क्योंकि आपके मत में “कल्पनापोढमभ्रान्तं” इस सूत्र के द्वारा अभ्रान्त ज्ञान को ही प्रमाण रूप माना है । प्रमाण को भी विभ्रम रूप मानने पर तो “अंतर्ज्ञेय-विज्ञानाद्वैतमात्र ही तत्त्व है” यह आपकी प्रतिज्ञा विरुद्ध क्यों नहीं हो जावेगी ? और प्रमाण के बिना भी विज्ञानमात्र तत्त्व की व्यवस्था करने पर तो सभी के ही अपने-अपने माने गये तत्त्व इष्ट रूप से सिद्ध हो जायेंगे । प्रमाण को भ्रान्त मान लेने पर तो तादृश एवं अन्यादृश-प्रमाण एवं अप्रमाण रूप अंतर्ज्ञेय-बहिर्ज्ञेय रूप इष्ट और अनिष्ट जो प्रमेय हैं जो कि बाह्य अर्थ कहलाते हैं उनका विवेचन करना भी भ्रान्त हो जावेगा ।

“अंतर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय रूप पदार्थ ग्राहक की अपेक्षा से बाह्यार्थ रूप हैं वे भ्रान्त ही हैं क्योंकि उनका ग्राहक-प्रमाण भ्रान्त रूप है ।” इस प्रकार से अंतर्ज्ञेय-विज्ञानमात्र रूप एकांत का स्वीकार करने पर उस अद्वैत में आप सौगत को हेयोपादेय का विवेक कैसे हो सकेगा ? कि जिससे उसकी स्वीकृति विरुद्ध न हो जावे अर्थात् विज्ञानाद्वैत की स्वीकृति विरुद्ध ही है । यदि पुनः प्रमाण को अभ्रान्त रूप स्वीकार करते हैं तब तो आपको बाह्य पदार्थ स्वीकार कर ही लेना चाहिये । उसे न मानने पर प्रमाण एवं प्रमाणाभास की व्यवस्था कथमपि नहीं हो सकेगी ।

उत्थामिका—इसी बात को अगली कारिका द्वारा स्पष्ट करते हैं—

- १ अन्तर्ज्ञेयाभ्युपगमे । दि० प्र० । २ त्वदन्यस्यापि । दि० प्र० । ३ अत उत्तरकारिकादलव्याख्यातम् । दि० प्र० ।
४ भेदस्य । व्या० प्र० । ५ प्रमाणं भ्रान्तिरिति । इति पा० । दि० प्र० । ६ अग्रतनकारिकाया अवतारिका ज्ञेया ।
दि० प्र० । ७ त्वया । दि० प्र० । ८ तर्हि । दि० प्र० । ९ बाह्यार्थः । दि० प्र० । १० प्रमाणाभासः । दि० प्र० ।

¹ बुद्धिशब्द² प्रमाणत्वं³ बाह्यार्थे सति⁴, नासति ।

सत्यानृतव्यवस्थैव⁵ युज्यतेर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥८७॥

[विज्ञानाद्वैतवादिनं प्रति बाह्यपदार्थसिद्धिं कुर्वति जैनाचार्याः ।]

बुद्धेः स्वप्रतिपत्त्यर्थत्वाच्छब्दस्य परप्रतिपादनार्थत्वात् । स्वपरप्रतिपत्त्यर्थं साधनं बुद्धिशब्दात्मकं स्वसंवित्त्यैव⁶ परप्रतिपादनायोगात् तस्याः पराप्रत्यक्षत्वात् । तस्य च सति बहिरर्थे प्रमाणत्वमर्थप्राप्तितः सिध्येत्, असति⁷ प्रमाणाभासत्वमर्थानाप्तितः । इति सत्यानृत-

बाह्य पदार्थ के होने पर, ज्ञान अरु शब्द प्रमाण सही ।

बाह्य पदार्थ नहि होवे यदि, ज्ञान अरु शब्द प्रमाण नहीं ॥

अतः अर्थ की प्राप्ती से ही, वस्तु व्यवस्था घटती है ।

किन्तु अर्थ यदि प्राप्त न हो तब, मृषा व्यवस्था बनती है ॥८७॥

कारिकार्थ—बाह्य पदार्थ के होने पर बुद्धि-ज्ञान और शब्द को प्रमाणता है एवं बाह्यार्थ के नहीं होने पर उनको प्रमाणरूपता नहीं है । इस प्रकार से अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति में सत्य एवं असत्य की व्यवस्था की जाती है ॥८७॥

[विज्ञानाद्वैतवादी के प्रति जैनाचार्य बाह्य पदार्थ की सिद्धि कर रहे हैं ।]

बुद्धि स्वकीय ज्ञान कराने में प्रयोजनीभूत है एवं शब्द पर को प्रतिपादन करने में प्रयोजनीभूत है ।

“स्व एवं पर को ज्ञान कराने के लिये जो साधन—उपाय हैं वे बुद्धि एवं शब्दरूप हैं क्योंकि स्वसंवित्ति द्वारा ही पर को प्रतिपादन करना शक्य नहीं है ।” वह स्वसंवित्ति पर को अप्रत्यक्ष है । बाह्य पदार्थ के होने पर ही वे बुद्धि और शब्द रूप साधन अर्थ की प्राप्ति से प्रमाणभूत सिद्ध होते हैं एवं बाह्य पदार्थ के नहीं होने पर अर्थ की अप्राप्ति से प्रमाणाभास रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

1 बुद्धिज्ञानं तस्य स्वसंवेदनप्रयोजनत्वात् शब्दस्यायं घट इति परार्थप्रतिपादनप्रयोजनत्वात् इत्युक्ते स्वपरप्रतिपत्त्यर्थमेव बुद्धिशब्दात्मकं प्रमाणं कुतः संवित्त्या परप्रतिपादनायोगादिति भावार्थः । इति सत्यानृतव्यवस्था बुद्धिशब्दयोर्युज्यते कुतः स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मनोस्तथा प्रतीतेः । दि० प्र० । 2 तादृि । व्या० प्र० । 3 बुद्धिश्च शब्दश्च बुद्धिशब्दो तयोः प्रमाणं तस्य भाव इति विग्रहः परमार्थतो बाह्यार्थे सति बुद्धिशब्दात्मकसाधनस्य प्रमाणत्वं घटतेऽसति न घटते एवं बाह्यार्थस्य प्राप्ती सत्यां साधनस्य सत्यव्यवस्था युज्यते = बाह्यार्थस्याप्राप्ती सत्यां साधनस्य बाह्यार्थे सति प्रमाणत्वं स्वपरिज्ञाननिमित्तत्वात् = तथा बाह्यार्थे सति शब्दसाधनस्य प्रमाणत्वं घटते । कस्मात् परप्रतिपादनकारणत्वात् = एवं बुद्धिशब्दोभयात्मकसाधनं प्रमाणं भवति । कस्मात् स्वपरोभयप्रतिपत्त्यर्थत्वात् । 4 सत्यत्वम् । दि० प्र० । 5 प्रमाणम् । व्या० प्र० । 6 शब्दाभावे । प्रतिपाद्यानाम् । व्या० प्र० । 7 असति बहिरर्थे साधनस्येति संबन्धनीयम् । व्या० प्र० ।

व्यवस्था बुद्धिशब्दयोर्युज्यते, स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मनोस्तथा प्रतीतिः । तदेवं परमार्थतः^१ सन्बहिरर्थः, साधनदूषणप्रयोगात् । इत्येकलक्षणो हेतुः प्रवर्तते । न चात्रैकलक्षणमसिद्धं, सत्येव बहिरर्थे परमार्थतो हेतोरुपपत्तेस्तथोपपन्नत्वस्य प्रधानलक्षणस्य सद्भावात् । अन्यथा^२ स्वप्नेतराविशेषात्किं केन साधितं दूषितं च ? इति कुतः^३ संतानान्तरमन्यद्वा^४ स्वसन्तानक्षणक्षयवेद्याद्याकारशून्यत्वं साधयेत् ? बहिरर्थस्य^५ वास्तवस्य ग्राह्यलक्षणस्याभावे^६ हि साधनदूषणप्रयोगस्य हेतोः संभवे स्वप्नजाग्रदवस्थाभाविने^७ तत्प्रयोगयोर्विशेषासिद्धिः । ततः^८ किञ्चिज्ज्ञ-

इस प्रकार से बुद्धि एवं शब्द के होने पर सत्य एवं असत्य की व्यवस्था की जाती है क्योंकि स्वपक्ष का साधन एवं परपक्ष का दूषण उसी प्रकार से ही प्रतीति में आता है । अतएव बाह्य पदार्थ परमार्थ से सत् रूप हैं क्योंकि साधन एवं दूषण का प्रयोग देखा जाता है । इस प्रकार से अविनाभाव रूप एक लक्षण वाला हेतु प्रवृत्त है । इस अनुमान में एक लक्षण रूप अविनाभाव असिद्ध भी नहीं है क्योंकि परमार्थ से बाह्य पदार्थ के होने पर ही हेतु बनता है, इस हेतु में "तथोपपन्नत्व" रूप प्रधान लक्षण विद्यमान है अर्थात् ग्राहक ज्ञान की अपेक्षा से ग्राह्य रूप अपर ज्ञान बाह्य अर्थ हो जाता है । घटादि बाह्य पदार्थ तो बाह्य रूप से प्रसिद्ध ही हैं अतः हेतु अविनाभाव रूप है क्योंकि साध्य के होने पर ही जो हेतु होता है वह दो भेद रूप है—एक अन्यथानुपपन्नरूप, दूसरा तथोपपन्नरूप । तथोपपन्नरूप लक्षण इस हेतु में विद्यमान है । अन्यथा यदि बाह्य पदार्थ का अभाव होने पर भी साधन एवं दूषण का प्रयोग होवे तब तो स्वप्न और जाग्रत अवस्था समान हो जाने से किस पुरुष के द्वारा अथवा किस अनुमान के द्वारा किसको साधित एवं दूषित किया जावेगा ? इस प्रकार से संतानान्तर को अथवा अन्य को कैसे सिद्ध करेंगे ?

स्वसंतान का क्षणिकत्व वेद्याद्याकार शून्यत्व को भी आप कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? ग्राह्य लक्षण वास्तविक, अंतर्ज्ञेय, बहिरर्ज्ञेय रूप बाह्य पदार्थ के अभाव में "साधन दूषण प्रयोगात्" हेतु ही असम्भव है । अतः स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था में होने वाले साधन एवं दूषण का प्रयोग समान रूप ही सिद्ध हो जायेगा । पुनः आप का विज्ञानाद्वैतमात्र तत्त्व किस सहोपलम्भादि स्वार्थानुमान से सिद्ध किया जा सकेगा ? अथवा परार्थानुमान रूप वचन से भी पर के प्रति कैसे कहा जा सकेगा ? अथवा स्वसंवेदनाद्वैत स्वत

१ वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्या० प्र० । २ बहिरर्थाभावे । दि० प्र० । ३ परसन्तानम् । दि० प्र० । ४ स्वसन्तानम् । दि० प्र० । ५ ज्ञेयलक्षणस्य परमार्थभूतबहिरर्थाभावेऽपि स्वसाधनपरदूषणप्रयोगस्य हेतोः संभवे सति स्वप्नजाग्रदवस्थाजातयोः साधनदूषणप्रयोगयोर्विशेषो न सिद्ध्यति यतः—तस्मात् यथा संविदद्वैतं स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् न साधितं तथा सहोपलम्भनियमादिति स्वार्थानुमानेन कृत्वा केनापि विज्ञप्तिमात्रं किं साधितं स्यादपितु नावचनात्मना परार्थानुमानेन कृत्वा परं प्रतिवादि ज्ञप्तिमात्रं किम् । केनापि साधितं स्यादपितु न । कस्मात् यथा स्वप्नस्य तथा विज्ञप्तिमात्रसाधनस्यानुमानप्रमाणस्यावस्तुग्राहकत्वात् । दि० प्र० । ६ भाष्यस्थितान्प्रशब्दार्थोपमम् । दि० प्र० । ७ भाविनोः । इति पा० । दि० प्र० । ८ असिद्धयंतः । दि० प्र० । ९ किं विज्ञप्तिमात्रम् । इति पा० । दि० प्र० ।

पिमात्रं केन सहोपलम्भनियमादिनानुमानेन स्वार्थेन साधितं स्यात्, परार्थेन वा वचनात्मना¹ परं प्रति, किं वा स्वसंविदद्वैतं स्वतः² प्रत्यक्षत एव साधितं स्यात् ? तत्साधनस्य³ स्वप्न-वन्निविषयत्वात् । किं वा बहिरर्थजातं केन, जडस्य प्रतिभासायोगात् इत्यादिना स्वार्थेन परार्थेन वा दूषणेन दूषितं स्यात्⁴ ? इति संतानान्तरमपि न केनचित्साधनेन साधितं स्यात् । तदनभ्युपगमे न केनचिद्दूषणेन दूषितं स्यात्, तथा स्वसंतानक्षणक्षयादिकं च न केनचित् साधितं स्यात् । तदनभ्युपगमेपि न केनचिद्दूषितम् । इति न क्वचिद्बुद्धव्यवतिष्ठते । 'तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवद्भ्रान्तः सर्वो व्यवहार इत्यत्रापि तत्त्वज्ञानं⁶ शरणं, तत एव सर्वविभ्रमव्यवस्थितः । इति व्याहृतमेतत् तत्त्वज्ञानात् सर्वस्य भ्रान्तत्वसाधनम्, अन्यथा बहिरर्थवद-

एवं प्रत्यक्ष से किसी को क्या सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् नहीं हो सकेगा क्योंकि उस विज्ञान मात्र को सिद्ध करने वाला हेतु तो स्वप्न के समान निविषयक ही है ।

अथवा बाह्य पदार्थ का समूह भी किस वादी के द्वारा या किस हेतु के द्वारा सिद्ध हो सकेगा क्योंकि स्वयं जड़ पदार्थ तो प्रतिभासित होते नहीं हैं इत्यादि स्वार्थानुमान या परार्थानुमान रूप दूषण से किसको दूषित किया जावेगा ? अर्थात् बाह्यार्थ वचनादि के अभाव में किसी को दूषण भी नहीं दिया जा सकेगा ।

इसी प्रकार संतानान्तर भी किसी हेतु से सिद्ध नहीं हो सकेगा और उसके स्वीकार न करने पर किसी दूषण से दूषित भी नहीं हो सकेगा । उसी प्रकार से स्वसंतान का क्षणक्षय एवं वेद्याद्याकार शून्यत्व भी किसी साधन से सिद्ध नहीं हो सकता है एवं उसको स्वीकार न करने पर भी किसी हेतु से वह दूषित भी नहीं किया जा सकता है । इस प्रकार संवेदनाद्वैत एवं बाह्य पदार्थादिकों में कहीं पर भी "साधन दूषण प्रयोगात्" हेतु रह नहीं सकता ।

सौगत—तैमिरिक द्वय के द्विचन्द्रदर्शन के समान सभी व्यवहार भ्रान्त ही हैं ।

जैन - इस कथन में भी आपको तत्त्व ज्ञान ही शरण है क्योंकि तत्त्वज्ञान से ही सभी को विभ्रम रूप व्यवस्थापित किया जाता है अर्थात् सभी को भ्रान्त सिद्ध करना भी जो आपको इष्ट है

1 अनुमानेन । व्या० प्र० । 2 भाष्योक्तस्य किं केनेत्यस्य तात्पर्यवचनम् । व्या० प्र० । 3 विज्ञप्तिमात्रसंविदद्वैतयोः । व्या० प्र० । 4 कुत इत्यादिभाष्यांशं भावयन्नाह । व्या० प्र० । 5 आह सौगतः यथा तिमिररोगापहतचक्षुषः पुरुषस्य द्विचन्द्रस्य दर्शनं भ्रान्तं तथा पक्षसाध्यसाधनस्वसंतानपरसंतानादिकः सर्वो व्यवहारः भ्रान्त इति । = स्याद्वाद्याह । अत्र सर्वव्यवहारस्य भ्रान्तत्वव्यवस्थापनेन तत्र सौगतस्य वस्तुपरिज्ञानं शरणं कर्तव्यम् = पर आह ततस्तत्त्वज्ञानादेव सर्वस्य व्यवहारस्य विभ्रमव्यवस्थितिर्घटते इत्यस्मदभिप्रायः । स्याद्वाद्याह । तत्त्वज्ञानात्सर्वं भ्रान्तं साधयामीति तत्र वचनं विरुद्धम् । दि० प्र० । 6 सत्य । दि० प्र० ।

भिसंहितस्यापि सर्वविभ्रमस्य निराकरणापत्तेः, भ्रान्तादेव ज्ञानात् तस्याप्यसिद्धेः । तथा¹ परमाण्वादिदूषणेपि² प्रतिपत्तव्यं³, तत्त्वज्ञानं शरणमतत्त्वज्ञानादभिसंहितस्यापि⁴ परमाण्वाद्यसत्त्वस्य निराकरणापत्तेः⁵ । अन्यथा⁶ तत्कृतमकृत⁷ स्यादिति सर्वत्र योज्यं⁸, सर्वस्य⁹ स्वेष्टस्य स्वयमनिष्टस्य च तत्त्वज्ञानादेव साधनदूषणोपपत्तेः । एतेन¹⁰ साधनदूषणप्रयोगादिति साधनमसिद्धमितीच्छन् प्रतिक्षिप्तस्तदसिद्धत्वस्य स्वयमिष्टस्य तत्सिद्धत्वस्य चानिष्टस्य साधन-

वह तत्त्वज्ञान से ही है उसके बिना नहीं क्योंकि “सभी व्यवहार विभ्रम रूप हैं।” यह वाक्य भी तो आपका सच ही मानना होगा अन्यथा विभ्रम की सिद्धि भी तो कैसे होगी ? अतएव यह भ्रान्त रूप मान्यता तो तत्त्वज्ञान से ही सिद्ध हुई ?

इस प्रकार से तो आपने तत्त्वज्ञान को ही स्वीकार कर लिया । पुनः उस तत्त्वज्ञान से ही सभी को विभ्रम सिद्ध करना नहीं हो सकता है क्योंकि तत्त्वज्ञान का सद्भाव है । अन्यथा यदि आप तत्त्वज्ञान को भी भ्रान्त रूप स्वीकार कर लेंगे तब तो बाह्य पदार्थों के समान ही अभिसंहित—आपके द्वारा अभिमत सर्व विभ्रम का भी निराकरण हो जावेगा, क्योंकि भ्रान्त रूप ही ज्ञान से वह सर्व विभ्रम भी सिद्ध नहीं हो सकेगा । “परमाणु है, किन्तु भ्रान्तरूप है” इस प्रकार से परमाणु आदि में दूषण देने पर भी उसी प्रकार से असिद्ध दोष समझना चाहिये । अतः तत्त्वज्ञान ही शरण है, अतत्त्वज्ञान से स्वयं के स्वीकृत भी परमाणु आदि के अभाव का निराकरण करना पड़ेगा । अन्यथा—यदि तत्त्वज्ञान शरण न होगा तब तो तत्कृत-अकृत हो जावेगा अर्थात् अतत्त्वज्ञान से निश्चित हो जावेगा । इसी प्रकार से सभी जगह समझ लेना चाहिये क्योंकि अपने इष्ट तत्त्व का साधन एवं अनिष्ट तत्त्व का दूषण ये सभी तत्त्व ज्ञान से ही बनता है अन्यथा नहीं ।

इस कथन से “साधन दूषण प्रयोगात्” यह हेतु असिद्ध है ऐसा कहते हुए योगाचार का खंडन कर दिया गया है क्योंकि “साधन दूषण प्रयोगात्” इस हेतु को स्वयं आपने असिद्ध रूप स्वीकार किया

1 स्याद्वाचाह हे सोगत ! यथा सर्वव्यवहारस्य विभ्रमसाधने तत्र तत्त्वज्ञानशरणं तथा बहिः परमाण्वादयो न सन्तीति परस्य दूषणापादनेपि तत्र तत्त्वज्ञानशरणमङ्गीकरणीयं कस्मादतत्त्वज्ञानात्तवाभिप्रेतस्य परमाण्वादीनामाभावस्य निराकरणघटनात् । दि० प्र० । 2 योगाचारेण । दि० प्र० । 3 अवयव्यादि । दि० प्र० । 4 मिथ्याज्ञानं । व्या० प्र० । 5 अतत्त्वज्ञानाभिसंहितस्यापि परमाण्वाद्यसत्त्वस्य निराकरणापत्तेरित्येतदन्यथा तत्कृतमकृतं स्यादितिभाष्य-चिवरणत्वेन दृष्टव्यम् । दि० प्र० । 6 अन्यथा प्रमाणानङ्गीकारे सति तेनातत्त्वज्ञानेन कृतं यत्तत् अकृतं भवेदिति सर्वत्र वस्तुव्यवस्थापनादौ योज्यं कस्मात् सर्वलोकस्य तत्त्वपरिज्ञानादेव स्वेष्टस्य साधनं स्वानिष्टस्य दूषणञ्च घटते । दि० प्र० । 7 अनिश्चितम् । व्या० प्र० । 8 तत्त्वज्ञानं शरणमिति । दि० प्र० । 9 सर्वत्र योज्य इत्येतद्विवृण्वन्ति सर्वस्येति । दि० प्र० । 10 एतेन पूर्वोक्तप्रकारेण साधनदूषणप्रयोगादिति साधनस्यासिद्धत्वमभिलपन् सोगतो निराकृतः । कस्मात् । साधनस्यासिद्धत्वं सोगतस्येष्टं साधनस्य सिद्धत्वं सोगतस्यानिष्टं तद्योरिष्टानिष्टयोः साधनदूषणप्रयोगादेव व्यवस्थापनं घटते यतः । अन्यथा साधनदूषणप्रयोगादेवानङ्गीकारे तयोरिष्टानिष्टयोर्व्यवस्थितिः न स्यात् यदृच्छाजल्पितञ्च प्रसजति । दि० प्र० ।

दूषणप्रयोगादेव व्यवस्थापनादन्यथा¹ तदव्यवस्थितेर्यत्किञ्चनवादित्वप्रसङ्गात् । ²तदिमे³ विज्ञानसंतानाः सन्ति न सन्तीति ⁴तत्त्वाऽप्रतिपत्तेर्दृष्टापन्हुतिरनिबन्धनैव⁵, दृश्येनात्मना कथञ्चित्स्कन्धाकारेणादृश्यानामपि⁶ परमाणूनां बहिरपि समवस्थाने विप्रतिषेधाभावादन्तर्ज्ञेयवत्⁷ । अदृश्या एव हि ज्ञानपरमाणवः संविन्मात्रादृश्यादवस्थाप्यन्ते⁸ नान्यथेति युक्तमुदाहरणं, बहिः परमाणूनां व्यवस्थापने, तत्र पूर्वादिदिग्भागभेदेन⁹ जडरूपाणां षडंशादिकल्पनया¹⁰ वृत्तिविकल्पेन वा परपक्षोपालम्भे स्वपक्षाक्षेपात्, तस्योपालम्भाभासत्वसिद्धेः¹¹ ।

है। हम जैन इस हेतु को सिद्ध-असिद्ध दोष से रहित कहते हैं, यह बात आपको अनिष्ट है। आप स्वयं इस हेतु में असिद्धत्व को इष्ट मानकर उसका समाधान करते हो और हमारे द्वारा माने गये सिद्धत्व को अनिष्ट कहकर दूषण दे रहे हो, अतः आप स्वयं ही साधन दूषण के प्रयोग से ही इष्ट-अनिष्ट को व्यवस्था कर रहे हो। अन्यथा-इष्टानिष्ट की व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी, पुनः चाहे जो कुछ भी कहने का प्रसंग आ जावेगा तथा सभी ज्ञानों को भ्रान्त मान लेने से 'यह' विज्ञान संतान है या नहीं इस प्रकार से तत्त्व-वास्तविक ज्ञान के न होने से इष्ट-अवयवी आदि भेद से युक्त बाह्य पदार्थों का अपन्हव करना अनिमित्तक ही है क्योंकि कथञ्चित् दृश्य, स्वरूप स्कन्धाकार से अदृश्य भी परमाणुओं का बाह्य में भी अवस्थान मान लेने पर विरोध का अभाव है, अतर्ज्ञेय के समान ।

“सभी ज्ञान परमाणु अदृश्य ही हैं क्योंकि संविन्मात्र अदृश्य से व्यवस्थापित किये जाते हैं अन्यथा नहीं, इसलिये 'अतर्ज्ञेयवत्' यह उदाहरण बाह्य पदार्थों की व्यवस्था करने में युक्त ही है। उन बाह्य परमाणुओं में पूर्व आदि दिशा भाग के भेद से जडरूप परमाणुओं में षट् अंश आदि की कल्पना से अथवा वृत्ति-सम्बन्ध के विकल्प से हम जैन, वैशेषिक आदि को उलाहना देने पर तो आप सौगत के स्वपक्ष का ही निराकरण हो जाता है अर्थात् आपके पक्ष में तो “ज्ञानसंतान ही हैं एवं वे क्षणिक तथा अनन्यवेद्य हैं” इस कथन का ही निराकरण हो जाता है क्योंकि हम लोगों के प्रति आपका उपालम्भ उपालम्भाभास है। वास्तव में उस उलाहना से हमारा निराकरण नहीं हो सकता है, कारण कि बाह्य परमाणु एवं ज्ञान परमाणु इन दोनों में समान ही दूषण आते हैं अर्थात् प्रश्न होते हैं कि परमाणुओं का सम्बन्ध एक देश से है या सर्वदेश से ?

1 साधनासिद्धत्वाव्यवस्थितेः । दि० प्र० । 2 विज्ञानसन्तानसाधने दूषणे च बाह्यविवयं तत्त्वज्ञानमेव शरणं तत्त्व नेष्यते यतः । प्रमाणस्याभ्रान्तत्वे ग्राह्यग्राहकाभावलक्षणदूषणभयाद्भ्रान्तमेव प्रमाणमङ्गीकर्तव्यं यस्मात् । दि० प्र० । 3 यत् एवं तत्समादेते सौमतेनाङ्गीकृता विज्ञानसंतानाः सन्ति वा न सन्ति इत्यपरिज्ञानात्सौगतस्य दृष्ट-स्थार्थस्याच्छादनमप्रमाणम् । दि० प्र० । 4 विज्ञानाद्वैतस्य । तत्त्वतः स्कन्धाकारेण दृष्ट्यात्मकं स्कन्धाकारं दृष्ट्वा तत्कारणभूतपरमाणूनां व्यवस्थापनेत्यर्थः । दि० प्र० । 5 तव । दि० प्र० । 6 न केवलं बहिरर्थस्य । व्या० प्र० । 7 अन्तर्ज्ञेयानां समवस्थाने प्रतिषेधा नास्ति यथा । व्या० प्र० । 8 स्थूलात् । व्या० प्र० । 9 तत्र षडंशादिकल्पनया । इति पा० । दि० प्र० । 10 तत्र पूर्वादिदिग्भागभेदेन षडंशादि । इति पा० । व्या० प्र० । 11 अदृश्यपरमाणुरूपत्व-प्रकारेण । दि० प्र० । 11 मूलं भावयति । व्या० प्र० ।

समान¹ हि दूषणं बहिःपरमाणुषु, संवित्परमाणुषु च । देशतः संबन्धे षडंशत्वं दिग्भागभेदात्², सर्वात्मना, प्रचयस्यैकपरमाणुमात्रत्वम् । प्रचयस्य परमाणुभ्यो भेदे प्रत्येक³ परिसमाप्त्यैकदेशेन⁴ वा वृत्तौ प्रचयबहुत्वं सांशत्वापादनमनवस्था⁵ च । न च परमाणुभिः 'संसृष्टैर्व्यवहितैर्वा⁷ प्रचयस्योपकारे⁸ संसर्गसंभवो, व्यवधानेन व्यवधीयमानाभ्यां⁹ व्यवधायकस्य¹⁰ सजातीयस्य, विजातीयस्य वा व्यवधाने¹¹ प्रकृतपर्यनुयोगोनवस्थाप्रसञ्जन¹² चेति स्वपक्षघातिः स्यात् सूक्ष्मस्थूलात्मनि बहिर्जात्यन्तरे तस्यानवकाशाच्च हर्षविषादाद्यनेकाकारात्मवत् । तत्रापि

यदि एक देश से सम्बन्ध मानें तब तो दिशाओं के विभाग भेद से परमाणु भी षडंशपने को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् कोई भी परमाणु पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं उर्ध्व, अधः इन छह दिशाओं का स्पर्श करता ही है, अतः देश रूप से सम्बन्ध मानने पर उसके छह अंश मानने ही पड़ेंगे । यदि सर्वदेश से सम्बन्ध मानों तब तो प्रचय को एक परमाणुपना प्राप्त हो जावेगा अर्थात् स्कन्ध रूप बाह्य परमाणुओं के प्रचय को एवं ज्ञान परमाणु के प्रचय को एक परमाणु रूप मानना पड़ेगा । प्रचय को यदि आप परमाणुओं से भिन्न मानें तब तो पुनः प्रश्न यह होता है कि वे परमाणु प्रचय के प्रत्येक में परिसमाप्त होकर रहते हैं या एक देश से रहते हैं ?

यदि वे परमाणु प्रचय प्रत्येक में परिसमाप्त होकर रहते हैं तब तो प्रचय बहुत से हो जावेंगे । यदि एक देश से रहते हैं तब तो वे प्रचय अंश सहित मानने पड़ेंगे एवं कहीं पर भी इनकी व्यवस्था न होने से अनवस्था भी हो जायेगी ।

यदि आप कहो कि परमाणुओं के द्वारा प्रचय का उपचार किया जाता है तब तो प्रश्न यह होता है कि संसृष्ट-मिले हुये परमाणुओं से प्रचय का उपकार किया जाता है या व्यवहित-व्यवधान सहित (अन्तराल सहित) पृथक्-पृथक् परमाणुओं से प्रचय का उपकार किया जाता है ! यदि प्रथम पक्ष लेवो तब तो एक देश से उपकार है या सर्वदेश से ? इत्यादि प्रश्न के होने पर मिले हुये परमाणुओं से प्रचय का उपकार मानने पर संसर्ग का ही अभाव हो जाता है । दूसरे व्यवधान का पक्ष लेने पर तो व्यवधीयमान दो परमाणुओं के द्वारा सजातीय व्यवधायक का व्यवधान है या विजातीय का ?

1 अत्राह सौमनः हे स्याद्वादिन् यो निरंशः परमाणुर्भवताभ्युपगम्यते सः परमाणुरन्वेः परमाणुभिः सहैकदेशेन संबद्धयते सर्वात्मना वेति प्रश्नः । एकदेशेन संबन्धे सति परमाणोः षडंशत्वमायाति दिग्भागभेदात् । कीर्थः । यत्रैकपरमाणुस्तिष्ठति तस्य चतुर्दिक्षु चत्वारः परमाणवो लगन्ति । एक उपरि एकोद्योभयो लगति अतः परमाणोः षडंशत्वं जातं तथा सर्वात्मना संबन्धे जाते सति स्कन्धस्यैकपरमाणुमात्रत्वं जातम् । दि० प्र० । 2 पूर्वोत्तरादि-प्रकारेण । दि० प्र० । 3 परमाणुषु । दि० प्र० । 4 सर्वात्मना । व्या० प्र० । 5 अनवस्थानञ्च । इति पा० । व्या० प्र० । 6 प्रचयेन सह सम्बद्धैः । व्या० प्र० । 7 देशान्तरितैः । व्या० प्र० । 8 प्रचयस्वरूपनिष्पत्तिलक्षणैः । व्या० प्र० । 9 व्यवधानविषयाभ्याम् । व्या० प्र० । 10 व्यवधानकारणस्य । व्या० प्र० । 11 व्यवधायकान्तरेण क्षणेन व्यवधानेऽव्यवधानपक्षस्यानङ्गीकरणात् । व्या० प्र० । 12 व्यवधीयमानाभ्यां व्यवहितौ व्यवधायकान्तराभ्या-मिति । व्या० प्र० ।

विरोधो¹ दूषणमिति चेत् सर्वथा कथंचिद्वा ? न तावदाद्यः पक्षः, सर्वथा क्वचिद्विरोधासिद्धेः शीतोष्णस्पर्शयोरपि सत्त्वाद्यात्मनाऽविरोधात्, स्वेष्टेऽपि तत्त्वे । कथंचिद्विरोधपरिहारस्य ²नुन-
रायासता³मप्यशक्तेर्न⁴ द्वितीयः पक्षः संभवति । ⁵तत्साक्षात्पर्या⁷ वा⁸, विमत्य-
धिकरणभावापन्नं ज्ञानं, स्वरूपव्यतिरिक्तार्थालम्बनं, ग्राह्यग्राहकाकारत्वात्⁹ संतानान्तर-
सिद्धिवत्¹⁰ । विप्लज्ज्ञानग्राह्यग्राहकाकारत्वेन¹¹ व्यभिचार इति¹² चेन्न, संतानान्तरसाधन-

पूर्ववत् ही ये प्रश्न आते हैं एवं अनवस्था का भी प्रसंग आ जाता है । इस प्रकार से 'ज्ञान परमाणु रूप' आप बौद्धों का कथन स्वपक्षघाती बन जाता है किन्तु हम जैनियों के यहाँ तो इन दोषों को अवकाश ही नहीं है क्योंकि हमने बाह्य पदार्थों को सूक्ष्म, स्थूलात्मक एक जात्यंतर रूप से ही माना है; जैसे जीव में हर्ष, विषादादि अनेकाकार रूप पाये जाते हैं ।

सौगत—एक वस्तु में ही सूक्ष्मत्व एवं स्थूलत्व आदि कैसे रह सकते हैं ? अतः आपके यहाँ भी विरोध नाम का दूषण आता ही है ।

जैन—आप बौद्ध हमारे यहाँ विरोध दूषण को सर्वथा मानते हैं या कथंचित् ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि सर्वथा कहीं पर विरोध सिद्ध नहीं है । कारण शीत एवं उष्ण स्पर्श का भी सत्त्वादि स्वरूप से अविरोध है, विरोध नहीं है । आपके द्वारा मान्य इष्ट तत्त्व में भी सर्वदा विरोध नहीं है अर्थात् आपके यहाँ चित्रज्ञानादि लक्षण इष्ट हैं, उनमें भी सर्वथा विरोध सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञानत्व आदि की अपेक्षा से परस्पर विरुद्ध युगपत् अनेकाकार उस ज्ञान में विद्यमान हैं ।

कथंचित् विरोध का परिहार करना तो पुनः आपके यहाँ भी अशक्य है, अतः द्वितीय पक्ष सम्भव नहीं है अर्थात् आप भी चित्रज्ञान में नील, पीतादि की अपेक्षा से विरोध मानते हैं किन्तु ज्ञान की अपेक्षा से विरोध नहीं मानते हैं । इसी का नाम तो "कथंचित् विरोध" है ।

वह कथंचित् विरोध भी साक्षात् है या परम्परा से है ? "विवादापन्न ज्ञान अपने स्वरूप से भिन्न बाह्य पदार्थ का अवलम्बन लेने वाला है क्योंकि वह ग्राह्य एवं ग्राह्यकाकार रूप है, जैसे संतानान्तर की सिद्धि ।"

1 जीवादी सूक्ष्मत्वञ्चेत् स्थूलत्वं कथमित्यनेन प्रकारेण । दि० प्र० । 2 निराकुर्वताम् । खेदमनुभवमानानाम् । दि० प्र० । 3 आयासं कुर्वताम् । ता । दि० प्र० । 4 सौत्रान्तिका प्रभृतेः कथञ्चिद्विरोधस्य संभवादिति भावः । व्या० प्र० । 5 दृष्टापन्हुतिरनिबन्धनैव यतः । व्या० प्र० । 6 बाह्यार्थग्राहकत्वं ज्ञानस्य साध्यवति जैनः । व्या० प्र० । 7 धूमस्वलक्षणाद्दहनस्वलक्षणम् । व्या० प्र० । 8 बहिरर्थग्राहकञ्च भवति । व्या० प्र० । 9 ता । व्या० प्र० । 10 संतानान्तरग्राहिका सिद्धिर्ज्ञानमनुमानरूपं यथा संतानान्तरलक्षणबाह्यार्थालम्बनम् । व्या० प्र० । 11 अत्राह परः । ध्रान्तज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारत्वेन कृत्वा ग्राह्यग्राहकाकारत्वादिति त्वद्वेतीव्यभिचारो घटते इति चेत् = स्या० व० एवं न कस्मात् यदि ज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारत्वं नास्ति तदा तत्र परसन्तानसाधनस्यापिव्यभिचारः प्रसजति = परसन्तानपक्षोस्तीति साध्यो धर्मो व्यापारव्याहारादिनिर्भासादिति परसन्तानसाधनम् । दि० प्र० । 12 व्यापार-
व्याहारनिर्भास्य । दि० प्र० ।

स्यापि¹ व्यभिचारप्रसङ्गात् । न हि² व्यापारव्याहारनिर्भासोपि³ विप्लुतो⁴ नास्ति, येना-
व्यभिचारी हेतुः स्यात् ।

[ज्ञाने ग्राहग्राहकाकारत्वं वासनाभेदादेव, न तु बहिरर्थसद्भावादित्युक्ते आहुराचार्याः ।]

तदन्यत्रापि⁵ वासनाभेदो⁶ गम्येत न संतानान्तरम् । यथैवं हि जाग्रद्दशायां बहिरर्थ-
वासनाया दृढतमत्वात्तदाकारस्य⁷ ज्ञानस्य सत्यत्वाभिमानः⁸, स्वप्नादिदशायां तु द्वासा-
नाया⁹ दृढत्वाभावात् तद्वेदनस्यासत्यत्वाभिमानो¹⁰ लोकस्य, न परमार्थतो बहिरर्थः सिध्य-

बौद्ध—विप्लवज्ञान-भ्रान्त ज्ञान-द्विचन्द्रज्ञान और स्वप्नज्ञान में भी ग्राह्य-ग्राह्यकाकार के होने से आपका हेतु व्यभिचारी है क्योंकि विप्लवज्ञान में अपने भिन्न अर्थ का अवलम्बन नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना अन्यथा आपका संतानान्तर साधन भी व्यभिचारी हो जावेगा । व्यापार एवं व्याहार-वचन का निर्भास विप्लुत न हो ऐसा नहीं है कि जिससे यह हेतु अव्यभिचारी होवे अर्थात् यह हेतु व्यभिचारी ही है क्योंकि स्वप्न दशा में व्यापार व्यवहार निर्भास विलुप्त ही है, अतएव आपका हेतु व्यभिचारी है ।

[ज्ञान में ग्राह्य-ग्राह्यकाकार भेद वासना के भेद से ही है किन्तु बाह्य अर्थ के सद्भाव से नहीं है । ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं]

अन्यत्र भी वासना भेद ही मान लेना चाहिये, संतानान्तर नहीं । जिस प्रकार से¹ जाग्रत अवस्था में बाह्यार्थ की वासना से दृढतम होने से तदाकार ज्ञान में सत्यत्व का अभिमान होता है, किन्तु स्वप्नादि दशा में वह बाह्य पदार्थ की वासना दृढ नहीं है अतएव उस स्वप्न के ज्ञान में असत्य रूप का अभिमान सभी जन करते हैं । अतएव पारमार्थिकरूप से बाह्य पदार्थ सिद्ध नहीं होते हैं । इस प्रकार से आप विज्ञानाद्वैतवादी लोग वासना भेद स्वीकार करते हैं ।

उसी प्रकार से अनुप्लव दशा में (जाग्रत दशा में) संतानान्तर ग्राहकज्ञान की वासना दृढतम होने से सत्यता का अभिमान होता है, अन्यत्र—स्वप्नादि उपप्लव दशा में उसकी दृढता के न होने से असत्यता का व्यवहार होता है । इस प्रकार से वासना भेद स्वीकार करना चाहिये किन्तु

1 संतानान्तरसाधने हेतुरयम् । दि० प्र० । 2 स्याद्वाद्याह । हे सौगत, व्यापारव्याहारनिर्भासादिति परसन्तान-साधको हेतुस्तव भ्रान्तो नास्ति न हि भ्रान्त एव येन कुतोव्यभिचारी स्यादपितु व्यभिचार्यैव । दि० प्र० । 3 निर्भासाविलुप्तो । इति पा० । दि० प्र० । 4 तस्माद्बाह्यार्थत्वात् । दि० प्र० । 5 संतानान्तरे । दि० प्र० । 6 आह सौगतः हे स्याद्वादिन् ! परसन्तानसाधनोस्मान्निर्भासनाभेदोऽङ्गीक्रियते न केवलमत्रैव तस्मात्परसन्ताना-दन्यत्र बहिरर्थेपि वासनाभेदोभ्युपगम्यते संतानान्तरं वासनाभेदान्न निश्चेयमस्माभिरस्यैवाग्रे व्याख्यानमस्ति प्रपञ्च-तो ज्ञेयम् । दि० प्र० । 7 बहिरर्थात् । दि० प्र० । 8 लोकस्य । दि० प्र० । 9 बहिरर्थं । दि० प्र० । 10 बहि-रर्थाकारज्ञानस्य । दि० प्र० ।

तीति वासनाभेदोभ्युपगम्यते, तथानुपप्लवदशायां सन्तानान्तरज्ञानस्य वासनाया दृढतमत्वात्स-
त्यताभिमानोन्यत्र तददाढर्चादिसत्यताव्यवहार इति वासनाभेदो गम्यतां¹, नतु संतानान्त-
रम् । तदनभ्युपगमे स्वसंतानक्षणक्षयादिसिद्धिः² कथमभ्युपगम्यते ? ततः सुदुपमपि गत्वा
किञ्चिद्वेदनं स्वेषटतत्त्वावलम्बनमेषितव्यम् । तदेव वेद्यवेदकाकारं³ बहिरर्थवेदनस्य स्वरूप-
व्यतिरिक्तालम्बनत्वं⁴ साधयति ।

ततो बहिरर्थस्य सिद्धेः सिद्धः वक्त्रादित्रयं, तस्य च बोधादित्रयम् । इति न जीव-
शब्दस्य सबाह्यार्थत्वसाधने संज्ञात्वस्य साधनस्यासिद्धतानैकान्तिकता⁶ वा, दृष्टान्तस्य वा
साधनधर्मादिवैधुर्यं, यतो न जीव सिद्धिः स्यात् । तत्सिद्धौ च तस्यार्थं परिच्छिद्यं प्रवर्तमानस्य

संतानान्तर नहीं क्योंकि उस वासना भेद के स्वीकार न करने से स्वसंतान के क्षण क्षयादि की सिद्धि कैसे कर सकेंगे ? इसलिये कहीं न कहीं बहुत दूर जाकर भी अपने इष्ट तत्त्व का अवलम्बन लेने वाला कोई न कोई अनुमान ज्ञान स्वीकार करना ही चाहिये । वह ज्ञान ही वेद्य वेदकाकार रूप है अतः वह अपने स्वरूप से भिन्न पदार्थ का अवलम्बन लेने वाला बाह्य पदार्थ के ज्ञान को सिद्ध कर दी देता है ।

इस प्रकार से बाह्य पदार्थ के सिद्ध हो जाने से वक्ता, श्रोता एवं प्रमाता ये तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं और उनके बोध, वाक्य और प्रमा भी सिद्ध हो जाते हैं । इस तरह जीव शब्द को बाह्यार्थ सहित सिद्ध करने पर “संज्ञात्वात्” हेतु असिद्ध अथवा अनैकान्तिक नहीं है, अथवा ‘हेतुशब्दवत्’ यह दृष्टान्त भी साधन धर्मादि से रहित नहीं है कि जिससे जीव की सिद्धि होती ही है । उस जीव की सिद्धि हो जाने पर जीव के अर्थ को जानकर प्रवृत्ति करते हुये पुरुष के संवाद एवं विसंवाद की सिद्धि है ही । अब सप्तभंगी दिखाते हैं ।

1 अत्राह स्याद्वादी बहिरर्थे परसन्तानसाधने च सौगर्तैर्वासनाभेदोऽङ्गीक्रियतामस्माकं प्रयोजनं नास्ति परन्तु पर सन्तानं वासनाभेदः निश्चेयं तस्य परसन्तानस्याऽङ्गीकारे स्वसन्तानस्य क्षणक्षयादिसिद्धिः कथमङ्गीक्रियते सौगर्तैः यत एवं ततः बहुतरविकल्पात् कृत्वापि किञ्चिदिन्द्रियप्रत्यक्षं स्वसंवेदनप्रत्यक्षमनुमानज्ञानं स्वबाह्यार्थप्राहकं निश्चेत-
व्यम् = यस्मादेवं तस्मात् प्राह्यप्राहकाकारत्वादिति साधनं बहिरर्थज्ञानस्य बहिरर्थविषयप्राहकं साधयति = यत एवं ततो बहिरर्थः सिद्धयति वक्तृश्रोतृप्रमातृणां त्रयं सिद्धं तस्य त्रयस्य च बोधवाक्यप्रमाणत्रयञ्च सिद्धम् । दि० प्र० ।
2 स्वप्नाद्युपप्लवदशायाम् । व्या० प्र० । 3 वेद्यवेदकाकाररूपं साधनम् । व्या० प्र० । 4 बाह्यार्थालम्बनम् । व्या० प्र० ।
5 जीवशब्दः पक्षः सबाह्यार्थो भवतीति साध्यो धर्मः संज्ञात्वादित्येतस्य साधनस्यासिद्धता न व्यभिचारिता च न तथा हेतुशब्दवदिति दृष्टान्तस्य साधनसाध्यं धर्माभ्यां शून्यत्वं न सम्पूर्णत्वमेव = कुतो जीवसिद्धिर्न स्यादपितु स्यात् = अस्य जीवस्य सिद्धौ सत्यां तस्य जीवस्यार्थमभिधेयत्वं निश्चित्य प्रवर्तमानस्य ज्ञानस्य संवादसिद्धिः सत्यत्वं सिद्धयर्थेवार्थं विनिश्चित्य प्रवर्तमानस्य ज्ञानस्य विसंवादो सत्यत्वं सिद्धयर्थेव । दि० प्र० । 6 बोधवाक्यप्रमाः पृथगिति वाक्यस्य समथितत्वेन संज्ञायाः सिद्धत्वात् । दि० प्र० ।

संवादविसंवादसिद्धिः सिध्यत्येव । स्यात् सर्वमभ्रान्तमेव ज्ञानं भावप्रमेये संवादापेक्षणात् । स्याद्भ्रान्तं बहिरर्थे विसंवादापेक्षणात् । स्यादुभयं, क्रमापिततद्द्वयात् । स्यादवक्तव्यं सहापिततद्द्वयात् । स्याद्भ्रान्तावक्तव्यं संवादसहापिततद्द्वयात् । स्याद्भ्रान्तावक्तव्यं विसंवादसहापिततद्द्वयात् । स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमापिततद्द्वयात् । इति पूर्ववत् सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजयितव्या, तथैवातिदेशसामर्थ्यात्¹ तद्विचारस्य सिद्धेः, प्रमाणनयादेशादपि प्रतिपत्तव्या ।

कथंचित् सभी ज्ञान अभ्रान्त ही हैं क्योंकि भाव-ज्ञान को प्रमेय करने पर वे संवाद-स्वरूप में सत्यता की अपेक्षा रखते हैं । कथंचित् सभी ज्ञान भ्रान्त ही हैं क्योंकि बाह्य पदार्थ में विसंवाद की अपेक्षा रहती है । कथंचित् उभय रूप हैं क्योंकि क्रम से दोनों की अपेक्षा है । कथंचित् अवक्तव्य हैं क्योंकि एक साथ संवाद एवं विसंवाद दोनों की अपेक्षा है । कथंचित् अभ्रान्त और अवक्तव्य हैं क्योंकि संवाद एवं युगपत् दोनों की विवक्षा है । कथंचित् भ्रान्त, अवक्तव्य हैं क्योंकि विसंवाद एवं युगपत् दोनों की अपेक्षा है । कथंचित् सभी ज्ञान उभय एवं अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम एवं अक्रम से द्वय की विवक्षा है ।

इस प्रकार से पूर्व के समान सप्तभङ्गी प्रक्रिया को योजित कर लेना चाहिये क्योंकि उसी प्रकार के अतिदेश—आगम की सामर्थ्य से वह सप्तभङ्गी विचार-परीक्षा सिद्ध है । एवं प्रमाण नय के आदेश से भी उस सप्तभङ्गी को समझ लेना चाहिये ।

1 तथैव गुरुपदेशसामर्थ्यात् बलात्सप्तभङ्गीविचारस्य सिद्धिर्ज्ञेया : प्रमाणनयापेक्षयापि । दि० प्र० ।

“जीव के अस्तित्व की सिद्धि का सारांश”

चार्वाक का कहना है कि अपने स्वरूप से रहित, शरीर इन्द्रिय आदि के समूह से जीव शब्द अर्थ वाला है अतएव जैनों के द्वारा मान्य अनादिनिधन आत्मा नाम को सिद्ध करने वाला कोई जीव शब्द नहीं है क्योंकि चैतन्य भी सत् है एवं भूत चतुष्टय भी सत् है अतः सत् रूप से दोनों जगह समन्वय होने से जीव भूत चतुष्टय से जन्य है किन्तु भूत चतुष्टय तो परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, उन चारों में एक-विकारी रूप समन्वय नहीं है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आपका यह कथन सर्वथा असत् है। जीव शब्द संज्ञा रूप होने से बाह्यार्थ से सहित है। “जीव गया” विद्यमान है इत्यादि रूप से वह लोक रूढ़ि का आश्रय लेता है यह व्यवहार शरीर में नहीं हो सकता है क्योंकि शरीर तो आत्मा के भोग का आश्रय है यह व्यवहार इन्द्रिय एवं विषयों में भी नहीं होता है क्योंकि इन्द्रियाँ तो उपभोग की साधन हैं एवं विषय तो आत्मा के भोग्य रूप हैं अतः भोक्ता आत्मा में ही “जीव” यह शब्द रूढ़ है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त ही अन्वय रूप से आत्मा भोक्ता ही ऐसा नहीं है किन्तु जन्म से पहले एवं मरण के अनन्तर भी उसका सद्भाव पाया जाता है। जो आपने कहा कि चैतन्य एवं भूत चतुष्टय एक विकारी रूप से समन्वित हैं एवं भूत चतुष्टय सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं यह कथन भी सर्वथा विपरीत है क्योंकि चैतन्य का भूत के साथ सत् रूप से समन्वय होकर भी लक्षण से सर्वथा भेद है, तथा भूत चतुष्टय सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इसलिये कर्तृत्व, भोक्तृत्व लक्षण, ज्ञान दर्शन उपयोग स्वभाव वाले जीव से जीव शब्द बाह्यार्थ सहित है।

सांख्य जीव को निरतिशय-कूटस्थ नित्य अपरिणामी मानते हैं। योग अस्वसंविदित कहते हैं, ब्रह्मवादी सभी शरीरों में एक अभिन्न रूप ही जीवात्मा को कहते हैं एवं बौद्ध आत्मा को प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न ही मानते हैं इन सबके द्वारा स्वीकृत जीव शब्द बाह्यार्थ सहित नहीं है क्योंकि यह सब मान्यता केवल कपोल कल्पित ही है।

इस पर यदि बौद्ध कहें कि मायादि भ्रान्तिरूप शब्द अपने अर्थ से रहित हैं तब तो भ्रान्ति-वाचक शब्द यदि भ्रान्ति रूप अर्थ को नहीं कहेंगे तो उन शब्दों से भ्रान्ति का ज्ञान न होकर अभ्रान्ति रूप ज्ञान ही हो जावेगा। एवं सभी बाह्य पदार्थ प्रमाणभूत हो जावेंगे किन्तु ऐसा है नहीं। तथैव खरविषाणादि शब्द भी अपने अभाव रूप अर्थ के वाचक ही हैं। अतएव ज्ञान, शब्द और अर्थ इन तीनों के नाम बुद्धि आदि अर्थ को कहने वाले हैं। “जीवो न हंतव्यः” इस वाक्य से जीव अर्थ को प्रकट करने वाला ज्ञान, तथा “जीव इति बुद्धयते” इससे ज्ञान रूप अर्थ का ज्ञान एवं “जीव इत्याह”

इससे जीव शब्द का प्रतिबिम्बक ज्ञान प्रकट होता है । इस प्रकार से तीनों ही संज्ञाओं से तीन प्रकार के अर्थ जाने जाते हैं ।

यदि विज्ञानवादी कहे कि ज्ञान से अतिरिक्त कोई संज्ञा एवं पदार्थ ही नहीं है । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि वक्ता में वाक्य, श्रोता में ज्ञान, एवं प्रमाता में प्रमाण इस प्रकार से वक्ता, श्रोता और प्रमाता एवं बोध वाक्य और प्रमा ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं ।

यदि बौद्ध इन सबको भ्रान्त कल्पित करे तब तो आपका इष्ट तत्त्व भी भ्रान्त हो जायेगा । क्योंकि इष्ट तत्त्व सिद्ध करने वाले वाक्य भी तो भ्रान्त रूप ही माने हैं । तथा आपकी मान्यता भ्रान्त होने से स्याद्वाद ही निभ्रान्त सिद्ध हो जावेगा । अतः बाह्य पदार्थ के होने पर ही ज्ञान एवं शब्द प्रमाण रूप हैं तथा बाह्य पदार्थ के अभाव में प्रमाणभूत नहीं हैं इस प्रकार से अर्थ की प्राप्ति-अप्राप्ति से ही सत्य, असत्य की व्यवस्था होती है ।

“बाह्य पदार्थ परमार्थ सत् है क्योंकि साधन एवं दूषण का प्रयोग देखा जाता है ।” यदि बाह्य पदार्थ के अभाव में भी साधन दूषण का प्रयोग होवे तब तो स्वप्न और जाग्रत अवस्था समान हो जावेगी अर्थात् योगाचार बाह्य पदार्थ का अभाव सिद्ध करता है तथा सौतांत्रिक बौद्ध बाह्य पदार्थों को मानकर भी सर्वथा क्षणध्वंसी मानते हैं । अतएव दूषण दोनों जगह समान हैं ।

प्रश्न यह होता है कि परमाणुओं का सम्बन्ध एक देश से है या सर्वदेश से ? यदि एक देश से मानें तब तो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उर्ध्व, अधः षट् दिशाओं के विभाग से परमाणु षडंश हो जाता है । यदि सर्व देश से सम्बन्ध मानें तब तो स्कंधरूप बाह्य परमाणुओं के प्रचय को एक परमाणु रूप मानना पड़ेगा । इत्यादि अनेक दोष आने से बौद्धाभिमत असत्य ही ठहरता है । इस प्रकार से बाह्य पदार्थ के सिद्ध हो जाने से वक्ता, श्रोता एवं प्रमाता तीनों सिद्ध हो जाते हैं एवं उनके बोध, वाक्य और प्रमा भी सिद्ध हो जाते हैं अतः जीव शब्द बाह्यार्थ सहित सिद्ध हो जाता है । अतएव जीव तत्त्व की सिद्धि हो जाती है । अब सप्तभंगी को दिखाते हैं ।

१. कथंचित् सभी ज्ञान अभ्रान्त ही है क्योंकि ज्ञान प्रमेय की अपेक्षा स्वरूप से सभी सत्य हैं ।
२. कथंचित् सभी ज्ञान भ्रान्त ही है क्योंकि बाह्य पदार्थ में विसंवाद की अपेक्षा रहती है ।
३. कथंचित् उभयरूप है क्योंकि क्रम से दोनों की अर्पणा है ।
४. कथंचित् अवक्तव्य है क्योंकि एक साथ संवाद एवं विसंवाद दोनों की अर्पणा है ।
५. कथंचित् अभ्रान्त और अवक्तव्य है क्योंकि संवाद एवं युगपत् दोनों की विवक्षा है ।
६. कथंचित् भ्रान्त अवक्तव्य है क्योंकि विसंवाद एवं युगपत् दोनों की विवक्षा है ।
७. कथंचित् सभी ज्ञान उभय एवं अवक्तव्य है क्योंकि क्रम एवं अक्रम से द्वय की विवक्षा है ।

ज्ञानैकान्तादिपक्षे^१ गगनफलमिव ज्ञा (कोपायतत्त्वं^२,
 संभाव्यं नैव मानात् कथमपि निपुणं भावयद्भिर्महद्भिः ।
 स्याद्वादे तत्प्रसिद्धं विविधनयबलात्तत्त्वतः^३ शुद्धबुद्धे—
 रित्याज्ञातं^४ प्रपञ्चाद्विचरतु सुचिरं स्वामिनः सद्वचःसु^५ ॥१॥

इत्याप्तमीमांसात्कृतौ सप्तमः परिच्छेदः ।

श्लोकार्थ — निपुणता चाहने वाले महापुरुषों द्वारा विज्ञानाद्वैतादि एकांत पक्ष में ज्ञापक रूप उपाय तत्त्व आकाश फल के समान प्रमाण से कथमपि संभाव्य नहीं है ऐसा समझना चाहिये । एवं शुद्ध बुद्धि वाले पुरुषों को विविध नयों के बल से स्याद्वादे में वस्तुतः ज्ञापकोपाय तत्त्व प्रसिद्ध है । इस-इसलिये श्री स्वामी समंतभद्राचार्यवर्य के सद्वचनों में विस्तार से वह उपाय तत्त्व चिरकाल तक विचरण करे ॥१॥

स्वात्मतत्त्व सर्वोच्च है, नमूं-नमूं नत शीश ।
 जिनवाणी की भक्ति से, बनूं त्रिजग के ईश ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यकृत “आप्तमीमांसा-
 लंकृति” अपरनाम “अष्टसहस्री” ग्रन्थ में आर्यिका
 ज्ञानमतीकृत भाषा अनुवाद, पद्यानुवाद
 भावार्थ, विशेषार्थ और सारांश
 सहित इस “स्याद्वादचिंतामणि”
 नामक टीका में यह
 सातवां परिच्छेद
 पूर्ण हुआ ।



१ ज्ञानैकान्तवादी योगाचार आदिशब्देन बहिरङ्गार्थैकान्तवादी वैभाषिकः सौत्रान्तिकश्च वाच्यतत्त्वमुभयैकान्ते क्रम-
 विवक्षायां वैभाषिकसौत्रान्तिकयोरेव वाच्यमनुभयैकान्ते युगपद्विवक्षायां योगाचारस्य ग्रहणम् । व्या० प्र० । २ प्रमाण-
 लक्षणोपायस्वरूपम् । दि० प्र० । ३ युक्ति । व्या० प्र० । ४ आज्ञा । दि० प्र० । ५ सद्वस्तु । इति पा० । दि० प्र० ।
 सतां वचनेषु । दि० प्र० ।

“सप्तम परिच्छेद का सार”

इस परिच्छेद में बौद्धाभिमत विज्ञानैकांत का उपपत्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। अथवा हित की प्राप्ति और अहित का परिहार साधनपूर्वक है। वह साधन ज्ञापक एवं कारक के भेद से दो प्रकार का है। इसमें ज्ञापक, उपायतत्त्व का निर्णय किया है। उसमें कोई बौद्ध बाह्य उपेय तत्त्व का अनादर करके केवल उपायतत्त्व ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं, किन्तु वह समंजस नहीं है। अथवा बाह्य उपेय पदार्थ का अभाव करने पर तो ज्ञापक उपाय भी असत् हो जावेगा।

यदि आत्मा को उपेय रूप स्वीकार करो तो भी ज्ञान के साथ अभेद होने से अथवा तादात्म्य होने से आत्मा के लिये उसकी स्वीकृति ही व्यर्थ है क्योंकि उसका ज्ञान सत् रूप होने से स्वतः सत्त्व सिद्ध है। एवं वहां उपाय रूप से ज्ञान अनुपयोगी है।

दूसरी बात यह है कि बाह्य अर्थ का अभाव सिद्ध नहीं होता है। बाह्य पदार्थ का ज्ञान होने पर भी उन्हें भ्रान्त मानने पर तो ज्ञान का स्वरूप भी भ्रान्त हो जायेगा क्योंकि दोनों जगह समानता ही है। दृश्यमान बाह्य पदार्थ को स्वप्न के समान भ्रान्त मानने पर तो जाग्रत विषय के समान भ्रान्त भी उन्हें मानो, अन्यथा स्वप्न दशा एवं जाग्रत दशा दोनों में समानता होने पर स्वप्न का विषय दृष्टांत नहीं बन सकेगा। एवं पर को प्रतिपादन किये बिना जानाद्वैत भी कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि प्रतिपादन करना तो पुद्गलकृत शब्दात्मक होने से बाह्य पदार्थ रूप है, अतः जानाद्वैत एकांत श्रेयस्कर नहीं है।

बाह्यार्थ रूप होने से शब्द को मिथ्या मानने से तो उन शब्दों से ही प्रतिपादित आपका विज्ञानाद्वैत भी मिथ्यारूप हो जावेगा क्योंकि साधन को मिथ्या मानने पर उसे सिद्ध किया गया साध्य भी मिथ्या ही होगा इत्यादि प्रकार से इसमें विज्ञानाद्वैत का निरसन किया गया है।



अथाष्टमः परिच्छेदः ।

५—५

धर्मपौरुषतो येन, स्वदैवो मूलतो हतः,

चकास्त्वन्तशक्त्या यो, नुमस्तं मोक्षहेतवे ॥

ज्ञापकमुपायतत्त्वं समन्तभद्राकलङ्कनिर्णीतम् ।

सकलकान्तासंभवमष्टसहस्री^१ निवेदयति ॥१॥

देवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं^२ पौरुषतः कथम् ।

^३दैवतश्चेदनिर्मोक्षः^४ पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥८८॥

अथाष्टम परिच्छेद

अर्थ—जिन्होंने अपने धर्म पुरुषार्थ के बल से अपने दैव को—शुभ-अशुभ कर्म को जड़मूल से नष्ट कर दिया है और जो अनंतशक्ति से—अनंतगुणों से शोभित हो रहे हैं, मोक्ष के लिये हम उन्हें नमस्कार करते हैं । (यह मंगलाचरण श्लोक अनुवादकर्त्री द्वारा रचित है ।)

श्लोकार्थ—जो श्री समन्तभद्र स्वामी के द्वारा 'देवागम स्तोत्र' रूप से और श्री भट्टाकलंक देव के द्वारा अष्टशती टीका रूप से निर्णीत है । अथवा जो श्री समन्तभद्र स्वामी के द्वारा अकलंक—निर्दोष रूप से निर्णीत है तथा समन्तात्—सर्वतः भद्रस्वरूप, श्री अकलंकदेव के द्वारा निर्णीत है । जिसमें एकांत पक्ष असंभव है ऐसा ज्ञापक—प्रकाशक ज्ञान रूप उपाय तत्त्व का यह अष्टशती विस्तृत विवेचन करती है ॥१॥

यदी भाग्य से सभी कार्य को, सिद्धि मान लिया तब तो ।

पुरुषार्थ से भाग्यरूप यह, कार्य बना यह कहना क्यों ॥

यदी भाग्य यह पूर्व-पूर्व के, भाग्यों से ही बन जाता ॥

तब तो मोक्ष नहीं किसको भी, पौरुष भी निष्फल होगा ॥८८॥

कारिकार्थ—यदि दैव-भाग्य से ही अर्थ—प्रयोजन की सिद्धि मानी जाये, तब तो वह दैव पौरुष से पुरुष के व्यापार से कैसे सिद्ध होगा ? यदि ऐसा कहो कि उस दैव की सिद्धि भी दैव से ही होती है तब तो मोक्ष भी कभी नहीं हो सकेगा अतः उस मोक्ष का अभाव हो जावेगा एवं मोक्ष के कारण रूप से स्वीकृत पौरुष—पुरुषार्थ भी निष्फल हो जावेगा ।८८॥

१ बसः । व्या० प्र० । २ पुण्यपापरूपात् । व्या० प्र० । ३ दैवमुत्पद्यत इति चेत् । तदा । दि० प्र० । ४ मोक्षाभावः स्यात् । दि० प्र० ।

कारकलक्षणमुपायतत्त्वमिदानीं^१ परीक्ष्यते । तद्धि, केचिद्देवमेव दृष्टादृष्टकार्यस्य साधनमित्याचक्षते^२, पौरुषमेवेत्यपरे । किञ्चिद्देवादेव किञ्चित्पौरुषादेवेत्यन्ये, तदुभयसाधनत्वे-नावक्तव्यमेवेति चेतरे^३ ।

[भाग्येनैव सर्वाणि कार्याणि सिद्ध्यन्ति इति एकांतमान्यतायाः परिहारः ।]

तत्र दैवादेव यदि सर्वस्यार्थस्य^४ सिद्धिरुच्यते तदा दैवमपि कथं पुरुषव्यापारात् कुश-लाकुशलसमाचरणलक्षणादुपपद्येत^५, प्रतिज्ञाहानेः । दैवान्तरादेव दैवं, न पौरुषादित्यभ्युपगमेऽ-निर्माक्षो मोक्षाभावः, पूर्वपूर्वदैवादुत्तरोत्तरदैवप्रवृत्तेरनुपरमात्^६ । ततः पौरुषं निष्फलं भवेत् ।

[भाग्य से ही एकांत से सभी कार्य होते हैं इस एकांत मान्यता का जनाचार्य परिहार करते हैं ।]

पिछली कारिका में ज्ञापक लक्षण उपाय तत्त्व का निर्णय किया गया है । अब कारक लक्षण उपाय तत्त्व की परीक्षा करते हैं । उसी का स्पष्टीकरण —

कोई मीमांसक 'दैव ही दृष्ट और अदृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष आदि सभी कार्यों का साधन है' ऐसा कहते हैं । सौगत पौरुष को ही मानते हैं । कुछ स्वर्गादि देव से ही होते हैं एवं कुछ कृषि आदिक पौरुष से ही होते हैं इस प्रकार कोई मीमांसक विशेष मानते हैं । ये दोनों साधन रूप अवक्तव्य ही हैं कोई ऐसा मानते हैं । उन सभी में पहले प्रथम पक्ष का निराकरण करते हैं—

यदि भाग्य से ही सभी कार्यों की सिद्धि मानी जाये तब तो भाग्य भी कुशल एवं अकुशल आचरण रूप पुरुषार्थ से कैसे बनेगा ? क्योंकि प्रतिज्ञा हानि दोष आता है । यदि भिन्न भाग्य से अर्थात् पूर्व के भाग्य से ही भाग्य को मानें, पुरुषार्थ से न मानें तब तो किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा, मोक्ष का अभाव हो जावेगा कारण कि पूर्व-पूर्व के भाग्य से उत्तरोत्तर भाग्य बनते जाने से किसी समय भी उपरति-भाग्य का अभाव नहीं हो सकेगा एवं मोक्ष के अभाव से मोक्ष निमित्तक पुरुषार्थ भी निष्फल हो जावेगा ।

१ ज्ञायकलक्षणमुपायतत्त्वं परीक्षयित्वाधुनाषट्कारकलक्षणमुपायतत्त्वं विचायते केचन वादिन ऐहिकाभुक्तिककार्यस्य साधनं भवतीति वदन्ति = अपरे केचन पौरुषमेवदृष्टादृष्टकार्यस्य साधनं भवतीति वदन्ति = अन्ये किञ्चित्कार्यस्य साधनं दैवात् किञ्चित्पौरुषात् भवतीत्याहुः = केचन तदुभयादपि कार्यस्य साधनं न भवतीत्यतोऽवक्तव्यमेवेति वदन्ति = तत्र चतुर्षु विकल्पेषु मध्ये यदि सर्वस्य लोकस्य दैवादेवार्थसिद्धिरुच्यते दैववादिभिस्तदा पुरुषव्यापाराद्देवं जामत इति कथं घटते । घटते चेत्तदा दैवादेवार्थसिद्धि इति तत्र प्रतिज्ञा हीयते = पराह दैवाददैवं जायते न पौरुषा-दिति चेत् स्या० वदति इत्यङ्गीक्रियमाणे मोक्षाभावः कस्माद्दैवाद्देवप्रवृत्तेरनवस्थानात् = तस्मात्पुरुषव्यापारो निष्फलो भवेत् । दि० प्र० । २ साधकम् । दि० प्र० । ३ मीमांसकाः । दि० प्र० । सीमताः । व्या० प्र० । ४ अर्थस्य प्रयोजनस्य । व्या० प्र० । ५ अन्यथा । व्या० प्र० । ६ तत् । व्या० प्र० ।

पौरुषाद्वैवस्य¹ परिक्षयान्मोक्षप्रसिद्धेर्न तन्निष्फलमिति² चेत् सैव³ प्रतिज्ञाहानिः । मोक्षकारणभौरुषस्यापि दैवकृतत्वात् परंपरया मोक्षस्यापि दैवकृतत्वोपपत्तेर्न प्रतिज्ञाहानिरिति चेत् तर्हि पौरुषादेव तादृशं दैवमिति⁴ न दैवैकान्तः । एतेन धमदिवाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरित्येकान्तः⁵ प्रतिक्षिप्तो, महेश्वरसिमृक्षानर्थक्यप्रसङ्गाच्च ।

कुतस्तर्हि समीहितार्थसिद्धिरित्युच्यते । योग्यता कर्म पूर्व⁶ वा दैवमुभयमदृष्टं, पौरुषं पुनरिहचेष्टितं⁷ दृष्टम् । ताभ्यामर्थसिद्धिः⁸, ⁹तदन्यतरापायेऽघटनात्¹⁰ पौरुषमात्रेर्थादर्श-

शंका (मीमांसक)—पुरुषार्थ से दैव का निर्मूल नाश हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति प्रसिद्ध है इसलिये पुरुषार्थ निष्फल नहीं होगा ।

समाधान (जैन —यदि ऐसा कहो तब तो आपकी प्रतिज्ञा नष्ट हो जावेगी अर्थात् आपने दैव से ही सभी कार्य माने हैं तो यह बात कहाँ सिद्ध होगी ? क्योंकि आपने पुरुषार्थ से मुक्ति की प्राप्ति तो स्वीकार ही कर ली है ।

मीमांसक मोक्ष का कारणभूत पुरुषार्थ भी दैवकृत ही है अतः परम्परा से मोक्ष सिद्धि भी भाग्यकृत ही रही । इसलिये प्रतिज्ञा हानि दोष नहीं आता है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो पुरुषार्थ से ही वैसा दैव बना है इस प्रकार से देवैकान्त पक्ष भी नहीं रहा । “पुरुषार्थ से ही वैसा दैव होता है” इसी कथन से “धर्म से ही अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि होती है” इस एकांत पक्ष का भी खण्डन कर दिया गया है और महेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा व्यर्थ हो जावेगी अर्थात् श्लोक “अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयो । ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥”

अर्थ—यह संसारी प्राणी अज्ञानी है और अपने सुख दुःख में असमर्थ है यह ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग-नरक जाता है इत्यादि रूप से कल्पित महेश्वर की सृष्टि की इच्छा निष्फल हो जावेगी कारण कि सृष्टि की उत्पत्ति तो दैवाधीन हो गई पुनः महेश्वर उस सृष्टि का कारण कैसे घटेगा ?

भाग्यवादी—पुनः समीहित कार्य की सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् आग भाग्य को तथा पुरुषार्थ को किसी एक को भी कारण नहीं मानते रहे हैं तब समीहित कार्य कैसे सिद्ध होंगे ?

जैन—योग्यता, पूर्वकर्म अथवा दैव अदृष्ट हैं एवं सभी भाग्य के ही पर्यायवाची नाम हैं तथा इह चेष्टित पौरुष—यहाँ पर किये गये पुरुषार्थ दृष्ट हैं ये पुरुषार्थ के नामान्तर हैं । इन दोनों के द्वारा ही अर्थ की सिद्धि होती है, इनमें से किसी एक का अभाव मानने पर व्यवस्था नहीं घटित होगी

1 पुण्यपापरूपस्य । व्या० प्र० । 2 न तु । इति पा० । दि० प्र० । 3 दैवादर्थसिद्धिः । दि० प्र० । 4 परम्परया मोक्षकारणम् । व्या० प्र० । 5 पुरुषस्य । व्या० प्र० । 6 पूर्व कर्म । इति पा० । व्या० प्र० । दि० प्र० । 7 पुरुषे, व्यापृतम् । दि० प्र० । 8 दृष्टादृष्टाभ्याम् । दि० प्र० । 9 अभावे । दि० प्र० । 10 अर्थसिद्धेरसंभवात् । दि० प्र० ।

नाद्, देवमात्रे वा ¹समीहानर्थक्यप्रसङ्गात्² । स्वयमप्रयतमानस्य सर्वमिष्टानिष्टमदृष्टमात्रा-
देव³, प्रयतमानस्य तु प्रयत्नाख्यात् पौरुषाद् दृष्टादिति⁴ वदन्नपि न प्रेक्षावान्, कृष्यादिषु
सम⁵ प्रयतमानानां ⁶कस्यचिदेवार्थप्राप्त्यनर्थोपरम⁷दर्शनादपरस्थानर्थप्राप्त्यर्थोपरमप्रतीतेः⁸,
धर्माधर्मयोरपि⁹ ¹⁰तन्निमित्तत्वसिद्धेः¹¹ । स्वयमप्रयतमानानामर्थप्राप्त्यनर्थोपरमयोरनर्थप्राप्त्यर्थो-
परमयोश्च सद्भावेपि प्रयत्नाभावेनुपभोग्यत्वप्रसङ्गात्¹² पौरुषस्यापि¹³ तदनुभवकारणत्वनिश्च-
यात्¹⁴ सर्वत्र¹⁵ ¹⁶दृष्टा¹⁷दृष्टयोर्निमित्तत्व¹⁸सिद्धिस्तयोरन्यतरस्याप्यपाये¹⁹ ²⁰तस्यानुपपद्यमान-

क्योंकि पुरुषार्थ मात्र से कार्य सिद्ध होता नहीं देखा जाता है अथवा देवमात्र को ही एकान्त से मानने पर ईवशर की इच्छा अनर्थक हो जावेगी ।

शंका—“स्वयं प्रयत्न न करते हुये जीवों के सभी इष्ट-अनिष्ट कार्य भाग्य मात्र से ही सिद्ध होते हैं किन्तु प्रयत्न करते हुए जनों के सभी इष्ट-अनिष्ट कार्य प्रयत्न नामक दृष्ट पुरुषार्थ से होते हैं ।

समाधान (जैन)—ऐसा कहने वाले आप भी बुद्धिमान् नहीं हैं । कृषि आदि कार्यों में एक साथ प्रयत्न करने वाले पुरुषों में से किसी के तो अर्थ कार्य को सिद्धि और अनर्थ-अकार्य का अभाव देखा जाता है तथा किसी के अनर्थ की प्राप्ति एवं अर्थ का अभाव देखा जाता है क्योंकि धर्म एवं अधर्म अर्थात् पुण्य और पाप भी उन कार्यों की सिद्धि-असिद्धि में निमित्त सिद्ध हैं ।

तथा स्वयं प्रयत्न न करने वाले पुरुषों को अर्थ की प्राप्ति, अनर्थ का अभाव एवं अनर्थ की प्राप्ति और अर्थ का अभाव विद्यमान है फिर भी प्रयत्न—पुरुषार्थ के अभाव में इष्ट-अनिष्ट अथवा सुख-दुःख के अनुपभोग्यपने का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् बिना पुरुषार्थ के उनका अनुभव भी नहीं हो सकेगा क्योंकि पुरुषार्थ भी उनके अनुभव का कारण निश्चित है । अतः सर्वत्र दृष्ट-पुरुषार्थ अदृष्ट-भाग्य दोनों ही निमित्त रूप से सिद्ध हैं । इन दोनों में से किसी एक का भी अभाव करने पर वह (इष्ट कार्य) बन नहीं सकता है ।

1 पौरुष । व्या० प्र० । 2 देवमात्रे वार्थसिद्धिर्न दृश्यते । दृश्यते चेत्तदा समीहायाः पुरुषचेष्टायाः अनर्थत्वमायाति । दि० प्र० । 3 इष्टानिष्टसिद्धिः । दि० प्र० । 4 प्रत्यक्षात् । व्या० प्र० । 5 युगपत् । व्या० प्र० । 6 पुरुषस्य । तेषां मध्ये । दि० प्र० । 7 अभाव । व्या० प्र० । 8 नुः । व्या० प्र० । 9 धर्मार्थसिद्धिरनर्थविनाशयोः कारणं तथापायमनर्थसिद्धार्थविनाशयोः कारणं घटते । दि० प्र० । 10 इष्टानिष्टप्रयोजन । व्या० प्र० । 11 अन्यथा । व्या० प्र० । 12 पुरुषस्य प्रयत्नाभावे सत्यर्थानर्थसिद्धयोरनुभवनत्वं न घटते = पुष्पस्तयोरर्थानर्थसिद्धयोरनुभवकारको निश्चीयते । दि० प्र० । 13 न केवलमदृष्टस्य । व्या० प्र० । 14 इष्टानिष्टयोरर्थानर्थ । व्या० प्र० । 15 ततश्च । दि० प्र० । 16 पौरुष । दि० प्र० । 17 पुण्यपाप । दि० प्र० । 18 इष्टानिष्टप्रयोजननिमित्तत्व । दि० प्र० । 19 दृष्टादृष्टयोर्मध्ये एकतरस्याप्यभावेऽर्थानर्थसिद्धयोरनुभवो नोपपद्यते । दि० प्र० । 20 अनुभवस्य । इष्टानिष्ट-प्रयोजननिमित्तत्वस्य । दि० प्र० ।

त्वात्¹, मोक्षस्यापि² ³परमपुण्यातिशय⁴चारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव⁵ संभवात् । ततो न पाक्षिकोपि दैवैकान्तः श्रेयान् ।

पौरुषादेव⁶ सिद्धिश्चेत्⁷ पौरुषं दैवतः कथम् ? ।

पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्, सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८६॥

[पुरुषार्थदेव यदि कार्यसिद्धिः स्यात्तर्हि सर्वप्राणिषु वर्तते एव सर्वेषां कार्यसिद्धिः कथं न भवति ?]

पौरुषादेवार्थस्य सिद्धिरिति वदतोपि कथं पौरुषं दैवतः स्यात् ? ⁸प्रतिज्ञाहानिप्रस-
ङ्गात् । तद्धि पौरुषं विना दैवसंपदा⁹ न स्यात्, 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः ।

मोक्ष भी परम पुण्यातिशयरूप भाग्य तथा चारित्र विशेषात्मक पुरुषार्थ से ही सम्भव है इसलिये पाक्षिक दैवैकांत श्रेयस्कर नहीं है । अर्थात् केवल पहला भाग्यैकांत श्रेयस्कर नहीं है ऐसा ही नहीं है किन्तु स्वयं प्रयत्न न करते हुये के सभी इष्ट-अनिष्ट कार्य भाग्य से ही होते हैं ऐसा पक्ष भी निर्दोष नहीं है ।

यदि पुरुषार्थ अकेले से ही, सभी कार्य की सिद्धि कहो ।

तब तो भाग्य उदय से यह, पुरुषार्थ कैसे बना अहो ॥

यदि पुरुषार्थ स्वयं पौरुष से, होता तब तो सब जन के ।

सभी कार्य की सिद्धि होगी, चूँकि सभी में पौरुष है ॥८६॥

कारिकार्थ—यदि केवल पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि मानी जावे तब तो दैव से पुरुषार्थ देखा जाता है वह कैसे घटेगा ? यदि कहो कि पुरुषार्थ भी पुरुषार्थ से ही उत्पन्न होता है पुनः किये गये सभी कार्य सफल होने चाहिये क्योंकि पुरुषार्थ तो सभी प्राणियों में पाया जाता है ॥८६॥

[यदि पुरुषार्थ से ही कार्यसिद्धि होती है तब तो सभी प्राणियों में पुरुषार्थ

है पुनः सभी के सभी कार्यों की सिद्धि क्यों नहीं होती ?]

यदि आप चार्वाक पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि होना कहते हैं तब तो पुरुषार्थ भाग्य से कैसे होगा ? अन्यथा प्रतिज्ञा हानि दोष आ जावेगा ।

शंका—पुरुषार्थ के बिना दैव सम्पत्ति नहीं हो सकेगी । "जैसी भवितव्यता होती है बुद्धि उसी प्रकार की हो जाती है, व्यवसाय भी वंसा ही होता है एवं सहायक भी वैसे ही मिलते हैं ।"

1 ननु च मोक्षो दृष्टादृष्टयोरन्यतरादेव तत्कथमन्यतरापायेऽर्थस्यानुपलभमानत्वं युक्तं भवेदित्याशंकायामाह । दि० प्र० । 2 न केवलमिष्टानिष्टकार्यस्य । दि० प्र० । 3 दैव । दि० प्र० । 4 द्वन्द्व । दि० प्र० । 5 यथाख्यात । दि० प्र० । 6 पुरुषव्यापारात् । दि० प्र० । 7 कार्यस्य । दि० प्र० । 8 दैवात्पौरुषं भवति चेत्तदा पौरुषादेवार्थसिद्धिरिति प्रतिज्ञा हीयते । दि० प्र० । 9 संपादिता । इति पा० । दि० प्र० ।

सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता' इति प्रसिद्धेः । तत्सर्व^१ बुद्धिव्यवसायादिकं पौरुषं पौरुषापादितमिति चेत्तद्दर्शनमोघमेव^२ सर्वप्राणिषु पौरुषं भवेत् । तथैवेति^३ चेत् तद्व्यभिचारदर्शनो न वै श्रद्धीरन्^४ । स्यान्मतमेतत्—पौरुषं द्विविधं, सम्यग्ज्ञानपूर्वकं मिथ्याज्ञानपूर्वकं च । तत्र मिथ्याज्ञानपूर्वकस्य पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनेपि^५ सम्यग्बोधनिबन्धनस्य^६ न व्यभिचारः । ततः सफलमेव पौरुषमिति । तदसत्^७ दृष्टकारणसामग्रीसम्यग्बोधनिबन्धनस्यापि^८ पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनात्^९ कस्यचिदुपेयाप्राप्तेरदृष्टकारणकलापसम्यग्बोधस्य^{१०} तु साक्षा-

यह बात प्रसिद्ध है । वे सभी बुद्धि व्यवसायादिक पुरुषार्थ ही हैं क्योंकि वे सभी पुरुषार्थ से ही होते हैं ।

जैन—तब तो सभी प्राणियों का पुरुषार्थ सफल ही सिद्ध होगा ।

शंका—सफल ही देखा जाता है ।

जैन—तब तो पुरुषार्थ के होने पर भी उससे कहीं कार्य की सिद्धि होती है कहीं नहीं भी होती है अतः व्यभिचार देखा जाने से ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिये ।

चार्वाक—पुरुषार्थ दो प्रकार का है सम्यग्ज्ञानपूर्वक एवं मिथ्याज्ञानपूर्वक । मिथ्याज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ में व्यभिचार होने पर भी सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ व्यभिचारी नहीं होता है । इसलिये पुरुषार्थ सफल ही है ।

जैन—यह कथन असत् है । दृष्ट कारण सामग्री रूप सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ में भी व्यभिचार देखा जाता है क्योंकि किसी उपेय-प्राप्य करने योग्य की प्राप्ति नहीं भी होती है एवं अदृष्ट कारण कलाप रूप सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष से अल्पज्ञ पुरुषों के असम्भव है उस निमित्तक पुरुषार्थ भी नहीं हो सकता है । अर्थात् चार्वाक ने कहा कि दृष्ट कारण सामग्री से सहित सम्यग्ज्ञान यदि व्यभिचरित है तब तो अदृष्ट-पुण्य पापरूप कारण समूह से सहित सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ मलत नहीं होगा । तब आचार्य ने कहा कि अल्पज्ञ जनों को यह निर्णय नहीं हो सकेगा कि यह पुरुषार्थ अदृष्ट सहाय निमित्तक है ।

1 आह पौरुषवादी । दि० प्र० । 2 सफलम् । दि० प्र० । 3 आह परः हे स्याद्वादिन् तथैव पौरुषत्वं सफलमेवास्तीति चेत् स्या० तस्य पौरुषफलस्य व्यभिचारावलोकनं स्फुटं न प्रतिपद्येरन् । दि० प्र० । 4 अमोघमेवापौरुषमिति । व्या० प्र० । 5 अर्थे । व्या० प्र० । 6 स्याद्वादी । दि० प्र० । दृष्टायाः कारणसामग्री क्षिप्त्युदकादिलक्षणा । व्या० प्र० । 7 यदुक्तं पुरुषवादिना तदसत्यं कस्मादिन्द्रियग्राह्यकारणसामग्र्याः संबन्धिसम्यक्परिज्ञानं निमित्तं यस्य पौरुषस्य तत्तथोक्तं तस्य ईदृशस्य पौरुषस्य तत्तथोक्तं व्यभिचारो दृश्यते कस्मात्कस्यचिद् पुरुषस्य साध्यस्याधटनात्—अदृश्यकारणकलापस्य सम्यक्परिज्ञानमसर्वज्ञानां साक्षान्न संभवति कस्मात् । सोदृश्यकारणकलापस्य सम्यग्बोधो निमित्तं यस्य तात्तन्निबन्धनं तत्पौरुषञ्च तन्निबन्धनपौरुषं तस्याभावात् । दि० प्र० । 8 बसः । व्या० प्र० । 9 फल । व्या० प्र० । 10 पुण्यादि । ता । व्या० प्र० ।

दसकलविदामसंभवात् तन्निबन्धनपौरुषाभावात् । प्रमाणान्तरात्तदवबोधस्य^१ संभवेपि किमसा-
वदृश्यः कारणकलापः कारणशक्तिविशेषः, पुण्यपापविशेषो वा ? प्रथमपक्षे तत्सम्यग्गवगमनि-
मित्तकस्यापि पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनात्नामोघत्वसिद्धिः^२ । द्वितीयपक्षे तु दैवसहायादेव^३
पौरुषात् फलसिद्धिः, ^४दैवसदवगम^५निबन्धनादेव^६ पौरुषादुपेयप्राप्तिव्यवस्थितेः । ^७तदपरि-
ज्ञानपूर्वकादपि कदाचित्फलोपलब्धेश्च न ^८सम्यग्गवबोधनिबन्धनः^९ पौरुषैकान्तः । इत्यसौ
परित्याज्य एव दैवैकान्तवत् ।

**विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तित्वाच्यमिति युज्यते ॥६०॥**

चार्वाक—अनुमानादि प्रमाण से उसका ज्ञान सम्भव है ।

जैन—फिर भी यह अदृश्य कारण कलाप क्या कारण की शक्ति विशेष है या पुण्य-पाप विशेष है ? आप यदि प्रथम पक्ष लेवें तब तो उस कारण शक्ति विशेष कारणों से सहित सम्यग्ज्ञान निमित्तक भी पुरुषार्थ में व्यभिचार आता है इसलिये पुरुषार्थ सफल ही हो ऐसी सिद्धि नहीं हो सकती अर्थात् जैसे क्षीणायुष्क पुरुष में औषधि शक्ति का सम्यग्ज्ञान निमित्तक भी उसके पीने आदि का पुरुषार्थ उपयोगी नहीं होता है इसलिये वहाँ व्यभिचार आता है ।

द्वितीय पक्ष लेने पर तो दैव की सहायता सहित ही पुरुषार्थ से फल सिद्धि हुई । अतः भाग्य रूप सम्यग्ज्ञान निमित्तक पुरुषार्थ से ही उपेय की प्राप्ति व्यवस्थित है एवं दैव के परिज्ञानपूर्वक से रहित भी कदाचित् फल की उपलब्धि देखी जाती है अतः सम्यग्ज्ञान निमित्तक पुरुषार्थैकान्त श्रेयस्कर नहीं है इसलिये यह दैवैकान्त के समान त्याग करने योग्य ही है ।

भाग्य और पुरुषार्थ उभय का, ऐक्य नहीं है आपस में ।

चूँकि विरोधी हैं ये दोनों, स्याद्वाद नय द्वेषी के ॥

यदि इन दोनों की “अवाच्यता” कहो सर्वथा की विधि से ।

तब तो वचनों से “अवाच्य” इस, पद को वाच्य किया कैसे ॥६०॥

कारिकार्थ—स्याद्वाद न्याय के बैरियों के यहाँ उभय ऐकात्म्य भी नहीं है अर्थात् पृथक् कार्य की अपेक्षा से दैव एवं पौरुष के ऐकात्म्य को मीमांसक ने माना है वह भी सिद्ध नहीं है क्योंकि परस्पर में विरोध आता है । एकांत से अवाच्यता के मानने पर “अवाच्य” यह उक्ति ही असंभव है ॥६०॥

1 आह परोन्यस्मादनुमानादिप्रमाणाददृश्यकारणकलापस्यावबोधः संभवतीति चेत् स्यात् तदासौ अदृश्यकारणकलापः कारणशक्तिविशेषः पुण्यपापविशेषो वेति प्रश्नः । दि० प्र० । 2 समीचीनः । दि० प्र० । 3 कस्यचिदुपेयाप्राप्तेः दैवं पुण्यं सहायरूपं यस्य पौरुषस्य तत्तस्मात् । दि० प्र० । 4 विद्यमानता । दि० प्र० । 5 वसः । दि० प्र० । 6 पौरुषात् । दि० प्र० । 7 दैव । दि० प्र० । 8 दैवस्य पौरुषैकान्तः । दि० प्र० । 9 कारणात् । दि० प्र० ।

दैवेतरयोः^१ सहैकान्ताभ्युपगमे^२ व्याघातादवाच्यतायां^३ च स्ववचनविरोधात् स्याद्वादनीतिः श्रेयसी तद्द्विषां प्रमाणविरुद्धाभिधायित्वात् । कीदृशी स्याद्वादनीतिरत्रेत्याहुः—

‘अबुद्धिपूर्वपेक्षायां^४मिष्टानिष्टं^५ स्वदेवतः ।

बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं^७ स्वपौरुषात्^८ ॥६१॥

[भाग्यपुरुषार्थयोरनेकान्तं स धयति जैनाचार्याः ;

^९ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं^{१०} प्रतिकूलं वा देवकृतं, बुद्धिपूर्वपेक्षायात्^{११} तत्र पुरुष-

एकांत से भाग्य एवं पुरुषार्थ को एक साथ स्वीकार करने पर बाधा आती है । अवाच्यता को एकांत से मानने पर स्ववचन विरोध आता है । अतः स्याद्वाद नीति ही श्रेयस्करो है । क्योंकि उसके द्वेषी प्रमाण से विरुद्ध कथन करने वाले हैं ।

उत्थानिका—वह स्याद्वाद की नीति कैसी है ऐसा प्रश्न होने पर श्री समंत भद्राचार्यवर्य कहते हैं—

बिना विचारे अनायास ही, इष्ट अनिष्ट कार्य कोई ।
जब बन जावे तब समझो तुम, भाग्य प्रधान हमारा ही ॥
बुद्धीपूर्वक यदि प्रयत्न से, इष्ट अनिष्ट कार्य बनते ।
तब तो निज के पुरुषार्थ को, मुख्य भाग्य को गौण कहें ॥६१॥

कारिकार्थ—अबुद्धिपूर्वक की अपेक्षा में जो इष्ट एवं अनिष्ट कार्य होते हैं वे स्वभाग्य से होते हैं एवं बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा करने पर सभी इष्ट, अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से होते हैं ॥६१॥

[भाग्य और पुरुषार्थ के अनेकांत को जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

इसलिये अतर्कित-बिना विचारे ही उपस्थित हुआ (सिद्ध हुआ) अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य भाग्य कृत है क्योंकि उनमें बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा नहीं है, वहाँ पुरुषार्थ अप्रधान है एवं भाग्य

। देवपुरुषयोरुभयवादिनाङ्गीकृतयोर्देवपौरुषयोर्युगपत् सर्वथाङ्गीकारो न घटते कस्मादेकत्र द्वयोः सर्वथा प्रतिपादनस्य निषेधात् । दि० प्र० । २ पौरुषम् । दि० प्र० । ३ विरोधादिति दोषात् । दि० प्र० । ४ अबुद्धिपूर्वकारणं यस्याः । दि० प्र० । ५ सिद्धम्—यतो विचारपूर्वाश्रयणात् स्वकर्मतः सकाशादिष्टानिष्टं घटते । तथा विचारपूर्वाश्रयणात् पुरुषव्यापारादिष्टानिष्टं घटते ततो नु अहो इष्टमनिष्टं वा देवकृतं किम् नायातमपि त्वायातं कस्मादबुद्धिपूर्वाश्रयणात् । तत्रदेवकृताङ्गीकारे कर्मणो कौणत्वात् पौरुषस्य मुख्यत्वात् द्वयोर्मध्य एकतरस्याभावान्न । दि० प्र० । ६ अतर्कितोपस्थितमचिन्तितं समागतमनुकूलं राजप्रासादादिकं प्रतिकूलं सत्प्राग्निजलोपद्रवरूपं स्वदेवं कथ्यते । दि० प्र० । ७ कार्यादिकम् । दि० प्र० । ८ स्वकीयपुरुषव्यापारात् । दि० प्र० । ९ ततो न किन्तुपस्थितम् । इति० पा० । दि० प्र० । १० राज्यादिकम् । दि० प्र० । ११ तदपायेपि देवकृतं कुत इत्याह । दि० प्र० ।

कारस्याप्रधानत्वात्¹ दैवस्य प्राधान्यात् । तद्विपरीतं पौरुषापादितं बुद्धिपूर्वव्यपेक्षानपायात्², तत्र दैवस्य गुणभावात् पौरुषस्य प्रधानभावात्, न³ पुनरन्यतरस्याभावात्⁴ अपेक्षाकृतत्वात्तद्व्यवस्थायाः⁵ । तथापेक्षानपाये⁶ परस्परं सहायत्वेनैव दैवपौरुषाभ्यामर्थसिद्धिः । इति स्यात्सर्वं दैवकृतमबुद्धिपूर्वापेक्षातः । स्यात् पौरुषकृतं बुद्धिपूर्वापेक्षातः स्यादुभयकृतं क्रमापिततद्व्यात् । स्यादवक्तव्यं सहापितद्व्यात् । स्याद्द्वैवकृतावक्तव्यमबुद्धिपूर्वापेक्षया सहापिततद्व्यात् । स्यात्पौरुषकृतावक्तव्यं बुद्धिपूर्वापेक्षया सहापिततद्व्यात् । स्यात्तदुभयावक्तव्यमेव⁷ क्रमेतरापिततद्व्यात् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववत् ।

प्रधान है । उससे विपरीत-विचार बुद्धि पूर्वक कार्य पुरुषार्थ कृत है कारण यहां बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा विद्यमान है । यहाँ भाग्य गौण है एवं पुरुषार्थ प्रधान है किन्तु इन दोनों में से किसी एक का अभाव ही मान लेने से जैसा नहीं होता है । क्योंकि यह दैव एवं पुरुषार्थ व्यवस्था परस्पर अपेक्षाकृत है ।

इस प्रकार से अपेक्षा का अभाव न करके परस्पर में एक-दूसरे की सहायता से ही भाग्य एवं पुरुषार्थ इन दोनों के द्वारा प्रयोजन सिद्ध होता है । इसलिये—

कथंचित् सभी कार्य दैवकृत हैं क्योंकि अबुद्धिपूर्वक अपेक्षित हैं ।

कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थ कृत हैं क्योंकि बुद्धिपूर्वक विवक्षित हैं ।

कथंचित् उभयकृत हैं क्योंकि क्रम से दोनों की अर्पणा है ।

कथंचित् अवक्तव्य हैं क्योंकि युगपत् दोनों की अर्पणा है ।

कथंचित् दैवकृत, अवक्तव्य हैं क्योंकि अबुद्धिपूर्वक अपेक्षा एवं सहापित दोनों की अपेक्षा है ।

कथंचित् पुरुषार्थ कृत अवक्तव्य हैं क्योंकि बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा एवं युगपत् दोनों की अपेक्षा है ।

कथंचित् उभय अवक्तव्य ही हैं क्योंकि क्रम एवं अक्रम से दोनों की अर्पणा की गई है ।

इस प्रकार से सप्तभंगी प्रक्रिया पूर्ववत् समझना ।

1 पुरुषप्रयत्नपौरुषस्येति यावत् । दि० प्र० । 2 सद्भावात् । दि० प्र० । 3 द्वयोर्दैवपौरुषयोर्मध्ये एकतरस्याभावात् । इष्टानिष्टसिद्धिर्न स्यात् कस्मात्तयोरिष्टानिष्टयोर्व्यवस्थितिः दैवपुरुषयोः सापेक्षत्वे नैव कृता वर्तते । दि० प्र० । 4 दैवकृतं पौरुषेवापादितमिति साध्यम् । दि० प्र० । 5 दैवपौरुषकृतयोः । व्या० प्र० । 6 सापेक्षत्वे सति । दि० प्र० । 7 दैवपौरुषोभय । व्या० प्र० ।

“दैव एवं पुरुषार्थ के एकांत निरसन का सारांश”

पूर्वपक्ष—कोई मीमांसक भाग्य से ही सभी कार्य की सिद्धि मानते हैं। चार्वाक पुरुषार्थ से ही मानते हैं तथा कोई विशेष मीमांसक स्वर्गादिकों को भाग्य से एवं कुछ कृषि आदि को पुरुषार्थ से मानने हैं। कोई-कोई दोनों को साधन रूप से अवक्तव्य ही मानते हैं। उनमें सर्वप्रथम भाग्यवाद का निराकरण करते हुये आचार्य कहते हैं।

उत्तरपक्ष—यदि भाग्य से ही सभी कार्यों की सिद्धि मानी जावे, तब तो पुण्य, पाप रूप आचरण के द्वारा भाग्य का निर्माण भी कैसे होगा? यदि पूर्व के भाग्य से ही भाग्य को मानों तब तो पूर्व-पूर्व के भाग्य से उत्तरोत्तर भाग्य बनते ही रहेंगे पुनः भाग्य का अभाव होने से मोक्ष कभी भी नहीं हो सकेगा तब मोक्ष के लिये पुरुषार्थ भी निष्फल ही हो जावेगा।

यदि आप मीमांसक कहें कि पुरुषार्थ से दैव का निर्मूल नाश हो जाता है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ सफल ही है पुनः आपने दैव से ही कार्यसिद्धि मानी है तो कहां रहा! यदि आप कहें कि मोक्ष का कारणभूत पुरुषार्थ भी दैवकृत ही है अतः परम्परा से मोक्षसिद्धि भाग्यकृत ही रही तो भी प्रतिज्ञा हानि दोष आता ही है। यदि कहो पुरुषार्थ से ही वैसा भाग्य बना है तो, आपका भाग्यैकांत नहीं टिकता है। यदि कहो प्रयत्न न करने वाले के सभी इष्टानिष्ट भाग्यकृत हैं एवं प्रयत्नशील के सभी कार्य पुरुषार्थ से हैं तो भी ठीक नहीं है। खेती आदि कार्य एक साथ करने वाले अनेक मनुष्य हैं, किन्तु किसी को कार्य की सिद्धि एवं किसी को असिद्धि देखी जाती है अतः पुण्य, पाप भी उन कार्यों की सिद्धि में निमित्त सिद्ध ही हैं। तथैव स्वयं प्रयत्न करने वाले मनुष्यों के भी कार्य की सिद्धि, असिद्धि देखी जाती है। पुरुषार्थ के अभाव में भी इष्ट, अनिष्ट अथवा सुख, दुःख का होना देखा जाता है, किन्तु बिना पुरुषार्थ के उनका अनुभव नहीं हो सकता है अतः सर्वत्र दोनों ही निमित्त रूप हैं, इनमें से किसी एक का भी अभाव करने पर कुछ भी हो नहीं सकता है। मोक्ष भी परमपुण्यातिशय रूप भाग्य तथा चारित्र्य विशेषात्मक पुरुषार्थ से ही सम्भव है इसलिये भाग्यैकांत पक्ष भी श्रेयस्कर नहीं है।

पुरुषार्थैकांतपक्ष—यदि चार्वाक पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि मानते हैं तब तो पुरुषार्थ भाग्य से कैसे होगा? यदि कहो, जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही बुद्धि हो जाती है, वैसा ही वैसा ही व्यवसाय होता है और वैसे ही सहायक मिल जाते हैं। अतः सभी बुद्धि व्यवसाय आदि पुरुषार्थ से ही हैं तथा पुरुषार्थ भी पुरुषार्थ से ही है तब तो सभी के सभी कार्य सिद्ध हो

जावेंगे क्योंकि पुरुषार्थ तो सभी प्राणियों में पाया जाता है। यदि कहो पुरुषार्थ दो प्रकार का है मिथ्याज्ञानपूर्वक और सम्यग्ज्ञानपूर्वक। उनमें से दूसरा पुरुषार्थ सफल ही है। अर्थात् दृष्टकारण सामग्री से सहित पुरुषार्थ यदि व्यभिचारी है तो अदृष्ट-पुण्य, पाप कारण सामग्री से सहित सम्यग्ज्ञान-पूर्वक पुरुषार्थ असफल नहीं होता है। इस पर भी जेनाचार्य कहते हैं कि अल्पज्ञ जनों को यह निर्णय नहीं हो सकता है कि यह पुरुषार्थ अदृष्ट सहाय निमित्तक है। वह अनुमानादि से भी जाना नहीं जाता है फिर भी हम पूछते हैं कि वह अदृश्य कारण समूह, कारण की शक्ति विशेष है या पुण्य-पाप विशेष ? यदि प्रथम पक्ष लेवें तो उसमें व्यभिचार आता है। द्वितीय पक्ष में तो भाग्य की सहायता सहित ही पुरुषार्थ फलदायी हुआ, अतः भाग्य निमित्तक पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्धि सुघटित है एवं देव के परिज्ञान से रहित भी कदाचित् फल प्राप्ति देखी जाती है अतः सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थकांत अथवा पुरुषार्थकांत मात्र भी श्रेयस्कर नहीं है।

देव और पौरुष का ऐकाम्ब्य मीमांसक ने माना है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि परस्पर में विरोध आता है। 'अवाच्यता' को एकांत से मानने पर स्ववचन विरोध आता है। अतएव स्याद्वाद नीति का स्पष्टीकरण करते हैं—

बिना विचारे अनायास ही सिद्ध हुये अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य भाग्यकृत हैं क्योंकि उनमें बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा नहीं है वहाँ पुरुषार्थ अप्रधान है एवं भाग्य प्रधान है। विचार बुद्धि-पूर्वक सिद्ध हुये कार्य पुरुषार्थकृत हैं कारण यहाँ बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा विद्यमान है। यहाँ भाग्य गौण और पुरुषार्थ प्रधान है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में कार्यसिद्धि असम्भव है अतः ये भाग्य एवं पुरुषार्थ परस्पर अपेक्षाकृत हैं। एक-दूसरे की सहायता से ही ये दोनों कार्यों को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं।

सप्तमगी प्रक्रिया—कथंचित् सभी कार्य दैवकृत हैं क्योंकि अबुद्धिपूर्वक अपेक्षित हैं।

कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थकृत हैं क्योंकि बुद्धिपूर्वक से विवक्षित हैं।

कथंचित् उभय रूप सभी कार्य हैं क्योंकि क्रम की विवक्षा है।

सह विवक्षा से कथंचित् अवक्तव्य हैं।

कथंचित् दैवकृत अवक्तव्य हैं।

कथंचित् पुरुषार्थकृत अवक्तव्य हैं।

कथंचित् उभय अवक्तव्य ही हैं क्योंकि क्रम एवं अक्रम से दोनों की अर्पणा है।

इस प्रकार से एकांत का नाशकर स्याद्वाद शासन जयशील होता है।

१ देवैकान्तादिपांशु^२ प्रसरनिर^३ सनोद्भूत^४ सामर्थ्यवृत्तिः^५,
सन्मार्गध्यापिनीयं^६ पवनततिरिवाज्ञानखेदं^७ हरन्ती ।

बन्धं प्रध्वंसमद्धा सकलमपि बलादानयन्ती नितान्तं,
नीतिः स्याद्वादिनीद्धा दृगवगमभृतां निर्वृतिं वः प्रदेयात् ॥१॥

इत्याप्तमीमांसासालंकृतावष्टमः परिच्छेदः ।

श्लोकार्थ—भाग्य एकांत, पुरुषार्थ एकांत आदि रूप धूलि के प्रसर को निरसन करने की सामर्थ्य वाली पवन के समूह के समान यह स्याद्वाद नीति है, सन्मार्ग में व्याप्त है, अज्ञान रूपी खेद को हरण करने वाली है, शीघ्र ही बलपूर्वक प्रकृति, स्थिति आदि सम्पूर्ण कर्मबन्ध को अतिशय रूप से प्रध्वंस करने वाली है, सतत वृद्धि को प्राप्त होती हुई ऐसी यह स्याद्वाद नीति आप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रधारी महापुरुषों को निर्वृति-मोक्ष को प्रदान करे ।

दोहा—रत्तत्रय पुरुषार्थ से, प्राप्त किया निजराज्य ।

नमूं नमूं जिनदेव को, मिले स्वात्मसाम्राज्य ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यकृत “आप्तमी-
मांसासालंकृति” अपरनाम “अष्टसहस्री” ग्रन्थ में

आयिका ज्ञानमती कृत भाषा अनुवाद,

पद्यानुवाद, भावार्थ, विशेषार्थ और

सारांश सहित इस “स्याद्वाद-

चिन्तामाणि” नामक टीका

में यह आठवां परिच्छेद

पूर्ण हुआ ।



१ एव । व्या० प्र० । २ रेणुद्वयोः स्त्रियां घूलि. पाशुर्वा न द्वयोरजः । दि० प्र० । ३ भावा । दि० प्र० । ४ प्रकटी-
भूत । दि० प्र० । ५ बसः । दि० प्र० । ६ नक्षत्रमार्गाकाशव्यापिनीत्यर्थं । सन्नक्षत्रतारकं तारकाश्चेति हला-
युक्षोथवा मोक्षमार्गव्यापिनी । दि० प्र० । ७ अज्ञानमेव खेदः—अति । दि० प्र० ।

अथ नवमः परिच्छेदः ।

५—५

पुण्यपापप्रहंतारोऽप्यर्हन्तः पुण्यराशयः ।

तीर्थकृतपुण्यदातारः, स्तुमस्तान् स्वात्मशुद्धये ॥

सम्यगवबोधपूर्वं पौरुषमपसारिताखिलानर्थम्^१ ।

दंबोपेतमभीष्टं^२ सर्वं संपादयत्याशु^३ ॥ १ ॥

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि ।

^४अचेत^५नाकषायौ^६ च बध्येयातां^७ निमित्ततः^८ ॥६२॥

अथ नवम परिच्छेद

अर्थ—पुण्य और पाप कर्मों के नष्ट करने वाले होते हुए भी जो पुण्य की राशि स्वरूप हैं और तीर्थकर जैसे पुण्य बन्ध को देने वाले हैं, अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए हम उन जिनेन्द्रदेव की स्तुति करते हैं । (यह मंगलाचरण श्लोक अनुवादकर्त्री द्वारा रचित है)

श्लोकार्थ—अखिल अनर्थों से रहित, सम्यग्ज्ञानपूर्वक हुआ पुरुषार्थ, भाग्य से रहित ही अभीष्ट है और वही शीघ्र ही सम्पूर्ण कार्य को सिद्ध करता है ॥१॥

यदि पर को दुःख देने से ही, पाप बंध सुख से हो पुण्य ।

कंटक आदि अचेतन को तब, पाप बंध हो पय को पुण्य ॥

यदि चेतन नहि बंधते हैं तब, अकषायी मुनि गतरागी ।

जन को सुख-दुःख के निमित्त से, पुण्य पाप के हों भागी ॥६२॥

कारिकार्थ—यदि दूसरे प्राणी में दुःख उत्पन्न करने से एकांततः पाप का बंध तथा सुख देने से पुण्य का बंध माना जायेगा, तब तो अचेतन पदार्थ एवं वीतरागी भी निमित्त से पुण्य-पाप रूप बंध को प्राप्त हो जावेंगे ॥६२॥

१ कर्तृ । व्या० प्र० । २ कर्मभूतम् । दि० प्र० । ३ भव्यानाम् । दि० प्र० । ४ तदा । व्या० प्र० । ५ तृणकंटकादयः । व्या० प्र० । ६ वीतराम । व्या० प्र० । ७ पापपुण्याभ्यां बद्धौ भवेताम् । दि० प्र० । ८ परस्मिन् सुखदुःखोत्पादनलक्षण-निमित्ततः । दि० प्र० ।

[यदि एकांतेन परस्मिन् दुःखोत्पादने पापं सुखोत्पादने पुण्यं भवेत्तर्हि के के दोषा भविष्यन्तीति दर्शयति आचार्याः ।]

द्विविधं हि दैवं, पुण्यं पापं च प्राणिनामिष्टानिष्टसाधनमुक्तं, 'सद्वैद्यशुभायुर्नामि-
गोत्राणि पुण्यम्, इतरत् पापम्, इति वचनात् 'तदास्रवनिमित्तविप्रतिपत्तिविपत्त्यर्थमिद-
मुक्तम्' । तत्र^३ परसंताने दुःखहेतुः पुरुषः पापमात्मन्यास्रवयति^४ सुखहेतुः पुण्यमिति
परत्र सुखदुःखोत्पादनात् पुण्यपापबन्धकान्ते कथमचेतनाः क्षीरादयः कण्टकादयो वा न
बध्येरन् ? परस्मिन् सुखदुःखयोरुत्पादनात् । चेतना^५ एव बन्धार्हा इति चेत् तर्हि वीतरागाः
कथं न बध्येरन् ? तन्निमित्तत्वाद्बन्धस्य । तेषामभिसन्धेरभावान्न बन्ध इति^६ चेत्तर्हि न परत्र
सुखदुःखोत्पादनं पुण्यपापबन्धहेतुरित्येकान्तः^७ संभवति ।

[यदि एकांत से दूसरों में दुःख उत्पन्न करने से पाप और सुख उत्पन्न करने से पुण्य होता है
तो क्या दोष आते हैं सो दिखाते हैं ।]

भाग्य दो प्रकार का है पुण्य और पाप रूप । वही प्राणियों के इष्ट एवं अनिष्ट का कारण
है । "सद्वैद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं, इतरत् पापं" ये सूत्रकार के वचन हैं । अर्थात् सातावेदनीय,
शुभ आयु-तिर्यंच आयु, मनुष्य और देवायु, शुभ नाम और उच्च गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं, इनसे भिन्न
पाप प्रकृतियाँ हैं । उन पुण्य, पाप के आस्रव के निमित्त में होने वाले विवाद को दूर करने के लिए
यह कथन है ।

शंका—उसमें पर सन्तान में दुःख का हेतु पुरुष अपनी आत्मा में पाप का आस्रव करता है
एवं पर में सुख हेतुक पुरुष पुण्य का उपार्जन करता है ।

समाधान (जैन)—यदि पर में सुख-दुःख को उत्पन्न करने से एकांत से पुण्य-पाप का बंध
होता है, तब तो अचेतन दूध आदि अथवा कंटक, विषादि पुण्य-पाप से क्यों नहीं बंध जाते हैं ?
क्योंकि वे भी पर में सुख-दुःख उत्पन्न करते हैं ।

शंका—चेतन ही बंध के योग्य हैं, अचेतन नहीं ।

समाधान—तब तो वीतरागी भी क्यों नहीं बंध जावेंगे ? क्योंकि बंध तो सुख-दुःख निमित्तक
ही आपने माना है ।

शंका—उन वीतरागी पुरुषों में मनः संकल्प का अभाव है, इसलिये बंध नहीं होता है ।

१ पुण्यपापयोः । परसुखदुःखं पुण्यपापकारणं भवति इति विवादनिराकरणार्थमिदं सूत्रं प्रतिपादितम् । दि० प्र० । २ पापं
ध्रुवमित्यादि । व्या० प्र० । ३ एवञ्च सति । व्या० प्र० । ४ आगमयति । व्या० प्र० । आश्रावयति । इति पा० ।
दि० प्र० । ५ परस्मिन्सुखदुःखं निमित्तं यस्य बंधस्य सतनिमित्तस्तस्यभावस्तस्मात् । दि० प्र० । ६ पर आह तेषां वीत-
रागाणामाश्रवहेतुपरिणाम विशेषस्याभावाद्बन्धो नास्तीति चेत् । दि० प्र० । ७ इत्युक्ते परिणामा दोसमोहजुदो
असुहो मोहपदसोसुहोवा असुहो वा ह्वद्वि रागो इति सूचितं स्याद्वादिभिर्नन्वेकान्तेन सुखदुःखोत्पादनात् । दि० प्र० ।

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि^१ ।
वीतरागो^२ मुनिविद्वांस्ताभ्यां^३ युञ्ज्यान्निमित्ततः^४ ॥६३॥

[यदि एकांतेन स्वस्मिन् दुःखोत्पादने पुण्यं सुखोत्पादने पापं भवेत्तर्हि के के दोषाः संतीति कथयति आचार्याः ।]

स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात् पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्त्वज्ञानसंतोषलक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात् ।

स्यान्मतं—‘स्वस्मिन् दुःखस्य सुखस्य चोत्पत्तावपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्तदभि-
संधेरभावान्न पुण्यपापाभ्यां योगस्तस्य तदभिसंधिनिबन्धनत्वात्’ इति तद्दर्शनेकान्तसिद्धिरेवा-

समाधान—यदि ऐसी बात है तब तो पर में सुख-दुःख को उत्पन्न कराना ही एकान्त से पुण्य-पाप के बंध का हेतु नहीं रहता है । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

यदि अपने को दुःख देने से, पुण्य बंध सुख से हो पाप ।
तब तो वीतराग मुनि निज में, कायक्लेश से सहते ताप ॥
मुनि विद्वान् तत्त्व को समझें, संतोषामृत सुख भोगी ।
ये दोनों फिर पुण्य-पाप से, बंधे मुक्ति किसकी होगी ॥६३॥

कारिकार्थ—यदि अपने आप में दुःख को उत्पन्न करने से एकांत से पुण्य बंध एवं सुख उत्पादन करने से पाप बंध माना जावे तो वीतराग एवं विद्वान् मुनि भी निमित्त से पुण्य, पाप से बंध जाने चाहियें ॥६३॥

[यदि एकांत से स्वतः में दुःख उत्पन्न करने से पुण्य और सुख उत्पन्न करने से पाप होता है तो क्या दोष आते हैं सो बताते हैं ।]

यदि अपने में दुःख के उत्पादन से पुण्य और सुख के उत्पन्न करने से पाप बंध होता है ऐसा माना जावे तब तो वीतरागी मुनि और विद्वान् मुनि भी उन पुण्य, पाप के द्वारा अपने को बंध से युक्त कर लेंगे । क्योंकि निमित्त का सद्भाव पाया जाता है । वीतराग मुनि त्रिकाल योगादि के अनुष्ठान रूप काय-क्लेशादि से अपने में दुःख को उत्पन्न करते हैं एवं विद्वान् मुनि के भी तत्त्वज्ञान से संतोष लक्षण सुख की उत्पत्ति देखी जाती है, ये दोनों ही पुण्य और पाप के निमित्त हैं ।

शंका—‘अपने में दुःख और सुख को उत्पन्न करने पर भी वीतराग और तत्त्वज्ञानी मुनियों

१ चेत्तर्हि । दि० प्र० । २ कषायरहितोभिप्रायरहितस्य । दि० प्र० । ३ सकल शास्त्रप्रवीणः । दि० प्र० । ४ तस्यापि बन्धो भवतु न च तथा । दि० प्र० ।

याता । आत्मसुखदुःखाभ्यां पापेतरकान्तकृतान्ते^१ पुनरकषायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात् । ततो न कश्चिन्मोक्तुमर्हति, तदुभयाभावासंभवात्^२ । नहि पुण्यपापोभयबन्धाभावासंभवे^३ मुक्तिर्नाम, संसृतेरभावप्रसङ्गात्^४ । ततो^५ नैतावेकान्तौ संभाव्येते दृष्टेष्टविरुद्धत्वात्^६ सदाद्येकान्तवत् ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं^७ स्याद्वादन्यायविद्वेषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेषुद्वितर्नावाच्यमिति युज्यते ॥६४॥

के आसक्ति या इच्छा रूप अभिप्राय नहीं है, अतएव पुण्य और पाप का बंध नहीं होता है क्योंकि वह बंध उन-उन अभिप्राय के निमित्त से ही है ।”

समाधान—यदि आप कहें तब तो अनेकान्त की ही सिद्धि हो गई क्योंकि अभिप्राय से सहित ही सुख, दुःख का उत्पादन करना पुण्य और पाप में हेतु सिद्ध है, अभिप्राय के अभाव में नहीं है ।

आत्मा में सुख, दुःख के द्वारा पाप और पुण्य बंध का एकान्त सिद्धान्त स्वीकार करने पर पुनः अकषायी के भी निश्चित ही बंध हो जावेगा । फिर तो कोई भी मुक्त नहीं हो सकेगा क्योंकि उन पुण्य-पाप रूप उभय का अभाव ही असंभव हो जायेगा । अर्थात् पुण्य और पाप का अभाव कदाचित् भी नहीं हो सकेगा । पुण्य, पाप रूप दोनों के बंध का अभाव न हो सकने पर मुक्ति भी नहीं हो सकेगी, पुनः संसार के अभाव का भी प्रसंग आ जावेगा । इसलिये ये दोनों ही एकान्त संभव नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष से विरोध आता है, जैसे सदादि एकान्त में विरोध आता है ।

पुण्य-पाप के बंध, उभय का, यदि एकात्म्य लिया जावे ।

स्याद्वाद विद्वेषी जन में, सदा विरोध रहा भावे ॥

यदि दोनों की “अवक्तव्यता”, कही सदा एकान्त सही ।

तब तो “अवक्तव्य” इस वच से, स्वमत कथन यह शक्य नहीं ॥६४॥

कारिकार्थ—स्याद्वादविद्वेषी के यहाँ उभयैकात्म्य भी ठीक नहीं है क्योंकि परस्पर में विरोध आता है । सर्वथा “अवाच्य” तत्त्व को स्वीकार करने पर तो “अवाच्य” यह कथन भी नहीं बन सकेगा ॥६४॥

१ एव । व्या० प्र० । २ पुण्यपापोभय । पुण्यपापसद्भावात् । दि० प्र० । ३ पुण्यपापद्वयबन्धसद्भावे नाम अहो-मुक्तिर्नहि मुक्तिर्भवति चेत्तदा संसारस्याभावत्वमायाति = आत्मसुखदुःखाभ्यामेकान्ततः पुण्यपापबन्धौ पक्ष एका-न्ततो न संकल्प्येते इति साध्यो धर्मो दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् यद्दृष्टेष्ट विरुद्धं तदेकान्ततो न संभाव्यं यथा सदाद्येकान्तः । दि० प्र० । ४ संसृतेरैव भावप्रसंगादिति इति पा० । दि० प्र० । ५ कारिकाद्वयोक्तदूषणं यतः । पुण्यपापलक्षणौ । दि० प्र० । ६ प्रत्यक्षानुमानाभ्यां विरोधात् । दि० प्र० । ७ पुण्यपापयोस्तादात्म्यम् । दि० प्र० ।

प्रस्तुतैकान्तद्वयसिद्धान्ते¹ व्याहृतेरनभिधेयतायामनभिधेयाभिधानविरोधात् कथं-
चिदेवेति युक्तम् । नहि स्वस्मिन्नन्यस्मिन्वा सुखात् दुःखाच्च पुण्यमेव पापमेव वा तदुभयमेव²
चेति³ वदतामव्याहृतिः⁴ संभवति नापि तथाऽवाच्यतैकान्तेऽवाच्यमित्यभिधानमविरुद्धं, यतः
स्याद्वादो न युक्तः स्यात् ।

कथं⁵ स्याद्वादे पुण्यपापाश्रवः स्यादित्याहुः—

‘विशुद्धिसंकलेशाङ्ग’⁷ चेत् स्वपरस्थं⁸ सुखासुखम्⁹ ।

पुण्यपापाश्रवो¹⁰ युक्तो न¹¹ चेद्व्यर्थस्तर्वाहृतः¹² ॥६५॥

प्रस्तुत एकान्तद्वय का सिद्धान्त स्वीकार करने का विरोध आता है । ‘अवाच्यता’ का एकांत स्वीकार करने पर तो ‘अवाच्य’ इस शब्द का ही विरोध हो जाता है अतः ‘कथंचित्’ ही मानना इस प्रकार से युक्त है । अपने में अथवा अन्य में सुख देने से पुण्य ही होता है और दुःख उत्पन्न करने से पाप ही होता है अथवा वे दोनों ही एकान्त से होते हैं, ऐसा कहने वालों के यहाँ भी अविरोध संभव नहीं है । उसी प्रकार से अवाच्यतैकांत को स्वीकार करने पर तो “अवाच्य” इस तरह का कथन भी अविरुद्ध नहीं हो सकता है कि जिससे स्याद्वाद युक्त न हो सके अर्थात् स्याद्वाद की मान्यता ही युक्ति युक्त है ।

उत्थानिका—पुनः स्याद्वाद की मान्यता में पुण्य और पाप का आश्रव कैसे माना गया है ?
श्री समन्तभद्राचार्यवर्य इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अगली कारिका में कहते हैं—

यदी स्व-पर का सुख उनके, परिणाम विशुद्धी में हेतु ।

तथा स्व-पर का दुःख उनके, संकलेश भाव में यदि हेतु ॥

तब ये सुख-दुःख पुण्य-पाप के, आश्रव में हेतु बनते ।

यदि ऐसा नहीं तब तो अहंत् ! तब मत में यह व्यर्थ कहे ॥६५॥

कारिकार्थ—यदि अपने सुख-दुःख एवं पर सम्बन्धी सुख, दुःख विशुद्धि एवं संकलेश के निमित्त से होते हैं तब तो उनसे ही पुण्य और पाप का आश्रव होना युक्त ही है । यदि विशुद्धि और संकलेश रूप

1 प्रारब्ध । दि० प्र० । 2 परस्मिन् स्वस्मिन् च दुःखात् सुखाच्च । दि० प्र० । 3 स्वस्मिन्सुखदुःखाभ्यां पापपुण्य-
बन्धौ परस्मिन् सुखदुःखाभ्यां पुण्यबन्धौ एकान्ततो भवत इति वदतां परवादिनामव्याहृतिर्नहि संभवति व्याहृतिवि-
रोध एव । दि० प्र० । 4 अविरोधो न संभवति । दि० प्र० । 5 अवतारिका । दि० प्र० । 6 द्वन्द्वः । व्या० प्र० ।
7 भवतीत्यध्याहारः । व्या० प्र० । 8 स्वस्मिन् परस्मिन् वा संस्थितम् । व्या० प्र० । 9 तर्हि । दि० प्र० । 10 पुण्य-
पापयोरान्तरि आश्रवः । व्या० प्र० । 11 यदि न युक्तः पुण्यपापाश्रवः । फलहीनत्वात् । मने । दि० प्र० ।
12 अहंतो भगवतस्तव मते स्वस्थं परस्थं स्वपरस्थं सुखदुःखं विशुद्धिसंकलेशपूर्वकं यदि स्यात् तदा पुण्यपापाश्रवो
घटते न चेदिति स्वपरस्थं सुखदुःखं विशुद्धिसंकलेशकारणं यदि न भवति तदा पुण्यपापाश्रवो व्यर्थः कस्मात्
स्थित्यनुभागबन्धरहितत्वात् । दि० प्र० ।

[विशुद्धिसंक्लेशपरिणामो एव पुण्यपापबंधयोर्हेतु भवतः ।]

आत्मनः परस्य वा सुखदुःखयोर्विशुद्धिसंक्लेशाङ्गयोरेव पुण्यपापास्त्रवहेतुत्वं, न चान्यथातिप्रसङ्गात्¹ । विशुद्धिकारणस्य विशुद्धिकार्यस्य² विशुद्धिस्वभावस्य वा विशुद्ध्यङ्ग-स्य संक्लेशकारणस्य संक्लेशकार्यस्य संक्लेशस्वभावस्य वा संक्लेशाङ्गस्य च, सुखस्य दुःखस्य वा तदुभयस्य वा स्वपरोभयस्थस्य पुण्यास्त्रवहेतुत्वं पापास्त्रवहेतुत्वं च यथाक्रमं प्रतिपत्तव्यम् । न³ चान्यथा⁴, यथोदितप्रकारेणातिप्रसङ्गस्येष्टविपरीतेषु पुण्यपापबन्धप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात् ।

[विशुद्धिसंक्लेशयोः किं लक्षणं ? इति प्रश्ने स्पष्टीकुर्वति जैनाचार्याः ।]

कः पुनः संक्लेशः का वा विशुद्धिरिति चेदुच्यते,—आर्तरीद्रध्यानपरिणामः संक्लेश-

परिणाम नहीं है, तब तो वे व्यर्थ ही हैं अर्थात् पुण्य, पाप का आस्त्र हो ही नहीं सकता है ऐसा आप अर्हत्प्रभु का सिद्धान्त है ॥६५॥

[विशुद्धि और संक्लेश परिणाम ही पुण्य-पाप बंध में कारण हैं ।]

अपने अथवा पर के विशुद्धि एवं संक्लेश के निमित्तभूत सुख और दुःख ही पुण्यास्त्र और पापास्त्र के हेतु हैं अन्यथा नहीं हैं, नहीं तो अतिप्रसंग दोष आ जावेगा । विशुद्धि के कारण, विशुद्धि के कार्य अथवा विशुद्धि के स्वभाव विशुद्धि के अंग कहलाते हैं । संक्लेश के कारण, संक्लेश के कार्य अथवा संक्लेश स्वभाव संक्लेश के अंग हैं । विशुद्धि के निमित्त से होने वाले सुख अथवा दुःख अथवा दोनों चाहे अपने में हों, चाहे पर सम्बन्धी हों वे ही पुण्यास्त्र के हेतु हैं । संक्लेश के निमित्त से होने वाले सुख अथवा दुःख या दोनों ही चाहे स्व में हों चाहे पर में हों वे पापास्त्र के हेतु हैं ऐसा समझना चाहिये, अन्य प्रकार से नहीं है । उपर्युक्त (अचेतन, अकषाय, वीतराग मुनि के बंध रूप) प्रकार से अतिप्रसंग हो जाने से विपरीत में भी पुण्य एवं पाप का बंध दुर्निवार ही हो जावेगा । अर्थात् अचेतन कंटक आदि और अकषाय मुनि भी बंध को प्राप्त हो जावेंगे ।

[विशुद्धि और संक्लेश का क्या लक्षण है ? ऐसा प्रश्न होने पर जैनाचार्य स्पष्ट करते हैं ।]

प्रश्न— संक्लेश क्या है एवं विशुद्धि क्या है ?

उत्तर— आर्त, रीद्रध्यान रूप परिणाम को संक्लेश कहते हैं । उन आर्त-रीद्र के अभाव से होने वाले धर्म-शुक्लध्यान को विशुद्धि कहते हैं, आत्मा का स्वात्मा में अवस्थान होना ही विशुद्धि

1 अचेतनाकषायो च बध्येयाताम् । व्या० प्र० । 2 तासः । व्या० प्र० । 3 न चान्यथेत्येतस्य कोर्थः यथोदित-प्रकारेण विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं नैव पुण्यपापबन्धः = विशुद्धिसंक्लेशाङ्गभावेपि बन्धो भवति चेत्तदातिप्रसङ्गः । दि० प्र० ।

4 नान्यथेति कुतः । व्या० प्र० ।

स्तदभावो¹ विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम् । तत्रार्तध्यानं चतुर्विधं, 'आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वारो², विपरीत³ मनोज्ञस्य, वेदनायाश्च, निदानं चे'ति सूत्रचतुष्टयेन तथा⁴ प्रतिपादनात् । रौद्रध्यानं चतुर्विधं, हिंसादिनिमित्तभेदात् 'हिंसानृतस्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमि'त्यत्र सूत्रे प्रकाशनात् । 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्ध-हेतवः' त एव संक्लेशपरिणामा⁵ इति न विरुध्येते 'तेषामार्तरौद्रध्यानपरिणामकारणत्वेन संक्लेशाङ्गत्ववचनात्⁷, तत्कार्यहिंसादिक्रियावत्⁸ । 'कायवाङ्मनःकर्म⁹ योगः' स आस्रवः,

है । उसमें आर्तध्यान चार प्रकार का है—अमनोज्ञ-अनिष्ट का संयोग हो जाने पर उसके वियोग के लिये बार-बार चितवन करना अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है । इससे विपरीत-इष्ट का वियोग हो जाने पर उसके संयोग के लिये बार-बार चितवन करना इष्ट वियोगज आर्तध्यान कहलाता है । वेदना के उत्पन्न होने पर उसके दूर होने का बार बार चितवन करना वेदना जन्य आर्तध्यान है तथा नहीं प्राप्त हुए ऐश्वर्य की प्राप्ति का संकल्प करना निदान नाम का आर्तध्यान कहलाता है । इस प्रकार से चार सूत्रों के द्वारा श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में प्रतिपादन किया है ।

रौद्रध्यान भी चार प्रकार का है, वह हिंसादि के निमित्त से होता है । हिंसा करना, असत्य बोलना, चोरी करना एव विषयों का संरक्षण करना ये रौद्रध्यान हैं । ऐसा सूत्र में प्रकाशित किया गया है । "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबंधहेतवः" मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बंध के हेतु हैं । ये ही संक्लेश परिणाम कहलाते हैं और यह विरुद्ध भी नहीं हैं अर्थात् ये आर्त, रौद्रध्यान और बंध के हेतु मिथ्यादर्शनादि विरुद्ध भी नहीं हैं, क्योंकि ये ही आर्त, रौद्रध्यान रूप परिणाम के कारण होने से संक्लेश के अंग हैं ऐसा वचन है । जैसे संक्लेश हेतुक कार्य एवं हिंसादि क्रियायें संक्लेश का अंग हैं । "कायवाङ्मनः कर्मयोगः, स आस्रवः, शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" मन, वचन और काय की क्रिया योग है । वही आस्रव है, पुण्ययोग से शुभ आस्रव और पापयोग से अशुभ आस्रव होता है । इस प्रकार से भी सूत्र वचन विरुद्ध नहीं है, क्योंकि कायादि योग

1 पूर्वोक्तलक्षणाद्विपरीत कोर्थः मनोज्ञस्य इष्टस्य वियोगे सति तत्संयोगापस्मृत्यनुबन्धः मुहुर्मुहुः स्मरणं द्वितीयमात्तं स्यात् = पीडायाश्च संयोगवियोगाय स्मृत्यनुबन्धस्तृतीयमात्तम् = तपश्चरणादिना भोगाद्याकांक्षणं निदानं चतुर्थमात्तं स्यात् । दि० प्र० । 2 स्मृतिसमन्वाहारः । इति पा० । 3 राज्याभिलाषः । दि० प्र० । 4 चतुर्विधत्वेन । दि० प्र० । 5 नत्वात्तैरौद्रपरिणामः । व्या० प्र० । 6 ते मिथ्यादय आर्तैरौद्रध्यानपरिणामस्य कारणत्वात् संक्लेशांगा एव भवन्ति = यथात्तैरौद्रपरिणामस्य कार्यं हिंसादिकं तथा कारणं मिथ्यात्वादयः । दि० प्र० । 7 मुख्यतः संक्लेशाङ्गत्वात्तैरौद्रपरिणामकारणत्वेन संक्लेशावयवभूतानि मिथ्यादर्शनादीन्यात्तैरौद्रपरिणामग्रहणेन गृहीतान्येव भाष्यकारैरित्यभि-प्रायः संक्लेशाङ्गत्ववचनादित्यत्र वर्तमानः संक्लेश्यंगशब्दो न कारिकास्थः । दि० प्र० । 8 आर्तैरौद्रकार्यहिंसाक्रियाया यथा संक्लेशावयवत्वम् । दि० प्र० । 9 मिथ्यादर्शनादीनां संक्लेशावयवत्वमुक्ताशुभयोगस्य सूत्रोदितस्य तत्प्रति-पादनार्थमाह कायवाङ्मन इति । दि० प्र० ।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्येत्यपि न विरुद्धं, कायादियोगस्यापि तत्कारणकार्यत्वेन¹ संक्लेश-
त्वव्यवस्थितेः । एतेन² तदभावे विशुद्धिः सम्यग्दर्शनादिहेतुः धर्म्यशुक्लध्यानस्वभावा³ तत्कार्य-
विशुद्धिपरिणामात्मिका च व्याख्याता⁴, तस्यामेवात्मन्यवस्थानसंभवात् । तदेवं विवादा-
ध्यासिताः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवः संक्लेशकारणकार्यस्वभावाः⁵ प्राणिनामशुभ-
फलपुद्गलसंबन्धहेतवः⁶ संक्लेशाङ्गत्वाद्विषभक्षणादिकायादिक्रियावत्⁷ । तथा विवादापन्नाः
कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवो⁸ विशुद्धिकारणकार्यस्वरूपाः प्राणिनां शुभफलपुद्गल-
संबन्धहेतवो⁹, विशुद्ध्यङ्गत्वात्¹⁰ पथ्याहारादिकायादिक्रियावत् । ये शुभाशुभफलपुद्गलास्ते
पुण्यं पापं च कमनिकविधम् । इति संक्षेपात्सकलशुभाशुभकर्मात्रवबन्धकारणं सूचितं भवति,

भी उसके कारण के कार्य होने से संक्लेश रूप से मान्य हैं । इसी कथन से उस संक्लेश के अभाव में
विशुद्धि होती है, वह सम्यग्दर्शनादि के निमित्त से होती है एवं धर्मध्यान, शुक्लध्यान स्वभाव वाली
है उसके कार्यरूप विशुद्धि परिणामात्मक है ऐसा कह दिया गया है, क्योंकि उस विशुद्धि के होने पर
ही आत्मा में अवस्थान-स्थिर होना संभव है । इस प्रकार से “विवादापन्न कायादि क्रियायें स्वपर में
सुख, दुःख हेतुक संक्लेश की कारण, कार्य एवं स्वभाव वाली ही प्राणियों को अशुभ फलदायी पुद्गल
वर्गणाओं के सम्बन्ध में हेतु हैं, क्योंकि वे संक्लेश का अंग-साधन हैं । जैसे विषभक्षण आदि कायादि
क्रियायें अशुभफलदायी हैं ।”

उसी प्रकार से, “विवादापन्न कायादि क्रियायें स्व-पर सुख, दुःख हेतुक विशुद्धि के कारण,
कार्य एवं स्वभाव वाली प्राणियों को शुभफलदायी पुद्गलवर्गणाओं के सम्बन्ध कराने में हेतुक हैं,
क्योंकि वे विशुद्धि का अंग हैं । जैसे पथ्य आहारादि रूप कायादि क्रियायें शुभफलदायी हैं ।” जो शुभ,
अशुभफलदायी पुद्गल वर्गणायें है वे पुण्य और पाप रूप अनेक विध कर्मरूप हैं । इस प्रकार से
संक्षेप से सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारण सूचित किये गये हैं तथा विस्तार
से उनका प्रकरण आस्रव एवं बंध की अध्याय में (तत्त्वार्थ-सूत्र की छठी, सातवीं, आठवीं अध्याय में)
सम्यक् प्रकार से निरूपित किया गया है । अब सप्तभंगी प्रक्रिया को दिखाते हैं—

1 कायादियोग आत्तरीद्रयोः कारणकार्यत्वेन कृत्वा संक्लेश एव घटते । दि० प्र० । 2 एतेन संक्लेशाभावः
विशुद्धिकारणं सम्यग्दर्शनादिकं विशुद्धिकार्यं धर्मशुक्लध्यानद्वयं विशुद्धिस्वभावः । संक्लेशस्वरूपनिरूपणग्रन्थेन ।
दि० प्र० । 3 तयोः धर्मशुक्लध्यानयोः कार्यं विशुद्धिपरिणामः स आत्मा स्वभावो यस्या सा तथोक्ता विशुद्धिः तस्या-
मेव विशुद्धौ सत्यामात्मन आत्मनि व्यवस्थितिः संभवति । दि० प्र० । 4 व्याख्यानादिति । पा० । दि० प्र० ।
5 कार्यकारणस्वभावाः । इति पा० । दि० प्र० । 6 साध्यमिदम् । दि० प्र० । 7 विषलक्षणादिक्रियायामपि पूर्वोक्त-
संक्लेशकार्यकारणस्वभावात्मकसंक्लेशाङ्गत्वस्य विषाख्याशुभफलपुद्गलसंबन्धहेतुत्वस्यापि भावात् न साठ्यवैकल्य-
मुदाहरणस्य ननु पूर्वसुखदुःखयोर्विशुद्धिसंक्लेशाङ्गयोः पुण्यपापहेतुमुक्तमिदानीं कयादिक्रियायस्तदुपसंद्रियते अतः
पूर्वापरविरोध इति न शङ्कनीयं सुखदुःखयोः कायादिक्रियात्मकत्वेनात्रापि तयोरेव कथनात् । दि० प्र० । 8 साध्य-
मेतत् । दि० प्र० । 9 साध्यमिदम् । व्या० प्र० । 10 प्रत्याहारादि । इति पा० । दि० प्र० ।

विस्तरतस्तस्यास्रवबन्धाध्याये सुनिरूपितत्वात् । ततः स्यात् स्वपरस्थं^१ सुखदुःखं पुण्यास्रव-
हेतुविशुद्ध्यङ्गत्वात् । स्यात्^२ पापास्रवहेतुः; संक्लेशाङ्गत्वात् । स्यादुभयं, क्रमापिततद्व्यात् ।
स्यादवक्तव्यं, सहापिततद्व्यात् । स्यात् पुण्यहेतुरवक्तव्यं च, स्यात्पापहेतुरवक्तव्यं च, स्यादु-
भयं चावक्तव्यं च; स्वहेतुविषयात्^३ । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववद्योजनीया ।

१. कथञ्चित् स्व-पर में स्थित सुख-दुःख पुण्यास्रव के हेतु हैं क्योंकि वे विशुद्धि के अंग-
स्वरूप हैं ।
२. कथञ्चित् वे ही पापास्रव के हेतु हैं क्योंकि वे संक्लेश के अंगस्वरूप हैं ।
३. कथञ्चित् उभयरूप हैं क्योंकि क्रम से दोनों अर्पित हैं ।
४. कथञ्चित् अवक्तव्य हैं क्योंकि एक साथ दोनों को अर्पणा है ।
५. कथञ्चित् पुण्य हेतु और अवक्तव्य हैं क्योंकि विशुद्धि का अंग एवं सह दोनों विव-
क्षित हैं ।
६. कथञ्चित् पाप हेतु और अवक्तव्य हैं क्योंकि संक्लेश का अंग होने से एवं साथ ही दोनों
अर्पित हैं ।
७. कथञ्चित् उभय और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से विशुद्धि संक्लेश अंगरूप और एक साथ
दोनों ही अर्पित हैं । इस प्रकार से सप्तभङ्गी प्रक्रिया को पूर्ववत् लगा लेना चाहिये ।

“पुण्य-पापवाद का सारांश”

भाग्य दो प्रकार का है पुण्य और पाप रूप । वही प्राणियों के सुख-दुःख का कारण है । “सद्वेद्य-
शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं, इतरत् पापं” इस प्रकार के कर्म पुण्य और पाप दो रूप हैं । यदि कोई
एकांत से कहे कि पर में दुःख उत्पन्न करने से पाप एवं सुख उत्पन्न करने से पुण्य बंध होता है तब
तो अचेतन दूध, घी आदि सुख उत्पन्न करते हैं एवं विष-कंटक आदि दुःख उत्पन्न करते हैं तो वे भी
पुण्य-पाप बंध जावेंगे । यदि कहो कि चेतन ही बंध के योग्य है अचेतन नहीं तो वीतरागी मुनियों
को भी बंध को प्राप्त होने लगेगा । यदि कहो कि वीतरागी के मनोभिप्राय नहीं है तो पुनः पर में
सुख-दुःख उत्पन्न करने से ही पुण्य-पाप हो यह एकांत कहाँ रहा ?

१ कर्त् । दि० प्र० । २ स्वपरस्थं सुखदुःखमिति संबन्धः सप्तस्वपि भङ्गेषु कार्यं = विशुद्ध्यंगसंक्लेशाङ्गत्वादिति-
क्रमविवक्षितत्वात् स्यात्स्वपरस्थं सुखदुःखं पुण्यपापहेतुर्भवति । दि० प्र० । ३ विशेषादिति । पा० । दि० प्र० ।

यदि इससे विपरीत कोई कहे कि अपने में दुःख को उत्पन्न करने से पुण्य एवं सुख को उत्पन्न करने से पाप होता है तब तो वीतरागी मुनि त्रिकाल योगादि के अनुष्ठान रूप कायकलेश उपवासादि से अपने में दुःख उत्पन्न करते हैं इनको पुण्य एवं विद्वान् मुनि तत्त्वज्ञान से संतोष लक्षण सुख की उत्पत्ति अपने में करते हैं। अतः इनको पाप का बंध हो जावेगा। यदि कहे कि इन्हें आसक्ति या इच्छा नहीं है अतः नहीं बंधते हैं तब तो अनेकांत की ही सिद्धि हो जाती है। यदि एकांत ग्रहण करोगे तब तो अकषायी को भी बंध होगा पुनः पुण्य-पाप का अभाव कदाचित् भी न होने से किसी को मुक्ति भी नहीं हो सकेगी।

तथा जो कोई एकांत से परस्पर निरपेक्ष अपने में अथवा अन्य में सुख उत्पन्न करने से पुण्य एवं दुःख उत्पन्न करने से पाप बंध ही मानते हैं यह उभयैकात्म्य भी विरुद्ध है उसी प्रकार से एकांत से अवाच्यता को भी नहीं कह सकते हैं। अतः स्याद्वाद की मान्यता ही श्रेयस्कर है।

विशुद्धि के कारण, कार्य और स्वभाव विशुद्धि के अङ्ग हैं। संक्लेश के कारण, कार्य और स्वभाव संक्लेश के अङ्ग हैं। तथा विशुद्धि के निमित्त से होने वाला सुख अथवा दुःख चाहे स्व में हो, चाहे पर में हो, या उभय में हो वही पुण्यास्त्रव का हेतु है। तथा संक्लेश के निमित्त से होने वाला सुख अथवा दुःख चाहे स्व में हो, चाहे पर में हो, चाहे उभय में हो वही संक्लेश ही पापास्त्रव का हेतु है।

प्रश्न—संक्लेश क्या है एवं विशुद्धि क्या है ?

उत्तर—आर्त, रौद्र ध्यान को संक्लेश कहते हैं एवं धर्म-शुक्ल ध्यान को विशुद्धि कहते हैं। उसमें आर्तध्यान के इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोगादि चार भेद हैं तथा रौद्र के भी हिसानंदी आदि चार भेद हैं और “मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबंध हेतवः” ये पाँचों ही संक्लेश परिणाम हैं। तथा संक्लेश के अभाव सम्यग्दर्शनादि के निमित्त से विशुद्धि होती है। उस धर्म, शुक्ल रूप विशुद्धि से आत्मा में स्थिरता होना संभव है। तथाहि “विवादापन्न कायादि क्रियायें स्व-पर में सुख-दुःख हेतुक संक्लेश को कारण, कार्य एवं स्वभाव रूप ही प्राणियों में अशुभ फलदायी पुद्गलवर्गणाओं के संबंध में हेतु हैं क्योंकि वे संक्लेश के कारण हैं जैसे विषभक्षण आदि।” तथैव ‘विवादापन्न कायादि क्रियायें स्व-पर सुख-दुःख हेतुक विशुद्धि के कारण, कार्य और स्वभावरूप ही प्राणियों को शुभ फलदायी पुद्गलवर्गणाओं का सम्बन्ध कराने में हेतुक हैं क्योंकि वे विशुद्धि का अंग हैं जैसे पथ्य आहारादि।

सप्तभंगी प्रक्रिया—कथंचित् स्व-पर में स्थित सुख-दुःख पुण्यास्त्रव के हेतु हैं, क्योंकि विशुद्धि के अंग स्वरूप हैं। कथंचित् वे पापास्त्र के हेतु हैं क्योंकि संक्लेश के अंग स्वरूप हैं। कथंचित् उभयरूप हैं इत्यादि।

न किञ्चित्पापाय प्रभवति न वा पुण्यततये,
 प्रवृद्धेद्धां शुद्धिं 'समधिवसतो'² ध्वंसविधुराम्³ ।
 भवेत् पुण्यायैवाखिलमपि विशुद्ध्यङ्गमपरं
 मतं पापायैवेत्युदितमवताद्धो⁴ मुनिपतेः⁵ ॥१॥

इत्याप्तमीमांसासालङ्कृतौ नवमः परिच्छेदः ।

श्लोकार्थ—उत्कृष्ट वृद्धि को प्राप्त क्षायिक लक्षण, अविनश्वरी शुद्धि को प्राप्त हुये मुनियों को कुछ भी सुख और दुःख पाप के लिये अथवा सर्वथा पुण्य के लिये नहीं है । तथा विशुद्धि के अंग-भूत सभी कारण पुण्य के लिये हैं । तथा विशुद्धि के अंगभूत सभी कारण पुण्य के लिये हैं, एवं संक्लेश के अंगभूत सभी कारण पाप के लिये हैं । इस प्रकार से स्वीकृत—मान्य श्री समन्तभद्रस्वामी के वचन आप लोगों की रक्षा करें ॥१॥

पुण्य पापकर्मादि से, शून्य सर्वगुण पूर्ण ।
 ऐसे श्रीजिनदेव को, दंडत हो सुखपूर्ण ॥

इस प्रकार श्रीविद्यानंद आचार्यकृत “आप्तमीमांसासालङ्कृति”
 अपरनाम “अष्टसहस्री” ग्रन्थ में आधिका ज्ञानमती-
 कृत भाषा अनुवाद, पद्यानुवाद, भावार्थ,
 विशेषार्थ और सारांश सहित इस
 “स्याद्वादचित्तामणि” नामक टीका
 में यह नवमां परिच्छेद
 पूर्ण हुआ ।



1 विशुद्धि प्रति संतिष्ठमानस्य पुंसः शाश्वतीम् । दि० प्र० । 2 पुंसो महामुनीश्वरस्य । दि० प्र० । 3 क्षायिक विशुद्धिर्व्यतिरिक्तम् । दि० प्र० । 4 युष्मान् । दि० प्र० । 5 समन्तभद्रस्वामिनः । दि० प्र० ।

अथ दशमः परिच्छेदः ।

५—५

सर्वं जानन्ति सर्वज्ञाः केवलज्ञानचक्षुषा ।

तान् नुमः पूर्णज्ञानार्थं, भक्तिरागेण कोटिषः ॥

¹श्रीमदकलङ्कविवृतां² ³समन्तभद्रोक्तिमत्र⁴ संक्षेपात् ।

⁵परमागमार्थविषयामष्टसहस्री⁶ प्रकाशयति ॥

⁷अज्ञानाच्चेद्भ्रुवो⁸ बन्धो ⁹ज्ञेयानन्त्यान्न केवली¹⁰ ।

¹¹ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा¹² ॥६६॥

अथ दशम परिच्छेद

अर्थ—केवलज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा जो सर्व लोक-अलोक को जानते हैं वे “सर्वज्ञ” देव कहलाते हैं । हम अपने में पूर्णज्ञान को-केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिये उन सर्वज्ञदेव को भक्ति के अनुराग से करोड़ों बार नमस्कार करते हैं । (यह मंगलाचरण श्लोक अनुवादकत्री द्वारा रचित है ।)

श्लोकार्थ—श्री स्वामी समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र रूप वचन हैं अथवा समन्तात्भद्र को करने वाले वचन हैं उनकी श्री भट्टाकलंक देव ने अष्टशती नाम से टीका की है अथवा जो श्री-अंतरंग, बहिरङ्ग लक्ष्मी से सहित, कलंकरहित निर्दोष हैं एवं परमागम के अर्थ को विषय करने वाले हैं उन्हीं को संक्षेप में अष्टसहस्री नाम की टीका प्रकाशित करती है ॥१॥

यदि अज्ञान बंध का हेतु, निश्चित है मानो, तब तो ।

ज्ञेय पदारथ कहे अनन्तों, कोई केवली कसे हो ॥

अल्प ज्ञान से यदि मुक्ति हो, तब तो उसका बहु अज्ञान ।

बंध हेतु होगा निश्चित तब, नहीं किसी को मुक्ति लाभ ॥६६॥

कारिकार्थ—यदि सांख्य मत के अनुसार अज्ञान से बन्ध अवश्यभावी मानों तब तो ज्ञेय पदार्थों के अनन्त होने से कोई केवली नहीं बन सकेगा । यदि एकांत से अल्पज्ञान से ही मोक्ष मानी जावे तब तो अवशिष्ट बहुत से अज्ञान से अन्यथा-बन्ध की प्राप्ति हो जावेगी ॥६६॥

1 श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः उपन्यस्ता व्याख्याताम् । दि० प्र० । 2 विस्तारिताम् । दि० प्र० । 3 वाणीम् । दि० प्र० । 4 जगति । व्या० प्र० । 5 ग्राह्याम् । दि० प्र० । 6 वसः । दि० प्र० । 7 ननु सांख्यमते पुण्यपापात्त्व-कारणमज्ञानमेवेति मतमपाकर्तुमाह । व्या० प्र० । 8 न ज्ञानमज्ञानमित्यत्र नञ् द्विविधः प्रसह्यपर्युदासात्मकस्तत्र प्रथमपक्षे ज्ञानस्याभावो ज्ञानमिति निषेधद्वाराग्रहणं द्वितीयपक्षे ज्ञानादन्यान्मिथ्यात्वज्ञानमज्ञानं तयोर्द्वयोर्मध्येऽत्र पक्षापेक्षयाज्ञानं ग्राह्यं तस्मात् । दि० प्र० । 9 वस्तुनः । दि० प्र० । 10 तर्हि कश्चित्केवली न स्यात् । दि० प्र० । 11 ब्रह्मस्वरूपप्राप्तिः । दि० प्र० । 12 तद्ज्ञानात्समस्तज्ञानक्षयात्कथं मोक्षो न भवेत् । इत्युक्तेऽल्पज्ञानक्षया-न्मोक्षो भवति चेत्तर्हि समस्तज्ञानक्षयाद्बन्धोऽपि कथं न भवेदिति तात्पर्यम् । दि० प्र० ।

[ज्ञानस्याभावरूपादज्ञानादबंधो ज्ञानाद्मोक्ष इति पक्षं निराकरोति जैनाचार्यः ।]

प्रसज्यप्रतिषेधे¹ ज्ञानस्याभावोऽज्ञानं, पर्युदासे² ततोऽन्यन्मिथ्याज्ञानमज्ञानम्³ । तत्र यदि ज्ञानाभावाद् ध्रुवोवश्यंभावीबन्धः स्यात्तदा केवली न कश्चित्स्यात्⁴ ।

[सांख्यस्यैकांतपक्षस्य निराकरणम् ।]

सकलविपर्ययरहितं तत्त्वज्ञानमसहाय्यं⁵ केवलम्, एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मिन्⁶ मे⁷ नाहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययाद्⁸ विशुद्धं⁹ केवलमुत्पद्यते ज्ञानमिति वचनात् । तद्योगात्केवलीत्युच्यते । स कथं न¹⁰ स्यादिति चेत्, ¹¹तदुत्पत्तेः पूर्वमशेषज्ञानाभावात्, ¹²करणज-

[ज्ञान के अभाव लक्षण से बन्ध एवं ज्ञान से मोक्ष होता है
इस एकांत पक्ष का जैनाचार्य निराकरण करते हैं ।]

अज्ञान का अर्थ प्रसज्य प्रतिषेध करने पर तो ज्ञान का अभाव ही अज्ञान सिद्ध होता है एवं पर्युदास पक्ष लेने पर तो उससे भिन्न मिथ्याज्ञान रूप अज्ञान का अर्थ होता है अर्थात् नञ् समास से दो अर्थ हैं—एक प्रसज्य प्रतिषेध, दूसरा पर्युदास प्रतिषेध । “न ज्ञान, अज्ञान” इसमें प्रथम पक्ष में तो ज्ञान का अभाव रूप अर्थ होता है । दूसरे पक्ष में ज्ञान से भिन्न ज्ञान रूप अर्थ सिद्ध होता है । उसमें यदि प्रथम पक्ष लेवें कि ज्ञान के अभाव से बंध अवश्यम्भावी है तब तो केवलज्ञानी कोई भी नहीं हो सकेगा ।

[सांख्य के एकांत पक्ष का निराकरण]

सांख्य-सम्पूर्ण विपर्यय से रहित, असहाय-अन्य ज्ञान की सहायता से रहित जो तत्त्वज्ञान है, वही केवलज्ञान है । वह तत्त्वज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न होता है । इस जगत् में मेरा कुछ भी नहीं है मैं केवल परिशेष, रहित हूँ, इस प्रकार के विपर्यय रहित तत्त्वज्ञान से विशुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा महाशास्त्र में कथन है । उसी केवलज्ञान के योग से केवली कहे जाते हैं, पुनः केवली कैसे नहीं हो सकेंगे ?

1 प्रसज्य । इति पा० । दि० प्र० । 2 द्वौ नञौ हि विनिर्दिष्टौ पर्युदासप्रसज्यकौ । पर्युदासः सद्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् । दि० प्र० । 3 पर्युदासे तु ततो । इति पा० । व्या० प्र० । 4 ननु तद् किं केवलं यत् संयोगात् केवली स्यादित्युक्तं आह । व्या० प्र० । 5 इन्द्रियाद्यनपेक्षम् । दि० प्र० । 6 अहं कस्यापि नास्मि मम कोपि नास्ति इत्येवं तत्त्वाभ्यासात् सम्पूर्णं विपरीताभावान्निर्मलमसहाय्यं केवलज्ञानमुत्पद्यते इति सांख्यसिद्धान्तात्तस्य केवलस्य योगात्केवली पुरुष इत्युच्यते स कुतो न स्यादपितु न स्यादिति चेत् स्याद्वाद्याह केवलज्ञानात् प्राक्सकलबोधाभावात्केवली न स्यादिन्द्रियज्ञानमतीन्द्रियग्राह्यपदार्थानामप्राहकमनुमानज्ञानञ्च सर्वथा परोक्षभूतेष्वर्थे एव प्रवर्तकमायमज्ञानं सामान्यतया विशेषार्थागोचरं सांख्याभ्युपगतं प्रमाणत्रयमेतल्लक्षणं यतस्ततः छद्मस्थानामशेषविशेषविषयं ज्ञानं विरुद्ध्यते । दि० प्र० । 7 अस्याहं किञ्चन नास्मीति । दि० प्र० । 8 सकलविपर्ययरहितम् । दि० प्र० । 9 असहायं ज्ञानमिति वचनादित्यर्थः । दि० प्र० । 10 स कुतो न । इति० पा० । दि० प्र० । 11 स्याद्वादी । दि० प्र० । 12 कारण । इति पा० । दि० प्र० ।

विज्ञानस्यातीन्द्रियार्थाविषयत्वादानुमानस्य चात्यन्तं^१ परोक्षार्थागोचरत्वादागमस्यापि सामान्य-
तोऽविशेषार्थाविषयत्वादयोगिनामशेषविशेषविषयज्ञानविरोधात् । न^२ चाक्षलिङ्गशब्दज्ञानपरि-
च्छेद्य एवार्थस्ततोऽपरो नास्तीति शक्यं^३ वक्तुं, ज्ञेयस्यानन्त्यात्, प्रकृतिविवर्तविशेषाणां
पुरुषाणां चानन्ततोपगमात् ।

स्यान्मतं,—‘प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानादेवागमबलभाविनः स्तोकादपि तत्त्वाभ्यासस्वात्म-
भावात्^४ केवलज्ञानभृद्भवेत् । स एव च तस्य विमोक्षः पुनः संसाराभावादानागतबन्ध-

जैन—उस केवलज्ञान की उत्पत्ति के पहले तो अशेषज्ञान का अभाव है क्योंकि इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान तो अतीन्द्रिय पदार्थ को विषय ही नहीं करता है । अनुमान अत्यन्त परोक्ष पदार्थ के अगोचर है और आगम भी सामान्य से ही अविशेष अर्थ (अवशेषार्थ) को विषय करता है । अतएव अयोगियों को अशेष-विशेष विषयों का ज्ञान नहीं है । कारण कि इन्द्रियां हेतु और शब्दज्ञान से ही परिच्छेद्य-जानने योग्य विषय हैं । उससे भिन्न अन्य-सूक्ष्मांतरितादि विषय नहीं है ऐसा तो कहना शक्य नहीं है क्योंकि ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं तथा प्रकृति की विवर्त-पर्याय विशेष एवं पुरुषों को आप सांख्य ने भी अनन्त रूप स्वीकार किया है ।

सांख्य—आगम के बल से उत्पन्न होने वाले स्तोक—थोड़े से भी तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जो स्वात्मभाव रूप है ऐसा जो प्रकृति एवं पुरुष का भेदज्ञान है उससे ही पुरुष केवलज्ञानी होता है और वही उस पुरुष का मोक्ष है, पुनः संसार का अभाव हो जाता है एवं अनागत बंध का भी निरोध हो जाता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त ही है । थोड़े ज्ञान की अपेक्षा से अज्ञान जो अवशिष्ट रहा वह बहुत हो गया उस अज्ञान से बंध का प्रसङ्ग आ जायेगा एवं भविष्यत् के बंध का निरोध असम्भव होने से मोक्ष नहीं हो सकेगा ।

सांख्य—प्रकृति एवं पुरुष के भेदज्ञान रूप थोड़े से भी ज्ञान से बहुत से अज्ञान की शक्ति प्रतिहत हो जाती है इसलिये उसको बहुत अज्ञान निमित्त बन्ध सम्भव नहीं है ।

जैन—यह कथन भी असंगत ही है क्योंकि आपकी प्रतिज्ञा विरुद्ध हो जाती है । जो आपने पहले कहा है कि अज्ञान से निश्चित ही बन्ध होता है, वह कथन विरुद्ध हो जावेगा ।

सांख्य—अखिलज्ञान के अभाव रूप अज्ञान से ही बन्ध अवश्यम्भावी है किन्तु ज्ञान स्तोक के मिश्रण रूप अज्ञान से बन्ध नहीं होता है ।

१ परोक्षे स्वार्था । इति पा० । दि० प्र० । २ शब्दपरिच्छेद । इति पा० । दि० प्र० । ३ प्रत्यक्षा-
नुमानागमप्रमाणत्रयप्रमेयः एवार्थोऽस्ति ततो परोक्षो नास्तीति सांख्यैर्वक्तुं शक्यते नहि कञ्ज्ञेयमन्तातीतं यतः पुनः
प्रधानपर्यायविशेषाणाञ्चानन्तत्वाङ्गीकरणादिति सांख्यैरिद्वान्तम् । दि० प्र० । ४ केवलज्ञानभृत् । दि० प्र० ।
परिपूर्णत्वात् । व्या० प्र० ।

निरोधात्' इति ¹तदप्ययुक्तं, स्तोकज्ञानापेक्षया बहोरज्ञानाद्बन्धस्य ²प्रसङ्गादेष्यद्बन्धनिरोधा-
संभवाद् विमोक्षानुपपत्तेः । अथ ³तत्त्वज्ञानेन स्तोकेनापि बहोरज्ञानस्य प्रतिहतशक्तिकत्वात्
⁴तन्निबन्धनो बन्धः संभवतीति मतं तदप्यसत्, प्रतिज्ञातविरोधात् । यत् खलु प्रतिज्ञातम-
ज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इति तद्विरुध्यते । ⁵अथाखिलज्ञानाभावादज्ञानादवश्यंभावी बन्धो न ज्ञान-
स्तोकमिश्रणादिति मतं तदप्यसम्यक्⁶, सर्वदा बन्धाभावप्रसङ्गात् सर्वस्य प्राणिनः किञ्चिज्ज्ञान-
संभवान्मुक्तौ⁷ बन्धप्रसक्तेश्च, तत्र सकलज्ञानाभावस्य⁸ बन्धहेतोः संभवात्, असंप्रज्ञातयोगा-
वस्थायां च तदा⁹ द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानमिति वचनात् । स्वरूपं च पुंसश्चैतन्यमात्रं सकल-

जैन—यह कथन भी असम्यक् है । ऐसा मानने पर तो सदैव ही बन्ध के अभाव का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि सभी प्राणियों में तो कुछ न कुछ ज्ञान सम्भव ही है एवं मुक्ति में भी बन्ध का प्रसङ्ग आ जावेगा क्योंकि वहां भी सम्पूर्ण ज्ञान के अभाव रूप बन्ध का हेतु सम्भव ही है, कारण आपके यहाँ "असंप्रज्ञातयोग अवस्था में दृष्टा-आत्मा का स्वरूप में अवस्थान माना है" अर्थात् मुक्ति में असंप्रज्ञात योग नाम का निरालम्बन ध्यान साक्षात् परम मोक्ष का हेतु है ऐसा आपने माना है । पुरुष का स्वरूप सकलज्ञान से रहित चैतन्य मात्र है इसलिये आपके यहाँ मोक्ष का हेतु ही बन्ध का हेतु हो जावेगा अर्थात् सांख्य ने ज्ञान को प्रकृति का परिणाम माना है । वह चेतन रूप जीव से भिन्न ही है अतः उस ज्ञान का मुक्ति में अभाव होने से सकलज्ञान का अभाव सुघटित ही है इसलिये मोक्ष में बन्ध का प्रसंग आरोपित किया है एवं ज्ञान का अभाव बन्ध का कारण है ऐसा आपने माना है ।

सांख्य—तत्त्वज्ञान के प्रागभाव से संसारावस्था में बन्ध है, किन्तु तत्त्वज्ञान के प्रध्वंसाभाव से बन्ध नहीं है क्योंकि वह प्रध्वंसाभाव तो मोक्ष अवस्था में है ।

जैन—यदि आप ऐसा कहें तब तो किसी को तत्त्वज्ञान होने के बाद किसी अंतरंग अथवा बहिरंग विपर्ययज्ञान के कारणों से विपर्ययज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर तत्त्वज्ञान का प्रध्वंस ही जाने से भी बंध कैसे हो सकेगा ?

1 सांख्यवचनम् । व्या० प्र० । 2 अनागतबन्धः । व्या० प्र० । 3 आह सांख्यः हे स्याद्वादित् स्तोकेनापि तत्त्वज्ञानेन बहुतरमज्ञानं विगतसामर्थ्यं स्याद्यतः ततो बहुज्ञानकरणजो बन्धो न जायते = स्या० हे सांख्य यदुक्तं, त्वया तदप्य-सत्यमज्ञानाद् बहुवो बन्ध इति तव प्रतिज्ञाया विरोधघटनात् । दि० प्र० । 4 बहुज्ञानम् । दि० प्र० । 5 सांख्यः समस्त-ज्ञानरहितादज्ञानाद्बन्धो भवत्येव स्तोकज्ञानेन संयुक्तादज्ञानाद्बन्धो न भवतीति । दि० प्र० । 6 स्याद्वादी हे सांख्य ! तदपि वचस्ते मिथ्या एवं सति सदाऽबन्धः प्रसजति कस्मात्सकलस्य संसारिणः स्वर्शनादीन्द्रियजातं किञ्चन ज्ञानं भवत्येव यतस्तथामोक्षे बन्धः कुत इत्युक्त आह तत्र मुक्तौ सर्वज्ञानाभावो बन्ध हेतुः संभवति यतः = कि लक्षणां मोक्ष इत्युक्त आह यदा प्रधानधर्मरूपसम्यग्ज्ञानरहितावस्था तदा पुरुषस्य स्वरूपे व्यवस्थितिः मोक्ष इति सांख्यसिद्धान्तात् । पुरुषस्य स्वरूपं किमित्युक्त आह स्वरूपञ्च पुंसः सकलज्ञानरहितं चैतन्यमात्रमिति सांख्यसिद्धान्त एवं यः स्तोकज्ञान-लक्षणो मोक्षहेतुः स एव बन्ध हेतुः स्यात् । दि० प्र० । 7 अज्ञानाद्बन्ध इत्येतदप्यसम्यगित्यत्रैवान्वयरूपतया हेतुद्वयं दृष्टव्यम् । व्या० प्र० । 8 मुक्त्यबुद्धयभावत् । दि० प्र० । 9 असंप्रज्ञातयोगावस्थाकाले । दि० प्र० ।

ज्ञानरहितम् । इति मोक्षहेतुरेव बन्धहेतुः स्यात् । यदि पुनस्तत्त्वज्ञानस्य प्रागभावद्वन्द्वो न^१ प्रध्वंसाभावादिति^२ मतं तदा समाविर्भूततत्त्वज्ञानस्य^३ कस्यचित् कुतश्चिद्विपर्ययज्ञानकारणा-
दन्तरङ्गाद्वहिरङ्गाद्वा विपर्ययज्ञानोत्पत्तौ तत्त्वज्ञानप्रध्वंसाद्वन्धः कथं युज्येत ? स्यान्मतं,—
सकलतत्त्वज्ञानोत्पत्तौ^४ निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्तेरसंप्रज्ञातयोगोत्पत्तौ तु तत्त्वज्ञानस्यापि नाशा-
दशेषज्ञानाभावाख्यादज्ञानान्मोक्ष एव,^५ ततोऽन्यस्मात्^६ सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपाद्वन्ध^७
एवेति^८ तदप्यसाधीयः^९, केवल्यभावप्रसङ्गस्याभिधानात् । स्तोकतत्त्वज्ञानाप्रतिबद्धात्तथाविधाद-
ज्ञानाद्वन्ध इत्यपि विरुद्धं, प्रवर्तकधर्महेतोः स्तोकतत्त्वज्ञानात्प्रतिहताशेषाज्ञानशक्तिकात्
पुण्यबन्धाभावानुपङ्गात् । ततो ज्ञानाभावलक्षणादज्ञानान्नावश्यंभावी बन्ध इति पक्षः क्षेमंकरः
स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इति पक्षवत्^{१०} ।

सांख्य—सकल तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर सम्पूर्ण मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु असंप्रज्ञात योग के उत्पन्न हो जाने पर तत्त्वज्ञान का भी नाश हो जाता है अतः अशेषज्ञान के अभावरूप अज्ञान से मोक्ष ही ही जाता है एवं उससे भिन्न सम्यग्ज्ञान के प्रागभाव के प्रध्वंस होने रूप से बन्ध ही होता है ।

जैन—यह कथन भी सिद्ध है क्योंकि केवल के अभाव का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् भावि केवलियों के छद्मस्थ अवस्था में कतिपय ज्ञान का अभाव रूप अज्ञान है जो कि सम्यग्ज्ञान प्रागभाव का प्रध्वंस रूप है ।

सांख्य—स्तोक तत्त्वज्ञान से अप्रतिहत होने से तथाविध (सम्यग्ज्ञान प्रागभाव के प्रध्वंसरूप) अज्ञान से बन्ध ही होता है ।

जैन—यह कथन भी विरुद्ध है अन्यथा अशेष अज्ञान शक्ति के प्रतिहत करने वाले ऐसे प्रवर्तक धर्म हेतुक, स्तोक तत्त्वज्ञान से पुण्यबन्ध के अभाव का प्रसंग आ जावेगा । इसलिये ज्ञान के अभाव

१ प्रध्वंसादिति । इति पा० । व्या० प्र० । २ मुक्तौ प्रध्वंसाभावः । तस्मान्न मोक्षहेतुरेव बन्धहेतुः । व्या० प्र० । ३ नरस्य । व्या० प्र० । ४ का । व्या० प्र० । ५ ततोऽन्यथाभूतादज्ञानात्सम्यग्ज्ञानप्रागभावः । इति पा० । दि० प्र० । ६ ता । व्या० प्र० । ७ प्रागभावप्रध्वंसी रूपं यस्याज्ञानस्य । व्या० प्र० । ८ सांख्यः हे स्याद्वादिन् त्वया एवं मतं सकलतत्त्वज्ञानोत्पत्तौ समस्तमिथ्याज्ञानाभावात् । असंप्रज्ञातयोग उत्पद्यते तत्र तत्त्वज्ञाननाशो जायते तस्मादशेष-ज्ञानाभावसज्ञादज्ञानान्मोक्ष एव स्यादीदृग्विधादन्यथा लक्षणभूतात् सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसंभाव-रूपात् अज्ञानाद्वन्ध एव भवति । दि० प्र० । ९ स्या० हे सांख्य यदुक्तं त्वया तदप्यसमीचीनं कस्मात् केवलिनोभाव-प्रसङ्गात् । तथास्तोकज्ञानरहितादज्ञानाद्वन्धमिति यदुच्यते त्वया तदपि विरुद्धं कस्याद्विरुद्धं ध्वंसोसमस्तज्ञानसा-मर्थ्यात् राज्यपदादिदायकप्रवर्तमानदायकधर्मकरणभूतात्स्तोकतत्त्वज्ञानात्तव मते पुण्यबन्धस्याभावः प्रसजति यतः यस्मादेवं ततः सर्वज्ञानाभावलक्षणादज्ञानबन्धोवश्यंभावीति पक्षस्तव कुशलकारी न भवति यथा स्तोकतरतत्त्वज्ञाने न मोक्षोवश्यंभावीति पक्षः क्षेमंङ्करो न । दि० प्र० । १० इदानीं पर्युदासं निराकरोति । दि० प्र० ।

[मिथ्याज्ञानलक्षणादज्ञानाद्बन्धो भवतीति पक्षं निराकरोति जैनाचार्यः ।]

अथ 'मिथ्याज्ञानलक्षणादज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्,—

'धर्मेण ^२गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण । ^३ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥'

इति वचनात् । विपर्ययो मिथ्याज्ञानं सहजमाहार्यं ^४चानेकविधमित्यभिमतं तदप्य-
सत्यं^५, केवल्यभावप्रसक्तेः, समयान्तरश्रवणजनितानेकविधाहार्यविपर्ययस्य सांख्यागमभावना-
बलोद्भूततत्त्वज्ञानाद्विनाशेपि सहजस्य^६ विपर्ययस्यानिवृत्तेः^७ । केवलज्ञानात् प्राग् बन्धस्या-

लक्षण अज्ञान से बन्ध होना अवश्यंभावी है यह पक्ष भी "स्तोक तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है" इस पक्ष के समान क्षेमंकर नहीं है ।

[मिथ्याज्ञान से बन्ध एवं सम्यग्ज्ञान से मोक्ष होता है इस एकांत का निराकरण ।]

सांख्य—मिथ्याज्ञान लक्षण अज्ञान से बन्ध निश्चित ही है क्योंकि—

श्लोकार्थ—“धर्म से ऊर्ध्वगति में गमन होता है एवं अधर्म से अधोगति में गमन होता है । ज्ञान से मोक्ष एवं अज्ञान से बंध होता है ।” ऐसा वचन पाया जाता है । वह विपर्ययज्ञान, मिथ्याज्ञान सहज आहार्य आदि अनेक प्रकार का है ।

जैन—यह कथन भी असत्य है । केवली के अभाव का प्रसंग आ जावेगा । भिन्न सिद्धान्त के श्रवण से उत्पन्न हुआ जो अनेक प्रकार का आहार्य रूप विपर्यय है वह आप सांख्य के आगम की भावना के बल से नष्ट हो जाता है फिर भी सहज—स्वाभाविक विपर्यय ज्ञान नष्ट नहीं होता है क्योंकि केवलज्ञान के पहले बंध का होना अवश्यंभावी है एवं उस बन्ध निमित्तक मिथ्याज्ञानान्तर की उद्भूति होने से केवलज्ञान की उत्पत्ति का विरोध है । आगम के बल से ही सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि ज्ञेय तो विशेषरूप से अनन्त है और वे आगम के विषय नहीं हैं जैसे कि वे अनुमानादि के विषय नहीं हैं कि जिससे आप सांख्य सम्पूर्ण मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने से केवलज्ञान का आविर्भाव सम्भावित कर सकें अर्थात् नहीं कर सकते हैं ।

“स्तोक तत्त्वज्ञान से मोक्ष हो जाती है” यह कथन भी इसी उपर्युक्त कथन से निराकृत कर दिया गया है, अन्यथा बहुत से मिथ्याज्ञान से बन्ध का प्रसंग आ जावेगा ।

1 इति सांख्यो नयः प्रसज्यार्थजाताभावस्वरूपं प्रतिपाद्येदानीं पर्युदासस्वरूपं प्रतिपादयति । दि० प्र० । 2 धर्मेण चोर्ध्वगमनम् । इति पा० । दि० प्र० । 3 दर्शनचारित्रानपेक्षेण । व्या० प्र० । 4 परागमादिजनितम् । दि० प्र० । 5 स्याद्वाद्याह यदुक्तं सांख्येन विपर्ययो नाम मिथ्याज्ञानं द्विविधं तदप्यसत्यं कुतः केवलिनोभावप्रसङ्गात् = कथं केवलि-
नोभाव इति प्रश्ने अग्रे स्वयमेवोत्तरं दत्तम् । दि० प्र० । 6 जातिरैमरिकमिथ्याज्ञानस्य । व्या० प्र० । 7 प्रवर्त्त-
नात् । दि० प्र० ।

वश्यंभावात्तन्निबन्धनमिथ्याज्ञानान्तरोद्भूतेः^१ केवलोद्भूतिविरोधात् । न^२ चागमबलात्सकल-
तत्त्वज्ञानाविर्भूतिरूपपद्यते^३, ज्ञेयस्य विशेषतो नन्तत्वादागमाविषयत्वादानुमानाद्यविषयत्ववत्^४,
यतः कृत्स्नमिथ्याज्ञाननिवृत्तेः^५ केवलाविर्भावः संभाव्यते । स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्यप्य-
नेन^६ निराकृतं, बहुतो मिथ्याज्ञानाद्बन्धस्य प्रसक्तेः ।^७ स्तोकतत्त्वज्ञानप्रतिहताद्बहुतो^८
मिथ्याज्ञानान्न बन्ध इति चेत्कथमेवं मिथ्याज्ञानद्घ्रुवो बन्धः^९ स्यात् ? कथं वा स्तोकतत्त्व-
ज्ञानात् प्रवर्तकधर्मनिबन्धनात्पुण्यबन्धः ? इति^{१०}दुरवबोधम् । एतेनान्त्यमिथ्याज्ञानान्न बन्ध
इत्येतदप्यपास्तं,^{११} प्रतिज्ञातविरोधाविशेषात्^{१२} । रागादिदोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्धो निर्दो-
षान्न बन्ध इत्यपि प्रतिज्ञातविरोधि कापिलानां, वैराग्यसहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्षवचनवत् ।

सांख्य—स्तोक तत्त्वज्ञान से बहुत सा मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है इसलिये बंध नहीं हो सकता है ।

जैन—तब तो “मिथ्याज्ञान से ही निश्चित बन्ध होता है” एकांत से यह बात कहां रही ? अथवा प्रवर्तक धर्म निमित्तक रूपा, स्तोकतत्त्वज्ञान से पुण्यबन्ध होता है । यह बात कहां सिद्ध हुई ? इस प्रकार से आपका तत्त्व दुःख बोध ही है । इसी कथन से जिनका ऐसा कहना है कि “अंतिम मिथ्याज्ञान से बंध नहीं होता है” उनका भी खण्डन कर दिया है । अर्थात् मिथ्याज्ञान के दो भेद हैं— १. सदोष, २. निर्दोष । उनमें अंतिम निर्दोष मिथ्याज्ञान से बंध नहीं होता है क्योंकि आपकी प्रतिज्ञा का विरोध दोनों जगह समान ही है ।

सांख्य—रागादि दोष सहित मिथ्याज्ञान से बंध होता है, निर्दोष मिथ्याज्ञान से बंध नहीं होता है ।

जैन—आप सांख्यों का यह कथन भी प्रतिज्ञा का विरोधी है । जैसे वैराग्य सहित तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानना प्रतिज्ञा विरोधी है अर्थात् “वैराग्य सहित तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानना” स्तोक तत्त्वज्ञान से मोक्ष कहने से विरोधी है ।

१ सहस्रमिथ्याज्ञानजातबन्ध कारणोत्पन्नान्यमिथ्याज्ञानोत्पादात् केवलोत्पत्तिविरुद्धयते । दि० प्र० । २ आशङ्क्याह । व्या० प्र० । ३ सांख्यमात् । दि० प्र० । ४ ज्ञेयस्य विशेषतो ननुमानाद्यविषयत्वं यथा । दि० प्र० । ५ का । व्या० प्र० । ६ कृत्स्नमिथ्याज्ञाननिवृत्तेरसंभव इत्यनेन । व्या० प्र० । ७ सांख्य । दि० प्र० । ८ बहुतोपि । इति पा० । दि० प्र० । ९ इति तव वचः । दि० प्र० । १० एतत् । व्या० प्र० । ११ मिथ्याज्ञानाद्घ्रुवो बन्ध इति । व्या० प्र० । १२ क्षीण । दि० प्र० ।

[नैयायिकास्तत्त्वज्ञानान्मोक्षं मयंते तन्निराकरणं कुर्वति जैनाचार्याः ।]

१एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं, यदुक्तं, परेण २दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये ३तदनन्तराभावान्निःश्रेयस' इति, ४मिथ्याज्ञानादवश्यं दोषोद्भूतौ दोषाच्च प्रवृत्ते-
र्धर्मधर्मसंज्ञिकायाः प्रादुर्भावे, ५ततोपि जन्मनः प्रसूतौ, ततोपि ६दुःखरयैकविंशतिप्रकारस्य
प्रसवे, केवलिनः साक्षादशेषतत्त्वज्ञानवतोसत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादिप्रत्यक्षानुमानोपमानागमैः
प्रमाणैः सकलतत्त्वज्ञानासंभवान्निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्त्ययोगात् सकलज्ञेयविशेषाणामानन्त्यात्,
सोयं १०प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः प्रमाणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति ११स्वयमभिधानात् । न च

[नैयायिक तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानता है उसका निराकरण ।]

इसी उपर्युक्त कथन से उन नैयायिकों का भी निराकरण कर दिया गया है कि जिनका कहना है— “दुःख, जन्म, प्रवृत्ति और दोष तथा मिथ्याज्ञान का उत्तरोत्तर अभाव हो जाने पर उसके अनन्तर का अभाव हो जाने से मोक्ष होती है अर्थात् दुःखादिकों का अभाव तत्त्वज्ञानपूर्वक होता है और वह पूर्ण तत्त्वज्ञान नैयायिकों के यहाँ नहीं है इसलिये प्रकृत मिथ्याज्ञान ही रह जाता है ऐसा तात्पर्य हुआ ।

मिथ्याज्ञान से दोषों की उद्भूति अवश्य ही होती है, दोषों से धर्म-अधर्म संज्ञक प्रवृत्ति का आविर्भाव होता है, उस प्रवृत्ति से जन्म होता है पुनः उस जन्म के होने से इक्कीस प्रकार के दुःखों का प्रसव होता है । अतएव अशेषतत्त्वज्ञानवान् केवली के अभाव का प्रसंग आ जाता है । उन नैयायिकों का ऐसा कहना है कि “हम लोगों के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान प्रमाणों से सम्पूर्ण तत्त्व-ज्ञान का होना असम्भव है । अतः निःशेष मिथ्याज्ञान की निवृत्ति भी असम्भव है तथा च ज्ञेयविशेष पदार्थ भी अनन्त हैं । अर्थात् सूक्ष्मादि पदार्थ भी अनन्त हैं अर्थात् सूक्ष्मादि पदार्थ हम लोगों के प्रत्यक्षादि के विषय नहीं हैं । यह प्रमाण का अर्थ अपरिसंख्येय है क्योंकि “प्रमाण वाले जीव के भेद भी अनन्त हैं” ऐसा स्वयं उनका कथन है ।

मिथ्याज्ञान का सम्पूर्णतया अभाव न होने से सम्पूर्ण दोषों का अभाव होना भी शक्य नहीं है । दोषों का अभाव न होने पर प्रवृत्ति का अभाव भी नहीं हो सकता है । प्रवृत्ति के अभाव में जन्म

1 सांख्यमतनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । व्या० प्र० । 2 इच्छादोष । व्या० प्र० । 3 साध्य । व्या० प्र० । 4 पूर्वपूर्वाभावः । व्या० प्र० । 5 पूर्वपूर्वमिथ्याज्ञानाभावाद्दोषास्तदभावे प्रवृत्त्यभावरतस्याभावात्तस्मिनोऽप्यभावरतस्याभावे दुःखाभावः मिथ्याज्ञानाद्यभावे दोषाद्यभावइति भावः । व्या० प्र० । 6 स्याद्वाद्याह सांख्येन यद्युक्तं परिणामदुःखादीनामुत्तरोत्तरविनाशेऽन्त्यस्य मिथ्याज्ञानस्यापि विनाशे मोक्ष इत्यन्त्यमिथ्याज्ञानादवश्यं दोषप्रवृत्त्यादयः संभवन्ति ततो दोषादिसद्भावे केवलिनोभावः प्रसजति । दि० प्र० । 7 धर्मधर्मिसंज्ञकप्रवृत्तिप्रादुर्भावात् । दि० प्र० । 8 जन्म-प्रसूतेः । दि० प्र० । 9 स्याद्वाद्याह छत्रस्थप्रत्यक्षादिभिश्चतुर्भिः प्रमाणैः सकलतत्त्वज्ञानं न संभवति कस्मात् समूल-मिथ्याज्ञानाभावस्याघटनात् पुनः सकलज्ञेयविशेषानन्ता यतः । दि० प्र० । 10 ता । व्या० प्र० । 11 सांख्यस्य । दि० प्र० ।

मिथ्याज्ञानस्य कात्स्न्येनानिवृत्तौ सकलदोषनिवृत्तिः । तदनिवृत्तौ च न प्रवृत्तिनिवृत्तिः । तदनपाये च न जन्मनोऽपायः । ततो नाशेषदुःखापायश्च । इति गता निःश्रेयसकथा^१ । यदि पुनरात्माद्यपवर्गपर्यन्तप्रमेयतत्त्वज्ञानादपरनिःश्रेयसप्राप्तिरिष्यते^२ न पुनः प्रमाणादिषोडश-पदार्थविशेषतत्त्वज्ञानाद् येन ज्ञानस्तोकादेव विमोक्षसिद्धेः केवली न स्यादिति मतं तदा बहोमिथ्याज्ञानाद्बन्धः किं न भवेत् ? तत्त्वज्ञानेन तस्य प्रतिहतत्वादिति चेत्, कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यादित्युक्तम् ? 'दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्ध इति चानेन^६

का अभाव भी नहीं हो सकता है और इसीलिये अशेष दुःखों का अभाव भी असम्भव है अतः आप नैयायिक के यहां मोक्ष की बात ही समाप्त हो जाती है ।

नैयायिक—आत्मा से लेकर अपवर्ग पर्यन्त प्रमेय तत्त्व होते हैं अर्थात् आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, पदार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये १२ प्रमेयतत्त्व होते हैं । इनके ज्ञान से अपर निःश्रेयस की प्राप्ति हो जाती है किन्तु प्रमाणादि षोडश पदार्थ विशेष के तत्त्वज्ञान से मुक्ति नहीं होती है कि जिससे अल्पज्ञान से ही मुक्ति सिद्ध हो जाने से केवली न हो सके अर्थात् अल्प-ज्ञान से ही मोक्ष हो जाती है अर्थात् हमारे यहां मुक्ति के दो भेद हैं पर और अपर । केवल्य प्राप्ति-पूर्वक शरीर सहित स्थिति को अपर मुक्ति कहते हैं । सकलकर्म की निवृत्ति होने से शरीर का विनाश हो करके निरञ्जन, सिद्धात्मा रूप से स्थिति परमुक्ति कहलाती है । अतः आत्मादि अपवर्ग पर्यन्त प्रमेयतत्त्व का ज्ञान हो जाने से अपर निःश्रेयस की प्राप्ति हो जाती है । इसमें प्रमाणादि सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान नहीं है अतएव अल्पज्ञान से अपर मुक्ति होती है ।

जैन—यदि आपकी ऐसी मान्यता है तब तो बहुत से मिथ्याज्ञान से बन्ध क्यों नहीं होगा ?

नैयायिक—तत्त्वज्ञान से वह मिथ्याज्ञान प्रतिहत हो जाता है अतएव उससे बंध नहीं होता है ।

१ प्रवृत्तिस्तदनपाये । इति पा० । दि० प्र० । २ स्या० यावन्मिथ्याज्ञानं साकल्येन न निवसन्ते तावत्सकलदोष-निवृत्तिर्न चास्ति सकलदोषस्य सद्भावे धर्माधर्मिसंज्ञिकायाः प्रवृत्तरभावो न तस्याः प्रवृत्तेः सद्भावे सति संसारस्य विनाशो न ततः संसारस्याविनाशादशेषदुःखविनाशो न । एवं सांख्यस्य मोक्षवार्तापि गता । दि० प्र० । ३ आह सांख्यो नैयायिको वा । जीवादिमोक्षपर्यन्तप्रमेयतत्त्वज्ञानाज्जीवन्मुक्तिप्राप्तिः कथ्यते । अस्मदादिभिः प्रमाणादिषोडश-पदार्थविशेषतत्त्वपरिज्ञानादपरा निःश्रेयसप्राप्तिर्न ज्ञानस्तोकादेव मोक्षघटनाद्येन केन ज्ञानस्तोकादेव मोक्षघटनात्केवली न स्यात् = स्याद्वाचाह हे सांख्य । यदि त्वयेति मतं तदाहो मिथ्याज्ञानाद्बन्धः किं न भवेदपितु भवेत् = सांख्य आह तत्त्वज्ञानेन कृत्वा तस्य मिथ्याज्ञानस्य स्फटितत्वात् मिथ्याज्ञानाद्बन्धो नेति चेत् = स्या० एवं सति मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध स्यात् इत्युक्तं तव कथं घटते अपितु न घटते । दि० प्र० । ४ जीवन्मुक्तिः । व्या० प्र० । ५ सांख्यः दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्धो भवति = स्याद्वादी हे सांख्य इति वचोनिराकृतमनेन वक्ष्यमाणप्रकारेण योगिज्ञानात्-पूर्वदोषसद्भावोस्ति कस्माद्दोषकारणमिथ्याज्ञानसंज्ञानस्य संभवात् एतेन योगिज्ञानात्पूर्वमिथ्याज्ञानकारणजनितदोष = सद्भावव्यवस्थापनेन इच्छाद्वेषाभ्यां बन्धो भवतीति वैशेषिकमत निरस्तं कस्मात्केवलिनोभावप्रसङ्गात् । दि० प्र० । ६ कथमित्यादिग्रन्थेन । दि० प्र० ।

निराकृतं, योगिज्ञानात् प्राग्दोषानिवृत्तेस्तत्कारणमिथ्याज्ञानसंततेः संभवात् । एतेन वैशेषिकमतमपास्तम् 'इच्छाद्वेषाभ्यां¹ बन्ध' इति, केवल्यभावाविशेषात् ।

[बौद्धोऽविद्यातः बंधं विद्यातः मोक्षं मन्यते जैनावार्थाः तम् निराकुर्वन्ति ।]

। अविद्यातृष्णाभ्यां² बन्धोवश्यंभावी ।

'दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वा बन्धकारणम् । जन्मिनो यस्य ते³ न स्तो न स जन्माधिगच्छति ॥'⁴

इति ताथागतमतमपि न सम्यक्, योगिज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अयोगिनः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामखिलतत्त्वज्ञानरूपाया विद्याया एवायोगात् तद्विशेषज्ञेयस्यानन्त्यात्⁴ स्वयं⁵ 'मनन्ता

जैन—पुनः मिथ्याज्ञान से निश्चित ही बन्ध होता । ऐसा कैसे कहा ?

नैयायिक—दोष सहित मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है ।

जैन—इसका तो उपर्युक्त कथन से निराकरण हो जाता है । योगी के ज्ञान के पहले तो दोषों का अभाव हो नहीं सकता है क्योंकि उन दोषों के कारण रूप मिथ्याज्ञान की परम्परा विद्यमान है । इसी कथन से वैशेषिक के मत का भी खण्डन कर दिया गया है ।

“इच्छाद्वेषाभ्यां बंधः” इच्छा और द्वेष से बंध होता है ऐसा मानने से तो उनके यहाँ भी केवली का अभाव ही हो जाता है क्योंकि योगिज्ञान के पहले इच्छा और द्वेष का अभाव नहीं होता है, उसके कारणभूत मिथ्याज्ञान संतति का सदैव सद्भाव है ।

[बौद्ध अविद्या से बंध और विद्या से मोक्ष मानते हैं, आचार्य उनका भी निराकरण करते हैं ।]

सौगत—अविद्या और तृष्णा के द्वारा बन्ध अवश्यंभावी है । दुःख में विपर्यास बुद्धि-अविद्या अथवा तृष्णा ही बन्ध के कारण हैं, जिस प्राणी के ये दोनों नहीं हैं वह संसार को प्राप्त नहीं होता है ।

जैन—यह आपका कथन भी सम्यक् नहीं है, अन्यथा योगियों के ज्ञान का अभाव हो जायेगा । अयोगी—हम लोगों के तो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वज्ञानरूप विद्या का

1 दोषरूपाभ्याम् । द्वि० प्र० । 2 सौगत आह । अविद्यातृष्णाभ्यां बन्धोवश्यं भवति दुःखे सौख्यबुद्धिरविद्या सा च बन्धनिमित्तं वा तृष्णा भोगाभिलाषो बन्धनिमित्तं स्यात् यस्य संसारिणो विद्यातृष्णे द्वे न भवतः स संसारं न प्राप्नोति-स्यादाद्याह इति सुगतमपि न सत्यं कस्माद्योगिज्ञानस्याभावप्रसङ्गात् छन्नस्थस्य निविकल्पकदर्शनलक्षणप्रत्यक्षेणानुमानेन च सर्वतत्त्वज्ञानरूपा विद्या एव न संभवति कुतोखिलतत्त्वज्ञानविशेषज्ञेयमनन्तं यतः पुनः कस्मादनन्तालोकघातवः स्वस्य सौगतस्येत्यागमात् । दि० प्र० । 3 अविद्यातृष्णे । व्या० प्र० । 4 तत्त्वज्ञान । व्या० प्र० । 5 सौगतेन । व्या० प्र० ।

लोकधातव' इति वचनात् । न चाविद्यानुच्छेदे तृष्णा निवर्तते यतः सुगतः स्यात् । अथ ज्ञानस्तोकाद्विमोक्ष इष्यते, हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः सुगत इति वचनात् । तर्हि बहुतो मिथ्याज्ञानाद्बन्धः सिध्यति,¹ तन्निबन्धनतृष्णाया अपि संभवात् । कथमन्यथा मिथ्यावबोधतृष्णाभ्यामवश्यंभावी बन्ध इति प्रतिज्ञा न विरुध्यते ?

[वृद्धबौद्धेन मान्यं मोक्षतत्त्वमपि निराकुर्वन्ति जैनाचार्याः ।]

एतेनैतदपि² प्रत्याख्यातं यदुक्तं वृद्धबौद्धैः³ 'अविद्याप्रत्ययाः⁴ संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं⁵ ज्ञानप्रत्ययं नामरूपं नामरूपप्रत्ययं षडायतनं षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः स्पर्शप्रत्यया वेदना वेदनाप्रत्यया तृष्णा तृष्णाप्रत्ययमुपादानमुपादानप्रत्ययो भवो भवप्रत्यया जातिर्जातिप्रत्ययं जरामरणम्' इति⁶ द्वादशाङ्गं प्रतीत्य समुत्पादस्य संभवात्, क्षणिकनिरात्मकाशुचिदुःखेषु

होना ही असंभव है क्योंकि वे विशेष रूप ज्ञेयपदार्थ अनन्त हैं । “अनन्ता लोकधातवः” लोक धातुयें अनन्त हैं ऐसा स्वयं बौद्धों का कहना है । अतएव अविद्या के नष्ट न होने पर तृष्णा भी नष्ट नहीं हो सकती है कि जिससे वह सुगत—सर्वज्ञ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है ।

बौद्ध—अल्पज्ञान से मोक्ष होती है क्योंकि उपाय (कारण) सहित हेयोपादेय तत्त्व को जानने वाला सुगत है ऐसा कहा है ।

जैन—तब तो बहुत से अवशिष्ट मिथ्याज्ञान से बंध सिद्ध हो जावे क्योंकि उस बंध के निमित्तक तृष्णा भी विद्यमान है, अन्यथा “मिथ्याज्ञान और तृष्णा के द्वारा बंध अवश्यंभावी है” यह प्रतिज्ञा विरुद्ध क्यों नहीं हो जावेगी ?

[वृद्ध बौद्धों की मान्यता का भी जैनाचार्य निराकरण करते हैं ।]

इसी कथन से उन वृद्ध बौद्धों का भी कथन खण्डित कर दिया गया है कि—अविद्या के निमित्त से संस्कार होते हैं, संस्कार के निमित्त से विज्ञान, विज्ञान के निमित्त से नामरूप, नामरूप के निमित्त से षट् आयतन, षडायतन के निमित्त से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा के निमित्त से उपादान, उपादान के निमित्त से भव, भव के निमित्त से जन्म, जन्म से जरा और मरण होते हैं । इस प्रकार इन १२ कारणों का आश्रय लेकर संसार होता है । क्षणिक, निरात्मक, अशुचि दुःखों में उससे विपरीत लक्षण—नित्य, सात्मक, शुचि और सुख लक्षण अविद्या का उदय होने पर किसी भी ज्ञेय में उस निमित्तक संस्कार होते हैं जो कि पुण्य, पाप और आनेज्य से तीन प्रकार के हैं ।

1 सिध्येत् । इति पा० । दि० प्र० । 2 वक्ष्यमाणम् । कथमित्यादि ग्रन्थेन । दि० प्र० । 3 अविद्या एव प्रत्ययः कारणं येषां ते । दि० प्र० । 4 अत्र प्रत्ययशब्दो हेतुवाची प्रत्ययोधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषुइत्यमरः । दि० प्र० । 5 विकल्परूपम् । व्या० प्र० । 6 एतत् । व्या० प्र० ।

तद्विपरीतज्ञानलक्षणाविद्योदये क्वचिदपि ज्ञेये ¹तत्प्रत्ययसंस्काराणां² पुण्यापुण्यानेज्यप्रकाराणां शुभाशुभानुभयविषयाणामवश्यंभावात्, तद्भावे³ च वस्तुप्रतिविज्ञप्तिलक्षणविज्ञानस्य⁴ विकल्पात्मनः संभवात्, तत्संभवे⁵ च ⁶विज्ञानसमुद्भूतरूपवेदनासंज्ञासंस्कारज्ञानलक्षणनामपृथिव्यादिभूतचतुष्टयात्मकरूपसमुदायलक्षणस्य⁷ नामरूपस्य सिद्धेः, तत्सिद्धौ च चक्षुरादिषडायतनस्यात्मकृत्यक्रियाप्रवृत्तिहेतोः प्रसूतेः, तत्प्रसूतौ⁸ च तद्धेतूनां⁹ तृष्णां स्पर्शकायानां रूपं चक्षुषा पश्यामीत्यादिविषयेन्द्रियविज्ञानसमूहलक्षणानां प्रादुर्भावात् तत्प्रादुर्भावे¹⁰ स्पर्शानुभवलक्षणाया वेदनायाः सद्भावात्, तत्सद्भावे¹¹ च विषयाध्यवसानलक्षणतृष्णायाः समुत्पादात्, तत्समुत्पादे¹² तृष्णावैपुल्यलक्षणस्योपादानस्योदयात्¹³, तदुदये¹⁴ च पुनर्भवजनककर्मलक्षणभवस्य भावात्, तद्भावे¹⁵ चापूर्वस्कन्धप्रादुर्भावलक्षणाया¹⁶ जातेरुत्पादात्¹⁷, तदुत्पत्तौ च स्कन्धपरिपाकप्रध्वंस-

वे शुभ, अशुभ और अनुभय विषयक हैं, वे अवश्य ही होते हैं और उनके होने पर वस्तु की विज्ञप्ति लक्षण विकल्पात्मक विज्ञान उत्पन्न होता ही है। उसके होने पर विज्ञान से उत्पन्न रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार, विज्ञान, लक्षण नाम चतुष्टय होते हैं एवं पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय को रूप कहते हैं। इन नाम-रूप के समुदाय लक्षण को नामरूप कहते हैं। उन नामरूप के सिद्ध होने पर चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, स्पर्शन, रसना और मन लक्षण छह आयतन होते हैं जो कि आत्मा के करने योग्य क्रिया की प्रवृत्ति के हेतुक है। उनकी उत्पत्ति होने पर उन हेतुक छह स्पर्शकाय विषयेन्द्रिय विज्ञान समूह लक्षण उत्पन्न होते हैं जैसे “रूपं चक्षुषा पश्यामि” इत्यादि ये विषय कहलाते हैं। उन विषयों के होने पर स्पर्श अनुभव लक्षण वेदना होती है। उस वेदना के सद्भाव में विषयों की आकांक्षा रूप तृष्णा उत्पन्न होती है, उसके होने पर तृष्णा की विपुलता लक्षण उपादान उत्पन्न होता है। अर्थात् उन-उन पदार्थों को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति के होने पर पुनर्भव को उत्पन्न करने रूप कर्म लक्षण भव होता है। उसके होने पर अपूर्व स्कन्ध के प्रादुर्भाव लक्षण जाति होती है पुनः उस जाति से स्कन्ध के परिपाक और विध्वंस लक्षण जरा और मरण होता है। अतः इस प्रकार की परम्परा से कोई भी केवली सुगत नहीं हो सकता है, अ यथा—यदि इन बारह निमित्तों का आश्रय लेकर संसार न मानों तब तो तुम्हारी प्रतिज्ञा का विरोध हो जायेगा अर्थात् जो तुमने कहा है कि “अविद्या

1 अविद्याकारणसंस्काराणाम् । व्या० प्र० । 2 क्षणिकात्मात्मीयाशुचिदुखेषु नित्यात्मीयशुचिसुखलक्षणाबुद्धि-रविद्या तस्या संस्कारा जायन्ते तेभ्यो विज्ञानं तस्मान्नामरूपं ततः पडायत्नं एवमुत्तरोत्तरकारणं ज्ञेयम् = अविद्या । दि० प्र० । 3 संस्कारः । दि० प्र० । 4 परिज्ञान । दि० प्र० । 5 विज्ञान । दि० प्र० । 6 अनुभवरूपा । दि० प्र० । 7 ताद्धि । दि० प्र० । 8 षडायतनम् । दि० प्र० । 9 श्रोत्रादि । दि० प्र० । 10 स्पर्शं । दि० प्र० । 11 वेदना । दि० प्र० । 12 तृष्णा । दि० प्र० । 13 प्राचुर्यं । दि० प्र० । 14 उपादान । दि० प्र० । 15 भव । दि० प्र० । 16 आकांक्षण । दि० प्र० । 17 पूर्वस्कन्धात् । व्या० प्र० ।

लक्षणजरामरणसद्भावात्^१ केवलिनः कस्यचित्सुगतस्यासंभवप्रसङ्गात् अन्यथा प्रतिज्ञातविरोधात् । ततः सूक्तं, यदि बन्धोयमज्ञानान्नेदानीं कश्चिन्मुच्यते, सर्वस्यैव^२ क्वचिदज्ञानोपपत्तेर्ज्ञेयानन्त्यादिति^३ केवलिनः प्राक्^४ सर्वज्ञासंभवात् । यदि पुनर्ज्ञाननिर्हासाद्ब्रह्मप्राप्तिरज्ञानात् सुतरां^५ प्रसज्येत, दुःखनिवृत्तेरिव^६ सुखप्राप्तिः । न ह्यल्पदुःखनिवृत्तेः सुखप्राप्तौ बहुतरदुःखनिवृत्तौ सुतरां सुखप्राप्तिरसिद्धा, येन ज्ञानहानेरल्पायाः परब्रह्मप्राप्तौ सकलाज्ञानात्तत्प्राप्तिः^७ सुतरां न स्यात् । ततो नायमेकान्तः^८ श्रेयानाभासते ज्ञानस्तोकान्मोक्ष इति, अज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इत्येकान्तवत् ।

तृष्णाभ्यां बन्धः” “द्वादशाङ्ग द्वारकः ससारः” वह विरुद्ध हो जावेगा । इसलिये हमने यह ठीक ही कहा है कि कोई केवली नहीं हो सकेगा ।

यदि अज्ञान से यह बंध माना जावे तब तो कोई भी मुक्त नहीं हो सकेगा क्योंकि सभी को किसी न किसी विषय में अज्ञान है ही है क्योंकि ज्ञेय पदार्थ तो अनन्त हैं । इस प्रकार से तो केवली होने के पहले सर्वज्ञता असम्भव ही है । पुनः ज्ञान के निर्हास—अल्पज्ञान के अभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है तब तो अज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिये, जैसे कि दुःख के अभाव से ही सुख की प्राप्ति होती है वैसे ही ज्ञान के अभाव से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिये ।

अल्प दुःख की निवृत्ति होने से सुख की प्राप्ति होती है पुनः बहुत से दुःखों का अभाव हो जाने पर विशेष रूप से सुख की प्राप्ति होती ही है यह बात असिद्ध तो है नहीं कि जिससे अल्पज्ञान की हानि से परब्रह्म—मोक्ष की प्राप्ति होने पर पूर्ण अज्ञान से अर्थात् सकल ज्ञान के नाश से मोक्ष की प्राप्ति न हो सके अर्थात् थोड़े से ज्ञान की हानि से यदि मोक्ष होती है तो पूर्णतया ज्ञान के अभाव में विशेष रूप से मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिये ।

इसलिये 'अल्पज्ञान से मोक्ष होती है' यह एकान्त पक्ष श्रेयस्कर नहीं है जैसे कि अज्ञान से निश्चित ही बंध होता है यह पक्ष श्रेयस्कर नहीं है ।

१ स्कन्धपरिपाकश्च प्रध्वंसश्च तौ लक्षणं यस्य जरामरणस्य । व्या० प्र० । २ जनस्य । व्या० प्र० । ३ ज्ञेयानन्त्येय-ज्ञानोपपत्तिः कुत इत्याशंकायामाह । व्या० प्र० । ४ केवलित्पत्तेः पूर्वम् । व्या० प्र० । ५ कारिकास्थितमन्यथा शब्दं विवृण्वन्नाह सुतरामिति । व्या० प्र० । ६ का । दि० प्र० । ७ स्वाद्वाद्याह । यतः सकलाज्ञानामोक्षस्तस्मात् ज्ञान-स्तोकान्मोक्ष इत्ययमेकान्तः श्रेयान्न प्रतिभासते यथा अज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इत्येकान्तः श्रेयान्न = अथ कश्चिदुभयवा-द्याह हे स्याद्वादिन् ! तद्यत्कस्यात्मन एकस्मिन्नेव काले ज्ञानस्तोकात्सर्वप्रकारेण मोक्षः ज्ञानस्तोकसहितस्याज्ञाना-द्बन्धश्चेत्येकान्तः श्रेयान् भवतु स्या० एकान्तवादिनामेकशः क्रमेण प्रतिषेधादुभयैवात्म्यं श्रेयस्करं न = आह कश्चित्ति-उभयैवात्म्यस्य विरोधात् सर्वथावाच्यमस्तु स्या० अवाच्यतैकान्तेष्ववाच्यमित्युच्चारो न युज्यते । दि० प्र० । ८ सर्वेन्द्रियज्ञानाभावादतिशयेन परमब्रह्मप्राप्तिर्भवेत् । दि० प्र० ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं^१ स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेषु कित्नावाच्यमिति युज्यते ॥६७॥

न हि सर्वात्मनैकस्यैकदा^२ ज्ञानस्तोकान्मोक्षो बहुतश्चाज्ञानाद्बन्ध इत्येकान्तयोर-
विरोधः स्याद्वादन्यायविद्विषां सिध्यति, येन तदुभयैकात्म्यं^३ स्यात् । तथाऽवाच्यतैकान्ते स्व-
वचनविरोधः पूर्ववत् ।

कुतस्तर्हि^४ पुण्यपापबन्धः प्राणिनां येनाबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं^५ स्वदैवतः
स्यात् ? कुतो^६ वा मोक्षो मुनेर्यतः^७ पौरुषादिष्टसिद्धिर्बुद्धिपूर्वा^८ स्यात् ? चार्वाकमतमेव वा

अब उभयैकात्म्य में विरोध दिखाते हैं—

यदि अज्ञान-ज्ञान से बंध-मोक्ष उभय का ऐक्य कहो ।

स्याद्वाद विद्वेषी मत में, उभय विरोधी हैं तब तो ॥

यदि दोनों का “अवक्तव्य” ही, अनपेक्षित हो मान लिया ।

तब तो “अवक्तव्य” इसको भी, कैसे वच से प्रकट किया ॥६७॥

कारिकार्थ—स्याद्वादन्याय के द्वेषियों के यहां इन दोनों का परस्पर निरपेक्ष एकांत भी
श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि विरोध आता है । एकांत से अवाच्यता को स्वीकार करने पर “अवाच्य”
यह वचन ही कथमपि शक्य नहीं है ॥६७॥

स्याद्वादन्याय के विद्वेषियों के यहां सम्पूर्ण रूप से एक जीव के एक काल में ही ज्ञानस्तोक से
मोक्ष एवं बहुत से अज्ञान से बंध होना सम्भव नहीं है क्योंकि एकांत में विरोध आता है । अतएव
उभयैकात्म्य भी सिद्ध नहीं होता है । उसी प्रकार से अवाच्यतैकान्त में पूर्ववत् स्ववचन विरोध
आता है ।

उत्थानिका—पुनः प्राणियों को पुण्य और पाप का बंध कैसे होता है कि जिससे अबुद्धिपूर्वक
की अपेक्षा होने पर इष्ट और अतिष्ट स्वभाग्य से होवे ? अथवा मुनियों को मोक्ष भी कैसे होगी कि
जिससे पुरुषार्थ से ही बुद्धिपूर्वक इष्ट सिद्धि हो सके ? अथवा “बंध और मोक्ष का अभाव ही है
क्योंकि परलोक का अभाव है” इस प्रकार से चार्वाक मत ही सिद्ध क्यों न हो जावे ? इत्यादि आशंका

१ अज्ञानाद्बन्धः ज्ञानस्तोकान्मोक्ष एकस्यैकस्मिन् काले । दि० प्र० । २ पुरुषस्य । व्या० प्र० । ३ बन्धमोक्षोभय ।
व्या० प्र० । ४ आक्षेपे न भवेदित्यर्थः । व्या० प्र० । अवतारिका—अत्राह परः कश्चिद् हे स्याद्वादिन् भवन्मते
यद्यज्ञानाद्बन्धो न तर्हि पुण्यपापबन्धः कुतः न कुतोपि तथा पौरुषात् । बुद्धिपूर्वा इष्टिसिद्धियत्र कुत्र न कुताप्येवं सति
किमायातं बन्धमोक्षाभावे परलोकाभावस्तस्मात्तत्र मतं चार्वाक मतसदृशं किं न भवेत् । अपितु भवेत् ।
परस्येत्याशंकां निराकर्तुकामा आचार्या उत्तरमाहुः । दि० प्र० । ५ आक्षेपे । दि० प्र० । ६ आक्षेपे । दि० प्र० ।
७ यत्र । इति० पा० । दि० प्र० । ८ मोक्ष । दि० प्र० ।

‘बन्धमोक्षाभाव एव परलोकाभावा’ दिति न भवेत् ? इत्यारेकां निराचिकीर्षवः प्राहुः—

अज्ञानान्मोहिनो^१ बन्धो न ज्ञानाद्^२ वीतमोहतः^३ ।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोन्यथा^४ ॥६८॥

मोहनीयकर्मप्रकृतिलक्षणादज्ञानाद्युक्तः कर्मबन्धः स्थित्यनुभागाख्यः^५ स्वफलदान-समर्थः^६, क्रोधादिकषायैकार्थसमवायिनो^७ मिथ्याज्ञानस्य च अज्ञानस्य च मोहनीयकर्मप्रकृतिं लक्षयतः पुंसो बन्धानिबन्धनत्वोपपत्तेः ‘सकषायत्वाज्जीवः^८ कर्मणो^९ योग्यान्पुद्गलानादत्ते स

के होने पर उसके निराकरण करने की इच्छा रखते हुये आचार्यवर्य श्री समन्तभद्र स्वामी अगली कारिका में कहते हैं—

स्याद्वाद में मोह सहित, अज्ञान बंध का कारण है ।

मोहरहित अज्ञान बहुत भी, नहीं बंध का कारण है ॥

अल्पज्ञान भी मोहरहित है, उससे मोक्ष प्राप्त होता ।

किन्तु मोहयुक्त बहुत ज्ञान से, कर्मबध निश्चित होता ॥६८॥

कारिकार्थ—मोह सहित अज्ञान से बंध एवं मोह रहित अज्ञान से बंध नहीं होता है । मोह रहित अल्पज्ञान से भी मुक्ति होती है किन्तु मोह सहित ज्ञानस्तोक से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है ॥६८॥

मोहनीय कर्म प्रकृति लक्षण अज्ञान से कर्मबन्ध युक्त है वह अपने फल को देने में समर्थ स्थिति और अनुभाग नाम वाला है क्योंकि क्रोधादि कषाय से एकार्थ समवायी जो मिथ्याज्ञान है वही अज्ञान है, उस अज्ञान सहित मोहनीय कर्म प्रकृति को स्पष्ट करते हुए पुरुष के मिथ्याज्ञान रूप अज्ञान ही बंध का कारण माना गया है । “सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्तेसबंधः” ऐसा सूत्रकार का वचन है अर्थात् कषाय सहित जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है उसी का नाम बंध है । उससे भिन्न से भी बंध को स्वीकार करने पर अतिप्रसंग दोष आता है । क्षीण मोह और उपशांत कषाय जीव के भी अज्ञान से बंध का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् ग्यारहवें उपशांत कषाय

१ ईषत्याघातज्ञानात् । दि० प्र० । २ नाज्ञानात् । इति पा० । व्या० प्र० । सकलवस्तुनः परिज्ञानाभावात् । व्या प्र० । ३ विगतमोहनीयात् । व्या प्र० । ४ ज्ञानस्तोकाद्बन्धः । व्या० प्र० । ५ ज्ञानावरणादिकर्मणामर्थानवगमादिस्व-भावादप्रच्युतिः स्थितिः । व्या० प्र० । ६ इष्टानिष्टः । दि० प्र० । ७ कषायेण सहाज्ञानस्यैकस्मिन्नात्मलक्षणार्थे । व्या० प्र० । मोहितपुरुषस्य क्रोधादिकषायसमवेतं मिथ्याज्ञानमज्ञानञ्च बन्धाकरणमुत्पद्यते । दि० प्र० । ८ ततः सकषायत्वादन्वयोत्कषायत्वाद्बन्धोऽङ्गीक्रियते चेत्तदातिप्रसङ्गः स्यादतिप्रसंगस्य लक्षणमाह क्षीणकषायस्योपशान्तकषायस्य मुनेर्बन्धः प्रसजति । दि० प्र० । ९ कर्मणो हेतोः पौद्गलिकात् सकषायो भवति न स्वभावतस्ततोऽन्यापेक्षस्य कषायस्य न सातत्यम् । व्या० प्र० ।

बन्ध' इति वचनात्, ततोऽन्यतोऽपि¹ बन्धाभ्युपगमेति प्रसङ्गात्, क्षीणोपशान्तकषायस्याप्यज्ञानाद्बन्धप्रसक्तेः ।

[केवलिनोऽपि प्रकृतिप्रदेशबन्धो स्तः इति कथने सति कथयति आचार्याः यत् तौ बन्धो संसारकारणे न स्तः अकार्यकारित्वात् ।]

प्रकृतिप्रदेशबन्धस्तस्याप्यस्तीति चेन्न, ²तस्याभिमतेतरफलदानासमर्थत्वात्³ सयोग-केवलिन्यपि संभवादविवादापन्नत्वात्⁴ । न चान्नागममात्रं, युक्तेरपि सद्भावात् । तथा हि, विवादापन्नः⁵ ⁶प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धः⁷ ⁸कषायैकार्थसमवेताज्ञान-निबन्धनस्तथात्वात्पथ्येतराहारादिसंबन्धवत् ।

गुणस्थान में कषाय होते हुए भी पूर्णतया उपशांत हो चुकी है अतएव वे आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकती हैं तथा क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थान में कषाय का नाश ही हो चुका है, किन्तु इन दोनों गुणस्थानों में केवलज्ञान की उत्पत्ति का अभाव होने से अज्ञान विद्यमान है किन्तु कषाय का उदय न होने से बंध नहीं है ।

[केवली के भी प्रकृति, प्रदेश बंध होते हैं ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि वे बंध संसार के कारण न होने से अकार्यकारी हैं ।]

शंका—प्रकृति और प्रदेश नाम के दो बन्ध तो वहाँ भी विद्यमान हैं । अर्थात् योग के निमित्त से होने वाले प्रकृति, प्रदेश बंध वहाँ पर हैं क्योंकि योग विद्यमान है अतः १३वें गुणस्थान तक भी योग के सद्भाव में योग निमित्तक बंध है ।

समाधान—नहीं, वे प्रकृति और प्रदेश बन्ध इष्टानिष्ट फल देने में असमर्थ हैं । वे केवली भगवान् में भी विद्यमान हैं इसमें किसी को विवाद नहीं है फिर भी वे निरूपयोगी हैं अतएव होते हुये भी जली हुई रस्सी के समान अनुपयोगी होने से नहीं होने के समान असत् ही हैं । इस कथन में आगम मात्र ही नहीं है, किन्तु युक्ति का भी सद्भाव है ।

तथाहि—“विवादापन्न प्राणियों को इष्ट-अनिष्ट फल देने में समर्थ पुद्गल विशेष का सम्बन्ध (बंध) कषाय से एकार्थ समवायी, अज्ञान निमित्तक ही है क्योंकि वह उसी रूप है, पथ्यापथ्य

1 आह कश्चित्स्वमतवर्ती तस्य क्षीणोपशान्तकषायस्य मुनेः प्रकृतिप्रदेशबन्धोऽस्तीति चेत् स्या० एवं न सोऽकषायबन्ध इष्टानिष्टफलदानेऽसमर्थो यतः = समर्थो भवति चेत्तदा सयोगकेवलनि भगवत्यपि भवतु विवादो नास्त्यत्र = पुनराह स्वमतवर्ती अत्र बन्धाभावसाधने आपममात्रं नानुमानमित्युक्ते स्याद्वाद्याह । अत्र केवलमागममात्रं साधनं न युक्तिरप्यस्ति । दि० प्र० । 2 इष्टानिष्टः । व्या० प्र० । 3 दग्धरज्जुवत् । व्या० प्र० । 4 प्रकृतिप्रदेशस्य । व्या० प्र० । 5 स्थित्यनुभागाख्यः । दि० प्र० । 6 समर्थः पुद्गलविशेष । इति पा० । दि० प्र० । विशेषण । दि० प्र० । 7 पक्षः हेतुश्च । दि० प्र० । 8 कषायेण सहेकस्मिन्नात्मलक्षणैरेव समवेतं यदज्ञानं तन्निरन्धनः । दि० प्र० ।

नात्र प्रतिज्ञार्थकदेशत्वादसिद्धो^१ हेतुर्धर्मिणानेकान्तात्^२, तस्य^३ प्रतिज्ञार्थधर्मिधर्मसमूहै-
कदेशत्वेऽपि प्रसिद्धत्ववचनात्, अनित्यः शब्दः शब्दत्वादित्यत्रापि हेतोरसिद्धत्वविरोधात्^४ । न
चात्र विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं^५ हेतुं ब्रुवतः कश्चिदोषः, प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो विन-
श्वरः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्^६ घटवदिति^७ यथा । ननु शब्दस्य धर्मित्वे पक्षाव्यापको हेतुः
स्यात्, समुद्रघोषादेः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभावात् । ततोत्र^७ प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो विशिष्टो
धर्मोति चेत्तर्हि^८ प्राणिनां पुद्गलविशेषसंबन्धस्य धर्मित्वे तथात्वस्य च हेतुत्वे दृष्टान्ता-

आहारादि के सम्बन्ध के समान ।” अर्थात् कषाय संयुक्त अज्ञान निमित्तक ही बन्ध सत्य बंध रूप है,
जैसे पथ्यापथ्य आहारादि का ग्रहण कषाय संयुक्त अज्ञान निमित्तक ही इष्टानिष्ट फल को देने में
समर्थ पुद्गल विशेष से सम्बन्धित है तथा प्रकृत में भी समझना चाहिये ।

‘प्रतिज्ञार्थ का एक देश होने से यह हेतु असिद्ध है’ ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि धर्मों से
अनेकांत हो जाता है अर्थात् धर्मों प्रतिज्ञार्थ का एक देश होते हुये भी असिद्ध नहीं है । प्रतिज्ञा का
लक्षण है कि “धर्म धर्म-समुदाय वचनं प्रतिज्ञा” अतः वह प्रतिज्ञार्थ धर्म-धर्मों के समुदाय का एक
देश होते हुये भी प्रसिद्ध ही है क्योंकि ‘प्रसिद्धो धर्मो’ ऐसा सूत्रकारों का वचन है । ‘अनित्यः शब्दः
शब्दत्वात्’ शब्द अनित्य है क्योंकि वह शब्द है इस अनुमान में भी हेतु असिद्ध नहीं है । यहाँ
विवादापन्न धर्मों को विशेष करके सामान्य को हेतु बनाते हुये कोई दोष नहीं है जैसे “प्रयत्न के
अनन्तर होने वाला शब्द विनश्वर है क्योंकि वह प्रयत्न के अनन्तर ही होता है जैसे घट प्रयत्न के
अनन्तर ही होता है ।” इस अनुमान में ‘प्रयत्नान्तरीय त्वात्’ हेतु असिद्ध नहीं है ।

मीमांसक—केवल शब्द को धर्मों बनाने पर पक्ष मात्र में हेतु का अभाव होने से हेतु पक्षा-
व्यापक हो जावेगा क्योंकि समुद्र के घोष आदि शब्द प्रयत्न के बिना ही होते हैं ।

जैन—इसलिये यहाँ अनुमान में प्रयत्न के अनन्तर होने वाले शब्द से विशिष्ट ही धर्मों है ।

शंका—तब तो प्राणियों के पुद्गल विशेष सम्बन्ध को धर्मों बनाने पर और ‘तथात्व’

1 साध्यः । दि० प्र० । 2 आह परः हे स्याद्वादिन् धर्मधर्मिणोः समुदायः प्रतिज्ञा सैवार्थः प्रतिज्ञार्थस्तस्यैकभाग-
स्तस्य भावः प्रतिज्ञार्थकदेशत्वं तस्मात् प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थं पुद्गलविशेषसंबन्धादिति हेतुरसिद्ध इत्युक्ते
स्याद्वाद्याह एवं न कस्मात्प्रतिज्ञार्थस्यैकदेशः पक्षोऽप्यस्ति तेन कृत्वा प्रतिज्ञार्थकदेशत्वादिति भवद्वचनं व्यभिचरति =
तस्य धर्मिणो धर्मधर्मिसमूहलक्षणप्रतिज्ञार्थस्यैकदेशत्वे सत्यपि वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वमस्तीति वचनात् । दि०
प्र० । 3 यस्तु प्रतिज्ञार्थकदेशत्वासिद्धश्चेत् । व्या० प्र० । 4 प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्धो हेतुः । व्या० प्र० । 5 धर्मिणो
विवादापन्नस्य दृष्टान्तादीनामविवादापन्नानाञ्च साधारणस्वरूपम् । व्या० प्र० । 6 पुंसस्तात्त्वोष्टपुष्टादिव्या-
पारलक्षणः प्रयत्नः । दि० प्र० । 7 स्या० शब्दः पक्षो नित्यो भवतीति साध्यो धर्मः शब्दत्वादिति साध्यमुद्दिश्य सीगत-
रजितात्रानुमाने शब्दत्वादिति हेतुः सिद्ध एव कथं सिद्ध इत्युक्तं, आह अनित्य इति धर्मं धर्मिणं विधाय शब्दस्य सामान्यं
शब्दत्वं हेतुं ब्रुवतो वादिनः कश्चिद्दोषो नास्ति । दि० प्र० । 8 पक्षाव्यापकाद्धेतो । अनुमाने । दि० प्र० । 9 जैनः ।
व्या० प्र० ।

सिद्धिप्रसक्तेः ¹प्रकृतिप्रदेश²बन्धाभ्यामनैकान्तिकत्वप्रसङ्गाच्च³ विवादापन्नत्वविशेषणमिष्टानि-
ष्टफलदानसमर्थत्वविशेषण⁴ च युक्तम्, इष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धत्वस्य⁵
हेतोः कषायकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनत्वेन व्याप्तस्य पथ्येतराहारादिषु पुद्गलविशेषसंबन्धे
सुप्रसिद्धत्वादुदाहरणस्य साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावात्⁶, हेतोश्चानन्वयत्वासंभवात्⁷, विवा-
दापन्नो⁸ धूमोग्निजन्मा धूमत्वात्महानसधूमवदित्यादिवत् ।

[नैयायिकः कर्म आत्मनो गुणं मन्थते, किंतु जैनाचार्याः तन्मान्यतां निराकृत्य कर्मपौद्गलिकं साधयन्ति ।]

न चेष्टानिष्टफलदानसमर्थः कर्मबन्धः⁹ पुद्गलविशेषसंबन्धो¹⁰ न भवति, पुद्गलसंब-

को हेतु मानने पर आपका दृष्टान्त असिद्ध हो जावेगा । एवं प्रकृति और प्रदेश बन्ध से अनैकान्तिक भी हो जावेगा ।

जैन—नहीं, क्योंकि हमने विवादापन्न विशेषण एवं इष्टानिष्ट फलदान समर्थ विशेषण दिये हैं अतएव असिद्ध एवं अनैकान्तिक दोषों को अवकाश ही नहीं है क्योंकि “इष्टानिष्टफलदान समर्थ पुद्गलविशेषसंबन्धत्व” हेतु कषायकार्थ समवायी अज्ञान निमित्तक साध्य के साथ व्याप्त हैं एवं पथ्यापथ्य आहारादि में पुद्गल विशेष सम्बन्ध रूप पक्ष में सुप्रसिद्ध होने से उदाहरण भी साध्य-साधन धर्म से विकल नहीं है हेतु भी साध्य के साथ अन्वय सम्बन्ध रखने से अनन्वय दोष से युक्त नहीं है जैसे कि “विवादापन्न धूम अग्नि से उत्पन्न हुआ है क्योंकि वह धूम है जैसे रसोईघर का धूम”⁴ इत्यादि अनुमान निर्दोष हैं ।

[नैयायिक कर्म को आत्मा का गुण कहते हैं, किन्तु जैनाचार्य उनका निराकरण

करके कर्म को पौद्गलिक सिद्ध करते हैं ।]

नैयायिक—इष्टानिष्ट फल को देने में समर्थ कर्मबन्ध पुद्गल विशेष सम्बन्धी नहीं हैं ।

जैन—आप ऐसा नहीं कह सकते, अर्थात् वे पुद्गल विशेष सम्बन्ध रूप ही हैं क्योंकि पुद्गल के सम्बन्ध से विपच्यमान होते हैं—उदय में आते हैं जैसे ब्रीह्यादि धान्य आतप जलादि

1 पथ्येतराहारादिति दृष्टान्तः । दि० प्र० । 2 अथ क्षीणकषायोपशान्तकषायस्य । दि० प्र० । 3 विवादापन्नं प्राणिनामिष्टफलदानसमर्थ इति विशेषणद्वयाभावे पुद्गलविशेषसंबन्धः स्यादिति हेतु व्यभिचारी । दि० प्र० । 4 संबन्धाभ्याम् । इति पा० । दि० प्र० । 5 विशेषणत्व । इति पा० । दि० प्र० । 6 ननु च तथा च कथं युक्तमुदाहरणस्य साध्यसाधनवैकल्याद्धेतोश्चानन्वयवदित्युक्त आह । व्या० प्र० । 7 च । व्या० प्र० । 8 विवादापन्नः प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धत्वादिति हेतोरन्वयरूपेणाव्याप्तिः संभवति कथमित्युक्त आह यो विवादापन्नः प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धः सः कषायकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनो भवतीत्यन्वयः । दि० प्र० । 9 पर्वतादिस्यः । दि० प्र० । 10 अत्राह कश्चित्स्वमतवर्ती हे स्याद्वादिन् इष्टानिष्टफलदानसमर्थः कर्मबन्धो भवतु तथापि पुद्गलविशेषसंबन्धो नास्तीत्युक्ते स्याद्वाद्याह कर्मबन्धः पक्षः पुद्गलविशेषसंबन्धो भवतीति साध्यो धर्मः पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानवात् यः पुद्गलसंबन्धेन विपच्यते तस्य पुद्गलविशेषसंबन्धो भवति तथा ब्रीह्यादिक जलवासात्पादिलक्षणपुद्गलसंबन्धेन विपच्यते चायं तस्मात् पुद्गलविशेषसंबन्धो भवतीति । दि० प्र० ।

न्धेन विपच्यमानत्वाद्ब्रीह्यादिवत्^१ । जीवविपाकिषु कर्मसु^२ तदभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेन्न, तेषामपि सकर्मजीवसंबन्धेन विपच्यमानत्वात् पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वस्य प्रसिद्धेः पुद्गलक्षेत्रभवविपाकिकर्मवत् पक्षाव्यापकत्वसिद्धेः । पूर्वानुभूतविषयस्मरणेन^३ सुखदुःखदायिषु कर्मसु तदभावात् पक्षाव्यापकत्वमस्य हेतोरित्यप्यनेन निराकृतं, परम्परया पुद्गलसंबन्धेनैव तेषां^४ विपच्यमानत्वाच्च^५ । न किञ्चित्कर्म साक्षात्परम्परया वात्मनः पुद्गलसंबन्धमन्तरेण विपच्यमानमस्ति येन पौद्गलिकं न स्यात् । ततो न कर्मबन्धस्य पुद्गलविशेषसंबन्धित्वमसिद्धम् । नापीष्टानिष्टफलदानसमर्थत्वं, 'दृष्टकारण'व्यभिचारे^६ शुभेतरफलानुभवनस्य स्व-

के सम्बन्ध से ही पक्व होते हुये देखे जाते हैं इसलिये वे पुद्गल रूप हैं । कर्म हिंसादि विरति रूप चित्त के धर्म होने से—जीव के परिणाम होने से चेतन हैं 'इसलिये कर्म को पुद्गल विशेष सम्बन्धी कहना असिद्ध है' ऐसा कहने वाले चेतन कर्मवादी हैं, वे कर्म को चेतन का गुण मानते हैं वे नैयायिक आदि हैं । वे धर्म, अधर्म संज्ञक कर्म को जीव का गुण मानते हैं उनके प्रति आचार्यों का कहना है कि ये पुद्गल के निमित्त से फल देते हैं अतः पौद्गलिक ही हैं ।

तदस्थ जैन—जीवविपाकी कर्म प्रकृतियों में इस लक्षण का अभाव है अतएव आपका हेतु पक्षाव्यापक है ।

भावार्थ—कर्म के चार भेद हैं—जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, भवविपाकी और क्षेत्रविपाकी तद्यथा—

“देहादी फासंता पण्णासा णिमिणताव जृगलं च ।

थिरसुहपत्तेयदुगं अगुरुतियं पोगलविवाई ॥”

अर्थ—५ शरीर, ३ अंगोपांग, ५ बन्धन, ५ सञ्जात, ६ संस्थान, ६ संहनन, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गंध, ५ वर्ण, ये ५० एवं निर्माण, आतप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक साधारण, अगुरुलघु, उपघात, परघात ये ६२ प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं । पुद्गल अर्थात् जीव के शरीर में विपाक—फल का उदय जिनका ही वे पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ हैं । जैसे शरीर नाम कर्म, इससे शरीर का ही निर्माण होता है किन्तु जीव में उससे कुछ भी विकार नहीं होता है । चार आयुर्कर्म भवविपाकी हैं,

१ कर्मबन्धस्य । दि० प्र० । २ आतपादिसंबन्धेन पच्यमानब्रीह्यादिर्यभे । व्या० प्र० । ३ आह कश्चित्त्वमतवर्ती जीवविपाकिन्यः याः प्रकृतयः तासु तस्य पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमाणत्वादिति हेतोरभावात् अयं हेतुः स्वप्नं व्याप्नोतीति चेत् । स्या० इतिनाकस्मात्तेषां जीवविपाकिकर्मणामपि पुद्गलविशेषसंबन्धलक्षणकर्मसहितजीवसंबन्धेन विपच्यमानत्वात् हेतुः सिद्धः यथा पुद्गलक्षेत्रभवविपाकिकर्मणां सकर्मजीवसंबन्धेन विपच्यमानत्वं घटते अतः पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वादिति हेतुः स्वपक्षं व्याप्नोति । दि० प्र० । ४ स्वमतवर्ती । दि० प्र० । ५ तेषां पूर्वानुभूतविषयस्मरणेन दुःखसुखादिदायिनां कर्मणाम् । दि० प्र० । ६ ततश्च । दि० प्र० । ७ दृष्टं पौरुषं तच्च कारणञ्च दृष्टकारणव्यभिचारि तच्च शुभाशुभफलानु भवनञ्चेति विग्रहस्तत आत्मना साक्षात् कृतं दैवकारणकमस्ति यतः यथा रूपरसादिज्ञानमदृष्टचक्षुरादीन्द्रियकारणकं भवति । दि० प्र० । ८ तथात्वसाधनस्यासिद्धत्वं नेति सम्बन्धः । दि० प्र० ।

संविदितस्यादृष्टहेतुत्वसिद्धेः, रूपादिज्ञानस्य चक्षुराद्यदृश्यहेतुवत् । 'नन्वेवमज्ञानहेतुकत्वे^२ बन्ध-
स्य मिथ्यादर्शनादिहेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरुध्यते इति चेत्, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद-
कषाययोगानां कषायैकार्थसमवाय्यज्ञानाविनाभाविनामेवेष्टानिष्टफलदानसमर्थकर्मबन्धहेतुत्वस-
मर्थनात् मिथ्यादर्शनादीनामपि संग्रहात् संक्षेपत इति बुध्यामहे । ततो^३ मोहिन एवाज्ञानाद्वि-

नरकादि गतियों में जीव को रोकने वाली हैं । इनके द्वारा भी साक्षाज्जीव में कुछ विकार नहीं होता है क्योंकि उन गतियों में रोकने मात्र से जीव का विकार असंभव है ।

चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं, मरण के अनन्तर नूतनशरीर को ग्रहण करने के लिये विग्रह-
गति में जाते हुये जीव के शरीर के परिणाम को उत्पन्न करने वाले औदारिक आदि शरीर के अभाव
में भी पूर्व शरीर के आकार को धारण करता है इनके द्वारा भी साक्षात् जीव में कोई विकार नहीं
होता है । पूर्वाकार को ज्यों की त्यों बनाये रखने में कारण होने पर भी उतने मात्र से जीव में
विकृति असंभव है ।

जो कर्म साक्षात् जीव में कुछ विकार करते हैं वे विपाकी कहलाते हैं जैसे ज्ञानावरणाद
घातिया कर्मों का समूह है । उन प्रकृतियों के द्वारा जीव के ज्ञानादि गुणों का साक्षात् आवरण होकर
कुछ न कुछ विकार कराया जाता है । वे प्रकृतियाँ अट्ठत्तर हैं । घाति कर्म की ४७, वेदनीय की २,
गोत्र की २, नाम कर्म की २७ । ये जीव विपाकी प्रकृतियाँ पौद्गलिक कैसे होंगी ? क्योंकि पुद्गल
के सम्बन्ध से इनका उदय नहीं होता है । इस पर आचार्य उत्तर देते हैं—

जैन—नहीं । उन प्रकृतियों का भी कर्मसहित जीव के सम्बन्ध से ही उदय होता है । अतः

१ अत्राह कश्चित्स्वमतवर्ती । दि० प्र० । २ अज्ञानामोहिनो बन्ध इत्यनेन प्रकारेण—

वे०	ग०	ज्ञा	द०	मो०	अन्त	घा०	ना०	संयुक्ते
	२	५	९	२८	५	५१	२७	७८

एता जीवविपाकिन्यः

ती	उ	वा	प	सु	आ	य	त	वि	सु	ग	जा०	संयुक्ते
१	१	२	२	२	२	२	२	२	२	४	५	२७

पुद्गलविपाकिन्यः

दे	वं	सं	सं	अं	सं	व	ग	र	स्य	नि	आ	स्थि		प्र	अ	उ	प०	संयुक्ते	६२	एताः पुद्गल विपाकिन्यः
५	५	५	६	३	६	५	२	५	८	१	२	२	२	२	१	१	१			

मायूषि ४	नव विपाकीनि	आनुपूर्व्यः ४	क्षेत्र विपाकिन्यः ।
-------------	-------------	------------------	----------------------

। दि० प्र० । ३ अज्ञानमोहिनो बन्धो यतः । ष्वा० प्र० ।

शिष्टः^१ कर्मबन्धो न वीतमोहादिति^२ सूक्तम् । तथैव^३ 'बुद्धेरपकर्षान्मोहनीयपरिक्षयलक्षणान्मोक्षयति^५ विपर्यये विपर्यासादित्यधिगन्तव्यं, प्रकृष्टश्रुतज्ञानादेः^६ क्षायोपशमिकात् केव-

पुद्गल के सम्बन्ध से उदय होना सिद्ध है । पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी के समान ही वे भी जीवविपाकी प्रकृतियां पक्ष में व्यापक हैं ।

भावार्थ—उन जीवविपाकी प्रकृतियों का भी कर्म सहित जीव में ही विपाक होता है । कर्म सहित जीव भी कर्म पुद्गल के सम्बन्ध से कथञ्चित् मूर्तिक माने गये हैं और मूर्तिकपना ही तो पौद्गलिकपना है, ऐसा मान करके जीवविपाकी प्रकृतियों का भी पुद्गल के संबंध से ही उदय होना देखा जाता है । इसी हेतु से सभी कर्म प्रकृतियों को पौद्गलिकपना सिद्ध है ।

“पूर्व के अनुभूत विषयों का स्मरण करने से सुख-दुःख प्रदान करने वाले कर्मों में पुद्गल के सम्बन्ध से उदित होने का अभाव है । इसलिये यह हेतु पक्षाव्यापक ही है” ऐसा कहने वालों का भी इस उपर्युक्त कथन से ही निराकरण कर दिया है । क्योंकि परम्परा से पुद्गल के सम्बन्ध से ही उनका उदय होता है अर्थात् अनुभवपूर्वक स्मरण होता है और अनुभव पुद्गल के आश्रित है । अतः परम्परा से पुद्गल ही निमित्त है ।

कोई भी कर्म साक्षात् अथवा परम्परा से आत्मा को पुद्गल सम्बन्ध के बिना फल देते हुये नहीं देखा जाता है कि जिससे वह पौद्गलिक न हो सके, अर्थात् कर्म पौद्गलिक ही हैं । इसलिये कर्म बन्ध का पुद्गल विशेष सम्बन्धीपना है यह बात असिद्ध नहीं है एवं कर्म जीव को इष्ट-अनिष्ट फल देने में समर्थ हैं यह बात भी सिद्ध नहीं है, क्योंकि दृष्टकारण में व्यभिचार दिखने पर स्वसंविदित रूप शुभ और अशुभ फल का अनुभव अदृष्ट हेतुक है यह बात सिद्ध है । जैसे कि चक्षु अतीन्द्रिय होने से अदृश्य है फिर भी रूपादि को जानने से उसका अनुमान लगाया जाता है ।

शका—बन्ध को अज्ञान हेतुक मान लेने पर सूत्रकार ने तो मिथ्यादर्शनादि हेतुक भी माना है यह बात विरुद्ध क्यों नहीं हो जावेगी ?

समाधान—आपका यह कथन ठीक है, फिर भी मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये कषाय के साथ एकार्थ समवायी होने से अज्ञान के साथ अविनाभावी हैं वे ही इष्ट, अनिष्ट फल को देने में समर्थ कर्मबन्ध के हेतु हैं यह बात समर्थित की गई है । इसलिये यहाँ संक्षेप से मिथ्यादर्शन आदि का भी संग्रह हो जाता है ऐसा हम समझते हैं ।

“इसलिए मोहसहित जीव के ही अज्ञान से विशिष्ट कर्म बन्ध होता है किन्तु मोहरहित जीव के अज्ञान से बन्ध नहीं होता है । यह बिल्कुल ठीक ही कहा है ।”

उसी प्रकार बुद्धि के अपकर्ष से (स्तोकज्ञान से) मोहनीय के परिक्षय लक्षण अज्ञान से मोक्ष

१ स्थित्यनुभागाख्यः । व्या० प्र० । २ एतत् । व्या० प्र० । ३ अज्ञान्मोहिन एव कर्मबन्धो यथा । व्या० प्र० । ४ तत्त्वज्ञानस्य । व्या० प्र० । ५ मोहनीयरहितलक्षणात्ज्ञानस्तोकान्मोक्षो भवति उक्ताद्विपर्यये सति कोथं: मोहनीयकर्मसहितलक्षणात् ज्ञानस्तोकाद्विपर्ययो बन्धो घटत इति ज्ञातव्यम् । दि० प्र० । ६ का । व्या० प्र० ।

लापेक्षया स्तोकादपि छद्मस्थवीतरागचरमक्षणभाविनः साक्षादाहृत्यलक्षणमोक्षस्य सिद्धेः । तद्विपरीतात्तु मोहवतः स्तोकज्ञानात् सूक्ष्मसाम्परायान्तानां मिथ्यादृष्ट्यादीनां कर्मसंबन्ध एव । इति चिन्तितमन्यत्र ।

हो जाता है, किन्तु विपर्यय—मोह का नाश न होने पर उस बुद्धि के अपकर्ष रूप अज्ञान से बन्ध ही होता है ऐसा समझना चाहिये । प्रकृष्ट श्रुतज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान हैं वे केवलज्ञान की अपेक्षा से स्तोक ही हैं, वह स्तोकज्ञान छद्मस्थ वीतराग—बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के चरम समय में विद्यमान है, उस स्तोकज्ञान से भी साक्षात् आहृत्य लक्षण मोक्ष सिद्ध है । उससे विपरीत मोहसहित स्तोकज्ञान से सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान पर्यंत मिथ्यादृष्टि आदि जीवों के कर्म का बंध ही है । इस विषय पर “श्लोक वार्तिकालंकार” में विशद वर्णन किया गया है ।

‘अज्ञान से बंध एवं ज्ञान से मोक्ष के खण्डन’ का सारांश

सांख्य का कहना है कि अज्ञान से बंध एवं ज्ञान से मोक्ष होता है । इस पर आचार्यों का कथन है कि यदि अज्ञान से बंध अवश्यभावी मानों तो ज्ञेयपदार्थ तो अनन्त हैं पुनः उनको जानने वाला केवली कोई भी नहीं हो सकेगा तथा यदि अल्पज्ञान से मोक्ष मानों तो बचे हुये अवशिष्ट अज्ञान से बंध हो जावेगा । अज्ञान का अर्थ प्रसज्य प्रतिषेध करने पर तो ज्ञान का अभाव ही अज्ञान सिद्ध होगा एवं पर्युदास निषेध करने पर ज्ञान से भिन्न मिथ्याज्ञान रूप अज्ञान होता है । यदि प्रथम पक्ष लेवें तो ज्ञान के अभाव से बंध अवश्यभावी होकर केवलज्ञानी कोई भी नहीं हो सकेगा ।

सांख्य—इस जगत् में मेरा कुछ भी नहीं है, मैं केवल असहाय हूँ ऐसे तत्त्वज्ञान से केवलज्ञान हो जाता है ।

जैन—उस केवल के पहले तो अशेषज्ञान का अभाव है क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान अशेष अतीन्द्रिय पदार्थ को विषय नहीं कर सकता है, अनुमान भी अत्यन्त परोक्ष पदार्थ के अगोचर है तथा आगम भी सामान्य से ही सभी पदार्थों को बताता है एवं ज्ञेयपदार्थ अनन्त हैं, आपने भी प्रकृति की पर्यायों और पुरुषों को अनन्त माना है ।

सांख्य—आगम से उत्पन्न हुआ प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान रूप अल्पज्ञान भी मोक्ष का कारण है उतने से ही पुरुष को मोक्ष हो जाता है और अनागत बंध रुक जाता है । आप जैन ऐसा भी नहीं कहना कि थोड़े ज्ञान से अवशिष्ट अज्ञान अधिक होने से बंध हो जावेगा क्योंकि अल्प भी तत्त्वज्ञान से बंध हो जावेगा, क्योंकि अल्प भी तत्त्वज्ञान से अज्ञान की शक्ति नष्ट हो जाती है इसलिये ज्ञानस्तोक से मिश्रित अज्ञान बंध का कारण नहीं है ।

जैन—ऐसा मानने पर तो एकांत से अज्ञान से ही बंध होता है यह एकांत नहीं रहा । तथा सभी प्राणियों में कुछ न कुछ ज्ञान सम्भव है अतः सभी ही मुक्त हो जावेंगे । बंध का अभाव होने से संसार का अभाव ही हो जावेगा अथवा मुक्ति में भी पूर्ण ज्ञान का अभाव होने से बंध का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि आपने ज्ञान को प्रकृति का परिणाम माना है तथा पुरुष का स्वरूप सकलज्ञान से रहित चैतन्य मात्र माना है । तथा ज्ञान के अभाव रूप चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष माना है अतः ज्ञान के अभाव से वहाँ बंध सम्भव है “न ज्ञानं अज्ञानं” वहां सिद्ध है ।

यदि आप कहें कि मिथ्याज्ञान लक्षण अज्ञान से बंध निश्चित है क्योंकि—“धर्म से उर्ध्वगति और अधर्म से अधोगति होती है” तथा ज्ञान से मोक्ष एवं अज्ञान से बंध होता है एवं यह विपरीत ज्ञान स्वाभाविक और आहार्य—गृहीत आदि से अनेक प्रकार का है । यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं प्रत्यक्ष, आगम आदि से उनका ज्ञान नहीं होगा तथा सम्पूर्ण मिथ्याज्ञान की निवृत्ति न होने से केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकेगा ।

यदि आप कहें रागादि सहित मिथ्याज्ञान से बंध है, निर्दोष मिथ्याज्ञान से बंध नहीं होता है तो पुनः मिथ्याज्ञान से ही बंध होता है यह एकांत नहीं रहा । तथैव वैराग्य सहित अल्प तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानना भी ‘एकांत से ज्ञान से ही मोक्ष होता है’ इस सिद्धान्त को समाप्त कर देता है ।

नैयायिक—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञान का उत्तरोत्तर अभाव हो जाने से मोक्ष हो जाता है क्योंकि दुःखादिकों का अभाव तत्त्वज्ञानपूर्वक ही होता है । मिथ्याज्ञान से दोषों की उद्भूति अवश्य होती है ।

जैन—मिथ्याज्ञान का सम्पूर्णतया अभाव होना असम्भव है अतएव मिथ्याज्ञान से दोष, उससे प्रवृत्ति, उससे जन्म तथा उस जन्म से अशेष दुःख होते ही रहेंगे। पुनः मोक्ष कैसे होगा ?

नैयायिक—आत्मा, प्ररीर, इन्द्रिय आदि प्रमेयतत्त्व हैं इनके ज्ञान से मोक्ष होता है, किन्तु प्रमाणादि सोलह पदार्थ का ज्ञान न होने से भी अल्पज्ञान से मुक्ति सम्भव है। आप यह भी नहीं कह सकते हैं कि बहुत से मिथ्याज्ञान से बंध होता रहेगा क्योंकि दोष सहित मिथ्याज्ञान से ही बन्ध होता है।

जैन—पुनः 'अज्ञान से ही बंध होता है' यह एकान्त कहां रहा ? तथा "इच्छाद्वेषाभ्यां बन्धः" कहने पर भी केवली का अभाव ही हो जावेगा क्योंकि योगी ज्ञान के पहले इच्छा और द्वेष सदैव विद्यमान हैं उनका अभाव असम्भव है।

सौगत—अविद्या और तृष्णा के द्वारा बंध अवश्यभावी है, तथा अल्पज्ञान से मोक्ष होता है क्योंकि उपाय सहित हेयोपादेय तत्त्व को जानने वाला सुगत है, ऐसा वचन है।

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि हम लोगों को प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान रूप विद्या का होना असम्भव है और ज्ञेय पदार्थ भी विशेष रूप से अनन्त हैं "अनन्ताः लोक धातवः" ऐसा आपने ही कहा है अतः अविद्या के नष्ट हुये बिना तृष्णा भी नष्ट नहीं होगी पुनः सुगत सर्वज्ञ कैसे होगा ? तथा जो आपने अल्पज्ञान से मोक्ष कहा सो भी अशक्य है क्योंकि पुनः बहुत अवशिष्ट अज्ञान से बंध होता ही रहेगा।

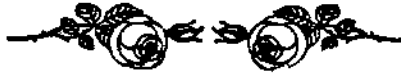
यदि बृद्ध बौद्ध कहे कि "अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, उससे षट् आयतन आदि बारह कारणों का आश्रय लेकर संसार होता है। पुनः "अविद्यातृष्णाभ्यां बन्धः द्वादशाङ्गद्वारकः संसारः" यह कथन परस्पर विरुद्ध है। अर्थात् इन बारह हेतुक संसार को मानने से अज्ञान से बन्ध, ज्ञान से मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि अज्ञान से ही बंध मानोगे तब तो कोई भी जीव कभी भी मुक्त नहीं हो सकेगा क्योंकि सभी को किसी न किसी विषय में अज्ञान तो है ही है। इसलिये एकांत मान्यता कथमपि श्रेयस्कर नहीं है। स्याद्वाद के विद्वेषियों के यहाँ उभयैकात्म्य भी श्रेयस्कर नहीं है तथैव "अवाच्या" एकांत कहना भी शक्य नहीं है। अब स्याद्वाद की सिद्धि करते हैं—

क्रोधादि कषाय से सहित मिथ्याज्ञान से बंध एवं कषायरहित अज्ञान से बंध नहीं होता है। तथैव मोहरहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है किन्तु मोहसहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं होता है। “सकषायत्वाज्जीवः कर्मणोयोग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः” अतएव कषायरहित क्षीणमोह और उपशांत जीव के अज्ञान से बन्ध नहीं होता है। इन दोनों गुणस्थानों में केवलज्ञान न होने से अज्ञान विद्यमान है, किन्तु बन्ध नहीं है। तथा “मिथ्यादर्शना विरतिप्रमादकषाययोगाबन्ध हेतवः” इस सूत्र के अनुसार कषायादि से सहित ही अज्ञान बंध का हेतु है एकान्ततः नहीं है। एवं प्रकृष्ट श्रुत-ज्ञानादि क्षायोपशमिकज्ञान केवलज्ञान की अपेक्षा अल्प ही है, वह स्तोक ज्ञान छद्मस्थ वीतराम के चरम समय में विद्यमान है उस अल्पज्ञान से भी आर्हत्य लक्षण अपर मोक्ष सिद्ध है किन्तु मिथ्यादृष्टि से लेकर दशवें गुणस्थान तक मोहसहित ज्ञान कर्मबन्ध का ही कारण है यह बात स्याद्वाद से सिद्ध हो जाती है।

कथंचित् मिथ्यात्व, कषायादिसहित अज्ञान से बंध है।

कथंचित् मिथ्यात्व, कषायादिरहित अज्ञान से बंध नहीं है।

कथंचित् उभयरूप है इत्यादि। तथैव कथंचित् मोहरहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है। कथंचित् मोहरहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं होता है। कथंचित् उभयरूप है इत्यादि सप्तभङ्गी घटा लेना चाहिये।



नन्वस्तु मोहप्रकृतिभिः कामादिदोषात्मिकाभिः^१ सहचरितादज्ञानात् पुण्यपापकर्मणोः शुभाशुभफलानुभननिमित्तयोः प्राणिनां बन्धः । स^२ तु कामादिप्रभवो^३ महेश्वरनिमित्त^४ एवेत्याशङ्कामपाकर्तुमिदमाहुः—

**कामादिप्रभवश्चित्रः^५ कर्मबन्धानुरूपतः^६ ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः^७ ॥६६॥**

कामादिप्रभवो^८ भावसंसारोयं नैकस्वभावेश्वरकृतस्तत्कार्यसुखदुःखादिवैचित्र्यात्^९ । यस्य यस्य कार्यवैचित्र्यं तत्तन्नैकस्वभावकारणकृतं, यथानैकशाल्ड्यकुरादिविचित्रकार्य^{१०} शालिबीजा-

उत्थानिका यौग कहता है कि कामादि दोषरूप मोह प्रकृतियों से सहचरित अज्ञान से शुभ, अशुभ फल के अनुभव में निमित्तभूत पुण्य और पाप का बन्ध प्राणियों के होता है सो होवे किन्तु वह कामादि—इच्छादि की उत्पत्ति रूप कार्य तो महेश्वर के निमित्त से ही होता है न कि कर्मकृत । इस प्रकार की शंका को दूर करने के लिये श्री समंतभद्रस्वामी अगली कारिका को कहते हैं—

कामक्रुधादिक भावों से है, यह उत्पन्न भाव संसार ।
स्वयं उपाजित कर्मों के, अनुरूप दिखे है विविध प्रकार ॥
वह ही कर्म हुआ है अपने, रागादि परिणामों से ।
कर्म सहित प्राणी दो विध हैं, भव्य अभव्य प्रकारों से ॥६६॥

कारिकार्थ—जो काम-रागादिकों का उत्पाद होता है वह कार्य रूप-भाव संसार नाना प्रकार का है वह ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध के अनुसार ही होता है और वह कर्म अप ने हेतुभूत रागादि परिणामों से ही होता है । तथा वे जीव शुद्धि-भव्यत्व और अशुद्धि-अभव्यत्व के भेद से दो प्रकार के हैं ॥६६॥

“रागादि से उत्पन्न हुआ यह भाव संसार एक स्वभाव वाले महेश्वर के द्वारा किया हुआ नहीं है । क्योंकि उसके कार्यरूप सुख, दुःखादिकों की विचित्रता (नाना प्रकारता) देखी जाती है । जिस-जिसका कार्य विचित्र होता है वह-वह एक स्वभाव वाले कारण से किया हुआ नहीं होता है । जैसे अनेक शालि आदि के अंकुरादि रूप विचित्र कार्य शालि आदि के बीजों से हुये हैं और संसार में

१ रतिः । व्या० प्र० । २ कामक्रुधादयो दोषाः प्रभवन्ति जायन्तेऽस्मिन्निति कामादिप्रभवः भाव संसारः । ३ एव । कार्यम् । दि० प्र० । ४ ननु कर्मबन्धनिमित्तः । दि० प्र० । ५ इच्छाद्वेषादिभेदेनानाप्रकारेण । दि० प्र० । ६ ननु यदि कर्मबन्ध नुरूपतः संसारः स्यात्तर्हि केषाञ्चिन्मुक्तिरितरेषां संसारश्च न स्यात्कर्मबन्धनिमित्ताविशेषादित्याशङ्कामाहुः । कामादिकार्याणि = ता = बतः । दि० प्र० । ७ कामादिकार्याणि । व्या० प्र० । ८ जीवा भव्याभव्यत्वतो मुक्ति संसारञ्च प्राप्नुवन्ति । व्या० प्र० । ९ ता । व्या० प्र० । १० बतः । व्या० प्र० ।

दिकं, सुखदुःखादिकार्यवैचित्र्यं च संसारस्य¹ तस्मान्नायमेकस्वभावेश्वरकृतः । न तावदयं² हेतु-
रनिश्चितव्यतिरेकत्वादगमकः³, ⁴साध्याभावेनु⁵पपन्नत्वग्राहकप्रमाणसद्भावात्⁶ । न हि कारण-
स्यैकरूपत्वे⁷ कार्यनानात्वं युक्तं, शालिबीजाङ्कुरवत् । प्रसिद्धस्तावदेकस्वरूपाच्छालिबीजाद-
नेकाङ्कुरकार्यायोगः⁸, स एव दृष्टान्तः स्यात् । ततः साधिवदं⁹ विपक्षे बाधकं प्रमाणमेकस्व-
भावकारणकृतत्वप्रतिषेधस्य¹⁰ साध्यस्याभावे¹¹ ¹²नियमेनैकस्वभावकारणकृतत्वेऽनेकार्थत्वस्य¹³
साधनस्य ध्यावृत्तिनिश्चयजननात्, विचित्रकार्यं च स्यादेकस्वरूपकारणकृतं च स्यादिति संभा-

सुख, दुःखादि कार्यों की विचित्रता देखी जाती है अतएव एक स्वभाव वाले ईश्वर के द्वारा की हुई नहीं है ।”

इस हेतु का व्यतिरेक निश्चित न होने से यह अगमक है ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि साध्य के अभाव में नहीं होना रूप को ग्रहण करने वाला प्रमाण विद्यमान है । कारण को एकरूप मानने पर कार्य में नानापना युक्त नहीं है । शालि बीजाङ्कुर के समान । जैसे कि एकरूप शालि बीज से शालि का ही अंकुर उत्पन्न होता है अन्य जी, मटर आदि का नहीं हो सकता है । अतः एक स्वरूप शालि के बीज से अनेक प्रकार के अंकुरों को उत्पन्न करने का अभाव प्रसिद्ध ही है; वही दृष्टान्त है अतएव यह कथन ठीक ही है । आपके एक स्वभाव वाले ईश्वरकृत लक्षण विपक्ष में बाधक प्रमाण विद्यमान है जो एक स्वभाव कारणकृत के प्रतिषेध रूप साध्य के अभाव में नियम से एक स्वभाव कारणकृत है और ऐसा होने पर अनेक कार्यत्व रूप हेतु की व्यावृत्ति को निश्चित कराता है क्योंकि विचित्र कार्य भी होवे और एक स्वरूप कारणकृत भी होवे इस प्रकार की संभावना की शंका का अभाव ही हो जाता है ।

शंका—कालादि से आपका हेतु व्यभिचारी है । अर्थात् एक स्वभाव होने पर भी विचित्र कार्य देखा जाता है और वह विचित्रता नवीन, जीर्ण आदि की अपेक्षा से होती है ।

1 कामादेः । व्या० प्र० । 2 अत्राह परः तत्कार्यसुखदुःखादिवैचित्र्यादिति हेतुव्यांतरेकरहितः सन् स्वसाध्यस्यासाधकः स्यादेवं न कस्मान्नैकस्वभावेश्वरकृत इति साध्यस्याभावे सति तत्कार्यवैचित्र्यादित्येतस्य ग्राहकप्रमाणस्य साधनस्यानुपपन्नत्वात्कीर्णः साध्यस्याभावे साधनस्याप्यभावः । दि० प्र० । 3 व्यतिरेकस्तुतिश्चित्त एव । व्या० प्र० । 4 एकस्वभावेश्वरकृतत्वलक्षणे । व्या० प्र० । 5 साध्यसद्भावे सत्येव हेतुसद्भावे इत्यर्थः । हेतोः । दि० प्र० । 6 अनुमान । दि० प्र० । 7 कामादिप्रभवः कामादिकारणं चित्रकार्यजनकं न भवत्येकरूपत्वाच्छालिबीजाङ्कुरवत् । दि० प्र० । 8 विविध । व्या० प्र० । 9 दृष्टान्तः । यत एव तत एक स्वभावेश्वरकृतो भवतीतिलक्षणसाध्ये विपक्षेशालिबीजाङ्कुरवदसौ दृष्टान्तस्तत्कार्यसुखदुःखादिवैचित्र्यादित्यति साधनञ्च बाधकं भवति कथमित्युक्ते स्योत्तरमग्रेस्ति । दि० प्र० । 10 कार्यनानात्वाभावसाधकम् । दि० प्र० । 11 सति । कीर्णः । व्या० प्र० । 12 पर्युदास-
दृत्येदं भण्यते । व्या० प्र० । 13 अभाव इति कीर्णः नियमेनैकस्वभावकृतत्वे । व्या० प्र० ।

वनाशङ्काव्यवच्छेदात् । कालादिना¹ व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न, तस्यैकस्वभावत्वैकान्तासिद्धेः । अपरिणामिनः सर्वथार्थक्रियाऽसंभवात्² तल्लक्षणत्वाद्द्वस्तुनः³ सद्भावमेव तावन्न संभावयामः । सत्त्वस्यार्थक्रियया व्याप्तिरसिद्धेति न मन्तव्यं, तद्रहितस्य खपुष्पादेरसत्त्वनिश्चयात् । नन्वसतोप्यसदितिप्रत्ययलक्षणार्थक्रियाकारित्वान्न⁴ तथा सत्त्वस्य व्याप्तिरिति न शङ्कितव्यं, व्यापकस्य तदतस्त्रिष्ठतया व्याप्याभावेपि भावाविरोधात् तद्व्याप्टेरखण्डनात्⁶ । क्रमयौगपद्या-

समाधान ऐसा नहीं कहना ! उसमें एक स्वभाव का एकांत सिद्ध नहीं हो सकता है । जो अपरिणामी, एक स्वभावी हैं अर्थात् सर्वथा नित्य रूप अथवा क्षणिक रूप ही हैं उनमें सर्वथा ही अर्थक्रिया असम्भव है । वस्तु तो अर्थक्रिया लक्षण वाली ही है अतएव अपरिणामी होने से कालादि का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है ।

शंका—सत्त्वरूप कालादिकों की अर्थक्रिया से व्याप्ति ही असिद्ध है ।

समाधान—आपको ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि अर्थक्रिया से रहित आकाश पुष्पादिकों का असत्त्व ही निश्चित है ।

नैयायिक—असत् भी खपुष्पादि “असत्” इस ज्ञान लक्षण अर्थक्रिया वाला है इसलिये उस अर्थक्रिया से सत्त्व से व्याप्ति नहीं है ।

जंन—ऐसी शंका उचित नहीं है । क्योंकि व्यापक तो तत्-अतत् दोनों में निष्ठ (स्थित) रहता है अतः व्याप्य के अभाव में भी व्यापक का रहना अविरुद्ध है । उससे व्याप्ति का खण्डन नहीं होता है । अर्थात् एकत्र भी व्यापक के अवयवभूत व्याप्य में यदि व्यापक रहता है तब तो वह व्याप्ति अखंडित ही है क्योंकि अग्नि और धूम की भी सर्वत्र व्याप्ति नहीं है ।

शंका—क्रम और युगपत् से अर्थक्रिया की व्याप्ति असिद्ध है ।

1 पर आह कालादि एकस्य भावोस्ति तथापि शालिगोधूमवीजांकुरजननसर्ववस्तुनवजीर्णतादिजननलक्षणानेकविधं कार्यं करोति एव तत् कार्यमुखदुःखादिवैचित्र्यादिति हेतुः कालादिनाव्यभिचारी अस्तीति चेत्—स्या० एवं न । कस्मात्तस्यकालादेः एकान्तेनैव एकस्वभावो न न सिद्धयति यतः—अपरिणामि वस्तु सर्वथा प्रकारेणार्थक्रियां न करोति पुत्रंस्तुनोर्थक्रियालक्षणत्वात्—अर्थक्रियाभावे वस्तुनोस्तित्वमपि नाङ्गीकुर्मो वयं स्याद्वादिनः—अत्राह परोर्थक्रिया भावेपि वस्तुनः सत्त्वमस्तीत्युक्ते स्वाद्वाद्याह हे प्रतिवादिन् वस्तुनः सत्त्वमर्थक्रियां व्याप्नोतीति सिद्धिर्नन्तव्या कस्मादर्थक्रियारहितं खपुष्पादिकं नास्ति लोक इति नियमात् । दि० प्र० । 2 क्रमेण यौगपद्ये न वेति यावत् । व्या० प्र० । 3 सत्त्वस्य । व्या० प्र० । 4 आह परः खपुष्पादिकमसत्त्वमपि नास्तीति ज्ञान लक्षणार्थक्रियां करोति तस्मात्तार्थक्रियाया सत्त्वस्य व्याप्तिर्नेति चेत् स्यात् त्वयेत्यारेकितव्यं न । कस्मादर्थक्रियालक्षणव्याप्यानधीनतया सत्त्वलक्षण व्याप्याभावेप्यर्थक्रिया सद्भावो न विरुद्धयते ततोर्थक्रियाव्याप्टेरविच्छेदात्—पुन आह परः क्रमेणक्रमेण च सत्त्वस्यार्थक्रिययाव्याप्तितं घटते । अन्यथा घटतामिति चेत् । स्या० वदत्येवं न । कस्मात्क्रमाक्रमौ विहायान्यप्रकारेणार्थक्रिया न संभवति लोके यतः वस्तुनः । दि० प्र० । 5 निश्चयः । व्या० प्र० । 6 अर्थक्रियया सत्त्वस्य व्याप्टेः । व्या० प्र० ।

भ्यामर्थक्रियाव्याप्तिरसिद्धेति^१ चेन्न, प्रकारान्तरेणार्थक्रियायाः संभवाभावात् । एकस्यैकामे-
वार्थक्रियां संपादयतो न क्रमो नापि योगपद्यं, तस्यानेककार्यविषयत्वादिति चेन्न, तादृशस्य
वस्तुनोसंभवात् । सर्वस्य बाह्यामर्थक्रियां कुर्वतोऽन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारणस्यावश्यं-
भावित्वादन्यथा योगिनोऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् पदार्थस्यानेकक्षणस्थायिनः क्रमेणाक्रमेण^२ वानेक-
कार्यकारित्वसिद्धेरेकक्षणस्थायिनो नभ्युपगमात्^३ तथा प्रतीत्यभावाच्च । क्रमयोगपद्ययोः परि-
णामित्वेन व्याप्तिरसिद्धेति चेन्न, अपरिणामिनः क्षणिकस्येव नित्यस्यापि क्रमयोगपद्यविरो-
धात्^४ । ततः^५ कस्यचित्यपरिणामित्वाभावे^६ क्रमयोगपद्याभावादर्थक्रियापायात् सत्त्वानुप-
पत्तेर्वस्तुत्वसंभवाभाव एवेति निश्चितम् ।

समाधान—ऐसा भी नहीं कहना । प्रकारान्तर से तो अर्थक्रिया संभव ही नहीं है । अर्थात् क्रम और युगपत् को छोड़कर तीसरी प्रकार से असंभव है ।

शंका—एक ही अर्थक्रिया को करते हुये एक वस्तु में क्रम भी नहीं है और योगपद्य भी नहीं है क्योंकि वे क्रम और युगपत् अनेक कार्य को विषय करते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि एक ही अर्थक्रिया को करने वाली वही वस्तु ही असंभव है । सभी वस्तुयें बाह्य रूप अर्थक्रिया को करती हुई अंतरंग में स्वज्ञान लक्षण अर्थक्रिया को भी अवश्य ही करती हैं इसलिये अंतरङ्ग और बहिरङ्ग लक्षण से अर्थक्रिया के दो भेद हो गये हैं । अन्यथा यदि अन्तरङ्ग स्वज्ञान लक्षण अर्थक्रिया को न मानें तब तो योगिजन असर्वज्ञ हा जावेंगे । अनेक क्षण स्थायी सभी पदार्थ क्रम अथवा अक्रम से अनेक कार्य को करने वाले सिद्ध हैं । एक क्षण स्थायी—

१ आह पर एकस्येश्वरस्यान्यस्य वस्तुनो वा केवलामेवार्थक्रियां कुर्वतः क्रमो नास्त्यक्रमो नास्ति किन्तु तस्यैकस्याने-
कानि कार्याणि विषयाः भोचराः सन्तीति चेत् । स्या० इति न कस्माद्यस्यैकस्य वस्तुनः क्रमाभावेऽनेकानि
कार्याणि विषया भवन्ति तादृग् वस्त्वपि लोके नास्ति यतः सर्वं यत् किञ्चिद्वस्तु बाह्यार्थक्रियां करोति तत्करणे
अन्तरंगात्मज्ञानलक्षणार्थक्रियाकरणं ध्रुवं घटते यतोऽन्यथा न घटते चेत्तदायोगिन ईश्वरादेः सर्वस्यासर्वज्ञत्वं प्रसजति ।
दि० प्र० । २ एकक्षणस्थायी पदार्थो लोके नास्तीत्यंगीकारात् स्याद्वादनां तथा दर्शनाभावात्—पुनराह परः
परिणामित्वेन क्रमाक्रमयोर्व्यातिर्न घटत इति चेत्स्थान्तकस्मात्सोगतस्याभ्युपगतस्य सर्वथा क्षणिकस्य सांख्याभ्युपग-
तसर्वथानित्यस्यापिक्रमाक्रमौ विरुद्धयेते यतः । दि० प्र० । ३ पदार्थस्य । व्या० प्र० । ४ परिणामित्वादीनां चतुर्णां
व्याप्यव्यापकभाव सिद्धो यतः । व्या० प्र० । ५ यत एव ततः कस्यचिद्वस्तुनः परिणामित्वाभावेऽक्रमयोगपद्ये न भवतः
क्रमयोगपद्याभावेऽर्थक्रिया न संभवत्यर्थक्रियाभावे सत्त्वं न सत्त्वाभावे वस्तुत्वाभाव इति स्याद्वादिभिर्निश्चितं
तत्रेश्वरस्य वस्तुनश्चैकस्वभावव्यवस्थापने कलादिभेदभिन्नानां शरीरजगदिन्द्रियादीनामपमोश्वरः कर्ता किल एतत्स-
हृदाश्चर्यं कस्मात्प्रारब्धतत्कार्यसुखदुःखादित्रैचित्र्यादित्यनुमानेन बाधनात् । एतेनैकस्वभावस्य नानाकार्यकरणनिरा-
करणद्वारेण ईश्वरस्य वाञ्छापि निषिद्धा कस्मात्सपि नित्यैकस्वभावाच्चेत्तदा तस्याः सकाशात्कार्यवैचित्र्यं नोत्पद्यते
तस्या वस्तुत्वं न घटते कस्मादीश्वरतदिच्छया नित्यैकस्वभावाभ्यां कृत्वा भेदाभावात् । दि० प्र० । ६ वस्तुनः ।
दि० प्र० ।

[ईश्वरसृष्टिकर्तृत्वं निराकृत्य जैनाचार्याः सृष्टेरनादित्वं स ध्वयति नैयायिकं प्रति ।]

तत्र¹ कालदेशावस्थास्वभावभिन्नानां तनुकरणभुवनादीनां² किलायं कर्तेति³ मह-
च्चित्रं, प्रकृतप्रमाणबाधनात् ।

एतेनेश्वरेच्छा प्रत्युक्ता, तस्या अपि नित्यैकस्वभावायाः कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेर्वस्तुत्व-
संभावनानुपपत्तेश्चाविशेषात् । न चैतेनास्याः⁴ संबन्धस्तत्कृतोपकारानपेक्षणात् । न हि
नित्यादेकस्वभावादीश्वरात् कश्चिदुपकारः सिसृक्षायास्तथाविधायः⁵ संभवत्यनर्थान्तरभूतो,

क्षणिक पदार्थ को हमने स्वीकार ही नहीं किया है तथा एक क्षण स्थिति रूप प्रतीति भी नहीं
आती है ।

नैयायिक—क्रम और युगपत् रूप व्याप्य की परिणामी रूप व्यापक के साथ व्याप्ति
असिद्ध है ।

जैन - ऐसा नहीं कहना । क्योंकि अपरिणामी क्षणिक के समान नित्य अपरिणामी में भी
क्रम अथवा युगपत् का विरोध है । इसलिये किसी को परिणामी न मानने पर क्रम और युगपत् का
अभाव हो जावेगा और उसमें अर्थक्रिया के न होने से उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा । पुनः
उस वस्तु ही नहीं कह सकेंगे यह बात निश्चित हो गई ।

[ईश्वर सृष्टि का कर्ता है इस नैयायिक की मान्यता का निराकरण करके जैनाचार्य सृष्टि को
अनादि सिद्ध करते हैं ।]

उसमें काल, देश, अवस्था और स्वभाव से भिन्न तनु, करण-इन्द्रियां, भुवन आदि का यह
महेश्वर कर्ता है ऐसा मानना महान् आश्चर्यकारी है क्योंकि प्रकृत के प्रमाण से बाधित है । एक
स्वभाव वाले ईश्वर से अनेक कार्यरूप सृष्टि का निराकरण करने से ही "ईश्वर की इच्छा से ही
यह सृष्टि निर्मित की जाती है" इसका भी निराकरण किया गया ही समझना चाहिये । क्योंकि उस
नित्य एक स्वभाव वाली इच्छा से भी विचित्र-विचित्र कार्यों की उत्पत्ति असंभव है एवं वे कार्य
वस्तुभूत हैं यह सम्भावना भी असंभव ही है दोनों जगह दोष समान ही हैं । एवं उस ईश्वर से इस
इच्छा का संबंध भी नहीं है क्योंकि उसके द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा नहीं है ।

प्रश्न यह उठता है कि नित्य एक स्वभाव वाले ईश्वर से उस सिसृक्षा का कोई उपकार उस

1 तथा सति । व्या प्र० । 2 तनुभुवनकरणादीनाम् । इति पा० । व्या० प्र०, दि० प्र० । 3 ईश्वरः । व्या० प्र० ।
4 किञ्च विशेषस्तेनेश्वरेण सह अस्या इच्छायाः संबन्धो नास्ति कस्मादिच्छेश्वरकृतमुपकारं नापेक्षयते यतोमुमेवार्थं
प्रकटयति नित्यैकस्वरूपादीश्वरात् नित्यैकस्वभावायाः सृष्टिमिच्छायां कश्चनोपकारं न जायते = पुनराह स्वा० भवतु
नामोपकारः स उपकार ईश्वरादिभिन्नो भिन्नो वेति विकल्पोभिन्नश्चेत्तदा ईश्वरस्यानित्यस्वभावोपकारपरिणतस्य
नित्यत्वं विरुद्धयते भिन्नश्चेत्तदानुपकारादुपकारस्य ईश्वरेण सह सम्बन्धो न सिद्धयति सोप्युपकार ईश्वरसम्बन्ध-
निमित्तमन्योपकारमपेक्षते स चोपकार ईश्वरादिभिन्नो वाभिन्नो अभिन्नश्चेदीश्वरस्यानित्यत्वमाप्रसङ्गः भिन्नश्चेत्तदा
सम्बन्धासिद्धिः सा चाप्युपकार ईश्वरसम्बन्धार्थमन्योपकारमपेक्षते पूर्ववत् सोप्यन्यं सोप्यन्यमेवमनवस्था स्यात् । दि० प्र० ।
5 सृष्टिमिच्छायाः । व्या० प्र० ।

नित्यत्वविरोधात् । नाप्यर्थान्तरभूतः । संबन्धासंभवादनुपकारात्, उपकारान्तरेनवस्थाप्रस-
ङ्गात्^१ । ततो व्यपदेशोपि सा भूत् ईश्वरस्य सिसृक्षेति । तत्र^२ समवायात्तथा^३ व्यपदेश इति
चेन्न, सर्वथैकस्वभावस्य समवायित्वनिमित्तकारणत्वादिनानास्वभावविरोधात्^४ महेश्वरस्याभि-
सन्धेरनित्यत्वेपि समानप्रसङ्गः, पदार्थान्तरभूतस्याभिसन्धेस्तेन^५ संबन्धाभावस्य तत्कृतोपका-
रानपेक्षस्य^६ व्यपदेशासंभवस्य चाविशेषात्, सकलकार्याणामुत्पत्तिविनाशयोः स्थितौ^७ च महे-

ईश्वर से अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभिन्न मानों तब तो आपका ईश्वर नित्य रूप सिद्ध नहीं हो
सकेगा, यदि भिन्न मानों तो संबंध असंभव होने से उपकार भी असंभव हो जावेगा । भिन्न उपकार
की कल्पना करने पर तो अनवस्था दोष आ जावेगा । पुनः यह व्यपदेश भी नहीं हो सकेगा कि
यह सिसृक्षा-सृष्टि करने की इच्छा इस ईश्वर की है ।

नैयायिक—उस ईश्वर में उस सिसृक्षा का समवाय ही जाने से यह सिसृक्षा उस महेश्वर
की है हम ऐसा कह देंगे ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । सर्वथा एक स्वभाव वाले ईश्वर में समवायित्व, निमित्त कारण-
त्वादि नाना स्वभाव का विरोध है ।

यदि आप महेश्वर के अभिप्राय—सिसृक्षा को अनित्य मानेंगे तो भी नित्यपक्ष के समान ही
अनेक दोष आ जावेंगे । ईश्वर से भिन्न उस सिसृक्षा को मानने पर उस ईश्वर से उसके सम्बन्ध का
अभाव होने से उसके द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा नहीं होगी, 'यह सिसृक्षा इस ईश्वर की है'
ऐसा व्यपदेश ही असंभव हो जावेगा । सकल कार्यों की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के होने पर

१ सम्बन्धसिद्धचर्चं किञ्चिदुपकारान्तरं परिकल्पते । व्या० प्र० । २ तत्र ईश्वरेच्छयोः सम्बन्धविचारे समवायसम्बन्ध-
वशादीश्वरस्यैयं सिसृक्षेति व्यपदेशो घटत इति परेणोक्तम् । स्या० एवं न कस्मात्सर्वथैकस्वभावस्य महेश्वरस्य
समवायित्वं निमित्तकारणत्वमित्यादिनानारूपत्वं विरुद्ध्यते यतः । दि० प्र० । ३ ईश्वरस्य सिसृक्षा । व्या० प्र० ।
४ जगतः । व्या० प्र० । ५ अत्राहेश्वरवादी हे स्याद्वादिन् अभिसन्धिः परिणामस्तद्वशादीश्वरः तनुमुक्त्वादिक्
करोतीत्युक्ते स्याद्वाद्याह भवतु नाम ईश्वरस्याभिसन्धिः स च नित्योऽनित्यो वेति विचारः । नित्यत्वे परिणमनमेव
न स्यादनित्यत्वे अनित्यत्वपरिणाममित्येष्वश्वरस्यायनित्यत्वदोषो घटते । पुनराह स्याद्वाद्यभिसन्धिरीश्वरादभिन्नो
भिन्नो वेति विचारः प्रथमपक्ष ईश्वरस्य नित्यैकस्वभावस्य परिणामित्वं स्यात् द्वितीयपक्षे संबन्धासिद्धिः । कस्मा-
दभिसन्धिरीश्वरकृतमुपकारं नापेक्षते यतः सोभिसन्धिरीश्वरसंबन्धनिमित्तमुपकारान्तरमपेक्षते । स उपकारोऽभिन्नो
भिन्नो वा अभिन्नश्चेदीश्वरस्यानित्यत्वप्रसङ्गः । भिन्नश्चेत्तदा तस्यायमिति व्यपदेशो न स्यादेवमुत्तरोत्तरोपकारा-
श्रयणादनवस्थाप्रसङ्गः । दि० प्र० । ६ अपेक्षणे ईश्वराद्भिन्नस्योपकारस्याभिन्नस्य वा अनन्तरोक्तदोषानुषङ्गात् ।
व्या० प्र० । ७ कथमनित्योभिसन्धिरीश्वरस्य । दि० प्र० ।

श्वराभिसंधिरेकत्वे सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गाद्विचित्रत्वानुपपत्तेरिति । 'तदनेकत्वेप्यक्रमत्वस्यैव^२ दोषस्योपनिपातात्^३, क्रमवत्त्वे^४ केषाञ्चित्कार्याणां सकृदुत्पत्त्यादिदर्शनविरोधात्^५ कथमनित्योभिसंधिरीशस्य^६ स्यात् ? सन्नप्यसौ यदीश्वरसिसृक्षानपेक्षजन्मा तदा तन्वादयोपि तथा भवेयुरिति न कार्यत्वादिहेतवः^७ प्रयोजकाः स्युः । सिसृक्षान्तरापेक्षजन्मा चेदनवस्था । बुद्धिपूर्वकत्वादिच्छाया न दोष इति चेत्सा तर्हि बुद्धिरीश्वरस्य यदि नित्यैकस्वभावा तदा कथमनेकसिसृक्षाजननहेतुः क्रमतो युज्येत युगपद्वा ?^८ पूर्वपूर्वसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरसिसृक्षोत्पत्ति-

महेश्वर की इच्छा को यदि एक ही मानोगे, तो एक साथ ही सभी कार्यों की उत्पत्ति आदि का प्रसङ्ग आ जावेगा । पुनः सभी कार्यों में विचित्रपना नहीं हो सकेगा ।

महेश्वर की इच्छा को अनेक मानोगे तो वे क्रम से होती हैं या अक्रम से ? अक्रम पक्ष में उस महेश्वर की सिसृक्षा को अनेक मान करके भी यदि उसे अक्रम से मानोगे तो सकृत् उत्पत्ति आदि के प्रसङ्ग रूप ये ही दोष आ जावेंगे ।

यदि इच्छा को क्रम से मानोगे तो किन्हीं-किन्हीं कार्यों का सकृत्-एक साथ उत्पन्न होना देखा जाता है, वह भी विरुद्ध हो जावेगा । पुनः महेश्वर की इच्छा अनित्य रूप कैसे सिद्ध हो सकेगी ? अच्छा ! ऐसा मान भी लीजिये, फिर भी वह इच्छा ईश्वर की इच्छा के बिना होती है या इच्छा-पूर्वक ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो तनु आदि भी उस सिसृक्षा की अपेक्षा न करके ही हो जावें । इस प्रकार से कार्यत्वादि हेतु प्रयोजक नहीं हो सकेंगे । यदि कही सिसृक्षांतर की अपेक्षा करके ये कार्य होते हैं तब तो अनवस्था दोष आवेगा ही आवेगा ।

नैयायिक—महेश्वर की इच्छा बुद्धिपूर्वक ही होती है । अतः ये कोई दोष नहीं आते हैं ।

जैन—यदि वह बुद्धि ईश्वर की नित्य एक स्वभाव वाली है तब तो वह अनेक सिसृक्षा को उत्पन्न करने में क्रम से अथवा युगपत् हेतु कैसे होगी ?

१ स्या० ईश्वरस्याभिसंधिरनेक इत्युच्यते चेत्तदा केषाञ्चित्कार्याणां षटपटादीनामुत्पत्त्यादिकं क्रमेण जायमानं विरुद्धयते अथवा अनेकोभिसन्धिक्रमेण कार्याणि करोतीति चेत्तदा केषाञ्चित्छात्त्यंकुरादीनां युगपदेवोत्पत्ति-विनाशादिकदर्शनं विरुद्धयते । दि० प्र० । २ अनुपपत्तिलक्षणस्य । दि० प्र० । ३ कथमनित्योभिसंधिरीश्वरस्य । दि० प्र० । ४ द्वितीय विकल्पं दूषयन्ति । व्या० प्र० । ५ एवं विचार्यमाणे ईश्वरस्याभिसन्धिरनित्यः कथं स्यान्न कथमपि । दि० प्र० । ६ परिणामः । दि० प्र० । ७ संनिवेशविशिष्टत्वादित्यादि । दि० प्र० । ८ ईश्वरवादी वदति नित्यैकस्वभावबोधस्येश्वरस्य पूर्वपूर्वसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरसिसृक्षा उत्पद्यत इति विरुद्धं न । उत्तरसिसृक्षोत्पत्तिसदृशकाले अनेकेषां तनुभुवनादिकार्याणामुत्पत्तिश्च विरुद्धो न कोर्यः पूर्वपूर्वसिसृक्षातः उत्तरसिसृक्षातन्वादिकार्याणि च जायन्त इति कार्यकारणप्रवाहोनादिरिति चेत् स्या० न । कस्मादीश्वरबौध्दैक एकस्वभावश्च पूर्वपूर्वसिसृक्षां नापेक्षां नापेक्षते यतः अपेक्षते चेत्तदा बोधस्य स्वभावनाशादनित्यत्वप्रसंगः । दि० प्र० ।

त्यं स्वभावबोधस्यापि महेश्वरस्य न विरुद्धा तत्समानसमयानेकतन्वादिकार्योत्पत्तिश्च^१, पूर्व-सिसृक्षात् उत्तरसिसृक्षायास्तत्समानकालतन्वादिकार्याणां च भावादनादित्वात् कार्यकारणप्रवाहस्येति चेन्न, एकस्वभावस्येश्वरबोधस्यैकस्य पूर्वपूर्वसिसृक्षापेक्षाविरोधात्, तदपेक्षायां स्वभावभेदादनित्यतापत्तेः । अथ सिसृक्षातन्वादिकार्योत्पत्तौ^२ नेश्वरबोधः सिसृक्षान्तरमपेक्षते, तत्कार्याणामेव तदपेक्षत्वादिति मतं तदप्यसत्, नित्येश्वरबोधस्य तदनिमित्तत्वप्रसङ्गात् । तदभावेऽभावात्तस्य तन्निमित्तत्वे सकलात्मना^३ तन्निमित्तता स्याद्, व्यतिरेकाभावाविशेषात् । अथासर्वगतस्येश्वरबोधस्य^४ नित्यत्वात्कालव्यतिरेकाभावेऽपि न देशव्यतिरेकासिद्धिः । सकलात्मनां तु नित्यसर्वगतत्वाकालदेशव्यतिरेकासिद्धिरिति मतं तर्हि दिक्कालाकाशानां^५ तत एव सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणता मा भूत् ।

नैयायिक—पूर्व-पूर्व की सिसृक्षा के निमित्त से उत्तरोत्तर सिसृक्षा की उत्पत्ति होती है । वह नित्य, एक ज्ञान स्वभाव वाले महेश्वर में विरुद्ध भी नहीं है और उस समान समय में होने वाले तनु आदि कार्यो की उत्पत्ति भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि पूर्व सिसृक्षा से उत्तर की सिसृक्षा और उस समान काल में होने वाले तनु आदि कार्य होते रहते हैं क्योंकि कार्य-कारण का प्रवाह तो अनादि ही है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि एक स्वभाव वाले ईश्वर का ज्ञान भी एक ही है अतः उस एक ज्ञान को पूर्व-पूर्व सिसृक्षा की अपेक्षा ही विरुद्ध है । यदि पूर्व-पूर्व सिसृक्षा की अपेक्षा आप मानोगे तब तो स्वभाव भेद सिद्ध हो जाने से उस महेश्वर के ज्ञान को अनित्य भी मानना पड़ेगा ।

नैयायिक—सिसृक्षा और तन्वादि कार्यो की उत्पत्ति में ईश्वर का ज्ञान सिसृक्षान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है, किन्तु सिसृक्षान्तर भिन्न-भिन्न सिसृक्षा से होने वाले कार्य ही उस ईश्वर के ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं ।

जैन—आपकी यह मान्यता भी असत् ही है क्योंकि नित्य ईश्वर का ज्ञान तन्वादि कार्यो की उत्पत्ति में निमित्त नहीं हो सकेगा तब तो उस नित्य ईश्वर ज्ञान के अभाव में उन तनु भुवन आदि कार्यो का भी अभाव हो जावेगा और ईश्वर ज्ञान को उनमें निमित्त मानने पर तो सभी तनु आदिक कार्यो में उसकी निमित्तता हो जावेगी क्योंकि व्यतिरेक का अभाव दोनों जगह समान है अर्थात् नित्य ईश्वर के ज्ञान में और संपूर्ण प्राणियों में व्यतिरेक का अभाव समान ही है । अभिप्राय यह है कि ईश्वर ज्ञान के अभाव में संपूर्ण कार्यो का अभाव हो जावे, किन्तु सकल जीवों का अभाव

१ उत्तरोत्तरसिसृक्षायाः । व्या० प्र० । २ तयोः । व्या० प्र० । ३ सकलजीवानाम् । व्या० प्र० । ४ पर आह ईश्वरज्ञानमसर्वगतं परन्तु नित्यं तस्मात्तस्य कालव्यतिरेकाभावे देशव्यतिरेकोस्ति । सर्वजीवानां नित्यत्वात् सर्वगतत्वाच्च कालदेशव्यतिरेको नास्ति तदस्यैषां कार्यनिमित्तता नास्ति । दि० प्र० । ५ ता । दि० प्र० ।

१एतेनैवेश्वरस्य^२ तन्निमित्तकारणत्वं प्रतिक्षिप्तं, नित्येश्वरबोधस्यापि^३ तन्निमित्त-
त्वे^४ सकृत् सर्वत्रोत्पित्सुकार्याणामुत्पत्तिर्न स्यात्, तस्य^५ सर्वत्राभावात् शरीरप्रदेशवर्तिनोपि^६
सर्वत्र बहिर्निमित्तकारणत्वे देशव्यतिरेकस्याप्यभावात् कथमन्वयमात्रेण तत्कारणत्वं युक्तम् ?
नित्येश्वरज्ञानस्य सर्वगतत्वेऽप्ययमेव दोषः । ७तस्यानित्यासर्वगतत्वात्^८ कालदेशव्यतिरेकसिद्धे-
स्तन्वादादौ निमित्तकारणत्वसिद्धिरिति चेन्न, ईश्वरस्य कदाचित्कालेऽत्र बोधवैधुर्ये सकलवेदित्व-

होने पर ईश्वर ज्ञान के सद्भाव में नहीं है, इसलिये ईश्वर ज्ञान का व्यतिरेक सिद्ध हो जाता है, किन्तु सकल जीवों का व्यतिरेक सिद्ध नहीं है ।

नैयायिक—असर्वगत ईश्वर का ज्ञान नित्य है, इसलिये काल से व्यतिरेक का अभाव होने पर भी देश का व्यतिरेक असिद्ध नहीं है सम्पूर्ण जीव, नित्य और सर्वगत हैं अतः उनमें देशकाल से व्यतिरेक सिद्ध नहीं है ।

जैन—यदि आपका ऐसा मत है तब तो दिशा, काल, आकाश भी उसी प्रकार से सभी की उत्पत्ति में निमित्त कारण मत होवें । इसी कथन से ही “ईश्वर उस सृष्टि का निमित्त कारण है” इस बात का भी निराकरण कर दिया गया है । नित्य ईश्वर के ज्ञान को भी उस सृष्टि के उत्पन्न करने में निमित्त कारण मानने पर एक साथ सभी जगह उत्पन्न होने वाले कार्य भी उत्पन्न नहीं हो सकेंगे क्योंकि वह ज्ञान सर्वत्र नहीं है अर्थात् असर्वगत है । यदि शरीर प्रदेशवर्ती भी ईश्वर के ज्ञान को सभी जगह बाहर में निमित्त कारण मानोगे, तब तो देश व्यतिरेक भी नहीं हो सकेगा । पुनः अन्वय मात्र से ही वह ईश्वर ज्ञान कैसे तनु आदिकों का कारण कहलावेगा ? यदि आप ईश्वर के नित्यज्ञान को सर्वगत मानोगे तो भी ये ही दोष आ जावेंगे ।

नैयायिक—ईश्वर का ज्ञान अनित्य एवं असर्वगत है अतः उसमें देश, काल से व्यतिरेक सिद्ध है इसलिये वह तनुकरण भुवनादि में निमित्त कारण सिद्ध है ।

१ दिक्कालेत्यादिना । व्या० प्र० । २ तस्यापि नित्यसर्वगतत्वसद्भावात् । व्या० प्र० । ३ अत्राह परः नित्यस्य महेशज्ञानस्य कार्याणां निमित्तत्वमस्ति । स्या० तदा युगपत्सर्वदेश उत्पत्तिमिच्छूनां कार्याणामुत्पत्तिर्न भवेत् कस्मात्तस्येश्वरज्ञानस्य सर्वदेशेऽप्रवर्तमानत्वात् । दि० प्र० । ४ सिद्धा । व्या० प्र० । ५ बोधस्य । व्या० प्र० । ६ आह पर ईश्वरज्ञानमीश्वरस्यैकस्मिन् शरीरप्रदेशे वर्तमानं बहिः सर्वत्र कार्याणां निमित्तकारणं भवतीति चेत् स्या० तर्हि ज्ञानदेशव्यतिरेकेन भवति किन्तु सर्वगतमेव—ईश्वरज्ञानस्य व्यतिरेकाभावे अन्वयमात्रेणैव कार्याणां निमित्तकारणत्वं कथं युक्तं न कथमपि—पुनराह परः ईश्वरज्ञानं नित्यं सर्वगतं भवति स्वा० वदति तदप्ययं पूर्वोक्त एव दोषः तद्भावे भावादित्यन्वयमात्रेण तद्भावे तदभावादिति व्यतिरेकाभावेऽपि कार्याणां निमित्तकारणत्वं ज्ञानस्य न युक्तमिति पूर्वोक्त-दोषः । दि० प्र० । ७ बोधस्य । व्या० प्र० । ८ पर आह ईश्वरज्ञानमनित्यमसर्वगतं तस्मात्तस्य देशव्यतिरेकघटनात् तन्वादाकार्येषु निमित्तकारणत्वं सिद्धचतीति चेत्—स्या० एवं न । कस्मादीश्वरस्य कदाचित्काले क्वचित्प्रदेशे बोध-शून्यत्वे सति सकलवेदित्वं नास्ति कोऽर्थ ईश्वरोज्ञानीत्यायातम् । दि० प्र० ।

विरोधात् । यदि पुनरपरापरसर्वार्थज्ञानस्याविच्छेदात्^१ सदाशेषवेदित्वमविरुद्धं तदा कुतो व्यतिरेकस्तस्य सिध्येत् ? कथं चानित्यस्य बोधस्येश्वरबोधान्तरानपेक्षस्योत्पत्तिर्न पुनः सिस्सृक्षातन्वादिकार्याणामिति विशेषहेतोर्विना प्रतिपद्येमहि ? तस्य बोधान्तरापेक्षायामनवस्थानं तदवस्थम् । स्यान्मतं,—^२पूर्वपूर्वबोधसिस्सृक्षावशादुत्तरोत्तरबोधसिस्सृक्षातन्वादिकार्याणामुत्पत्तेरनादित्वात्कार्यकारणभावस्य बीजाङ्कुरादिवदयमदोष इति नैतत्सारमीश्वरकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् । तद्भावे भावाद्बोधादिकार्याणां^३ तत्कारणत्वसिद्धेर्नानर्थक्यमिति^४ चेन्न, व्यतिरेका-

जैन—ऐसा नहीं कहना अन्यथा आपका ईश्वर कदाचित् क्वचित् ज्ञान से रहित हो जावेगा और उस अवस्था में वह सर्ववेदी-सर्वज्ञ नहीं रहेगा ।

नैयायिक—अपरापर सम्पूर्ण अर्थों के ज्ञान का अविच्छेद होने से सदा हमारे ईश्वर का अशेष ज्ञानी होना अविरुद्ध है ।

जैन—यदि आप ऐसा कहें तब तो उस ईश्वर का क्वचित् व्यतिरेक कैसे सिद्ध होगा ? पुनरपि प्रश्न यह होता है कि वह ईश्वर का ज्ञान अनित्य है वह ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता या रखता है ?

यदि वह अनित्यज्ञान, ईश्वर के ज्ञानान्तर की अपेक्षा न रखकर उत्पन्न होता है, किन्तु सिस्सृक्षा और तनु आदि कार्य ईश्वर के ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखने वाले नहीं हैं इस बात को तो किसी विशेष हेतु के बिना हम लोग कैसे समझें ? यदि वह ईश्वर का ज्ञान ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखता है तब तो अनवस्था दोष ज्यों का त्यों बना रहेगा ।

नैयायिक—पूर्व-पूर्व का ज्ञान और सिस्सृक्षा के निमित्त से उत्तरोत्तर ज्ञान सिस्सृक्षा और 'तनु भुवन' आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है क्योंकि बीजाङ्कुर न्याय के समान कार्यकारण भाव अनादि हैं इसलिये हमारे यहाँ कोई दोष नहीं है ।

जैन—आपका यह कथन भी सारभूत नहीं है क्योंकि ऐसी मान्यता में तो ईश्वर की कल्पना भी अनर्थक ही हो जावेगी ।

१ पर आह ईश्वरज्ञानस्य पूर्वज्ञानादुत्तरोत्तराच्चजायमानस्यानवरतप्रवर्तनात् नित्यं सर्वज्ञत्वमीश्वरस्य न विशद्ध्यत इति चेत्तदा तस्य ज्ञानस्य कालादिव्यतिरेकः कुतः सिद्ध्येन्न कुतोपि तथा अनित्यः सन् ईश्वरबोध ईश्वरान्यबोधमनपेक्ष्य उत्पद्यते अपेक्ष्य उत्पद्यते वेति विकल्पः । अनपेक्ष्य उत्पद्यते बोधः सिस्सृक्षा तन्वादिकार्याणि अनपेक्ष्य नोत्पद्यते इति विशिष्टकारणं विना वयं स्याद्वादिनः कथं जानीमहे अपितु नापेक्ष्य बोधन्तरं बोध उत्पद्यते चेत्तदानवस्था तिष्ठति । दि० प्र० । २ पर आह पूर्वपूर्वज्ञानसिस्सृक्षावशादुत्तरोत्तरं ज्ञानसिस्सृक्षातन्वादिकार्याणि उत्पद्यन्ते तस्माद्बीजाङ्कुरन्यायेन अयं कार्यकारणभावोनादिरस्ति । तस्मात्पूर्वोक्तो नवस्थादिलक्षणो दोषोऽसम्भवतीति चेत् स्यात् एतदपि ते वचनमसारं कस्मादीश्वरः कर्त्तुं कल्पनाया आनर्थक्यमायाति यतः । दि० प्र० । ३ ईश्वरे सति बोधादिकार्याणि अतस्तत्कल्पनयानर्थक्यं न । दि० प्र० । ४ बसः । व्या० प्र० ।

सिद्धेः, अन्वयमात्रेण कारणत्वे तदकारणत्वाभिमतानामपि¹ तत्प्रसङ्गात् । न चैकस्वभावाद्बो-
धात्कामादिकार्यवैचित्र्य² क्रमतोपि युज्यते महेश्वरसिसृक्षाभ्यामिति³, किमनया चिन्तया ?
तयोरेकस्वभावत्वेपि कर्मवैचित्र्यात्कामादिप्रभववैचित्र्यमिति⁴ चेशुक्तमेतत् किंतु नेश्वरेच्छा-
भ्यां किञ्चित्, तावतार्थपरिसमाप्तेः, सति कर्मवैचित्र्ये कामादिप्रभववैचित्र्यस्य भावादसत्य-
भावात् 'कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः' इत्यस्यैव दर्शनस्य प्रमाणसिद्धत्वात्, अनिश्चि-
तान्वयव्यतिरेकयोरीश्वरेच्छयोः कारणत्वपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गात् । एतेन⁵ विरम्यप्रवृत्तिस-

नैयायिक—ईश्वर के होने पर वे तनुभुवन आदि होते हैं अतः ये ज्ञानादि कार्य उस ईश्वर के कारण से हुये हैं यह बात सिद्ध है अतएव ईश्वर की कल्पना अनर्थक नहीं हो सकती है ।

जैन - नहीं, काल से भी एवं देश से भी व्यतिरेक सिद्ध नहीं है तथा अन्वयमात्र से उस ईश्वर को कारण स्वीकार कर लेने पर तो अकारण रूप से अभिमत सम्पूर्ण आत्मार्थों भी कारण बन जावेंगी, किन्तु ऐसा तो है नहीं । एक स्वभाव वाले ज्ञान से काम-राग आदि कार्यों की विचित्रता क्रम से भी बन नहीं सकती है एवं एक स्वभाव वाले महेश्वर और उसकी सिसृक्षा से भी कार्य वैचित्र्य असम्भव हैं । इसलिये इस महेश्वरज्ञान की कल्पना से, विचारणा से भी क्या प्रयोजन है ?

नैयायिक—महेश्वर एवं उसकी सिसृक्षा यद्यपि एक स्वभाव वाली हैं, फिर भी कर्मों की विचित्रता से रागादि दोषों से उत्पन्न होने वाला यह संसार विचित्र प्रकार का होता है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो ठीक ही है, किन्तु ईश्वर और उसकी इच्छा से कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा क्योंकि उस कर्म से ही उन संसार रूप कार्यों की परिसमाप्ति -सिद्धि हो जाती है ।

कर्मों की विचित्रता के होने पर ही कामादि से उत्पन्न हुआ यह विचित्र संसार होता है एवं नहीं होने पर नहीं होता है "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः" इस कारिका के द्वारा कहा गया यह जैनदर्शन ही प्रमाण से सिद्ध हो जाता है, क्योंकि ईश्वर और उसकी इच्छा का कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक निश्चित न होने से ईश्वर और उसकी इच्छा को सृष्टि का कारण कल्पित करने पर तो अतिप्रसङ्ग दोष आ जावेगा अर्थात् सभी आत्मार्थों भी पुनः सृष्टि के कारण बन जावेंगे । कारण कि अन्वय-व्यतिरेक न तो महेश्वर और उसकी इच्छा के साथ रहे न अन्यो के साथ ही रहते हैं ।

इसी कथन से "विरम्य प्रवृत्ति-अनुक्रम से होना, सन्निवेश विशेषादि हेतुओं से भी पृथ्वी आदि

1 देवादागतानां रासभादीनामपिकारणत्वं भवतु । व्या० प्र० । 2 ईश्वरबोधात् । व्या० प्र० । 3 आह पर महेश्वर-
सिसृक्षाभ्यां द्वाभ्यां कामादिकार्यवैचित्र्यं घटते चेत् स्या० तदा ईश्वरज्ञाने न पूर्यताम् । =पर आह तयोरीश्वर-
सिसृक्षायोर्द्वयोरेकस्वभावत्वेपि कर्मवैचित्र्यवशात्कामादिप्रभववैचित्र्यं घटते =स्या० युक्तमुक्तं भवता ईश्वरेच्छाभ्यां
किञ्चित्कार्यसिद्धिर्न तावता कर्मवैचित्र्यमात्रेणैव कामादिप्रभवलक्षणकार्यदर्शनात् । दि० प्र० । 4 पुण्यादि ।
स्वकीयस्वकीयात्मनि । व्या० प्र० । 5 विलम्ब । व्या० प्र० ।

न्निवेशविशेषादिभ्यः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसाधनेनेश्वरप्रापणं^१ प्रत्युक्तं, ^२धर्माधर्माभ्यामेवात्मनः^३ शरीरेन्द्रियबुद्धीच्छादिकार्यजननस्य सिद्धेः, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमन्तरेणापि^४ विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषकार्यत्वाचेतनोपादानत्वार्थक्रियाकारित्वादीनां साधनानामुपपत्तेस्ततः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वासिद्धेः ।

[ईश्वरेण सह सृष्टेरन्वयव्यतिरेकी स्तः इति नैयायिकेनोच्यमाने जैनाचार्या निराकुर्वन्ति ।]

ननु प्राक्कायकरणोत्पत्तेरात्मनो^५ धर्माधर्मयोश्च^६ स्वयमचेतनत्वाद्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणादिसंपादनकौशलासंभवात्^७ तन्निमित्तमात्मान्तरं^८, मृत्पिण्डकुलालवदिति त्वेन्न,

कार्यों को बुद्धिमत् कारणपूर्वक सिद्ध करने रूप हेतु से ईश्वर को सिद्ध करना" यह गलत है यह बात कह दी गई है ।

यह आत्मा धर्म और अधर्म के द्वारा ही शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि और इच्छादि कार्यों को उत्पन्न करने वाला सिद्ध है । क्योंकि बुद्धिमत् कारणपूर्वक के बिना भी अनुक्रम से प्रवृत्ति सन्निवेश विशेष, कार्यत्व, अचेतनोपादत्व, अर्थक्रियाकारित्व आदि हेतु बन जाते हैं । इसलिये इन हेतुओं से ही पृथ्वी आदि कार्य बुद्धिमत् कारणपूर्वक नहीं हैं यह बात सिद्ध हो गई ।

[ईश्वर के साथ सृष्टि का अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध है ऐसा नैयायिक के द्वारा कथन होने पर जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।]

नैयायिक—शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति के पहले आत्मा धर्म और अधर्म स्वयं अचेतन हैं वे विचित्र उपयोग के शरीर, इन्द्रियादि को बनाने में कुशल नहीं हैं अतएव उनका निमित्त कोई आत्मान्तर—भिन्न आत्मा है ही है जैसे कि मृत्पिण्ड से घड़े को बनाने वाला कुम्भकार है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । इस प्रकार से आत्मान्तर का अन्वेषण करने पर भी प्रकृत हेतुओं में व्यतिरेक निश्चित नहीं है ।

नैयायिक—नहीं, व्यतिरेक सिद्ध है । तथाहि । "विवादापन्न तनुकरण भुवनादिक बुद्धिमत् कारणपूर्वक हैं क्योंकि उनमें विरम्य-क्रम से प्रवृत्ति होती है, उनका सन्निवेश विशिष्ट है, उन कार्यों का उपादान अचेतन है, वे अर्थक्रियाकारो हैं एवं कार्य हैं घट के समान ।" इस प्रकार अनुमान कहा

१ भा । दि० प्र० । २ पुण्यपापाभ्याम् । व्या० प्र० । ३ पुंसः । व्या० प्र० । ४ साध्यम् । व्या० प्र० । ५ ता दि० प्र० । ६ अत्राह परः हे स्याद्वादिन् आत्मनः शरीरादिकार्यजननं धर्माधर्माभ्यामेव जायत इति यदुक्तं त्वया तन्न घटते कथं न घटते इत्युक्ते परोनुमानद्वारेणाह कार्येन्द्रियोत्पत्तेः पूर्वमात्मधर्माधर्माः पक्षः विचित्रोपभोगयोग्य-तनुकरणादिसंपादानसमर्था भवन्तीति साध्यो धर्मः स्वयमचेतनत्वाद् मृत्पिण्डादिकुलालवदिति चेत् स्वा० एवं न । कस्मात् पृथ्व्यादेरीश्वरस्य कर्तृत्वसाधने व्यतिरेकाभावात् । दि० प्र० । ७ आत्मनो धर्माधर्मयोश्च । व्या० प्र० । ८ प्रकृतात्मनः सकाशादपरमीश्वरलक्षणं मृग्यम् । व्या० प्र० ।

एवमपि प्रकृतसाधनव्यतिरेकानिश्चयात्¹ । तथा हि, तनुकरणभुवनादिकं विवादापन्नं बुद्धि-
मत्कारणपूर्वकं, विरम्य प्रवृत्तेः सन्निवेशविशिष्टत्वादचेतनोपादानत्वादर्थक्रियाकारित्वात्कार्य-
त्वाद्वा घटवदिति² साधनमुच्यते, तस्यात्मान्तरमीश्वराख्यं बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाचेतनस्या-
त्मनोऽनीशस्य³ 4धर्माधर्मयोश्चाचेतनयोर्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणभुवनादिनिर्माणकौशला-
संभवात्तन्निमित्तकारणमात्मान्तरं⁵ बुद्धिमत्कारणमेपितव्यमित्यनेन⁶ व्यतिरेकः समर्थते ।
कुलालमन्तरेण मृत्पिण्डदण्डादेः स्वयमचेतनस्य घटादिनिष्पादनकौशलसंभववदिति वैधर्म्य-
दृष्टान्तप्रदर्शनम्⁷ । सत्येव कुलाले मृत्पिण्डादेर्वटादिसंपादनसामर्थ्यदर्शनादिति चान्वयसमर्थन-
मभिधीयते । न चैतदभिधातुं⁸ शक्यमन्यथानुपपत्तेरभावात्⁹ । बुद्धिमता¹⁰ कारणेन विना

जाता है इसमें सभी हेतु ईश्वर नामक बुद्धिमत्कारण रूप आत्मान्तर के बिना नहीं हो सकते हैं ।
कारण कि हम नैयायिकों के यहाँ तो आत्मा अचेतन ही है वह स्वरूप से तो चेतन है नहीं पहले तो
वह अचेतन ही है पुनः चेतनागुण के समवाय से ही चेतन होता है अतएव आत्मा अचेतन और
अनीश-असमर्थ है एवं धर्म-अधर्म भी अचेतन हैं । इन आत्मा और धर्म-अधर्म में विचित्र उपभोग
योग्य तनुकरण भुवनादि के निर्माण करने की कुशलता असम्भव ही है अतएव उन सृष्टि का निमित्त-
कारण रूप भिन्न आत्मा ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

इस कथन से व्यतिरेक का समर्थन सिद्ध ही है । क्योंकि जैसे कुम्भकार के बिना अचेतन रूप
मृत्पिण्ड दण्डादि स्वयं घटादि को बनाने में कुशल नहीं हो सकते हैं । इस प्रकार से वैधर्म्य दृष्टान्त को
प्रदर्शित किया है । कुम्भकार के होने पर ही मृत्पिण्डादि में घटादि को सम्पादन करने की सामर्थ्य
देखी जाती है । इस प्रकार से अन्वय का समर्थन भी हम नैयायिकों ने कर दिया है ।

जैन—इस प्रकार से अन्वय, व्यतिरेक का समर्थन करना शक्य नहीं है क्योंकि इन हेतुओं में
अन्यथानुपपत्ति-अविनाभाव का अभाव है ।

नैयायिक—बुद्धिमान् कारण के बिना “विरम्य प्रवृत्त्यादि” हेतुओं का अभाव है अतः
अन्यथानुपपत्ति है ही है ।

1 यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र बुद्धिमद्धेतुक्त्वमिति नियमाभावात् । तृणादौ । व्या० प्र० । 2 एवम् । व्या० प्र० । आह
परोस्मत्साधने व्यतिरेकोस्ति कथमस्तीत्युक्ते परोनुमानद्वारेण व्यतिरेकमाह अग्रे । दि० प्र० । 3 ईश्वररहितस्य ।
दि० प्र० । 4 निर्माणः । व्या० प्र० । 5 तत्त्वादि । दि० प्र० । 6 एवम् । व्या० प्र० । 7 व्यतिरेकः । दि० प्र० ।
8 व्यतिरेकसमर्थनम् । व्या० प्र० । 9 ईश्वरमन्तरेण न भवति । व्या० प्र० । 10 ईश्वरवाद्याह बुद्धिमत्कारणपूर्वकं
भवतीति साध्याभावे विरम्य प्रवृत्तेरितिसाधनस्याप्यभावस्तस्मादस्मत्कृतानुमाने अन्यथानुपपत्तिरस्त्येव इति चेत्—
स्या० एवं न कस्माद्बुद्धयमानानुमानादीश्वरः पक्षः बुद्धिमत्कारणको न भवतीति साधयो धर्मो शरीरेन्द्रियत्वात् यथा-
कालाकाशादिः = तादृशः शरीरस्येश्वरस्य तनुभवनादिकार्याणां निमित्तकारणत्वे सति कर्मणामचेतनत्वेपि कार्य-
निमित्तत्वं सिद्धं कस्मात्कुलालादिवदिति भवत्कृतदृष्टान्तस्य सर्वथोल्लघनात् ।

विरम्य प्रवृत्त्यादेरसंभवादन्वयथानुपपत्तिरस्त्येवेति चेन्न¹, तस्यापि वितनुकरणस्य तत्कृतेरसंभवात्² कालादिवत् तादृशोपि³ निमित्तभावे⁴ कर्मणामचेतनत्वेपि⁵ तन्निमित्तत्वमप्रतिषिद्धं⁶, सर्वथा⁷ दृष्टान्तव्यतिक्रमात्⁸ । यथैव हि कुलालादिः सतनुकरणः कुम्भादेः प्रयोजको⁹ दृष्टान्तस्तनुकरणभुवनादीनामशरीरेन्द्रियेश्वरप्रयोजकत्वकल्पनया व्यतिक्रम्यते¹⁰, तथा कर्मणामचेतनानामपि¹¹ तन्निमित्तत्वकल्पनया¹² बुद्धिमानपि दृष्टान्तो व्यतिक्रम्यतां, विशेषाभावात् ।

स्यान्मतं—‘सशरीरस्यापि¹³ बुद्धीच्छाप्रयत्नवत् एव कुलालादेः कारकप्रयोक्तृत्व¹⁴

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि वह ईश्वर भी स्वयं तनुकरण-शरीर इन्द्रिय से रहित है पुनः उसके द्वारा तनुइन्द्रिय आदि का करना असंभव है जैसे कालादि । अर्थात् ईश्वर, शरीर इन्द्रिय भुवन आदि का निमित्त कारण नहीं है क्योंकि स्वयं शरीर इन्द्रियों से रहित है मुक्तात्मा के समान । जैसे काल, शरीरेन्द्रिय से रहित है, वह शरीरादि की उत्पत्ति में कारण भी नहीं है उसी प्रकार से ईश्वर भी कारण नहीं है । उस प्रकार का ईश्वर भी निमित्त है ऐसा मानोगे, तब तो कर्म भी अचेतन हैं फिर भी वे कर्म उन तनुइन्द्रियादि में निमित्त हो जावें क्या बाधा है ? अर्थात् कोई भी विरोध नहीं है क्योंकि सर्वथा दृष्टान्त का व्यतिक्रम है ।

जिस प्रकार कुम्भकार आदि शरीर-इन्द्रिय से सहित होकर ही कुम्भादि के बनाने वाले हैं । यहां पर दृष्टान्त है और ‘ये शरीरेन्द्रिय भुवन आदि’ शरीरेन्द्रिय रहित ईश्वर के निमित्त से बनते हैं । इस प्रकार की कल्पना करने से तो दृष्टान्त का उलङ्घन हो ही जाता है । उसी प्रकार से अचेतन भी कर्मों को उन शरीर आदिकों का निमित्त मानों ऐसी कल्पना से बुद्धिमान् भी दृष्टान्त व्यतिक्रमित हो जावे कोई अन्तर नहीं है अर्थात् केवल शरीरेन्द्रिय सहित ही कुम्भकार घड़े को बनाता है ऐसा तो रहा नहीं । आपने शरीरादि रहित भी ईश्वर को मान ही लिया है तथैव अचेतन कर्मों को भी शरीरादि की उत्पत्ति में कारण मान लीजिये क्या बाधा है ?

यौग—सशरीरी भी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न वाले ही कुम्भकार आदि कारक के प्रयोक्ता देखे जाते हैं क्योंकि घटादि कार्य को करने के लिये नहीं जानने वाले नहीं देखे जाते हैं । यदि जानने वाले हैं, किन्तु इच्छा का अभाव है तो कार्य नहीं हो सकता है और इच्छावान् के भी प्रयत्न के अभाव में कार्य अनुपलब्ध ही हैं । उसी प्रकार से शरीर इन्द्रिय रहित भी बुद्धिमान्, सृष्टि की इच्छा करने वाले, प्रयत्नवान् ऐसे सदाशिव लक्षण ईश्वर के समस्त कारकों का प्रयोक्तापना बन ही जाता है इस-

1 बुद्धिमत्कारणस्यापि । दि० प्र० । 2 उपभोगभोग्यभुवनतनुकरणादिकृतेः । व्या० प्र० । 3 वितनुकरणस्य । दि० प्र० । 4 कर्मणि न तन्निमित्तकानीति प्रतिषेधाभावात् । दि० प्र० । 5 पुण्यादीनाम् । 6 तन्वादि । व्या० प्र० । 7 वितनुकरणस्य प्रवृत्तिप्रकारेणाचेतनस्य स्वयं प्रवृत्तिप्रकारेण च । व्या० प्र० । 8 घटकरणे कुम्भकारस्य । व्या० प्र० । 9 निमित्तकर्ता । 10 निराक्रियते । व्या० प्र० । 11 अपि शब्दोभिनन्क्रमे तेन कर्मणामीति । व्या० प्र० । 12 भुवनादि । व्या० प्र० । 13 पुनः । व्या० प्र० । 14 निमित्तकर्तृत्वं । दि० प्र० ।

दृष्टं, कुटादिकार्यं कर्तुमबुद्ध्यमानस्य¹ तददर्शनाद्², तद्बुद्धिमतोपीच्छापाये³ तदनुपलब्धेस्त-
दिच्छावतोपि प्रयत्नाभावे तदनुपलम्भात्⁴ तद्वद्वितनुकरणस्यापि⁵ बुद्धिमतः सृष्टुमिच्छतः
प्रयत्नवतः शश्वदीश्वरस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वोपपत्तेर्न दृष्टान्तद्वयतिक्रमः⁶, सशरीरत्वेत-
रयोः कारकप्रयुक्तिं प्रयत्नङ्गत्वात् । न हि सर्वथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमस्ति तद्वि-
शेषविरोधा⁷ दिति⁸ तदयुक्तं, वितनुकरणस्य बुद्धीच्छाप्रयत्नानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत्, शरीर-
द्वहिः संसार्यात्मवत्⁹, कालादिवद्वेति । शरीरेन्द्रियाद्युत्पत्तेः¹⁰ पूर्वमात्मना व्यभिचार इति

लिये हमारा दृष्टान्त व्यतिक्रमित नहीं होता है क्योंकि शरीर सहित एवं शरीर रहित होना कारक प्रयोग के प्रति कोई कारण नहीं है, किन्तु इच्छादिक ही सृष्टि के लिये कारण विशेष हैं। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में सर्वथा समानता नहीं रहती अन्यथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में भेद ही नहीं रहेगा अर्थात् कुम्भकार में ईश्वर के समान ज्ञान करने की इच्छा और प्रयत्न समान होने से ही दृष्टान्तपना है किन्तु शरीर के सहित, रहित से समानता नहीं है। यदि दोनों में सर्वथा-सभी प्रकार से समानता हो जावे तब तो यह दृष्टान्त है और यह दार्ष्टान्त है ये दो भेद भी कैसे बन सकेंगे ? अतएव सर्वथा समानता नहीं है।

जैन—यह कथन भी अयुक्त ही है क्योंकि शरीर और इन्द्रिय से रहित ईश्वर के बुद्धि, इच्छा एवं प्रयत्न ही नहीं हो सकते हैं, मुक्तात्मा के समान अथवा शरीर से बाहर संसारी आत्मा के समान या कालादि के समान अर्थात् योगमत में आत्मा को व्यापक माना है उनकी अपेक्षा से यह दोष दिया है कि शरीर से बाहर आत्मा में बुद्धि आदि नहीं रहती हैं यह उनका मत है तथा कालादि में भी शरीरेन्द्रिय के न होने से बुद्धि आदि नहीं हैं ऐसा उन्होंने स्वयं माना है।

योग—शरीरेन्द्रियादि की उत्पत्ति से पहले आत्मा से व्यभिचार आ जावेगा। अर्थात् आत्मा में शरीरेन्द्रिय के न होने पर भी वृद्धि, इच्छा और प्रयत्न देखे जाते हैं उससे आपका हेतु व्यभिचरित हो जावेगा।

जैन—नहीं, आपने उसको भी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न से रहित ही माना है अन्यथा आपके स्व-मत (योगमत) का विरोध हो जावेगा, किन्तु हम जैनों के यहां तो उस शरीर सहित के ही बुद्धि आदि

1 अजानानस्य । दि० प्र० । 2 घटादिकार्यं । दि० प्र० । 3 प्रयोक्तृत्व । व्या० प्र० । तददर्शनाद्बुद्धि । इति पा० । दि० प्र० । 4 कार्यदर्शनात् । दि० प्र० । 5 कुलालादिवत् । व्या० प्र० । 6 कुम्भकारस्य । व्या० प्र० । 7 अन्यथा । व्या० प्र० । 8 दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्भेदविरोधात् । व्या० प्र० । 9 बुद्धीच्छाप्रयत्नानुपपत्तिर्यथा । व्या० प्र० । 10 पर आह हे स्याद्वादिन् शरीरेन्द्रियादिजन्मतः प्रागवस्थायां विग्रहगत्यापन्नेन संसार्यात्मना कृत्वा वितनुकरणत्वादिति हेतोस्तदव्यभिचारोस्तीति चेत् । स्याद्वादी वदत्येवं न । कस्मात्तस्य विग्रहगत्यापन्नस्यात्मनो बुद्धीच्छाप्रयत्ना न भवन्त्येवेत्यङ्गीकारात् स्याद्वादिना मन्यथा तदङ्गीकाराभावात् स्याद्वादमतं विरुद्धचेत् यतः तथापरेषां भवतामीश्वरवादिनाञ्च शरीरस्यैव संसारिणः बुद्धीच्छायत्रादिमत्वांगीकरणात्तेन संसार्यात्मना कृत्वा मम अशरीरत्वादिहेतो न व्यभिचारः । व्या० प्र० ।

चेन्न, तस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नरहितत्वोपगमादन्यथा स्वमतविरोधात् । परेषां तु तस्य^१ सशरीरस्यैव बुद्ध्यादिमत्त्वाभ्युपगमात् तेनानेकान्तः । ननु चेश्वरस्य धर्मित्वे^२ तदप्रतिपत्ता-वाश्रयासिद्धौ हेतुरिति चेन्न, प्रसङ्गसाधनेवश्यमाश्रयस्यानन्वेषणीयत्वात् तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्च । ननु^३ यतः^४ प्रमाणादीश्वरस्यास्मद्विलक्षणस्य^५ धर्मिणः प्रतिपत्तिस्तेनैव हेतुर्बाध्यते इति चेन्न, आत्मान्तरस्य सामान्येनेश्वराभिधानस्य धर्मित्वात् सकलकारकप्रयोक्तृत्वेन बुद्ध्यादिमत्त्वेन च तस्य^६ विवादापन्नत्वात्^७ ।

स्वीकार की गई है इसलिये उस आत्मा से अनेकांत नहीं है अर्थात् विग्रहगति में पूर्वशरीर के त्याग के अनन्तर उत्तर शरीर ग्रहण करने के पहले कर्मण एवं तैजस शरीर का सद्भाव माना गया है अतएव शरीर सहित आत्मा के ही बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न सम्भव हैं अन्यत्र नहीं । इसलिये हमारे यहां आत्मा में इन्द्रिय, शरीर आदि के पहले अनेकांत दोष नहीं है ।

यौग—ईश्वर को धर्मी मानने पर उसका ज्ञान नहीं होने पर आपका हेतु आश्रय सिद्ध हो जावेगा अर्थात् ईश्वर धर्मी है वह प्रमाण से जाना गया है या नहीं ? ऐसे दो विकल्प उठाकर हम आप जैन से प्रश्न करते हैं । यदि आप कहें कि धर्मी प्रमाण से नहीं जाना गया है तब तो आपका हेतु आश्रय सिद्ध हो जाता है ।

जैन—नहीं । क्योंकि प्रसङ्ग साधन में आश्रय का अन्वेषण अवश्य ही किया जाता है एवं ईश्वर के ज्ञान का भी सद्भाव पाया जाता । अर्थात् अनिष्ट के आपादन के समय में आश्रय अवश्य ही मानना है ।

यौग—जिस प्रमाण से हम लोगों से विलक्षण धर्मी ईश्वर की प्रतिपत्ति है उसी से ही “वितनुकरणत्वात्” हेतु बाधित हो जाता है ।

१ संसारात्मनः । दि० प्र० । २ जैनानां प्रसिद्धो न भवति यतः । व्या० प्र० । ३ आह परः स्याद्वादिन् ईश्वर-स्यान्ङ्गीकारे ईश्वरः पक्ष इति धर्मित्वे वितनुकरणत्वादिति हेतुआश्रयासिद्धः कोर्थः पक्षाभाव इति चेत् = स्या० एवं न कस्मादीश्वरवादिन् । त्वयाभ्युपगत ईश्वरोशरीरी भवतीति प्रसङ्गसाधनं तत्रावश्यमेवाश्रयस्य पक्षस्य अनवलोकनीय-त्वात् पुनः कस्मात्तस्य संसारात्मलक्षणेश्वरस्य परिज्ञानं संभवाच्च = अत्राह परः अहो स्याद्वादिन् । अस्मन्मत-विलक्षणस्य संसारात्मलक्षणेश्वरस्य भवतः परिज्ञानमस्ति । तेन प्रमाणेन कृत्वा वितनुकरणादिति हेतुविरुद्धयते इति चेत् । स्याद्वादी एवं न कस्मात् संसारात्मनः सामान्येनेश्वरसंज्ञस्य पक्षत्वाद पुनः कस्मात् भवदभ्युपगत ईश्वरः सकलकार्याणां निमित्तकर्ता बुद्धीच्छाप्रयत्नवान् अशरीरी भवति अत्रैव विवादत्वादावयोः = आह परः विवादापन्नानि तन्वादिकार्याणि पक्षः चेतनाधिष्ठितानि भवन्तीति साध्यो धर्मः विरम्यप्रवृत्तेरित्यादिहेतुश्चकत्वात् यथा कुठारादिकं जल्पयन्नुमानादीश्वरः सकलकार्याणां निमित्तकर्ता बुद्ध्यादिसम्पन्नश्चेति साध्यतेऽस्माभिस्तस्मादीश्वरस्याशरीरेन्द्रियत्वमस्ति कस्मादनाद्यनन्तकार्यमालानिमित्तकारणभूतस्येश्वरस्यानद्यनन्तस्य शरीरत्वं विरुद्धयते यस्मादीश्वरः पक्षोशरीरीभवतीति साध्योनाद्यनन्तत्वात् यथा बुद्धीच्छाप्रयत्नकम् । दि० प्र० । ४ जैनोक्त ईश्वरबाधको विशेषः । दि० प्र० । ५ संसारी । व्या० प्र० । ६ आत्मान्तरस्य । व्या० प्र० । ७ च । व्या० प्र० ।

[यौगः ईश्वरस्याशरीरत्वमनादिनिधनं साध्यितुमिच्छति किंतु जैनाचार्या निराकुर्वन्ति ।]

अथ 'तन्वादिकारकाणि¹ धिवादापन्नानि² चेतनाधिष्ठितानि, विरम्यप्रवृत्त्यादिभ्यो वास्यादिवदित्यनुमानात्³ समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं बुद्ध्यादिसंपन्नत्वं⁴ चेश्वरस्य साध्यते । ततोऽशरीरेन्द्रियत्वम्⁵, अनाद्यनन्ततन्वादिकार्यसंताननिमित्तकारणस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तस्य शरीरत्वविरोधात् । अशरीरत्वमपि तस्यानाद्यनन्तमस्तु बुद्धीच्छाप्रयत्नवत् ।' इति मतं तदयुक्तं⁶, प्रमाणबाधनात् । तथा हि, नेश्वरेऽशरीरत्वमनाद्यनन्तमशरीरत्वात्, परप्रसिद्ध्या⁷ कायकरणोत्पत्तेः पूर्वमस्मदाद्यशरीरत्ववत्⁸ । नेश्वरबुद्ध्यादयो⁹ नित्या बुद्ध्यादित्वा-

जैन—ऐसा नहीं कहना, यहां सामान्य से ईश्वर नाम के आत्मान्तर को धर्मी बनाया है और सकल कारकों के प्रयोक्ता रूप में एवं बुद्ध्यादिमान् से वह विवाद की कोटि में प्राप्त है ।

[यौग ईश्वर को अनादि काल से अशरीरी सिद्ध करना चाहता है, किन्तु जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं ।]

यौग—“विवादापन्न तनु आदि कारक चेतना से अधिष्ठित हैं, क्योंकि उनमें अनुक्रम से प्रवृत्ति आदि होती हैं, वास्यादि के समान ।” इस अनुमान से समस्त कारकों का प्रयोग करना एवं बुद्धि आदि से सम्पन्न होना हम ईश्वर में सिद्ध करते हैं क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि का कर्तृत्व और बुद्धि आदि से युक्त होना इन दोनों के होने से वह शरीरेन्द्रिय से रहित ही है, कारण कि अनादि अनन्त शरीर आदि कार्यों की परम्परा का निमित्त कारणभूत व ईश्वर अनादि अनन्त ही सिद्ध है । एवं अनादि अनन्त के शरीर का विरोध है अतः उसका अशरीरीपना भी अनादि निधन ही मानना चाहिये जैसे कि उस ईश्वर में बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न अनादि अनिधन है ।

जैन—आपका मत भी अयुक्त है क्योंकि प्रमाण से बाधा आती है । तथाहि “ईश्वर में शरीर रहितपना अनादि अनिधन नहीं है क्योंकि वह शरीर रहित है । पर-यौगमत की प्रसिद्धि से शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति के पहले हम लोगों के अशरीर के समान ।” एवं “ईश्वर की बुद्धि आदिक नित्य नहीं हैं क्योंकि बुद्धि आदि रूप हैं हम लोगों की बुद्धि आदि के समान ।”

इसी कथन से आपने जो आगम में कहा है कि “अपाणिपादो जब नो गृहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति विश्वं न हितस्य वेत्ता, तमाहुरग्रचं महान्तः ॥” अर्थात् वह ईश्वर हस्त-पाद से रहित होकर भी शीघ्रगामी एवं ग्रहण करने वाला है । चक्षुररहित भी सबको देखता है,

1 ता । व्या० प्र० । 2 ईश्वराधिष्ठितानि । दि० प्र० । 3 लोके । व्या० प्र० । 4 सम्पूर्णत्वम् । व्या० प्र० । 5 सिद्धम् । व्या० प्र० । 6 स्या० हे ईश्वरवादिन् यदुक्तं त्वया तदयुक्तं कस्मात्प्रमाणबाधनात् कथमित्युक्त आह ईश्वराशरीरत्वं पक्षोनाद्यनन्तं भवतीति साध्यो धर्मः अशरीरत्वात् परप्रतिषिद्ध्या कायेन्द्रियोत्पादनात् पूर्वमस्मदाद्यशरीरवत् = तथेश्वरबुद्धीच्छाप्रयत्नाः पक्षो नित्या न भवन्तीति साध्यो धर्मो बुद्ध्यादित्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवत् । दि० प्र० । 7 प्रतिषिद्ध्या । इति पा० । दि० प्र० । 8 तथापि अग्रे शरीरग्रहणं भविष्यति । व्या० प्र० । शरीरवत्ः । इति पा० । दि० प्र० । 9 हानोपादानादि । व्या० प्र० ।

दस्मदादिबुद्ध्यादिवदिति । एतेनागमात् 'अपाणिपाद' इत्यादेरीश्वरस्याशरीरत्वसाधनं प्रत्याख्यातं, तस्य युक्तिबाधितत्वात् । ततः एव^१ सशरीरो महेश्वरोस्त्विति चेन्न, तच्छरीरस्यापि बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे तेनैव कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारात् । तस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे^२ वाऽपरापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात्^३ पूर्वपूर्वस्वशरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ भवस्य^४ निमित्तकारणत्वे सर्वसंसारिणां तथा प्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावैयर्थ्यात्^५, स्वोपभोग्यभवनान्युत्पत्तावपि^६ तेषामेव निमित्तकारणत्वोपपत्तेः । इति^७ न कार्यत्वाचेतनोपादानत्वसन्निवेशविशिष्टत्वहेतवो गमकाः स्युः । स्थित्वाप्रवर्तनार्थक्रियादि^८ चेतनाधिष्ठा^{१०}नादिति^{११} नियमे पुनरी-

कर्ण रहित भी सब कुछ सुनता है, उसका जानने वाला कोई न होते हुए भी वह समस्त विश्व को जानता है जो ऐसा है महान् पुरुषों ने उसे ही प्रधान पुरुष—आदि पुरुष कहा है। इस प्रकार ईश्वर को अशरीरी मानने का भी निराकरण कर दिया है क्योंकि आपका यह आगम युक्ति से बाधित है।

योग—महेश्वर को शरीर सहित मान लजिये कोई बाधा नहीं है।

जैन—नहीं, उसके शरीर को भी बुद्धिमत्कारणपूर्वक न मानने पर तो उसी शरीर से ही कार्यत्वादि हेतु व्यभिचारित हो जावेंगे। अर्थात् ईश्वर का शरीर कार्य तो है किन्तु बुद्धिमत्कारणपूर्वक नहीं है अतः कार्यत्व हेतु पक्षाव्यापक हो गया अथवा उस ईश्वर के शरीर को यदि बुद्धिमत्कारणपूर्वक मानोगे तब तो अपरापर शरीर की कल्पना में अनवस्था का प्रसङ्ग आ जावेगा।

पूर्व-पूर्व के अपने शरीर से उत्तरोत्तर अपने शरीर की उत्पत्ति मानने पर भी भव (सृष्टिकर्ता ईश्वर) को निमित्त कारण कहने पर तो सभी संसारी जीवों के भी उसी प्रकार को प्रसिद्धि है पुनः ईश्वर की कल्पना व्यर्थ ही हो जायेगी अतः अपने उपभोग करने योग्य भवन आदि की उत्पत्ति में भी उन संसारी प्राणियों को ही निमित्त कारण मानना ही ठीक है। इसलिये कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व हेतु उस ईश्वर के गमक नहीं हो सकेंगे।

क्रम से प्रवृत्ति एवं अर्थक्रिया आदि चेतना से अधिष्ठित हैं ऐसा नियम करने पर तो चेतनाधिष्ठान से रहित ईश्वर आदि में भी क्रम से प्रवृत्ति आदि नहीं होवे क्योंकि आपके यहां ईश्वर भी तो

१ तत एव वा सशरीरो । इति पा० । अत्राह परः यत एव तस्मादेवेश्वरः सशरीरो भवत्विति चेत् स्याद्वाद्याह एवं न कस्मादीश्वरशरीरं बुद्धिमत्कारणाऽपूर्वकं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं वेति विकल्पस्तत्रेश्वरशरीरं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं न भवति तदा तेनैव बुद्धिमत्कारणाऽपूर्वकत्वे नैव कार्यत्वादिहेतुमालानां व्यभिचारो दृश्यते यत ईश्वरशरीरं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं भवति । तदोत्तरोत्तरबुद्धिमत्कारणशरीरकल्पनायां क्रियमाणायामनवस्थावदनात् । दि० प्र० । २ शरीरान्तरेण करोति वा । व्या० प्र० । ३ च । व्या० प्र० । ४ शरीरोत्पत्तावस्य । इति पा० । दि० प्र० । ५ निमित्तकारणत्व । दि० प्र० । ६ स्वोपभोग्ययोग्यभवनान्युत्पत्तौ । इति० पा० । दि० प्र० । ७ उक्तप्रकारेण किं भवति । दि० प्र० । ८ ईश्वरस्य । ९ एतद्वयं कुतो भवति इत्याह । दि० प्र० । १० कारणात्किं प्रतिकारणमिदं चेतनाधिष्ठानमित्युक्ते स्थित्वा प्रवर्तनार्थक्रियादि प्रति इति ज्ञातव्यं तथा च कार्यत्कारणानुमाने तत्प्रतिपाद्यं चिन्तनीयं निक्षिप्तम् । दि० प्र० । ११ प्रेरणात् भवति । ईश्वरान्याधिष्ठितो न भवति स्वतन्त्रत्वात् । व्या० प्र० ।

श्वरादेरपि मा भूत् । अन्यथेश्वरदिवकालाकाशाश्चेतनाधिष्ठिताः स्युः, सर्वकार्येषु क्रमजन्मसु स्थित्वा प्रवर्तनादर्थक्रियाकारित्वाद्वास्यादिवदिति न्यायात् । तथा चेश्वरोपीश्वरान्तरेणाधिष्ठित¹ इत्यनवस्था स्यात्, अन्यथा स्यात्तेनैवास्य² हेतोर्व्यभिचारः ।

[भवतां ईश्वरो बुद्धिमान् पुनः निवृत्तसृष्टि कथं सृजति ? इति जैनाचार्या दोषानारोपयन्ति ।]

नायं प्रसङ्गो, बुद्धिमत्त्वादिति चेत्त एव³ तर्हि प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनो मा⁴ भूवन् । यथैव हि बुद्धिमान् ईश्वरो नाधिष्ठान्तर⁵ चेतनमपेक्षते तथा प्रहीणान् कुब्जादि-शरीरकरणादीनपि⁶ मास्म करोत्, सातिशय⁷ तद्विदः प्रहीणस्वकार्याकरणदर्शनात् । प्रहीण-

अचेतन ही है । वह चेतना के समवाय से ही चेतन बनता है । अन्यथा ईश्वर, दिशा, काल, आकाश भी चेतनाधिष्ठित हो जावें क्योंकि क्रम से होने वाले सम्पूर्ण कार्यों से प्रवृत्ति होती है एवं क्रमवर्ती सभी कार्यों में अर्थक्रियाकारिता भी है, वास्यादि के समान, और उस प्रकार से ईश्वर को ईश्वरान्तर चेतन से अधिष्ठित मानने पर तो अनवस्था आ जायेगी । अन्यथा—यदि ईश्वर को चेतन से अधिष्ठित नहीं मानोगे तो उसी ईश्वर से ही यह हेतु व्यभिचारी हो जावेगा क्योंकि क्रम से प्रवृत्ति होने पर भी वह ईश्वर चेतन से अधिष्ठित नहीं है ।

[आपका ईश्वर बुद्धिमान् है पुनः निवृत्त सृष्टि क्यों बनाता है ? इस प्रकार से जैनाचार्य यहाँ दोषारोपण करते हैं ।]

नैयायिक—हमारे यहाँ यह अनवस्था लक्षण दोष का प्रसंग नहीं आवेगा क्योंकि ईश्वर स्वयं बुद्धिमान (चेतन) है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तब तो उस बुद्धिमान से ही प्राणियों के प्रहीण निकृष्ट रूप शरीर इंद्रिय भुवनादि की रचना भी मर होंगे । जैसे बुद्धिमान ईश्वर अधिष्ठाता रूप भिन्न चेतन की अपेक्षा नहीं रखता है तथैव निकृष्ट कुब्जादि शरीरेन्द्रियादिकों को भी न बनावे क्योंकि उन-उन कार्यों को विशेष रूप से जानने वाले बुद्धिमान किसी के भी उन निकृष्ट कार्यों का करना नहीं देखा जाता है । अर्थात् जो अच्छे-अच्छे शरीर आदि को जानने वाले हैं वे बुरे, निच्य शरीर आदि को कैसे बनावेंगे ।

1 किञ्च ईश्वरोप्यन्येश्वराधिष्ठितस्सोप्यनेन सोप्यन्येनेत्याद्यनवस्थास्यात् । अन्यथा ईश्वरश्चेतनाधिष्ठितो न भवति चेत्तदानेनैव ईश्वरस्यान्यचेतनाधिष्ठानाभावेनैवस्थित्वाप्रवृत्तेरिति हेतोर्व्यभिचारः । दि० प्र० । 2 अन्ययानेनैव । इति० पा० । दि० प्र० । 3 बुद्धिमत्त्वादेव । दि० प्र० । 4 मास्मकरोत् माभूवन्मायोगे अद्यतनी । मास्म योगे ह्यस्तनीति कौमारसूत्रात् मास्मयोगे लट् भवति । दि० प्र० । 5 नाधिष्ठानान्तरम् । इति पा० । दि० प्र० । 6 पुंसः । दि० प्र० । 7 वैचित्र्यमपरकम्मं वैचित्र्यात् । सातिशयानां धीधनानां काणकुब्जादिसदृशात्यन्तहीनस्वकार्यकरणं न दृश्यते यतः । दि० प्र० ।

तनुकरणादयः प्राणिनां कर्मणो वैचित्र्यादिति चेत्तर्हि^१ कर्मणामपि^२ तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तत्वे^३ समानप्रसङ्गः—तान्यपि प्रहीणतनुकरणादिकारणानि मा भूवन्निति । तदनिमित्तत्वे तनुकरणादेरपि तन्निमित्तत्वं^४ मा^५ भूद्विशेषाभावात्^६ । एवं चार्थक्रियादेरपि ताभ्यामं-कान्तिकत्वं कर्मणः स्थाणोश्चार्थक्रियाकारित्व—स्थित्वाप्रवर्तनयोश्चेतनाधिष्ठानाभावेपि भावात्^७ । ततः^८ कर्मबन्धविशेषवशाच्चित्राः कामादयस्ततः^९ कर्मवैचित्र्यमिति स्थितम् । नहि^{१०} भावस्वभावोपालम्भः^{११} करणीयोन्यत्रापि तथैव^{१२} तत्प्रसङ्गानिवृत्तेः । यथैव^{१३} हि

योग—निकृष्ट शरीर इंद्रियां आदि प्राणियों के कर्मों की विचित्रता से ही होती है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो वे कर्म भी तो उस ईश्वर के ज्ञान के निमित्त से ही हुये हैं उन कर्मों को ईश्वर ने निकृष्ट क्यों बनाया ? इत्यादि शंकायें समान ही होंगी । वे कर्म भी निकृष्ट शरीर इंद्रियादिकों के कारण न होंगे क्योंकि कर्मों को बनाने में भी वह ईश्वर ही तो निमित्त है ।

यदि आप कहें कि कर्मों को बनाने में ईश्वर निमित्त नहीं है तब तो वह ईश्वर शरीर इंद्रियादिकों का भी निमित्त मत होवे, इन दोनों जगह में कोई अन्तर नहीं है । इस प्रकार से ईश्वर और कर्मों को चेतन से अधिष्ठित न मानने पर अर्थक्रियादि हेतु भी उन ईश्वर और कर्म से ऐकान्तिक हो जावेंगे क्योंकि ईश्वर और कर्म में अर्थक्रियाकारित्व एवं क्रम से प्रवृत्ति ये दोनों चेतन से अधिष्ठित न होने पर भी विद्यमान हैं ।

इसलिये कर्मबन्ध विशेष के निमित्त से नाना प्रकार के कामादि-रागादि होते हैं और उन रागादिभावों से विचित्र-विचित्र कर्मबन्ध होता है । यह पद्धति बीजांकुर न्याय के समान है यह अनुमान से सिद्ध हो गई । भाव स्वभाव—पदार्थों के स्वभाव में किसी प्रकार की उलाहना आप नहीं दे सकते हैं अन्यथा अन्यत्र ईश्वर आदि में भी उसी प्रकार से उलाहना का प्रसङ्ग दूर नहीं किया जा

1 तान्यपीश्वरनिमित्तकानि भवन्ति न भवन्ति चेत्तर्हि दूषणं समानमेव । दि० प्र० । 2 तर्हि तानि कर्मण्यपि ईश्वरज्ञानं निमित्तकारणं येषां तानीश्वरज्ञाननिमित्तकान्यनिमित्तकानि वेति विचारः प्रथमपक्षे ईश्वरज्ञानकर्मणां तुल्यप्रसंगः कथं समानप्रसंग इत्युक्तं आह । यथा बुद्धिमानीश्वरः प्राणिनां प्रहीणतनुकरणं नास्ति । तर्हि कर्मण्य-निमित्तकारणानि मा भवन्तु द्वितीयपक्षे कर्मणामीश्वरज्ञानानिमित्तत्वे स्थितितनुकरणप्रमुखस्यापि ज्ञाननिमित्तत्वं मा भवतु । कस्मात् । उभयत्रेश्वरज्ञानकर्मसु निमित्तकारणत्वेन कृत्वा विनाशाभावात् = किञ्चैवं सति हे ईश्वरवादिन् । अर्थक्रियादेरपि तत्र हेतोः ताभ्यां कर्मेश्वराभ्यां व्यभिचारित्वं घटते । कर्म स्थाणुश्च द्वौ यद्यपि चेतनाधिष्ठितौ न स्तः । तथापि तयोरर्थक्रियाकारित्वं स्थित्वा प्रवर्तनञ्च घटते यस्मात् । दि० प्र० । 3 वसः । दि० प्र० । 4 ईश्वरज्ञानम् । व्या० प्र० । 5 निमित्तकारणस्योभयत्राविशेषात् । व्या० प्र० । 6 ईश्वरज्ञानकर्मणां विशेषाभावात् । दि० प्र० । 7 यत्र यत्र चेतनाधिष्ठितत्वं तत्र स्थित्वा प्रवर्तनार्थक्रिया इति व्याप्त्येवभावात् । व्या० प्र० । 8 ईश्वरज्ञानचिकीर्षा-प्रयत्नादिनिमित्तं नास्ति यतः । व्या० प्र० । 9 कामादिभ्यः । व्या० प्र० । 10 पदार्थस्वभाव उपालम्भो न कर्तव्यः । व्या० प्र० । 11 ता । दूषणम् । व्या० प्र० । 12 भावस्वभावप्रकारेण । व्या० प्र० । 13 अचेतना-कर्मबंधात् कामादिवैचित्र्यप्रकारेण कामादेश्चेतनादचेतनकर्मवैचित्र्यप्रकारेण । व्या० प्र० ।

कथमचेतनः^१ कर्मबन्धः कामादिवैचित्र्यं कुर्यात् कामादिर्वा चेतनस्वभावः कथमचेतनं कर्मवैचित्र्यमिति^२ तत्स्वभावस्योपालम्भः^४ प्रवर्त्यते तथा कथमचेतनमुन्मत्तकादिभोजनमुन्मादादिवैचित्र्यं^६ विदधीत प्राणिनामुन्मादादिर्वा चेतनः कथमचेतनं मृदादि रूपवैचित्र्यमित्यपि तत्स्वरूपोपालम्भः^८ किमिति प्रसज्यमानो निवर्त्यते ? तथा^९ दृष्टत्वादिति^{१०} चेत्त^{११} एव प्रकृतस्वभावोपालम्भोपि निवर्त्यतां, तथानुमितत्वात् ।

सकेगा । अर्थात् प्रश्न यह होता है कि अचेतन कर्म प्राणियों को स्वर्गादि की प्राप्ति कैसे करावेंगे ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि युक्ति से यह बात सिद्ध कर दी गई है कि “अचेतन कर्म बंध से रागादि परिणाम एवं उन परिणामों से कर्मबंध की विचित्रता होती है यह वस्तु का ही स्वभाव है इसमें उलाहना नहीं दी जा सकती है ।

अचेतन कर्मबंध रागादि परिणामों की विचित्रता को कैसे करेंगे अथवा चेतन स्वभाव रागादि परिणाम अचेतन रूप विचित्र कर्मबंध को कैसे करेंगे ? इस प्रकार से जैसे आप वस्तु के स्वभाव में उपालम्भ उठावेंगे वैसे ही हम भी आप से पूछते हैं कि अचेतन उन्मत्तक-मादकोद्रव आदि का भोजन जीव में उन्मादि विचित्रता को कैसे करता है ? अथवा प्राणियों के चेतन रूप उन्मादि परिणाम अचेतन मिट्टी आदि में रूप की विचित्रता को कैसे करते हैं ? अर्थात् धतूरे के खाने से सभी मिट्टी आदि वस्तुयें पीली-पीली ही दिखने लगती हैं यह कैसे हो सकता है ? इस प्रकार से उन-उन वस्तुओं के स्वभाव में भी प्रश्न उठते ही चले जावेंगे उनका निवारण कौन कर सकेगा ?

योग—यह मादक आदि वस्तुओं का स्वभाव तो उसी प्रकार से देखा जाता है ।

जैन—उसी प्रकार से प्रकृत-रागादि भाव एवं कर्म बंध का स्वभाव भी वैसा ही देखा जाता है अतएव आपके प्रश्नों को गुंजाइश नहीं है क्योंकि रागादिभाव एवं कर्मबंध ये परस्पर में अचेतन और चेतन करण रूप से अनुमान के द्वारा जाने जाते हैं ।

योग—इस प्रकार से ईश्वर भी अनुमान ज्ञान से जाना जाता है अतः उलाहना का प्रसङ्ग नहीं है ।

१ आह परः हे स्याद्वादिन् धर्तूरकस्वभावदृष्टान्ते दूषणं नास्ति कस्मात्तथा विकारकारणादिसर्वलोके प्रतीतं यतः इति चेत् स्याद्वादी वदति तथा दृष्टत्वादेव दृष्टान्त दाष्टीति भावस्वभावोपालम्भोपि निवर्त्यतां त्वया = तथानुमितत्वाच्च दूषणं निवर्त्यताम् = पुनराह पर एवमीश्वरस्यापि प्रागनुमितत्वादेव उपालम्भनिवृत्तिरस्तु इति स्या० इति त्वया न शक्योयम् । कस्मात्, ईश्वरानुमानस्य नानादूषणविरुद्धत्वात् । दि० प्र० । २ कुर्यात् । व्या० प्र० । ३ कामादिकर्म-बन्धयोः । व्या० प्र० । ४ धर्तूर । दि० प्र० । ५ आदिशब्देन मदिरामदनकोद्रवादिर्कं गृह्यते । व्या० प्र० । ६ योजन । इति पा० । दि० प्र० । व्या० प्र० । ७ उन्मत्तादि । व्या० प्र० । ८ प्रवर्तनरूपेण । व्या० प्र० । ९ निवर्त्यते इत्यध्याहारः । दि० प्र० । १० तथा कर्मभ्यः कामादयो न भवन्तीति उपालम्भः निवर्त्यतां तथा दृष्टत्वात् । दि० प्र० । ११ कामादिकर्मबन्धप्रकारेण । व्या० प्र० ।

न चैवमीश्वरस्याप्यनुमितत्वादुपालम्भप्रसङ्गनिवृत्तिः^१ स्यादिति शङ्कनीयं, तदनुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वात्^२ । तथा हि, तनुकरणभुवनादेः कार्यत्वादिसाधनं^३ किमेकबुद्धिमत्कारणत्वं साधयेदनेकबुद्धिमत्कारणत्वं वा ? प्रथमपक्षे प्रासादादिनानेकसूत्रधारयजमानादिहेतुना^४ तदनैकान्तिकम् । द्वितीयपक्षे सिद्धसाधनं, नानाप्राणिनिमित्तत्वात्तदुपभोग्यतन्वादीनां, तेषां तददृष्टकृतत्वात्^५ । एतेन बुद्धिमत्कारणसामान्यसाधने सिद्धसाधनमुक्तं, 'तदभिमतविशेषस्याधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्यसिद्धेः'^६ । सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाददोष इति चेन्न, दृष्टादृष्ट-

जैन—ऐसी आशंका नहीं करना क्योंकि ईश्वर को सिद्ध करने वाले आपके सभी अनुमान अनेक दोषों से दूषित हो जाते हैं । तथाहि—हम आपसे प्रश्न करते हैं कि तनुकरण भुवनादि को बुद्धिमत्कारणी सिद्ध करने वाले आपके कार्यत्वादि हेतु एक बुद्धिमत्कारण को सिद्ध करते हैं या अनेक बुद्धिमत्कारण को सिद्ध करते हैं ।

प्रथम पक्ष लेवो तब तो अनेक सूत्रधार यजमानादि रूप कारण से होने वाले प्रासादादि से अनैकान्तिक दोष आता है क्योंकि वे प्रासादादि कार्य तो हैं फिर भी एक बुद्धिमत्कारण वाले नहीं हैं । उनके बनाने वाले अनेक हैं ।

द्वितीय पक्ष लेने पर तो सिद्ध साधन दोष आता है क्योंकि उन प्राणियों के उपभोग करने योग्य तनुकरणभुवन आदि अनेक प्राणियों के निमित्त से ही हुये हैं और वे शरीर आदि उन-उन प्राणियों के अदृष्ट-भाग्य से ही किये गये हैं ।

इस कथन से "बुद्धिमत्कारण सामान्य को साध्य करने पर सिद्ध साधन दोष आता है" ऐसा सिद्ध किया गया है । एवं उन नैयायिकों को अभिमत जो विशेष है वह भी अधिकरण सिद्धान्त के न्याय से असिद्ध ही है ।

योग—सामान्य विशेष सहित बुद्धिमत्कारण को हमने साध्य बनाया है इसलिये कोई दोष नहीं आता है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि दृष्ट और अदृष्ट विशेष का आश्रय करने वाला सामान्य दो प्रकार के विकल्पों का उल्लंघन नहीं करता है । अर्थात् सामान्य दो प्रकार का है एक तो दृष्ट विशेष

१ ईश्वर । व्या० प्र० । २ कर्तृ । दि० प्र० । ३ बसः । व्या० प्र० । ४ तन्वादीनां प्राणिनां संसारिणामदृष्टकृतत्वात् । नानाप्राणि । दि० प्र० । ५ तेषामीश्वरवादिनाम् । स चासौ अभिमतविशेषस्तदभिमतविशेषस्तस्य बुद्धिमत्कारणस्येश्वर-स्याधिकरणसिद्धान्तन्यायेन कृत्वा सिद्धिर्घटत इत्युक्तं परेण स्या० वदत्येवं न=अत्राह परः हे स्याद्वादिन् सामान्यं साध्यं विशेषः साध्यं तयोः साध्यत्वात् बुद्धिमत्कारणस्य ईश्वरस्य सासने दोषो नास्तीति चेत्=स्या० न । कस्मात् दृष्ट-विशेषाश्रयसामान्यमदृष्टविशेषाश्रयसामान्यमिति विकल्पद्वयानुल्लंघनात् दि० प्र० । ६ सामान्यमात्रं साध्यते चेत्तर्हि सामान्यमात्रसाधने नाभिमतः सिद्धिकस्मात् स्यात् । दि० प्र० । ७ बसः । व्या० प्र० ।

विशेषाश्रयसामान्यविकल्पद्वयानतिवृत्तेः, दृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यत्वे स्वेष्टविघा-
तात्, अदृष्टविशेषाश्रयस्य¹ सामान्यस्य साध्यत्वे साध्यशून्यत्वप्रसङ्गान्निर्दर्शनस्य । दृष्टेतर-
विशेषाश्रयसामान्यसाधनेपि² स्वाभिमतविशेषसिद्धिः कुतः स्यात् ? अधिकरणसिद्धान्तन्याया-
दिति चेत् कोयमधिकरणसिद्धान्तो नाम ? यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोधिकरणसिद्धान्तः ।
ततो दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यमात्रस्य बुद्धिमन्निमित्तस्य जगत्सु³ प्रसिद्धे प्रकरणाज्जगन्नि-
र्माणसमर्थः⁴ समस्तकारकाणां प्रयोक्ता सर्वविदलुप्तशक्तिर्विभुरशरीरत्वादिविशेषाश्रय एव
सिध्यतीति चेत्स्यादेवं⁵, यदि⁶ सकलजगन्निर्माणसमर्थेनैकेन समस्तकारकाणां प्रयोक्तृत्वसर्वज्ञ-

का आश्रय करने वाला, दूसरा अदृष्ट विशेष का आश्रय करने वाला । उसमें यदि दृष्ट विशेष को आश्रय करने वाले सामान्य को साध्य करोगे तब तो आपके दृष्ट तत्त्व का विघात हो जावेगा अर्थात् कतिपय कारक का प्रयोक्तृत्व, असर्वज्ञत्व, प्रतिहृतशक्तित्व, अविभुत्व, शरीर सहितत्व आदि दृष्टविशेषाश्रय सामान्य है इसको साध्य करने पर तो तुम्हारा मान्य ईश्वर निराकृत हो जाता है ।

द्वितीय पक्ष रूप अदृष्ट विशेष का आश्रय करने वाले सामान्य को साध्य करने पर तो आपका कुंभकारादि दृष्टांत साध्यविकल हो जाता है । एवं दृष्टादृष्ट विशेष को आश्रय करने वाले सामान्य को साध्य बनाने पर भी आपको अपने अभिमत विशेष की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? क्योंकि दो को छोड़कर तीसरा सामान्य ही असंभव है ।

यौग—अधिकरण सिद्धान्त के न्याय से हम सिद्ध करते हैं ।

जैन—यह अधिकरण सिद्धान्त क्या चीज है ?

यौग—जिस कर्तृत्वमात्र के सिद्ध होने पर अन्य कर्ता विशेष ईश्वर की प्रकरण से सिद्ध होती है वह अधिकरण सिद्धान्त है । इसलिये दृष्टादृष्ट विशेषाश्रय सामान्य मात्र, बुद्धिमन्निमित्तक के जगत् में प्रसिद्ध हो जाने पर प्रकरण से जगत् के निर्माण करने में समर्थ, समस्त कारकों का प्रयोक्ता-सकलसृष्टि को करने वाला, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, विभु-व्यापक, अशरीरत्व आदि विशेषाश्रय ही सिद्ध होता है ।

1 न केवलं प्रत्येकम् । व्या० प्र० । 2 जगत्सु अधिकरणसिद्धान्तात् बुद्धिमन्निमित्तस्य सिद्धौ सत्यामेव विशिष्टो विभुः सिद्ध्यति । दि० प्र० । 3 प्रघट्टात् । व्या० प्र० । 4 सिद्धिप्रकारेण । व्या० प्र० । 5 स्या० हे ईश्वरवादिन् अशरीरत्वादिविशेषाश्रय एव ईश्वरो जगन्निर्माणसमर्थः सिद्धचतीति तवाभिप्रायो यद्येवं भवेत्तदा सर्वज्ञत्वादिविशेषो ये तेनैकेन जगत्कर्ता सहाविनाभूतं भवत्सत् दृष्टेतरविशेषाश्रयबुद्धिमत्कारणसामान्यं कुतश्चित् प्रत्यक्षादिप्रमाणतो घटेत् । तच्च तथा न घटेत् । कस्मात् स्वकीयस्वकीयोपभोगयोभ्यतन्वादिनिमित्तकारणविशेषणानेकसंसारिबुद्धिमत कारणेन सह तद्बुद्धिमत्कारणसामान्यमविनाभाविभवत्सत्सिद्धमिति प्राक् प्रञ्चेन समथितात् । दि० प्र० । 6 प्रमाणात् । यदि सिद्ध्येत् तर्हि स्यादेवम् । व्या० प्र० ।

त्वादिविशेषोपेतेनाविनाभावि दृष्टेतरविशेषाधिकरणबुद्धिमत्कारणसामान्यं कुतश्चित्^१ सिद्धयेत् । न च सिध्यति, अनेकबुद्धिमत्कारणेनैव स्वोपभोग्यतन्वादिनिमित्तकारणविशेषेण तस्य व्याप्तत्वसिद्धेः^२ समर्थनात् । तथा सर्वज्ञवीतरागकर्तृकत्वे^३ साध्ये^४ घटादिनानैकान्तिकं साधनं, साध्यविकलं^५ च निदर्शनम् । सरागासर्वज्ञकर्तृकत्वे साध्येपसिद्धान्तः । सर्वथा कार्यत्वं^६ च साधनं तन्वादावसिद्धं, तस्य^७ कथञ्चित्कारणत्वात्^८ । कथञ्चित्कार्यत्वं तु विरुद्धं, सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वात्साध्याद्विपरीतस्य कथञ्चिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात् । तथा पक्षोप्य-

ज्ञान—यदि ऐसा होता तब तो यह बात ही सकती है कि यदि सकल जगत के निर्माण करने में समर्थ, एक, समस्त सृष्टि का कर्ता, सर्वज्ञ आदि विशेष गुणों से अविनाभावी, दृष्टादृष्ट विशेष के आधारभूत बुद्धिमत्कारण सामान्य, किसी प्रमाण से सिद्ध होवे । अर्थात् यदि ऐसा ईश्वर सिद्ध होवे तब तो उपर्युक्त कथन ठीक हो सकता था किन्तु ऐसा ईश्वर सिद्ध तो होता नहीं है क्योंकि अपने उपभोग के योग्य तनु आदि में निमित्तकारण विशेष ऐसे अनेक बुद्धिमत्कारण से ही वह बुद्धिमत्कारण सामान्य व्याप्त है ऐसा ही समर्थन किया गया है ।

उसी प्रकार से सर्वज्ञ वीतराग को सृष्टि का कर्ता साध्य करने पर यह 'कार्तव्य' हेतु घटादिकों से अनेकान्तिक हो जावेगा । एवं 'घटवत्' दृष्टान्त भी साध्य विकल हो जावेगा । तथा सराग, अल्पज्ञ सृष्टि का कर्ता है ऐसा साध्य बनाने पर तो आपका सिद्धान्त बाधित हो जावेगा एवं तनु आदि में सर्वथा कार्यत्व हेतु असिद्ध है क्योंकि वह कथञ्चित् कारण रूप हैं और "कथञ्चित् कार्यत्व हेतु" भी आपके यहां विरुद्ध है क्योंकि सर्वथा बुद्धिमत्कारणभूत साध्य से विपरीत कथञ्चित् बुद्धिमत्कारण को ही सिद्ध करता है । अर्थात् तनु आदिकों में यह कार्यत्व हेतु सर्वथा है या कथञ्चित् है ? ऐसे दो प्रकार के विकल्पों को उठाकर दूषण दिखाया गया है । यदि सर्वथा कहा जाये तो यह हेतु असिद्ध दोष से दूषित हो जाता है क्योंकि इस हेतु के धर्मो-तनु आदि कथञ्चित् ही कार्यरूप हैं सर्वथा नहीं हैं । यदि कथञ्चित् कहा जावे तब तो विरुद्ध है क्योंकि आपने साध्य को सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तक माना है यह हेतु उससे विपरीत कथञ्चित् को सिद्ध कर देता है अतः आपका कार्यत्व हेतु असिद्ध, विरुद्ध दोषों से दूषित ही है ।

१ ता। दि० प्र० । २ जगतः । व्या० प्र० । ३ विशेषत्वेन । व्या० प्र० । ४ स्या० वदति तनुकरणभुवनादिके पक्षः सर्वज्ञवीतरागलक्षणबुद्धिमत्कारणकं भवतीति साध्यो धर्मः कार्यत्वादघटादिवदिति परस्यानुमाने कार्यत्वादिति हेतुः कुलालादिनिमित्तघटादिना व्यभिचारी भवति कथमित्युक्त आह हेतुस्तन्वादी वर्तते घटादी च यतः तथा घटवदिति दृष्टान्तश्च साध्यशून्यः कथमित्युक्त आह घटः कार्यरूपमस्ति, परन्तु असर्वज्ञावीतरागनिमित्तं यतः—अथवा असर्वज्ञसरागलक्षणबुद्धिमत्कारणकं भवतीति साध्यत्वे सत्ययं सिद्धान्तो भवति पुनः स्याद्वादी वदति हे स्याद्वादिन् ! कार्यत्वादिति साधनं सर्वथा कार्यत्वं कथञ्चित्कार्यत्वं वेति विकल्पः प्रथमपक्षे तन्वादी साध्येऽसिद्धं कस्मात् । तत्साधनं कथञ्चित्कारणरूपेण च वर्तते यतो द्वितीयपक्षे साधनं सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वलक्षणात् त्वदभिप्रेतात्साध्याद्विपरीतं स्याद्वाद्यभिमतं कथञ्चिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वं साध्यति यतः दि० प्र० । ५ हेतुः विचारयति । व्या० प्र० । ६ साधनस्य । दि० प्र० । ७ स्वकार्यापेक्षया । व्या० प्र० । ८ न केवलं हेतुरनेकदोषदुष्टः । व्या० प्र० ।

नुमानबाधितः¹ स्यात्, 'अकृत्रिमं जगत्, दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वात् खादिवत्' इत्यनुमानस्य तद्बाधकस्यान्यत्र² समर्थितत्वात् । इति³ सूक्तं, नेश्वरकृतः संसार इति ।

ननु⁴ यदि कर्मबन्धानुरूपतः संसार स्यान्न तर्हि केषांचिन्मुक्तिरितरेषां संसारश्च, 'कर्मबन्धनिमित्ताविशेषादिति'⁶ चेन्न, तेषां शुद्ध्यशुद्धितः प्रतिमुक्तीतरसंभवादात्मनाम्⁷ । न हि जीवाः शश्वदशुद्धित एव व्यवस्थिताः स्याद्वादिनां याज्ञिकानामिव, कामादिस्वभावत्वनि-
राकरणात्, तत्स्वभावत्वे कदाचिदौदासीन्योपलम्भविरोधात्⁸ नापि शुद्धित⁶ एवावस्थिताः⁹
कापिलानामिव¹⁰, प्रकृतिसंसर्गपि¹¹ तत्र¹² कामाद्युपलम्भविरोधात्¹³, प्रकृतावेव कामाद्युपलम्भे

तथा आपका पक्ष अनुमान से बाधित हो जावेगा । "यह जगत् अकृत्रिम है—क्योंकि दृष्ट-
कर्तृक से विलक्षण है आकाशादि के समान ।" इस प्रकार के अनुमान से आपका पक्ष बाधित है
इसका समर्थन अन्यत्र—श्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथ में किया गया है । इसलिये यह बात बिल्कुल ठीक
है—“ईश्वरकृत संसार नहीं है ।”

शंका—यदि कर्मबन्ध के अनुसार ही संसार होगा तब तो किन्हीं को मुक्ति एवं अन्यजनों को
संसार नहीं हो सकेगा क्योंकि कर्मबन्ध का निमित्त तो सब जीवों में समान ही है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना क्योंकि उन जीवों में शुद्धि और अशुद्धि के भेद से मुक्ति और
संसार के प्रति भेद सिद्ध है अर्थात् मिथ्यादर्शनादि परिणामात्मक अभिप्राय अशुद्धि है तथा सम्यग्दर्शनादि
परिणामात्मक भाव शुद्धि है ।

मीमांसकों के समान हम स्याद्वादियों के यहां सदैव जीव अशुद्धरूप से ही व्यवस्थित रहते हों
ऐसा नहीं है क्योंकि रागादि स्वभाव का उसकी विपरीत प्रवृत्ति से निराकृत करना शक्य है । जीवों
का रागादिभाव स्वभाव ही है ऐसा मान लेने पर तो कदाचित् भी उदासीनता-तरतम भाव की
उपलब्धि का ही विरोध हो जावेगा तथा सांख्यों के सिद्धान्त के समान सर्वथा सभी जीव शुद्ध ही बने
रहते हैं ऐसा भी नहीं है अन्यथा प्रकृति का संसर्ग होने पर भी उन जीवों में रागादि भावों की
उपलब्धि ही नहीं हो सकेगी ।

यदि आप कहें कि रागादि विकारभाव प्रकृति में पाये जाते हैं तब तो पुरुष की कल्पना ही

1 पक्ष । दि० प्र० । 2 एवम् । व्या० प्र० । 3 कारिकातुरीयपादं व्यख्याति । व्या० प्र० । 4 मुक्तेः प्राक् । व्या०
प्र० । 5 मुक्तावस्थातः प्राक् । व्या० प्र० । 6 अवश्यंभाविनी मुक्तिः । व्या० प्र० । 7 कामादौ । व्या० प्र० ।
जीवानां सर्वथा कामादिस्वभावत्वे सति तदा कदाचनमध्यस्थभावं न दृश्यते स च दृश्यत एवानेकेषां योगिनाम्
दि० प्र० । 8 सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मिकाभिसंघितः । व्या० प्र० । 9 शुद्धित एव व्यवस्थिताः । इति पा० ।
व्या० प्र० । स्याद्वादिनाम् । व्या० प्र० । 10 सांख्यानम् । दि० प्र० । 11 न केवलं प्रकृतिसंसर्गभावे । व्या० प्र०
12 आत्मनि । दि० प्र० । 13 ननु च कामाद्युपलम्भः पुरुषे नास्ति प्रकृतावेव कथं तदुपलम्भविरोध इत्याह । व्या०
प्र० ।

पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात्, तदुपभोगस्यापि^१ तत्रैव^२ संभवात् । न ह्यन्यः कामयतेऽन्यः काममनुभवतीति^३ वक्तुं युक्तम् । नापि सर्वे संभवद्विशुद्धय एव जीवाः प्रमाणतः प्रत्येतुं शक्याः^४, संसारिशून्यत्वप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? शुद्धयशुद्धिभ्यां व्यवतिष्ठन्ते, 'जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः' इति वचनात्^५ । ततः^६ शुद्धिभाजाभात्मनां प्रतिमुक्तिरशुद्धिभाजा^७ संसारः । केषांचित् प्रतिमुक्तिः स्वकाललब्धौ स्यादिति प्रतिपत्तव्यम् । के पुनः शुद्धयशुद्धी जीवानामित्याहुः,—

शुद्धयशुद्धी पुनः शक्ती^८ ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।

साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

व्यर्थ हो जाती है । पुनः रागादि के निमित्त से होने वाले सुख-दुखों का उपभोग भी प्रकृति में ही सम्भव होगा क्योंकि अन्य—प्रकृति तो रागद्वेषादि विकार को प्राप्त होवे एवं—अन्य पुरुष उ६का अनुभव करे यह कहना भी युक्त नहीं है । तथा सभी जीव विशुद्धिवान् ही हैं ऐसा भी किसी प्रमाण से निर्णय करना शक्य नहीं है अन्यथा यह जगत् संसारी जीवों से शून्य ही हो जावेगा ।

शंका—तो कैसे-कैसे जीव हैं ?

समाधान—शुद्धि और अशुद्धि के निमित्त से जीव दो प्रकार के हैं "जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः" ऐसा कारिका का वचन है । अतएव शुद्धिमान्—शुद्धि की प्राप्त होने वाले जीवों की मुक्ति हो सकती है एवं अशुद्धिमान् जीवों का संसार है । उन शुद्धिमान् जीवों में भी किन्हीं-किन्हीं की ही मुक्ति अपनी-अपनी काललब्धि के अनुसार होती है । काललब्धि का वर्णन 'लब्धिसार' ग्रन्थ से देख लेना चाहिये । संक्षेप से सवार्थसिद्धि के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में भी कहा गया है वहाँ से देख लेना चाहिये ।

उत्थानिका—जीवों की वह शुद्धि और अशुद्धि क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

भव्य अभव्य कहीं दो शक्ती, पकने योग्य न पकने योग्य ।

उद्द शक्तिवत् इन दोनों की, अभिव्यक्ती है सादि अनादि ॥

सम्यक्त्वादि प्रकट भव्यों के, अभव्य कोरडू मूंग समान ।

वस्तु स्वभाव तर्क करने का, विषय नहीं हो सके प्रधान ॥१००॥

कारिकार्थ—जीवों की ये शुद्धि और अशुद्धि रूप दो शक्तियां मूंग आदि के पकने योग्य एवं न पकने योग्य शक्ति के समान हैं पुनः इन दोनों की शक्ति भव्य एवं अभव्य जीवों की अपेक्षा से सादि एवं अनादि है वस्तु का यह स्वभाव तर्क के अगोचर है ॥१००॥

१ कामादि । व्या० प्र० । २ प्रकृतावेव । व्या० प्र० । ३ सुखम् । दि० प्र० । ४ अन्यथा । व्या० प्र० । ५ कारिकायाः । दि० प्र० । ६ व्यवस्थानात् । व्या० प्र० । ७ प्रतिमुक्तिरवश्यंभाविनी । व्या० प्र० । ८ आत्मनो योग्यते । दि० प्र० ।

[भव्यत्वाभव्यत्वयोर्लक्षणं]

शुद्धिस्तावज्जीवानां भव्यत्वं केषांचित्सम्यग्दर्शनादियोगान्निश्चीयते । अशुद्धिरभव्य-
त्वं तद्वैपरीत्यात् सर्वदा प्रवर्तनादवगम्यते^१ छद्मस्थैः, प्रत्यक्षतश्चातीन्द्रियार्थदर्शिभिः । इति^२
भव्येतरस्वभावौ शुद्ध्यशुद्धी जीवानां तेषां सामर्थ्यासामर्थ्ये शक्त्यशक्ती^३ इति यावत् । ते
माषादिपाक्यापरशक्तिवत्^४ संभाव्येते सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् । तत्र^५ शुद्धेर्व्यक्तिः
^६सादिस्तदभिव्यञ्जकसम्यग्दर्शनादीनां सादित्वात् । ^७एतेनानादिः सदाशिवस्य शुद्धिरिति
प्रत्युक्तं प्रमाणाभावाद् ^८दृष्टातिक्रमादिष्टविरोधाच्च । अशुद्धेः पुनरभव्यत्वलक्षणया ^९व्यक्ति-
रनादिस्तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसंततेरनादित्वात् । पर्यायापेक्षयापि शक्तेरनादित्वमिति

[भव्यत्व और अभव्यत्व का लक्षण]

जीवों के भव्यत्व को शुद्धि कहते हैं वह किन्हीं-किन्हीं जीवों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि के योग से निश्चित की जाती है । जीवों के अभव्यत्व को अशुद्धि कहते हैं । वह सर्वदा प्रवर्तमान, मिथ्यादर्शनादि के योग से छद्मस्थ जीवों के द्वारा जानी जाती है तथा अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञ के द्वारा ये प्रत्यक्ष से जानी जाती हैं ।

इस प्रकार से उन जीवों के भव्य और अभव्य स्वभाव को शुद्धि और अशुद्धि कहते हैं वे उन जीवों की सामर्थ्य, असामर्थ्य रूप हैं । उन्हें शक्ति और अशक्ति कहते हैं । वे शुद्धि, अशुद्धि उड़व की पाक्य-पकने योग्य एवं नहीं पकने योग्य शक्ति के समान सम्भावित होती हैं । क्योंकि वे सुनिश्चित असंभवद्बाधक प्रमाण से जानी जाती हैं । उसमें शुद्धि की व्यक्ति-प्रगटता तो सादि है क्योंकि उसके अभिव्यञ्जक सम्यग्दर्शन आदि सादि हैं “जिनका कहना है कि सदाशिव की शुद्धि अनादि है” इसी उपर्युक्त कथन से उसका निराकरण कर दिया गया है क्योंकि उसको समझने में प्रमाण का अभाव है, दृष्ट का अतिक्रम है एवं इष्ट का भी विरोध है ।

“अशुद्धि की अभव्यत्व लक्षण व्यक्त अनादि है क्योंकि उसके व्यञ्जक मिथ्यादर्शनादिकों की परम्परा अनादि है ।”

शंका—पर्याय की अपेक्षा से भी शुद्धि और अशुद्धि रूप शक्ति अनादि है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा से ही वह अनादिपना सिद्ध है । इसलिये

१ प्रवचनाद् । इति पा० । व्या० प्र०, दि० प्र० । २ हेतोः । दि० प्र० । ३ योग्यतायोग्यते । दि० प्र० । ४ अपाक्य । दि० प्र० । शुद्ध्यशुद्धयोर्मध्ये । व्या० प्र० । ५ शुद्धि । व्या० प्र० । ६ जीवानां शुद्ध्यशुद्धी पक्षः ते शक्त्यशक्ती भवत इति साध्यो धर्मः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् माषादिपाक्यापाक्यशक्तिवत् । दि० प्र० । ७ शुद्धि-व्यक्तेः, सादित्वसमर्थनेन । व्या० प्र० । ८ विशुद्धेरनादित्वस्य । व्या० प्र० । ९ अशुद्धिप्रकाशक । दि० प्र० ।

चेन्न, द्रव्यापेक्षयैवानादित्वसिद्धेः । इति शक्तेः प्रादुर्भावापेक्षया सादित्वम् । ¹ततः ²शक्ति-
व्यक्तित्वञ्च स्यात्सादिः, स्यादनादिरित्यनेकान्तसिद्धिः । यदि वा जीवानामभिसन्धिनात्वं
³शुद्धचशुद्धी । स्वनिमित्तवशात् सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मकोऽभिसंधिः शुद्धिः, ⁴मिथ्यादर्शना-
दिपरिणामात्मकोऽशुद्धिर्दोषावरणहानीतरलक्षणत्वात्तेषां शुद्धचशुद्धिशक्त्योरिति भेदमाचार्यः
प्राह, ततोऽन्यत्रापि—भव्याभव्याभ्यां⁵ भव्येष्वेव, साद्यनादी⁶ प्रकृतशक्त्योर्व्यक्ती⁷ सम्यग्दर्शना-
द्युत्पत्तेः पूर्वमशुद्धचभिव्यक्तेर्मिथ्यादर्शनादिसंततिरूपायाः कथञ्चिदनादित्वात्⁸, सम्यग्दर्शनाद्युत्-
पत्तिरूपायाः पुनः शक्त्यभिव्यक्तेः सादित्वात् ।

[स्वभावोऽनर्कगोचरः इति तस्य समर्थनं कुर्वति आचार्यः ।]

कुतः शक्तिप्रतिनियम⁹ इति चेत्, तथास्वभावादिति¹⁰ ब्रूमः¹¹ । नहि भावस्वभावाः

वह शक्ति प्रादुर्भाव पर्याय की अपेक्षा से सादि सिद्ध है । अतः शक्ति और व्यक्ति पर्याय की अपेक्षा से कथञ्चित् सादि हैं । वे ही शक्ति और व्यक्ति द्रव्यत्व की अपेक्षा से कथञ्चित् अनादि हैं इस प्रकार से अनेकान्त सिद्ध है ।

अथवा जीवों के नाना अभिप्रायों को शुद्धि और अशुद्धि कहते हैं । अपने सम्यग्दर्शनादि की घातक सप्त प्रकृतियों के उपशम आदि के निमित्त से सम्यग्दर्शन आदि परिणामात्मक अभिप्राय को शुद्धि कहते हैं । एवं मिथ्यादर्शनादि परिणामात्मक को अशुद्धि कहते हैं । अर्थात् मिथ्यादर्शनादि कर्मोदय के निमित्त से वह अशुद्धि होती है और उसका उदय संसार में सदैव रहता ही है इसलिये अशुद्धि की व्यक्ति भी अनादि है क्योंकि उन जीवों की वह शुद्धि और अशुद्धि दोष और आवरण की हानि एवं हानि के न होने रूप लक्षण वाली है ।

इसीलिये उन जीवों की शुद्धि और अशुद्धि रूप शक्तियों में आचार्यों ने भेद कहा है । उससे भिन्न भी भव्य-अभव्य के द्वारा भव्यों में ही वह होती है । प्रकृत-शुद्धि, अशुद्धि इन दोनों शक्तियों की व्यक्ति सादि और अनादि है क्योंकि सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति के पहले मिथ्यादर्शनादि की संतति रूप अशुद्धि की अभिव्यक्ति कथञ्चित् अनादि है । सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति रूप शक्ति की अभिव्यक्ति पुनः सादि रूप है ।

! स्वभाव तक का गोचर नहीं है आचार्य इसका समर्थन करते हैं ।]

शंका—यह शक्ति का प्रतिनियम कैसे सिद्ध होता है ?

1 शक्तेर्व्यक्तेश्च सादित्वमनादित्वं यतः । व्या० प्र० । 2 व्यक्तिः शुद्धचपेक्षया सादिरशुद्धचपेक्षयानादिरिति प्रत्येत-
व्या । दि० प्र० । 3 नानात्वशुद्धी अनिमित्तवशात् । इति पा० । दि० प्र० । 4 अभिसन्धिः । दि० प्र० ।
5 यत एवं ततः भव्याभव्या शुद्धचशुद्धिभाजौ भवत इति व्याख्यानं वर्जयित्वा प्रकारान्तरमाह । अशुद्धशक्तेर्व्यक्तिः
कथञ्चिदनादिःशुद्धिशक्तेर्व्यक्तिः कथञ्चित्सादि इति विकल्पः केवलं भव्येषु ज्ञेयः । दि० प्र० । 6 भवतो यतः ।
व्या० प्र० । 7 सम्यग्दर्शनमिथ्यादर्शनरूपशक्तयोः । व्या० प्र०, दि० प्र० । 8 आत्मद्रव्यरूपेण । व्या० प्र० । 9 भव्य-
रूपा शक्तिर्भव्येषुभव्यरूपाशक्तिरभव्ये । केषुचिद्भव्यरूपा अन्येषु केषुचिद्भव्यरूपेति । दि० प्र० । 10 तथासंभवः कुत
इत्याह । व्या० प्र० । 11 यतः । व्या० प्र० ।

पर्यनुयोक्तव्याः, तेषामतर्कगोचरत्वात्^१ । ननु प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्थे स्वभावरुत्तरं वाच्यं सति पर्य-
नुयोगे, न पुनरप्रत्यक्षे^२, अतिप्रसङ्गादिति चेन्न, अनुमानादिभिरपि प्रतीते वस्तुनि भावस्व-
भावरुत्तरस्याविरोधात् प्रत्यक्षवदनुमानादेरपि^३ प्रमाणत्वनिश्चयात्^४ । ततः परमागमात्सिद्ध-
प्रामाण्यात्^५ प्रकृतजीवस्वभावाः^६ प्रतीतिमनुसरन्तो न तर्कगोचरा यतः पर्यनुयुज्यन्ते^७, तर्क-
गोचराणामप्यागमगोचरत्वेन पर्यनुयोगप्रसङ्गात्^८ । तद्वत्प्रत्यक्षविषयाणामपि । इति न प्रत्य-
क्षागमयोः स्वातन्त्र्यमुपपद्येत तर्कवत्^९ । तदनुपपत्तौ च नानुमानस्योदयः स्यात्, धर्मिप्रत्य-
क्षादेः^{१०} प्रतिज्ञायमानागमार्थस्य^{११} च प्रमाणान्तरापेक्षत्वादित्यनवस्थानात् । ततः^{१२} सूक्तं, कर्म-

जैन—उसी प्रकार का स्वभाव है ऐसा हम कहते हैं क्योंकि पदार्थों के स्वभाव में प्रश्न करना ठीक नहीं है । वस्तु का स्वभाव तर्क का विषय नहीं है ।

योग—प्रत्यक्ष से प्रतीत पदार्थ में तो यदि प्रश्न होता है तब “स्वभाव से ही ऐसा है” यह उत्तर दे देना उचित है किन्तु अप्रत्यक्ष में ऐसा उत्तर देना ठीक नहीं है । अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जावेगा ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । अनुमानादि से भी जानी गई वस्तु में “पदार्थ का ऐसा ही स्वभाव है” ऐसा उत्तर देना विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष के समान अनुमानादि को भी हमने प्रमाणभूत माना है । इसीलिये प्रमाणसिद्ध परमागम से भव्य एवं अभव्य रूप प्रकृत में आये हुए जीव के स्वभाव प्रतीति का अनुसरण करते हुए तर्क के विषय नहीं हैं कि जिससे उनमें प्रश्न उठाया जा सके । अर्थात् स्वभाव में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है, अन्यथा तर्क के विषयभूत पदार्थों में भी आगम के विषय रूप से प्रश्न उठाने का प्रसंग आ जावेगा । उसी प्रकार से प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थों में भी प्रश्न उठते ही रहेंगे । अर्थात् यह अग्नि उष्ण क्यों है तो यह जल ठंडा क्यों है इत्यादि । पुनः इस प्रकार से तो प्रत्यक्ष और आगम स्वतंत्र सिद्ध नहीं हो सकेंगे तर्क के समान । किन्तु ये दोनों स्वतन्त्र सिद्ध हैं एवं दोनों को स्वतन्त्र न मानने पर तो अनुमान भी उदित नहीं हो सकेगा क्योंकि धर्मि प्रत्यक्षादि और प्रतिज्ञायमान आगम का अर्थ प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखने लगेंगे पुनः कुछ भी व्यवस्था नहीं

१ विचारागोचरत्वात् । व्या० प्र० । भावस्वभावानामनुमान गम्यत्वात् । दि० प्र० । २ परोक्षज्ञानेन प्रतीतेर्थे यदि कश्चित्परिपृच्छति तं तदा स्वभावरुत्तरं वाच्यं न वाच्यं चेत्तदातिप्रसंगो भवति । अन्यथा । दि० प्र० । ३ यथा प्रत्यक्षेण । दि० प्र० । ४ विरोधो नास्ति यतः । दि० प्र० । ५ सत्यभूतात् । दि० प्र० । ६ शुद्धशुद्धी । दि० प्र० । ७ आगमगोचरत्वेन पर्यनुयोगप्रसंगः । दि० प्र० । ८ तर्कागमयोरन्यतरस्य प्राधान्याप्राधान्यनियमाभावात् । दि० प्र० । ९ यथानुमानस्य । दि० प्र० । १० विचारवदित्यपि प्रसंगापादनम् । व्या० प्र० । ११ पक्षहेतुदृष्टान्तादेः । हेतुदृष्टान्ता-
वादिशब्देन । दि० प्र० । १२ पक्षीक्रियमाणः । निश्चीयमानः । अनित्यत्वादेः । दि० प्र० । १३ शुद्धशुद्धी जीवानां शक्ती यतः । व्या० प्र० ।

बन्धानुरूपत्वेपि कामादिप्रभवस्य भावसंसारस्य द्रव्यादिसंसारहेतोः^१ प्रतिमुक्तीतरसिद्धिर्जी-
वानां शुद्धयशुद्धिवैचित्र्यादिति^२ ।

बन सकेगी । इसलिये यह बिल्कुल ठोक हो कहा है कि कर्मबंध के अनुसार होते हुए भी रागादि की उत्पत्ति रूप भावसंसार द्रव्यादि संसार का हेतु है अतः जीवों का मुक्ति और संसार सिद्ध है क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि की विचित्रता देखी जाती है ।

“ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व के खण्डन का सारांश”

रागादिकों की उत्पत्ति भाव संसार रूप से नाना प्रकार की है वह ज्ञानावरणादि कर्मबंध के अनुसार होती है तथा वह कर्म अपने हेतुभूत रागादि परिणामों से ही होता है अतः रागादि से उत्पन्न हुआ यह भाव संसार एक स्वभाव वाले महेश्वर के द्वारा किया हुआ नहीं है क्योंकि उसके कार्यरूप सुख-दुःखादिकों की विचित्रता देखी जाती है जैसे अनेक शालि आदि के अंकुरे अनेक शालि आदि बीजों से होते हैं ।

नैयायिक—“तनुकरण भुवनादिक एक स्वभाव वाले बुद्धिमान ईश्वर के द्वारा किये जाते हैं क्योंकि वे कार्य हैं रचना सन्निवेश विशेष रूप हैं इत्यादि ।”

जैन—एक स्वभाव रूप ईश्वर से अनेक कार्यसृष्टि मानना असंभव है तथा यदि ईश्वर की इच्छा से सृष्टि मानों तो वह इच्छा नित्य एक स्वभाव वाली है या अनित्य अनेक स्वभाव वाली ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो नित्य एकरूप इच्छा से संसार रूप विचित्र कार्यों की उत्पत्ति कैसे होगी ! यदि दूसरा पक्ष लेवो तब तो वह क्रम से होती है या युगपत् ? यदि युगपत् इच्छा मानों तो एक साथ अनेक कार्य उत्पन्न होने से अव्यवस्था हो जावेगी । यदि क्रम से मानों तो कहीं-कहीं एक साथ कुछ कार्य देखे जाते हैं वे दुर्घट हो जावेंगे । तथा उस नित्य महेश्वर से अनित्य इच्छा का सम्बन्ध भी कैसे होगा ? प्रश्न यह उठता है कि नित्य एक स्वभाव वाले ईश्वर से उस सिसृक्षा का कोई उपकार भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न कहो तो ईश्वर भी नित्य नहीं रह सकेगा । यदि भिन्न कहो तो सम्बन्ध असम्भव होने पर उपकार भी असम्भव है । यदि उपकारांतर की कल्पना करो तो

१ प्राक्तनद्रव्यसंसारकारणको भावसंसारः द्रव्यसंसारोपि प्राक्तनभावसंसारकारणकः । दि० प्र० । २ एतत् ।
व्या० प्र० ।

अनवस्था आ जाती है, यदि समवाय से महेश्वर की इच्छा है ऐसा कहोगे तो भी एक स्वभाव ईश्वर में समवायित्व, निमित्तकारणत्व आदि नाना स्वभाव विरुद्ध हैं।

तथा यदि महेश्वर की इच्छा को एक मानों तो एक साथ सभी कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग आ जाने से सभी कार्य नाना प्रकार के नहीं हो सकेंगे। अच्छा यह तो बताओ कि वह अनित्य इच्छा महेश्वर की इच्छा के बिना होती है या महेश्वर की इच्छापूर्वक? यदि प्रथम पक्ष मानें तो वे तनुआदि कार्य भी उस सिसृक्षा अपेक्षा को न करके स्वयं ही उत्पन्न होते हैं ऐसा मान लो क्या बाधा है? यदि बुद्धिपूर्वक कहो तो वह ईश्वर की बुद्धि नित्य एक स्वभाव वाली है वह अनेक सिसृक्षा को उत्पन्न करने में हेतु है तो क्रम से या युगपत्?

नैयायिक पूर्व-पूर्व की सिसृक्षा के निमित्त से उत्तरोत्तर सिसृक्षा उत्पन्न होती है वह नित्य एक स्वभाव वाले ईश्वर से विरुद्ध नहीं है क्योंकि कार्यकारण प्रवाह अनादि हैं अतः क्रम से सृष्टि कार्य होते रहते हैं।

जैन—ऐसा मानने पर तो एक स्वभाव वाले महेश्वर का ज्ञान भी एक है उससे पूर्व-पूर्व सिसृक्षा की अपेक्षा नहीं बनेगी, अन्यथा महेश्वर के ज्ञान को अनित्य मानों, पुनरपि भिन्नाभिन्न आदि प्रश्नों से अनेक दोष आ जावेंगे। अतएव ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण मानने पर आकाश, दिशा, काल आदि भी निमित्त कारण बन जावेंगे।

यदि कहो कि ईश्वर का ज्ञान अनित्य एवं असर्वगत है इसलिये देशकाल से व्यतिरेक सिद्ध होने से वह 'तनुकरण भुवनादि में' निमित्तकारण है, तब तो आपका ईश्वर कदाचित् क्वचित् ज्ञान से रहित होने से असर्वज्ञ हो जावेगा। यदि सर्वदा सर्वज्ञ मानों तो ज्ञान अनित्य है यह कथन असम्भव है।

नैयायिक—महेश्वर एवं उसकी इच्छा यद्यपि एक स्वभाव वाली हैं तथापि कर्मों की विचित्रता से रागादि दोषों से उत्पन्न होने वाला संसार भी विचित्र प्रकार का है।

जैन—तब तो कर्मों की विचित्रता से ही यह रागादि भाव रूप विचित्र संसार सिद्ध हो गया। अतः "कामादि प्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः" यह जैन दर्शन ही प्रमाणभूत सिद्ध हो गया। क्योंकि आपके ईश्वर के साथ सृष्टि का कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं घटता है।

यह आत्मा ही धर्म-अधर्म के द्वारा शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, इच्छादि कार्यों को उत्पन्न करने वाला सिद्ध है क्योंकि बुद्धिमान् ईश्वर कारण के बिना भी अनुक्रम से प्रवृत्ति, सन्निवेशविशेष, कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, अर्थक्रियाकारित्व आदि हेतु बन जाते हैं अतः इन हेतुओं से ही पृथ्वी आदि सृष्टि बुद्धिमत् कारणपूर्वक नहीं है क्योंकि आपने ईश्वर को शरीररहित माना है एवं

अशरीरी के बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न असम्भव हैं। हमारे यहाँ विग्रहगति में पूर्वशरीर के त्याग के अनन्तर एवं उत्तर शरीर को ग्रहण करने के पूर्व कर्मण और तंजस शरीर का सद्भाव माना गया है अतएव शरीर सहित आत्मा के ही बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न सम्भव हैं। अतः “जगत् अकृत्रिम है क्योंकि दृष्टकर्तृक से विलक्षण है आकाशादि के समान” इस अनुमान से यह संसार ईश्वरकृत नहीं है यह बात सिद्ध हो गई।

शंका—यदि कर्मबंध के अनुसार ही संसार है तो किसी को भी मुक्ति नहीं हो सकेगी, कारण कर्मबंध के निमित्त तो सदैव विद्यमान हैं।

समाधान—ऐसा नहीं है। जीव के भव्य और अभव्य के भेद से दो भेद सिद्ध हैं। मीमांसक जीव को सर्वथा अशुद्ध ही मानते हैं एवं सांख्य जीव को सर्वदा शुद्ध ही मानते हैं किन्तु हम स्याद्वादियों के यहाँ अशुद्ध संसारी जीव सम्यग्दर्शन आदि विशुद्धि के कारणों को प्राप्त करके कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त करते हैं यह बात मानी गई है, कारण रागादि भाव जीवों के स्वभाव-भाव नहीं हैं, कर्मोपाधिक हैं। शुद्धिमान्-भव्य जीवों में किन्हीं-किन्हीं की मुक्ति अपनी काललब्धि के अनुसार ही होती है। ये जीव की शुद्धि, अशुद्धि—भव्य, अभव्य रूप दो शक्तियाँ हैं। मूंगादि के पकने योग्य और न पकने योग्य कोरडू मूंग के समान है। अशुद्धि तो अनादि है किन्तु शुद्धि की व्यक्ति सादि है अतः सदाशिव की मान्यता खण्डित हो जाती है। एवं जीव का यह भव्य और अभव्य स्वभाव तर्क के अगोचर है “स्वभावोऽतर्क गोचरः” प्रत्यक्ष से प्रतीत पदार्थ में यह ऐसा क्यों है? इसका उत्तर स्वभाव ही दिया जाता है, किन्तु परोक्ष में ऐसा स्वभाव उत्तर शक्य नहीं है। ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि प्रमाण सिद्ध परमाणु से जीव के भव्य और अभव्य स्वभाव प्रसिद्ध हैं। अतः भव्य जीवों में भी कोई-कोई जीव काललब्धि आदि से मिथ्यात्व की घातक सप्त प्रकृतियों का अभाव करके सम्यग्दृष्टि बनकर क्रमशः त्याग तपश्चर्या से कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु अभव्य जीवों के सम्यग्दर्शन आदि की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है ऐसा ही स्वभाव है।



ननु चोपेयतत्त्वस्य सर्वज्ञत्वादेरुपायतत्त्वस्य¹ ज्ञापककारकविकल्पस्य हेतुवाददेवादेः² प्रमाणनयैरेव कात्स्न्यैकदेशतोधिगमः कर्तव्यो नान्यथा³ तदधिगमोपायान्तराणामत्रैवान्तर्भावात्⁴, 'प्रमाणनयैरधिगम' इति वचनात् । तत्र⁵ प्रमाणमेव तावद्वक्तव्यं, 'तत्स्वरूपादिविप्रतिपत्तिसद्भावात् तन्निराकरणमन्तरेण तदध्यवसायानुपपत्तेः । इति भगवता पृष्टा इवाचार्याः प्राहुः,—

तत्त्वज्ञानं⁷ प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।

क्रमभावि च यज्ज्ञानं⁸ स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥

उत्थानिका—सर्वज्ञत्व, मोक्षमार्गनेतृत्व और कर्मभूद्भूतत्व ये उपेयतत्त्व हैं । ज्ञापक, कारक के भेद से हेतुवाद और देववाद आदि उपायतत्त्व हैं । प्रमाण और नयों के द्वारा ही इनका कृत्स्नरूप से और एक देश से ज्ञान करना चाहिये अन्यथा नहीं एवं इनके जानने के जो अन्य उपाय—सत्संख्याक्षेत्रादि बतलाये गये हैं उन सबका इन प्रमाण नयों में ही अन्तर्भाव हो जाता है । "प्रमाणनयैरधिगमः" ऐसा सूत्रकार का वचन है तब तो उसमें सर्वप्रथम प्रमाण का ही वर्णन करना चाहिये क्योंकि उस प्रमाण के स्वरूप, विषय और फलादि में विसंवाद पाया जाता है, उस विसंवाद के दूर किये बिना उसका ज्ञान नहीं हो सकता है । इस प्रकार से मानों भगवान् के द्वारा प्रश्न करने पर ही श्री समंतभद्र आचार्यवर्य कहते हैं—

भगवन् ! तव शासन में तत्त्वज्ञान प्रमाण कहा जाता ।

उसमें युगपत् सर्वप्रकाशी, केवलज्ञान कहा जाता ॥

क्रमभावी हैं मतिज्ञानादिक, ज्ञान प्रमाणीभूत सही ।

स्याद्वाद से नय से संस्कृत, जो क्रमभावी ज्ञान वही ॥१०१॥

कारिकार्थ—हे भगवान् ! आपके सिद्धान्तानुसार तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है उसमें युगपत् सर्वपदार्थों का अवभासन करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है एवं क्रमभावी जो ज्ञान हैं वे स्याद्वादनय से संस्कृत मतिश्रुत ज्ञानादि हैं ॥१०१॥

1 सर्वज्ञत्वादेरुपायसाधनस्य तत्त्वस्य च ज्ञापककारक । इति० पा० । दि० प्र० । 2 अनुमानाममवादः ज्ञापकविकल्पः देवपुरुषादिः कारकविकल्पः तस्य साधनरूपस्य । आदिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते तेन हेतुवादादेः देवादेरिति संबन्धो-
त्रादिशब्दाभ्यां क्रमेणहेतुवादापौरुषे ग्राह्ये । दि० प्र० । 3 निक्षेपरूपाणाम् । व्या० प्र० । 4 प्रमाणनयेषु । दि० प्र० ।
5 प्रमाणप्रमानयानां मध्ये प्रथमतः प्रमाणमेव कथनीयं कस्मात् प्रमाणलक्षणप्रमाणसंख्याप्रमाणविषयविवादवदनात् ।
प्रमाणलक्षणादिविवादनिराकरणं विना प्रमाणनिश्चयो नोत्पद्यते । दि० प्र० । 6 प्रमाण । दि० प्र० । 7 सम्यक् ।
व्या० प्र० । 8 एतेन मत्यादिज्ञानं प्रमाणमित्युक्तम् । दि० प्र० ।

[तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणस्य निर्दोषत्वमस्ति ।]

प्रमाणलक्षणसंख्याविषयविप्रतिपत्तिरनेन¹ व्यवच्छिद्यते² । तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति वचनादज्ञानस्य³ निराकारदर्शनस्य सन्निकर्षादिश्चाप्रमाणत्वमुक्तं, तस्य⁴ ⁵स्वार्थाकारप्र-
मिति⁶ प्रति साधकतमत्वानुपपत्तेः, ज्ञानस्यैव ⁷स्वार्थाकारव्यवसायात्मनस्तत्र⁸ साधकतम-
वात् । नहि स्वार्थाकारव्यवसायशून्यं निर्विशेषवस्तुमात्रग्रहणं⁹ दर्शनमिन्द्रियादिसन्निकर्षमात्रं¹⁰
श्रोत्रादिवृत्तिमात्रं वा यथोक्तपरिच्छितिं प्रति साधकतमं, तद्भावाभावयोस्तस्यास्तद्वत्तापा-
यात् । यद्भावे¹¹ हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र¹² साधकतमं युक्तं, भावाभाव-

['तत्त्वज्ञान प्रमाण है' यह प्रमाण का लक्षण निर्दोष है ।]

प्रमाण का लक्षण, संख्या और विषय इनका विसंवाद इसी से दूर कर दिया जाता है । “तत्त्वज्ञानं प्रमाण” इस वचन से अज्ञान, निराकारदर्शन एवं सन्निकर्षादि को अप्रमाण कहा गया है क्योंकि ये ज्ञान स्वार्थाकार प्रमिति के प्रति साधकतम नहीं हैं । स्वार्थाकार व्यवसायात्मक ज्ञान ही उस स्वार्थाकारप्रमिति के प्रति साधकतम है । स्वार्थाकार व्यवसाय से शून्य निर्विशेष वस्तुमात्र को ग्रहण करने वाला निर्विकल्पदर्शन इन्द्रियादि सन्निकर्षमात्र अथवा सांख्योक्त श्रोत्रादि वृत्तिमात्र प्रमाण स्वार्थाकार को जानने के प्रति साधकतम नहीं हो सकते हैं क्योंकि “उनके होने पर उस ज्ञान का होना एवं नहीं होने पर नहीं होना” ऐसा नहीं देखा जाता है ।

जिसके होने पर ज्ञान रूप क्रिया का होना हो एवं जिनके नहीं होने पर नहीं होना हो वही वहां पर साधकतम माना गया है । “भावाभावयोर्द्वयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम्” ऐसा वचन है और यह साधकतम का लक्षण निर्विकल्पदर्शनादिकों में सम्भव नहीं है क्योंकि उनके सद्भाव में भी स्वपरज्ञानक्रिया का कहीं पर (दूरस्थ पदार्थ में) अभाव देखा जाता है । संशयादि अन्यथा अनुपपद्यमान हैं विशेष्य विषयक सन्निकर्ष आदि के अभाव में भी विशेषणज्ञान से विशेष्यज्ञान का सद्भाव स्वीकार किया गया है ।

शंका - इस प्रकार से तो ज्ञान में भी साधकतमत्व नहीं हो सकता है क्योंकि संशयादि ज्ञान के होने पर भी यथार्थज्ञान का अभाव है एवं उनके न होने पर भी ज्ञान का सद्भाव है ।

1 श्लोकेन । व्याख्यानेन । दि० प्र० । 2 कुत इत्याह । निराक्रियते । दि० प्र० । 3 अज्ञानस्येति विशेषणं निराकारदर्शनस्य सन्निकर्षादिरिति विशेष्यद्वयेपि संबन्धनीयम् । व्या० प्र० । 4 अज्ञानस्य । व्या० प्र० । 5 मूर्त्तकर्म संबन्धात् मूर्त्त एव । व्या० प्र० । 6 निश्चितम् । दि० प्र० । 7 परस्वरूप । दि० प्र० । 8 स्वार्थाकारप्रमिती । दि० प्र० । 9 भागरहितम् । व्या० प्र० । 10 अर्थ । व्या० प्र० । 11 यस्य प्रमाणस्यास्तित्वे । दि० प्र० । 12 प्रमितौ । दि० प्र० ।

योर्द्वयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात्¹ । न² चैतद्दर्शनादिषु संभवति, तद्भावेऽपि स्वार्थ-
प्रमितेः क्वचिदभावात्, संशयादेरन्यथानुपपद्यमानत्वात्³, तदभावेऽपि च विशेषणज्ञानाद्विशेष्य-
प्रमितेः⁴ सद्भावाद्योगमात् । ननु⁵ ज्ञानस्याप्येवं साधकतमत्व⁶ मा भूत् संशयादिज्ञाने सत्यपि
यथार्थप्रमितेरभावात् तदभावेऽपि च भावादिति चेन्न, तत्त्वग्रहणात् । तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति
हि निगद्यमाने मिथ्याज्ञानं संशयादि मत्याद्याभासं व्यवच्छिद्यते । ततोऽस्य⁷ साधकतमत्वं
यथोक्तमुपपद्यते एव । ⁸नन्वेवमपि⁹ तत्त्वज्ञानान्तरस्य¹⁰ प्रमेयस्य प्रमातुश्चात्मनः स्वार्थ-

जैन - ऐसा नहीं कहना क्योंकि हमने 'तत्त्व' पद को ग्रहण किया है । 'तत्त्व ज्ञानं प्रमाणं'
इस प्रकार से कहने पर संशयादि रूप मिथ्याज्ञान एवं मत्यादि आभास ज्ञानों का निराकरण हो
जाता है इसलिये इस ज्ञान का यथोक्त साधकतम लक्षण बन ही जाता है ।

शंका - इस प्रकार से तो तत्त्वज्ञानान्तर-तत्त्वज्ञान से भिन्न प्रमेय और प्रमाता आत्मा भी
स्वपर प्रमिति के प्रति साधकतम हैं उनमें भी प्रमाणता क्यों नहीं हो जावेगी ?

जैन - ऐसा नहीं कहना क्योंकि वह प्रमेय तो कर्मरूप है एवं प्रमाता, आत्मा कर्ता रूप है
अतः वे दोनों साधकतम नहीं हो सकते हैं । यदि उन्हें साधकतम मनोगे तब तो वे करणरूप हो
जावेंगे एवं करणरूप से तत्त्व ज्ञानात्मक इन दोनों को भी प्रमाण मानने में क्या विरोध है ?

इस प्रकार से सम्पूर्ण प्रमाण विशेषों में व्यापि सम्पूर्ण रूप से अप्रमाण व्यक्तियों से व्यावृत्त
एवं प्रतीति से सिद्ध तत्त्वज्ञान ही प्रमाण का लक्षण है क्योंकि वह सुनिश्चित असंभवदबाधक
प्रमाण वाला है और जिसमें बाधा संभव है, जिसमें बाधा के नहीं रहने का संशय है, अथवा जिसमें
कदाचित् क्वचित् किसी को बाधा के नहीं रहने का निश्चय है वह प्रमाण नहीं हो सकता है अर्थात्
पहले प्रमाण के लक्षण में तीन विशेषणों के द्वारा तीनों दोषों का परिहार किया गया है । देखिये !

1 आगमात् । दि० प्र० । 2 आह परः दर्शनसन्निकर्षेन्द्रियप्रवृत्त्यादिषु एतत्साधकतमत्वं संभवति स्या० एवं न ।
कस्माद्दर्शनादिसद्भावोऽपि स्वार्थप्रमितिः क्वचिद्वस्तुनि न संभवति यतोऽन्यथा स्वार्थप्रमितेः संभवे संशयादिकं नोत्पद्यते
यतः = पुनः कस्माद्दर्शनादीनामभावेऽपि सरसि पुष्करादिदर्शनलक्षणविशेषणज्ञानाज्जलमग्नहस्तिविशेष्यनिश्चयस्य सद्-
भावग्रहणात् । दि० प्र० । 3 दर्शनादेः स्वार्थप्रमितिसद्भावो यदि । व्या० प्र० । 4 दण्डयोगादृण्डीनि । व्या० प्र० ।
5 आह परः हे स्याद्वादिन् ज्ञानमपि साधकतमं भवतु कस्मात् संशयादिज्ञाने सत्यपि वस्तुनि सत्यभूतनिश्चयस्याघटनात्
संशयाद्यभावेऽपि च निश्चयस्य घटनादिति चेत् । = स्याद्वाद्याह एवं न कस्माद्द्वस्तुनः स्वरूपग्रहणात्तत्त्वज्ञानं प्रमाणं
भवतीति कथ्यमाने सति संशयविपर्ययानुपपद्यमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं यत् तन्मिथ्याज्ञानाद्याभासं स्यात् । न तु
मिथ्याज्ञानमिति निश्चीयते यत एवं ततो तस्य तत्त्वज्ञानस्य यथोक्तं करणत्वं जायते एव । दि० प्र० । 6 दर्शनादि-
प्रकारेण । दि० प्र० । ज्ञान सापेक्षमप्येवम् । इति पा० । व्या० प्र० । 7 व्यवच्छेदात् । तत्त्वज्ञानस्य । व्या० प्र० ।
8 साधकतमत्वप्रकारेण । व्या० प्र० । 9 पर आह हे स्याद्वादिन् यद्येवं तर्हि देवदत्तापेक्षया यज्ञदत्तज्ञानलक्षणं
तत्त्वज्ञानान्तरं तस्य प्रमेयभूतस्याथवा ज्ञानस्यैव स्वज्ञानापेक्षया यत् ज्ञेयांशं तदेव ज्ञानान्तरं तस्य प्रमेयभूतस्य
प्रमातृलक्षणस्यात्मनश्च स्वस्वार्थस्य च निश्चयं प्रतिकरणत्वात् प्रमेयत्वं कुतो न भवेत् अपितु कर्तृभूत आत्मा कर्मतापन्नं
तत्त्वज्ञानान्तरञ्चोभयप्रमाणं भवतु । दि० प्र० । तत्त्वज्ञानस्य प्रमाणत्वे सत्यपि । दि० प्र० । 10 स्वसन्तानगतस्य
च विषयभूतस्य । दि० प्र० ।

प्रमितिं प्रति साधकतमत्वात् प्रमाणत्वं कुतो न भवेदिति चेन्न, तस्य कर्मत्वेन^१ कर्तृत्वेन च साधकतमत्वासिद्धेस्तत्सिद्धौ करणत्वप्रसङ्गात् । करणस्य तत्त्वज्ञानात्मनः प्रमाणत्वे को विरोधः ? तदेवं^२ सकलप्रमाणव्यक्तित्वापि साकल्येनाप्रमाणव्यक्तिभ्यो व्यावृत्तं प्रतीतिसिद्ध तत्त्वज्ञानं प्रमाणलक्षणं, तस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्; संभवद्बाधकस्य, संशयितासंभवद्बाधकस्य^३, ^४कदाचित्क्वचित्कस्य^५चिन्निश्चितासंभवद्बाधकस्य^६ च प्रमाणत्वायोगात्^७, प्रवृत्तिसामर्थ्यस्यार्थवत्क्रियाप्राप्तेरदुष्टकारणजन्यत्वस्य^८ लोकसंमतत्वस्य च प्रमाणलक्षणस्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके प्रपञ्चतोऽपास्तत्वात् ।

‘सम्पूर्ण प्रमाण व्यक्तियों में व्याप्त है’ इस विशेषण से अव्याप्ति दोष का परिहार किया गया है सम्पूर्णया अप्रमाण व्यक्तियों से व्यावृत्त इस विशेषण से अतिव्याप्ति का निराकरण होता है एवं प्रतीति सिद्ध विशेषण से असंभव दोष नहीं आता है । तथैव ‘सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्’ हेतु निर्दोष है यदि असंभवद्बाधक पद न देते तो बाधा सहित भी प्रमाण हो जाते तथा निश्चित पद न देते तो संशयितासंभवद्बाधक भी ठीक हो जाता तथा ‘स’ शब्द नहीं देते तो “कदाचित् क्वचित् कस्यचित् निश्चितासंभवद्बाधकत्व” भी ठीक हो जाता है किन्तु ऐसा नहीं है अतः ‘सु-सुष्ठु सकल देशकाल पुरुषापेक्षया” इस प्रकार से अर्थसिद्ध होता है । अभिप्राय यह हुआ कि सम्यक् प्रकार से सकल देशकाल पुरुष की अपेक्षा से निश्चित रूप से असंभव है बाधा का होना जिसमें उसे “सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्” कहते हैं ।

नैयायिक ने प्रवृत्ति की सामर्थ्य को प्रमाण का लक्षण कहा है, सौगत ने अर्थवत्क्रिया की प्राप्ति को, भाट्ट ने अदुष्टकारणजन्य को एवं प्राभाकर ने लोक संमतत्व को प्रमाण का लक्षण कहा है इन सबका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में विस्तार से खण्डन किया गया है ।

१ स्या० वदति यदुवर्तं त्वया तन्न कस्मात्तत्त्वज्ञानं ज्ञेयलक्षणकर्मतापन्नं तथा प्रमातृलक्षणकर्तृतापन्नञ्च यदा भवति तदा तस्य साधकतमत्वं न सिद्धयति यतः । तस्य साधकतमत्वस्य सिद्धौ सत्यां तदा कर्मणः कर्तृश्च करणत्वमायाति यतः तत्त्वज्ञानलक्षणं कारणं प्रमाणं भवत्वत्र कोऽपि न विरोधः । दि० प्र० । २ उक्तप्रकारेण । व्या० प्र० । यत् एवं तत्तस्मात्प्रत्यक्षानुमानादि सर्वप्रमाणविशेषव्यापकं सामस्त्येनाप्रमाणविशेषेभ्योव्यावृत्तं सत् । तत्त्वज्ञानं प्रमाण भवति कस्मात्तस्य तत्त्वज्ञानस्य बाधकप्रमाणानामसंभवत्वात् पुनरुपपन्नमानबाधकप्रमाणस्य संदिग्धबाधकप्रमाणसंभवस्य च तत्त्वज्ञानस्य कदाचित्काले क्वचित्प्रदेशे कस्यचित्पुंसो निर्णीतबाधकत्वासंभवस्याघटनात् । दि० प्र० । ३ मेरुमूर्ध्नि मोदकराशयः सतीति । व्या० प्र० । ४ बाधकस्य च कदाचित् । इति पा० । व्या० प्र० । ५ ज्ञानस्य । व्या० प्र० । ६ द्वीपान्तरं गत्वा लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धं स्मृत्वागतस्य । व्या० प्र० । ७ ननु तत्त्वज्ञानं प्रमाणलक्षणं कुतः प्रवृत्तिसामर्थ्यादिरेव तल्लक्षणत्वादित्यत आह । व्या० प्र० । ८ सामर्थ्यतस्यार्थं क्रिया । इति पा० । तथा अर्थक्रियाप्राप्तिलक्षणं योगाभ्युपगतं प्रवृत्तिसामर्थ्यं लोकासंमतलक्षणं मीमांसाभ्युपगतमदुष्टकारणजन्यञ्च प्रमाणलक्षणं भवतीति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे महता प्रपञ्चेन निराकृतं यतः । दि० प्र० ।

[यदि तत्त्वज्ञानं सर्वथा प्रमाणं भवेत्तर्हि अनेकांते विरोधो भविष्यतीति कथने सति जैनाचार्याः समादधते ।]

ननु च तत्त्वज्ञानस्य सर्वथा¹ प्रमाणत्वसिद्धेरनेकान्तविरोध इति न मन्तव्यं, बुद्धेरनेकान्तात्², येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति निरूपणात् । तेन³ प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः⁴ संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या⁵, प्रसिद्धानुपहृतेन्द्रियदृष्टेरपि⁶ चन्द्रार्कादिषु⁷ देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्⁸, तथोपहृताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेपि⁹ चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्¹⁰ । कथमेवं¹¹ क्वचित्प्रमाणव्यपदेश एव क्वचिदप्रमाणव्यप-

[तत्त्वज्ञान को सर्वथा प्रमाण मानने पर अनेकांत में विरोध आता है ऐसा कहने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ।]

शंका—तत्त्वज्ञान को यदि आप सर्वथा प्रमाण मानेंगे तब तो अनेकांत का विरोध हो जावेगा ।

समाधान—ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि बुद्धि से अनेकांत सिद्ध है । अर्थात् बुद्धि प्रमाण ही है ऐसा नियम नहीं है, असद्बुद्धि भी तो बुद्धि ही है । जिस आकार से तत्त्व का परिच्छेद-ज्ञान होता है उस अपेक्षा से ही वह बुद्धि प्रमाण है ऐसा निरूपण किया गया है इसी कथन से “प्रमाण और प्रमाणाभास भी प्रायः प्रमाणता और अप्रमाणता की संकीर्ण स्थिति मिश्रणावस्थारूप हैं ऐसा समझना चाहिये । अनुपहृत—निर्दोष इन्द्रियदृष्टि जिसकी प्रसिद्ध है उसे भी चन्द्र-सूर्यादिकों में देश प्रत्यासत्ति-भूमि का स्पर्श आदि से अभूताकार अवभासित होता है । तथा सद्योप चक्षु वाले भी संख्यादि के विसंवाद होने पर भी चन्द्रादि स्वभाव तत्त्व को ग्रहण कर रहे हैं ।

भावार्थ—जैसे द्विचन्द्रादि के ज्ञान में संख्या के प्रकार वाला जो ज्ञानांश है वह अप्रमाण है एवं चन्द्र का जो ज्ञान है वह प्रमाण है । एक ही अप्रमाणज्ञान प्रमाण और अप्रमाण दोनों रूप से एक जगह रह गया अतः तिमिर रोगी का द्विचन्द्रादिज्ञान सर्वथा अप्रमाण नहीं है केवलद्वित्व संख्या में

1 आह परः हे स्याद्वादिन् ! तत्त्वज्ञानं सर्वथा प्रमाणं भवति चेत्तदा भवानेकान्तमतस्य विरोधः स्यात् । स्या० इति न ज्ञातव्यं बुद्धेर्व्यभिचारात् । कथं बुद्धेर्व्यभिचार इत्युक्त आह येन स्वरूपेण तत्त्वपरिज्ञानं तस्यापेक्षया बुद्धेः प्रामाण्यमन्यथाप्रामाण्यमिति कथनात् । तस्मात्कारणात्प्रत्यक्षप्रत्यक्षाभासयोरपि प्रामाण्याप्रामाण्यस्थितिः निविडा-ज्ञातव्या । कस्मान्मिश्राज्ञातव्या प्रसिद्धनीरोगनिरावरणनेत्रस्य पुंसोपि चन्द्रसूर्यादिषु दूरतरवतंमनेष्वपि क्षेत्रासन्नस्था-श्चर्यकार्यकारप्रतिभासमानात् । = पुनः कस्मात्प्रामाण्याप्रामाण्यस्थितिः संकीर्णज्ञित्युच्यते । स रोगसावरणनेत्रस्य पुंसोप्यासन्नस्थकराङ्गुल्यादिसंख्याकरणादौ विवादे सत्यपि चन्द्रादिस्वरूपनिश्चयोपलम्भात् । दि० प्र० । 2 ज्ञात-स्य । व्या० प्र० । 3 कारणेन । व्या० प्र० । 4 बाहुल्येन । दि० प्र० । 5 एकत्र प्रामाण्याप्रामाण्यमिति । व्या० प्र० । 6 पुरुषस्य । व्या० प्र० । 7 भूसंबन्धत्वं देशप्रत्यासत्ति । व्या० प्र० । 8 कश्चित्कदाचिदादित्यं भूसंबन्ध-युदयसमये पश्यतीत्येकस्यैव ज्ञानस्यादित्यग्राहकापेक्षया प्रमाणत्वं भूसंबन्धग्राहकत्वेनाकारेणाप्रमाणत्वमेव । दि० प्र० । 9 स्वरूपनिश्चयदर्शनात् । दि० प्र० । 10 स्वभाव एव तत्त्वम् । दि० प्र० । 11 प्रमाणतत्त्वव्यवस्थायाः संकीर्णत्व-प्रकारेण । एकचन्द्रज्ञाने । दि० प्र० ।

देश^१ एवेति नियता लोकव्यवस्थितिरिति ? उच्यते, तत्प्रकर्षपेक्षया व्यपदेशव्यवस्था^२ गन्ध-द्रव्यादिवत् । यथा च प्रत्यक्षस्य संवादप्रकर्षत्प्रमाणव्यपदेशव्यवस्था प्रत्यक्षाभासस्य च विसंवादप्रकर्षत्प्रमाणत्वव्यपदेशव्यवस्थितिः गन्धादिगुणप्रकर्षात्कस्तूरिकादेर्गन्धद्रव्यादिव्यपदेशव्यवस्था तद्व्यवहारिभिरभिधीयते^३ ; तथानुमानादेरपि कथंचिन्मिथ्याप्रतिभासेपि^४ तत्त्वप्रतिपत्त्यै^५ प्रामाण्यमन्यथा^६ चाप्रामाण्यमित्यनेकान्तसिद्धिः । एकान्तकल्पनायां^७ तु नान्तर्बहिस्तत्त्वसंवेदनं व्यवतिष्ठेत तथागतमते स्वयमद्वयादेर्द्वयादिप्रतिभासनाद्रूपादिस्वलक्षणानां^८ च^९ तथै-

विसंवादी है किन्तु चंद्रांश में विसवादी नहीं है तथैव प्रमाण भी प्रमाण, अप्रमाण दोनों रूप से संकीर्णता सहित है जैसे—निर्दोष नेत्र वाले व्यक्ति का चन्द्र सूर्योदय ज्ञान सर्वथा अविसंवादी इसलिये नहीं है कि वह उन्हें धरती से लगा हुआ समझ रहा है इस प्रकार से यह प्रमाण एवं अप्रमाण की संकीर्ण स्थिति है ।

शंका—इस प्रकार से तो कहीं पर प्रमाण व्यपदेश ही है एवं कहीं पर अप्रमाण व्यपदेश ही है यह लोक व्यवस्था निश्चित कैसे हो सकेगी ?

जैन—उन संवाद एवं विसंवाद की प्रकर्षता की अपेक्षा से ही वह व्यपदेश व्यवस्था होती है गंध द्रव्यादि के समान । संवाद की प्रकर्षता से प्रत्यक्ष में 'प्रमाण' इस व्यपदेश की व्यवस्था है, एवं विसंवाद की प्रकर्षता से प्रत्यक्षाभास में 'अप्रमाण' इस व्यपदेश की व्यवस्था जैसे कि गंध गुण की प्रकर्षता से कस्तूरिका आदि द्रव्यों में गंधद्रव्यादि की व्यपदेश व्यवस्था उन व्यवहारी जनों के द्वारा कही जाती है । अर्थात् कस्तूरिका, केशर, कर्पूर आदि में रूप, रस, स्पर्श भी हैं फिर भी गंध की प्रकर्षता से वे गंधद्रव्य कहे जाते हैं तथैव विसंवाद अविसंवाद की प्रकर्षता से अप्रमाण, प्रमाण की व्यवस्था होती है ।

उसी प्रकार से अनुमानादि भी कथंचित् मिथ्या प्रतिभास के होने पर भी तत्त्व की प्रतिपत्ति कराने से ही प्रामाण्य है अन्यथा—अतत्त्व की प्रतिपत्ति से अप्रामाण्य है इस प्रकार से अनेकांत की सिद्धि हो जाती है, किन्तु एकांत की कल्पना करने पर तो आप बौद्धों के यहां अंतस्तत्त्व एवं बाह्यतत्त्व के ज्ञान की व्यवस्था नहीं बन सकती है । आपके यहां अद्वयादि-अंतस्तत्त्व-ज्ञानमात्र तथा आदि शब्द से निरंश परमाणु रूप वस्तु स्वयं द्रव्यादि-द्वैत आदि रूप से ही प्रतिभासित होते हैं एवं रूपादि स्वलक्षण बहिस्तत्त्व भी जैसे आप सौगतों ने वर्णित किया है वैसे ही वे नहीं दिखते हैं । अर्थात् बौद्ध

1 द्विचन्द्रज्ञाने । व्या० प्र० । 2 अभिधीयते । दि० प्र० । 3 गन्धद्रव्यव्यापारिभिः । दि० प्र० । 4 वस्तु । व्या० प्र० । 5 यथार्थपरिज्ञाने । दि० प्र० । 6 अप्रतिपत्त्या । व्या० प्र० । तत्त्वप्रतिपत्त्यभावे । दि० प्र० । 7 प्रमाणं प्रमाणमेवाप्रमाणमप्रमाणमेवेत्येकान्तकल्पनायाम् । दि० प्र० । 8 शक्तमेवभाष्यं समर्थयन्ते भाष्यकाराः स्वयमिति । अन्तस्तत्त्वं न व्यवतिष्ठेति प्राक्तनभाष्येण सह सम्बन्धः । दि० प्र० । 9 बहिस्तत्त्वं न व्यवतिष्ठेत् । क्षणिकरूप । दि० प्र० ।

वादशनाद्यथा¹ व्यावर्ण्यन्ते । स्वसंवेदनस्य² संविन्मात्रे प्रमाणत्वेपि³ तदद्वयक्षणिकपरमाणुरूपे⁴ विपर्ययप्रतिभासादप्रमाणत्वकल्पनायां⁵ कथमेकान्तहानिर्न स्यात् यत्प्रमाणं तत् प्रमाणमेवेति ?⁶ रूपादिदर्शनस्य⁷ च रूपादिमात्रे प्रमाणत्वेपि स्थूलस्थिरसाधारणाकारप्रतिभासस्य⁸ भ्रान्त-
त्वादप्रमाणतायां कथमेकान्तसिद्धिः ? तस्माद्दृष्टस्य⁹ भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुण इति तद-

कहता है कि एकांत कल्पना में भी स्वसंवेदन संविन्मात्र प्रतिभासित होने से प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है अतएव अंतःसंवेदन कैसे नहीं सिद्ध होगा ? ऐसा बौद्ध के कहने पर आचार्य समाधान करते हैं ।

बौद्ध—स्वसंवेदन को संविन्मात्र से प्रमाण स्वीकार करने पर भी उस अद्वैत, क्षणिक परमाणुरूप में उससे विपरीत द्वैत, अक्षणिक आदिरूप ही प्रतिभासित होता है । उस विपरीत रूप में अप्रमाणत्व को कल्पना करने पर तो “जो प्रमाण है वह प्रमाण ही है” इस प्रकार से एकांत की हानि क्यों नहीं हो जावेगी ?

जैन—रूपादि के प्रत्यक्ष में रूपादि मात्र को प्रमाण मानने पर भी स्थूलस्थिर साधारणाकार का प्रतिभास भ्रान्त रूप है उसे अप्रमाण रूप मानने पर एकान्त की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? इसलिये ‘दृष्ट स्वलक्षण पदार्थ का अखिलगुण दृष्ट ही हैं । ऐसा मानने पर उस रूपादि स्वलक्षण की अविशेष उपलब्धि स्वीकार करने पर भी सदृश रूप अथवापर को उत्पत्ति को स्वीकार करने पर भी भ्रान्ति होने से स्वलक्षण का निश्चय नहीं होता है । इसीलिये “सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्” ऐसा अनुमान प्रवृत्त

1 स्वादाद्याह स्वयं सौगतैः सौगतमर्तुरन्तस्तत्त्व संवेदनबहिस्तत्त्वसंवेदनञ्च यथा प्रतिपाद्यते एकान्त कल्पनायां क्रिय-
माणायां सत्यां तथा न व्यवतिष्ठते । कस्मात्संवेदनस्यैकक्षणिकपरमाणुस्वरूपादेरनेकस्थिरस्थायिस्थूलदिरूपेण
प्रतिभासनादित्यन्तस्तत्त्वापेक्षया = पुनः कस्माद्दूरसादिस्वतन्त्रमानाञ्चद्वयक्षणिकपरमाणुरूपाणां तथैव स्थूलस्थिर-
साधारणाकाररूपेणावलोकनात् इति बहिस्तत्त्वापेक्षया । अन्तस्तत्त्वस्य । दि० प्र० । 2 भाष्यांशसमर्थनपरतया प्रोक्तं
स्वममद्वयादेद्वयादिप्रतिभासनादिति समन्तन्तरभाष्यांशं भावयन्ति स्वसंवेदनस्येति । दि० प्र० । 3 स्वसंवेदन । व्या०
प्र० । 4 अद्वैत । दि० प्र० । 5 तस्माद्दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलगुण इत्यनेनाद्वयक्षणिकपरमाणुरूपञ्च
प्रतीयत ग्वैस्युत्तरत्र परिहरन्तं सौगतं प्रति अन्यथा दूषणं दातुकामास्तावदद्वयादिकं न प्रतिभाति एव किन्तु विपर्यय-
मेव प्रतिभासत इत्याहुः विपर्ययप्रतिभासविति । दि० प्र० । 6 बहिस्तत्त्वं न व्यवतिष्ठेदिति भाष्यांशसमर्थन-
परतया प्रोक्तं रूपादिस्वलक्षणानाञ्च तथैवादर्शनादिति भाष्यांशं भावयन्ति रूपादीति । दि० प्र० । 7 बहिस्तत्त्व-
स्य । दि० प्र० । 8 अत्रापि पूर्वोक्तप्रकारेण निर्विकल्पके परमाणुक्षणिकासाधारणरूपं प्रतिभासत इति सौगतीय-
परिहारमुत्तरत्र निराकर्तुकामास्तावत्प्रतीयमानस्थूलाद्याकारे एव दूषणं प्रयच्छन्ति स्थूलस्थिरेति । दि० प्र० ।
9 स्या० योर्थादृष्टस्तस्य सर्वगुणो दृष्ट एव इति सौगतैरङ्गीक्रियते । चेत्तदा एकान्तसिद्धिः कथं न कथमपि = सौगत
आह भावविशेषदर्शनांगीकारे निश्चीयतेऽथवा न निश्चीयत इति भ्रान्तिवशात्साधनं प्रवर्तते = स्या० एवं सति
निर्विकल्पकदर्शनमर्थव्यवसायरहितं सिद्धम् = पुनराह सौगतो दर्शनमर्थव्यवसायरहितं भवत्वस्माकं का हानिरित्युक्ते
स्यावाद्याह दर्शनस्य सौगताभ्युपगतस्य व्यवसायवैकल्ये सति परोक्षत्वं घटते यथा पुरुषस्य क्वचिद्दानादिसहिते चित्ते
धर्मसंवेदनस्य परोक्षत्वं हिंसादिसहिते चित्ते अधर्मसंवेदनस्य परोक्षत्वमेवं सति निर्विकल्पकदर्शनं प्रत्यक्षमस्तीति प्रतिज्ञा
हीयते सौगतस्य । दि० प्र० । प्रत्यक्षस्य । व्या० प्र० ।

विशेषोपलम्भाभ्युपगमेपि^१ भ्रान्तेनिश्चीयते नेति साधनं संप्रवर्तते इति वचनात् तद्व्यवसाय-
वैकल्यं सिद्धमेव । तत्र च^२ तद्व्यवसायवैकल्ये^३ वा दानहिंसादिचित्ते क्वचिद्धर्माधर्मसंवेदन-
वत्^४ परोक्षत्वोपपत्तेस्तत्त्रिरूपलिङ्गबलभाविनामपि^६ विकल्पानामतत्त्वविषयत्वात्^७ कुत-
स्तत्त्वप्रतिपत्तिः^८ ?

'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतः^९ । मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोर्थक्रियां प्रति ॥१॥

यथा, तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानावभासयोः । अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्^{१०} ॥२॥'

होता है" इस वचन से तो हे बौद्ध ! आपके वचन से ही आपके यहाँ दूषण आ जाता है । पुनः रूपादि विशेष व्यवसायरहित ही सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि आपने प्रत्यक्ष को निर्विकल्प ही माना है ।

उस अनेकांत की सिद्धि में उसको व्यवसाय से रहित मानने पर तत्त्व की सिद्धि कैसे होगी ? अथवा दान, हिंसादि के चित्त रूप किसी में—ज्ञानक्षण में धर्म, अधर्म संवेदन के समान परोक्षपना हो जाता है । एवं त्रिरूपलिङ्ग के बल से होने वाले भी विकल्पज्ञान अतस्त्व—अवस्तु को विषय करते हैं पुनः तत्त्व का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? अर्थात् प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प होने से परोक्ष रूप ही हो गया तथा विकल्पज्ञान वस्तु को विषय नहीं करता है पुनः तत्त्व का बोध किससे होगा ?

बौद्ध (श्लोकार्थ) — जैसे मणि की प्रभा और दीपक की प्रभा में मणि की बुद्धि से दौड़ते हुये पुरुष के मिथ्याज्ञान समान होते हुए भी साक्षात् मणि और प्रदीप की प्राप्ति रूप—अर्थ क्रिया के प्रति भेद है ॥१॥ तथैव अनुमान और अनुमानाभास में अयथार्थ—असत्यपना समान होते हुए भी क्षणिक रूप ग्राहक—अर्थक्रिया के निमित्त से प्रमाणात्ता व्यवस्थित है ॥२॥

जैन—इस प्रकार से आपका मणि और दीपक की प्रभा का दृष्टान्त भी आपके पक्ष का घाती है । मणि और दीपक की प्रभा का प्रत्यक्ष भी संवादक रूप से प्रमाणत्व को प्राप्त होने से आपके मान्य दो प्रमाणों में अन्तर्भूत न होने से आपके प्रमाण की संख्या को विघटित ही कर देता है । अर्थात् मणि प्रभा का प्रत्यक्ष एक तीसरा ही प्रमाण सिद्ध हो जाता है जो आपके प्रत्यक्ष, अनुमान इन दो प्रमाण रूप संख्या को समाप्त कर तीसरा बन बैठता है । पुनः "प्रमाण दो ही हैं" ऐसा अवधारण—निश्चय कैसे घटेगा ?

१ इति । पाठा० । दि० प्र० । २ रूपादिविशेष । व्या० प्र० । ३ प्रत्यक्षस्य । व्या० प्र० । ४ किञ्चात्र दूषणान्तरमभ्यूह्यं तथाहि यत्रैव जनयेदेतां तत्रैवास्य प्रमाणतेति सौगतैरुक्तत्वान्निर्विकल्पकं नीलस्वलक्षणे प्रमाणं क्षणिकत्वादावप्रमाणमिति यत्प्रमाणं प्रमाणमेवेत्येकान्तत्यागः । दि० प्र० । ५ पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद्वावृत्तिरिति त्रिरूपबलजातानामन्या-पोद्दविषयानुमानानामपि अतस्त्वविषयात्सौगताभ्युपगतक्षणक्षयिलक्षणवस्तुनिश्चयः कुतो न कुतोपि । दि० प्र० । ६ प्रत्यक्षस्य प्रमाणाप्रमाणत्वं समर्थं तत्रा प्रतीयमानमद्वयक्षणिकादिकमनुमाने नापि प्रत्येतुं न शक्यत एवेत्याहुः त्रिरूपलिङ्गबलेनेति । दि० प्र० । ७ विकल्पो वस्तुनिर्भास इति वचनात् । अनुमानानाम् । दि० प्र० । ८ क्षणिकरूपः । दि० प्र० । ९ पुंसोः = अनुमानाभास = अनुमानस्य = सौगतीयं श्लोकद्वयम् । दि० प्र० । १० अनुमानस्य । सौगतीयमिदंश्लोकद्वयम् । व्या० प्र० ।

इति, मणिप्रदीपप्रभादृष्टान्तोपि स्वपक्षघाती, मणिप्रदीपप्रभादर्शनस्यापि संवादक-
त्वेन प्रामाण्यप्राप्त्या^१ प्रमाणान्तर्भावविघटनात् कथं प्रमाणे एवेत्यवधारणं घटते^२ ? न हि
तत्प्रत्यक्षं स्वविषये विसंवादानात् शुक्तिकादर्शनवद्रजतभ्रान्तौ । तत्राप्रतिपन्नव्यभिचारस्य
यदेव मया दृष्टं तदेव मया प्राप्तमित्येकत्वाध्यवसायाद्विसंवादानाभावान्मणिप्रभायां मणिदर्शन-
स्य प्रत्यक्षत्वे तिमिराशुभ्रमणिनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्यापि धावद्वादितरुदर्शनस्य प्रत्य-
क्षत्वप्रसङ्गादभ्रान्तमिति विशेषणमध्यक्षस्य न स्यात् । धावतां दर्शनादवस्थितानामगानां
प्राप्तेर्विसंवादात् भ्रान्तत्वसिद्धेस्तस्याप्रत्यक्षत्वे कुञ्चिकाविवरे मणिप्रभायां मणोदर्शनादपवर-
काभ्यन्तरेऽपरिप्राप्तेः^३ कथमिव तस्याभ्रान्तता युज्येत ? इति न प्रत्यक्षं तत्स्यात्^४ । नापि

वह प्रत्यक्ष मणिप्रभा रूप अपने विषय में विसंवाद रूप नहीं है क्योंकि प्रदीप की प्रभा को भी प्रत्यक्ष देखा जाता है जैसे रजत रूप से ग्रहण करने से सीप का देखना प्रत्यक्ष नहीं है उसमें विसंवाद है तथैव उपर्युक्त कथन में विसंवाद नहीं है ।

उस प्रत्यक्ष में जिसको किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है ऐसे उस पुरुष को “जो मैंने देखा था इसी को मैंने प्राप्त किया है” इस प्रकार से एकत्व के अध्ववसाय से विसंवाद का अभाव होने से मणि प्रभा में मणि का देखना प्रत्यक्ष है । तथा तिमिर रोग शीघ्र भ्रमण एवं नौका के संक्षोक्षादि से जिसको विभ्रम प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष को भी दौड़ते हुए वृक्षादिकों का अबलोकन हो जाता है अर्थात् जिसको तिमिर रोग है या जल्दी-जल्दी चक्कर खाकर आया है या नौका में बैठा है उसे वृक्षादि स्थिर होते हुए भी दौड़ते हुए दिखते हैं उस ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहने का प्रसंग आ जावेगा । पुनः ‘अभ्रांत’ यह विशेषण प्रत्यक्ष का नहीं हो सकेगा अर्थात् सच्चे प्रत्यक्ष को अभ्रांत नहीं कह सकेंगे क्योंकि असत्य प्रत्यक्ष भी अभ्रांत बन गया है, किन्तु ऐसा तो है नहीं प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षाभास में अभ्रांत एवं भ्रांत अवस्था देखी जाती है ।

यदि आप ऐसा कहें कि दौड़ते हुये वृक्षों को देखने से पुनः स्थिर वृक्षों की प्राप्ति-उपलब्धि होने से उनमें विसंवाद देखा जाता है अतः वह प्रत्यक्ष तो भ्रांत रूप ही सिद्ध है और हम बौद्ध तो उन दौड़ते हुये वृक्षों को देखने रूप प्रत्यक्ष को अप्रत्यक्ष ही स्वीकार करते हैं तब तो कुञ्चिका के विवर में दिखने वाली मणिप्रभा में मणि के देखने से एवं कमरे के अन्दर मणि के न प्राप्त होने से वह प्रत्यक्ष भी अभ्रांत कैसे कहा जा सकेगा ? इसलिये वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा अर्थात् मणि प्रभा का देखना प्रत्यक्षज्ञान में अन्तर्भूत नहीं होता है । एवं यह मणिदर्शन अनुमान ज्ञान न होने से अनुमान में भी

१ अनुमानप्रामाण्यसमर्थने दृष्टान्ततयोक्तस्य मणिप्रभादर्शनस्य प्रामाण्यं सुतरां सिद्धचत्येवान्यथा दृष्टान्तत्वाघटनात् संवादकत्वाच्च तथापि प्रत्यक्षानुमानयोः सौगतीययोभ्रान्तर्भवतीत्यभिप्रायः । दि० प्र० । २ मणिप्रभारूपे । दि० प्र० । ३ गर्भगृहमध्ये । व्या० प्र० । ४ प्रत्यक्षता । इति पा० । प्रमाणता । दि० प्र० ।

लैङ्गिकं, लिङ्गलिङ्गिसंबन्धाप्रतिपत्तेरन्यथा' दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात् ? तदेतेन^२ 'प्रतिपन्न्यव्यभिचारस्य य इत्थं प्रतिभासः स्यात् स न संस्थानवर्जितः^३, एवमन्यत्र दृष्टत्वादानुमानं 'तथा सती'ति प्रज्ञाकरमतमप्यपास्तं, 'स्वयमसिद्धेन दृष्टान्तेन साध्य-सिद्धेरकरणात् । 'कदाचित्संवादात् प्रत्यक्षत्वेनैव मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य दृष्टान्तत्वमयुक्तं, 'कदाचित्कार्यप्राप्तेरारे^४कादेरपि^५ संभवात् प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः ।

सर्वदा संवादात्तस्य प्रत्यक्षत्वमुदाहरणत्वं चेत्यप्यसारं, तदसिद्धेः । न हि मिथ्या-

अन्तर्भूत नहीं हो सकेगा क्योंकि लिंग और लिंगी का अविनाभाव नहीं है अन्यथा—यदि आप इस ज्ञान को अनुमान ज्ञान मानोगे तब तो दृष्टांत एवं दाष्टांत में एकत्व के हो जाने से किसके द्वारा कौन सिद्ध किया जावेगा ? अर्थात् क्षणिकत्वादि अनुमान भी दृष्टांत से सिद्ध नहीं हो सकेंगे क्योंकि दृष्टांत और दाष्टांत में एकत्व मान लिया है ।

इस कथन से तो "प्राप्त हुआ है व्यभिचार जिसको ऐसे पुरुष का जो इस प्रकार का प्रतिभास है वह प्रतिभास संस्थान—गोलाकारादि से रहित नहीं है ।" इस प्रकार से अन्यत्र-मणि से उपेत देश में देखा जाने से अनुमान होता है, अर्थात् "मेरा यह प्रतिभास मणि संस्थान वाला है क्योंकि वह इस प्रकार का प्रतिभास है अन्यत्र—मणि से सहित प्रदेश में सम्यक् प्रकार से प्राप्त हुये प्रतिभास के समान" इत्यादि प्रकार से कहने वाले प्रज्ञाकर के मत का भी निराकरण कर दिया गया है क्योंकि असिद्ध दृष्टांत से सत्य अनुमान रूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है । कदाचित्—किसी काल में संवाद होने से प्रत्यक्ष से ही मणिप्रभा में मणिदर्शन को दृष्टांत मानना अयुक्त है ।

कदाचित्—किसी-किसी काल में अर्थ की प्राप्ति होने से आरेका—शंकादि ज्ञान में भी सम्भव है पुनः उसे भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा किन्तु संशयादि ज्ञानों को प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है ।

बौद्ध—उस मणिप्रभा में मणिदर्शन सर्वदा संवाद रूप है अतः वह प्रत्यक्ष है और उदाहरण है ।

जैन—यह कथन भी असार है क्योंकि उसमें सदैव संवाद असिद्ध है । मिथ्याज्ञान में संवादन

१ तर्काभावात् । २ एतेन गोपालश्रीधूमदर्शनादितोऽग्न्यादी प्राप्तविपर्ययस्य पुरुषस्य पुरस्तात्कश्चित्सौगतोनुमानं रचयति हेबटो ! अग्निमान् अयमस्तीति पृष्टे आह यः भूतलमारभ्याकाशाभ्रलिट्धूमलेखा स्यादिति । इत्थं प्रतिभासः स्यात्स स्वरूपसहित एव एवं महानसादौ दृष्टत्वात्तथा सत्यनुमानं प्रमाणं घटत इति । व्याप्तिरहितानुमानानिराकरणेन । दि० प्र० । ३ क्षणिकत्वप्रतिभासः । स्वरूपः । दि० प्र० : ४ व्याप्तिसद्भावे सति । व्या० प्र० । ५ प्रमाणेनासिद्धत्वेन । व्या० प्र० । ६ तत्त्वव्यवसायस्य प्रमाणत्वोपपत्तावप्यनुमाने प्रत्यक्षेवान्तर्भावो भविष्यतीत्याशंकायामाह । दि० प्र० । ७ कुत्रचित्प्रदेशे किमेतज्जलं मरीचिका वेति संशयोत्पत्तौ संशयितस्य जलस्य कदाचिदन्यत्र जलप्राप्तिर्यथा तथा प्रकृतेषु । व्या० प्र० । ८ संशयादेः । व्या० प्र० । ९ न केवलं मणिप्रभादर्शनस्य कदाचित्कार्यप्राप्तिः । व्या० प्र० ।

ज्ञानस्य संवादनैकान्तः संभवति, विरोधात् । ¹नन्वनुमानस्य संभवत्येवावस्तुविषयत्वेन मिथ्या-
ज्ञानस्यापि सर्वदा ²संवादनं लिङ्गज्ञानवत् ³पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धात् । तदुक्तं—

“लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं^४ पारम्पर्येण वस्तुनि । ^६प्रतिबन्धात्तदाभासं शून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥”

इति कश्चित् ^७सोप्यनालोचिताभिधायी, सर्वदा ^८संवादिनः प्रत्यक्षवन्मिथ्याज्ञानत्व-
विरोधात् । तथा न लैङ्गिकं सर्वथैवाविसंवादकत्वात् । न हि तदालम्बनं ^९भ्रान्तं, प्राप्येपि
वस्तुनि ^{१०}भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । प्राप्ये तस्याविसंवादकत्वे स्वालम्बनेप्यविसंवादकत्वम् । इति

रूप एकांत सम्भव नहीं है, विरोध आता है । अर्थात् मिथ्याज्ञान हमेशा विसंवादादरहित एक रूप ही
हो ऐसा कहना ठीक नहीं है

बौद्ध विशेष—अनुमान तो सर्वदा संवाद रूप ही है एवं मिथ्याज्ञान भी सर्वदा अवस्तु को
विषय करने वाला होने से संवादी ही है वह लिङ्गज्ञान के समान परम्परा से वस्तु में अविनाभावी है ।
कहा भी है—

इलोकार्थ—साधन और साध्य की बुद्धि में उक्त प्रकार से परम्परा से वस्तु में अविनाभाव
है अतः वह तदाभास है और वस्तु तथा वस्तु का प्रतिभास इन दोनों को शून्य कहने पर भी यह कथन
अविसंवादी हो जावेगा ।

जैन—आप भी बिना विचारे ही कथन करने वाले हैं जो हमेशा ही [संवादी है, प्रत्यक्ष के
समान वह मिथ्याज्ञान भी नहीं हो सकता है । उसी प्रकार से अनुमान भी सर्वथा ही संवादी नहीं है ।
अर्थात् सर्वथा ही आलम्बन और प्रापण प्रकार से वह अनुमान ज्ञान अविसंवादी नहीं है ।

अनुमान का आलम्बन—सामान्यमात्र है वह भ्रान्त नहीं है अन्यथा प्राप्य-स्वलक्षण वस्तु में
भी भ्रान्तपने का प्रसंग आ जावेगा । यदि आप कहें कि वह अनुमान स्वलक्षण को विषय करने में

। पुनराह स्या० मिथ्याज्ञानं सर्वथासंवादकं न भवति कुतः मिथ्याज्ञानं सर्वथा संवादकयोरन्योन्यं विरोधात् =
अत्राह सीगतः सीगताभ्युपगतनिरन्वयक्षणक्षयिलक्षणवस्त्वप्राहकत्वेव कृत्वाऽन्यापोहप्राहकत्वान्मिथ्याज्ञानस्याप्यनुमान-
ज्ञानस्य संवादनैकान्तः संभवति कस्मात्सर्वदा संवादस्य घटनात् यथा प्रथमसमग्रोत्पन्नसाधनज्ञानस्य क्रमेणाग्न्यादिवस्तुनि
साक्षात्करणत् । दि० प्र० । 2 संवादानन्तर । इति पा० । संवादस्य । दि० प्र० । 3 अनुक्रमेण । अग्निस्वलक्षणाद्भूम-
स्वलक्षणं धूमस्वलक्षणाद्भूमतिविकल्पः धूमतिविकल्पः धूमतिविकल्पकाद्भूमविकल्पः धूमज्ञानमित्यर्थः धूमविकल्पादनुमानं
विकल्पवद्विज्ञानमिति पारंपर्यम् । दि० प्र० । 4 साधनसाध्ययोः । दि० प्र० । 5 उक्तप्रकारेण । व्या० प्र० । 6
स्वलक्षणरूपधियः = आकार = संवाद । वस्तुप्रतिभासरहितयोः । दि० प्र० । 7 स्या० सोपि सीगतो विवेच्यजल्पकः
कस्माद्यथा सर्वथा संवादिनः प्रत्यक्षस्य मिथ्याज्ञानत्वं विरुद्धयते तथानुमानस्यापि न दोषः = स्या० यथा सीगतीरभ्यु-
पगम्यते तथानुमानं कस्मात्सर्वथैव विसंवादकत्वात् । दि० प्र० । 8 लैङ्गिकस्य । अनुमानस्य । दि० प्र० । 9 आह
परः तदनुमानमात्मज्ञाननिश्चये भ्रान्तमस्ति स्या० एवं न हि । कस्मात्तदालम्बनभ्रान्तत्वे अग्न्यादी साध्येपि वस्तुनि
भ्रान्तत्वमायाति यतः = तस्यानुमानस्य साध्यत्वे सति स्वविषयेपि सत्यत्वं स्यात् । इति हेतोरनुमानस्य सर्वथैव सत्यत्वं
कथं न कस्मात् यथा प्रत्यक्षसामान्यविशेषात्मकवस्तुगोचरत्वप्रसिद्धेरन्यथा तयोरप्रमाणत्वात् । दि० प्र० । 10 सामा-
न्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वप्रसिद्धेरित्यनन्तरं वक्ष्यमाणोपपत्तिरत्र प्रतिपत्तव्याः । व्या० प्र० ।

कथं न सर्वथैवाविसंवादकत्वमनुमानस्य ? सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वप्रसिद्धेः प्रत्यक्षवत्, अन्यथा प्रमाणत्वायोगात् । ^१तस्मात् सूक्तं, तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणं ^२कारणसामग्रीभेदात् ^३प्रतिभासभेदेपीति^४ । न ^५ह्यनुमानस्य वस्तुविषयत्वाद्विशदप्रतिभासनापादयितुं शक्यं, विदूरस्थपादपादिदर्शनेनाविशदप्रतिभासेन व्यभिचारात् । पृथग्जनप्रत्यक्षस्यापि योगिप्रत्यक्षवत्संभवात् सकलसमारोपत्वप्रसङ्गात् स्वलक्षणविषयत्वाविशेषात् । तदविशेषेपि योगीतरप्रत्यक्षयोः कारणसामग्रीविशेषाद्विशेषपरिकल्पनायां, ^६तत एव प्रत्यक्षानुमानयोरपि प्रतिभासविशेषोस्तु, सर्वथा बाधकाभावात् ।

अविसंवादक है तब तो अग्नि आदि सामान्य स्वरूप जो उसका आलम्बन है उस आलम्बन में भी वह अविसंवादक ही है । इस प्रकार यह अनुमान ज्ञान सर्वथा ही अविसंवादक क्यों नहीं हो जावे ? क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष के समान सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को ही ग्रहण करने वाला प्रसिद्ध है अन्यथा वह प्रमाण नहीं हो सकेगा । इसलिये ठीक ही कहा है कि कारण सामग्री के भेद से प्रतिभास भेद होने पर भी तत्त्वज्ञान प्रमाण है ।

अनुमान ज्ञान वस्तु को विषय करने वाला है इसलिये उसका प्रतिभास विशद ही हो ऐसा कहना भी शक्य नहीं है क्योंकि दूर में स्थित वृक्षादि को देखने रूप अविशद प्रतिभास से व्यभिचार आ जाता है अर्थात् प्रत्यक्ष भी सर्वथा विशद प्रतिभास वाला ही हो ऐसा नहीं है किन्तु दूरत्व आदि कारण के भेद से प्रत्यक्ष में भी अविशद प्रतीति देखी जाती है ।

पृथग्जन—साधारण जनों का प्रत्यक्ष भी योगि प्रत्यक्ष के समान नहीं हो सकता है उसमें सकल समारोप का प्रसंग आ जाने से स्वलक्षण को विषय करना तो दोनों में समान ही है । यदि आप ऐसा कहते हैं कि स्वलक्षण को विषय करने रूप से समानता होने पर भी योगि प्रत्यक्ष और साधारण जनों के प्रत्यक्ष में कारण सामग्री के भेद से भेद की कल्पना है तब तो उसी हेतु से ही प्रत्यक्ष और अनुमान में भी प्रतिभास भेद मानों सर्वथा ही बाधा का अभाव है ।

१ अनुमानस्य प्रामाण्यं सिद्धं यतः । व्या० प्र० । यत एव तस्माद्द्रव्येन्द्रियप्रकाशक्षेत्रादिकारणसामग्रीभेदात्प्रतिभासभेदेषु तत्त्वज्ञानं स्वरूपनिश्चायकमेव सत्यमिति सुभाषितम्—आह परः वस्तुग्राहकत्वादानुमानं स्पष्टप्रतिभासनमेव स्या० इति वक्तुं शक्यं न । तस्मात् । अतिदूरवर्तिवृक्षाद्यवलोकनेन प्रत्यक्षज्ञानस्यास्पष्टप्रतिभासनेन कृत्वा व्यभिचारादनुमानस्यापि—यथा सुगतप्रत्यक्षस्यास्मदादिजनप्रत्यक्षस्यापि सकलसंशयादिसमारोपासंभवः प्रसजति यत उभयोः स्वलक्षणविषयत्वेन विशेषाभावात् । दि० प्र० । २ इन्द्रियलिङ्गे । व्या० प्र० । ३ विशदेतरूपतया प्रतिभासभेदेऽप्यनुमानादेः प्रामाण्यमिति । व्या० प्र० । ४ एतेनानुमानं मिथ्याज्ञानं भवति प्रमाणञ्च भवतीति सीगतवचनं निरस्त-सन्निकर्षादिप्रामाण्यञ्च ततः स्वरूप विप्रतिपत्तिनिराकरणमनेन । दि० प्र० । ५ व्याप्तिद्वारेण द्रढयति । यत्र-यत्र वस्तुविषयत्वं तत्र तत्र विवादात्त्वम् । व्या० प्र० । ६ स्या० तत्तेन स्वलक्षणविषयत्वेन कृत्वा भेदेषु सति योग्ययोगि-प्रत्यक्षयोर्द्वयोः सकलावरणैकदेशावरणलक्षणकारणसामग्रीभेदाद्भेदपरिकल्पनायां क्रियमाणायां सत्यां ततः कारण-सामग्रीविशेषादेव प्रत्यक्षानुमानप्रमाणयोरपि विशदाविशदलक्षणप्रतिभासभेदो भवतु कस्माद्बाधकप्रमाणाभावात् । दि० प्र० ।

प्रमाणमेव वा तत्त्वज्ञानं ¹नामेत्यवधारणमनुमन्तव्यं, फलज्ञानस्यापि स्वाव्यवहित-
फलापेक्षयां प्रमाणत्वोपयोगात् । ²ततः ³स्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनस्तत्त्वव्यवसायस्य प्रमाण-
त्वोपपत्तेः प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाण एवेत्याद्यवधारणं प्रत्याचष्टे सौगतानां, तस्य प्रत्यक्षा-
नुमानाभ्यां प्रमाणान्तरत्वात् । ⁴नहीन्द्रियव्यवसायोऽप्रमाणमविसंवादकत्वात् । ⁵अनधि-
गतार्थाधिगमाभावात्तदप्रमाणत्वे ⁶लौकिकस्यापि मा भूत् ⁷प्रमाणत्वं, विशेषाभावात् ।
⁸अनधिगतत्वस्वलक्षणाध्यवसायादनुमितेरतिशयकल्पनायां ⁹ ¹⁰प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्वं

अथवा प्रमाण ही तत्त्वज्ञान रूप है ऐसा अवधारण-स्वीकार करना चाहिये क्योंकि फल ज्ञान भी अपने अव्यवहित फल की अपेक्षा से प्रमाणरूप से स्वीकार किया गया है । इसलिये स्वलक्षण दर्शन के अनन्तर होने वाला तत्त्व व्यवसायात्मक सविकल्पकज्ञान भी प्रमाण हो जाता है पुन इस प्रकार से 'प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं यह सौगतों का अवधारण निराकृत हो जाता है । क्योंकि वह व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से एक भिन्न प्रमाण रूप ही है । 'इन्द्रिय व्यवसायी ज्ञान अप्रमाण भी नहीं है क्योंकि वह अविसंवादी है ।"

यदि आप ऐसा कहें कि यह अनधिगत अर्थ—नहीं जाने हुये पदार्थों को जानने वाला नहीं है अतः यह विकल्पज्ञान अप्रमाण है तब तो अनुमान ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकेगा क्योंकि वह भी अनधिगत अर्थ को नहीं जानता है । अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा विषय किये गये को ही अनुमान जानता है ऐसा आपने माना है ।

बोद्ध—अनधिगत स्वलक्षण को ही अनुमान जानता है अतः वह विशेष है ।

1 प्रकाशयम् । व्या० प्र० । 2 अवधारणं यतः । व्या० प्र० । 3 प्रत्यक्ष । व्या० प्र० । 4 अत्राह सौगतः हे स्याद्वादिन् ! तवाभ्युपगतं सविकल्पकलक्षणमिन्द्रियप्रत्यक्षमप्रमाणं भवतीत्युक्ते स्याद्वाद्याह इन्द्रियव्यवसायः प्रमाण-
मेवासत्त्वत्वात् = अथवा चेत्त्वमेवं कथयिष्यसि अनिश्चितपदार्थस्य निश्चयाभावात् । तदिन्द्रियप्रत्यक्षमप्रमाणमेव
तदा तस्मादेवानुमानमपि तवाप्रमाणं मा भवतु कुत उभयत्र विशेषाभावात् । दि० प्र० । 5 प्रत्यक्षेणाधिगतस्यैवायं-
स्याधिगमादित्यर्थः । व्या० प्र० । 6 अनुमानस्य । व्या० प्र० । 7 क्षणिकः शब्द सत्त्वादित्यादौ प्रत्यक्षेण गृहीतस्यैव
क्षणिकत्वस्यानुमानेनाधिगमात् । व्या० प्र० । 8 अनधिगत स्वलक्षणाद्व्यवसायो यस्मात् । निश्चयान्तरेणानिश्चितः ।
अनिश्चितः । पर आह अनिश्चितस्वलक्षणस्य निश्चयकरणादनुमानं प्रमाणं स्यादिति चेत् = स्या० त्वयेति कल्पनायां
क्रियमाणायामस्मदभ्युपगतमिन्द्रियप्रत्यक्षमपि प्रमाणं कस्मान्निविकल्पकदर्शनेन कृत्वा योर्था न निर्णीतस्तस्यापूर्वस्य
निश्चयस्य कारकत्वात् यथा सौगताभ्युपगतस्य सर्वक्षणिकं सत्त्वादिति क्षणिकसाधनानुमानस्य = आह परः क्षणिक-
साधनानुमानस्यैवानिर्णीतस्वलक्षणस्य निर्णयो निश्चिताद्व्यवसाय एवेति चेत् = स्या० स चानिश्चिताध्यवसाय एव
शब्दप्रत्ययान्तरभावि न इन्द्रियप्रत्यक्षस्यापि भवतीति तस्य प्रमाणत्वयुक्तमेव कस्मात् शब्दस्य नैरन्तर्येण श्रवणात् ।
दि० प्र० । 9 अनुमानस्य । दि० प्र० । 10 प्रत्यक्षस्यापि । इति पा० । दि० प्र० ।

^१प्रतिषेध्यमनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात् क्षणभङ्गानुमानवत् । क्षणिकत्वानुमानस्य ^२ह्यनिश्चिता-
ध्यवसाय एवानधिगतस्वलक्षणाध्यवसायः । स च ध्वनिदर्शनानन्तरभाविनो व्यवसायस्या-
स्तीति युक्तं प्रमाणत्वम् । ^३ध्वनेरखण्डशः ^४श्रवणादधिगमोपि ^५प्राथमिकल्पिकस्तत्त्वनिर्णीति-
रेव^६, ^७तद्वशात् तत्त्वव्यवस्थानान्निर्णीतिरेव मुख्यप्रमाणत्वोपपत्तेः, ^८तदन्ये दृष्टेरपि विसंवाद-
कत्वेन प्रामाण्यानुपपत्तेरदर्शनानतिशयनात्तद्दर्शनाभावेपि ^९तत्त्वनिश्चये तदन्यसमारोपव्यव-
च्छेदलक्षणे ^{१०}प्रमाणलक्षणाङ्गीकरणात्^{११} ।

जैन—ऐसी कल्पना करने पर तो इस प्रकृत व्यवसाय रूप सविकल्प को भी प्रमाणतत्त्व का निषेध नहीं कर सकेंगे क्योंकि यह भी निर्विकल्प के द्वारा अनिर्णीत नीलादिकों का ही निर्णय कराने वाला है, क्षणिक अनुमान के समान । कारण कि—क्षणिक अनुमान का अनिश्चित अध्यवसाय ही अनधिगत स्वलक्षण अध्यवसाय कहलाता है और वह ध्वनि दर्शन के बाद होने वाला व्यवसायात्मक-सविकल्पज्ञान में है इसलिये उसे भी प्रमाण मानना युक्त ही है ।

ध्वनि को अखंड रूप से मुत्ने से होने वाला ज्ञान भी प्रथमकल्पिक—आदि में होने वाला तत्त्वनिर्णयात्मक ही है । उसके निमित्त से तत्त्व की व्यवस्था हो जाने से वह निर्णीति—सविकल्प ही मुख्य प्रमाण है यह बात सिद्ध हो जाती है । उस व्यवसाय को प्रमाण न मानने पर तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी विसंवादकता होने से वह भी प्रमाण नहीं हो सकेगा क्योंकि वह भी अदर्शन—सविकल्पक का अनतिशय उल्लंघन नहीं करता है । यदि आप कहें कि निर्णीत से ही तत्त्व की व्यवस्था नहीं है किन्तु परम्परा से दर्शन से ही है ऐसा भी नहीं है क्योंकि दर्शन के अभाव में भी तत्त्व का निश्चय होने पर उससे अन्य समारोप व्यवच्छेद लक्षण में प्रमाण का लक्षण स्वीकार किया गया है । अर्थात् उस नील में अनीलादि रूप जो समारोप हैं उनका “अनीलव्यावृत्तिर्नील” इस प्रकार शब्दार्थ के परिज्ञान से ही व्यवच्छेद हो जाता है, तब वह प्रमाण कहलाता है ।

१ निश्चयान्तरेणानिश्चितः । दि० प्र० । २ निश्चयान्तरेण । दि० प्र० । ३ किञ्च निर्विकल्पकमन्तरेण विकल्प एव प्रथमतः समुत्पद्यत इत्याह । व्या० प्र० । ४ परिच्छिति । व्या० प्र० । ५ प्रथम । इति पा० । दि० प्र० । ६ विकल्पज्ञानान्न तु प्रत्यक्षात् । व्या० प्र० । ७ तत्त्वनिर्णीतिः । दि० प्र० । ८ स्या० तस्यास्तत्त्वनिर्णीतेरभावे सति निर्विकल्पकदर्शनस्याप्यसत्यत्वेन कृत्वा प्रमाणत्वं नोपपद्यते । कस्माद्दर्शनस्यानतिलंघनात् कोथः निश्चयाभावे दृष्टमप्यदृष्टम् = पुनः कस्मात्सौगताभ्युपगतदर्शनाभावेपि तस्मान्निश्चयत्पृथग्भूतसंशयादिस्वरूपसमारोपरहितलक्षणे तत्त्वनिश्चये प्रमाणलक्षणाङ्गीकारात् । दि० प्र० । ९ अर्थादेव । दि० प्र० । १० यत्र निश्चयो जातस्तत्र तत्त्वव्यवस्थापनं दर्शनं नापेक्षते इत्यर्थः । दि० प्र० । ११ विकल्पस्य स्थिरस्थूलसाधारणाकारग्राहित्वाद्प्रामाण्यं नाशंकितव्यं स्थिराद्याकारस्य वास्तवत्वसमर्थनात् । दि० प्र० ।

[सौगतः स्मृति प्रमाणं न मन्यते किन्तु जैनाचार्याः तस्याः प्रमाणत्वं साधयन्ति ।]

ननु ¹निश्चितार्थमात्रस्मृतेरप्येवं² प्रमाणत्वापत्तेरतिप्रसङ्ग इति चेन्न, ³प्रमिति-विशेषाभावेतरपक्षानतिक्रमात् । प्रथमपक्षे ⁴क्वचित्कुतश्चिद्धूमकेतुलैङ्गिकवन्निर्णेतार्थमात्र-स्मृतेरधिगतार्थाधिगमात् प्रामाण्यं मा भूत्, प्रमितिविशेषाभावात् । द्वितीयपक्षे पुनरिष्टं प्रामाण्यमनुस्मृतेः, प्रमितिविशेषसद्भावात् । ⁵प्रकृतनिर्णयस्य⁶ प्रामाण्ये हि न किञ्चिदति-प्रसज्यते, ⁷दृष्टस्याप्यनिश्चितस्य निश्चयान्, ⁸प्रत्यक्षतो निश्चिते ⁹धूमकेतौ ¹⁰ज्वालादि-विशेषाद्धूमयेतुलैङ्गिकस्मृतौ¹¹ तु ¹²विशेषपरिच्छित्तेरभावादप्रामाण्यनिदर्शनात् । ¹³परिच्छि-

[सौगत स्मृति को प्रमाण नहीं मानता है किन्तु जैनाचार्य उसको प्रमाण सिद्ध कर रहे हैं ।]

बौद्ध—इस प्रकार से तो निश्चित अर्थमात्र की स्मृति भी प्रमाण हो जावेगी ।

जैन नहीं । इस विषय में प्रश्न हो सकते हैं कि वह निश्चितार्थ स्मृति प्रमिति विशेष को उत्पन्न करने वाली है या नहीं ? प्रथम पक्ष में तो कहीं पर किसी प्रमाण से निश्चित अग्नि के अनुमान के समान निर्णेतार्थ मात्र की स्मृति, अधिगत अर्थ को ही जानने वाली होने से प्रमाण नहीं हो सकेगी क्योंकि प्रमिति विशेष का उसमें अभाव है । अर्थात् प्रत्यक्ष से निश्चित अग्नि में उस सम्बन्धी जो अनुमान रूप स्मृति है वह विशेषज्ञान को उत्पन्न करने वाली न होने से प्रमाण रूप नहीं है ।

द्वितीय पक्ष में अनुस्मृति को प्रमाण मानना इष्ट ही है क्योंकि वह ज्ञान विशेष को उत्पन्न करने वाली ही है । इस प्रकृत निर्णय को प्रमाण मानने पर तो कोई भी अतिप्रसङ्ग दोष नहीं आता है । क्योंकि दृष्ट भी यदि अनिश्चित है तो उसे ही यह स्मृति निश्चित करती है । “दृष्टोऽपि समारोपान्तादृक्” ऐसा सूत्र पाया जाता है । प्रत्यक्ष से निश्चित अग्नि में ज्वालादि विशेष से अग्नि के अनुमान से स्मृति के होने पर तो विशेष ज्ञान का अभाव होने से वह अप्रमाण है किन्तु यदि आप

- 1 निश्चितोऽर्थः । अनुभूतेः । दि० प्र० । 2 न केवलमिन्द्रियजनितव्यवसायस्य प्रमाणत्वोपपत्तिप्रकारेण । दि० प्र० । 3 परिच्छिति । व्या० प्र० । 4 धूमकेतोः सम्बन्धिनीलैकरूपायाः स्मृतिस्तस्या इव । व्या० प्र० । 5 अपूर्वपरिज्ञानलक्षणप्रमितिविशेषनिश्चयस्य प्रमाणत्वे सति सम्बन्धस्मृतेः कश्चिदतिप्रसङ्गो नास्ति कस्मात् । दृष्टमप्यनिश्चितं यत् तदपूर्वं तस्य निर्णयनात् । प्रकृतनिर्णयप्रामाण्यं कुत इत्याह । दि० प्र० । 6 विकल्पस्य । व्या० प्र० । 7 तस्यैव एवं ते निश्चितत्वात् । व्या० प्र० । 8 कुतो न किञ्चिदतिप्रसज्यते इत्याह । व्या० प्र० । 9 स्या० हे सौगत ज्वालागारादिविशेषोपलभात् महानसादौ साक्षान्निश्चितेऽग्नी पुनोग्य-नुमानकरणे दृष्टान्तार्थं तस्यैव स्मरणे तु पूर्वदृष्टाद्विशिष्टप्रमितेरभावाप्रामाण्यं भवतु अहमपि मन्ये सर्वत्र सर्वदा यावान्-कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्मा इति सामस्त्येन प्रमितिविशेषे सत्यपि सम्बन्धस्मृतेरप्रमाणत्वं कल्पते चेत्त्वया तदानुमानं कदापि नोदेति । दि० प्र० । 10 धूमकेतोः संबन्धिनी लैगिकरूपायाः स्मृति । निश्चयनात् । दि० प्र० । 11 प्रत्यक्षेऽनुमानकरणकाले । व्या० प्र० । 12 निश्चयनात् । व्या० प्र० । 13 अतीतकालसम्बन्धित्वेन । व्या० प्र० ।

तिविशेषसद्भावेपि साकल्येन स्मृतेरप्रामाण्यकल्पनायामनुमानोत्थानायोगः, संबन्धस्मृतेर-
प्रमाणत्वात्, तस्या अपि ^१लैङ्गिकत्वेन ^२प्रामाण्ये ^३परापरसम्बन्धस्मृतीनामनुमानत्वकल्पना-
दनवस्थानात् ^४सम्बन्धस्मृतिमन्तरेणानुमानानुदयात् । ^५सुदूरमपि ^६गत्वा ^७सम्बन्धस्मृतेरन-
नुमानत्वे प्रमाणत्वे च सिद्धं, ^८स्मृतेरूपयोगविशेषात् प्रमाणत्वमविसंवादादनुमानवत् । तच्च
यथा प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणे एवेत्यवधारणं प्रत्याचष्टे, तथा त्रीण्येव प्रमाणानि चत्वार्येव
पञ्चैव षडेवेत्यवधारणमपि, स्मृतेरागमोपमानार्थापत्यभावेऽनन्तर्भावात्, तदन्तर्भावेऽनुमाना-

ज्ञान विशेष के होने पर भी सम्पूर्णतया उस स्मृति को अप्रमाण मानोगे तब तो अनुमान ही उत्पन्न नहीं हो सकेगा क्योंकि इस प्रकार से तो आपके यहां अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति भी अप्रमाण ही रहेगी एवं उस स्मृति को भी अनुमान रूप से प्रमाण स्वीकार कर लेने पर परस्पर सम्बन्ध की स्मृतियों को अनुमान रूप कल्पित करने से अनवस्था आ जावेगी, क्योंकि अविनाभाव की स्मृति के बिना अनुमान उत्पन्न हो ही नहीं सकता है । बहुत दूर जाकर के भी कहीं न कहीं तो आप अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति को यदि अनुमान नहीं कहेंगे तब तो वह स्मृति एक स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध ही हो जावेगी । इसलिये 'स्मृति का उपयोग विशेष होने से वह प्रमाण है क्योंकि अनुमान ज्ञान के समान वह भी अविसंवादिनी है । और जिस प्रकार से यह स्मृति प्रमाण 'प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं' इस प्रकार की वैशेषिक और बौद्ध की प्रमाण संख्या का विघटन कर देती है । तथैव सांख्याभिमत प्रमाण तीन ही हैं, नैयायिक मान्य प्रमाण चार ही हैं, प्राभाकर मान्य पांच ही हैं, जैमिनीय के द्वारा इष्ट प्रमाण छह ही हैं उन सबके अवधारण-निश्चय को यह स्मृति प्रमाण समाप्त कर देता है क्योंकि यह स्मृति प्रमाण, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन किसी भी प्रमाणों में अन्तर्भूत नहीं होता है ।

यदि इन प्रमाणों में आप जबरदस्ती स्मृति को अंतर्भूत करोगे तब तो अनुमान भी इन्हीं में अंतर्भूत हो जावेगा पुनः अनवस्था हो जाने से अर्थात् कुछ भी व्यवस्था के न होने से आप लोगों

१ अनुमात्वेन । दि० प्र० । २ अत्राह परः हे स्याद्वादिन् सम्बन्धस्मरणमप्यनुमानज्ञानस्यान्तर्भूयतस्ततः प्रमाणमेवेति चेत् = स्या० सम्बन्धस्मृतेरप्यनुमानत्वेन कृत्वा प्रमाणत्वे सति तदा सम्बन्धस्मरणं विना सर्वथाप्यनुमानं न संभवति भवदपेक्षया सम्बन्धस्मरणमनुमाने पतितं तदनुमानोदयार्थमन्यत्सम्बन्धस्मरणमाश्रयणीयं तदप्यनुमाने पतितं ततोनुमानोदयार्थमन्यत्सम्बन्धस्मरणमनुमाने पतितमेवमुत्तरोत्तरसम्बन्धस्मरणं बहूनामनुमानत्वकल्पनादनवस्थानं नाम दोषः स्यात् । दि० प्र० । ३ उत्तरोत्तर । दि० प्र० । ४ ततश्च । व्या० प्र० । ५ महानसप्रत्यक्षतोऽपि-
दृष्ट्वा तत्रैव स्मरति यथा । व्या० प्र० । ६ एवमतिदूरमपि गत्वा सौमतेन सम्बन्धस्मृतेरनुमानत्वं प्रमाणत्वं स्यादित्यङ्गीकृते सत्यर्थविशेषान्न स्मृतेः प्रमाणत्वं सिद्धं कथमित्युक्ते स्या० अनुमानमाह । सम्बन्धस्मृतिः पक्षः प्रमाणं भवतीति साध्यो धर्मो विसंवादात् यथानुमानम् । दि० प्र० । ७ यावान् कश्चिद्दूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्मा-
ऽनग्निजन्मा न भवतीति व्यापत्तिः सम्बन्धस्मृतस्य स्मृतिः । दि० प्र० । ८ अपूर्वार्थं । प्रमितिविशेषमाश्रित्य । दि० प्र० ।

न्तर्भाववदनवस्थानानुषङ्गादागमाद्युदयविरोधात्, शब्दादिस्मृतिमन्तरेण ¹तदनुपपत्तेः । यदि पुनरागमाद्युत्थापकसामग्रीत्वाच्छब्दास्मृतेरागमादिप्रमाणत्वमप्युररीक्रियते तदा शब्दादिप्रत्यक्ष-स्यापि तत्सामग्रीत्वादागमादित्वप्रसङ्गः । तथा च स्मृतिवन्न प्रत्यक्षं प्रमाणान्तरं स्यात् । प्रमाणान्तरत्वे ²वा स्मृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं, दर्शनानन्तराध्यवसायवन्निर्णीतेपि ³कथंचिद-तिशयनादनुमानवत् ।

[प्रत्यभिज्ञानमपि पृथक् प्रमाणमेव इति जैनाचार्याः साधयन्ति]

⁴एवं प्रत्यभिज्ञानं, प्रमाणं, व्यवसायातिशयोपपत्तेः प्रत्यक्षादिवत्, तत्सामर्थ्याधीनत्वा-

के यहाँ आगम आदि प्रमाण भी उदित नहीं हो सकेंगे क्योंकि शब्दादिकों की स्मृति के बिना वे आगम आदि प्रमाण भी नहीं हो सकते हैं ।

पुनः यदि आप कहें कि आगम आदि की उत्थापक सामग्री के होने से शब्दादिकों की स्मृति से आगम आदि प्रमाण भी स्वीकृत किये गये हैं तब तो शब्दादि प्रत्यक्ष भी उसकी सामग्री रूप होने से आगमादि रूप हो जावेंगे और उस प्रकार से स्मृति के समान प्रत्यक्ष भी भिन्न प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

यदि आप उस प्रत्यक्ष को भिन्न प्रमाण रूप स्वीकार करेंगे तब तो स्मृति को भी भिन्न प्रमाण मानना ही होगा जैसे—दर्शन के अनंतर होने वाले अध्यवसाय रूप सविकल्प ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है । क्योंकि प्रत्यक्षादि से निर्णीत में भी कथंचित् अतिशय देखा जाता है अनुमान के समान । अर्थात् जैसे व्याप्ति से जाने गये में भी अनुमान से विशेष रूप से ग्रहण होता है तथैव प्रत्यक्षादि से निश्चित में भी स्मृति विशेष का ग्रहण होता ही है । अतः स्मृति भी एक पृथक् प्रमाण है ।

[प्रत्यभिज्ञान भी एक पृथक् प्रमाण ही है ऐसा जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

इस प्रकार से “प्रत्यभिज्ञान भी एक प्रमाण है क्योंकि उसमें व्यवसाय का अतिशय देखा जाता है प्रत्यक्षादि के समान ।” प्रमाण की व्यवस्था व्यवसायातिशय की सामर्थ्य के ही अधीन है । अविसंवाद भी स्वार्थ व्यवसायात्मक है । अन्यथा संशयादि के समान विसंवाद हो जावेगा और यह प्रत्यभिज्ञान अव्यवसायात्मक नहीं है ।

1 आगमादि । दि० प्र० । 2 स्या० तथा सति यथा आगमादितः सकाशात् स्मृतिभिन्नं प्रमाणं न तथा प्रत्यक्षमपि भिन्नं नागमादिषु पतित्वात् अथ चेत्तदाभिप्रायेण प्रत्यक्षं भिन्नं प्रमाणं तदा स्मृतेरपि भिन्नप्रमाणत्वं भवतु यथा सौमताभ्युपगतानि निविकल्पकदर्शनानन्तरभाविस्विकल्पकज्ञानमर्थनिश्चायकत्वात् प्रमाणम् । दि० प्र० । 3 अतीतकालादित्वेन । व्या० प्र० । 4 स्मृतिप्रकारेण । व्या० प्र० ।

प्रमाण त्वस्थितेः, अविसंवादस्यापि ¹स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात् । अन्यथा हि विसंवादः स्यात्संशयादिवत् । न चेदं प्रत्यभिज्ञानमव्यवसायात्मकं, तद्वेदेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्य-विषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्याबाधितस्यारेकादिव्यवच्छेदेनावगमात्, ²बाध्यमानस्याप्रमाण-त्वोपपत्तेस्तदाभासत्वात्³ । न च सर्वं प्रत्यभिज्ञानं बाध्यमानमेव, प्रत्यक्षस्य ⁴तद्विषये ⁵प्रवृत्त्य-संभवादबाधकत्वादानुमानस्यापि ⁶तद्विषयविपरीतसर्वथाक्षणिकविसदृशवस्तुव्यवस्थापकस्य⁷ ⁸निरस्तत्वात्तद्बाधकत्वायोगात् । ⁹ततः प्रत्यभिज्ञानं तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणं प्रत्यक्षवत् ।

[तर्कज्ञानमपि पृथक्प्रमाणमेवेति साधयति जैनाचार्याः ।]

¹⁰एवं लिङ्गलिङ्गिसंबन्धज्ञानं प्रमाणमनिश्चितनिश्चयादनुमानवद् । ¹¹सत्त्वक्षणिक-

“यह वही है, यह उसके सदृश है” इस प्रकार से एकत्व और सादृश्य रूप से दो प्रकार का प्रत्यभिज्ञान अबाधित है जो कि संशयादि का व्यवच्छेदक माना गया है । जो प्रत्यभिज्ञान बाधित होता है वह अप्रमाण होने से प्रत्यभिज्ञानाभास है और सभी प्रत्यभिज्ञान बाधित ही हों ऐसा नहीं है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं सकती है । अतः वह प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञान को बाधित नहीं कर सकता है । अनुमान भी प्रत्यक्ष के विषय से विपरीत सर्वथा नित्य विसदृश वस्तु का व्यवस्थापक है । इस बात का निरसन कर दिया गया है अतः वह अनुमान भी इसलिये “प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है क्योंकि वह तत्त्वज्ञान रूप है, प्रत्यक्ष के समान ।”

[तर्क ज्ञान भी पृथक् प्रमाण ही है ऐसा जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का ज्ञान रूप तर्क ज्ञान प्रमाण है क्योंकि वह अनिश्चित का निश्चय कराने वाला है अनुमान के समान ।” सत्त्व और क्षणिक रूप साधन-साध्य में अथवा धूम और उसके कारणभूत अग्नि में संपूर्णतया व्याप्ति का ज्ञान कराने के लिये वह प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं

1 अविसंवादः पक्षः प्रमाणं भवतीति साध्यो धर्मः स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात् । अन्यथा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वाभावे विसंवादोऽस्त्यः स्यात् यथा संशयादिकम् । दि० प्र० । 2 प्रत्यभिज्ञान भासः । दि० प्र० । 3 प्रमाण । दि० प्र० । 4 प्रत्यभिज्ञान । दि० प्र० । 5 अतएव । व्या० प्र० । 6 तद्विषयविपरीत्यम् । इति पा० । दि० प्र० । 7 प्रमाणस्य । व्या० प्र० । 8 प्रत्यभिज्ञानविषयः । दि० प्र० । 9 अबाध्यं यतः । व्या० प्र० । 10 प्रत्यभिज्ञानप्रकारेण । दि० प्र० । 11 स्या० सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् यो यो भावः सन् स सर्वोपि क्षणिक इति सौगताभ्युपगतयोः सत्त्वक्षणिकत्वयोः सर्वमताभिमतयोः धूमान्योर्वा सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामिति साकल्येन व्याप्तिपरिज्ञाने प्रत्यक्षं समर्थं भवत्यनुमानं वेति विकल्पः न तावत्प्रत्यक्षं समर्थं स्यात् । कस्मादासन्नवर्तमानस्थूनाथस्वरूपग्राहकत्वात् प्रत्यक्षस्य पुनः कस्मात्सौगता-दिपराभ्युपगतप्रत्यक्षस्यापि व्याप्तिप्रतिपत्ती परीक्षासहत्वात् । तथा सम्बन्धज्ञानेऽनुमानमपि समर्थं न भवति कस्माद् व्याप्तिबलादानुमानमुदेति तद्व्याप्तेः परिज्ञानेनानुमानमुत्सहते एवमुत्तरोत्तरानुमानस्य व्यवस्थानाभावात् एवं दूरतरं गत्वापि सौगतादिभिः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नभूतं सम्बन्धज्ञाने स्वस्य व्यवसायार्थमूहाख्यं ज्ञानमङ्गीकर्तव्यम् । दि० प्र० ।

त्वयोर्धूमतत्कारणयोर्वा साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षमुत्सहते, सन्निहितार्थाकारानु-
कारित्वात् इन्द्रियजमानसस्वसंवेदनप्रत्यक्षस्य योगिप्रत्यक्षस्य अपरीक्षाक्षमत्वाच्च । नानुमान-
मनवस्थानुषङ्गात् । सुदूरमपि गत्वा तदुभयव्यतिरिक्तं व्यवस्थानिमित्तमभ्युपगन्तव्यम् ।
¹तदस्माकमूहाख्यं प्रमाणमविसंवादकत्वात् समारोपव्यवच्छेदकत्वादनुमानवत् । न ²चोहः
³सम्बन्धज्ञानजन्मा, यतो नवस्थानं स्यादपरापरोहानुसरणात्, तस्य प्रत्यक्षानुपलम्भजन्मत्वात्
⁴प्रत्यक्षवत्, स्वयोग्यतयैव स्वविषये प्रवृत्ते । सम्बन्धज्ञानमप्रमाणमेव, प्रत्यक्षानुपलम्भपृष्ट-

है क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण सन्निहित-निकटवर्ती वर्तमान पदार्थ के आकार का ही अनुकरण करता है ।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगी प्रत्यक्ष ये चारों ही प्रत्यक्ष परीक्षा को करने में समर्थ नहीं हैं—व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं । आपने भी योगी प्रत्यक्ष को निर्विकल्प रूप होने से व्याप्ति का ग्राहक नहीं माना है । अनुमान भी व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकता है अन्यथा अनवस्था का प्रसङ्ग आ जावेगा । अर्थात् यदि अनुमान ज्ञान में व्याप्ति ज्ञान कारण है तब तो वह व्याप्ति उसी अनुमान से ग्रहण की जाती है या अनुमानान्तर से ? उसी से कहो तो अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है । अनुमानान्तर से कहो तो अनवस्था आती है । व्याप्ति को ग्रहण करने के लिये अनुमान एवं अनुमान की उत्पत्ति के लिये व्याप्ति ज्ञान की उत्तरोत्तर कल्पना करते चलिये कहीं भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी । बहुत दूर जाकर भी प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न उस व्याप्ति की व्यवस्था के लिये निमित्तभूत कोई प्रमाण स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

“वही हम लोगों के यहाँ तर्कनाम का प्रमाण है क्योंकि वह अविसंवादो है और समारोप का व्यवच्छेदक है, अनुमान के समान ।” एवं यह तर्क ज्ञान, सम्बन्धज्ञान-भिन्न व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न नहीं हुआ है कि जिससे अपरापर तर्क का अनुसरण करने से अनवस्था आ जावे । यह तर्क ज्ञान तो प्रत्यक्षानुपलम्भ (उपलम्भानुपलम्भ) से उत्पन्न हुआ है प्रत्यक्ष ज्ञान के समान और यह अपनी योग्यता से ही अपने विषय में प्रवृत्ति करता है अन्य किसी की अपेक्षा से नहीं ।

बौद्ध—“यह तर्क ज्ञान अप्रमाण ही है क्योंकि यह प्रत्यक्षानुपलम्भ के अनन्तर होने वाला होने से विकल्प रूप है और गृहीत को ग्रहण करने वाला है इस सम्बन्ध का ज्ञान कराने में पुनः प्रवर्तमान प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ ही प्रमाण हैं ।

1 अभ्युपगतम् । स्याद्वादिनाम् । दि० प्र० । 2 न चोहापोहे सम्बन्धज्ञानं । इति पा० । दि० प्र० । अत्राह पर हे स्याद्वादिन् भवतां ज्ञानमूहाख्यमन्यस्माद्वापोहसम्बन्धज्ञानाज्जायते तदन्यस्मात्तदन्यस्मादेव एवमुत्तरोत्तरोहानुसर-
णादनवस्थानं तस्य स्यादित्युक्ते स्याद्वाद्याह कस्मात् । तत् ऊहाख्यं महानसादावग्निधूमसम्बन्धदर्शनलक्षणप्रत्यक्षं
पश्चात्तस्य प्रत्यक्षस्याऽदर्शनं ताभ्यां जायते यतः पुनः कस्माद्यथा प्रत्यक्षस्य सन्निहितस्थूलप्रकाशादिलक्षणस्वयोग्य-
त्वेनात्मीय ग्राह्यार्थे वर्तने तथा ऊहाख्यस्यापि स्वविषये प्रवर्तनात् । दि० प्र० । 3 व्यवस्थितिनिमित्तादपरः ।
व्या० प्र० । 4 ननु च सम्बन्धज्ञानपूर्वकं मा भूत स्वविषये प्रवृत्तौ सम्बन्धज्ञानपूर्वकं भविष्यतीत्याह । व्या० प्र० ।

भावविकल्पत्वाद्^१ २गृहीतग्रहणात्, सम्बन्धप्रतिपत्तौ प्रत्यक्षानुपलम्भयोरेव भूयः प्रवर्तमानयोः
^३प्रमाणत्वादित्येके, तेष्यसमीक्षितवाचः, कथंचिदपूर्वार्थविषयत्वाद्ग्राह्यविकल्पस्य प्रमाणत्वो-
 पपत्तेः प्रत्यक्षानुपलम्भयोः सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च व्याप्तौ प्रवृत्त्यसंभवात् ।
 यदि ^४पुनरप्रमाणमेव ^५व्याप्तिज्ञानं सम्बन्धं वा व्यवस्थापयेत्तदा प्रत्यक्षमनुमानं चाप्रमाणमेव
 स्वविषयं व्यवस्थापयेत् किं ^६तत्प्रमाणत्वसाधनायासेन ? ^७लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्तिरर्था-
 पत्तेरित्यन्ये । तेषामपि सम्बन्धज्ञानपूर्वकत्वेरर्थापत्तेरर्थापत्त्यन्तरानुसरणादनवस्था । तदपूर्वकत्वे

जैन—ऐसा कहने वाले आप भी बिना विचारे ही वचन बोलने वाले हैं । कथंचित् अपूर्वार्थ
 को विषय करने वाला होने से यह ऊह-तर्कज्ञान भी प्रमाण ही है । क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ-
 अनुमान सन्निहित विषय के बल से उत्पन्न होते हैं एवं ये अविचारक हैं । इसलिये इनकी व्याप्ति
 को ग्रहण करने में प्रवृत्ति होना असम्भव है अर्थात् बौद्धमत में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दोनों ही
 एक विषय को ग्रहण करते हैं अतः विचार के करने में अयोग्य हैं । विचार तो अनेक ज्ञान विषयक
 अनेक ज्ञान की उपस्थिति के होने पर ही सम्भव है अतएव विचार तर्क से ही साध्य है ।

यदि आप व्याप्ति ज्ञान को अथवा अविनाभाव को अप्रमाण ही व्यवस्थापित करेंगे तब तो
 प्रत्यक्ष और अनुमान भी अप्रमाण ही अपने विषय को व्यवस्थापित करेंगे पुनः उनको प्रमाण रूप सिद्ध
 करने के प्रयास से क्या प्रयोजन है ? अतः तर्क प्रमाण को भी पृथक् मानना होगा ।

मीमांसक—लिंग और लिंगी के अविनाभाव का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है न
 कि तर्क से ।

जैन—आपके यहाँ भी अर्थापत्ति के विषय में हम प्रश्न कर सकते हैं कि वह अर्थापत्ति
 सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक है या बिना सम्बन्ध के होती है ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तब तो अर्थापत्ति को
 संबन्धज्ञानपूर्वक स्वीकार करने पर भिन्न अर्थापत्ति की आवश्यकता पड़ने से अनवस्था आ जावेगी ।
 द्वितीय पक्ष में स्वयं अनिश्चित अन्यथा भवन में भी अर्थापत्ति की उत्पत्ति का प्रसंग आ जावेगा ।
 अर्थात् हेतु और साध्य के सम्बन्ध को विषय करने वाली अर्थापत्ति की उत्पत्ति ऐसे पुरुष को भी हो

१ ऊहस्य । व्या० प्र० । २ प्रत्यक्षेण । व्या० प्र० । ३ संबन्धप्रतिपत्तौ तयोः प्रामाण्यम् । व्या० प्र० । ४ तर्कः
 स्वयमप्रमाणं तथापि प्रमाणानुग्रहकारीति चेत् । व्या० प्र० । ५ कर्तृ । व्या० प्र० । ६ स्या० प्रत्यक्षानुमानेऽप्रमाण-
 भूतेपि यदि स्वविषयं व्यवस्थापयतः तदा तयोः प्रमाणत्वसाधनत्वेन किं न किमपि । दि० प्र० । ७ अर्थापत्तेः
 सकाशात्लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धज्ञानं जायत इति अर्थापत्तिवादिनो वदन्ति स्या० अर्थापत्तिः संबन्धज्ञानपूर्विका अपूर्विका
 वेति विकल्पः प्रथमपक्षे अर्थापत्तौ संबन्धज्ञानसन्तर्भूतं तदा साऽर्थापत्तिरन्यस्या जायते साध्यन्यस्याः साध्यन्यस्या
 एवमनवस्था द्वितीयपक्षे पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते रात्रौ भुङ्क्ते । इत्यर्थः । भोजनाभावे पीनत्वाभावः ।
 इत्यनन्यथा भवनं न निश्चितमनन्यथा भवनं येन सोऽनिश्चितानन्यथाभवनः । तस्य पुनः स्वयमेवार्थापत्तिरुत्पत्तिः
 प्रसजतिः । दि० प्र० ।

¹स्वयमनिश्चितानन्यथाभवनस्यार्थापत्त्युदयत्वप्रसङ्गः, परस्पराश्रयणं च, सत्यानुमानज्ञाने तदन्यथानुपपत्त्या सम्बन्धज्ञानं, सति च सम्बन्धज्ञानेनुमानज्ञानमिति नैकस्याप्युदयः स्यात् । न चान्यत्संबन्धार्थापत्त्युपस्थापकमस्त्यनुमानज्ञानाद् येन परस्पराश्रयणं न स्यात् । ²एतेनोपमानादेः सम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता । ³तस्मादुपमानादिकं ⁴प्रमाणान्तरमिच्छतां ⁵तत्त्वनिर्णय-प्रत्यवमर्शप्रतिबन्धाधिगमप्रमाणत्वप्रतिषेधः प्रायशो ⁶वक्तुर्जडिमानमाविष्करोति⁷ ।

इति प्रत्यक्षं परोक्षमित्येतद्विद्वतयं प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम्, ⁸अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेषु, परोक्षेन्तर्भावात् । तदुक्तं,—प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं ⁹त्रिधाश्रितमविप्लवम् । परोक्षं प्रत्यभि-

जावेगी कि जिसने साध्यसाधन के सम्बन्ध को जाना ही नहीं है । एवं परस्पराश्रय दोष भी आ जावेगा, अनुमान ज्ञान के होने पर उसकी अन्यथानुपपत्ति से सम्बन्ध का ज्ञान होगा एवं सम्बन्ध का ज्ञान होने पर अनुमान का ज्ञान होगा और इस प्रकार से तो दोनों में से किसी एक की भी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । तथा अनुमान ज्ञान को छोड़कर कोई अन्य ज्ञान तो है नहीं जो कि सम्बन्ध को ग्रहण करने वाली अर्थापत्ति को उत्पन्न करने वाला होवे कि जिससे परस्पराश्रय दोष न आ सके अर्थात् परस्पराश्रय दोष आता ही आता है । इसी कथन से “उपमानादि से सम्बन्ध का ज्ञान—अविनाभाव का ज्ञान होता है” ऐसा कहने वालों का भी निराकरण कर दिया गया है । इसलिये उपमानादिकों को प्रमाणांतर रूप स्वीकार करते हुये आप लोग तत्त्व निर्णय (सविकल्पज्ञान, स्मृतिज्ञान,) प्रत्यभिज्ञान, प्रतिबंधाधिगम—तर्क ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं प्रायः करके आपका यह कथन आप लोगों की जड़ता—मूर्खता को ही प्रकट करता है । इसलिये “प्रत्यक्ष और परोक्ष” इस प्रकार से दो प्रमाण स्वीकार करना चाहिये क्योंकि ये अर्थापत्ति आदि प्रमाण अनुमान से भिन्न होते हुये भी परोक्ष प्रमाण में अंतर्भूत हो जाते हैं । कहा भी है—

श्लोकार्थ — विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं वह इन्द्रिय, मन और अतीन्द्रिय जन्य होने से तीन प्रकार का है, अभ्रान्त है । प्रत्यभिज्ञानादि प्रमाण परोक्ष प्रमाण हैं, इस प्रकार से प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों में ही इन सबका संग्रह हो जाता है अतः “प्रमाणे” यह द्विवचन सार्थक है ।

- 1 अन्यथा उपरिवृष्ट्या विना न भवनमधःपूरस्थानन्यथा भवनं तदनिश्चितं येन पुंसा तस्यापि । दि० प्र० ।
- 2 परस्पराश्रयणसमर्थनेन । एतेनार्थापत्तेर्दोषोद्भावेनोपयानाममाभावादीनां संबन्धप्रतिपत्तिनिराकृता । दि० प्र० ।
- 3 स्मृत्वादिकं प्रमाणं यस्मात् । तनु उपमानादिकमपि प्रमाणमास्ते तदप्यत्र चिन्तनीयमित्याह । दि० प्र० ।
- 4 योमादीनाम् । दि० प्र० । 5 इन्द्रियजनितो विकल्पो निर्णयः । दि० प्र० । 6 वक्तुर्द्योयमान । इति पा० । दि० प्र० । 7 नैयायिकादेः । प्रयासं । उपमानादिवत्तत्त्वनिर्णयादेरपि अर्थपरिच्छेदकरत्वाविशेषात् । दि० प्र० ।
- 8 अनुमानाद्भेदे । दि० प्र० । 9 त्रिधाऽविप्लवमितिसम्बन्धास्तेनायमर्थः प्रतिपादितः प्रत्यक्षानुमेयात्यन्तपरोक्षेष्वा-र्थेष्वविसंवादीति । कथितम् । व्या० प्र० ।

ज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः । ततः सूक्तमिदमवधारणं प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानमिति, प्रत्यक्षपरोक्ष-
तत्त्वज्ञानव्यक्तीनां साकल्येन ^१प्रमाणत्वोपपत्तेः ।

[ज्ञानानां विशेषलक्षणं विषयं च स्पष्टः यस्याचार्याः]

तत्र ^२सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं ^३केवलज्ञानं ^४युगपत्सर्वार्थविषयम् ^५करण-
क्रम^६व्यवधानातिवर्तित्वात्^७ युगपत्सर्वभासनम् । ^८तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणम् । तथोक्तं, 'सर्वद्रव्य-
पर्यायेषु केवलस्य' इति सूत्रकारैः । ^९केवलज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तित्वात् चक्षुरादिज्ञानदर्शन-
वद्युगपत्सर्वभासनमयुक्तमिति^{१०} चेन्न, तयोर्योगपद्यात्, तदावरणक्षयस्य युगपद्भावात्, 'मोहक्षया-
ज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' इति, अत्र प्रथमं मोहक्षयस्ततो ज्ञानावरणादि-

इसलिये यह अवधारण करना बिल्कुल ठीक है कि "प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानं" प्रमाण ही
तत्त्व ज्ञान है क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष तत्त्वज्ञान के सभी भेद विशेष सम्पूर्णतया प्रमाणरूप
सिद्ध हैं ।

[ज्ञान के विशेष लक्षण और विषय को आचार्य स्पष्ट करते हैं ।]

उनमें "सकल ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान केवलज्ञान है जो कि युगपत्
सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करने वाला है क्योंकि वह इन्द्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित होने से
युगपत् सर्वभासी है और तत्त्वज्ञान रूप होने से प्रमाण है । उसी प्रकार से कहा भी है—"सर्वद्रव्य-
पर्यायेषु केवलस्य" सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को विषय करने वाला केवलज्ञान है । यह
सूत्रकार का वचन है ।

शंका—केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रम से उत्पन्न होते हैं अतः चक्षुरादि ज्ञान, दर्शन के
समान इनको युगपत् सर्वभासि कहना अयुक्त है ।

जैन—नहीं । ये दोनों युगपत् ही होते हैं क्योंकि इन दोनों के आवरण का क्षय युगपत् होता
है । "मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलं" मोह का क्षय होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण
और अन्तराय का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है । ऐसा सूत्रकार का वाक्य है अतः इनमें से
पहले तो दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है पुनः बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण,
दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों का क्षय एक साथ होता है ऐसा ही आचार्यों का व्याख्यान है ।

१ तत्त्वज्ञानमेवप्रमाणमित्यवधारणेन स्वरूपविप्रतिपत्ति प्रमाणमेव वा तत्त्वज्ञानमित्यवधारणेन संबन्धाविप्रतिपत्ति
च निराकृत्य विषयविप्रतिपत्तिनिराचिकीर्षवः प्राहुः । व्या० प्र० । २ हेतुः । दि० प्र० । ३ पक्षः । दि० प्र० ।
४ साध्यम् । दि० प्र० । ५ इन्द्रिय । दि० प्र० । ६ करणानामिन्द्रियाणां क्रमः क्रमवृत्तिस्तस्मिन्सति व्यवधानं
मावरणं करणक्रमव्यवधानं तस्योत्पन्नत्वात् । दि० प्र० । ७ कालादिव्यवधानं । व्या० प्र० । ८ न चैतदभिद्धं
युगपत्सर्वभासनं प्रमाणं भवति तत्त्वज्ञानत्वात् । दि० प्र० । ९ आह परः केवलज्ञानदर्शने पक्षः युगपत्सर्वभासनेन
भवति इति साध्यो धर्मः क्रमवृत्तित्वाद्यथा चक्षुरादिज्ञानदर्शने । दि० प्र० । १० ज्ञानकाले सामान्यभासनाभावात्
दर्शनकाले विशेषभासन्नभावात् । दि० प्र० ।

त्रयक्षयः सकृदिति ¹व्याख्यानात् । ²तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्याद्, दर्शनकाले ज्ञानाभावात्तत्काले च दर्शनाभावात् । सततं च भगवतः केवलिनः सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च ³साद्यपर्यवसिते⁴ केवलज्ञानदर्शने इति वचनात् । ⁵कुतस्तत्सिद्धिरिति ⁶चेन्निलोठितमेतत् सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे, न पुनरिहोच्यते । ⁷केवलज्ञानदर्शनयोर्युगपद्भावः कुतः सिद्ध इति चेत्, ⁸सामान्यविशेषविषयविविगतावरणयोर्युगपत्प्रतिभासायोगात्⁹ प्रतिबन्धकान्तराभावात् । सामान्यप्रतिभासो हि दर्शनं विशेषप्रतिभासो ज्ञानम् । तत्प्रतिबन्धकं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च । ¹⁰यदुदयादस्मदादेः केवलज्ञानदर्शनानाविर्भावः । तयोश्च युगपदात्मविशुद्धिप्रकर्षविशेषात् परिक्षयसिद्धेः कथमिवायुगपत्प्रतिभासनं सामान्यविशेषयोः स्यात् ?

यदि आप ज्ञान और दर्शन को क्रमवर्ती मानोगे तब तो सर्वज्ञपना ही कादाचित्क (अनित्य) हो जावेगा । क्योंकि दर्शन के समय में ज्ञान का अभाव हो जायेगा एवं ज्ञान के समय में दर्शन नहीं रहेगा किन्तु ऐसा तो है नहीं । हमेशा ही केवली भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं “साद्यपर्यवसिते केवलज्ञानदर्शने” केवलज्ञान और केवलदर्शन सादि और अनंत हैं ऐसा वचन है ।

शंका—इस बात की सिद्धि कैसे होती है ?

जैन—“सूक्ष्मांतरित दूरार्थाः” इस कारिका के प्रस्ताव में सर्वज्ञ की सिद्धि के प्रकरण में इसका विस्तार से वर्णन कर दिया है पुनः अब यहां नहीं कहेंगे ।

शंका—केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं यह बात कैसे सिद्ध है ?

जैन—सामान्य और विशेष को विषय करने वाले, आवरण से रहित, केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनों का क्रम से प्रतिभास का अभाव है क्योंकि इनके प्रतिबंधकान्तर का अभाव ही गया है । सामान्य प्रतिभास को दर्शन कहते हैं एवं विशेष प्रतिभास को ज्ञान कहते हैं । उनके प्रतिबंधक ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म हैं, जिनके उदय से हम लोगों के केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट नहीं होते हैं । आत्मविशुद्धि की प्रकर्षता के विशेष से उन दोनों कर्मों का युगपत् ही नाश होना सिद्ध है । पुनः सामान्य विशेष का क्रम से प्रतिभास होवे यह कैसे हो सकेगा ?

जिनके अशेष मोह और अंतराय कर्म सर्वथा नष्ट हो चुके हैं ऐसे सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञानावरण और दर्शनावरण से भिन्न और कोई प्रतिबंधक कारण कैसे सम्भव होंगे जिससे कि वे केवलज्ञान-दर्शन दोनों युगपत् न हो सकें । अर्थात् युगपत् ही दोनों होते हैं ।

1 व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति राजवार्तिकालङ्कारे प्रतिपादितम् । व्या० प्र० । 2 ते ज्ञानदर्शनयोरिति पाठा० । दि० प्र० । केवल । व्या० प्र० । 3 सादी च ते पर्यवसिते च । दि० प्र० । साद्य । इति पा० । दि० प्र० । 4 अन्तररहिते । व्या० प्र० । 5 सिद्धयेदिति । पा० । दि० प्र० । 6 सूक्ष्मांतरितदूरार्था इत्यादिना । व्या० प्र० । 7 मध्ये मीमांसकाशंकां परिहृत्य प्रकृतैर्युक्तिमुपदर्शयन्ति केवलज्ञानेति । दि० प्र० । 8 केवलदर्शनज्ञानयोः । दि० प्र० । 9 क्रमेण । व्या० प्र० । 10 ज्ञानदर्शनावरण । दि० प्र० ।

१प्रक्षीणाशेषमोहान्तरायस्य प्रतिबन्धान्तरं च कथमिव संभाव्येत, येन युगपत्तद्विद्वतयं न स्यात् ? अस्तु नाम केवलं तत्त्वज्ञानं युगपत्सर्वभासनं, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानं तु २कथमित्युच्यते, ३शेषं सर्वं क्रमवृत्ति, प्रकारान्तरासंभवात् । ४तेन ५क्रमभावि च यन्मत्यादितत्त्वज्ञानं तदपि प्रमाणमिति व्याख्यातं भवति, 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं, तत्प्रमाणे' इति सूत्रकारवचनात् । ननु च मत्यादिज्ञानचतुष्टयमपि युगपदिष्यते, 'तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः' इति सूत्रसद्भावादिति न शङ्कनीयं, 'मत्यादिज्ञानानामनुपयुक्तानामेव योगपद्यवचनात् 'सह द्वौ न स्त, उपयोगादि'त्यार्षवचनात् । छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगापेक्षया

शंका—अच्छा ! केवलज्ञान को तो आप युगपत् सर्वभासी तत्त्वज्ञान मान लीजिये, किन्तु मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ज्ञान युगपत् सर्वभासी कैसे हो सकेंगे ?

जैन—ऐसी शंका होने पर हम कहते हैं शेष सभी ज्ञान क्रमवर्ती हैं क्योंकि अन्य प्रकार असंभव है । इससे जो मति ज्ञान आदि तत्त्वज्ञान हैं वे क्रमवर्ती हैं वे भी प्रमाण हैं ऐसा कथन किया गया है क्योंकि "मति श्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं, तत्प्रमाणे" मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच ज्ञान हैं । ये दो प्रमाण में अंतर्भूत हैं क्योंकि प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे ही दो भेद हैं । इस प्रकार से सूत्रकार के वचन हैं ।

शंका—मति आदि चारों ज्ञान भी युगपत् ही स्वीकार किये गये हैं । "तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः" एक जीव में एक साथ एक को आदि लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं ऐसा सूत्र विद्यमान है ।

जैन—ऐसी आशंका नहीं करना क्योंकि ये मति आदि ज्ञान अनुपयुक्त ही युगपत् होते हैं । एक साथ दो नहीं होते हैं क्योंकि "उपयोगात्" ऐसा आर्ष वचन विद्यमान है । अर्थात् युगपत् चार पर्यंत जो ज्ञान एक साथ एक जीव में माने हैं वे केवल लब्धिरूप या योग्यता रूप हैं किन्तु विषयों को जानने की अपेक्षा से नहीं हैं क्योंकि ज्ञान का उपयोग तो एक ज्ञान का एक काल में एक विषय में ही होता है ।

शंका—छद्मस्थ के ज्ञान दर्शनोपयोग की अपेक्षा से यह वचन है ।

जैन—नहीं । इस प्रकार से तो विशेष कहीं पर भी नहीं कहा गया है ।

शंका—सामान्य कथन विशेष में ही रहता है ऐसा न्याय है, इसलिये सामान्य से विशेष का ज्ञान हो जाता है ।

1 आशंकाय । व्या० प्र० । 2 आचार्यैः । दि० प्र० । 3 केवलज्ञानादन्यत् ज्ञानचतुष्टकं सर्वं क्रमेण वर्तते । दि० प्र० । 4 कारणेन । दि० प्र० । 5 कारिकावाक्यम् । दि० प्र० । 6 स्या० मत्यादिज्ञानचतुष्टयं युगपद्भासते इति न शंकनीयं कस्मात् मत्यादिचतुष्टकज्ञानानां स्वस्वविषयेऽप्रवृत्तानामेव योगपद्यमिति वचनात् तथा द्वौ उपयोगी युगपन्त स्तः इति सिद्धान्तवचनाच्च । दि० प्र० ।

१तद्वचनमिति चेन्नैवं विशेषानभिधानात् । २सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते इति न्यायात् ३तद्विशेषगतिरिति चेन्न, अन्यथापि विशेषगतिसंभवात्—तन्नेवेति, प्रमाणाभावात् । ४क्वचिदात्मनि मत्यादिज्ञानानि सोपयोगानि युगपत्संभवन्ति सकृत्सन्निहितस्वविषयत्वात् दीर्घ-शङ्कुलीभक्षणादौ ५चक्षुरादिज्ञानपञ्चकवदित्यनुमानादिष्टविशेषगतिरस्तु । न ६चेदमुदाहरणं ७साध्यविकलं चक्षुरादिज्ञानानां क्रमवृत्तौ परस्परव्यवधानाद्विच्छेदोपलक्षणप्रसङ्गात्, प्रसिद्ध-क्रमभावरूपादिज्ञानवदिति न मन्तव्यं, चक्षुरादिज्ञानपञ्चकस्यापि परस्परव्यवधानेपि ८विच्छेदानुपलक्षणं, क्षणक्षयवत् ताथागतस्य, स्यात् । तेषां योगपद्ये हि संतानभेदात् ९परस्पर-परामर्शाभावः सन्तानान्तरवत् । यौगपद्येपि संतानभेदाभावेऽक्षमनोध्यक्षयोरपि यौगपद्यमस्तु

जैन—नहीं । अन्यथा रूप से भी विशेष का ज्ञान संभव है कि वे नहीं हैं इत्यादि क्योंकि प्रमाण का अभाव है ।

बौद्ध—“किसी संसारी आत्मा में मति आदि ज्ञान उपयोग सहित (व्यापार सहित) युगपत् सम्भव हैं क्योंकि एक साथ सन्निहित स्वविषय को ग्रहण करते हैं जैसे कि दीर्घ शङ्कुली—मोटी पूड़ी के खाने में चक्षु आदि पाँचों इन्द्रियों के पाँच ज्ञान एक साथ सम्भव हैं ।” इस अनुमान से इष्ट विशेष का ज्ञान हो जावे क्या बाधा है ? हमारा यह उदाहरण साध्य विकल भी नहीं है । चक्षु आदि ज्ञानों को क्रम से मानने पर परस्पर में व्यवधान हो जाने से विच्छेद का प्रसंग आ जावेगा जैसे कि क्रम से होने वाले प्रसिद्ध रूपादि ज्ञान क्रम से ही होते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों के ज्ञान पञ्चक में भी परस्पर में कालकृत व्यवधान के होने पर भी क्रम की उपलब्धि नहीं होगी । क्षणक्षय ही आप बौद्धों के यहां पुनः यह दोष भी आ जावेगा । उन चक्षु आदि ज्ञानों को युगपत् स्वीकार करने पर रूपज्ञान, रसज्ञान आदि के संतान भेद से परस्पर में परामर्श-एकत्व का अभाव है भिन्न संतान के समान । उन चक्षु आदि ज्ञान पञ्चक को यदि आप सौगत युगपत् स्वीकार करके भी उनमें संतान भेद का अभाव मानेंगे तब तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष भी युगपत् हो जावें कोई अन्तर नहीं है किन्तु आपने तो इन्हें क्रम से ही माना है ।

1 युगपद्भावि । दि० प्र० । 2 वाक्यानि । दि० प्र० । 3 छवस्थज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणविशेषः । व्या० प्र० ।

4 छवस्थज्ञानदर्शनयोर्युगपद्व्यापाराभावः । इष्टविशेषः । व्या० प्र० । 5 अत्राह परः हे स्याद्वादिन् ! इदं तव प्रतिपादितमुदाहरणं साध्यव्युत्थमस्ति कथमित्युक्ते अनुमानमाह चक्षुरादिज्ञानानि पक्षः युगपन्न भवन्तीति साध्यो

धर्मः क्रमवृत्तौ परस्परव्यवधानात्लोकविख्यातक्रमभावरूपादिज्ञानानि यथा । दि० प्र० । 6 साध्यं हि नम यौगपद्यम् । व्या० प्र० । 7 क्षणक्षयस्यानुभूतस्यापि विच्छेदानुपलक्षणं यथाऽन्यथा तदनुमानवैफल्यप्रसङ्गात् । अणानां क्षयोऽनुक्रम-

भावी भवति तथापि विच्छेदो नोपलक्ष्यते कालस्यातीवसूक्ष्मत्वान्नीलोत्पलदलनिबधेपि न सूचीनिक्षेपवत् । व्या० प्र० ।

8 य एवाहमद्राक्षं स एवाहं स्पृशामीति । व्या० प्र० ।

विशेषाभावात् । मानसप्रत्यक्षेपि ¹चक्षुरादिज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवेन² कश्चिद्विशेषः क्रमवृत्तौ चक्षुरादिज्ञानवद् ³व्यवधानप्रतिभासविकल्प⁴प्रतिपत्तेरसंभवात्⁵ । न च चक्षुरादिज्ञानपञ्चकात्सहभाविनः⁶ क्रमभुवां तदनन्तरजन्मनां मानसप्रत्यक्षाणां ⁷व्यवधानेन ⁸प्रतिभासभेदप्रतिपत्तिरस्ति । तेषां लघुवृत्तेः ⁹क्रमभावित्वेपि न व्यवधानेन प्रतिभासविकल्पानां प्रतिपत्तिरिति ¹⁰चेत्त एव चक्षुरादिज्ञानानामपि विच्छेदोपलक्षणं मा भूत्, क्रमभावेपि विशेषाभावात् । **यौगपद्ये हि स्पर्शादिप्रत्ययमर्शविरोधः पुरुषान्तरवत् ।** जैानामपि क्रमभावश्चक्षुरादिवेदना-
नामुपपन्न एव । ¹¹तद्वन्मत्यादिज्ञानानामपि ¹²सोपयोगानां क्रमभावो निरूपयोगानां तु यौग-
पद्यमविरुद्धं, विषयस्थानेकान्तात्मकत्वात् । ¹³ततः सोपयोगं मतिज्ञानादि क्रमभावि स्याद्वाद-

मानस प्रत्यक्ष में भी चक्षु आदि ज्ञान के अनन्तर ज्ञान की उत्पत्ति होने से क्रमवर्ती में कोई विशेष है चक्षु आदि ज्ञान के समान । क्योंकि व्यवधान प्रतिभास का विकल्पज्ञान संभव नहीं है । चक्षु आदि ज्ञान पंचक सहभावी हैं उसके अनन्तर होने वाले मानस प्रत्यक्ष क्रम भावी हैं । उस इन्द्रियों के ज्ञान पंचक से मानस प्रत्यक्ष में व्यवधान होने से (अन्तराल से) प्रतिभास भेद का ज्ञान नहीं होता है ।

शंका—अनेक भी मानस प्रत्यक्षों का क्रम से उत्पाद होने पर भी शीघ्र-शीघ्रतया उत्पाद होने से लघुवृत्ति है अतएव उस लघुवृत्ति से क्रमभावी होने पर भी उन प्रतिभास भेदों में व्यवधान का ज्ञान नहीं है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो उसी हेतु से ही पुनः चक्षु आदि ज्ञानों में भी विच्छेद-क्रम की उपलब्धि नहीं होवे क्योंकि क्रम से होने पर भी लघुवृत्ति रूप से दोनों जगह कोई अन्तर नहीं है अर्थात् चक्षु आदि पांचों इन्द्रियों के ज्ञान क्रम से होते हैं किन्तु लघुवृत्ति से वह क्रम जाना नहीं जाता है ऐसा ही मानना उचित है, किन्तु युगपद् मानने पर तो स्पर्शादि के प्रत्ययमर्श अर्थात् एकस्व प्रत्यभि-
ज्ञान का विरोध हो जावेगा भिन्न पुरुष के समान । इस प्रकार से हम जैनों के यहां भी चक्षु आदि ज्ञान पंचकों में क्रमभाव व्यवस्थित ही है । उसी प्रकार से उपयोग सहित मति आदि ज्ञान भी क्रम-
भावी हैं एवं उपयोगरहित अवस्था में युगपत् होते हैं यह बात अविरुद्ध है क्योंकि इनका विषय अनेकांतात्मक ही है । अर्थात् मति आदि ज्ञानों का स्वरूप ही उसके वर्णन करने में विषय कहलाता है एवं लब्धि और उपयोगादि की अपेक्षा से वह विषय अनेकांतात्मक है । इसलिये उपयोग सहित

1 एव । कारण । दि० प्र० । 2 कारणोत्पन्ने । दि० प्र० । 3 भा । व्या० प्र० । 4 भेद । व्या० प्र० ।
5 अल्पकालत्वात् । व्या० प्र० । 6 सहकारिकारणभूतात् । दि० प्र० । 7 आच्छादनेन । दि० प्र० । 8 भात्य-
द्वयं भावयति । दि० प्र० । 9 अनन्तरप्रत्ययभूतचक्षुरादिज्ञानपञ्चकात् । व्या० प्र० । 10 लघुवृत्तेः । दि० प्र० ।
11 प्रमाणसिद्धः । दि० प्र० । 12 व्यापारसहितानाम् । स्वकीयस्वकीयार्थग्राहकानाम् । दि० प्र० । 13 क्रम-
भाव उत्पन्नो यतः । दि० प्र० ।

नयलक्षितं प्रतिपत्तव्यं, तस्य नयोपलक्षितत्वात् केवलज्ञानवत् स्याद्वादोपलक्षितत्वाच्च ।
 1 कुत एतदिति चेद्विकलसकलविषयत्वात् तयोः । तत्त्वज्ञानं वा स्याद्वादनयसंस्कृतं प्रतिपत्तव्यं
 2 क्रमाक्रमभावित्वे । कथम् ? ' 3 तत्त्वज्ञानं स्यादक्रमं, सकलविषयत्वात् । स्यात् क्रमभावि,
 विकलविषयत्वात् । स्यादुभयं, तदुभयविषयत्वात् । स्यादवक्तव्यं, युगपद्वक्तुमशक्तेः ।' इत्यादि,
 सप्तभङ्ग्याः प्रमाणनयवशादुपपत्तेः । अथवा प्रतिपर्यायं स्याद्वादनयसंस्कृतं प्रतिपत्तव्यं,
 4 स्यात्प्रमाणं स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात्, स्यादप्रमाणं 5 प्रमाणान्तरेण प्रमेयत्वात् 6 स्वतो

मतिज्ञान आदि स्याद्वाद नय से लक्षित क्रमभावि हैं ऐसा समझना चाहिये क्योंकि वे ज्ञान नयों से उपलक्षित हैं, केवलज्ञान के समान, स्याद्वाद से भी उपलक्षित हैं ।

शंका—ये मत्यादिज्ञान स्याद्वाद से उपलक्षित कैसे हैं ?

जैन—ये नय और स्याद्वाद, विकल और सकल को विषय करने वाले हैं । अथवा तत्त्वज्ञान को स्याद्वाद नय से संस्कृत ही समझना चाहिये क्योंकि ये क्रम और अक्रम से होते हैं ।

शंका—ये क्रम, अक्रमभावी कैसे हैं ?

जैन—तत्त्वज्ञान कथंचित् अक्रमभावी है क्योंकि वह केवलज्ञान की अपेक्षा सकल पदार्थ को विषय करने वाला है । तत्त्वज्ञान कथंचित् क्रमभावी है क्योंकि यह मत्यादि ज्ञानों की अपेक्षा विकल को विषय करने वाला है । तत्त्वज्ञान कथंचित् उभयरूप है क्योंकि क्रम से उभय—सकल, विकल दोनों को विषय करने वाला है । तत्त्वज्ञान कथंचित् अवक्तव्य है क्योंकि युगपत् दोनों का कथन अशक्य है ।

तत्त्वज्ञान कथंचित् क्रमभावी अवक्तव्य है इत्यादि सप्तभंगो प्रक्रिया को प्रमाण-नय के निमित्त से लगा लेना चाहिये । अर्थात् तत्त्वज्ञान कथंचित् अक्रमभावि अवक्तव्य है । तत्त्वज्ञान कथंचित् क्रम-अक्रमभावि अवक्तव्य है । अथवा अर्थग्रहण रूप परिणमन ही ज्ञान की पर्याय है और उस पर्याय-पर्याय के प्रति तत्त्वज्ञान स्याद्वाद नय से संस्कृत है ऐसा समझना चाहिये । कथंचित् तत्त्वज्ञान प्रमाण है क्योंकि—स्व-वह अर्थ प्रमिति के प्रति साधकतम है ।

कथंचित् तत्त्वज्ञान अप्रमाण है क्योंकि वह प्रमाणान्तर से प्रमेय है अथवा स्वतः प्रमेय है

1 आह परः तत् क्रमभावि युगपद्भावि च कुत एव स्यादिति चेत् स्या० तयोः स्याद्वादनययोः क्रमेण सकल-विकलविषयत्वात् । दि० प्र० । 2 विवक्षिते । व्या० प्र० । 3 सामान्यग्रहणम् । व्या० प्र० । 4 तत्त्वज्ञानमिति सम्बन्धः । दि० प्र० । 5 अस्मदादि । व्या० प्र० । यदा तत्त्वज्ञानं करणकारकरूपं तदा प्रमाणमय यदा तु तत्त्वज्ञानं स्वं जानातीत्यादि कर्मकारकरूपेण तदा प्रमाणं कीर्तयः प्रमेयं भवति कर्तृरूपेण प्रमाता च स्यात् । दि० प्र० । 6 स्वार्थप्रमितिं प्रतिसाधकतमत्वादित्यादि नानानयसंस्कृतत्वमुक्तं प्रमाणसंस्कृतत्वं तु प्रमाणत्वं प्रतिषेधे-नाविनाभाव्येकधर्मिणीत्ययमूह्यम् । दि० प्र० ।

वा । अथवा स्यात्सत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्, स्यादसत्, पररूपादिचतुष्टयात् इत्यादि योजनीयम् ।

अथ ^१प्रमाणफलविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाहुः—

उपेक्षा फलमाद्यस्य ^२शेषस्यादानहानधीः ।

पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा ^३सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

कारिकापाठापेक्षया युगपत्सर्वभासनं केवलमाद्यं, तस्य ^४व्यवहितं ^५फलमुपेक्षा । कुत इति चेदुच्यते, सिद्धप्रयोजनत्वात्केवलानां सर्वत्रोपेक्षा । हेयस्य संसारतत्कारणस्य हाना-दुपादेयस्य ^६भोक्षतत्कारणस्योपात्तत्वात् सिद्धप्रयोजनत्वं नासिद्धं भगवताम् ।

इत्यादि रूप से सप्तभङ्गी घटित कर लेना चाहिये । अथवा वह तत्त्वज्ञान कथंचित् सत् है क्योंकि स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा रखता है । कथंचित् तत्त्वज्ञान असत् है क्योंकि पर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा रखता है । इत्यादि सप्तभङ्गी को यहाँ भी घटित करना चाहिये ।

उत्थानिका—अब प्रमाण के फल का विसंवाद दूर करने के लिये आचार्यश्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

केवलज्ञान प्रमाणरूप का, कहा उपेक्षा फल जानों ।

शेषज्ञान क्रमभावी का फल, ग्रहण त्याग बुद्धि मानों ॥

अथवा क्रमभावी ज्ञानों का, कहा उपेक्षा फल यदि वा ।

सब ज्ञानों का फल स्व-स्व, विषयक अज्ञान नाश होना ॥१०२॥

कारिकार्थ—केवलज्ञान का व्यवहित फल उपेक्षा, शेष, मति, श्रुत आदि चारों ज्ञानों का व्यवहित फल ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना, छोड़ने योग्य को छोड़ना तथा उपेक्षा करना है । एवं इन पांचों ज्ञानों का ही साक्षात् फल अपने-अपने विषयभूत पदार्थों में अज्ञान का नाश होना ही है ॥१०२॥

कारिका पाठ की अपेक्षा से युगपत् सर्वभासि केवलज्ञान आद्य कहलाता है उसका फल उपेक्षा है ।

प्रश्न—वह कैसे है ?

उत्तर—केवली भगवान के सभी प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं अतएव सभी हेय और उपादेय में

1 ता । व्या० प्र० । अथ प्रमाणानां प्रमाणसंख्यां प्रमाणस्वरूपं प्रमाणविषयञ्च विषटयित्वेदानां प्रमाणफलविवादं निराकरोति । दि० प्र० । 2 हेयोपादेय । दि० प्र० । 3 केवलस्व मत्यादेः । व्या० प्र० । 4 अमुद्यम् । व्या० प्र० । 5 औदात्तियम् । दि० प्र० । 6 संसारावस्थायाम् । व्या० प्र० ।

[बौद्धो भगवति करुणाबुद्धि मन्यते किन्तु जैनाचार्याः करुणाया मोहस्य पर्यायं कथयित्वा निषेधन्ति तथा केवलिनि उपेक्षाफलं कथमिति स्पष्टयन्ति]

ननु करुणावतः परदुःखजिहासोः कथमुपेक्षा ? 'तदभावे कथं चाप्तिः ? इति चेन्न, तेषां मोहविशेषात्मिकायाः करुणायाः संभवाभावात् स्वदुःखनिवर्तनवद्करुणयापि वृत्तेरन्य-दुःखनिराचिकीर्षायाम् । नत्वस्मदादिवद्दृश्यालोरेवात्मदुःखनिवर्तनं युक्तम् । तथा हि, यो यः स्वात्मनि दुःखं निवर्तयति स स स्वात्मनि ^२करुणावान्, यथास्मदादिः । तथा च ^३योगी ^४स्वात्मनि संसारदुःखं निवर्तयतीति ^५युक्तिः । न चात्र ^६हेतुविरुद्धोऽनैकान्तिको वा, विपक्षे ^७सर्वथाप्यभावात् बाधकप्रमाणसामर्थ्यात्, ^८स्वसाध्याविनाभावसिद्धेः । तथा हि, ^९यः स्वा-

उनकी उपेक्षा है । संसार और उसके कारण हेय हैं अतः उनका त्याग किया जाता है, मोक्ष और उसके कारण उपादेय हैं उनको ग्रहण किया जाता है इसलिये "सिद्ध प्रयोजनत्व" हेतु भगवान् के प्रति असिद्ध नहीं है ।

[बौद्ध भगवान् में करुणा बुद्धि मानता है किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि करुणा मोह की पर्याय है अतः केवली भगवान् के ज्ञान का फल उपेक्षा है यह बात स्पष्ट करते हैं ।]

सौगत—भगवान् करुणावान् हैं पर के दुःख को दूर करने की इच्छा वाले हैं उनके उपेक्षा कैसे संभव है और उसके अभाव में आप्तपना भी कैसे संभव है ?

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि उन भगवान् में मोह विशेषात्मक करुणा ही असंभव है । स्वदुःख के दूर करने के समान अकरुणा से भी अन्य के दुःखों को दूर करने की इच्छा में प्रवृत्ति हो जाती है अर्थात् बिना करुणा के भी अपने दुःखों का दूर करना एवं पर के दुःखों को दूर करना होता है ।

बौद्ध—दयालु ही अपने दुःख को दूर कर सकते हैं यह बात युक्त है । जैसे कि हम लोग दया से ही अपने दुःखों को दूर करते हैं । तथाहि । "जो-जो अपने दुःखों को दूर करता है वह-वह अपने प्रति करुणावान् हैं । जैसे हम लोग । और उसी प्रकार से योगीगण अपने संसार के दुःखों को दूर करते हैं यह युक्तियुक्त है । यहां यह हेतु विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक नहीं है । इस हेतु का अकरुणावान् विपक्ष में सर्वथा भी अभाव है क्योंकि बाधक प्रमाण की सामर्थ्य विद्यमान है और

- 1 करुणा । दि० प्र० । 2 योगी पक्षः स्वात्मनि करुणावान् भवतीति साध्यो धर्मः स्वात्मनि दुःखनिवर्तकत्वात् यो यः स्वात्मनि दुःखं निवर्तयति स स्वात्मनि करुणावान् यथाऽस्मदादिः स्वात्मनि दुःखनिवर्तकश्चायं तस्माच्चात्मनि करुणावान् । दि० प्र० । 3 केवली । व्या० प्र० । 4 ह्यात्मनि । इति पा० । दि० प्र० । 5 विवादापन्नः स्वदुःख-निवर्तको न भवतीति साध्यो धर्मः स्वात्मन्यकरुणावत्त्वान् । यः स्वात्मन्यकरुणावान् न सुखदुःखं निवर्तयति । यथा द्वेषादेर्विषलक्षकः । दि० प्र० । 6 स्वात्मनि दुःखनिवर्तकत्वादिति । दि० प्र० । 7 साकल्येनैकदेशेन । दि० प्र० । 8 स्वात्मनि दुःखनिवर्तकस्य । दि० प्र० । 9 केवली । दि० प्र० ।

त्मन्यकरुणावान्न स स्वदुःखं^१ निवर्तयति, यथा द्वेषादेर्विषभक्षक इति, साध्यव्यावृत्तौ साधन-
व्यावृत्तिनिश्चयात् । 'भयलोभादिनात्मदुःखनिवर्तकैर्यभिचारी'^४ हेतुरिति चेन्न, 'तेषामपि
करुणोत्पत्तेः । न ह्यात्मन्यकरुणावतः परतो भयं लोभो मानो वा संभवति, 'तस्यात्मकरुणा-
प्रयुक्तत्वात् । इति परम्परया करुणावानेवात्मदुःखमनशनादिनिमित्त'^७ निवर्तयति । भयादि-
हेतुका वा कस्यचिदात्मनि करुणोत्पद्यते ।^८ सोत्पन्ना सती स्वदुःखं निवर्तयति । इति साक्षा-
त्करुणयात्मदुःखनिवर्तने^९ प्रवर्तते^{१०} ततो न^{११} व्यभिचारः ।^{१२} एतेनादृष्टविशेषवशादात्मनि^{१३}
^{१४}दुःखनिवर्तनपरैर्यभिचारचोदना निरस्ता,^{१५} ततः^{१६} करुणोत्पत्तेरेव तन्निवर्तनात् ।^{१७} तन्ना-

इस हेतु का अपने साध्य के साथ अविनाभाव सिद्ध है । तथाहि "जो अपने में अकरुणावान् है वह अपने दुःख को दूर नहीं करता है । जैसे द्वेष, दुःख, भय आदि से विष को भक्षण करने वाला मनुष्य अपने प्रति करुणावान् नहीं है । इस प्रकार से साध्य की व्यावृत्ति के होने पर साधन की व्यावृत्ति निश्चित है । यदि कोई कहे कि भय, लोभादि से अपने दुःखों को निवर्तन करने वालों से यह हेतु व्यभिचारी है सो भी नहीं कहना क्योंकि उनके भी करुणा की उत्पत्ति पाई जाती है । जो अपने में करुणावान् नहीं है उसको पर से भय, लोभ अथवा मान का होना संभव नहीं है क्योंकि वे भयादि अपने में करुणा होने से ही होते हैं । इस प्रकार से परम्परा से करुणावान् ही अनशनादि के निमित्त से होने वाले अपने दुःखों को दूर करता है । अथवा भयादि के निमित्त से भी किसी को अपने में करुणा उत्पन्न होती है और वह करुणा उत्पन्न होकर अपने दुःखों को दूर करती है । इसलिये साक्षात् करुणा से ही अपने दुःख को दूर करने में प्रवृत्ति होती है । अतः इस हेतु में व्यभिचार दोष नहीं है । इसी कथन से "भाग्य विशेष के निमित्त से अपने दुःखों को दूर करने में तटस्थ लोग तत्पर होते हैं, अतः व्यभिचार दोष आता है ।" ऐसा कहने वालों का भी निरसन कर दिया गया है क्योंकि उस भाग्य से भी करुणा की उत्पत्ति होने से ही दुःखों को दूर करना सम्भव है । इसलिये करुणा

१ बाधकप्रमाणात् । दि० प्र० । २ अत्राह परः स्याद्वादिन् करुणावत्त्वादिति भावको हेतु भयलोभादिना कृत्वा आत्मदुःखनिवर्तकैः पुरुषैः व्यभिचार्यस्तीति चेत् = स्या० एवं न कस्मात् भयलोभादियुक्तानामपि करुणासंभवादात्मदुःखनिवर्तनं घटते । दि० प्र० । ३ मान । दि० प्र० । ४ पुरुषैः । दि० प्र० । ५ निवर्तकानाम् । दि० प्र० । ६ परतो-भयादिमतः । दि० प्र० । ७ जनितम् । दि० प्र० । ८ करुणा । दि० प्र० । ९ भा । व्या० प्र० । १० प्रवर्तते यतः । व्या० प्र० । ११ स्वात्मनि दुःखनिवर्तकस्य हेतोः । व्या० प्र० । १२ भयलोभादिना आत्मदुःखनिवर्तको व्यभिचारी नास्तीति समर्थनं ग्रन्थेन । व्या० प्र० । १३ पुनराह परः पुण्यविशेषवशादात्मदुःखनिवर्तनपरैः पुरुषैः हेतुर्व्यभिचारी स्यादित्युक्ते स्या० एतेनात्मनि करुणावत् एव स्वदुःखनिवर्तनकव्यवस्थापनद्वारेण व्यभिचारवाक्यं निराकृतम् । दि० प्र० । १४ करुणावत्त्वलक्षणसाध्याभावरूपतया । व्या० प्र० । १५ यत एवम् । दि० प्र० । १६ आत्मनि । व्या० प्र० । १७ स्वसुख । दि० प्र० ।

करुणस्यात्मदुःखनिवर्तनं दृष्टम् । ¹अतोयमसमाधिरिति² चेन्न, स्वभावतोपि ³स्वपरदुःख-
निवर्तननिबन्धनत्वोपपत्तेः ⁴प्रदीपवत् । न वै प्रदीपः कृपालुतयात्मानं परं वा ⁵तमसो दुःख-
हेतोर्निवर्तयतीति । ⁶किं तर्हि ? तथा ⁷स्वभावात् । ⁸कल्पयित्वापि कृपालुतां तत्करण-
स्वभावसामर्थ्यं मृग्यम् । एवं हि परम्परापरिश्रमं परिहरेत् ⁹ततो ¹⁰निःशेषान्तरायक्षयाद-
भयदानं स्वरूपमेवात्मनः प्रक्षीणावरणस्य परमा दया । सैव च मोहाभावाद्वागद्वेषयोरप्राणि-

रहित के अपने दुःखों को दूर करना नहीं देखा जाता है अतएव जो आपने भगवान् में करुणा का
अभाव सिद्ध किया है वह कथन समाधानजनक नहीं है ।

जैन—ऐसा नहीं कहना । स्वभाव से भी स्वपर के दुःखों को दूर करने के कारण देखे जाते
हैं जैसे प्रदीप । प्रदीप कृपा बुद्धि से अपने अथवा पर के दुःख हेतुक अन्धकार को दूर करता है आप
ऐसा नहीं कह सकते हैं ।

प्रश्न—तो कैसे होता है ?

उत्तर—उसी प्रकार से दीपक का स्वभाव है । आपको दयालुता की कल्पना करके भी
उसके कारण स्वभाव की सामर्थ्य को तो ढूँढना ही चाहिये । एवं परम्परा के परिश्रम को भी दूर करने से
ही छोड़ देना चाहिये ।

भावार्थ—करुणा के अस्तित्व को मान करके उसके उत्पत्ति के कारण क्या है ? ऐसा प्रश्न
होने पर तो केवली भगवान के उस करुणा के उत्पादक कर्म तो हैं । नहीं, किन्तु उनका स्वभाव ही
वैसा है यह मानना पड़ेगा और उस प्रकार से परम्परा से भी स्वभाव ही सिद्ध होता है । इस प्रकार
से तो साक्षात् स्वभाव की कल्पना ही उत्तम है केवली भगवान में वैसा ही स्वभाव है । अतएव राग,
द्वेषादि से उत्पन्न हुई करुणा संसारी जीव के समान केवली में नहीं है । यदि कोई कहे कि कर्म से
करुणा उत्पन्न होती है उसी से भगवान् स्व-पर के दुःखों को दूर करने की इच्छा करते हैं, किन्तु यह
परम्परा श्रम भी किसलिये करना ? प्रत्युत उनमें स्व-पर दुःख को दूर करने का स्वभाव ही मानना
श्रेयस्कर है ।

सम्पूर्ण अन्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से अभयदान होता है वह आवरणरहित आत्मा का
स्वरूप ही है और उसे ही 'परम दया' कहते हैं और वह परम दया ही मोह के अभाव से राग-द्वेष रूप
परिणाम के न होने से उपेक्षा रूप कही जाती है ।

1 अत्राह परः यतो करुणावत् आत्मदुःखनिवर्तनं दृष्टम् । अतोस्मत्कारणाद्भगवतो जिनेन्द्रस्यायमसमाधिः
कष्ट इति चेत् । स्या० एवं न कस्मादित्यनुमानवलात् । भगवान् पक्षः स्वपरदुःखनिवर्तननिबन्धको भवतीति साध्यो
धर्मस्तन्निवर्तनस्वभावत्वात् यथा प्रदीपः । दि० प्र० । 2 असमाधानम् । व्या० प्र० । 3 योगिनः । व्या० प्र० ।
4 दृष्टान्तं भावयति । व्या० प्र० । 5 का । व्या० प्र० । 6 दुःखनिराकरणं करुणया नास्ति चेत् । व्या० प्र० ।
7 निवर्तनस्वभावत्वात् । व्या० प्र० । 8 केवलिनः । व्या० प्र० । 9 उपपत्तिः । दि० प्र० । 10 साकल्य ।
व्या० प्र० ।

धानादुपेक्षा । तीर्थकरत्वनामोदयात् हितोपदेशप्रवर्तनात् परदुःखनिराकरणसिद्धिः । इति न
 १बुद्धवत्करुणयास्य प्रवृत्तिर्भगवतो, येनोपेक्षा केवलस्य फलं न स्यात् ।

[अज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानस्य फलमिति स्पष्टयन्ति जैनाचार्याः ।]

२अव्यवहितं तु ३फलमाद्यस्याज्ञाननिवृत्तिरेव, स्वविषये ४मत्यादिवत् । तथा हि,
 मत्यादेः साक्षात् फलं स्वार्थंभ्यामोहविच्छेदस्तदभावे दर्शनस्यापि ५सन्निकर्षविशेषात् ६क्षण-
 परिणामोपलम्भवदविसंवादकत्वासंभवात् । ७तदनेन प्रमाणाद्भिन्नमेव फलमिति व्युदस्तम् ।
 ८तथा परम्परया हानोपादानसंवित्तिः फलमुपेक्षा वा मत्यादेः । ९एतेनाभिन्नमेव १० प्रमाणात्फल-
 मिति निरस्तम् ।

यदि कोई कहे कि उपेक्षा के होने पर परदुःख का निराकरण कैसे होगा ? उस पर आचार्य
 उत्तर देते हैं कि “तीर्थकर नाम कर्म के उदय से हितोपदेश में प्रवृत्ति होने से पर के दुःखों का
 निराकरण करना सिद्ध ही है । इसलिये आपके बुद्ध भगवान् के समान जिनेन्द्र भगवान् करुणा बुद्धि
 से पर के दुःखों को दूर करने की प्रवृत्ति नहीं करते हैं कि जिससे केवलज्ञान का फल उपेक्षा न हो
 सके । अर्थात् केवलज्ञान का उपेक्षा फल सिद्ध ही हो गया ।

[ज्ञान का फल अज्ञान निवृत्ति है ऐसा आचार्य स्पष्ट करते हैं ।]

केवलज्ञान का साक्षात् फल तो अज्ञान की निवृत्ति ही है अपने-अपने विषय में मति आदि के
 समान । तथाहि—मति आदि ज्ञानों का साक्षात् फल स्वार्थ—अपने विषय में अज्ञान का विच्छेद—
 अभाव होना ही है । यदि अज्ञान का अभाव होना यह फल न मानें तब तो निर्विकल्पदर्शन भी
 सन्निकर्ष के समान होने से क्षण परिणाम की उपलब्धि के समान अविसंवादक नहीं हो सकेगा ।
 अर्थात् जैसे एक क्षण की पर्याय को ग्रहण करने वाला निर्विकल्प ज्ञान अर्थ निश्चयक नहीं है उसी
 प्रकार से सन्निकर्ष, दर्शन अथवा मत्यादि ज्ञान भी अर्थ के निश्चयक नहीं हैं इसलिये दोनों अवि-
 संवादी नहीं होंगे । अभिप्राय यह है कि यदि आप मत्यादि ज्ञान का साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति
 नहीं मानोगे तब तो जैसे ये सन्निकर्ष आदि स्व विषय में अविसंवादी नहीं हैं वैसे ये मत्यादि भी अवि-
 संवादी नहीं हो सकेंगे, किन्तु देखे जाते हैं । कोई कहे कि निर्विकल्प ज्ञान विसंवादी कैसे है ? तो
 उसका उत्तर है कि वह अनुमान का आश्रय लेता है ।

जो (यौगजन) “प्रमाण से उसके फल को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं इस उपर्युक्त कथन से

1 यथा सुमतस्य मोहात्मिकया करुणया कृत्वा हितोपदेशप्रवृत्तिस्तथा जिनेन्द्रस्य केवलज्ञानस्य फलमुपेक्षा
 येन केन न स्यादपितु स्यात् । उपेक्षा प्रमाणाद्भिन्नं फलम् । दि० प्र० । 2 स्वाव्यवहितम् । इति पा० ।
 दि० प्र० । 3 केवलस्य । व्या० प्र० । 4 केवलज्ञानस्थोपेक्षा लक्षणं फलं प्रमाणाद्भिन्नम् । दि० प्र० । 5 उभयो-
 रर्थानिश्चयकत्वाविशेषात् । दि० प्र० । 6 क्षणे परिणामस्तस्य ग्राहक उभालंभो निर्विकल्पकप्रत्यक्षं तस्यैव
 तद्दृढार्थाविसंवादकत्वासंभवोऽन्यथानुमानवैफल्यात् । दि० प्र० । 7 तस्मात्साक्षादित्यादिना । व्या० प्र० । 8 उपपत्तिः
 समनन्तरं वक्ष्यमाणान्न दृष्टव्याः । व्या० प्र० । 8 परम्परयेत्यादिना । व्या० प्र० । 10 सीगताः प्रमाणादभिन्नं
 फलमभ्युपगच्छति । दि० प्र० ।

[करणक्रिययोः कथंचित् एकत्वं कथंचित् नानात्वं चेति जैनाचार्याः स्पष्टयन्ति ।]

तथा हि, करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं ¹प्रदीपतमोविगमवत्, ²नानात्वं च परश्वादिवत् । ननु च 'यथा देवदत्तः काष्ठं परशुना छिनत्तीति करणस्य क्रियायाश्च नानात्वं सिद्धं, छिदेः काष्ठस्थत्वात्परशोर्देवदत्तस्थत्वात्, तथा प्रदीपस्तमो नाशयत्युद्द्योतेनेत्यत्रापि करणस्योद्द्योतस्य क्रियायाश्च तमोविनाशात्मिकाया नानात्वमेव प्रतीयते । तद्वत्करणस्य प्रमाणस्य क्रियायाश्च फलज्ञानरूपाया नानात्वेनैव भवितव्यं, तदनानात्वे दृष्टान्तभावात्' इति केचित् तेषु न प्रतीत्यनुसारिणः ³प्रदीपः स्वात्मनात्मानं प्रकाशयतीति प्रतीतेः, प्रदीपात्मनः कर्तुरनन्यस्य ⁴कथंचित्करणस्य, प्रकाशनक्रियायाश्च प्रदीपात्मिकायाः

उनका भी निरसन कर दिया गया है । तथा मत्यादि ज्ञानों का परम्परा से हान, उपादान संबन्धि है अथवा उपेक्षा फल है और इसी कथन से "प्रमाण से उसका फल अभिन्न ही है" ऐसा कहने वाले बौद्धों का भी खण्डन कर दिया गया है ।

[करण और क्रिया में कथंचित् एकत्व है और कथंचित् भेद भी है
जैनाचार्य इस बात को स्पष्ट करते हैं ।]

तथाहि, करण—प्रमाण और क्रिया—परिच्छिति लक्षण—फल ये दोनों कथंचित् एक रूप हैं जैसा दीपक और उससे अंधकार का नाश । अर्थात् तम का नाश ही परम्परा से प्रदीप है एवं करण और क्रिया रूप प्रमाण और उसका फल ये दोनों कथंचित् नाना रूप हैं परशु आदि के समान । अर्थात् परशुकरण से उसकी छेदन क्रिया भिन्न है ।

नैयायिक—जैसे देवदत्त परशु से लकड़ी को काटता है इस प्रकार से करण और क्रिया में भिन्नता है यह बात सिद्ध है, क्योंकि छिदि क्रिया काष्ठ में स्थित है एवं परशु देवदत्त के पास है । उसी प्रकार से प्रदीप अपने उद्योत के द्वारा अंधकार का नाश करता है इसमें भी उद्योत रूप करण और तमो विनाशात्मक क्रिया भिन्न ही प्रतीति में आती है । उसी प्रकार से प्रमाण रूप करण और फलज्ञान रूप क्रिया इन दोनों में भिन्नता ही होना चाहिये क्योंकि उन दोनों को अभिन्न सिद्ध करने में दृष्टान्त का अभाव है ।

जैन—ऐसा कहने वाले आप भी प्रतीति का अनुसरण करने वाले नहीं हैं क्योंकि प्रदीप अपने स्वरूप से ही अपने को प्रकाशित करता है ऐसी प्रतीति आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है । प्रदीपात्मक-कर्ता से करण कथंचित् अभिन्न है, अतः करण और प्रदीपात्मक रूप प्रकाशन क्रिया में कथंचित् अभेद सिद्ध है । उसी प्रकार से प्रमाण और उसके फल में कथंचित् एकत्व की सिद्धि है क्योंकि

1 प्रकाश । दि० प्र० । 2 करणस्य क्रियायाश्च भिन्नत्वम् । व्या० प्र० । 3 उद्योततमोविनाशयोः कथंचिदे-
कत्वमेव तुच्छरूपाभावस्या भावादिति पूर्वोक्तदृष्टान्तस्यैव समर्थयितुं शक्यत्वेप्यन्यथा दृष्टान्तं कथयन्ति प्रदीप इति ।
दि० प्र० । 4 केनचित्प्रकारेण साधकतमत्वरूपेण । दि० प्र० ।

कथंचिदभेदसिद्धे । ^१तद्वत्प्रमाणफलयोः कथंचिदव्यवहितत्वसिद्धिरुदाहरणसद्भावात् । सर्वथा तादात्म्ये तु प्रमाणफलयोर्न ^२व्यवस्था, ^३तद्भावाविरोधात् । न हि ^४सारूप्यमस्य प्रमाण-
मधिगतिः ^५फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिध्यति । दर्शनस्यासारूप्यव्यावृत्तिः ^६सारूप्यमन-
धिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति ^७व्यावृत्तिभेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेन्न, स्वभाव-
भेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदानुपपत्तेः । ^८तस्माद्ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायामपि
व्यामोहविच्छेदाभावे विसंवादानिराकरणे तदज्ञस्येव विषदृष्टिः ^९प्रमाणत्वं न प्रतिपत्तुमर्हति ।

‘प्रदीपवत्’ इस उदाहरण का सद्भाव है एवं आप सौगत के यहां भी सर्वथा प्रमाण और फल में तादात्म्य-अभेद मानने पर तो यह प्रमाण है, यह उसका फल है इत्यादि व्यवस्था नहीं हो सकेगी क्योंकि सर्वथा अभेद में तद्भाव का विरोध है। ‘इस निर्विकल्प प्रमाण यह सारूप्य-ताद्वरूप्य अर्थात् मेयरूप प्रमाण है और अधिगतति इसका फल है’ यह बात सर्वथा तादात्म्य में सिद्ध नहीं होती है।

सौगत—निर्विकल्प दर्शन में असारूप्य से व्यावृत्ति सारूप्य है, अनधिगति से व्यावृत्ति अधिगति है। इस प्रकार से व्यावृत्ति के भेद से एक में भी प्रमाण और फल की व्यवस्था बन जाती है।

जैन—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि स्वभाव में भेद को माने बिना अन्य से व्यावृत्ति का भेद भी नहीं बन सकता है। इसलिये ग्राह्य और संविदाकार में प्रमाण और फल की व्यवस्था करने पर भी अज्ञान के नाश को न मानने पर विसंवाद का निराकरण नहीं हो सकता है क्योंकि आपका मान्य वह निर्विकल्प दर्शन अज्ञानी के समान ही है विष के विषय में ‘यह विष है’ इस प्रकार से न जानता हुआ विष का प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्षप्रमाणता—वास्तविकता को जानने के लिये समर्थ नहीं हो सकेगा। अर्थात् किसी को विष का इन्द्रिय प्रत्यक्ष हुआ किन्तु वह ज्ञान अपने विषय में अज्ञान की निवृत्ति रूप फल को नहीं करता है अतः उसे विष में ‘यह विष है’ ऐसा ज्ञान नहीं होगा पुनः वह उसका प्रयोग भी कर बैठेगा क्योंकि अज्ञान का अभाव हुये बिना भी उतने प्रत्यक्ष मात्र को ही प्रमाण

१ प्रदीपस्य करणप्रकाशक्रियावत् । व्या० प्र० । २ न व्यवस्थेति पाठः । दि० प्र० । ३ तयोः । दि० प्र० । ४ तज्ज-
न्मतद्रूपतदध्यवसायलक्षणं सरूपं तस्य भावः सारूप्यमस्य सौगताभ्युपगतस्य दर्शनस्य । दि० प्र० । ५ परिच्छितिः ।
व्या० प्र० । ६ सौगत आह एकस्य निर्विकल्पकदर्शनस्योक्तलक्षणव्यवृत्तिभेदात् प्रमाणफलयोर्व्यवस्थितिर्घटते इति
चेत् = स्या० इति न प्रमाणफलयोः स्वभावभेदं विना अन्यव्यावृत्तिभेदो नोपपद्यते यतः = यस्मादेवं तस्मात्संवेदना-
द्वैताभ्युपगतयोर्वैद्यवेदकाकारयोः । दि० प्र० । ७ निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य । दि० प्र० । ८ मत्यादेर्व्यामोहविच्छेदः
साक्षात् फलं यस्मात् । ग्राह्याकारो मेयरूपता । व्या० प्र० । ९ विषदर्शनवत्सर्वज्ञस्याकल्पनात्मकं दर्शनं न प्रमाणं
स्यादविसंवादहानितः = ईषदर्शनम् । दि० प्र० ।

तावत्तैव प्रमाणत्वे क्षणिकत्वाद्यनुमानमधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वान्न वै प्रमाणमिति 'निरूपित-
प्रायम् ।

मान लेने पर तो दर्शन के अनन्तर होने वाले क्षणिकादि अनुमान भी निर्विकल्प के द्वारा अधिगत अर्थ को ही जानने वाले होने से प्रमाण नहीं हो सकेंगे। इस प्रकार से प्रायः निरूपण कर दिया गया है।

प्रमाण का लक्षण और फल स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क की पृथक् सिद्धि का सारांश

हे भगवन् ! आपके सिद्धान्तानुसार तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है उसमें युगपत् सर्व पदार्थों का अवभासन करने वाला केवलज्ञान है एवं स्याद्वादनय से संस्कृत मतिश्रुतादि जेष ज्ञान कर्मभावी हैं। "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं" इस विशेषण से अज्ञान, निराकार दर्शन और सन्निकर्ष आदि को अप्रमाण कह दिया है क्योंकि ये स्वार्थाकार—जानने रूप क्रिया के प्रति साधकतम नहीं हैं तथा संशयादि मिथ्या-ज्ञान और मत्यादि आभासज्ञान का भी निराकरण हो जाता है। यदि आप कहो कि तत्त्वज्ञानान्तर रूप प्रमेय और आत्मा भी स्वपर ज्ञान के प्रति साधकतम हैं अतः वे प्रमेय और प्रमाता भी प्रमाण बन जावेंगे ऐसा नहीं कहना क्योंकि तत्त्वज्ञानान्तर रूप प्रमेय तो कर्म रूप है और प्रमाता आत्मा कर्ता है अतः वे दोनों साधकतम नहीं हैं। यदि इन्हें भी साधकतम मानोगे तो ये करण रूप हो जावेंगे। अतएव "सम्पूर्ण प्रमाणों में व्यापी तथा अप्रमाणों से व्यावृत्त एवं प्रतीति से सिद्ध तत्त्वज्ञान प्रमाण लक्षण वाला है क्योंकि वह सुनिश्चितासम्भवद् बाधक प्रमाण रूप है।" उपर्युक्त तीनों विशेषणों से अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष का परिहार कर दिया है। तथैव हेतु भी निर्दोष है। यदि "असम्भवद्बाधक" पद न देते तो बाधा सहित भी प्रमाण हो जाते, 'निश्चित' पद न होता तो संशयित भी प्रमाण हो जाता "सु" शब्द न होता तो कदाचित् क्वचित् किसी को भी निश्चिता-सम्भवद्बाधक रूप ठीक हो जाता है किन्तु ऐसा नहीं है अतः "सु-सुष्ठु-सकल देश काल के पुरुषों की अपेक्षा से" ऐसा अर्थ सिद्ध होता है। अभिप्राय यह हुआ कि "सम्यक् प्रकार से सकल देश काल के पुरुषों की अपेक्षा से निश्चित रूप से असम्भव है बाधक प्रमाण जिसमें उसे "सुनिश्चितासम्भवद्-बाधकत्वात्" हेतु कहते हैं।

नैयायिक ने प्रवृत्ति की सामर्थ्य को सौगत ने अर्थवत्क्रिया को भाट्ट ने, अदुष्टकारणजन्य को एवं प्राभाकर ने लोक संमतत्त्व को प्रमाण माना है किन्तु इन सबका निराकरण श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में किया गया है।

१ व्यामोह्विच्छेदाभावविसंवादानिराकरणात् । दि० प्र० ।

शंका—यदि आप तत्त्वज्ञान को सर्वथा प्रमाण मानोगे तो अनेकांत का विरोध हो जावेगा ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना क्योंकि बुद्धि से अनेकांत सिद्ध है अर्थात् बुद्धि प्रमाण ही है ऐसा नियम नहीं है । असद् बुद्धि भी तो बुद्धि ही है । “जिस आकार से तत्त्व का ज्ञान होता है उस अपेक्षा से ही बुद्धि प्रमाण है” इस कथन से प्रमाण और प्रमाणाभास भी कथंचित् प्रमाणता और अप्रमाणता की मिश्रणावस्था रूप हैं । जैसे—द्विचंद्रादि मिथ्याज्ञान में संख्या के प्रकार वाला जो ज्ञानांश है वह अप्रमाण है तथा जो चन्द्र का ज्ञान है, प्रमाण है अतः एक ही अप्रमाण ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों बातें सिद्ध हो गईं । तथैव प्रमाण भी प्रमाणता अप्रमाणता रूप है, निर्दोष नेत्र वाले मनुष्य का चन्द्रसूर्योदय ज्ञान सर्वथा अविस्वादी इसलिये नहीं है कि उन्हें धरती से लगा हुआ समझ रहा है । इस प्रकार से प्रमाण और अप्रमाण अनेकांतरूप हैं ।

शंका—इस प्रकार से तो किसी को प्रमाण और किसी को अप्रमाण नाम ही नहीं रहेगा ।

समाधान—नहीं । संवाद की प्रकर्षता से ही प्रमाण की व्यवस्था है और विस्वादाद की प्रकर्षता से अप्रमाण की व्यवस्था है जैसे कस्तूरी, चंदन, कर्पूर आदि में स्पर्श, रस, वर्ण होने पर भी गन्ध गुण की प्रकर्षता होने से ये गन्ध द्रव्य कहे जाते हैं उसी प्रकार से अनुमान प्रमाण आदि भी कथंचित् मिथ्या प्रतिभास के होने पर भी तत्त्व ज्ञान कराने से ही प्रमाण हैं एवं अतत्त्वज्ञान से ही अप्रमाण हैं ऐसी व्यवस्था होने से अनेकांत भी सिद्ध है । आप बौद्ध के यहाँ प्रत्यक्ष तो निविकल्प होने से परोक्ष रूप ही हो गया तथा विकल्प ज्ञान वस्तु को ग्रहण ही नहीं करता है पुनः तत्त्व का ज्ञान किससे होगा ? इसलिये “प्रमाण ही तत्त्वज्ञान रूप है” ऐसा अवधारण करना चाहिये क्योंकि फल ज्ञान भी अपने अव्यवहित फल की अपेक्षा से प्रमाण रूप है अतः स्वलक्षण दर्शन के अनन्तर होने वाला सविकल्प ज्ञान भी प्रमाण हो जाता है पुनः “प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं” यह संख्या समाप्त हो जाती है ।

स्मृति—‘वह’ इस आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं ।

तथैव “स्मृति भी प्रमाण है क्योंकि वह ज्ञान विशेष को उत्पन्न करने वाली है” यदि आप बौद्ध सर्वथा स्मृति को अप्रमाण मानोगे तो अनुमान भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा क्योंकि अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृति भी अप्रमाण ही रहेगी अतः स्मृति का उपयोग विशेष होने से वह प्रमाण है क्योंकि अनुमान ज्ञान के समान वह भी अविस्वादिनी है । तथैव सांख्य ने तीन प्रमाण माने हैं, नैयायिक ने चार प्रमाण, प्राभाकर ने पांच, जैमिनी ने छह माने हैं । यह स्मृति प्रमाण इन सबके मान्य प्रमाण संख्या को समाप्त कर देती है क्योंकि स्मृति को आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन किसी में भी अंतर्भूत नहीं कर सकते हैं ।

यदि आप जबरदस्ती ही स्मृति को इनमें अंतर्भूत करोगे तो अनुमान भी इन्हीं में अंतर्भूत हो जावेगा एवं आगमादि भी नहीं रह सकेंगे क्योंकि शब्दादिकों की स्मृति बिना आगम आदि प्रमाण भी कैसे टिकेंगे । इसलिये स्मृति प्रमाण एक भिन्न प्रमाण है ।

प्रत्यभिज्ञान—“यह वही है ।” इस प्रकार के जोड़ रूपज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं ।

तथैव “प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है क्योंकि पदार्थ का निश्चय देखा जाता है प्रत्यक्षादि के समान ।” यह वही है, यह उसके सदृश है इत्यादि रूप से एकत्व, सादृश्य आदि प्रत्यभिज्ञान अबाधित हैं, संशयादि के व्यवच्छेदक हैं, किन्तु जो बाधित हो वह प्रत्यभिज्ञानाभास है अतः प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है क्योंकि तत्त्वज्ञान रूप है ।

उसी प्रकार से साध्य-साधन के सम्बन्ध का ज्ञान रूप तर्कज्ञान भी प्रमाण है क्योंकि अनिश्चित को निश्चय करता है । इस व्याप्ति के ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमानागम आदि ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं । आप बौद्ध कहें कि—यह तर्कज्ञान गृहीत को ग्रहण करने वाला है अतः अप्रमाण है सो कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि यह तर्क भी कथंचित् अपूर्वार्थ को विषय करने वाला है अतः प्रमाण है । प्रत्यक्ष और अनुमान तो संनिहित विषय को ग्रहण करते हैं वे दोनों अविचारक हैं विचार तो अनेक ज्ञान को विषय करने वाले तर्क प्रमाण से ही साध्य है । मीमांसक कहें कि अर्थापत्ति से अविनाभाव का निश्चय हो जावेगा सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रश्न यह होगा कि अर्थापत्ति सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक है या बिना सम्बन्ध ज्ञान के है ? यदि प्रथम पक्ष लेवें तो अनवस्था आ जावेगी, द्वितीय पक्ष में स्वयं अनिश्चित-अन्यथा भवन नहीं होने पर भी अर्थापत्ति की उत्पत्ति हो जावेगी । तथैव उपमान आदि से भी अविनाभाव का ज्ञान असम्भव है । इसलिये आगम, उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाण परोक्ष प्रमाण में अंतर्भूत हो जाते हैं ।

“मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलं” सूत्र के अनुसार ज्ञानावरण दर्शनावरण का एक साथ नाश होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् प्रकट होने से केवली भगवान् युगपत् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं । यदि आप सर्वज्ञ में दर्शन और ज्ञान को क्रम से मानोगे तो दर्शन के समय में ज्ञान एवं ज्ञान के समय में दर्शन का अभाव होने से सर्वज्ञ भगवान् नित्य ही सर्वज्ञ सर्वदर्शी नहीं रहेंगे । तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन सादि और अनन्त हैं ।

जो मति, श्रुत आदि ज्ञान क्रमवर्ती हैं वे भी प्रमाण हैं । एवं “तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः” इस सूत्र के अनुसार एक जीव में एक साथ जो चार ज्ञान माने हैं वे केवल लब्धि रूप से ही हैं विषयों को जानने की अपेक्षा से नहीं हैं क्योंकि उपयोग तो एक ज्ञान का एक काल में एक विषय में ही होता है किन्तु छद्मस्थ के ज्ञान और दर्शन क्रमवर्ती हैं । हम जैनों ने भी चक्षु

आदि पांचों इन्द्रियों के ज्ञान को क्रम से ही माना है। एवं ये ज्ञान नयों से उपलक्षित हैं तथा स्याद्वाद से उपलक्षित हैं क्योंकि ये नय और स्याद्वाद विकल और सकल को विषय करने वाले हैं अथवा तत्त्वज्ञान को स्याद्वाद नय से संस्कृत ही समझना चाहिये क्योंकि वे क्रम और अक्रम दोनों प्रकार से होते हैं।

सप्तभंगी प्रक्रिया—तत्त्वज्ञान कथंचित् अक्रमभावी है क्योंकि केवलज्ञान की अपेक्षा सकल पदार्थ को विषय करते हैं। कथंचित् तत्त्वज्ञान क्रमभावी है क्योंकि मत्यादि ज्ञानों की अपेक्षा विकल को विषय करने वाले हैं। तत्त्वज्ञान कथंचित् उभय रूप है इत्यादि।

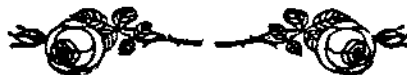
अथवा अर्थज्ञान पर्याय के प्रति तत्त्वज्ञान स्याद्वाद नय से संस्कृत है अतः कथंचित् तत्त्वज्ञान प्रमाण है क्योंकि स्व और अर्थ प्रमिति के प्रति साधकतम है कथंचित् तत्त्वज्ञान अप्रमाण है क्योंकि प्रमाणान्तर से प्रमेय है अथवा स्वतः प्रमेय है इत्यादि सप्तभंगी प्रक्रिया है।

अथवा कथंचित् वह तत्त्वज्ञान सत् रूप है क्योंकि स्वरूपादि की अपेक्षा रखता है। कथंचित् तत्त्वज्ञान असत् रूप है क्योंकि पर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा है। इत्यादि रूप से सप्तभंगी।

केवलज्ञान का व्यवहित फल उपेक्षा है शेष मति, श्रुत आदि चारों ज्ञानों का व्यवहित फल ग्रहण करने योग्य का उपादान, छोड़ने योग्य का त्याग तथा उपेक्षा है। एवं इन पांचों ज्ञानों का ही साक्षात् फल अपने-अपने विषयभूत पदार्थों में अज्ञान का नाश होना ही है। केवली भगवान के सभी प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं अतएव सभी हेय और उपादेय में उनकी उपेक्षा है संसार और उसके कारण हेय हैं मोक्ष और उसके कारण उपादेय हैं।

सौगत—भगवान् परम कारुणिक हैं अतः पर के दुःख को दूर करने की इच्छा वाले हैं पुनः उनके उपेक्षा कैसे होगी ?

जैन—भगवान् में मोह विशेष से होने वाली करुणा ही असम्भव है। तथा बिना करुणा के भी अपने एवं पर के दुःखों को दूर करना होता है जैसे दीपक आदि बिना करुणा के स्वभाव से ही स्वपर अधकार को दूर करते हैं। इसलिये संपूर्ण अंतराय कर्म के नष्ट हो जाने से केवली भगवान के अभयदान होता है वह आत्मा का स्वभाव ही है उसे ही परम दया कहते हैं और वह परम दया ही मोह के अभाव से रागद्वेषादि परिणाम के न होने से उपेक्षा रूप कही जाती है अतः तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से हितोपदेश में प्रवृत्ति होने से पर के दुःखों का निराकरण सिद्ध हो जाता है एवं प्रमाण से उसका फल कथंचित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न है जैसे प्रमाण रूप तत्त्वज्ञान स्याद्वाद नय से संस्कृत है तथैव उसका फल भी स्याद्वादनय से संस्कृत है ऐसा समझना चाहिये।



ननु च स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानमित्युक्तं ^१तद्वत् ^२फलमपीति स एव तावत् स्याच्छब्दोभिधीयतामित्याहुः—

^३वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं ^४प्रति विशेषणम् ।

^५स्यान्निपातोर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

[अपरेः कल्पितं दशधा वाक्यस्य लक्षणं निराकृत्य निर्दोषवाक्यलक्षणं बुवन्ति जनाचार्याः ।]

किं पुनर्वाक्यं नामेत्युच्यतां, ^६तत्र विप्रतिपत्तेः । ^७तदुक्तम्, (१) आख्यातशब्दः (२) संघातो, (३) ^८जातिः संघातवर्तिनी । (४) एकोनवयवः शब्दः (५) क्रमो (६—७) ^९बुद्ध्यनुसंहती ॥१॥ (८) पदमाद्यं (९) पदं ^{१०}चान्त्यं (१०) पदं सापेक्षमित्यपि । वाक्यं

उत्थानिका—स्याद्वाद नय से संस्कृत तत्त्वज्ञान है ऐसा आपने कह दिया है, तद्वत् फल भी स्याद्वाद नय से संस्कृत है ऐसा भी सिद्ध किया है । अब स्यात् शब्द का ही वर्णन कीजिये, इस प्रकार से जिज्ञासा व्यक्त होने पर ही आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं ।

नाथ ! आपके या श्रुतकेवलि मुनियों के भी वाक्यों में ।

“स्यात्” शब्द है निपात चूंकि, अर्थ साथ सम्बन्धित है ॥

इसीलिये यह सब वाक्यों में “अनेकांत” का द्योतक है ।

गम्य वस्तु के प्रती विशेषण, अर्थ विवक्षित सूचक है ॥१०३॥

कारिकार्थ—हे भगवन् ! श्रुत केवलियों के सिद्धान्त में एवं आप केवलज्ञानी के सिद्धांतानुसार “स्यात्” यह शब्द निपात सिद्ध है वाक्यों में अनेकांत का उद्योतन करने वाला है और गम्य—अर्थ के प्रति समर्थ विशेषण रूप है क्योंकि यह अपने अर्थ से रहित है ॥१०३॥

[अन्य जनों द्वारा कल्पित दस प्रकार के वाक्य के लक्षणों का निराकरण करके

जनाचार्य स्वयं निर्दोष वाक्य का लक्षण करते हैं ।]

प्रश्न—वाक्य किसे कहते हैं सो कहिये क्योंकि उसी में विसंवाद है । तदुक्तं—

श्लोकार्थ—कोई आख्यात शब्द को वाक्य कहते हैं, कोई संघात को, कोई संघातवर्तिनी जाति को, कोई अवयवरहित एक शब्द को, कोई वर्णमात्र के क्रम को, कोई बुद्धि को, कोई अनुसंहती को, कोई आद्यपद को, कोई अंतपद को एवं कोई सापेक्ष पद को वाक्य कहते हैं । इस प्रकार न्यायवादियों के यहाँ वाक्यों के प्रति भिन्न-भिन्न कल्पनायें बहुत प्रकार से पाई जाती हैं । ॥१-२॥

१ तत्त्वज्ञानवत् । दि० प्र० । २ स्याद्वादनयसंस्कृतम् । दि० प्र० । ३ वक्ष्यमाणप्रकारेषु । दि० प्र० । ४ ज्ञातुमर्थं प्रतिविशेषणं स्यान्नित्य इत्यादिवत् । व्या० प्र० । गम्यं साध्यं विवक्षितमर्थं प्रति । दि० प्र० । ५ श्रीवर्द्धमानस्य । दि० प्र० । ६ वाक्ये । व्या० प्र० । ७ विप्रतिपत्तिरूपम् । व्या० प्र० । ८ पदत्वम् । व्या० प्र० । ९ बुद्धिश्च पद-विषयज्ञानमनुसंहतिश्च पदानामनुसरणमिति द्वन्द्वः । दि० प्र० । १० मध्यम् । व्या० प्र० ।

प्रति मतिभिन्ना बहुधा ^१न्यायवेदिनाम् ॥२॥ इति । ^२अत्रोच्यते,—पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यं, (१) न पुनराख्यातशब्दः, ^३तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य ^४पदत्वादन्व-थाख्यात^५पदाभावप्रसङ्गात्^६ । पदान्तरसापेक्षस्यापि क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात्, प्रकृतार्थपरिसमाप्तेः, ^७निराकांक्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम् । (२) संघातो वाक्यमित्यत्रापि परस्परापेक्षाणां पदानामनपेक्षाणां वा ? ^८प्रथमपक्षेः निराकाङ्क्षत्वेऽस्मत्पक्ष-सिद्धिः, साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोधः । द्वितीयविकल्पेतिप्रसङ्गः । (३) जातिः संघातवर्तिनी

इन श्लोकों में उन वाक्यों के १० भेद किये गये हैं ।

जैन—परस्पर में आपेक्षित पदों का जो निरपेक्ष—(वाक्यान्तरगतपदनिरपेक्ष) समुदाय है उसे वाक्य कहते हैं ।

१. किन्तु आख्यात शब्द को वाक्य नहीं कहते हैं । क्योंकि वह पदांतर से निरपेक्ष पद है । अन्यथा आख्यात पद के अभाव का प्रसंग आ जायेगा । पदांतर सापेक्ष भी आख्यात शब्द को किसी वाक्यांतर पद में सापेक्ष मान लेने पर तो वह वाक्य ही विरुद्ध हो जायेगा । क्योंकि वह प्रकृतार्थ परिसमाप्त नहीं है । अर्थात् वह पर अपर वाक्यांतरगत पद की अपेक्षा से प्रकृत अर्थ में परिसमाप्त नहीं होता है । किन्तु वाक्यांतरगत पदों से निरपेक्ष होने से निराकांक्ष में ही वाक्य काल क्षण घटित होने से वही वाक्य है ।

२. यदि आप पदों के संघात को वाक्य कहते हैं तब तो हम आपसे यह प्रश्न करते हैं कि परस्परापेक्ष पदों का संघात वाक्य है या अनपेक्ष पदों का संघात वाक्य है ? प्रथम पक्ष लेने पर तो निराकांक्ष होने पर हमारे ही पक्ष की सिद्धि हो जाती है । अर्थात् ऊपर हमने परस्परापेक्ष पदों के संघात—निरपेक्ष समुदाय को वाक्य माना है । यदि आप परस्परापेक्ष पदों के संघात को भी साकांक्ष-भिन्न वाक्यों के पदों की भी अपेक्षा रखने वाला मान लेंगे तब तो वह वाक्य ही नहीं हो सकेगा, उसमें विरोध आ जायेगा । यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो अति प्रसंग दोष आता है अर्थात् बहुत से पुरुषों के द्वारा उच्चरित पदों में भी वाक्यपना आ जायेगा । किन्तु ऐसा तो है नहीं ।

३. जिनका कथन है कि 'संघातवर्तिनी जाति को वाक्य कहते हैं' उनका निरसन भी इसी

१ न्यायतर्कशास्त्रं हेतुविद्यात्मको न्याय इति वचनात् । दि० प्र० । २ अत्राख्यातशब्दादिलक्षणेऽन्वयोऽन्यं सापेक्षाणां पदानां यः निरपेक्षः समुदायः स वाक्यं स्यादिति प्रतिपाद्यते । दि० प्र० । ३ आख्यातशब्दस्य । दि० प्र० । ४ तथा त्वयाङ्गीकरणात् । व्या० प्र० । ५ अन्यपदनिरपेक्षस्यापि आख्यातशब्दस्य वाक्यत्वं भवति चेत्तदा आख्यात-पदस्य सर्वथाऽभावः प्रसजति । दि० प्र० । ६ कुत आख्यात शब्दस्य परेण वाक्यत्वनिरूपणात् । व्या० प्र० । ७ आख्यातपदस्य । दि० प्र० । ८ परस्परापेक्षाणां पदानां संघातो वाक्यमिति प्रथमपक्षे तस्यान्यपदानां निराकांक्षत्वे सत्यस्मत्पक्षसिद्धिर्भवति । तस्यान्यपदानां साकांक्षत्वे सति वाक्यत्वं विरुद्धयते = परस्परानपेक्षाणां पदानां संघातो वाक्यमिति द्वितीयविकल्पेति प्रसंगः स्यात् । दि० प्र० ।

¹वाक्यमित्यप्यनेन² विचारितं ³निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसंघातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणाया ⁴जातेर्वाक्यत्वघटनादन्यथा तद्विरोधात् । (४) एकोनवयवः शब्दो वाक्यमित्यप्ययुक्तं ⁵तस्याप्रमाणकत्वात्, श्रोत्रबुद्धौ ⁶तदप्रतिभासनात्⁷ ⁸तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात्⁹ । अर्थप्रतिपत्तिर्लिङ्गमिति चेन्न, अन्यथापि ¹⁰तद्भावात्, वाक्यस्फोटस्य ¹¹क्रियास्फोटवत्¹² तत्त्वार्थलिङ्कारे ¹³निरस्तत्वात् । क्रमो वाक्यमित्यपि न विचारक्षमं, ¹⁴वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात् । पदरूपतामापन्नानां वर्णविशेषाणां क्रमो वाक्यमिति चेत्, ¹⁵स यदि परस्परापेक्षाणां निराका-

उपर्युक्त कथन से हो जाता है । क्योंकि “निराकाङ्क्षपरस्परापेक्ष पद संघात वर्तिनी” सदृश परिणाम लक्षण वाली जाति को ही वाक्य मानना सुघटित है, अन्यथा वाक्यत्व का विरोध आ जायेगा ।

४. जिनका कहना है कि “एक अवयवरहित-निरंश-शब्द वाक्य है” यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि यह अप्रमाणिक है । श्रोत्र ज्ञान में वह एक निरंश शब्द रूप वाक्य प्रतिभासित नहीं होता है । एवं उस निरंश शब्द से अविनाभावी हेतु का भी अभाव है ।

शंका—अर्थ का ज्ञान ही उसमें लिग हेतु है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि अन्यथापि—निरंश शब्द के बिना भी अर्थ का ज्ञान देखा जाता है । यदि आप कहें कि शब्द एक है, अवयवरहित है और वह वाक्य-स्फोट रूप है ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि उस वाक्य स्फोट का तो क्रिया स्फोट के समान “तत्त्वार्थलोकवार्तिकालंकार ग्रन्थ” में निरसन किया गया है ।

५. नैयायिक—क्रम ही वाक्य है ।

जैन—यह लक्षण भी विचार (परीक्षा) को सहन करने में समर्थ नहीं है । अन्यथा “क, ख, ग, घ इत्यादि वर्ण मात्र के क्रम को भी वाक्य संज्ञा हो जायेगी । यदि आप कहें कि पदरूपता को प्राप्त हुये वर्ण विशेषों का क्रम वाक्य है तब तो यदि परस्परापेक्ष पदों का निराकाङ्क्ष होना ही वाक्य है वह भी पदों का समुदाय ही है । क्रमभावी में कालप्रत्यासत्ति से ही समुदाय है और सहभावी में ही देशप्रत्यासत्ति से समुदाय व्यवस्थित ही है और वही वाक्य का लक्षण हमें अभीष्ट है । यदि आप कहें कि परस्परापेक्ष पदों का साकाङ्क्ष क्रम वाक्य है तब तो वह वाक्य नहीं रहेगा, अर्थ वाक्य के

1 अत्रापि संघातवद्गुणं जातिः परस्परापेक्षपदसंघातवर्तिनी वेति विकल्पद्वयानतिक्रमात् । दि० प्र० । 2 अस्मत्पक्षसिद्धिसमर्थनेन । व्या० प्र० । 3 अनुक्तपदानाम् । दि० प्र० । 4 अनुक्तानामन्यपदानां साकाङ्क्षत्वे वाक्यं विरुद्धते । दि० प्र० । 5 वाक्यस्य । दि० प्र० । 6 अनवयवशब्दस्याप्रकाशनात् श्रोत्रज्ञाने । दि० प्र० । 7 श्रावणप्रत्यक्षं निरंशशब्दग्राहकं न भवति चेन्मा भूदनुमानं तद् ग्राहकं भविष्यतीत्याशंकायामाह । दि० प्र० । 8 अनवयवशब्दयुक्तानुमानाभावात् । दि० प्र० । 9 च । दि० प्र० । 10 अर्थप्रतिपत्तिभावात् । व्या० प्र० । 11 गमनादिलक्षण । व्या० प्र० । 12 स्फुटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोटः । व्या० प्र० । 13 च । व्या० प्र० । 14 एव । दि० प्र० । 15 क्रमः । व्या० प्र० ।

ङ्क्षस्तदा समुदाय एव, ^१क्रमभुवां कालप्रत्यासत्तेरेव ^२समुदायत्वात् सहभुवामेव ^३देशप्रत्यासत्तेः समुदायत्वव्यवस्थिते । अथ साकाङ्क्षस्तदा न वाक्यमर्थवाक्यवत् परस्परनिरपेक्षाणां तु क्रमस्य वाक्यत्वेतिप्रसङ्ग एव । (६) बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि ^४भाववाक्यं ^५द्रव्यवाक्यं वा ? प्रथमकल्पनायामिष्टमेव । द्वितीयकल्पनायां प्रतीतिविरोधः । (७) अनुसंहतिर्वाक्यमित्यपि नानिष्टं, भाववाक्यस्य यथोक्तपदानुसंहतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोभीष्टत्वात् । (८-९-१०) आद्यं पदमन्त्यं वान्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यमित्यपि नाकलङ्कोक्तवाक्याद्भिद्यते, तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वसिद्धेः, ^६तदभावे पदसिद्धेरप्यभावप्रसङ्गात् । ननु यदि निराकाङ्क्षः परस्परापेक्षपदसमुदायो ^७वाक्यं न तर्हि तदानोमिदं भवति, यथा

समान । और परस्पर निरपेक्ष पदों के क्रम को वाक्य मानने पर तो अति प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् बहुत से पुरुषों ने जिनका उच्चारण किया है वे भी मिलकर वाक्य बन जायेंगे ।

६. 'बुद्धि वाक्य है।' इस मान्यता में भी प्रश्न होता है कि वह बुद्धि भाव वाक्य है या द्रव्य वाक्य ?

प्रथम कल्पना माना तो हमें इष्ट ही है । क्योंकि हम भी ज्ञान को भाव वाक्य मानते हैं । यदि दूसरा पक्ष लगे तब तो प्रतीति से ही विरोध आ जाता है । अर्थात् द्रव्य रूप शब्दात्मक वाक्य की बुद्धि रूप से प्रतीति नहीं आती है ।

७. 'अनुसंहती वाक्य है' इस मान्यता में भी हमें कुछ अनिष्ट नहीं है । क्योंकि यथोक्त पद की अनुसंहती रूप चित्त में स्फुरित होते हुये भाव वाक्य हमें अभीष्ट हैं । अर्थात् परस्पर साकांक्ष एवं वाक्यांतर पद निराकांक्ष ऐसे पदों का अनुस्मरण चित्त में स्फुटित है तो वह भाव वाक्य है ।

(८-९-१०) 'आद्यपद', 'अन्त्यपद' अथवा 'अन्य-मध्यपद' ये तीनों यदि पदान्तर की अपेक्षा रखते हैं तो वाक्य हैं । अतः यह कथन भी श्री अकलंकदेव के द्वारा कथित वाक्य के लक्षण से भिन्न नहीं है । क्योंकि उसी प्रकार से निराकांक्ष परस्परापेक्ष पदों का समुदाय वाक्य रूप माना गया है । यह बात सिद्ध है । उसके अभाव में पद की सिद्धि का अभाव हो जायेगा । अर्थात् पदान्तरगतवर्णों से निरपेक्ष, परस्परापेक्ष वर्णों के समुदाय को पद कहते हैं । और वाक्य की सिद्धि न होने से पद का भी अभाव अवश्यभावी है ।

नैयायिक—यदि निराकांक्ष परस्परापेक्ष पदों का समुदाय वाक्य है, "तब तो यह बात सिद्ध नहीं होगी कि "शब्द परिणामी है क्योंकि सत् रूप है, जो सत् है, वह सभी परिणामी हैं, जैसे-घट ।"

१ पदानाम् । व्या० प्र० । २ क्रमभुवां देशप्रत्यासत्तेः समुदायत्वं कुतो न भवेदित्यत आह । व्या० प्र० । ३ ता । व्या० प्र० । ४ पदसमुदायग्राहकम् । दि० प्र० । ५ पुद्गलरूपम् । दि० प्र० । ६ स्याद्वादिनाम् । दि० प्र० । ७ इदं वक्ष्यमाणलक्षणं साधनवाक्यं वाक्यं न भवति तत्किमित्युक्त आह शब्दः पक्षः परिणामी भवतीति साध्यो धर्मः । दि० प्र० ।

^१यत्सत्तत्सर्व परिणामि, यथा घटः, संश्च शब्द इति साधनवाक्यं तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेरिति न शङ्कनीयं, ^२कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः । निराकाङ्क्षत्वं हि नाम प्रतिपत्तुर्धर्मोयं वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दस्य धर्मस्तस्याचेतनत्वात् । स चेत् प्रतिपत्ता ^३तावतार्थं प्रत्येति, किमिति ^४शेषमाकाङ्क्षति ? ^५पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्तसाधन^६वाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निगमनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ ^७साधनावयवान्तरवचनापेक्षाप्रसङ्गात्^८ । ^९इति न ^{१०}क्वचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः । ^{११}तथा च वाक्याभावान्न ^{१२}वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित्स्यात् । ^{१३}ततो यस्य प्रतिपत्तुयवित्सु परस्परापेक्षपदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति सर्वं

और शब्द सत् रूप हैं, यह साधन वाक्य हैं, इसीलिये परिणामी हैं वह इस प्रकार से आकांक्षा करता है ।” और आप जैनो ने तो साकांक्ष को वाक्य नहीं माना है ।

जैन—आपको ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि कोई ज्ञाता उस निगमन की आकांक्षा नहीं भी करते हैं । “निराकांक्षा यह प्रतिपत्ता का धर्म है वाक्यों में तो उसका अध्यारोप किया जाता है ।” किन्तु वह निराकांक्ष शब्द का धर्म नहीं है । क्योंकि शब्द तो अचेतन हैं । यदि वह है तो प्रतिपत्ता पुरुष उतने मात्र से (साधन मात्र से) अर्थ को निश्चय कर लेता है । पुनः क्योंकि वह शेष—निगमन की आकांक्षा करेगा ? अर्थात् नहीं करेगा ।

पक्ष धर्म के उपसंहार पर्यंत साधन वाक्य से अर्थ का ज्ञान हो जाने पर भी यदि निगमन वचन की अपेक्षा है तब तो निगमन के अन्त पर्यंत पंचावयव वाक्य से भी अर्थ का ज्ञान हो जाने पर साधन के अवयवांतर वचनों की अपेक्षा का प्रसंग आ जायेगा । अर्थात् “यह पर्वत अग्नि वाला है । क्योंकि धूम वाला है” इत्यादि से अर्थ का निश्चय हो जाने पर भी पर्वत, अग्निजन्मा है, इत्यादि अवयवांतरों की अपेक्षा होती ही चली जायेगी । कभी उपरम ही नहीं हो सकेगा ।

पुनः इस प्रकार से तो कहीं पर भी निराकांक्षत्व की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी । इस प्रकार से वाक्य का अभाव हो जाने से किसी को भी वाक्य के अर्थ का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा ।

इसलिये जिस प्रतिपत्ता—पुरुष को जितने परस्परापेक्ष समुदित पदों में निराकांक्षत्व है, उसको उतने में वाक्यत्व की सिद्धि है । इस प्रकार से सभी सुव्यवस्थित हैं ।

१ सत्त्वात् । दि० प्र० । २ पुंसः । दि० प्र० । ३ पक्षोपसंहारलक्षणोपनयवाक्यमात्रेण । तस्मात्परिणामीति । दि० प्र० । ४ किमित्याकांक्षति न तमाकांक्षतीत्यर्थः । दि० प्र० । ५ ता हेतुः । व्या० प्र० । उपनयवत् । दि० प्र० । ६ अनुमानवाक्यात् । व्या० प्र० । ७ अनुमानवाक्यस्य । दि० प्र० । ८ अन्यपञ्चावयवानाम् । दि० प्र० । ९ हेतोः । व्या० प्र० । १० वाक्ये । व्या० प्र० । ११ साकांक्षत्वे । निराकांक्षत्वसिद्धयभावे च । दि० प्र० । १२ परिज्ञानम् । दि० प्र० । १३ न स्याद्यतः । दि० प्र० ।

सुस्थम् । ^१प्रकरणादिना ^२वाक्यकल्पेनाप्यर्थप्रतिपत्तो ^३नवा ^४प्राथमकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहारः, ^५प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य ^६निराकाङ्क्षस्य ^७सत्यभामादिपदवद् वाक्यत्वसिद्धेः । ^८तदेवं लक्षणेषु वाक्येषु स्यादिति शब्दोनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न ^९पुनर्विधिविचारप्रश्नादिद्योती, तथाविवक्षापयात् । कः पुनरनेकान्त इति चेदिमे ब्रूमहे । सदसन्नि-

अथवा वाक्य सदृश प्रकरण आदि से भी अर्थ का ज्ञान हो जाने पर प्रथम कल्पिक—प्रथम कहे हुये वाक्य के लक्षणों का परिहार नहीं होता है ।

प्रकरण आदि से जानने योग्य, पदान्तर सापेक्ष, सुने गये निराकांक्ष, पद समुदाय वाक्य-रूप से सिद्ध हैं, जैसे सत्यभामा आदि पद ।

भावार्थ—भोजन के समय में किसी ने कहा कि “संघवमानय” तो प्रकरण से नमक ही लाया जाता है न कि घोड़ा । इसलिये “परस्पर सापेक्ष” इत्यादि रूप से जो हमने वाक्य का लक्षण किया है उसका परिहार नहीं किया जा सकता है । अपूर्ण भी वाक्य से प्रकरण आदि से अर्थ का ज्ञान हो जाता है । जैसे—‘सत्या’ इत्यादि एक देश के श्रवण करने से भी प्रकरण आदि में सत्यभामा का ज्ञान हो जाता है । उसी प्रकार से अन्यत्र भी वाक्य सदृश किञ्चित् वाक्य के उच्चारण से भी अर्थ का ज्ञान हो जाता है । अतएव अर्थ प्रतिपादन लक्षण धर्म जैसे पूर्व लक्षित वाक्य में है तथैव इस प्रकरण आदि में भी है, इसलिये इन वाक्यों को भी पहले के सदृश ही मानना चाहिये । क्योंकि अर्थ का ज्ञान हो जाना दोनों जगह सदृश ही है ।

इसलिये उपर्युक्त लक्षण वाले वाक्यों में ‘स्यात्’ यह शब्द अनेकांत को प्रगट करने वाला समझना चाहिये । किन्तु विधि, विचार और प्रश्नादिकों का द्योतक नहीं समझना चाहिये । क्योंकि उस प्रकार की विवक्षा नहीं है । अर्थात् यहाँ विधि आदि शब्द से विधि अर्थ वाचक लिङ्लकार लेना चाहिये, विधि आदि अर्थ में लिङ्लकार में अस् धातु से जो ‘स्यात्’ पद सिद्ध होता है यह स्यात् शब्द वह नहीं है । किन्तु यह ‘स्यात्’ शब्द निपातसिद्ध होने से अनेकांत के अर्थ का द्योतक है ।

प्रश्न—अनेकांत किसे कहते हैं ?

उत्तर—सत्, असत्, नित्य, अनित्य आदि रूप सर्वथा एकांत का निराकरण करने वाला यह

१ प्रकरणादिगम्यपदान्तराभावात् श्रूयमाणपदसमुदायस्यैव वाक्यकल्पत्वं तेन चार्थप्रतिपत्तिप्रकरणादिना भवति तत्सामर्थ्याद्भवतीत्यर्थः अधिकारादिना प्रस्तावः । दि० प्र० । २ भोजन समये संघवमानयेत्युक्ते यथा लवणमानीयते नत्वश्वः । व्या० प्र० । ३ अर्थप्रतिपत्तितया सदृजेन । व्या० प्र० । ४ निषेधे । दि० प्र० । ५ मुख्य । व्या० प्र० । ६ यसः । व्या० प्र० । ७ पश्यादिपद । इ० पृ० । व्या० प्र० । ८ यथा सत्यभामेति पदस्य वाक्यत्वं सिद्धयति कथं । सत्यभामेत्युक्ते भारतीयकथाश्रवणव्याख्यानलक्षणप्रस्तावादिना त्रिषण्डाधीश्वरस्य नारायणस्य पट्टमहिषी राज्ञी अन्तःपुरे राज इति वाक्यं सिद्धम् । दि० प्र० । ९ तस्मात् । उक्तप्रकारलक्षणेषु । व्या० प्र० । १० प्रस्तावद्योती । इति पा० । दि० प्र० । स्यादिति शब्दः विधी सप्तमीति कातन्त्रापेक्षया भवेदिति आख्यातपदार्थद्योतको नास्ति कुतः तादृक्विवक्षाभावात् । दि० प्र० ।

त्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोनेकान्तः, ¹स च ²दृष्टेष्टाविरुद्ध इत्युक्तं प्राक् । ³तत्र वचित्रप्रयुज्यमानः ⁴स्याच्छब्दस्तद्विशेषणतया ⁵प्रकृतार्थतत्त्वमवयवेन सूचयति, प्रायशो निपातानां ⁶तत्स्वभावात्त्वादेवकारादिवत् । द्योतकाश्च भवन्ति निपाता इति वचनात् स्याच्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्वेपि न कश्चिद्दोषः, ⁷सामान्योपक्रमे विशेषाभिधानमिति न्याया-ज्जीवादिपदोपादानस्याप्यविरोधात्⁸ ⁹स्याच्छब्दमात्रयोगादनेकान्तसामान्यप्रतिपत्तेरेव सम्भवात् । सूचकत्वपक्षे तु गम्यमर्थरूपं प्रति विशेषणं स्याच्छब्दस्तस्य विशेषकत्वात् । न हि ¹⁰केवलज्ञानवदखिलमक्रममवगाहते¹¹ ¹²किञ्चिद्वाक्यं, येन ¹³तदभिधेयविशेषरूपसूचकः¹⁴ स्यादिति

अनेकांत है । और यह प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाणों से अविरुद्ध है, ऐसा पहले “स्वन्यतामृत बाह्यानां सर्वथै-कांत वादिनां” इत्यादि कारिका लक्षण में कह दिया है ।

उनमें कही पर भी प्रयुक्त किया गया यह ‘स्यात्’ शब्द उसके विशेषण रूप से प्रकृत के वास्तविक अर्थ को अवयव रूप से सूचित करता है क्योंकि प्रायः करके निपात शब्द अपने अर्थ को सूचित करने के स्वभाव वाले ही होते हैं । एवकारादि शब्दों के समान । वे निपात शब्द केवल वाचक ही नहीं होते हैं किन्तु द्योतक भी होते हैं ।

“द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः” ऐसा वचन पाया जाता है । अतः स्यात् शब्द को अनेकांत का द्योतक स्वीकार करने पर भी कोई दोष नहीं आता है । क्योंकि स्यात् शब्द के द्वारा सामान्य को ग्रहण करने पर जीवादि पद से विशेष का कथन हो ही जाता है । ऐसा न्याय है । अतः जीवादि पदों का उपादान करना भी अविरुद्ध है । ‘स्यात्’ शब्द मात्र के प्रयोग से तो अनेकांत सामान्य का ही ज्ञान होना संभव है ।

सूचक पक्ष में तो गम्य-अर्थ के प्रति स्यात् शब्द विशेषण है, क्योंकि वह विशेषक है—विशेष अर्थ को सूचित करता है । अर्थात् ‘स्याज्जीवः’ इत्यादि पद के कहने से उसका प्रतिपक्षी अजीव भी गम्य है ।

कोई भी वाक्य केवलज्ञान के समान युगपत् अखिल अर्थ का अवगाहन-प्रकाशन नहीं करते

1 अनेकान्त । दि० प्र० । 2 प्रत्यक्षानुमान । दि० प्र० । 3 अनेकान्तस्योक्तलक्षणे सति । दि० प्र० । 4 विवक्षितार्थ । विवक्षितार्थजीवादि । दि० प्र० । 5 प्रकृतार्थस्वरूपम् । व्या० प्र० । 6 स्यादस्यैव जीव इत्यत्र स्याच्छब्दः जीवस्य विवक्षितमस्त्वर्थ विशेषणतयैकांशं सूचयत्यन्यानविवक्षितांशान् नास्त्यादिकान् द्योतयतीति तत्स्वभावात्त्वात् यथैवकारः । दि० प्र० । 7 सामान्यस्यानेकान्तस्योपक्रमे कथने । व्या० प्र० । 8 एवं न्यायेष्य-विरोधः कुत इत्याह । व्या० प्र० । 9 न जीवाजीवादिविशेषानेकान्तस्य । दि० प्र० । 10 यथा केवलज्ञानं सकलमर्थं युगपदवगाहते तथा किञ्चिद्वाक्यं नहि स्यादिति शब्दः विवक्षितवस्तुनोऽशेषस्वरूपप्रतिपादको भवतीति येन केन न प्रयुज्यते । अपितु प्रयुज्यते एव । दि० प्र० । 11 युगपत् । दि० प्र० । 12 जीव इत्यादिशक्यम् । व्या० प्र० । 13 तदभिधेयाशेष इति पा० । दि० प्र०, व्या० प्र० । तासः । दि० प्र० । 14 अजीवत्वादि । व्या० प्र० ।

न प्रयुज्यते ^१वाचः क्रमवृत्तिवात् ^२तद्बुद्धेरेपि तथाभावात् । ^३ततस्तव भगवतः केवलि-
नामपि स्यान्निपातोभिमत ^४एवार्थयोगित्वादन्यथानेकान्तार्थप्रतिपत्तेरयोगात्^५ ।

ननु न कथंचिदित्यादिशब्दादपि^६ भवत्येवानेकान्तार्थप्रतिपत्तिः ? सत्यं भवति,
तस्य स्याद्वचनपर्यायत्वात् । तथा हि,—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।

सप्तभङ्गनयापेक्षो

हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

किमो वृत्तः किंवृत्तः । स चासौ चिद्विधिश्चेति ^७कथंचिदित्यादिः ^८किंवृत्तचिद्विधिः

हैं । कि जिससे उनके वाच्य विशेष रूप का सूचक 'स्यात्' यह शब्द प्रयुक्त नहीं किया जाये, अर्थात् स्यात् शब्द का प्रयोग करना ही पड़ेगा । क्योंकि वचन तो क्रमवर्ती हैं, और वचनों के द्वारा होने वाला ज्ञान भी क्रमवर्ती ही है ।

इसलिये हे भगवान ! आपके यहां एवं केवली और श्रुत केवलियों के सिद्धांतानुसार भी "स्यात् निपात" इष्ट ही है । क्योंकि वह अर्थ सहित है । अन्यथा उससे अनेकांत के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा ।

उत्थानिका—कोई कहता है कि 'कथंचित्' इत्यादि शब्दों से भी अनेकांत अर्थ का ज्ञान हो ही जाता है । इस पर आचार्य कहते हैं कि हां ! आपका कहना सत्य है कथंचित् शब्द से भी अनेकांत अर्थ का ज्ञान होता है फिर भी यह स्यात्शब्द स्यात् वचन का ही पर्यायवाची है । तथाहि—

सदा सर्वथैकांत त्याग से, स्याद्वाद है सुखकर ही ।

"स्यात्" कथंचित् और कथंचन, शब्दों से एकार्थ सही ॥

सप्तभंग अह सभी नयों की, सदा अपेक्षा रखता है ।

सभी वस्तु में हेय और, आदेय व्यवस्था करता है ॥१०४॥

कारिकार्थ—सर्वथा एकांत के त्याग से ही स्याद्वाद होता है और कथंचित् आदि इसके पर्यायवाची ही हैं । यह सप्तभंग नयों की अपेक्षा रखने वाला है । और हेय उपादेय की विशेष व्यवस्था करने वाला है ॥१०४॥

'किम्' शब्द से निष्पन्न हुआ 'कथं' शब्द है, और उसमें 'चित्' विधिचित् प्रत्यय प्रयुक्त होने से 'कथंचित्' हो ऐसा बन गया है । 'कथंचित्' इत्यादि शब्द स्याद्वाद के पर्यायवाची शब्द हैं ।

- १ जीवादिवाचः । व्या० प्र० । २ वाग्ज्ञानस्यापि । दि० प्र० । ३ स्याच्छब्दस्य वाचकत्वसूचकत्वपक्षे न कश्चिद्दोषो यतः । दि० प्र० । ४ स्यादिति निपातस्य । दि० प्र० । ५ अर्थयोगित्वं यदि नास्ति । स्याच्छब्दाभावे । दि० प्र० । ६ आदिशब्देन केनचित् । दि० प्र० । ७ केनचिदित्यादि । व्या० प्र० । ८ विदित्येतस्य विधिविधानम् । दि० प्र० ।

स्याद्वादपर्यायः । ¹सोयमनेकान्तमभिप्रेत्य सप्तभङ्गनघापेक्षः स्वभावपरभावाभ्यां ²सदसदादिव्यवस्थां प्रतिपादयति । के पुनः सप्तभङ्गाः के वा नयाः ? सप्तभङ्गी प्रोक्ता पूर्वमेव ।

[द्रव्याधिकपर्यायाधिकनययोः भेदप्रभेदान् वर्णयन्त्याचार्याः]

³द्रव्याधिकपर्यायाधिकप्रविभागवशान्नंगमादयः⁴ शब्दार्थनया बहुविकल्पा ⁵मूलनय-द्वयशुद्धयशुद्धिभ्यां, शास्त्रान्तरे प्रोक्ता इति सम्बन्धः । द्रव्याधिकप्रविभागाद्धि नैगमसंग्रह-व्यवहाराः पर्यायाधिकप्रविभागाद्ऋजुसूत्रादयः । तत्र ऋजुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोर्थनयाः, तेषामर्थ-प्रधानत्वात् । ⁶शेषास्त्रयः शब्दनयाः शब्दप्रधानत्वात् । तत्र मूलनयस्य द्रव्याधिकस्य शुद्ध्या संग्रहः, ⁷सकलोपाधिरहितत्वेन शुद्धस्य सन्मात्रस्य विषयीकरणात्⁸ सम्यगेकत्वेन सर्वस्य

कि शब्द से चित् चन आदि शब्दों का प्रयोग करने से ये स्याद्वाद के ही पर्याय नाम बन जाते हैं । और ये शब्द अनेकांत का विषय करके, सप्तभंग नयों की अपेक्षा करके स्वभाव-परभाव के द्वारा सत्-असत् आदि की व्यवस्था को प्रतिपादित करते हैं ।

प्रश्न—सप्तभंग कौन-कौन हैं अथवा नय कौन-कौन हैं ?

उत्तर—सप्तभंगी का कथन तो पहले ही कह दिया है, अब नयों का कथन करते हैं ।

[द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नयों के भेद प्रभेदों का आचार्य वर्णन करते हैं ।]

मूल में दो नय हैं—द्रव्याधिक, पर्यायाधिक । इन दोनों नयों के निमित्त से नैगमादि सात नय हो जाते हैं, उसमें भी शब्द नय और अर्थ नय के भेद से दो भेद हैं । मूल दो नयों में शुद्धि और अशुद्धि के निमित्त से दो-दो भेद हो जाते हैं जिनका वर्णन अन्य शास्त्र नय चक्र नाम के शास्त्र में किया गया है ।

अर्थात् द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से शुद्धि-अभेद और अशुद्धि-भेद है । और पर्यायाधिक नय की अपेक्षा से शुद्धि-भेद और अशुद्धि-अभेद है ऐसा समझना ।

द्रव्याधिक नय के विभाग से नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय कहे जाते हैं, एवं पर्यायाधिक नय के विभाग से ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत ये चार नय ग्रहण किये जाते हैं । इन सातों ही नयों में ऋजुसूत्र तक प्रारम्भ से अर्थात् नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थ नय कहलाते हैं । क्योंकि ये नय प्रधान रूप से अर्थ को विषय करते हैं । शेष

1 अनेन सर्वयैकान्तत्यागादित्येतद्वाख्यातम् । दि० प्र० । 2 अनेन हेयादेयविशेषक इत्येतद्वाख्यातम् । दि० प्र० ।

3 द्रव्यमाश्रित्य प्रवर्तमानो नयोद्रव्याधिकः । व्या० प्र० । 4 भेद । व्या० प्र० । 5 शुद्धिर्भेदस्य निराकरणं

ययैकान्तवादिनामशुद्धिश्च भेदानिराकृतिर्यथानेकान्तवादिनाम् । व्या० प्र० । 6 शब्दादयस्त्रयः । इति पा० ।

दि० प्र० । 7 जीवादिविशेषण । दि० प्र० । 8 तद्धि दुर्लभत्वं भविष्यतीत्याशंकायामाह । दि० प्र० ।

संग्रहणात् । ¹तस्यैवाशुद्ध्या व्यवहारः, संग्रहगृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकत्वव्यवहरणात्, ²द्रव्यत्वादिविशेषणतया ³स्वतोऽशुद्धस्य स्वीकरणात्, ⁴यत्सत्तद्द्रव्यं गुणो वेत्यादिवत् । ⁵एवं ⁶नैगमोप्यशुद्ध्या प्रवर्तते, ⁷सोपाधिवस्तुविषयत्वात् । ⁸स हि त्रेधा प्रवर्तते, ⁹द्रव्ययोः पर्याययोर्द्रव्यपर्याययोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षायां नैगमत्वात्, नैकं गमो नैगम इति निर्वच-
नात् । ¹⁰तत्र ¹¹द्रव्यनैगमो द्वेधा—¹²शुद्धद्रव्यनैगमोऽशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति¹³ । पर्यायनैगमस्त्रेधा—
¹⁴अर्थपर्याययोर्व्यञ्जनपर्याययोरर्थव्यञ्जनपर्याययोश्च¹⁵ नैगम इति । अर्थपर्यायनैगमस्त्रेधा

तीन—शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये शब्द नय कहलाते हैं क्योंकि ये शब्द को प्रधानतया विषय करते हैं ।

उनमें मूल द्रव्यार्थिकनय शुद्धि-अभेद से संग्रह करता है । सकल उपाधि से रहित शुद्धि सन्मात्र को विषय करता है । सं-सम्यक् प्रकार से—एक रूप से सभी का ग्रहण करना संग्रह कहलाता है । सं—सम्यगेकत्वेन सर्वान् गृह्णातीति—संग्रहः । ऐसा व्युत्पत्ति अर्थ है । उसी का अशुद्धि-भेद से कहना व्यवहार है । क्योंकि संग्रह के द्वारा ग्रहीत पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार है । जैसे—संग्रह नय ने सत् द्रव्य कहा तो व्यवहार नय ने उसके जीव और अजीव भेद कर दिये । क्योंकि यह द्रव्यत्वादि विशेषण रूप से स्वतः अशुद्ध को स्वीकार करता है । जैसे जो सत् है वह द्रव्य है या गुण है इत्यादि के समान ।

इस प्रकार से नैगमनय भी अशुद्धि रूप से (भेद को ग्रहण करके) प्रवृत्ति करता है । क्योंकि उपाधि सहित वस्तु को विषय करता है । उस नैगम नय के तीन भेद हैं । दो द्रव्य में या दो पर्याय में अथवा द्रव्य और पर्याय में गुण, प्रधान की विवक्षा के होने पर वह नैगम कहलाता है ।

“नैकंगमो नैगमः” जो एक को न प्राप्त हो वह नैगम है, ऐसा व्युत्पत्ति अर्थ है । उस द्रव्य नैगम के दो भेद हैं—शुद्ध द्रव्यनैगम और अशुद्ध द्रव्यनैगम ।

पर्याय नैगम के तीन भेद हैं—१. दो अर्थ पर्याय को विषय करे २. दो व्यञ्जन पर्याय को विषय करे । ३. अर्थ और व्यञ्जन पर्याय को विषय करे । उसमें भी अर्थ पर्याय-नैगम के तीन भेद हैं—दो ज्ञान की अर्थ पर्यायों का नैगम, दो ज्ञेय की अर्थ पर्यायों का नैगम और ज्ञानार्थ पर्याय तथा ज्ञेयार्थ पर्याय का नैगम ।

1 द्रव्यार्थिकस्य । दि० प्र० । 2 बसः । दि० प्र० । 3 सतो । इति पा० । सत्सामान्यस्य । दि० प्र० । 4 अत्र द्रव्यशब्देन षट्द्रव्यस्य घटादिकार्यद्रव्यस्य च ग्रहणम् । दि० प्र० । 5 व्यवहारनयप्रकारेण । व्या० प्र० । 6 शुद्धचम् । इति पा० । भेदेन । दि० प्र० । 7 द्रव्यनैगमपर्यायनैगमः । दि० प्र० । 8 नैगमः । दि० प्र० । 9 स्वपरभेदे द्विवचनम् । दि० प्र० । 10 त्रिषु मध्ये । दि० प्र० । 11 तादृष्टिः । दि० प्र० । 12 शुद्धाशुद्ध । इति पा० । सत्सामान्य । जीवादिद्रव्य । व्या० प्र० । 13 द्रव्यनैगमोऽशुद्धद्रव्यद्वयं नैगमश्चेति । इति पा० । दि० प्र० । 14 अथौ च तौ पर्यायौ च । दि० प्र० । 15 ता । दि० प्र० ।

¹ज्ञानार्थपर्याययोर्ज्ञेयार्थपर्याययोर्ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोश्चेति² । व्यञ्जनपर्यायिनैगमः षोढा—शब्द-
व्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढव्यञ्जनपर्याययोरेवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः शब्दसमभिरूढव्यञ्जन-
पर्याययोः शब्दैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोश्चेति । ³अर्थव्यञ्जनपर्याय-
नैगमस्त्रेधा ⁴ऋजुसूत्रशब्दयोः, ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः ⁵ऋजुसूत्रैवंभूतयोश्चेति । द्रव्यपर्याय-
नैगमोष्टधा— ⁶शुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोः शुद्धद्रव्यशब्दयोः शुद्धद्रव्यसमभिरूढयोः शुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्च,
एवमशुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोरशुद्धद्रव्यशब्दयोरशुद्धद्रव्यसमभिरूढयोरशुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्चेति । लोक-
समयाविरोधेनोदाहार्यम् ।

तथा पर्यायाधिकस्य मूलनयस्याशुद्ध्या ⁷तावदृजुसूत्रः, तस्य ⁸कालकारकलिङ्गभेदे-
नाप्यभेदात् । शुद्ध्या शब्दस्तस्य कालादिभेदेन भेदात् । शुद्धितरया समभिरूढस्तस्य पर्याय-

व्यञ्जन पर्याय नैगम के ६ भेद हैं—दो शब्द व्यञ्जन पर्यायों का नैगम, दो समभिरूढ व्यञ्जन पर्यायों का नैगम, दो एवभूत व्यञ्जन पर्यायों का नैगम, शब्द और समभिरूढ व्यञ्जन पर्यायों का नैगम, शब्द और एवभूत व्यञ्जन पर्यायों का नैगम, समभिरूढ और एवभूत पर्यायों का नैगम ये ६ भेद हैं ।

अर्थ व्यञ्जन पर्याय नैगम के ३ भेद हैं—

ऋजुसूत्र और शब्द का नैगम, ऋजुसूत्र और समभिरूढ का नैगम, ऋजुसूत्र और एवभूत का नैगम ये तीन भेद हैं । द्रव्य पर्याय नैगम ८ प्रकार का है—शुद्ध द्रव्य और ऋजुसूत्र का नैगम, शुद्ध द्रव्य और शब्द का नैगम, शुद्ध द्रव्य और समभिरूढ का नैगम, शुद्ध द्रव्य और एवभूत का नैगम, इसी प्रकार से अशुद्ध द्रव्य और ऋजुसूत्र का नैगम, अशुद्ध द्रव्य और शब्द का नैगम, अशुद्ध द्रव्य और समभिरूढ का नैगम, अशुद्ध द्रव्य और एवभूत का नैगम ये आठ भेद हैं ।

इन नयों के उदाहरण लोक एवं शास्त्र से अविरुद्ध लगा लेना चाहिये । उसी प्रकार से मूल पर्यायाधिक नय के अशुद्धि-भेद से ऋजुसूत्र होता है क्योंकि वह लिंग, कारक और कालादि के भेद से भी अभिन्न है ।

पर्यायाधिक नय की शुद्धि अभेद से शब्द नय होता है वह कालादि के भेद से भेदरूप है ।

तथा पर्यायाधिकनय की शुद्धितर से समभिरूढ नय होता है वह पर्याय के भेद से भी भेद करता है अर्थात् पर्यायवाची शब्दों में परस्पर भेद होने से यह नय वस्तु में भी भेद को देखता है ।

1 शब्दनयसंबन्धिनोः । दि० प्र० । 2 ता । व्या० प्र० । 3 अत्र द्रव्यशब्देन षट्द्रव्यस्य घटादिकार्यद्रव्यस्य च ग्रहणम् । दि० प्र० । 4 अर्थव्यञ्जनञ्च ते च ते पर्यायो च । दि० प्र० । 5 ताद्वि विषयी । व्या० प्र० । 6 ऋजुसूत्रार्थपर्याययोः । इति पा० । दि० प्र० । 7 वर्तमानसमयवर्तिपर्यायमात्रग्राही ऋजुसूत्रस्तस्यातीतानागतयो-
विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावा । व्या० प्र० । 8 ने केवलं पर्यायाभेदेन । व्या० प्र० ।

भेदेनापि भेदात् । शुद्धितमयैवंभूतस्तस्य क्रियाभेदेनापि भेदात् । इति मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्यां बहुविकल्पा नया नयचक्रतः प्रतिपत्तव्याः पूर्वपूर्वा महाविषया उत्तरोत्तरा अल्पविषयाः ।^१शब्दविकल्पपरिमाणाश्च । तदेवं व्याख्यातः सप्तभङ्गनयापेक्षः स्याद्वादो हेयादेयविशेषकः प्रसिद्धस्तमन्तरेण हेयस्योपादेयस्य च विशेषेण व्यवस्थानुपपत्तेः । सर्वतत्त्वप्रकाशकश्च केवलज्ञानवत् । एतदेव दर्शयति,—

स्याद्वादकेवलज्ञाने ^२सर्वतत्त्वप्रकाशने ।

भेदः ^३साक्षादसाक्षाच्च ^४ ^५ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

पर्यायार्थिकनय की शुद्धितम से एवंभूत नय होता है वह क्रिया के भेद से भी वस्तु में भेद को कर देता है । इस प्रकार से मूल में दो नय हैं वे शुद्धि और अशुद्धि के निमित्त से बहुत भेदरूप हो जाते हैं । उन सबका लक्षण “नयचक्र” नामक शास्त्र से जान लेना चाहिये । ये सातों ही नय पूर्व-पूर्व में महा विषय वाले हैं, एवं उत्तरोत्तर अल्प विषय वाले हैं । एवं जितने शब्द हैं उतने ही विकल्प भेद हो जाते हैं ।

इस प्रकार से कहा गया स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा रखने वाला, एवं हेय, उपादेय भेद को करने वाला प्रसिद्ध है, क्योंकि इस स्याद्वाद के बिना हेय, उपादेय की विशेष रूप से व्यवस्था होना शक्य नहीं है । एवं यह स्याद्वाद सभी तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला है, केवलज्ञान के समान ।

उत्थानिका—उसीको अगली कारिका से स्पष्ट करते हैं—

स्याद्वादकेवलज्ञानये, सभी तत्त्व के परकाशक ।

स्याद्वादसबपरोक्षजाने, केवलज्ञानप्रत्यक्षप्रकट ॥

अन्तरइतनाहीइनदोनों, मेंपरोक्षप्रत्यक्षकहा ।

इनदोनोंसेनहींप्रकाशित, अर्थअवस्तरूपहुआ ॥१०५॥

कारिकार्थ—स्याद्वाद और केवलज्ञान ये दोनों ही संपूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं । इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान साक्षात् सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रकाशक है एवं स्याद्वाद असाक्षात् परोक्ष रूप से प्रकाशक है, क्योंकि इन दोनों के बिना प्रकाशित वस्तु अवस्तु रूप ही है ॥१०५॥

१ जावदिया वयणविहा तावदिया होति जयवादा । जावदिया जयवादा तावदिया होति परवादा ॥ दि० प्र० ।
२ प्रकाशके । दि० प्र० । ३ केवलज्ञानम् । दि० प्र० । ४ परस्परया मत्वादि । व्या० प्र० । ५ यत्स्याद्वादकेवल-
ज्ञानाभ्यामगम्यं तदश्वविषाणादिवत् वस्त्वेव न भवति कस्मात्तस्याः प्रतीयमानत्वात् । दि० प्र० ।

[स्याद्वादकेवलज्ञानयोः किमन्तरमिति स्पष्टयति जैनाचार्यः ।]

साक्षादसाक्षात् प्रतिभासिज्ञानाभ्यामन्यस्याप्रतीतेरवस्तुत्वप्रसिद्धेः, इत्यर्थः । स्याद्वाद-केवलज्ञाने इति निर्देशात् 'तयोरभ्यहितत्वानियमं' दर्शयति, परस्परहेतुकत्वात् । नचैवमन्यो-न्याश्रयः 'पूर्वसर्वज्ञद्योतितादागमादुत्तरसर्वज्ञस्य केवलोत्पत्तेः ततोप्युत्तरकालमागद्योतनात् सर्वज्ञागमसन्तानस्यानादित्वात् । केवलज्ञानस्याभ्यहितत्वे वा पूर्वनिपाते व्यभिचारं सूचयति, 'शिष्योपाध्यायादिवत्' । ततो नवद्यो निर्देशः स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने इति । कथं पुनः स्याद्वादः 'सर्वतत्त्वप्रकाशनः ? यावता 'मतिश्रुतयोनिबन्धो' द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' इति

[स्याद्वाद और केवलज्ञान में क्या अन्तर है ? इस बात को जैनाचार्य स्पष्ट करते हैं ।]

साक्षात् एवं असाक्षात्—प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रतिभासी ज्ञान से भिन्न जो कुछ भी है वह प्रतीति में नहीं आने से अप्रतीत है वह अप्रतीत वस्तु अवस्तु रूप से प्रसिद्ध ही है । यह अर्थ होता है ।

'स्याद्वादकेवलज्ञाने' कारिका में ऐसा पद होने से इन दोनों में कोई अभ्यहित है ऐसा नियम नहीं समझना, क्योंकि ये दोनों परस्पर में एक-दूसरे के लिये हेतु हैं ।'

इस प्रकार से इनमें अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा, ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि पूर्व के सर्वज्ञ से द्योतित—प्रकाशित आगम से उत्तर सर्वज्ञ को केवलज्ञान उत्पन्न होता है और उन सर्वज्ञ से उत्तर काल में आगम का प्रकाश होता है । इस प्रकार से सर्वज्ञ और आगम की परम्परा अनादि है । अथवा केवलज्ञान को अभ्यहित मानकर पूर्व में स्याद्वाद का निपात करने पर व्यभिचार सूचित होता है । जैसे "शिष्योपाध्याय" आदि शब्दों में व्यभिचार देखा जाता है । इसलिये कारिका में जो निर्देश है कि "स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्त्व प्रकाशने" निर्दोष ही है ।

शंका—“यह स्याद्वाद सभी तत्त्वों को प्रकाशन करने वाला कैसे हो सकता है ?” क्योंकि "मतिश्रुतयोनिबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" मति श्रुतज्ञान द्रव्य और उनकी कुछ-कुछ पर्यायों को ही विषय करता है । इस सूत्र से श्रुतज्ञान का विषय असर्वपर्याय माना गया है अर्थात् श्रुतज्ञान

1 अत्राह कश्चित्स्वमतवर्ती स्याद्वादकेवलज्ञानयोः मध्ये केवलज्ञानस्याभ्यहितत्वात्पूर्वनिपातो युज्यते इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । द्वयोरप्यभ्यहितत्वमस्ति कस्मात्परस्परहेतुकत्वात् कथं परस्परहेतुरित्युक्ते आह । पूर्वकाले सदागमात् स्याद्वादमभ्यस्मा-भ्यस्य केवलज्ञानमुत्पादयन्ति । केवलज्ञानोत्पादे । सप्तभंग्यात्मकं स्याद्वादात्मं प्रकाशयन्ति केवलिनः इति परस्वर्हि तयोरन्योन्याश्रयनामादोष इति चेन्न कस्मात् । अनादिनिघ्नस्य स्याद्वादस्य केवलज्ञानेन प्रकाश्यत्वान्न च कार्य-त्वात् । दि० प्र० । 2 पूज्यत्व । दि० प्र० । 3 पूर्व सदागमादुत्तरं सर्वज्ञस्य केवलोत्पत्तेः । इति पा० । दि० प्र० । 4 यदाभ्यहितं तत्पूर्वं निपततीत्युक्ते व्यभिचार उपाध्यायस्याचित्तत्वेपि पूर्वनिपाताभावादिति । अल्पाचतरमिति-सूत्रेण शिष्यशब्दस्य पूर्वत्वम् । दि० प्र० । 5 स्याद्वादकेवलज्ञानयोर्मध्ये केवलज्ञानस्याभ्यहितत्वं चेत्ता शिष्यो-पाध्याययोर्मध्ये शिष्यस्याभ्यहितत्वमस्तु तथा नास्ति लोके । दि० प्र० । 6 स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने । इति पा० । दि० प्र० । 7 विषयनियमः । व्या० प्र० ।

श्रुतस्यासर्वपर्यायविषयत्वव्यवस्थानमिष्यते, तच्चैवं विरुध्यते, इति सूत्रविरोधं मन्यते तदयुक्तं, पर्यायापेक्षया तदनभिधानात् । ^१एवं हि भगवतामभिप्रायोत्र 'जीवादयः सप्त पदार्थास्तत्त्वं, 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जराभोक्षास्तत्त्वमि'ति वचनात् । ^३तत्प्रतिपादनाविशेषात् स्याद्वादकेवलज्ञानयोः सर्वतत्त्वप्रकाशनत्वम्' इति, न विरोधः । यथैव ^४आगमः परस्मै जीवादितत्त्वमशेषंप्रतिपादयति तथा केवल्यपीति न विशेषः । साक्षादसाक्षाच्च तत्त्वपरिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् ^५तद्भेदस्य । ^६तदाह भेदः साक्षादसाक्षाच्चेति । साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायात् परिच्छिनन्ति नान्यत ^७इति यावत् । न हि वचनात्तान्प्रकाशयति, समुत्पन्नकेवलोपि भगवान्, तेषां वचनागोचरत्वात् । ^८तदेवं ^९स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणनयसंस्कृत-

सभी द्रव्य और उनकी कुछ-कुछ पर्यायों को विषय करता है और वह सूत्र का कथन आपके वचनों से विरुद्ध हो जाता है, इसलिये सूत्र में विरोध आ जाता है ।

तमाधान—इस प्रकार से जो आप सूत्र का विरोध मानते हैं वह अयुक्त है । “सर्व तत्त्व प्रकाशने” यह कथन पर्याय की अपेक्षा से नहीं है । अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा आगम सर्व तत्त्व प्रकाशक है मतलब सर्वद्रव्य मात्र का प्रकाशक है न कि सर्व पर्यायों का प्रकाशक है । यहाँ पर भगवान् समंतभद्र स्वामी का ऐसा अभिप्राय है कि “जीवादि सात तत्त्व पदार्थ हैं ।” “जीवाजीवास्रवबन्धसंवर-निर्जराभोक्षास्तत्त्वम्” जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं । ऐसा सूत्र है । उन जीवादि सात तत्त्वों का प्रतिपादन समान होने से स्याद्वाद और केवलज्ञान को “सर्वतत्त्वप्रकाशक” कहा गया है । अतः कोई विरोध नहीं है ।

जिस प्रकार से आगम पर जीवों को अशेष जीवादि तत्त्वों का प्रतिपादन करता है उसी प्रकार से केवली भी करते हैं इस प्रकार से उनमें कोई भेद नहीं है । उन दोनों में भेद तो केवलमात्र साक्षात् और असाक्षात् रूप से तत्त्व को जानने के निमित्त से ही है ।” इसीलिये कारिका में कहा है कि “भेदः साक्षात् असाक्षाच्च” । केवली भगवान् साक्षात्कार करके ही सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को जानते हैं । अन्य प्रकार से नहीं । अर्थात् आगम से नहीं जानते हैं ऐसा समझना ।

जिनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे केवली भगवान् भी आगम के वचनों से उन द्रव्य पर्यायों का प्रकाशन नहीं करते हैं क्योंकि केवलज्ञान के द्वारा जाने गये सूक्ष्मांतरित आदि पदार्थ वचनों के अगोचर ही हैं ।

१ वक्ष्यमाणप्रकारेण । दि० प्र० । २ सप्तपदार्था एव तत्त्वं ननु तत्पर्यायाः । दि० प्र० । ३ सूत्रकारकाणां स्वामिनाञ्च मते तस्य तत्त्वस्य प्रतिपादने विशेषाभावात् । दि० प्र० । ४ भावश्रुतमिति यावत् । व्या० प्र० । ५ तद्भेदनस्य । इति पा० । दि० प्र० । ६ तथाह्यभेदः । इति पा० । दि० प्र० । ७ असाक्षात्कृतेः सर्वद्रव्यपर्यायात् न परिच्छिनन्तीत्यर्थः । दि० प्र० । ८ सर्वतत्त्वप्रकाशकस्याद्वादो यस्मात् । दि० प्र० । ९ प्रमाण । दि० प्र० ।

मिति व्याख्यान, स्याद्वादः प्रमाणं सप्तभङ्गीवचनविधिर्नैगमादयो बहुविकल्पा नया इति संक्षेपतः प्रतिपादितं, विस्तरतोऽन्यत्र तत्प्ररूपणात् ।

इस प्रकार से स्याद्वाद नय से संस्कृत-तत्त्वज्ञान-प्रमाणनय से संस्कृत है ऐसा व्याख्यान स्वीकार करने पर सप्तभङ्गी वचन विधि रूप स्याद्वाद प्रमाण है और नैगम आदि बहुत से भेद प्रभेदों से युक्त नय हैं ऐसा संक्षेप से प्रतिपादित किया गया है । और इसको विस्तार से अन्यत्र-श्लोकवार्तिकालंकार आदि ग्रंथ में प्रतिपादित किया है ।

सारांश

स्याद्वाद का लक्षण—हे भगवन् ! आपके यहां “स्यात्” यह पद निपात सिद्ध है क्योंकि वाक्यों में अनेकांत का उद्योतक है एवं अपने अर्थ से रहित होने से अर्थ के प्रति समर्थ विशेषण है ।

वाक्य का लक्षण—“परस्पर में आपेक्षित पदों का जो निरपेक्ष समुदाय है” उसे वाक्य कहते हैं । अन्य लोगों ने वाक्य के लक्षण अनेक प्रकार से किये हैं । यथा—

१. कोई आख्यात को वाक्य कहते हैं यह ठीक नहीं है क्योंकि वह पदांतर से निरपेक्ष पद है अन्यथा वह आख्यात नहीं रहेगा ।

२. कोई पदों के संघात को वाक्य कहते हैं उसमें भी प्रश्न होता है कि परस्परापेक्ष पदों का समुदाय संघात है या निरपेक्ष ? प्रथम पक्ष लेवो तो निराकांक्ष होने से हमारे ही मत की सिद्धि हो जाती है । यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो बहुत से पुरुषों द्वारा उच्चारित पदों में भी वाक्य का लक्षण हो जावेगा ।

३. जो कहते हैं कि “संघातवर्तिनी जाति वाक्य है” उसमें भी निराकांक्ष परस्परापेक्ष पद संघात वर्तिनी सदृश परिणाम लक्षण जाति को वाक्य मानना ठीक है निरपेक्ष को नहीं ।

४. कोई कहते हैं कि “एक अवयवरहित निरंश शब्द वाक्य है” यह कथन अप्रमाण है । क्योंकि श्रोत्र ज्ञान से निरंश शब्द रूप वाक्य प्रतिभासित ही नहीं होता है । शब्द को एक, निरंश स्फोट रूप मीमांसक मानते हैं उसका अन्यत्र खण्डन विशेषतया किया गया है ।

५. नैयायिक “क्रम को वाक्य कहते हैं” तब तो “क, ख, ग, घ” इत्यादि वर्ण मात्र के क्रम को भी वाक्य मानना पड़ेगा । परन्तु ऐसा तो है नहीं ।

६. बुद्धि को वाक्य कहने पर वह बुद्धिभाव वाक्य है या द्रव्य वाक्य ? प्रथम कल्पना तो हमें इष्ट ही है, दूसरी मानों तो प्रतीति से विरोध है ।

७. “अनुसंहती वाक्य है” इस मान्यता में भी उपर्युक्त अनुसंहती रूप वाक्य मन में स्फुरित होता है वही भाव वाक्य है ।

८.६.१०. एवं आद्यपद, अन्त्यपद अथवा मध्यपद यदि पदांतर की अपेक्षा रखते हैं तो वाक्य हैं, अन्यथा नहीं हैं। इस प्रकार दस प्रकार से वाक्य के लक्षण का विचार किया गया है। किन्तु निर्दोष उत्तम लक्षण यही है कि “पदांतरगत वर्णों से निरपेक्ष, परस्परापेक्ष वर्णों के समुदाय को वाक्य कहते हैं। और परस्परापेक्ष पदों का निरपेक्ष समुदाय वाक्य है।

भोजन के समय किसी ने कहा “सँधवमानय” तो प्रकरण से नमक ही लाया जाता है न कि घोड़ा। अतः परस्पर सापेक्ष विशेषण ठीक ही है। यदि अपूर्ण भी वाक्य से प्रकरण आदि से अर्थ का ज्ञान हो जावे तो वह भी वाक्य है जैसे ‘सत्या’ कहने से ‘सत्यभामा’ का ज्ञान हो जाता है। अतः यहां ‘स्यात्’ यह पद अनेकांत का द्योतक है। ‘अस्’ धातु से विधिलकार में स्यात् सिद्ध हुआ पद नहीं है।

सत्, असत्, नित्य, अनित्य आदि रूप सर्वथा एकांत का निराकरण करने वाला अनेकांत है। “स्याज्जीवः” इस पद के कहने से उसका प्रतिपक्षी अजीव भी जान लिया जाता है। सर्वथा एकांत के त्याग से ही स्याद्वाद होता है, कथंचित् आदि शब्द इसी के पर्यायवाची हैं ये सप्तभंगों की अपेक्षा करके स्वभाव, परभाव के द्वारा वस्तु के सत्-असत् आदि की व्यवस्था करते हैं।

यह स्याद्वाद सभी तत्त्वों को केवलज्ञान के समान प्रकाशित करता है। स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करते हैं अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान साक्षात् सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करता है, एवं स्याद्वाद असाक्षात् परोक्ष रूप से प्रकाशक है। स्याद्वाद अर्थात् आगम भी परोक्ष रूप से सभी वस्तुओं का ज्ञान करा देता है।

पूर्व के सर्वज्ञ से प्रकाशित आगम से उत्तर सर्वज्ञ में केवलज्ञान उत्पन्न होता है और उन सर्वज्ञ से उत्तर काल में आगम का प्रकाश होता है यह सर्वज्ञ और आगम की परम्परा अनादि है।

शंका—‘मतिश्रुतयोर्निबंधोद्रव्येष्वसर्वपर्यायिषु’ इस सूत्र से श्रुतज्ञान का विषय असर्व पर्याय है पुनः सर्व तत्त्व प्रकाश करना कैसे कहा ?

समाधान—सर्व तत्त्व प्रकाश ने यह विशेषण पर्याय की अपेक्षा से नहीं लेना मात्र सामान्य से मात्र सात तत्त्व पदार्थ आदि को ही लेना चाहिये।

इस प्रकार से स्याद्वाद नय से संस्कृत तत्त्वज्ञान प्रमाण नय से संस्कृत है। एवं सप्तभंगी विधि रूप स्याद्वाद प्रमाण रूप है तथा नैगमादि नय कहलाते हैं। अथवा अहेतुवाद आगम स्याद्वाद है और हेतुवाद आगम नय है इन दोनों से संस्कृत-अलंकृत तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है।

सार का सार—स्यात् शब्द अनेकांत को प्रगट करने वाला है यह जैन धर्म का प्राण है। नयों का लक्षण भी अच्छे ढंग से किया गया है। स्याद्वाद और नयों से जानी गई वस्तु ही सत्य है।



संप्रत्यहेतुवादागमः स्याद्वादो, 'हेतुवादो नयस्ताभ्यां संस्कृतमलंकृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणं युक्ति शास्त्राविरुद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकमिति व्याख्यानान्तरमभिप्रायन्तो ^२भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य ^३प्रकाशितत्वात् ।

सधर्मणैव साध्यस्य 'साधर्म्यादविरोधतः' ^५ ।

स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥१०६॥

[नयस्य लक्षणं कृत्वा स हेतुरिति समर्थयन्ति ।]

नीयते साध्यते गम्यार्थोऽनेनेति नयो-हेतुः । स च हेतु सधर्मणैव दृष्टान्तधर्मिणा साधर्म्यात्साध्यस्य साध्यधर्माधिकरणस्य धर्मिणः परमागमप्रविभक्तस्यार्थविशेषस्य शक्यस्या-भिप्रेतस्याप्रसिद्धस्य विवादगोचरत्वेन ^६व्यञ्जको, न ^७पुनर्विपक्षेण साधर्म्यात्, ^८तेन बंधर्म्या-

उत्थानिका—अहेतुवाद आगम स्वाद्वाद है और हेतुवाद नय है । इन दोनों से संस्कृत-अलंकृत तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है वह युक्ति शास्त्र से अविरुद्ध है । सुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप है । इस प्रकार से भिन्न व्याख्यान को करने का अभिप्राय रख करके भगवान् समन्तभद्राचार्यवर्य इस समय हेतु लक्षण को ही प्रकाशित करते हैं, क्योंकि स्याद्वाद तो प्रकाशित कर ही दिया गया है ।

जो सपक्ष के साथ साध्य के, साधर्म्यों से अविरोधी ।

साध्य अर्थ का ज्ञान कराने, वाला "नय" है प्रगट सही ॥

स्याद्वाद से प्रगट किये ही, अर्थ विशेषों का व्यञ्जक ।

सुप्रमाण से ज्ञात वस्तु के, अंश-अंश को करे प्रगट ॥१०६॥

कारिकार्थ—सपक्ष (दृष्टान्त) के साथ ही साध्य के साधर्म्य से अविरोध रूप से जो स्याद्वाद-श्रुत प्रमाण के द्वारा विषयीकृत पदार्थ विशेष का व्यञ्जक होता है वह नय कहलाता है । यह नय का लक्षण है इसे ही हेतु कहते हैं ॥१०६॥

[नय का लक्षण करके 'वह नय हेतु है' ऐसा समर्थन करते हैं ।]

"नीयते साध्यते गम्योऽर्थोऽनेनेति नयो-हेतुः ।" जिसके द्वारा गम्य—जानने योग्य अर्थ को प्राप्त किया जाता है साध्य किया जाता है उसे नय कहते हैं । वही हेतु है ।

वह हेतु सधर्मणा-दृष्टान्त धर्मों के साथ साधर्म्य से साध्य का व्यञ्जक है वह साध्य कैसा है ?

- 1 लिङ्गवादो नयश्च । व्या० प्र० । 2 समन्तभद्राः । दि० प्र० । 3 पूर्वम् । व्या० प्र० । 4 सधर्मत्वात् । व्या० प्र० । 5 विरोधरहितत्वात् । व्या० प्र० । विशेषेणैव बंधर्म्यात् इत्यविरोधतो विशिष्टस्य साध्यस्य प्रकाशको नयः । दि० प्र० । 6 साध्यस्य भवतीति सम्बन्धः । दि० प्र० । 7 न पुनः व्यञ्जकत्वेन विपक्षेण । इति पा० प्रकाशकः । दि० प्र० । 8 विपक्षेण । दि० प्र० ।

देवाविरोधेन हेतोः साध्यप्रकाशनत्वोपपत्तेः । ¹अत्र 'सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादि'त्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्य'मविरोधादि'त्यन्यथानुपपत्ति च दर्शयता, केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं, तत्पुत्रत्वादिवत् । एकलक्षणस्य तु गमकत्वं, ²'नित्यत्वेकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते' इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात् । नन्वत्र संक्षेपात् तथाभिधानेपि त्रैलक्षण्यं शक्यमुपदर्शयितुं पञ्चावयववत् । सत्यमेतत्, केवलं, ³यत्रार्थक्रिया न संभवति तन्न वस्तुतत्त्वं, यथा ⁴'विनाशकान्तः । तथा च नित्यत्वेपि क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रिया न संभवति, नापरं प्रकारान्तरमिति, त्रिलक्षणयोगेपि ⁵'प्रधानमेकलक्षणं', तत्रैव साधनसामर्थ्यपरिनिष्ठितेः ।

वह साध्य धर्म का अधिकरण धर्मी, परमागम से प्रविभक्त अर्थ विशेष, शक्य, अभिप्रेत एवं अप्रसिद्ध है ऐसे साध्य का विवाद के विषयभूत होने से व्यञ्जक है किन्तु विपक्ष के साथ साधर्म्य से व्यञ्जक नहीं है, वैधर्म्य से ही उस अविरोध-साध्य के साथ अविनाभावी रूप से ही हेतु अपने साध्य का प्रकाशन करने वाला होता है ।

यहाँ "सधर्मणैवसाध्यसाधर्म्यादि" इस कारिका के अंश से हेतु तीन लक्षण वाला है । "अविरोधात्" इस प्रकार के पद से हेतु अन्यथानुपपत्ति वाला है । इस प्रकार हेतु के त्रिलक्षण और अन्यथानुपपत्ति को दिखलाते हुये श्री समंतभद्र स्वामी ने केवल त्रिलक्षण हेतु को अहेतु कहा है । जैसे—तत्पुत्रत्वादि हेतु सच्चे हेतु नहीं हैं । किन्तु अन्यथानुपपन्नत्वमात्र एक लक्षण के होने से ही वह हेतु साध्य का गमक माना गया है ।

"नित्यत्वेकान्त पक्षेऽपि विक्रियानोपपद्यते" इत्यादि कारिकाओं में बहुत जगह अन्यथानुपपत्ति का ही सम्यक् प्रकार से आश्रय लिया है ।

शंका—यहाँ पर संक्षेप से अन्यथानुपपत्ति प्रकार से हेतु का कथन करने पर भी बौद्धाभिमत हेतु के तीन लक्षण को भी दिखलाना ठीक है । जैसे कि—नैयायिकाभिमत पंचावयव हेतु ही अनुमान का अंग है ।

समाधान—आपका कथन ठीक है । जहाँ पर अर्थक्रिया सम्भव नहीं है वह वस्तु तत्त्व नहीं है । जैसे—विनाशकान्त—क्षणिककान्त वस्तु नहीं है क्योंकि वहाँ पर अर्थक्रिया सम्भव नहीं है । उसी प्रकार से नित्यकान्त में भी क्रम या युगपत् से अर्थ क्रिया सम्भव नहीं है । एवं अर्थ क्रिया में क्रम अथवा युगपत् को छोड़कर अन्य कोई प्रकार है ही नहीं । इसलिये हेतु त्रिलक्षण का योग होने पर भी एक अन्यथानुपपत्ति लक्षण ही प्रधान है । क्योंकि उस एक लक्षण में ही साधन की सामर्थ्य परिसमाप्त है और वहीं अन्यथानुपपत्ति रूप अविनाभाव सम्बन्ध ही पूर्ववदादि, बीतादि,

1 कारिकायाम् । दि० प्र० । 2 प्रचुर । दि० प्र० । 3 अप्रतिपन्नशिष्यस्यानुरोधवशादन्यथानुपपन्नत्वस्यैव प्रपञ्चः यथा सर्वथा नित्यत्वं पक्षः वस्तुनो भवतीति साध्यो धर्मोर्थक्रियाऽसंभवात् यथार्थक्रिया न संभवति तन्न वस्तु यथा सर्वथा विनाशत्वमर्थक्रियारहितञ्चेदं तस्मान्न वस्तु । दि० प्र० । 4 क्षणिककान्तः । दि० प्र० । 5 साध्याभावे साधनस्याप्यभाव इत्यन्यथानुपपन्नत्वमेव सकलहेतुलक्षणेषु प्रधानम् । दि० प्र० । 6 अविनाभाव । दि० प्र० ।

तदेव च 'प्रतिबन्ध पूर्ववद्दीतसंयोग्यादिसकलहेतुप्रतिष्ठापकं, न पुनस्तादात्म्यतदुत्पत्ती प्रतिबन्धः संयोगादिवत्, तदभावेपि हेतोः साध्याभावासंभवनियमनिर्णयलक्षणस्य^१ भावे गमकत्वसिद्धेः, शीताचले विद्युत्पातः, केदारो कलकलायितत्वादित्यादिवत्, सत्यपि च तदुत्पत्त्यादिप्रतिबन्धेऽन्यथानुपपन्नत्वाभावे गमकत्वासंभवात्, स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यादिवत्, अस्त्यत्र धूमोग्नेर्महानसवदित्यादिवच्च । सकलविपक्षव्यावृत्तिनिश्चयाभावादस्यागमकत्वे-

संयोगी आदि सकल हेतुओं का प्रतिष्ठापक है । किन्तु तादात्म्य और तदुत्पत्ति अविनाभाव सम्बन्ध रूप नहीं है, संयोगादि के समान । क्योंकि तादात्म्य, तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अभाव में भी साध्य के अभाव में असम्भव रूप नियम निर्णय लक्षण वाले हेतु के सद्भाव में साध्य का ज्ञान सिद्ध है । जैसे—शीताचल—हिमाचल पर विद्युत्पात हुआ है । क्योंकि केदारतीर्थ या खेत में कलकल शब्द हो रहा है । इत्यादि के समान । क्योंकि इनमें तदुत्पत्ति आदि सम्बन्ध के होने पर भी अन्यथानुपपन्नत्व का अभाव होने से ये हेतु गमक नहीं हैं । "वह काला है क्योंकि उसका पुत्र है इतर पुत्र के समान ।" इत्यादि अनुमान के समान । एवं "यहाँ पर धूम है, क्योंकि अग्नि है, महानस के समान ।" इत्यादि के समान ।

'सकल विपक्षों से व्यावृत्त है' इस प्रकार के निश्चय का अभाव होने से "तत्पुत्रत्वात्" इत्यादि हेतु गमक नहीं हैं । क्योंकि इनमें अन्यथानुपपन्नत्व निश्चय का अभाव होने से ही अगमक पना है । ऐसा ही तो कहा गया है । अर्थात् 'तत्पुत्रत्वात्' आदि हेतु साध्य को सिद्ध करने वाले नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं ? यदि आप कहें कि विपक्ष से व्यावृत्त होने का इसमें निश्चय नहीं है तब तो इसका अर्थ यही हुआ कि इनमें अन्यथानुपपत्ति नहीं है अतः ये हेतु अहेतु हैं । इसलिये वही अन्यथानुपपत्ति रूप एक लक्षण ही हेतु का ठीक लक्षण होवे न कि त्रिलक्षण आदि ।

सम्पूर्ण सम्यग्हेतुओं के भेदों में कार्य हेतु स्वभाव हेतु, अनुपलम्भहेतुओं के समान पूर्ववत्-शेषवत् सामान्यतोदृष्ट इन तीन प्रकार के अनुमानों में एवं कीत, अकीत और तदुभय अर्थात् सांख्य-भिमतकेवलान्वयी, केवलान्वयतिरेकी, एवं अन्वयव्यतिरेकी इन तीन हेतुओं में तथा संयोगी समवायै-

१ व्याप्ति । दि० प्र० । २ तस्य तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्याभावेपि साध्याभावे साधनस्याप्यभाव इति सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य नियमनिश्चयलक्षणस्य हेतो साध्यसाधकत्वं सिद्धयति । दि० प्र० । ३ साध्याविनाभाव । दि० प्र० । सौगतमते = कारणात्कारणानुमानं = अकार्यकारणादकार्यकारणानुमानं वैशेषिकस्य = सांख्यवीतादि = केवलान्वयी = केवलव्यतिरेकी = द्रव्ययोः संयोगः = धूमादि = उष्णस्पर्शानुमा मुष्णस्पर्शस्यासौ समवायात् = सांख्यः = रसाद्रूपानुमान-रूपरसयोरैकार्थसमवायात् । दि० प्र० । ४ साध्याभावे साधनस्याप्यभाव इत्यन्यथानुपपत्तिः । व्या० प्र० । ५ च व्या० प्र० । ६ मंत्रीपुत्रं पक्षः श्यामो भवतीति साध्यो धर्मः । तत्पुत्रात् यस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा इतरतत्पुत्र इति हेतोरन्यथानुपपन्नत्वाभावे साध्यसाधकत्वं न संभवति कुतः सकलदेशकालसर्वपुत्रक्रोडीकरणाभावात् । कथं कदाचिद्गर्भस्य उत्पत्त्यमानस्तत्पुत्रः भौरोपि भवतीति संदेहघटनात् । दि० प्र० । ७ यत्र धूमो नास्ति तत्राग्निर्नास्ति । व्या० प्र० ।

अन्यथानुपपन्नत्वनिश्चयाभावादेवागमकत्वमुक्तं स्यात् । इति तस्यैव लक्षणत्वमस्तु, सकल-
सम्यग्धेतुभेदेषु ^१कार्यस्वभावानुपलम्भेष्विव ^२पूर्ववत्-शेषवत्^३—सामान्यतो^४ दृष्टेषु वीता-
वीततदुभयेषु ^५संयोगिसमवायैकार्थसमवायिविरोधिषु^६ भूतादिषु ^७प्रवर्तमानस्य पक्षव्यापिनः
सर्वस्माच्च विपक्षादसिद्धादिहेत्वाभासप्रपञ्चाद् व्यावर्तमानस्यान्यथानुपपन्नत्वस्य हेतुलक्षणत्वो-
पपत्तेः तथाविधस्यापि ^८तदलक्षत्वे हि न किञ्चित्कस्यचित्लक्षणं स्यादिति लक्ष्यलक्षणभाव
एवोच्छिद्येत । सति चान्यथानुपपन्नत्वे प्रतिपाद्याशयवशात् प्रयोगपरिपाटी पञ्चावयवादिरपि
न निवार्यते इति तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम् ।

कार्य समवायी विरोधि भूतादिकों में सभी सच्चे हेतुओं में प्रवर्तमान पक्ष में व्याप्त होकर रहने वाला
तथा असिद्धादि हेत्वाभास के भेद प्रभेद रूप सभी विपक्षों से व्यावर्तमान रूप अन्यथानुपपत्ति ही हेतु
का लक्षण ठीक बनता है । क्योंकि उपर्युक्त प्रकार के होते हुये भी अन्यथानुपपत्ति लक्षण के अभाव में
कुछ भी किसी का लक्षण नहीं हो सकेगा और इस प्रकार से तो लक्ष्य लक्षण भाव ही समाप्त हो
जायेगा ।

भावार्थ—बौद्धों ने कार्य हेतु, स्वाभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु, ऐसे तीन हेतु माने हैं ।
नैयायिक ने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ऐसे अनुमान के तीन भेद माने हैं । सांख्य ने वीत,
अवीत और उभय अर्थात् केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी ऐसे तीन हेतु माने हैं एवं
और भी संयोगी आदि हेतुओं में रहने वाला हेतु का लक्षण पक्ष व्यापी कहलाता है । और यदि हेतु
का लक्षण असिद्ध, विरुद्ध आदि दोषों से रहित है तथा सभी विपक्षों से व्यावृत्त है तब तो वह सच्चा हेतु
है अन्यथा नहीं है । और सभी विपक्षों से व्यावृत्त होना इसी का नाम तो 'अन्यथानुपपत्ति' है ।
यदि हेतुपक्ष में रहते हुये भी विपक्षों से व्यावृत्त नहीं है तो वह सच्चा हेतु है इसलिये 'अन्यथानुपपत्ति'
इस एक को ही हेतु का लक्षण मान लेना चाहिये । क्योंकि एक लक्षण के बिना हेतु अहेतु ही है ।

अन्यथानुपपन्नरूप एक लक्षण होने पर प्रतिपाद्य (शिष्य) के अभिप्राय के वश से पंचावयवों
के प्रयोग की परिपाटी का भी निवारण नहीं किया जाता है । इसका विस्तृत वर्णन 'तत्त्वार्थालंकार'
और 'विद्यानन्दमहोदय' महा शास्त्र में स्वयं मैने (विद्यानन्दि आचार्य ने) किया है ।

१ सौम्यतस्य । व्या० प्र० । २ कारणात् कार्यानुमानम् । व्या० प्र० । ३ कार्यात् कारणानुमानम् । व्या० प्र० । ४
अकार्यकार्यकारणादकार्यकारणानुमानं वैशेषिकस्य । व्या० प्र० । ५ द्रव्ययोः संयोगः । धूमादि । उष्णस्पर्शादग्न्य-
नुमानमुष्णस्पर्शादग्नी समवायात् । व्या० प्र० । ६ रसाद्रूपानुमानं रूपरसयोरेकार्थसमवायात् । व्या० प्र० ।
७ भूतादिषु च वर्तमानस्य । इति पा० । दि० प्र० । पूर्वचरादिषु । व्या० प्र० । ८ उक्तलक्षणान्यथानुपपन्नत्वमपि
हेतोर्लक्षणं न भवति चेत्तदा कस्यचिद्धेतोः किमपि लक्षणं न भवेदेवं सति किमायातमिदं लक्ष्यमिदं लक्षणमिति
भाव एव विनश्येत् । दि० प्र० ।

[प्रमाणनयदुर्णयानां लक्षणं कुर्वति जैनाचार्याः ।]

ततः स्याद्वादेत्यादिनानुमितमनेकान्तात्मकमर्थतत्त्वमादर्शयति । तदेव हि ¹स्याद्वाद-
प्रविभक्तोर्थः, प्राधान्यात्—सर्वाङ्गव्यापित्वात्² । ³तस्य विशेषो नित्यत्वादिः पृथक् पृथक् ।
⁴तस्य ⁵प्रतिपादको नयः । इति नयसामान्यलक्षणमध्यनेन दर्शितमिति व्याख्यायते । तथा
चोक्तम्,—

‘अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं, तदंशधीः । नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः’ ॥

इति ⁶तदनेकान्तप्रतिपत्तिः ⁷प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयस्तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्णयः,
⁸केवलविपक्षविरोधदर्शनेन ⁹स्वपक्षाभिनिवेशात्¹⁰ । किं पुनर्वस्तु स्यादित्याहुः—

[प्रमाण, नय और दुर्णयों का आचार्य लक्षण करते हैं ।]

इसीलिये स्याद्वाद इत्यादि वाक्य से अनुमित, अनेकान्तात्मक, अर्थ तत्त्व ही प्रकाशित करते
हैं, वही स्याद्वाद से प्रविभक्त अर्थ है । क्योंकि वही प्रधान है, सर्वांग व्यापी है ।

उसके विशेष नित्यत्व आदि धर्म पृथक्-पृथक् हैं, उन्हीं का प्रतिपादन करने वाला नय है ।

इसी कथन से ‘नय सामान्य का लक्षण भी दिखला दिया गया है’ ऐसा व्याख्यान किया
जाता है । तथा च उक्तं-और उसी प्रकार से कहा भी है ।

इलोकार्थ—अनेक रूप वाले अर्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है । अन्य धर्मों की
अपेक्षा रखने वाला उसके अंश का ज्ञान नय है और अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला दुर्णय-
मिथ्यानय है ।

अनेकान्त का ज्ञान प्रमाण है, एक धर्म का ज्ञान नय है और उससे विरुद्ध का प्रतिक्षेपी दुर्णय
है । क्योंकि वह दुर्णय केवल विपक्ष का विरोधी होने से स्वपक्ष मात्र का अभिनिवेशी-हूँटाग्रही है
इसीलिये ही वह दुर्णय है । जैसे अपने विपक्षी नास्तित्व को छोड़कर सर्वथा अस्तित्व का ग्राही नय
दुर्णय है ।

- 1 निश्चितः । व्या० प्र० । 2 द्वादशाङ्ग । व्या० प्र० । 3 अर्थस्य । दि० प्र० । 4 नित्यत्वादेर्विशेषस्य । दि० प्र० ।
5 व्यञ्जकः । व्या० प्र० । 6 तस्य स्याद्वादमूहीतार्थस्यानेकधर्मपरिज्ञानप्रमाणम् । दि० प्र० । 7 तस्य विवक्षित-
धर्मस्य प्रत्यनीकोऽविवक्षितस्तस्य निराकांक्षो यो नयः स दुर्णयो मिथ्या । दि० प्र० । 8 सर्वथा नित्य । व्या० प्र० ।
9 सर्वथा अनित्य इति । व्या० प्र० । 10 दुर्णयः । व्या० प्र० ।

¹नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।

²अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

[वस्तुनो लक्षणं किमिति प्रश्ने आचार्याः उत्तरयन्ति ।]

उक्तलक्षणो द्रव्यपर्यायस्थानः संग्रहादिर्नयः ³तच्छाखाप्रशाखास्मोपनयः⁴ । ⁵तदेकान्तानां⁶ ⁷विपक्षोपेक्षालक्षणानां त्रिकालविषयाणां ⁸समितिर्द्रव्यं वस्तु 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इति वचनात् । कः पुनस्तेषां समुच्चयो नामेति चेत्, ⁹कथञ्चिदविभ्राड्भावसम्बन्ध इत्याचक्षते, ¹⁰ततोन्वयस्य समुच्चयस्य संयोगादेरसंभवात् ¹¹द्रव्यपर्यायविशेषाणाम् । ¹²न चैवमेकमेव द्रव्यं नयोपनयैकान्तपर्यायाणां ¹³तत्तादात्म्यादित्यारेकितव्यं, ¹⁴ततस्तेषां कथञ्चिद्भेदादनेकत्वमिति

उत्थानिका—

[पुनः वस्तु क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यश्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं—]

त्रिकालवर्ती नय उपनय के, एकांतों का जो समुदाय ।

अपृथक् है तादात्म्य भावयुत, वही द्रव्य है सहज स्वभाव ॥

द्रव्य कहा यह एकरूप भी, और अनेकरूप भी है ।

अनंतधर्मा द्रव्य के इक-इक, धर्म कहे नय वो ही है ॥१०७॥

कारिकार्थ—त्रिकाल विषयक, नय और उपनयों के एकांत का जो समुच्चय है और अविभ्राड् भाव सम्बन्ध- अपृथक् स्वभाव सम्बन्ध रूप है वही द्रव्य है और वह एक भी है अनेक प्रकार का भी है ॥१०७॥

[वस्तु का लक्षण क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—]

उक्त लक्षण द्रव्य और पर्याय के विषय करने वाले संग्रहादि नय हैं । उसकी शाखा, प्रशाखा अर्थात् भेद, प्रभेद रूप उपनय कहलाते हैं ।

उनके जो एकांत है जो कि विपक्ष की उपेक्षा को करके होते हैं न कि विपक्ष का सर्वथा त्याग करके । ऐसे उन त्रिकाल विषयक एकांतों का समुदाय द्रव्य है । वही वस्तु हैं । "गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।" गुण और पर्यायों वाला द्रव्य है, ऐसा सूत्र है ।

1 प्रतिपक्षसापेक्षिणोः । व्या० प्र० । 2 अविष्वग्भाव । इति पा० । दि० प्र० । 3 तेषां संग्रहादीनां भेदप्रभेदस्वरूप । दि० प्र० । 4 प्रभेदः । व्या० प्र० । 5 तेषां नयोपनयानां पर्यायाणामविवक्षितसापेक्षलक्षणानाम् । दि० प्र० । 6 नयोपनयविषयभूतानामेकरूपधर्माणाम् । दि० प्र० । 7 अनिराकृतिः । दि० प्र० । 8 समुच्चयः । दि० प्र० । 9 कथञ्चिद्विष्वग्म् । इति पा० । कथञ्चित्तादात्म्यभावसम्बन्धः । दि० प्र० । 10 कथञ्चिद्विष्वक्भावसम्बन्धात् । दि० प्र० । 11 वस्त्वंशभूतोद्धृतातिर्यक्सामान्यरूपद्रव्यः । दि० प्र० । 12 अविष्वग्भावसम्बन्धरूपसमुच्चयस्य द्रव्यत्वे सति । दि० प्र० । 13 द्रव्यं । व्या० प्र० । 14 ततो द्रव्यात्तेषां पर्यायाणाम् । दि० प्र० ।

वचनात् । ¹तर्ह्यनेकमेवास्तु ²तादात्म्यविरोधादनेकस्थस्येत्यपि न शङ्कितव्यं, कथञ्चित्तादात्म्यस्याशक्यविवेचनत्वलक्षणस्याविरोधात्तथाप्रतीतेः । केवलं ³ततस्तेषामपोद्धाराद्गुणगुण्यादिवत्⁴ ⁵तदनेकघा । ततः सूक्तं, त्रिकालवर्तिनयोपनयविषयपर्यायविशेषसमूहो द्रव्यमेकानेकात्मकं जात्यन्तरं वस्त्विति । ⁶अत्र परारेकामुपदर्श्य परिहरन्तः सूरयः प्राहुः,—

शंका—उन एकांतों का समुच्चय क्या है ?

समाधान—वह समुच्चय कथञ्चित् अविभ्राद् भाव सम्बन्ध है अर्थात् कथञ्चित् अपृथक् स्वभाव सम्बन्ध ही समुच्चय है । ऐसा जेनाचार्यों का कहना है क्योंकि उससे भिन्न अन्य कोई संयोगादि समुच्चय उन द्रव्य पर्याय विशेषों में नहीं माना है । अर्थात् द्रव्य दृष्टि से जो वस्तु एक है वही पर्याय की अपेक्षा से अनेक है ऐसा सिद्ध है ।

शंका—द्रव्य एक ही है क्योंकि नय और उपनय रूप से एकांत पर्यायों का उसमें तादात्म्य—अभेद है ।

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है । क्योंकि वे नय उपनय रूप एकांत पर्यायों उस द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न हैं अतः उस द्रव्य में अनेकत्व है, ऐसा कथन है ।

शंका—तब तो अनेक ही हो जावें अर्थात् अनेक पर्यायों को ही मानना चाहिये, क्योंकि उन अनेकों में रहने वाली पर्यायों का द्रव्य से तादात्म्य मानना विरुद्ध है ।

समाधान—ऐसी आशंका भी गलत है । क्योंकि अशक्य लक्षण विवेचन रूप कथञ्चित् तादात्म्य का अविरोध और एकत्र वस्तु में वही ही भेद-अभेद रूप प्रतीति भी आ रही है । केवल उस द्रव्य से उन पर्यायों को भेद की कल्पना से पृथक् किया जाता है । गुण, गुणी आदि के समान । अतः वे पर्यायों अनेक प्रकार की सिद्ध हो जाती हैं ।

इसलिये यह कथन बिल्कुल ठीक है कि त्रिकालवर्ती नयोपनय के विषयभूत पर्याय विशेषों का समूह ही द्रव्य है, वह एकानेकात्मक जात्यन्तर वस्तु है ।

अब यहां दूसरों की आशंका को दिखलाकर उसका परिहार करते हुये आचार्य श्री संमत-भद्रस्वामी कहते हैं—

1 द्रव्य । व्या० प्र० । 2 अनेकस्थमित्यपि न मन्तव्यम् । इति पा० । दि० प्र० । 3 द्रव्यात् । व्या० प्र० । 4 मुञ्चिनः सकाशाद्गुणानां यथा तथा द्रव्यात्पर्यायाः कथञ्चिद्भिन्नत्वात् तस्मात् द्रव्यमनेकघा प्रतिपादितम् । दि० प्र० । 5 द्रव्यम् । व्या० प्र० । 6 वस्तुनि । व्या० प्र० ।

^१मिथ्यासमूहो ^२मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति ^३नः ।

^४निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा ^५वस्तु तेर्यकृत् ॥१०८॥

[सुनयकुनययोर्लक्षणं ।]

सुनयदुर्णययोर्यथास्माभिलक्षणं व्याख्यातं तथा न चोर्ध्वं न परिहारः, ^६निरपेक्षाणामेव नयानां मिथ्यात्वात् ^७तद्विषयसमूहस्य मिथ्यात्वोपगमात्, सापेक्षाणां तु ^८सुनयत्वात्तद्विषयाणा-
मर्थक्रियाकारित्वात्, ^९तत्समूहस्य वस्तुत्वोपपत्तेः । तथा हि, निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य
निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा ^{१०}प्रमाणनयाऽविशेषप्रसङ्गात्, ^{११}धर्मान्तरादानोपेक्षा-

यदि मिथ्या एकांतों का, समुदाय हुआ वह मिथ्या ही ।

तब तो सदा हमारे मत में, वह मिथ्या एकांत नहीं ।

नय निरपेक्ष कहे मिथ्या हैं, नय सापेक्ष कहे सम्यक् ।

सुनय अर्थक्रियाकारी हैं, उनका समुदाय है सम्यक् ॥१०८॥

कारिकार्थ—मिथ्याभूत एकांत का समुदाय यदि मिथ्यारूप ही है तब तो वह मिथ्या एकांत हम जैनियों के यहाँ नहीं है । हे भगवन् ! आपके मत में निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और सापेक्ष नय वस्तु हैं, अर्थक्रियाकारी हैं । ॥१०८॥

[सुनय और कुनय का लक्षण]

सुनय और दुर्णयों का जैसा हम लोगों ने लक्षण किया है उसमें न प्रश्न ही उठ सकते हैं, न परिहार की आवश्यकता ही है । निरपेक्ष नय ही मिथ्या हैं क्योंकि उनके विषय का समूह मिथ्यारूप स्वीकार किया गया है । किन्तु सापेक्षनय सुनय हैं क्योंकि उन्हीं नयों का विषय अर्थक्रियाकारी है । उनका समूह ही वस्तु रूप हो सकता है । तथाहि—विपरीत धर्म का निराकरण करना निरपेक्षत्व है तथा उपेक्षा करना सापेक्षत्व है अर्थात् विचार के समय में विपरीत धर्मों की अपेक्षा नहीं है अतः उपेक्षा ही गौणता है । उससे विपरीत धर्म का निराकरण नहीं होता है वही सापेक्षत्व है । अन्यथा—यदि ऐसा न मानोगे तो प्रमाण और नय दोनों का विषय समान हो जायेगा । अर्थात् यदि सापेक्षत्व प्रत्यनीक धर्मों की उपेक्षा रूप न होवे किन्तु प्रत्यनीक धर्म से सहित अथवा रहित रूप से ग्रहण करने वाला होवे तब तो प्रमाण और नयों का सकलरूप और विकलरूप से मानने का भेद ही सिद्ध न हो सकेगा । दोनों का विषय समान हो जायेगा ।

- १ नित्यानित्यास्तित्वनास्तित्वादिमिथ्याधर्माणां समूहः समुदायः । दि० प्र० । २ असत्यरूपा । दि० प्र० ।
३ जैतानाम् । व्या० प्र० । ४ कुतो यतः । व्या० प्र० । ५ परमार्थतत्त्वम् । व्या० प्र० । ६ कुतः परमार्थ-
तत्त्वं यतोर्थक्रियाकारित्वादतो न तुबोधस्यावतारः । दि० प्र० । ७ निरपेक्षनयगृहीतार्थकदम्बकस्य । दि० प्र० ।
८ सापेक्षनयगृहीतार्थानाम् । दि० प्र० । ९ सापेक्षनयसमूहस्य । दि० प्र० । १० कथं तेषां विशेषः । व्या० प्र० ।
११ धर्मान्तरादाहकं प्रमाणं धर्मान्तरापेक्षको नयः धर्मान्तरनिराकारको दुर्णय एवं प्रमाणनयदुर्णयानामन्यप्रकारो
नास्ति । दि० प्र० ।

हानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, ¹प्रमाणात्तदतस्त्वभावप्रतिपत्तेर्नया-
त्तप्रतिपत्तेर्दुर्णयादन्यनिराकृतेश्च² । इति विश्वोपसंहृतिः, ³व्यतिरिक्तप्रतिपत्तिप्रकाराणाम-
सम्भावत्⁴ ।

⁵नन्वेवमनेकान्तात्मार्थः ⁶कथं ⁷वाक्येन नियम्यते ⁸यतः ⁹प्रतिनियते विषये प्रवृत्ति-
लोकस्य स्यादित्यारेकायामिदमभिदधते,—

¹⁰नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा ।

¹¹तथान्यथा च ¹²सोवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०६॥

प्रमाण का विषय धर्मांतरों का ग्रहण करना है नयों का विषय धर्मांतरों की उपेक्षा (गौण)
करना है तथा दुर्णय का विषय धर्मांतरों का त्याग करना है । अन्य कोई चौथा प्रकार ही असंभव
है, क्योंकि प्रमाण से तत् अतत् स्वभाव का ज्ञान होता है । नय से तत्—एक अंश का ज्ञान होता है
और दुर्णय से अन्य का निराकरण करके निरपेक्ष एक अंश का ज्ञान होता है । इस प्रकार सम्पूर्ण
प्रमाणनय और दुर्णयों का संग्रह हो गया । इनसे व्यतिरिक्त ज्ञान करने के प्रकार ही असंभव हैं ।

उत्थानिका—इस प्रकार से अनेकांतात्मक अर्थ वाक्य के द्वारा कैसे निश्चित होता है कि
जिससे प्रतिनियत विषय में लोक की प्रवृत्ति होवे ऐसी आशंका के होने पर आचार्यवर्य समाधान
करते हैं—

विधीवाक्य या निषेधवाक्यों, से पदार्थ का कथन सही ।

विधीवाक्य से वस्तु “अस्ति” है, निषेध वच से नास्ति कही ॥

यदि ऐसा नहीं मानों तब तो, वस्तु विशेषण शून्य रही ।

पुनः विशेष्य नहीं होने से, वस्तु “अवस्तु” असत् हुई ॥१०६॥

कारिकार्थ—विधि वाक्य अथवा निषेध वाक्य के द्वारा अर्थ का निश्चय किया जाता है ।
वह अर्थ विधि वाक्य से विधि और प्रतिषेध वाक्य से प्रतिषेध रूपसिद्ध है, अन्यथा—एकांत रूप से
विचार करने पर तो अर्थ के सत्त्व असत्त्व में भेद ही नहीं हो सकेगा । ॥१०६॥

1 विवक्षित । व्या० प्र० । 2 प्रत्यनीकधर्म । व्या० प्र० । 3 तद्व्यतिरिक्त । इति पा० । व्या० प्र० । प्रमाणनय-
दुर्णयव्यतिरिक्त । व्या० प्र० । 4 अन्यथा । व्या० प्र० । 5 उक्तप्रकारेण । व्या० प्र० । 6 प्रश्ने । व्या० प्र० ।
7 साधनवाक्येन । व्या० प्र० । 8 वाक्यात् । व्या० प्र० । 9 नित्य एवानित्य एव । व्या० प्र० । 10 विशेष-
विषयं नीयते । व्या० प्र० । 11 वाक्यात् । दि० प्र० । तदतदात्मकोवश्यमभ्युपगन्तव्यः । व्या० प्र० । 12 अर्थस्य
सन्नर्थोऽसन्नर्थ इत्यनेन प्रकारेण विशेष्यत्वाभावोऽन्यनिरपेक्षे विधिप्रतिषेधयोर्विशेषणत्वासंभवात् । व्या० प्र० ।

[अनेकांतात्मकोऽर्थः विधिना वाक्येन प्रतिषेधवाक्येन वा निश्चीयते अन्यथा न ।]

यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात् स्वविषयाकारसंवित्तिवत् । यद्विवादाध्यासितं वस्तु तत्सर्वं धर्मि प्रत्येयम्, अप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात्, 'तस्यानेकान्तात्मकत्वेन विवादाध्यासितत्वात् साध्यत्वोपपत्तेः । अर्थक्रियाकारित्वादिति हेतुरसिद्धत्वादोषानाश्रयत्वात् प्रधानैकलक्षणयोगाच्च । ^२स्वविषयाकारसंवित्तिवदित्युदाहरणं, तथा ^३वादिप्रतिवादिसिद्धत्वात् ।—सौगतस्य चित्राकारैकसंवेदनोपगमात्, यौगानामीश्वरज्ञानस्य स्वार्थसंवेदिनो^४ मेचकज्ञानत्वोपगमात्, कापिलानामपि स्वरूपबुद्ध्यध्यवसितार्थसंवेदिनः स्वसंवेदनस्येष्टेः, श्रोत्रियाणामपि फलज्ञानस्य स्वसंवेदिनोर्थपरिच्छित्तिरूपस्य प्रसिद्धेः, चार्वाकस्यापि प्रत्यक्षस्य वेदनस्य ^५स्वार्थपरिच्छेदिनोभ्युपगमनीयत्वात् ^६सम्यगिदं साधनवाक्यम् । तथा न किञ्चिदेकान्तं

[अनेकांतात्मक अर्थ विधि वाक्य अथवा प्रतिषेध वाक्य के द्वारा निश्चित किया जाता है, अन्यथा नहीं ।]

“जो सत् है वह सभी अनेकांतात्मक है क्योंकि अर्थ क्रियाकारी है । जैसे स्वविषयाकार संवित्ति ।” अर्थात् जैसे तद्विषयाकार को ग्रहण करने वाली संवित्ति प्रमाण नय के भेद से अनेक भेद वाली है । उसी प्रकार से उसका विषय भी अनेक प्रकार का है ।” जो विवादापन्न वस्तु है वह सभी धर्मो है ऐसा समझना चाहिये । क्योंकि साध्य अप्रसिद्ध होता है । ऐसा वचन है वह अनेकांतात्मक रूप से विवाद की कोटि में आया है अतः साध्य रूप बन जाता है । “अर्थक्रियाकारित्वात्” यह हेतु असिद्धादि दोष से अनाश्रित है । तथा प्रधान एक-अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाला है । ‘स्वविषयाकार संवित्तिवत्’ यह उदाहरण है । क्योंकि उस प्रकार से वह वादी-प्रतिवादी दोनों को ही सिद्ध है । अर्थात् स्व और विषय इन दोनों के आकार को ग्रहण करने वाला जो ज्ञान है वह यहां उदाहरण में लिया है क्योंकि ज्ञान स्व और पर दोनों को विषय करने वाला होता है । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं ।

सौगत ने चित्राकार एक संवेदन स्वीकार किया है । योग ने भी ईश्वर के ज्ञान को स्व और अर्थ का संवेदी, मेचक ज्ञान रूप स्वीकार किया है । तथा सांख्यों ने भी स्वरूप और बुद्धि से अध्यवसित अर्थ को जानने वाला एक संवेदन माना है । मीमांसक भी फल ज्ञान को स्वसंवेदी, अर्थ की परिच्छित्त रूप मानते हैं । चार्वाक भी प्रत्यक्ष ज्ञान को स्वार्थ परिच्छेदी करते ही हैं । इस प्रकार से सभी के ही मत में ज्ञान को अनेक विषयक होने से अनेकार रूप मान्य किया है । इसलिये हमारा अनुमान वाक्य समीचीन ही है ।

१ अप्रसिद्धस्य साध्यस्य । दि० प्र० । २ समीचीनम् । दि० प्र० । ३ सिद्धत्वात् सौगतत्वात्सौगतस्य । इति पा० । दि० प्र० । ४ स्वार्थसंवेदनलक्षण । व्या० प्र० । ५ ततश्च । व्या० प्र० । ६ निषेधद्वारेण वक्ष्यमाणमनुमानवाक्यम् । दि० प्र० ।

वस्तुतत्त्वं सर्वथा ¹तदर्थक्रियाऽसंभवाद् गगनकुसुमादिवदिति । अत्रापि विवादापन्नं वस्तुतत्त्वं धर्मि पराध्यारोपितैकान्तत्वेन प्रतिषेध्यं, ²क्वचित् सत् ³इवारोपितस्यापि प्रतिषेध्यत्वसिद्धेरन्यथा ⁴कस्यचित्परमतप्रतिषेधायोगात्, सत् एव संज्ञिनः प्रतिषेधो नासत्: इत्यस्याप्यविरोधात्, सम्यगेकान्ते प्रसिद्धस्य रूपस्य सापेक्षस्य निरपेक्षत्वेनारोपितस्य ⁵क्वचित्प्रतिषेधात्, ⁶सर्वथा ⁷तदर्थक्रियाभावात् ⁸इति ⁹हेतुव्यापकानुपलब्धिरूपत्वात् । गगनकुसुमादिवदित्युदाहरणं साध्यसाधनावैकल्याद्गगनकुसुमादेरत्यन्ताभावस्य ¹⁰परैरेकान्तवस्तुरूपत्वसर्वथार्थक्रियाकारित्वयोरनिष्टे: । इतीदमपि श्रेयः साधनवाक्यम् । विशेषेण पुनर्नास्ति सदेकान्तः, सर्व-

उसी प्रकार से, 'कोई भी वस्तु तत्त्व एकांत रूप नहीं है । क्योंकि सर्वथा उसमें अर्थ क्रिया असंभव है जैसे आकाश के पुष्पादि ।' यहां पर भी विवादापन्न वस्तुतत्त्व धर्मी है । वह पर के द्वारा अध्यारोपित एकांत रूप से प्रतिषेध्य है, यह साध्य है । कहीं पर सत् के समान आरोपित में भी प्रतिषेध्यपना सिद्ध है । अन्यथा नहीं तो कोई भी पर मत का निषेध ही नहीं कर सकेगा ।

सत् रूप ही संज्ञी का प्रतिषेध होता है, असत् का नहीं । इस प्रकार के कथन में भी विरोध नहीं है । क्योंकि हमारे द्वारा मान्य सुनय रूप सम्यक् एकांत में सापेक्ष रूप प्रसिद्ध है उसमें कहीं पर निरपेक्ष रूप से आरोपित प्रतिषेध किया जाता है । इसलिये "सर्वथातदर्थ क्रियाभावात्" यह समीचीन हेतु है क्योंकि व्यापकानुपलब्धि रूप है एवं "गगनकुसुमादिवत्" यह उदाहरण भी समीचीन है । क्योंकि साध्य साधन से विकल नहीं है । अत्यन्ताभाव रूप गगनकुसुमादि में एकांत से वस्तुरूपता और सर्वथा अर्थक्रियाकारित्व ये दोनों बातें पर के द्वारा भी अनिष्ट हैं । इसलिये भी यह साधन वाक्य एकांत का निवारण करने वाला होने से श्रेयस्कर समीचीन है ।

किन्तु विशेष रूप से सदेकांत है ही नहीं अन्यथा सभी व्यापार विरुद्ध हो जावेगा । अर्थात् सभी कारकों का जो जन्य-जनक लक्षण व्यापार है वह विरुद्ध हो जावेगा । जैसे असदेकांत को मानने में सभी व्यापार विरुद्ध हैं । इसी कथन से विशेष रीति से "सभी अनेकांतात्मक एवं परिणामी स्वरूप हैं क्योंकि वे अर्थक्रियाकारी हैं । प्रधान के समान" इत्यादि कथन दिखलाया गया है । अर्थात्

- 1 तस्यैकान्तस्य वस्तुतः । दि० प्र० । 2 स्याद्वादिनां भते एकान्तं वस्तुतत्त्वं यद्यपि नास्ति तथापि इतरैकान्तवादिभिरारोपितं तस्यैव सतः प्रतिषेध्यत्वं साध्यते स्याद्वादिभिर्ननु परमार्थभूतस्य—अन्यथा आरोपितस्य प्रतिषेधो न घटते चेत्तदा कस्यचिद्वादिनः परमतनिषेधो न संभवति । दि० प्र० । 3 कस्यचिद्वस्तुतत्त्वे । न केवलं तत्त्वतो विद्यमानस्य । दि० प्र० । 4 वादिनः । दि० प्र० । 5 वस्तुतत्त्वे । व्या० प्र० । 6 क्रमयोगपद्यप्रकारेण । व्या० प्र० । 7 एकान्त । व्या० प्र० । 8 इति हेतुसिद्धः कुतो व्यापकस्य किञ्चिद्वस्तुतत्त्वमेकान्तं नास्तीत्येतल्लक्षणस्त साध्यस्यानुपलब्धौ अदर्शने सर्वथा तदर्थक्रियाभावादिति साधनस्याप्यनुपलब्धिरूपत्वं घटते यतः । दि० प्र० । 9 एकान्तवस्त्वपेक्षया व्यापकत्वमर्थक्रियायाः । दि० प्र० । 10 अनङ्गीकारात् । दि० प्र० ।

व्यापारविरोधप्रसङ्गादसदेकान्तवत् । ^१एतेन विशेषतोनेकान्तात्मकः परिणाम्यात्मार्यक्रिया-
कारित्वात् ^२प्रधानवदित्याद्युपदर्शितम् । इति विधिना प्रतिषेधेन वा वस्तुतत्त्वं ^३नियम्येत
तथान्यथा च तस्यावश्यंभावसमर्थनात् । अन्यथा ^४तद्विशिष्टमर्थतत्त्वं विशेष्यमेव न स्याद्विधेः
प्रतिषेधरहितस्य प्रतिषेधस्य च विधिरहितस्य ^५विशेषणत्वनिराकरणात् तदुभयरहितस्य च
विशेष्यत्वविरोधात् खपुष्पवत् । ^६इत्यनेन विधिप्रतिषेधयोगुणप्रधानभावेन सदसदादिवाक्येषु
वृत्तिरिति ^७लक्षयति । ततो न तेषां ^८पौनस्वत्यं, येन सप्तभङ्गीविधिरनवद्यो न स्यात् ।

विधिनैव वस्तुतत्त्वं वाक्यं नियमयति ^९सर्वथेत्येकान्ते दूषणमुपदर्शयन्ति,—

यहाँ अनुमान वाक्य में सभी अनेकांतवादियों के प्रति वस्तु को अनेकांतात्मक सिद्ध किया है और
सांख्य के प्रति वस्तु को परिणामी सिद्ध किया है ।

इस प्रकार से विधि अथवा प्रतिषेध के द्वारा वस्तु तत्त्व निश्चित की जाती है । क्योंकि वह
वस्तु तथा विधि रूप से और अन्यथा निषेध रूप से अवश्यंभावी है ऐसा समर्थन किया गया है ।

अन्यथा—यदि ऐसा न मानों तो केवल विधि रूप से या केवल प्रतिषेध रूप से विशिष्ट अर्थ
तत्त्व विशेष ही नहीं हो सकेगा । क्योंकि प्रतिषेध रहित विधि और विधि रहित प्रतिषेध दोनों के ही
विशेषण का निराकरण हो जाता है । अर्थात् दोनों ही विशेषण से रहित हो जाते हैं । तथा दोनों से
रहित वस्तु विशेष्य नहीं बन सकती है । आकाश पुष्प के समान ।

इसी कथन से विधि और प्रतिषेध गौण, प्रधान भाव से सत् असत् आदि वाक्यों में रहते हैं,
ऐसा भी श्री समंतभद्र स्वामी बतलाते हैं । इसलिये उन द्वितीयादि नय भागों में पुनरुक्ति दोष का प्रसंग
नहीं आता है । कि जिससे सप्तभङ्गी विधि निर्दोष सिद्ध न हो सके अर्थात् सप्तभङ्गी विधि निर्दोष ही
सिद्ध हो जाती है ।

उत्थानिका—किसी का कहना है कि वाक्य सर्वथा विधि के द्वारा ही वस्तु तत्त्व का निश्चय
कराते हैं, इस प्रकार की एकांत मान्यता में आचार्यवर्य दूषण दिखाते हैं—

१ विरोधप्रसंगसमर्थनेन । सदेकान्तादिनिराकरणद्वारेण । दि० प्र० । २ विशेषे विधिवाक्यम् । दि० प्र० । ३ नियतं
क्रियेत । दि० प्र० । ४ अन्यथाविधेः प्रतिषेधस्यान्योन्यं सापेक्षकत्वाभावे विधिप्रतिषेधविशिष्टं वस्तुतत्त्वं
यदि प्रतिपाद्यते विशेष्यमेव तदा न भवेत् किन्तु शून्यम् । दि० प्र० । ५ तथापि विशेष्यत्वं कुतो न स्यादित्युक्ते
आह । दि० प्र० । ६ श्लोकेन । व्या० प्र० । ७ सदिति वाक्ये विधेः प्रधानभावेन वृत्तिनिषेधस्य गुणभावेन
वृत्तिरसदिति वाक्ये तद्विपर्यय इत्यनेनानेकान्तात्मकार्यस्यास्तीति च वाक्येन नियमयितुमशक्यत्वात् प्रतिनियतविषये
अस्तित्वादी कथं प्रवृत्तिरिति पातनिकायामुक्तञ्चोद्यं निरस्तं गुणप्रधानभावविवक्षायामस्तीति नास्तीति च वक्तुं
सुशक्यत्वात् । दि० प्र० । ८ अस्तीति वचनेन नास्तीति वचनेन प्रत्येकमस्तिनास्तित्वयोः कथनादरीनरुक्त्यम् ।
दि० प्र० । ९ स्वरूपेणैव पररूपेणापि । दि० प्र० ।

^१तदतद्वस्तुवागेषा ^२तदेवेत्यनुशासती ।
न सत्या ^३स्यान्मृषावाक्यैः ^४कथं तत्त्वार्थदेशना ॥११०॥

[वाक्यं विधिमुखेनैव वस्तुतत्त्वं वक्तुं न शक्नोति ।]

^५प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतं ^६विरुद्धधर्माध्यासलक्षणमविरुद्धं वस्तु समायातं, स्वशिर-
स्ताडं पूत्कुर्वतोपि तदतद्रूपतयैव प्रतीतेः । तदुक्तं,—

‘विरुद्धमपि संसिद्धं ^७तदतद्रूपवेदनम् । यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के ^८वयम् ॥१॥

इति । ^९तच्च तदेवेत्येकान्तेन प्रतिपादयन्ती मिथ्यैव भारती, विध्येकान्ते प्रतिषेधै-

वस्तु “तत्” अरु “अतत्” रूप है, परन्तु जो “तत्” ही कहते ।

ऐसे वचन तो असत्य ही हैं, चूँकि वस्तु “अतत्” भी है ॥

पुनः मृषा वचनों से कैसे, तत्त्वों का उपदेश घटे ।

विधीवाक्य से अस्तिमात्र ही, कोई पदारथ नहीं दिखें ॥११०॥

कारिकार्थ—ये वचन ‘तत्, अतत्’ स्वभाव वाली वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, यदि वचन वह ही है, इस प्रकार स्वरूप के समान पररूप से भी विधिरूप मात्र ही वस्तु को प्रतिपादित करें तब तो वे वचन असत्य हो जायेंगे पुनः असत्य वचनों से तत्त्वार्थ का उपदेश कथन कैसे हो सकेगा ? ॥११०॥

[वाक्य विधि रूप से ही वस्तु का कथन नहीं कर सकते हैं ।]

प्रत्यक्षादि प्रमाण के विषयभूत, विरुद्ध—धर्माध्यास लक्षण अविरुद्ध ही वस्तु होती है ऐसा अर्थ सिद्ध है ।

अपने सिर को अपने हाथ से ताडित करके पूत्कार करते हुये—चिल्लाते हुये पुरुष को भी प्रत्येक वस्तु तत् अतत् रूप ही प्रतीति में आती है । क्योंकि प्रत्यक्षादि से उसी प्रकार का अनुभव आ रहा है कहा भी है—

श्लोकार्थ—विरुद्ध धर्माध्यास लक्षण होकर भी तत् और अतत् रूप ज्ञान ही सम्यक् प्रकार से सिद्ध है यदि स्वयं अर्थों को यही रुचता है तो वहाँ हम क्या कर सकते हैं ? ॥१॥

और इस प्रकार से ‘वही है’ इस विधि रूप को एकांत रूप से प्रतिपादन करती हुयी वाणी

- १ स्वरूपरूपादिचतुष्टयेन सदसद्रूपं वस्तु ईप् । दि० प्र० । २ विधिप्रतिषेधरूपा । व्या० प्र० । ३ ततश्च । व्या० प्र० । ४ मृषारूपवाक्यैः । व्या० प्र० । ५ ग्राह्यम् । दि० प्र० । ६ सदसदादिविरुद्धधर्माध्यास एव लक्षणं यस्य । दि० प्र० । ७ वसः । दि० प्र० । ग्राहकम् वसः । व्या० प्र० । ८ स्याद्वादिनः । दि० प्र० । ९ विरुद्धधर्माध्यासलक्षणं वस्तु । व्या० प्र० । तच्च तदतद्रूपं विधिप्रतिषेधात्मकं वस्तुस्वभावेन प्रवर्तते । तादृशं वस्तु तदेव विद्ययात्मकमेवेत्येकान्तेन कथयन्ती परवादिनां वाणी असत्या एव कुतो घटादिवस्तुनः सत्त्वप्रतिपादनदृष्टस्याविवक्षितघटादिलक्षणपररूपाभावस्याप्रतिपादनात् । अथवा तस्य पररूपाभावस्य प्रतिपादने विध्येकान्तो विरुद्धयते । दि० प्र० ।

कान्ताभावस्येष्टस्यानभिधानात्, तदभिधाने वा विध्येकान्तप्रतिपादनविरोधात् । न च मृषा-
वाक्यैस्तत्त्वार्थदेशना युक्तिमती । इति ^१कथमन्यार्थदेशनम् । ^२इत्येकान्ते वाक्यार्थानुपपत्ति-
रालक्ष्यते ।

^३प्रतिषेधमुखेनैवार्थ^४ वाक्यं नियमयतीत्येकान्तोपि न श्रेयानिति ^५प्रतिपादयन्ति,—

^६वाकस्वभावोन्यवागर्थप्रतिषेधनिरङ्कुशः ।

^७आह च स्वार्थसामान्यं ^८तादृग् वाच्यं ^९खपुष्पवत् ॥१११॥

मिथ्या ही है । क्योंकि विधि के एकांत को स्वीकार करने पर तो आपके द्वारा इष्ट रूप प्रतिषेधैकांत का अभाव भी नहीं कहा जा सकता है । अर्थात् विधि को सिद्ध करने में प्रतिषेधैकांत का निषेध करना चाहिये परन्तु विधि का एकांतवादी विधि वचन के द्वारा प्रतिषेध का निषेध करने में भी समर्थ नहीं हो सकता है, केवल विधि वाक्य के द्वारा प्रतिषेध पक्ष का भी प्रतिषेध नहीं हो सकता है । अथवा उस प्रतिषेध कथन करने पर विधि के एकांत का प्रतिपादन करना विरुद्ध हो जाता है और मृषा वचनों के द्वारा तत्त्वार्थ का उपदेश भी युक्ति-युक्त नहीं है । पुनः इस तत्त्वार्थ की देशना से पदार्थ का उपदेश भी कैसे हो सकेगा ? इस प्रकार से एकांत में वाक्य और पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकते हैं, ऐसा कहा गया है ।

उत्थानिका—अब प्रतिषेध रूप से ही वाक्य अर्थ का निश्चय कराते हैं यह एकांत भी श्रेयस्कर नहीं है, इस प्रकार से आचार्यवर्य प्रतिपादन करते हैं—

अन्य वचन के अर्थों के, प्रतिषेध हेतु निरङ्कुश ही ।

निज सामान्य अर्थ को कहना, ऐसा वचन स्वभाव सही ॥

किन्तु केवल निषेध मुख से, वचन स्वार्थ प्रतिपादक हैं ।

ऐसे वच से कथित वस्तु ही, गगनकमलवत् 'असत्' रहे ॥१११॥

कारिकार्थ—वचन का स्वभाव अन्य वचन के अर्थ का प्रतिषेध करने से निरङ्कुश है और वह परार्थ सामान्य निरपेक्ष अपने अर्थ सामान्य को कहता है । किन्तु 'केवल निषेध मुख से ही वचन अपने अर्थ को कहते हैं ।' ऐसा बौद्धों का कथन आकाश पुष्प के समान असत् है ॥१११॥

१ मृषाभारत्या । दि० प्र० । २ हेतोः । व्या० प्र० । ३ ननु विधिमुखेनैव । दि० प्र० । ४ कर्तृ । व्या० प्र० । ५ धटमानयेत्यादिवाक्यं केवलमभावेन पदार्थ निश्चाययति सौगताभ्युपगत इत्येकान्तोपि न श्रेयस्करः । इति श्री-
स्वामिनः प्रतिपादयन्ति । दि० प्र० । ६ आत्मीयस्वरूपम् । व्या० प्र० । ७ तर्ह्यन्यवागर्थप्रतिषेधः निरङ्कुश एवास्तु
न स्वार्थप्रतिपादक इत्यत आह । व्या० प्र० । ८ तादृक् सौगताभ्युपगतमन्यापोहकथनं वाक्यं खपुष्पवच्छून्यं भवति ।
दि० प्र० । ९ ननु वस्तुतः सामान्यमेव रूप विशेष एव वा तत्तत्त्वोभयस्वभावप्रतिपादनं कुतो यतस्तद्वाक् स्वभावो
भवेदित्याह । व्या० प्र० ।

[वाक्यं प्रतिषेधमुखेनैव वस्तुतत्त्वं वक्तुं न शक्नोति ।]

वाचः स्वभावोयं येन स्वार्थसामान्यं ¹प्रतिपादयन्ती तदपरं ²निराकरोति, न पुनस्तदप्रतिपादयन्ती³, ⁴स्वार्थसामान्यप्रतिपादनतदन्यनिराकरणयोरन्यतरापायेनुक्तानतिशयनात्⁵ । इदंतया नेदंतया वा न प्रतीयेत तदर्थः कूर्मरोमादिवत् । ⁶न खलु सामान्यं ⁷विशेषपरिहारेण विशेषो वा सामान्यपरिहारेण क्वचिदुपलभामहे । ⁸अनुपलभमानाश्च⁹ कथं ¹⁰स्वंपरं वा तथाभिनिवेशेन ¹¹विप्रलभामहे, विध्येकान्तवदन्यापोहैकान्तस्य प्रागेव व्यासेन निरस्तत्वात् । भूयोप्यन्यापोहवादिनमाशङ्क्य निराकुर्वते,—

[वाक्य निषेध मुख से ही वस्तुतत्त्व का कथन नहीं कर सकते हैं ।]

यह वचन का स्वभाव है कि जिससे वे अपने अर्थ सामान्य का प्रतिपादन करते हुये विवक्षित से इतर सभी का निषेध करते हैं । किन्तु अपने अर्थ का प्रतिपादन न करते हुये निषेध करते हैं ऐसा नहीं है क्योंकि स्वार्थ सामान्य का प्रतिपादन और उससे अन्य का निराकरण इन दोनों में से किसी एक का अभाव कर देने पर तो वे वचन अनुक्त का उल्लंघन नहीं कर सकेंगे अर्थात् वचनों का उच्चारण ही ध्यर्थ हो जायेगा क्योंकि स्व प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है । अतः वे वचन नहीं बोले हुये वचन के समान ही रहेंगे । यह है अथवा यह नहीं है इस प्रकार से उन वचनों का अर्थ प्रतीति में नहीं आ सकेगा, कूर्म के रोमादि के समान । कहीं पर भी विशेष को छोड़कर सामान्य अथवा सामान्य को छोड़कर विशेष हमें प्राप्त नहीं होते हैं । और जो उपलब्ध ही नहीं होते हैं वे हमको अथवा पर को उस प्रकार के अभिप्राय से नहीं प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् विशेष रहित सामान्य ही हैं अथवा सामान्य से रहित विशेष ही वस्तु का स्वरूप है इस प्रकार के एकांत आग्रह से विधि एकांत के समान ही अन्यापोह रूप एकांत का भी हमने पहले ही “कूर्मापितद्वयाद्वैतं” इत्यादि कारिका में विस्तार से निरसन किया है ।

उत्थानिका—पुनरपि अन्यापोहवादी की शंका को उठाकर आचार्यवर्य उसका निराकरण करते हैं—

1 वाक्सती । व्या० प्र० । 2 तस्मात् स्वार्थसामान्यादपरं परार्थसामान्यम् । व्या० प्र० । 3 प्रतिपादयति । इति पा० । दि० प्र० । 4 का । व्या० प्र० । 5 द्वयोरैकस्याप्यभावे वाक्यमनुवृत्तं नातिशेते कौथोनुक्तसमं भवति । दि० प्र० । 6 तादृक् वाक्यं खपुष्पवदितिकारिकांशं व्याख्यान्ति न खल्विति । दि० प्र० । 7 अन्यव्यावृत्तिलक्षणो विशेषः । दि० प्र० । 8 वयं स्याद्वादिनो निरपेक्षं सामान्यं विशेषं वा अपपद्यन्तः सन्त आत्मानं परमन्यजनं वा एकान्तग्रहणेन कथं वञ्चयामः । दि० प्र० । 9 वयम् । व्या० प्र० । 10 अन्तस्तत्त्वम् । दि० प्र० । 11 विप्रतिपत्ति कुम्भे । दि० प्र० ।

^१सामान्यवाग् ^२विशेषे ^३चेन्न शब्दार्थो ^४मृषा हि ^५सा ।

अभिप्रेतविशेषाप्तेः ^६स्यात्कारः ^७सत्यलाञ्छनः ॥ ११२ ॥

[स्यात्कार एव सत्य लाञ्छनः सिद्ध्यति ।]

अस्तीति सत्सामान्यवान् केवलमभावविच्छेदाद् विशेषमपोहमाहेति चेत्, ^८कः पुनरपोहः ?
^९किमन्यव्यावृत्तिरुत तथा विकल्पः ? परतो व्यावृत्तिरभावोन्यापोह इष्यते इति चेत्, कथमेवं
सत्यभावं प्रतिपादयति ? भावं न ^{१०}प्रतिपादयतीत्यनुक्तसमं न स्यात् । ^{११}तद्विकल्पोन्यापोहोस्तु

ये सामान्य वचन ही कहते, अन्यापोह विशेषार्थक ।

ऐसा कथन असंगत, चूंकि ये वचन नहि शब्दार्थ कथक ॥

अतः वचन ये मृषा, परन्तु जो अभिप्रेत विशेषारथ ।

प्राप्त कराने हेतु ऐसा “स्यात्कार” है चिन्ह सुतथ्य ॥११२॥

कारिकार्थ—सामान्य वचन विशेष का कथन नहीं करते हैं फिर भी यदि आप मान लेंगे तब तो शब्दार्थ असत्य ही हो जायेंगे । अतएव अभिप्रेत विशेष की प्राप्ति के लिये सत्य लाञ्छन वाला स्यात्कार पद ही है ॥११२॥

[स्यात्कार ही सत्यलाञ्छन सिद्ध होता है ।]

बौद्ध—“अस्ति” इस प्रकार के सत्सामान्य वाले वचन केवल अभाव के विच्छेद से विशेष अपोह को ही कहते हैं ।

जैन—यदि ऐसी बात है तब तो यह बताइये कि वह अपोह क्या बला है ? क्या वह अन्य की व्यावृत्ति रूप है अथवा उस प्रकार से विकल्प रूप है ?

बौद्ध—पर से व्यावृत्ति का होना अर्थात् अभाव का होना ही अन्यापोह है ऐसा हम मानते हैं ।

जैन—तब तो ‘अस्ति’ इस प्रकार के सत्सामान्य वचन अपने सत्यभाव—अर्थ को कैसे प्रतिपादित करेंगे ? यदि आप कहें कि अपने सत्य भाव का प्रतिपादन नहीं करते हैं तो पुनः ये वचन अनुक्त—नहीं कहे हुये के समान ही क्यों नहीं हो जायेंगे ?

१ सौगताभ्युपगता घटोस्तीति सत्सामान्यवाक् विशेषेऽपोहे वर्तते चेत्तदा लोके कश्चिच्छब्दार्थो न । अन्यापोहे प्रवर्तमाना सामान्यवाक् मृषैव स्यात्स्वरूपेण भावः पररूपेणाभाव इति स्याद्वादस्तस्यो भवति कुतोभीष्टविशेषप्रापणात् दि० प्र० । २ अन्यापोहे । दि० प्र० । ३ शब्दार्थो न सिद्ध्यतीत्यर्थः । दि० प्र० । ४ ततश्च । दि० प्र० । ५ तत्र दूषणम् । दि० प्र० । ६ अस्तीति वाक्यम् । दि० प्र० । ७ ता । दि० प्र० । ८ तत्र दूषणम् । व्या० प्र० । ९ कुतः । इति पा० । दि० प्र० । १० सौम्यवचनम् । दि० प्र० । ११ अभावं प्रतिपादयति भावं न प्रतिपादयतीति विकल्पः स चासौ विकल्पस्तद्विकल्पः । दि० प्र० ।

मिथ्याभिनिवेशादिति चेत्, न ^१चैतत्तस्य प्रतिपादकं ^२मिथ्याविकल्पहेतुत्वाद्वचलीकवचनवत् । ततो नान्यापोहः शब्दार्थः सिद्ध्यति, येन ^३तत्र प्रवर्तमानास्तीत्यादिसामान्यवाग् मृषैव न स्यात् । ततः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनो मन्तव्यः ^४स्वाभिप्रेतार्थविशेषप्राप्तेः । सर्वो हि प्रवर्तमानः कुतश्चिद्वचनात् ^५क्वचित्स्वरूपादिना सन्तमभिप्रेतमर्थं प्राप्नोति, न ^६पररूपादिनानभिप्रेतं, ^७प्रवृत्तिवैयर्थ्यात्, स्वरूपेणैव पररूपेणापि सत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वप्रसङ्गात्, परात्मनेव स्वात्मनाप्यसत्त्वे ^८सर्वस्याभिप्रेतत्वाभावात् ^९स्वयमभिप्रेतस्याप्यनभिप्रेतत्वप्रसक्तेश्च^{१०} । ^{११}ततः ^{१२}स्याद्वाद एव सत्यलाञ्छनो न वादान्तरमित्यतिशाययति भगवान् समन्तभद्रस्वामी ।

बौद्ध—उसका विकल्प ही अन्यापोह हो जावे क्योंकि वचनों का अभिप्राय मिथ्या है ।

जैन—तब तो 'अस्ति' इत्यादि वचन उस अपने अर्थ के प्रतिपादक नहीं हो सकेंगे क्योंकि मिथ्या विकल्प के हेतु हैं जैसे कि असत्य वचन अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं । अर्थात् 'अस्ति' यह वचन अन्यापोह के विकल्प का उत्पादक ही है न कि उस अर्थ का प्रतिपादक । और ऐसा मानने से तो वे वचन मिथ्या ही सिद्ध होते हैं ।

इसलिये शब्द का अर्थ अन्यापोह है यह बात सिद्ध नहीं होती है । कि जिससे उसमें प्रवर्तमान 'अस्ति' इत्यादि सामान्य वचन असत्य ही न हो जावे । अर्थात् असत्य ही हो जाते हैं । इसलिये स्यात्कार ही सत्य लाञ्छन है ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि सभी को अपने-अपने अभिप्रेत अर्थ विशेष की प्राप्ति होती है । प्रवृत्ति करने वाले सभी मनुष्य किन्हीं वचनों से कहीं पर स्वरूपादि से विद्यमान अभिप्रेत अर्थ को प्राप्त करते हैं । किन्तु पर रूपादि से अनभिप्रेत अर्थ को प्राप्त नहीं करते हैं । अर्थात् जानने वाले को स्वरूपादि से सत् ही वस्तु अभिप्रेत होती है, किन्तु पर रूपादि से असत् वस्तु अभिप्रेत नहीं होती है एवं पररूपादि से अनभिप्रेत अर्थ को प्रवर्तक जन प्राप्त नहीं करते हैं । अन्यथा प्रवृत्ति करना ही व्यर्थ हो जायेगा ।

स्वरूप के समान पर रूप से भी किसी का सत्त्व स्वीकार करने पर तो सभी वस्तु अभिप्रेत हो जायेंगी तथा पररूप के समान ही स्वरूपादि से भी असत्त्व मानने पर तो सभी में अभिप्रेतपने का अभाव हो जाने से स्वयं को अभिप्रेत वस्तु भी अनभिप्रेत हो जावेंगी । किन्तु ऐसा तो है नहीं । इसलिये स्याद्वाद ही सत्य लाञ्छन हैं किन्तु अन्य वाद नहीं है इस प्रकार से भगवान् श्री समन्तभद्र स्वामी अतिशय रूप से सिद्ध करते हैं ।

१ एतत्सौगतस्यान्यापोहात्मकं वचः तस्यार्थस्य कथकं न मिथ्या विकल्पकारणात् । दि० प्र० । २ विकल्पो नाम संश्रय इति वचनादस्तीति वाक्यमन्यापोहस्य विकल्पस्योत्पादकमेव ननु प्रतिपादकमित्यर्थः । दि० प्र० । ३ अभावे । दि० प्र० । ४ सदसदात्मकः । दि० प्र० । ५ वस्तुन्यर्थे । सन्तम् । दि० प्र० । ६ अनभिप्रेतमर्थं न प्राप्नोति स्वरूपादिना सन् प्रतिपत्तुरभिप्रेतस्ततः पररूपादिना सन् तदनभिप्रेतः । दि० प्र० । ७ सर्वत्र सद्भावप्रसंगात् । दि० प्र० । ८ अनिष्टत्वात् । दि० प्र० । ९ प्रतिपत्त्वात् । व्या० प्र० । १० अर्थस्य । व्या० प्र० । ११ मन्तव्यो यतः । दि० प्र० । १२ अहंमतम् । दि० प्र० ।

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याविरोधि यत् ।

^१तथैवादेय^२हेयत्वमिति^३ स्याद्वादसंस्थितिः ॥११३॥

[स्याद्वादस्य सम्यक् व्यवस्थां स्पष्टयति जनाचार्याः ।]

^४अस्तीत्यादि विधेयमभिप्रेत्य विधानात्, सर्वत्रैतावन्मात्रलक्षणत्वात् विधेयत्वस्य । नहि ^५परिवृढ ^६भयादेरनभिप्रेतस्यापि विधाने विधेयत्वं युक्तं, वीतरागस्यापि ^७तत्कृतबन्ध-प्रसङ्गाज्जनापवादानुषङ्गाच्च । नाप्यभिप्रेतस्याप्यविधानेऽविधेयत्वं, ^८तद्योग्यतामात्रसिद्धेरन्यथा विधानानर्थक्यात् । ^९तत एवाभिप्रायशून्यानां किञ्चिदप्यकुर्वतां न किञ्चिद्विधेयं नापि ^{१०}हेयम-

जो विधेय है वह अपने, प्रतिषेध-नास्ति सह अविरोधी ।

इच्छित अर्थों का साधन वह, स्याद्वाद उभयात्मक ही ॥

वैसे ही आदेय हेय है, वस्तु का सर्वथा नहीं ।

इस प्रकार से स्याद्वाद की, सम्यक् स्थिति घटित हुई ॥११३॥

कारिकार्थ—‘अस्ति’ इत्यादि शब्द से वाच्य विधेय वाक्य ही ईप्सित अर्थक्रिया के प्रति कारण है और वह प्रतिषेध-नास्तित्वादि धर्म से अविरोधी-अविनाभावी है । एवं उसी प्रकार से ही आदेय और हेय हैं इस प्रकार से स्याद्वाद की सम्यक् व्यवस्था हो जाती है ॥११३॥

[जनाचार्य स्याद्वाद की सम्यक् व्यवस्था को स्पष्ट करते हैं ।]

“अस्ति” इत्यादि विधेय हैं क्योंकि अभिप्रेत करके-मन में दृष्ट करके ही विधान किया जाता है । सभी जगह विधेय का इतना मात्र ही लक्षण माना गया है । राजा के भयादि से अनभिप्रेत का भी विधान मान लेने पर भी उसे ‘विधेय’ कहना युक्त नहीं है । अन्यथा वीतराग भगवान को भी तत्कृत-बन्ध का प्रसंग आ जायेगा ।

अभिप्रेत का भी विधान न करने पर वह अभिधेय हो गया ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि उसमें उस प्रकार की योग्यता मात्र की सिद्धि है, अन्यथा उसका विधान ही अनर्थक हो जायेगा ।

इसलिये कुछ भी न करते हुए एवं अभिप्राय से शून्य मनुष्यों के लिये कुछ भी विधेय नहीं है । एवं हेय भी कुछ भी नहीं है । क्योंकि अभिप्रेत्य और त्याग का अभाव होने से उनके उपेक्षा

1 यथैव । इति पा० । दि० प्र० । 2 समादि । व्या० प्र० । 3 कण्टकादि । व्या० प्र० । 4 शब्देन वाच्यम् । व्या० प्र० । 5 राजभयादेः । व्या० प्र० । 6 आदिशब्देन चौरादिभयं ग्राह्यम् । का । मातृग्रहणादिकस्य । व्या० प्र० । 7 अन्यथा । दि० प्र० । 8 अभिप्रेतमात्रत्वेन विधेयत्वसिद्धौ । व्या० प्र० । 9 अभिप्रेत्यविधानादितिशब्दधो-र्मध्य एकैकाभावे दोषं प्रदर्श्य उभयाभावं प्रदर्शयति तत एवेति । दि० प्र० । 10 अभिप्रायपूर्वकविधानाभावात् हेयत्वमेव सूक्तं भवतीत्याशंकायामिदं वचनम् । दि० प्र० ।

भिप्रेत्यहानाभावादुपेक्षामात्रसिद्धेः^१ । तद्विपरीतानां तु किञ्चिद्विधेयं, तच्च नास्तित्वादिभिर-
विहृद्धं, प्रतिषेधैरीप्सितार्थाङ्गत्वात्, तस्य तद्विरोधे^२ स्वयमीप्सितार्थहेतुत्वासम्भवात्, विधि-
प्रतिषेधयोरन्योन्याविनाभावलक्षणत्वात् स्वार्थज्ञानवत् । न हि स्वार्थज्ञानयोरन्योन्याविना-
भावोऽसिद्धः, स्वज्ञानमन्तरेणार्थज्ञानानुपपत्तेः कुटवत् स्वज्ञाने एवार्थज्ञानघटनात् सर्वज्ञज्ञानवत् ।
नहीश्वरस्यापि स्वज्ञानाभावः, सर्वज्ञत्वविरोधात् स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमस्यावश्यंभावात् ।
नापि^३ विषयाकारज्ञानमन्तरेण स्वज्ञानं, ^४स्वाकारस्यार्थस्य परिच्छेद्यत्वविरोधात् स्वज्ञाना-
भावप्रसङ्गात् । ^५तदनवद्यमुदाहरणं प्रकृतं साधयति । ^६यथैव च विधेयं प्रतिषेध्याविरोधि
सिद्धमीप्सितार्थाङ्गं तथैवादेयहेयत्वं वस्तुनो, ^७नान्यथा विधेयैकान्ते कस्यचिद्धेयत्वविरोधात्
प्रतिषेधैकान्ते कस्यचिदादेयत्वविरोधात् । न हि सर्वथा विधेयमेव सर्वथा प्रतिषेध्यं स्याद्वा-

मात्र सिद्ध है । उनसे विपरीत मनुष्यों के लिये ही कुछ विधेय है । और वह नास्तित्वादि से अविहृद्ध है । क्योंकि प्रतिषेध्य-नास्तित्वादि के साथ में ईप्सित अर्थ का अंग है । यदि वह अस्तित्व-नास्तित्व घर्म से विरोध को प्राप्त हो जावें तो स्वयं ईप्सितार्थ हेतु असंभव हो जायेगा । क्योंकि विधि और प्रतिषेध परस्पर में अविनाभाव लक्षण वाले हैं जैसे कि स्वार्थ ज्ञान ।

स्व और अर्थ इन दोनों के ज्ञान में परस्पर में अविनाभाव असिद्ध ही ऐसा भी नहीं है । क्योंकि स्वज्ञान के बिना पदार्थ का ज्ञान भी असंभव है । जैसे घट को स्वज्ञान के अभाव में अर्थज्ञान नहीं हो सकता है । अतः स्वज्ञान के होने पर ही अर्थ ज्ञान घटित होता है, सर्वज्ञ ज्ञान के समान ।

आप यौग ऐसा भी नहीं कह सकते हैं कि 'ईश्वर में स्वज्ञान का अभाव है' अन्यथा वह ईश्वर सर्वज्ञ ही नहीं रहेगा । अतएव उस ईश्वर में स्वसंविदित ज्ञान को स्वीकार करना अवश्यंभावी है । विषयाकार ज्ञान के बिना भी स्वज्ञान हो जावें ऐसा भी नहीं है । अन्यथा स्वाकार अर्थ परिच्छेद्य-ज्ञेय ही नहीं हो सकेगा, पुनः स्वज्ञान के अभाव का ही प्रसंग आ जायेगा । इसलिये यह उदाहरण निर्दोष है और प्रकृत अर्थ को सिद्ध करता है ।

जिस प्रकार से विधेय प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी होकर ही ईप्सित अर्थ के प्रति अंग-साधन प्रसिद्ध है, उसी प्रकार से वस्तु का आदेय और हेयत्व भी सिद्ध है, अन्यथा नहीं । क्योंकि विधेय को एकांत से स्वीकार करने पर किसी को भी हेयत्व का विरोध हो जावेगा अर्थात् कोई भी वस्तु हेय नहीं बन सकेगी एवं प्रतिषेध्यैकान्त में भी कोई वस्तु आदेय नहीं होगी ।

१ निरभिप्रायादेव । व्या० प्र० । २ प्रयोजन । व्या० प्र० । ३ अर्थ । दि० प्र० । ४ प्रमेयभूतस्य । दि० प्र० ।
५ अपराद्धं व्याख्याति । दि० प्र० । ६ वस्तुन आदेयत्वं पक्षः हेयत्वेनाविनाभावि भवतीति साध्यमीप्सितार्थाङ्गत्वात्
यथाविधेयं प्रतिषेध्याविनाभावि स्यात् । दि० प्र० । ७ अन्योन्याविनाभावप्रकारेण । व्या० प्र० ।

दिनोभिप्रेतं, ^१येनोभयात्मकत्वे एवादेयहेयत्वं न स्यात्, कथंचिद्विधिप्रतिषेधयोस्तादात्म्योपग-
मात् । तद्विधेयप्रतिषेध्यात्मविशेषात् स्याद्वादः प्रक्रियते सप्तभङ्गीसमाश्रयात् । यथैव हि
^२विधेयोस्तित्वादिविशेषः, ^३स्वात्मना विधेयो न प्रतिषेध्यात्मनेति स्याद्विधेयः सिद्धः । प्रति-
षेध्यात्मविशेषश्च विधेयात्मना प्रतिषेध्यो न प्रतिषेध्यात्मना इति स्यात्प्रतिषेध्य ^४स्यादप्रति-
षेध्योन्यथा व्याघातात् । तथैव जीवाद्यर्थः स्याद्विधेयः स्यात्प्रतिषेध्यः । ^५इति सप्तभङ्गी-
समाश्रयात् स्याद्वादस्य प्रक्रियमाणस्य सम्यक् स्थितिः, ^६सर्वत्र युक्तिशास्त्राविरोधात्, भावै-
कान्तादिष्वेव तद्विरोधसमर्थनात् । ततो ^७भगवन्ननवद्यमध्यवसितमस्माभिः, स त्वमेवासि निर्दोषो
युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वादिति । तदेवं प्रारब्धनिर्वहणमात्मनस्तत्फलं च सूरयः प्रकाशयन्ति,—

सर्वथा विधेय ही अथवा प्रतिषेध्य ही वस्तु स्याद्वादियों को इष्ट नहीं है । कि जिससे
उभयात्मक में ही आदेय और हेयपना न होवे, अर्थात् उभयात्मक में ही आदेय-हेयत्व घटित होता है ।
क्योंकि विधि और प्रतिषेध में कथंचित् तादात्म्य स्वीकार किया गया है ।

इसलिये विधेय प्रतिषेध्य स्वरूप विशेष का आश्रय लेकर ही स्याद्वाद प्रक्रिया सप्तभंगी का
आश्रय लेती है ।

जिस प्रकार से अस्तित्वादि विशेष विधेय है वे स्वस्वरूप से ही विधेय है किन्तु प्रतिषेध्य रूप
से विधेय नहीं है । इसलिये कथंचित विधेय सिद्ध है प्रतिषेध्य स्वरूप विशेष भी विधेय रूप से
प्रतिषेध्य है न कि प्रतिषेध्य स्वरूप से प्रतिषेध्य है इसलिये कथंचित् प्रतिषेध्य है, कथंचित् अप्रतिषेध्य
है । अन्यथा बाधा आ जाती है । उसी प्रकार से जीवादि पदार्थ भी कथंचित् विधेय हैं और कथंचित्
प्रतिषेध्य हैं इस प्रकार से सप्तभंगी का आश्रय लेने से स्याद्वाद प्रक्रिया की सम्यक् व्यवस्था हो जाती
है क्योंकि सभी जगह युक्ति और और आगम से अविरोध है । भावैकांत आदि में ही वह विरोध
आता है ऐसा पहले समर्पित कर दिया है । इसलिये हे भगवान् ! हमने निर्दोष रूप से निश्चित किया
है कि वह निर्दोष आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं ।

उत्थानिका—कारिका ११४ की उत्थानिका अब अगली कारिका में प्रारम्भ किये हुये का
निर्वहण और अपने को उसका फल आचार्य वर्य प्रकाशित करते हैं—

१ तैव केन । दि० प्र० । २ सिद्धः । व्या० प्र० । ३ स्वरूपेण । दि० प्र० । ४ विधेयात्मना अप्रतिषेध्य
प्रतिषेद्ध्यात्मना प्रतिषेध्यो भवति चेत्तदा प्रवृत्तिनिवृत्तेरभावस्तदभावे जगति सर्वकार्यस्य व्याघातः स्यात् । दि० प्र० ।
५ अनेन प्रकारेण । व्या० प्र० । ६ धर्मो धर्मिणि च । व्या० प्र० । ७ समन्तभद्रस्वामिभिः । व्या० प्र० ।

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता ^१हितमिच्छताम् ।

^२सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥११४॥

[जैनाचार्य अस्य ग्रन्थस्य फलं प्रकाशयति ।]

^३इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे (स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति ग्राह्यं, तत्र) विहितेयमाप्तमीमांसा ^४सर्वज्ञविशेषपरीक्षा हितमिच्छतां निःश्रेयसकामिनां, मुख्यतो निःश्रेयसस्यैव हितत्वात् तत्कारणत्वेन रत्नत्रयस्य च हितत्वघटनात्, ^५तदिच्छतामेव न पुनस्तदनिच्छतामभव्याना, ^६तदनुपयोगात् । तत्त्वेतरपरीक्षां प्रति भव्याना-मेव ^७नियताधिकृतिः, ^८तथा मोक्षकारणानुष्ठानात् मोक्षप्राप्त्युपपत्तेः । सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ-

हित के इच्छुक भव्य जनों को, सत्य असत्य बताने को ।

सम्यक् मिथ्या उपदेशों के, अर्थ विशेष समझने को ॥

इस प्रकार से रची गई यह, आप्त समीक्षा को करती ।

कुशल “आप्तमीमांसा” स्तुति यह, “सम्यक् ज्ञानमती” करती ॥११४॥

कारिकार्थ—हित प्राप्ति की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को सम्यग्उपदेश और मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष का ज्ञान कराने के लिये यह आप्त मीमांसा नाम को स्तुति रचना मैंने (श्री समंतभद्र स्वामी ने) बनाई है ॥११४॥

[जैनाचार्य इस ग्रंथ के फल को बतलाते हैं ।]

‘इति’ इस देवागम नाम के अपने द्वारा रचित परिच्छेद शास्त्र में (जिसमें अपने द्वारा कहे गये हैं दस परिच्छेद ऐसे इस स्वोक्त परिच्छेद शास्त्र में) हित की इच्छा करने वाले निःश्रेयस मोक्ष के अभिलाषी भव्य जीवों के लिये यह आप्त मीमांसा—सर्वज्ञ विशेष की परीक्षा की गई है । क्योंकि मुख्य रूप से तो निःश्रेयस—मोक्ष ही हित रूप है एवं उस मोक्ष का कारण होने से रत्नत्रय भी हित रूप घटित हो जाता है ।

उस मोक्ष एवं मोक्ष के कारणों की इच्छा करने वाले भव्य जीवों के लिये ही यह है न कि मोक्ष की इच्छा न करने वाले अभव्यों के लिये है क्योंकि उन अभव्यों के लिये वह कुछ भी उपयोगी नहीं है कारण कि तत्त्व और अतत्त्व की परीक्षा के प्रति भव्यों को ही निश्चित अधिकार है ।

भव्यत्व के होने पर ही मोक्ष के कारणों का अनुष्ठान करने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । सम्यग् और मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष की जानकारी के लिये यह आप्त मीमांसा युक्त ही है ।

१ मोक्षं तत् कारणञ्च । व्या० प्र० । २ तादृः । व्या० प्र० । ३ अवयवार्थं साकृतं विवृण्वन्ति । व्या० प्र० । ४ अर्हन्नेव । व्या० प्र० । ५ रहितम् । दि० प्र० । ६ अभव्यानां हितग्रहणेनाधिकारत् । दि० प्र० । ७ अधिकारः । दि० प्र० । ८ एतदेव भावयति । व्या० प्र० ।

विशेषप्रतिपत्तये युक्तात्ममीमांसा भगवतामाचार्याणां परहितसंपादनप्रवणहृदयत्वात्, दर्शन-
विशुद्धिप्रवचनवात्सल्यमार्गप्रभावनापरत्वाच्च । ततः परमार्हन्त्यलक्ष्मीपरिसमाप्तेः स्वार्थ-
सम्पत्तिसिद्धिः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति सम्यगुपदेशः, तदन्यतमापाये
मोक्षस्यानुपपत्तेः समर्थनात् । 'ज्ञानेन चापवर्गः' इत्यादिमिथ्योपदेशस्तस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्व-
साधनात् । 'तयोरर्थविशेषः सत्येतरविषयभेदः सम्यग्दर्शनादिमिथ्यादर्शनादिप्रयोजनभेदो
वा 'तद्भावनाविशेषो वा 'मोक्षबन्धप्रसिद्धिभेदो वा । तस्य प्रतिपत्तिरुपादेयत्वेन हेयत्वेन च
श्रद्धानमध्यवसायः समाचरणं चोच्यते । तस्यै सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये । 'शास्त्रा-
रम्भेभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च
भगवदहृतसर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा 'परीक्षेयं विहिता । इति स्वाभिप्रेतार्थ-
निवेदनमाचार्याणामार्यैर्विचार्य प्रतिपत्तव्यम् ।

क्योंकि भगवान् आचार्य श्री समंतभद्रस्वामी परहित सम्पादन में प्रवण हृदय वाले हैं और वे दर्शनविशुद्धि, प्रवचनवात्सल्य, मार्गप्रभावना में भी तत्पर हैं । इससे आगे आर्हन्त्य लक्ष्मी की परि-
समाप्ति पर्यंत स्वार्थ सम्पत्ति की सिद्धि करने वाली है ।

“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः” । यह सम्यग् उपदेश है । इसमें से किसी एक का भी
अभाव कर देने से मोक्ष की प्राप्ति असंभव है । ऐसा समर्थित किया है ।

“ज्ञानेय चापवर्गः” यह मिथ्या उपदेश है क्योंकि प्रत्यक्ष परोक्षादि से विरुद्ध है ऐसा सिद्ध
कर दिया है । उन दोनों का अर्थ विशेष भी सत्य और असत्य का विषय भेद अथवा सम्यग्दर्शनादि
और मिथ्यादर्शनादि का प्रयोजन भेद अथवा उनकी भावना विशेष या मोक्ष और बंध का प्रसिद्ध भेद
ग्रहण करना चाहिये ।

उस भेद की प्रतिपत्ति-ज्ञान उपादेय और हेय रूप से श्रद्धान, अध्यवास-ज्ञान और समाचरण-
चारित्र विशेष कहा गया है ।

‘उस सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ विशेष की प्रतिपत्ति के लिये आप्त मीमांसा है ।’ शास्त्र के आरम्भ
में स्तुत आप्त मोक्षमार्ग के प्रणेता रूप से, कर्मभूभृद्भेत्ता रूप से एवं विश्वतत्त्वों के ज्ञाता रूप से
सिद्ध हैं ऐसे भगवान् अर्हंत सर्वज्ञ में ही ‘अन्ययोग के व्यवच्छेद से ये आप्त हैं’ ऐसी व्यवस्था करने में
तत्पर यह परीक्षा की गई है ।

इस प्रकार से आचार्यवर्य के स्वाभिप्रेत अर्थ का निवेदन आर्य पुरुषों को विचार करके
समझ लेना चाहिये ।

1 सम्यग्मिथ्योपदेशयोः । सम्यग्दर्शनादिभावनाविशेषः । दि० प्र० । 2 सम्यग्दर्शनादिमिथ्यादर्शनादिभावना विशेषः ।
व्या० प्र० । 3 प्रकृष्टसिद्धिः । व्या० प्र० । 4 तत्त्वार्थशास्त्रारम्भे । व्या० प्र०, दि० प्र० । 5 देवान्मरूपा ।
व्या० प्र० ।

सारांश

नयों का लक्षण—अविरोध रूप से स्याद्वाद रूप आगम प्रमाण के द्वारा विषय किये गये पदार्थ विशेष का जो व्यञ्जक है वह नय कहलाता है। यथा—“नीयते साध्यते गम्योऽर्थोऽनेनेति नयोहेतुः इति” अर्थात् जिसके द्वारा जानने योग्य अर्थ का ज्ञान होता है उसे नय कहते हैं। वही हेतु है। साध्य के साथ अविनाभावी हेतु ही अपने साध्य का गमक होता है। हेतु में तीन या पाँच लक्षण होने पर भी वह गमक नहीं है। किन्तु अन्यथानुपपत्ति मात्र एक लक्षण के होने से गमक ही है। इस एक लक्षण में ही साधन की सामर्थ्य परिसमाप्त है। क्योंकि यह हेत्वाभास के भेद-प्रभेद रूप सभी विपक्षों से व्यावृत्ति रूप है। अतः स्याद्वाद इत्यादि वाक्य से अनुमित अनेकान्तात्मक अर्थ तत्त्व ही प्रकाशित किया जाता है। वही स्याद्वाद से प्रविभक्त अर्थ है, क्योंकि प्रधान है, एवं सर्वव्यापी हैं। उसके विशेष नित्य, अनित्य आदि पृथक्-पृथक् हैं उन्हीं का प्रतिपादन करने वाला नय है। अनेक रूप अर्थ को विषय करने वाला अनेकांत का ज्ञान प्रमाण है। अन्य धर्मों की अपेक्षा करके उसके एक अंश का ज्ञान नय है एवं अन्य धर्मों का निराकरण करके एक अंशग्राही दुर्णय है। क्योंकि यह दुर्णय विपक्ष का विरोधी होने से केवल स्वपक्ष मात्र का हठाग्राही है। द्रव्य और पर्याय को विषय करने वाले संग्रहादि नय हैं और उसके भेद-प्रभेद रूप उपनय कहलाते हैं।

उन नयों के जो एकांत हैं विपक्ष का सर्वथा त्याग न करके मात्र विपक्ष की उपेक्षा करते हैं ऐसे उन त्रिकाल विषयक एकांतों का समुदाय द्रव्य है, वही वस्तुभूत हैं। “गुणपर्ययवद् द्रव्यम्” ऐसा सूत्र है।

तथा उन द्रव्य-पर्याय विशेषों का अपृथक् स्वभाव सम्बन्ध ही समुच्चय है द्रव्य दृष्टि से जो वस्तु एक है, वही पर्याय से अनेक है।

अतः त्रिकालवर्ती नयोपनय का विषयभूत पर्याय विशेष का समूह ही द्रव्य है और वह अनेकान्तात्मक रूप जात्यंतर वस्तु है।

यदि आप कहें कि मिथ्याभूत एकांत का समुदाय मिथ्या रूप ही है तो हमने ऐसा माना ही नहीं है हमारे यहाँ निरपेक्ष नय मिथ्या है उनका समूह भी मिथ्या ही है। यदि वे ही नय सापेक्ष हैं तो वस्तुभूत हैं और अर्थक्रियाकारी हैं।

नय के मूल में दो भेद हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक। इन दोनों से ही सात नय हो जाते हैं। उनमें नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समाभिरूढ तथा एवंभूत ये सात भेद हैं। प्रारम्भ के ४ नय अर्थ नय हैं और अन्त के ३ नय द्रव्य नय हैं। मूल द्रव्याधिक नय शुद्धि से संग्रह को विषय

करता है, जैसे—सकल उपाधि से रहित वस्तु शुद्ध सन्मात्र है। 'सं एकत्वेन सर्वान ग्रह्णातीति संग्रहः।' उसी का अशुद्धि से ग्रहण करना व्यवहार है जैसे सद्द्रव्य के दो भेद करना जीव और अजीव। इत्यादि रूप से नयों का विशेष वर्णन नय चक्र आदि से भी ज्ञातव्य है। जितने शब्द हैं उतने ही नय के भेद हैं। इस प्रकार से कहा गया है। स्याद्वाद सप्तभंग नयों की अपेक्षा रखने वाला एवं हेय और उपादेय भेद को करने वाला प्रसिद्ध है। अतः प्रमाण का विषय धर्मांतरों का ग्रहण करना है। नयों का विषय धर्मांतरों की उपेक्षा—गौणता तथा दुर्णय का विषय धर्मांतरों का त्याग करना है। क्योंकि प्रमाण से तत् अतत् स्वभाव का ज्ञान होता है। नय से तत्—एक अंश का ज्ञान होता है तथा दुर्णय से अन्य का निराकरण करके निरपेक्ष एक अंश का ज्ञान होता है।

ऐसा अनेकान्तात्मक अर्थ वाक्य के द्वारा निश्चित होता है। वह अर्थ विधि वाक्य से विधि-रूप एवं प्रतिषेध वाक्य से प्रतिषेध रूप निश्चित होता है। जैसे—विधि वाक्य से "जो सत् है वह सभी अनेकान्तात्मक है, क्योंकि अर्थ क्रियाकारी है जैसे स्वविषयाकारज्ञान।" प्रतिषेध वाक्य से— "कोई भी वस्तु तत्त्व एकान्त रूप नहीं है क्योंकि उसमें सर्वथा अर्थक्रिया असम्भव है, जैसे—आकाश कमलादि।" यहाँ पर के द्वारा आरोपित एकान्त रूप से प्रतिषेध करने योग्य है अन्यथा परमत का निषेध ही कोई नहीं कर सकेगा। केवल विधि यदि प्रतिषेध रहित है या विधि रहित प्रतिषेध है वे दोनों ही विशेषण से रहित असत् रूप ही हैं। क्योंकि विधि और प्रतिषेध प्रधान एवं गौण भाव से सत्-असत् आदि वाक्यों में रहते हैं।

वचन 'तत् अतत्' स्वाभाव वाली वस्तु का प्रतिपादन करते हैं यदि वे स्वरूप के समान पर-रूप भी विधि कर दें तो वे वचन असत्य ही हो जावेंगे पुनः उनसे तत्त्वार्थ का उपदेश कैसे हो सकेगा? 'यही है' इस विधि रूप एकांत के वचन से प्रतिषेध पक्ष का निषेध भी नहीं हो सकेगा।

यदि बौद्धाभिमत वचन प्रतिषेध अर्थ को कहने वाले ही माने जावेंगे, तब तो वे वचन अपने अर्थ को न कहने से आकाश पुष्प के समान असत् ही हो जावेंगे। अतः वचन का यह स्वभाव है कि "अपने अर्थ सामान्य का प्रतिपादन करते हुये विवक्षित से इतर सभी का निषेध करते हैं।" यदि वे अन्यापोह रूप ही अर्थ करेंगे तब तो वचनों का उच्चारण ही व्यर्थ हो जावेगा। कारण कि "यह है या यह नहीं है" ऐसा उन वचनों का अर्थ सिद्ध नहीं होता है।

यदि आप बौद्ध कहें कि सामान्य वचन विशेष का कथन नहीं करते हैं तब तो वे सामान्य वचन असत्य ही हो जावेंगे, अतएव इष्ट विशेष की प्राप्ति के लिये स्यात्कार पद ही सत्य लाञ्छन से लाञ्छित है। यदि 'अस्ति' यह पद केवल अपोह को ही कहते हैं यो यह अपोह क्या बला है? वह अन्य की व्यावृत्ति रूप है या उस अन्यापोह से विकल्प रूप? यदि प्रथम पक्ष लें तो वे सामान्य

अस्ति रूप वचन अपने अर्थ को नहीं कह सकेंगे। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो वचनों का अभिप्राय मिथ्या होने से वे अर्थ के प्रतिपादक नहीं होंगे क्योंकि मिथ्या विकल्प के हेतु हैं। अतः शब्द का अर्थ अन्यापोह सिद्ध नहीं होता है, प्रत्युत सत्य लाञ्छन स्यात्कार ही सिद्ध होता है। सभी मनुष्य किन्हीं विधि वचनों से अभिप्रेत अर्थ को प्राप्त करते हैं एवं पर रूपादि से अनभिप्रेत अर्थ को प्राप्त नहीं करते हैं। अन्यथा प्रवर्तक जनों की प्रवृत्ति ही व्यर्थ हो जायेगी।

“अस्ति” इत्यादि शब्द से विधेय वाक्य ही ईप्सित अर्थक्रिया के प्रति कारण हैं और वे नास्तित्वादि धर्म से अविरोधी हैं—अविनाभावी हैं तथा उसी प्रकार से आदेय और हेय रूप हैं इस प्रकार से स्याद्वाद की सम्यक् व्यवस्था बन जाती है। क्योंकि “विधि और प्रतिषेध परस्पर में अविनाभावी हैं जैसे स्वार्थज्ञान”। स्वज्ञान के बिना पदार्थ का ज्ञान असम्भव है एवं विषयाकार ज्ञान के बिना स्वज्ञान हो जावे, ऐसा भी शक्य नहीं है अन्यथा स्वाकार अर्थ ज्ञेय नहीं हो सकेगा।

तथैव वस्तु का आदेय और हेयत्व भी सिद्ध है। यदि एकांत से विधेय को ही मानें तो किसी को कुछ भी हेय नहीं रहेगा। तथा प्रतिषेध एकांत में तो कोई वस्तु आदेय नहीं होगी। अतः स्याद्वादियों को उभयात्मक में ही आदेय हेयत्व द्रष्ट है। क्योंकि विधेय और प्रतिषेध्य में कथंचित् तादात्म्य इष्ट है।

जिस प्रकार से ‘अस्ति’ विशेष विधेय है वह स्वस्वरूप से विधेय है प्रतिषेध रूप से नहीं है, अतः कथंचित् विधेय सिद्ध है। तथैव प्रतिषेध स्वरूप विशेष भी विधेय रूप से प्रतिषेध्य है न कि प्रतिषेध्य स्वरूप से है। अतः कथंचित् प्रतिषेध्य है, कथंचित् अप्रतिषेध्य है। तथैव जीवादि पदार्थ भी कथंचित् विधेय हैं एवं कथंचित् प्रतिषेध्य हैं। इत्यादि सप्तभंगी प्रक्रिया, युक्ति और आगम से अविरोध सिद्ध है।

इसलिये हे भगवान् ! हमने निर्दोष रूप से निश्चित किया है कि वह निर्दोष आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं। आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता कर्मभूभृद्भेत्ता एवं विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सिद्ध हैं अतः आप ही भगवान् अर्हंत सर्वज्ञ हैं, स्याद्वाद के नायक हैं। यह बात सिद्ध हो गई।



१अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते,—
 जयति जगति २क्लेशावेश ३प्रपञ्चहिमांशुमान् ४,
 ५विहृतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ६ ।
 ७यतिपतिरजो ८यस्याधृष्यान्मताम्बुनिधोर्लवान् ९,
 १०स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना ११परे समुपासते ॥१॥

श्रीमदकलङ्कदेवाः पुनरिदं वदन्ति,—

श्रीवर्धमानमकलङ्कमनिन्द्यवन्द्य —

पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य सूधर्ता ।

१२भव्यैकलोकनयनं १३ परिपालयन्तं,

स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् १४ ॥१॥

अब शास्त्र की परिसमाप्ति के अनन्तर कोई (वसुनन्दि आदि) आचार्य यह मंगल वचन मानते हैं—

श्लोकार्थ—जो जिनेन्द्र भगवान् अघ-जन्म, जरा, मरण से रहित हैं, यतियों के स्वामी, क्लेशावेश के प्रपञ्चरूप हिम को दूर करने के लिये सूर्यस्वरूप विषम एकांत रूप अन्धकार को नष्ट करने वाले प्रमाण और नय रूप किरणों के समूह से सुशोभित हैं, जिनके सिद्धान्त रूपी समुद्र से अधृष्यकणों के एक-एक कण-धर्म को अपना-अपना सिद्धान्त बना लेने वाले, भिन्न-भिन्न तीर्थ का अनुशरण करने वाले अनेक अन्यमतावलम्बी जन अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार उन कणों की उपासना कर रहे हैं, ऐसे वे जिनेन्द्र भगवान् सदा इस जगत में जयशील हों ॥१॥

भावार्थ—यहां श्लोक के प्रथम उत्थानिका के 'केचित्' शब्द से वसुनन्दि आचार्य को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि उन्होंने ही अपनी वृत्ति में यह श्लोक लिखा है। "शास्त्र परिसमाप्तौ मंगल-वचन" इस वाक्य से और वसुनन्दि आचार्य के वचन से यह भी श्लोक श्री समंतभद्र भगवान् का किया हुआ ही है ऐसा ध्वनिगत होता है और इस प्रकार से भगवान् श्री समंतभद्र स्वामी के द्वारा बनाई हुई कारिकायें एक सौ पन्द्रह (११५) हैं यह बात सिद्ध हो जाती है। किन्तु 'केचिदिदं अनुमन्यन्ते' इस शब्द से 'उदासीनता' से हमने नहीं बनाई है यह अर्थ ध्वनित हो जाता है। और इस प्रकार से श्री विद्यानन्द स्वामी के मत से एक सौ चौदह कारिका प्रमाण ही ग्रन्थ है ऐसा भी कहा जा सकता है।

श्लोकार्थ—अनिन्द्य-उत्तम पुरुषों से वंदनीय है चरण कमल जिनके ऐसे, अकलंक-निर्दोष

१ देवागमे । दि० प्र० । २ संसारदुःख । दि० प्र० । ३ सम्बन्धः । दि० प्र० । ४ हिमस्यादित्यः । दि० प्र० । परंजितु-मशक्यात् । व्या० प्र० । ५ विषमाश्च त एकांताश्च विषमैकान्तास्त एव ध्वान्तानि विहितानि विषमैकान्तध्वान्तानि यं प्रमाणनयांशुभिस्ते विद्यन्ते यस्येति । दि० प्र० । ६ प्रमाणे च नयाश्च त एवांशवः किरणाः । दि० प्र० । ७ अवाच्यात् । व्या० प्र० । ८ अवगाहृदितुमशक्यत्वात् दुर्लब्ध्यात् शासनसमुद्रान्निर्गता न सर्वथा सन्निव्याद्यभिलाष्यादिनयांशानकं परे सौमतादयः समाश्रयन्तीति । दि० प्र० । ९ लवलेशकणा अणवस्तान् । व्या० प्र० । १० तीर्थे लवाः । व्या० प्र० । ११ नैया-यिका दयः । व्या० प्र० । १२ मुख्यः । व्या० प्र० । १३ आलोकार्थनयनम् । व्या० प्र० । १४ सर्वत्र मनोहरः । व्या० प्र० ।

इति परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मङ्गलस्य प्रसिद्धेर्वयं तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः,—

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः, यद्वाचोप्यकलङ्कनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः ।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्, ¹विद्यानन्दघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥
इत्याप्तमीमांसासालङ्कृतौ दशमः परिच्छेदः ।

अथवा कर्म कलंकरहित श्री वर्धमान भगवान् को मस्तक झुकाकर नमस्कार करके भव्य जीवों के एक अद्वितीय नेत्र स्वरूप, स्याद्वाद मार्ग का परिपालन करने वाले श्री समंतभद्र स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

इस प्रकार से परापर गुरु प्रवाह, गुरु परम्परा, गुरु समूह के गुण-गणों की संस्तुति रूप मंगल की प्रसिद्धि है। किंतु हम स्वभक्ति के वश से इस प्रकार से निवेदन करते हैं—

श्लोकार्थ—जिन्होंने पाण्डितों-विद्वानों के अशेष कुन्धों के व्यवहार रूपी नदी को सुखा दिया है, जिनके वचन भी तत्त्वार्थ समूह को उद्योतित करने वाले एवं अकलंक निर्दोष या अकलंक देव, न्याय सिद्धान्त से रुचिर-मनोहर हैं। वे विभु भानुमान स्याद्वाद मार्ग के अग्रणी, यतियों के पति, श्री स्वामी समंतभद्राचार्य वर्य निर्दोष बुद्धि वालों के लिये 'विद्यानन्द' रूपी मेघ को प्रदान करने वाले हों अर्थात् विद्या का अर्थ केवलज्ञान और आनन्द का अर्थ है अनंत सुख। ऐसे अनंतज्ञान और अनंतसुख को प्रदान करने वाले हों। इस 'विद्यानन्द' पद से आचार्यश्री विद्यानन्द महोदय ने अपना नाम भी ध्वनित कर दिया है।

इस प्रकार से आप्तमीमांसासालंकार में दसवां परिच्छेद पूर्ण हुआ।

सारांश

इस परिच्छेद में बंध और मोक्ष के कारण का एवं प्रमाण और नय का विचार किया गया है। उसमें सांख्य, योग और बौद्ध आदिकों की जो बंध और मोक्ष के कारणों की कल्पना है उसको सदोष सिद्ध करके अपने मत के अनुसार सच्ची व्यवस्था सिद्ध की है। और अन्यवादियों के द्वारा परिकल्पित प्रमाणों में दोषों को दिखाकर अपने द्वारा स्वीकृत प्रमाण विशेष के भेद सिद्ध किये हैं।

उसमें स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क प्रमाण इन तीनों को पृथक् प्रमाण सिद्ध कर दिया है। बौद्ध के सविकल्प प्रत्यक्ष का समर्थन किया है। केवलज्ञान की युगपत् सर्वावभासन सामर्थ्य बतलाई है। और शेष ज्ञान क्रमवर्ती है यह स्पष्ट किया है। एवं सभी प्रमाण प्रत्यक्ष, परोक्ष इन दो प्रमाणों में ही अंतर्भूत हो जाते हैं। तथा स्याद्वाद और वास्तविक नयों का लक्षणपूर्वक वर्णन किया गया है।

1 विद्यानन्दकृते प्रवादमखिलं निर्मूलयन्त्या भृशं, विद्यानन्दकृतेः पदस्यविद्युति गूढस्थ संक्षेपतः ।

विद्यानन्दकृते व्यरीरचमलं विद्वज्जनालङ्कृते, शक्त्याहं हि समन्तभद्रमुनिपो देवागमालङ्कृते ॥१॥

शिष्टीकृतदुर्दृष्टिसहस्री दृष्टीकृतपरदृष्टिसहस्री । स्पष्टीकृतादिष्टसहस्रीमरभाविष्टपमष्टसहस्री ॥२॥

इति लघुसमन्तभद्रकृतिः समाप्तः ।

श्रीमदकलङ्कुशशधरकुलविद्यानन्दसंभवा भूयात् ।
 गुरुमीमांسالंकृतिरष्टसहस्री सतामृद्वै ॥
 वीरसेनाख्यमोक्षगे चारुगुणानर्घ्यरत्नसिन्धुगिरिसततम् ।
 सारतरात्मध्यानगे मारमदान्भोदपवनगिगिह्वरायितु ॥
 कष्टसहस्रीसिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्
 शश्वदभीष्टसहस्रीं कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था (नर्द्धा) ॥

इति ग्रन्थः समाप्तः

श्लोकार्थ—जो श्रीमान् अकलंक रूपी चन्द्रमा के कुल से विद्या और आनन्द को उत्पन्न करने वाली है अथवा जो अकलंक देव से रचित अष्टशती रूप से एवं विद्यानन्द आचार्य से रचित अष्ट-सहस्री रूप से उत्पन्न हुई है । तथा गुरु-भगवान की मीमांसा परीक्षा की अलंकार टीका रूप है अथवा गुरु श्री समंतभद्रस्वामी के द्वारा रचित आप्त मीमांसा के ऊपर रचित अलंकार टीका रूप है । ऐसी यह अष्टसहस्री सज्जन पुरुषों की बुद्धि ऋद्धि के लिये होवे ।

श्लोकार्थ—जो कष्ट सहस्री रूप से सिद्ध है अर्थात् सहस्रों कष्ट झेलकर जिसका निर्माण कार्य हुआ है, एवं कुमार सेन मुनि की सूक्तियों से वर्द्धमान-वृद्धिगत अर्थ वाली है अथवा जो श्रेष्ठ है वह अष्टसहस्री जिनवाणी भारती हमेशा ही हमारे अभीष्ट सहस्री-सहस्रों मनोरथों को पुष्ट करे—सफल करे ।

जिनभक्ती अनुराग से, मिटे अशुभ गत राग ।
 प्रगटे ज्ञान विरागमय, निश्चय शुद्ध स्वराग ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यकृत "आप्तमीमांسالंकृति" अपरनाम
 "अष्टसहस्री" ग्रन्थ में आर्यिका ज्ञानमती कृत भाषा अनुवाद,
 पद्यानुवाद, भावार्थ, विशेषार्थ और सारांश
 सहित इस "स्याद्वादचित्तामणि"
 नामक टीका में यह
 दशम परिच्छेद
 पूर्ण हुआ ।

यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ ।



❀ प्रशस्तिः ❀

सिद्धान्नत्वाहंश्चापि सन्मतिं हृदि धारये । श्रुतदेवीं मुनीन्द्रांश्च सर्वान् संस्तौमि सिद्धये ॥१॥
शासनं वीरनाथस्य वर्तते भुवि सांप्रतम् । गौतमादिमहर्षीणामनुक्रीञ्चिपरम्परा ॥२॥
कुन्दकुन्दगणी जातः एतस्यां सूरिबुंगवः । तस्य नाम्ना प्रसिद्धोऽभूदन्वयः जगतीतले ॥३॥
तथा च मूलसंघेऽस्मिन् कुन्दकुन्दान्वयो महान् । बलात्कारगणः ख्यातः शारदागच्छ इत्यपि ॥४॥
एतस्यां मणिमालायां संजातौ संघनायकः । शांतिसागरनामासौ चारित्र्यक्रभृत् महान् ॥५॥
पट्टाधीशोऽस्य विख्यातो गुरुः श्री वीरसागरः । यस्मात् ज्ञानमती ज्ञाता ह्यल्पज्ञाहं किलार्थिका ॥६॥
श्री देशभूषणः सूरिर्ममाद्यो विश्रुतो गुरुः । यत्प्रसादात् गृहं त्यक्त्वा लब्धं प्राक् क्षुल्लिकाव्रतम् ॥७॥
गुरोर्भक्त्या सरस्वत्याः प्रसादाच्च मया मनाक् । शास्त्रमधीत्य शिष्याणामध्यापनरताभवम् ॥८॥
मुनयोऽप्यायियाश्चापि ह्यनेके ब्रह्मचारिणः । विद्यां शिक्षां गृहीत्वा मत् कुर्वन्तीह प्रभावनाम् ॥९॥
क्रमेऽस्मिन्नधकयनस्य जयपुराख्ये पत्तने । अष्टसहस्रीग्रन्थस्यानुवादश्चाप्यारभ्यत ॥१०॥
मरुप्रदेशके ग्रामेऽस्ति टोडारायसिंहके । अनुवादं च कुर्वन्त्या पार्श्वनाथजिनालये ॥११॥
रसविष्णुदिशायुग्मे वीराब्दे विश्रुते शुभे । पौषमासि सिते पक्षे द्वादश्यां शुक्रवासरे ॥१२॥
चित्ते जिनेन्द्रमाधाय मातरं च सरस्वतीम् । जिनबिम्बस्य सानिध्येऽनुवादः पूर्यते मया ॥१३॥
वीरसिन्धुगुरोः पश्चात् तच्छिष्यः तपसान्वितः । तत्पट्टाचार्यवर्योऽभूत् मुनिः श्रीशिवसागरः ॥१४॥
तत्पट्टे सूरिवर्योऽभूत् साधुः श्रीधर्मसागरः । गुरोः श्रीवीरसिन्धोश्च द्वितीयः शिष्य एव हि ॥१५॥
पौषमासि च पूर्णायां धर्मसागरसन्निधौ । तस्यैवाचार्यवर्यस्य जन्मतिथिमहोत्सवे ॥१६॥
अनुवादितग्रन्थोऽयं शिविकायां निवेशितः । अहंद्दरथेन सार्धं वै, शोभायात्रा बभौ तदा ॥१७॥
श्रुतस्कंधविधानं च कृत्वा भावितकश्रावकाः । चतुःसंघस्य सानिध्ये धर्मप्रभावना व्यधुः ॥१८॥
स्थेयादष्टसहस्रीयं भाषा टीका समन्विता । विदुषां हृदि नद्याच्च दद्यात् ज्ञानमति श्रियम् ॥१९॥
यावज्जिनेन्द्रधर्मोऽयं तिष्ठेत् सौख्यप्रदो भुवि । तावन्महानसौ ग्रन्थो विद्येत ज्ञानभास्करः ॥२०॥

इन्द्रवज्रा छंदः

स्याद्वादचित्तामणिनामधेया, टीका कृतेयं स्वयमल्पबुद्ध्याः
सम्यक्त्वशुद्ध्यै भवतात् सदा मे, चित्तामणिः स्याज्जगते च मह्यम् ॥२१॥

❀ इति शुभं भूयात् । ❀

प्रशस्ति का हिन्दी अनुवाद

सिद्धों को और अर्हतों को नमस्कार करके सन्मति-महावीर भगवान को हृदय में धारण करती हूँ पुनः श्रुतदेवी-जिनवाणी माता और समस्त मुनियों की अपनी सिद्धि के लिये स्तुति करती हूँ ।१। इस युग में पृथ्वी तल पर श्री वीर भगवान का शासन प्रवर्त रहा है । उस समय से गौतम स्वामी से लेकर महर्षियों की परम्परा क्रमपूर्वक चली आ रही है ॥२॥ उसी परम्परा में आचार्यपुंगव श्री कुन्दकुन्दगणी हुये, इस पृथ्वी तल पर उनके नाम से अन्वय (वंश) चल रहा है ॥३॥ उसी का स्पष्टीकरण=मूलसंघ में महान् कुन्दकुन्दान्वय, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ प्रसिद्ध हैं ॥४॥

इसी परम्परारूपी मणिमाला में चतुर्विध संघ के अधिनायक चारित्र-चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी नाम के महान् आचार्य हुए हैं ॥५॥ उनके पट्टाधीशआचार्य श्री वीर सागर महाराज विख्यात हुए जिन्होंने मुझ अल्पज्ञानी को आर्यिका दीक्षा देकर ज्ञानमती नाम दिया है ॥६॥ आचार्यश्री देशभूषणजी महाराज मेरे आद्य गुरु हुये हैं जिनकी कृपा प्रसाद से मैंने गृहत्याग करके क्षुत्तिका व्रतों को प्राप्त किया था ॥७॥

गुरुभक्ति और सरस्वती के प्रसाद से मैंने कुछ शास्त्रों का अध्ययन करके शिष्यों को अध्यापन कराया था ॥८॥ अनेक मुनि आर्यिकार्यों और ब्रह्मचारिणियाँ मेरे से विद्या, शिक्षा ग्रहण कर आज सर्वत्र धर्म प्रभावना कर रहे हैं । अध्यापन के इसी क्रम में जयपुर नामक शहर में मैंने इस अष्टसहस्री ग्रन्थ का अनुवाद कार्य प्रारम्भ किया ॥९॥ राजस्थान के टोडरारायसिंह नामक ग्राम में श्री पार्श्वनाथ जिनालय में अनुवाद करती हुई वीर निर्वाण संवत् चौबीस सौ छियानवे (२४६६) शुभ वर्ष में पौष कृष्णा द्वादशी शुक्रवार को अपने चित्त में जिनेन्द्र भगवान तथा सरस्वती माता को धारण कर जिन प्रतिमा के सानिध्य में यह अनुवाद कार्य मैंने पूर्ण किया ।

भावार्थ—अभी वीर नि० सं० २५१६ चल रहा है । अष्टसहस्री ग्रंथ का प्रथम भाग वीर नि० सं० २५००वें वर्ष में छपा था । अब २० वर्ष के बाद पुनः वह प्रथम भाग तथा द्वितीय भाग और तृतीय भाग इन तीनों भागों में पूर्ण होकर यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है ।

आचार्य श्री वीरसागर गुरुदेव के पश्चात् उनके तपस्वी शिष्य मुनि श्री शिवसागर महाराज उस पट्ट के आचार्यवर्य हुए । उनके पट्ट पर श्री धर्मसागर मुनिराज आचार्य बने जो कि गुरुवर वीरसागर महाराज के ही द्वितीय दीक्षित शिष्य थे । उन आचार्यश्री धर्मसागरजी महाराज के सानिध्य में पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन उनकी जन्म जयन्ती महोत्सव पर मेरे द्वारा अनुवादित यह ग्रंथ पालकी में रखकर भगवान के रथ के साथ इस शोभा यात्रा निकाली गई । उस दिन भावितक श्रावकों ने चतुर्विध संघ सानिध्य में श्रुतस्कंध विधान करके महती धर्म प्रभावना की । यह भाषा टीका से समन्वित अष्टसहस्री ग्रंथ पृथ्वी तल पर स्थित रहे, विद्वानों के हृदय में आनन्द को प्रदान करे और मुझे ज्ञानमती लक्ष्मी को प्रदान करे । जब तक इस धरती पर जिनेन्द्र भगवान् का धर्म स्थित रहे तब तक यह ज्ञानभास्कर स्वरूप महान् ग्रन्थ सभी भव्यजीवों को सौख्यप्रद होवे ।

“स्याद्वाद चिंतामणि” नाम की यह टीका मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा रची गई है । जो मेरे सम्यक्त्वशुद्धि के लिए होवे तथा जगत् के लिए एवं मेरे लिए चिंतामणिरत्न के समान फल प्रदान करे ।

ष
रि
शि
ष्ट

देवागमस्तोत्रं—आप्तमीमांसा

(श्री समंतभद्रस्वामिविरचितम्)

प्रथम परिच्छेद—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥
अध्यात्मं बहिरप्येष, विग्रहादिमहोदयः । दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥
तीर्थकृत्समयानां च, परस्परविरोधतः । सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥
दोषावरणयोर्हानिनिश्शेषास्त्यतिशयनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः, प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥
स त्वमेवासि निर्दोषो, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । अविरोधी यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां, सर्वथैकान्तवादिनाम् । आप्ताभिमानदग्धानां, स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥
कुशलाकुशलं कर्म, परलोकश्च न क्वचित् । एकांतग्रहरक्तेषु, नाथ ! स्वपरवैरिषु ॥८॥
भावेकान्ते पदार्थानामभावानामपन्हवात् । सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥
कार्यद्रव्यमनादि स्यात्, प्रागभावस्य निह्ववे । प्रध्वंसस्य च धर्मस्य, प्रचयवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे । अन्यत्र समवाये न, व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥
अभावेकान्तपक्षेपि, भावापन्हववादिनाम् । बोधवाक्यं प्रमाणं न, केन साधनदूषणम् ॥१२॥
विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्वेषाम् । अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥१३॥
कथंचित्ते सदेवेष्टं, कथंचिदसदेव तत् । तथोभयमवाच्यं च, नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात् । असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥
क्रमापितद्वयाद् द्वैतं, सहावाच्यमशक्तितः । अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगाः स्वहेतुतः ॥१६॥
अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि । विशेषणत्वात्साधर्म्यं, यथा भेदविवक्षया ॥१७॥
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि । विशेषणत्वाद्द्वैधर्म्यं यथाभेदविवक्षया ॥१८॥
विधेयप्रतिषेध्यात्मा, विशेष्यः शब्दगोचरः । साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१९॥
शेषभंगाश्च नेतव्या, यथोक्तनययोगतः । न च कश्चिद्विरोधीस्ति, मुनीन्द्र ! तव शासने ॥२०॥
एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् । नेति चेन्न यथा कार्यं, बहिरन्तरूपाधिभिः ॥२१॥
धर्मो धर्मोऽन्य एवार्थो, धर्मिणोऽनन्तधर्मणः । अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य, शेषान्तानां तदंगता ॥२२॥
एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् । प्रक्रियां भगिनीमेनां, नयर्नयविशारदः ॥२३॥

द्वितीय परिच्छेद—

अद्वैतैकान्तपक्षेपि, दृष्टो भेदो विरुध्यते । कारकाणां क्रियायाश्च, नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥२४॥
 कर्मद्वैतं फलद्वैतं, लोकद्वैतं च नो भवेत् । विद्याविद्याद्वयं न स्याद्वन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२५॥
 हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्वैतुसाध्ययोः । हेतुना चेद्विना सिद्धिद्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥
 अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना । संज्ञिनः प्रतिषेधो न, प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥
 पृथक्त्वेकान्तपक्षेपि, पृथक्त्वादपृथक् तु तौ । पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥२८॥
 संतानः समुदायश्च, साधर्म्यं च निरंकुशः । प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं, न स्यादेकत्वनिह्वे ॥२९॥
 सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत् । ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं, बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥३०॥
 सामान्यार्थं निरोऽन्येषां, विशेषो नाभिलष्यते । सामान्याभावतस्तेषां, मूर्षैव सकला गिरः ॥३१॥
 विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥३२॥
 अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये, ह्यवस्तु द्वयहेतुतः । तदेवैक्यं पृथक्त्वं च, स्वभेदेः साधनं यथा ॥३३॥
 सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं, पृथग्द्रव्यादिभेदतः । भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥३४॥
 विवक्षा चाविवक्षा च, विशेष्येऽनन्तर्धामिणि । सतो विशेषणस्यात्र, नासतस्तैस्तर्धामिभिः ॥३५॥
 प्रमाणगोचरी सन्तौ, भेदाभेदौ न संवृती । तावेकत्राविरुद्धौ ते, गुणमुख्यविवक्षया ॥३६॥

तृतीय परिच्छेद—

नित्यत्वैकान्तपक्षेपि, विक्रिया नोपद्यते । प्रागेव कारकाभावः, क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥३७॥
 प्रमाणकारकैर्व्यक्तं ध्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत् । ते च नित्ये विकार्यं किं, साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥३८॥
 यदि सत्सर्वथा कार्यं, पुं वन्नोत्पत्तुमर्हति । परिणामप्रबलृप्तिश्च, नित्यत्वैकांतवाधिनी ॥३९॥
 पुण्यपापक्रिया न स्यात्, प्रेत्यभावः फलं कुतः । बन्धमोक्षौ च तेषां न, येषां त्वं नासि नायकः ॥४०॥
 क्षणिकैकान्तपक्षेपि, प्रेत्यभावाद्यसंभवः । प्रत्यभिज्ञानभावात्, कार्यारम्भः कुतः फलं ॥४१॥
 यद्यसत् सर्वथा कार्यं, तजन्मा जनि खपुष्पवत् । मोपादाननियामोऽभून्माशवासः कार्यजन्मनि ॥४२॥
 न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात् । सन्तानान्तरवन्नैकः, सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥४३॥
 अन्येऽवनन्यशब्दोयं, संवृतिर्न मृषा कथम् ? । मुख्यार्थः संवृतिर्न स्याद्विना मुख्यान्न संवृतिः ॥४४॥
 चतुष्कोटिविकल्पस्य, सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः । तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः संतानतद्वतोः ॥४५॥
 अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोपि न कथ्यताम् । असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम् ॥४६॥
 द्रव्याद्यन्तरभावेन, निषेधः संज्ञिनः सतः । असद्भेदो न भावस्तु, स्थानं विधिनिषेधयोः ॥४७॥
 अवस्त्वनभिलाष्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम् । वस्त्वेवावस्तुतां याति, प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥
 सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः । संवृतिश्चेन्मूर्षैवेषा, परमार्थविपर्ययात् ॥४९॥

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः । आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात्, किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥५०॥
 हिनस्त्यनभिसन्धात्, न हिनस्त्यभिसंधिमत् । बध्यते तद्द्वयापेतं, चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥५१॥
 अहेतुकत्वान्नाशस्य, हिंसाहेतुर्न हिंसकः । चित्तसंततिनाशश्च, मोक्षो नाष्टांगहेतुकः ॥५२॥
 विरूपकार्यारम्भाय, यदि हेतुसमागमः । आश्रयिभ्यामनन्योसावविशेषादयुक्तवत् ॥५३॥
 स्कन्धसन्ततयश्चैव, संबृत्तित्वादसंस्कृताः । स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां, न स्युः खरविषाणवत् ॥५४॥
 विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥५५॥
 नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्न कस्मात्तदविच्छिदा । क्षणिकं कालभेदात्ते, बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥५६॥
 न सामान्यात्मनोदेति, न व्येति व्यक्तमन्वयात् । व्येत्युदेति विशेषात्ते, सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥
 कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् । न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥५८॥
 घटमौलिमुषणार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥
 पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

चतुर्थं परिच्छेद —

कार्यकारणानात्वं, गुणगुण्यन्यतापि च । सामान्यतद्द्वन्द्वत्वं, चकान्तेन यदीष्यते ॥६१॥
 एकस्यानेकवृत्तिर्न, भागाभावादबहूनि वा । भागित्वाद्वास्य नैकत्वं, दोषो वृत्तेरनाहते ॥६२॥
 देशकालविशेषेपि, स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत् । समानदेशता न स्यान्मूर्तकारणकार्ययोः ॥६३॥
 आश्रयाश्रयिभावान्न, स्वातन्त्र्यं समवायिनाम् । इत्ययुक्तः स संबन्धो, न युक्तः समवायिभिः ॥६४॥
 सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाहितः । अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादेषु को विधिः ॥६५॥
 सर्वथानभिसंबन्धः, सामान्यसमवाययोः । ताभ्यामर्थो न संबद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥६६॥
 अनन्यतैकान्तेणूर्ना, संघातेपि विभागवत् । असंहतत्वं स्याद्भूतत्रतुष्कं भ्रान्तिरेव सा ॥६७॥
 कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः, कार्यलिगं हि कारणम् । उभयाभावतस्तत्त्वं गुणजातीतरच्च न ॥६८॥
 एकत्वेन्यतराभावः, शेषाभावोविनाशुवः । द्वित्वसंख्याविरोधश्च संबृत्तिश्चेन्मूषेव सा ॥६९॥
 विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७०॥
 द्रव्यपर्याययोरैक्यं, तयोरव्यतिरेकतः । परिणामविशेषाच्च, शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥७१॥
 संज्ञासंख्याविशेषाच्च, स्वलक्षणविशेषतः । प्रयोजनाविभेदाच्च, तन्नानात्वं न सर्वथा ॥७२॥

पंचमं परिच्छेद —

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते । अनापेक्षिकसिद्धौ च, न सामान्यविशेषता ॥७३॥
 विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७४॥
 धर्मधर्म्यविनाभावः, सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया । न स्वरूपं स्वतो ह्येतत्, कारकज्ञापकांगवत् ॥७५॥

षष्ठ परिच्छेद—

सिद्धं चेद्वेतुतः सर्वं, न प्रत्यक्षादितो गतिः । सिद्धं चेदागमात्सर्वं, विरुद्धार्थमतान्यपि ॥७६॥
विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकांतेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७७॥
वक्तव्यनाप्ते यद्वेतोः, साध्यं तद्वेतुसाधितं । आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितम् ॥७८॥

सप्तम परिच्छेद—

अंतरंगार्थतैकांते, बुद्धिवाक्यं मूषाखिलम् । प्रमाणाभासमेवातस्तत् प्रमाणादृते कथम् ॥७९॥
साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता । न साध्यं न च हेतुश्च, प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥८०॥
बहिरंगार्थतैकांते, प्रमाणाभासनिह्ववात् । सर्वेषां कार्यसिद्धिःस्याद्, विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥८१॥
विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकांतेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥८२॥
भावप्रमेयापेक्षायां, प्रमाणाभासनिह्ववः । बहिःप्रमेयोपेक्षायां, प्रमाणं तन्निभं च ते ॥८३॥
जीवशब्दः सबाह्यार्थः, संज्ञात्वाद्देतुशब्दवत् । मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च, मायाद्यैःस्वैः प्रमोक्तिवत् ॥८४॥
बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्त्रिस्तो बुद्ध्यादिवाचिकाः । तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च, त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ॥८५॥
वक्तृश्रोतृप्रमातृणां, बोधवाक्यप्रमाः पृथक् । भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ, बाह्याथौ तादृशेतरौ ॥८६॥
बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं, बाह्यार्थे सति नासति । सत्यानृतव्यवस्थैवं, युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥८७॥

अष्टम परिच्छेद—

देवादेवार्थसिद्धिश्चेद्देवं पौरुषतः कथं । दैवतश्चेदनिर्मोक्षः, पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥८८॥
पौरुषादेव सिद्धिश्चेत्, पौरुषं दैवतः कथं । पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्, सर्वप्राणिषु पौरुषं ॥८९॥
विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषां । अवाच्यतैकांतेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥९०॥
अबुद्धिपूर्वपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः । बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

नवम परिच्छेद—

पापं ध्रुवं परे दुःखात्, पुण्यं च सुखतो यदि । अचेतनाकषायौ च, बुध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥
पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि । वीतरागो मुनिविद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्मित्ततः ॥९३॥
विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकांतेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥९४॥
विशुद्धिसंक्लेशांगं चेत्, स्वदरस्थं सुखासुखम् । पुण्यपापात्त्ववो युक्तो, न चेद् व्यर्थस्तवाहृतः ॥९५॥

दशम परिच्छेद—

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बंधो, ज्ञेयानन्त्यान्न केवली । ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥६६॥
 विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकातेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥६७॥
 अज्ञानान्मोहिनो बंधो, नाज्ञाद्वीतमोहतः । ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥६८॥
 कामादिप्रभवश्चित्रः, कर्मबंधानुरूपतः । तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो, जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥६९॥
 शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती, ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् । साह्यनादी तयोर्व्यक्ती, स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥
 तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनम् । क्रमभावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥
 उपेक्षाफलमाद्यस्थ, शेषस्यादानहानधीः । पूर्वा वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥
 वाक्येष्वनेकांतद्योती, गम्यं प्रति विशेषणम् । स्यान्निपातोर्थयोगिस्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥
 स्याद्वादः सर्वथैकांतत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः । सप्तभंगनयापेक्षो, हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥
 स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतस्त्वप्रकाशने । भेदः साक्षादसाक्षाश्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥
 सधर्मणैव साध्यस्य, साधर्म्याद्विरोधतः । स्याद्वादप्रविभवतार्थ-विशेषव्यंजको नयः ॥१०६॥
 नयोपनयैकांतानां, त्रिकालानां समुच्ययः । अविभ्राद् भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥
 मिथ्यासमूहो मिथ्या च्छेन्न मिथ्यैकांततास्ति नः । निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥
 नियम्यतेऽर्थो वाक्येन, विधिना वारणेन वा । तथान्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥
 तदतद्बस्तु वागेषा तदेवेत्यनुशासती । न सत्या स्यान्मूषावाक्यैः कथं तत्त्वार्थदेशना ॥११०॥
 वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरंकुशः । आह च स्वार्थसामान्यं तादृग् वाच्यं खपुष्पवत् ॥१११॥
 सामान्यवाग् विशेषे च्छेन्न शब्दार्थो मूषा हि सा । अभिप्रेतविशेषान्तेः स्यात्कारः सत्यलांछनः ॥११२॥
 विधेयमीप्सितार्थागं प्रतिषेध्याविरोधि यत् । तथैवादेयहेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥११३॥
 इतीयमाप्तमीमांसा विहिताहितमिच्छता । सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ-विशेषप्रतिपत्तये ॥११४॥

इति देवागमस्तोत्रम्



अष्टसहस्री ग्रन्थ में आगत उद्धृत श्लोक

(द्वितीय परिच्छेद से दशम परिच्छेद तक)

“ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्नं वस्त्वभिधीयते । प्रकृतस्थात्मकात्स्न्यस्य वै-शब्दः स्मृतये मतः ॥१॥^१
“ऊर्द्धमूलमधः-शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि तस्य पर्वाणि यस्तं वेत्ति स वेदवित्” ॥२॥^२
“आत्मापि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम् । ब्रह्मापि स तथैवात्मा सद्वितीयतयेष्वते” ॥३॥^३
आत्म ब्रह्म इति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात् । पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम् ॥४॥^४
“ब्रह्माऽविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम् । निरवद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते” ॥५॥^५
नाऽविद्याऽस्येत्यविद्या यामेव स्थित्वा प्रकल्पते । ब्रह्मधारा त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥६॥^६
यतोऽनुभवतोऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिमत् । अतो मानोत्थविज्ञानध्वस्ता साप्यन्यथात्मता ॥७॥^७
ब्रह्मण्यविदिते बाधान्नाविद्येत्युपपद्यते । मितरां चापि विज्ञाते मृषा धीर्नास्त्यबाधिता ॥८॥^८
अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः । वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य नाविद्येति निरूप्यते ॥९॥^९
वस्तुनोन्यत्र मानानां व्यापृतिर्न हि युज्यते । अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघाताऽसहिष्णुतः ॥१०॥^{१०}
अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम् । मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥११॥^{११}
“स्वल्पक्षे बहु कल्प्यं स्यात् सर्वमानविरोधि च । कल्प्याऽविद्येवमल्पक्षे सा चानुभवसंश्रया” ॥१२॥^{१२}
“अन्यवव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः । स्वभावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नान्न सम्भवः” ॥१३॥^{१३}
“सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः । स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद्भाववृत्तिभागिनः” ॥१४॥^{१४}
तस्माद्यतो यथार्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः । जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥१५॥^{१५}
ततो यो येन धर्मेण विशेषः संप्रतीयते । न स शक्यस्ततोन्वेन, तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥१६॥^{१६}

१. पृ० १५, २. पृ० १७, ३. पृ० २१, ४. पृ० २२, ५. पृ० २६, ६. पृ० २७, ७. पृ० २७,
८. पृ० २७, ९. पृ० २७, १०. पृ० २७, ११. पृ० २७, १२. पृ० २८, १३. पृ० ४४, १४. पृ० ८०, १५. पृ० ८०,
१६. पृ० ८१;

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१७॥^{१७}
 प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्ये यदि पर्यनुयुज्यते । स्वभावैरुत्तरं वाच्यं दृष्टे कानुपपन्नता ॥१८॥^{१८}
 यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनवाक्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥१९॥^{१९}
 धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमघर्स्ताद् भवत्यधर्मेण । ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥२०॥^{२०}
 दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वा बन्धकारणम् । जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति ॥२१॥^{२१}
 मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतः । मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोर्थक्रियां प्रति ॥२२॥^{२२}
 यथा, तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानावभासयोः । अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥२३॥^{२३}
 लिगलिगिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि । प्रतिबन्धात्तदाभासं शून्ययोरप्यवंचनम् ॥२४॥^{२४}
 अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः । नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः ॥२५॥^{२५}
 बिबुद्धमपि संसिद्धं तदतद्रूपवेदनम् । यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥२६॥^{२६}

॥ पूर्णोऽयं ग्रंथः ॥



१७. पृ० ११५, १८. पृ० १६३, १९. पृ० ३६४, २०. पृ० ४६५; २१. पृ० ४६६; २२. पृ० ५२४;
 २३. पृ० ५२५, २४. पृ० ५२७, २५. पृ० ५७५, २६. पृ० ५७३ ।

